आर्य सिद्धान्त

1892

है और जहां उन के शरीर ग्रामादि से किसी ओर डाले जाते हैं उससे तक मनुष्यों को निक[illegible] कठिन होजाता है। मनुष्य का शरीर हाली जलाने पर भी ऐसा [illegible]र्गन्ध मांसादि के जलने से निकलता है जो दूर तक वायु को बिगाड़ [illegible] और रोगों को फैला देता है इसी लिये [illegible] लोगों ने अन्त्येष्टि में घृतादि सुगन्धित पदार्थों का होम नियत कि[illegible] है जिस से मांसादि के सम्बन्ध से होने वाले दुर्गन्ध की निवृत्ति हो। इस मांस का निकृष्ट होना और दूध का उत्तम वस्तु होना सिद्ध है। जो वस्तु स्वभाव से वा अपनी जड़ से ही अच्छा है उस की यही पहचान है कि वह शीघ्र विकारी नहीं होता उस में कीड़े नहीं पड़ते बहुत काल धरे रहने पर भी बुरा दुर्गन्ध नहीं छूटता। जैसे गङ्गाजल सब जलों में उत्तम इसी लि[illegible] माना गया है कि किसी पात्र में उस को भरकर रक्खा जावे तो उस में बहुत [illegible] धरे रहने पर भी कृमि नहीं पड़ते क्योंकि उस जल का कारण ही शुद्ध है। इसी प्रकार दूध का स्वभाव ही शुद्ध है और मांस का कारण रुधि[र] है। रुधिर को कोई मांसाहारी खाना स्वीकार नहीं करता किन्तु रुधिर खाने पीने से एक प्रकार की घृणा रखते हैं परन्तु रुधिर से बने मांस को निस्सङ्कोच खाजाते हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः शरीरेण रक्तमित्यभिधीयते ॥१॥
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥

सुश्रुतस्य सूत्रस्थाने—

खाये पिये अन्न पानादि का जो पहिला धातु रसनामक बनता है। जब शरीरस्थ तेज वा उष्णता से रंगा जाता है तब उस को रक्त वा रुधिर कहते हैं। वही रुधिर काल पाकर जब जम जाता है तब मांस कहाता है। [मांस] से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा (चरबी) और उससे वीर्य बनता है। [इस] कारण मांस एक घृणित वा अभक्ष्य वस्तु अवश्य है। और दूध भक्ष्यवस्तुओं में सर्वोत्तम है। और यह बात अच्छे प्रकार प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि बालक जब

बल माता का दूध पीकर रहता है तब तक उसके शरीर और मल मूत्रादि .। बहुत ही न्यून दुर्गन्ध आता मल मूत्रादि से घृणा भी बहुत कम होती है ौर छोटे बच्चों के शरीर से एक प्रकार का अच्छा गन्ध भी आता है। वे ही ालक ज्यों २ अन्न का अधिक आहार करते जाते हैं त्यों २ दुर्गन्ध बढ़ता जाता ै। और मांस खाने वालों के शरीर तथा मल मूत्र से तो अन्न की अपेक्षा भी अधिक दुर्गन्ध उठता है क्योंकि मांस अन्न से भी अधिक सड़ता और जल्दी बिगड़ जाता है। इस बात का कोई प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहे तो दूध, अन्न वा आटा भीगा हुआ और कुछ मांस कच्चा इन तीनों को तीन दिन रखकर देखा जावे कि कौन वस्तु कैसा और कितना बिगड़ता है किससे अधिक घृणा होती है जो अधिक बिगड़े जिससे अधिक घृणा हो उसी को अधिक अभक्ष्य और जो सब से कम विगड़े वह अधिक भक्ष्य मान लेना चाहिये ॥

दूध और मांस में एक और बड़ा भेद यह है कि मांस प्राणियों का — किये विना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता और दूध जिन प्राणियों का खाया जाता है वे दूध निकालने से मरते नहीं। जिस प्राणी को मारकर मांस खालिय— जायगा उस के दूध आदि से होने वाला बहुत काल तक का उपकार वह नष्टकर दिया जाता है। यदि वे पशु बने रहें तो उन के दूध, घी, मक्खन, दही, मठा वा खोयादि से असंख्य मनुष्यों को बहुत काल तक सुख पहुंचे उस को मांसाहारी लोग अपने स्वार्थ के लिये थोड़े काल में नष्टकर देते हैं। इसी लिये संसार के हानिकारक होने से परमेश्वर के यहां से भी वे अवश्य दण्ड-नीय होंगे ॥

यद्यपि जिन प्राणियों का दूध खाया जाता है उन को भी निर्बलतादि से कुछ दुःख पहुंचता है इस लिये उन दुग्ध दाता प्राणियों को अच्छे २ पुष्ट बल-वर्द्धक पदार्थ खिलाने चाहिये जिससे वे निर्बल न होने पावें। दूध के निकल-ने से जितनी निर्बलता होनी सम्भव हो उतना ही बल पुष्ट पदार्थों को देकर बढ़ाते जाना चाहिये। ऐसा होने से किसी प्रकार का दुःख पहुंचने का दोष नहीं माना जासकता। क्योंकि जो अपना उपकार करे उस का प्रत्युपकार करना धर्मानुकूल उचित है। गौ आदि पशुओं से दुग्धादि उत्तम पदार्थों द्वारा हमारा उपकार होता है। हम भी उन का प्रत्युपकार करें। सो जब हम प्रत्युपक

के बदले मांस खाने के लिये उनका प्राण तक लेने को तत्पर होते हैं तो यह क्या थोडा अन्याय है?। यदि हमारे भारतवर्षी वेदमतानुयायी लोग मेढा, बकरा, बकरियों का भी मांस खाना सर्वथा छोड़ दें कि जिन का मांस खाने से गौ आदि अति उपकारी जन्तुओं के मांस की अपेक्षा संसार की कुछ कम हानि है तो यवनादि को मेढादि का मांस पूरा काम दे सकता है। ऐसी दशा में गौओं के मारने की आवश्यकता ही न रहेगी। इस से संसार की कम हानि होगी। दूध अधिक होने लगे और मांसाहारियों को मांस के स्थान में दूध प्राप्त हो तो वास्तव में सत्त्वगुण की वृद्धि होने से अच्छे २ धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य होने लगें। क्योंकि संसार के सब धर्म कर्म मनुष्य की बुद्धि पर आश्रित हैं। जैसी २ उस की बुद्धि होती है वैसे ही काम करता है। और बुद्धि का सुधार रजोगुण तमोगुण के वर्द्धक पदार्थों के त्याग और सत्त्वगुण के उत्तेजक पदार्थों के अधिक सेवन पर आरूढ है। और दूध जिन प्राणियों के स्तनादि में होता है उन का यदि बाहर न निकाला जाय तो उन को क्लेश भी अधिक हो बोझा बढ जावे जिन के थनों में दूध अधिक भर आता है और वे थन कस जाते हैं तब वे प्राणी घबराया करते हैं जब निकाल लिया जाता है तभी चैन हो जाता है। दूध वाले प्राणी चाहते हैं कि हमारा दूध निकाल लिया जावे। परन्तु मांस का बोझा किसी को दुःखदायी नहीं होता और न कोई चाहता है कि मेरा मांस निकाल लिया जाय। इस युक्ति से सिद्ध होगया कि परमेश्वर ने दूध निकालने ही के लिये बनाया है और मांस निकालने को नहीं बनाया गया। इस लिये दूध के साथ मांस की समता लगाने वाले बड़ी भूल में हैं। वास्तविक बात तो यह है कि यवनादि मांसाहारी लोग किसी प्रकार की आढ़ खोजते हैं कि हमारे मांस खाने में किसी प्रकार विघ्न न हो हमारा काम चला जावे। यदि मांस भक्ष्य-पदार्थ होता जैसा कि दूध है तो सिंहादि कई प्राणी मनुष्य का भी मांस खाते हैं उन का भक्ष्य हमारा मांस होना चाहिये। जैसे हम अन्य जीवों का मांस खाना बुरा नहीं समझते वैसे सिंहादि को अपना शरीर भी सौंपदिया करें। अन्य पश्वादि के मांस खाने में हम लज्जा शङ्का वा भय अधर्म नहीं समझते परन्तु हमारा मांस सिंह भेडियादि खाना चाहते हैं उस में हम सब बुराई समझते हैं। यह भी चोरी के समान ही एक अधर्म है। जैसे चोर अन्य का पदार्थ झट चुरालेता है परन्तु अपना वस्तु कोई लेना चाहे वा लेजावे तो उस

को बहुत बुरा जानता है। जिस काम से किसी की हानि हो वा दुःख पहुंचे वह सब अधर्म है। जब हमारे चित्त में किसी कारण से ऐसा स्मरण आवे कि हमारा मांस कोई खा लेगा हम को कोई मार डालेगा इत्यादि। तो कैसे महा-दुःख सागर की तरङ्गों में बड़े २ गोते खाने लगते हैं। यदि हम अन्य को दुःख पहुंचाने वाले कर्मों में भी ऐसा ही विचार करें कि जिन का मांस हम खाते वा खाना चाहते हैं उन को भी ऐसा ही दुःख होता होगा जैसे हम उस दुःख को नहीं चाहते वैसे वे प्राणी भी नहीं चाहते। इस लिये संसार में जो मनुष्य आप दुःखों से बचना चाहता है तो उस के लिये सर्वोपरि यही उपाय है कि वह अन्यों को दुःख न पहुंचावे। उस के जिन २ कामों से अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचना सम्भव हो उन को सर्वथा छोड़ता जावे फिर उस को कहीं दुःख नहीं। मानवधर्मशास्त्र के षष्ठाध्याय में स्पष्ट लिखा है कि—

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥

जिस मनुष्यादि से किसी प्राणी को किञ्चित् भी भय वा दुःख नहीं पहुं-चता उस को संसार में वा जन्मान्तर में किसी से किञ्चित् भी भय वा दुःख होना सम्भव नहीं। मांसभक्षण से जिन का मांस खाया जाता है उन को प्राणभय और महादुःख पहुंचता है इस लिये अपने आप दुःख भोगने का उपाय कर-ना रूप यह दुःखों का हेतु काम त्यागने योग्य अवश्य है।

मांसभक्षण विषय में बड़ा दोष अधिकसम्मत हिंसा है उस में अनेक लोग यह भी शङ्का करते हैं कि स्थावर घास वनस्पति वृक्षादि में भी जीव माने जाते हैं तो उन की तरकारी के खाने, डाली फल पत्ता तोडने, वृक्ष काटने, दातौन करने आदि प्रत्येक काम में पाप है फिर ऐसे पाप से कोई भी नहीं बच सकता। ऐसी दशा में सब पापों से बचकर संसार में मुक्ति का उपाय कोई भी नहीं कर सकता और एक बड़ा दोष यह है कि वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के आश्रय से हम मांसभक्षण को बुरा काम अधर्म ठहराने का उद्योग करते हैं सो सब बालू की भीत के समान निष्फल हुआ जाता है। क्योंकि मांस का निषेध करने वाले भी जब वृक्ष बनस्पति शाक आदि के खाने से नहीं बच सकते तो मांस खाने वालों के समान वे भी हिंसादोष के भागी हो चुके फिर

जैसे चोर चोर को चोरी से नहीं हठा सकता वैसे कोई किसी मांसाहारी को नहीं हठा सकेगा । और वृक्ष वनस्पति आदि के तो खाने में हिंसादोष भी वेदादि शास्त्रों में नहीं दिखाया इत्यादि कारणों से अनेक अच्छे २ बुद्धिमानों की भी यही सम्मति है कि स्थावरयोनि वृक्ष बनस्पति आदि में जीव मानना एक प्रकार की भूल है ।

उत्तर—मुझे जहां तक अनुमान वा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात है वहां तक ऐसे मनुष्य नहीं मिले जो वेदादि शास्त्रों को ठीक २ पढ समझ के और उन का ठीक २ सिद्धान्त जान कर वृक्ष वनस्पति आदि में जीवात्मा के आने जाने वा ठहरने का निषेध करते हों किन्तु ऐसे ही लोग अधिक देखे वा सुने गये हैं जो अन्य भाषाओं के जानने से विशेष बुद्धिमान् होकर ऐसा मानते हैं। हम उन के बुद्धिमान् होने वा वेदादि को न जानने पर कुछ आक्षेप नहीं कर सकते क्योंकि दोषी वही माना जाता है जो उस विषय को ठीक समझ कर भी किसी स्वार्थादि के कारण उलटा कहे परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि उन को वेदादि के सिद्धान्त को ठीक जान कर ऐसा कहना उचित है । यदि वेद के वा धर्मशास्त्रों के ठीक २ जानने वाले अधिक लोग ऐसा मानते होते कि स्थावरयोनि में जीवात्मा नहीं जाता तो अवश्य उस पर ठीक २ व्यवस्था भी देते। ऐसी दशा में मुझे भी इस विषय पर कुछ लिखने की आवश्यकता न पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं है इस लिये इस विषय पर लिखने की अवश्यकता हुई । संसारी मनुष्यों के लिये शास्त्र में मुख्य कर दो प्रकार के मार्ग दिखाये हैं । एक तो संसार की उन्नति करना और सब अच्छे कामों की प्रवृत्ति बढाना जिस से संसारी सुख वढें इस को अभ्युदय कहते हैं । द्वितीय निःश्रेयस मार्ग है जिस को मोक्ष वा परमार्थ भी कहते हैं । संसार के अभ्युदय सुख की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जो २ कर्म करने चाहिये वा करने पड़ते हैं वे सब वा प्रायः अधिकांश ऐसे नहीं होते जिन से किसी को कुछ भी अनुपकार हानि वा दुःख प्राप्त न हो किन्तु ऐसे ही काम अधिक हैं जिन में धर्माधर्म मिला रहता है । परन्तु संसार में धर्म अधर्म शब्दों को सापेक्ष मान कर लोक का व्यवहार चलाने पड़ता है । जब हम को दो काम वा मार्ग ऐसे प्रतीत हों कि इन दोनों के करने में कुछ न कुछ दोष है वा किसी न किसी को कुछ दुःख वा

हानि पहुंचना दोनों ही से सम्भव है तो वहां जिसमें कम दोषहो वा जिस से किसी को कम दुःख पहुंचे वैसा कामकरना चाहिये । क्योंकि संसारमें रहकर संसारी व्यवहार चलाने के लिये हम को दो में एक मार्ग पर चलना अवश्य पड़ता है इसलिये जिस मार्ग में कम दोष हो और गुण वा भलाई अधिक हो उस कार्य को धर्मशास्त्रकारों ने अधिक दोष वा बुराईयुक्त काम की अपेक्षा धर्म ठहराया वा माना है। और यही सिद्धान्त सब विद्वानों को मान्य होता है । जैसे किसी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख पहुंचाना अधर्म अवश्य है परन्तु संसारी मनुष्य वा राजादि ऐसा नहीं कर सकते राजादि अनेक मनुष्यों को अनेक हिंसक वा अपराधी प्राणियें का वध करने पड़ता वा ताड़नादि द्वारा दण्ड देने होता है क्योंकि उन को ताड़ना दिये विना संसार की व्यवस्था ठीक नहीं चलती । और उन को ताड़ना देने से जो कष्ट पहुंचाया जाता है उस से कुछ पाप अवश्य होता है परन्तु उस ताड़ना से अनेक मनुष्य सचेत हो जाते हैं कि ऐसा काम हम करेंगे तो हमारी भी यही दशा होगी इस लिये ऐसा न करना चाहिये । इस प्रकार समझ कर अनेक मनुष्य उन कामों से बचते और उस एक अपराधी को मारकर जिस से जिन अनेकों को दुःख होता था वा होना सम्भव था ऐसे प्राणियें को बुराई से बचाना वा अन्य अधर्म करने वालों को दण्ड का भय पहुंचाकर बचाना इत्यादि अनेक प्रकार का अधिक पुण्य होता है इस लिये वह कर्त्तव्य काम माना जाता और मानना चाहिये । परन्तु मुमुक्षु पुरुष को ऐसे काम भी नहीं करने चाहिये जिन से कुछ भी किसी को दुःख पहुंचे । कोई मनुष्य कभी सिद्ध नहीं करसकता कि हिंसक सिंहादि के वा चोरादि के मारने में हिंसारूप अधर्म नहीं है किन्तु उसके प्राणवियोग करने से जो अत्यन्त दुःख पहुंचाया जाता है वह हिंसारूप पाप अवश्य है परन्तु उस हिंसा से अनेकों को सुख पहुंचानारूप पुण्य वा धर्म बहुत अधिक है । इस लिये ऐसे काम संसारी दशा में धर्मानुकूल कर्त्तव्य माने गये हैं और मानने चाहिये । इससे सिद्ध हुआ कि जिस काम के करने में उपकार अधिक हो और दोष कम हो वह कर्त्तव्य काम है । अधिक पुण्य से थोड़ा पाप दब जाता है । इस लिये ऐसे काम करनेवाला पापी नहीं कहाता किन्तु धर्मात्मा माना जाता है परन्तु वह मनुष्य अधिक पाप करने वाले की अपेक्षा संसारी

मनुष्यों में धर्मात्मा है किन्तु परमार्थ की ओर झुके हुए, सर्वथा धर्म का ही सेवन करने वाले की अपेक्षा उस को धर्मात्मा नहीं कह सकते। इसी विचार वा सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यजाति में विद्वान् वा अधिक कर धर्म का सेवन करने वाले जिन से संसार का अधिक उपकार होता हो वा होना सम्भव हो उन की रक्षा साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक करनी चाहिये। ऐसे मनुष्यों को दुःख पहुंचाने वाले जानो धर्म के शत्रु हैं उन को मारना वा मरवाडालना अधिक पाप का हेतु नहीं है। जहां धर्मात्मा अधिक उपकारी और अधर्मी अनुपकारी वा साधारण इन में से एक के मारे जाने का सम्भव हो वहां धर्मात्मा की रक्षा करना अधिक उपयोगी होने से कर्त्तव्य धर्म है। इसी प्रकार पशुओं की अपेक्षा मनुष्यजाति की रक्षा करना तथा पशुओं में परस्पर अधिक उपकारी गौ आदि की रक्षा अन्य साधारण पशुओं की अपेक्षा अधिक वा प्रथम करना चाहिये और कृमि कीट पतङ्गादि की अपेक्षा सामान्य पशुओं की रक्षा करना भी धर्मानुकूल है। तथा वृक्ष वनस्पति आदि स्थावर की अपेक्षा प्राणीमात्र की रक्षा प्रथम करना उचित है। इसी प्रकार स्थावरों में घासादि की अपेक्षा अच्छे२ उपकारी फलफूल देने वाले वृक्षादि की अधिक रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि संसार में उपकार अपकार ही उत्तम नीच अच्छे बुरे के लक्षण हैं। इसी के अनुसार धर्मशास्त्र वालों ने ब्रह्महत्या को महापातक और गोहत्या वा पशुहत्या को उपपातक माना है और वृक्ष वनस्पति आदि के तोड़ने काटने को हिंसा भी नहीं कहा। क्योंकि हिंसा वा हत्या शब्द प्राणवियोग करने में योगरूढ होरहा है। और प्राण की क्रिया श्वास (दम) जो जीवनरूप है वही प्रत्यक्ष लीजाती है। इसलिये वृक्षादि में हिंसा वा हत्या नहीं कही वा मानी जाती सो ठीक सिद्धान्त है॥

जीवात्मा वृक्षादि में भी है यह अवश्य मानना चाहिये। परन्तु व्यक्ति और जाति वा योनि के भेद से भेद अवश्य है। सब शरीरों में एक ही प्रकार से आत्मा नहीं रहता वा यों कहो कि सब देश काल और अवस्थाओं में एकसा नहीं रहता उस में भेद होने के कारण देश काल और अवस्था वा वस्तुओं का भेद ही है। मनुष्य जब अच्छे प्रकार सोजाता है तब मच्छर आदि के काटने पर भी दुःख का अनुभव नहीं होता वा इतना कम होता है जिस

से जाग नहीं सकता क्योंकि दुःख पहुंचने की अपेक्षा निद्रा अधिक प्रबल है तमोगुण ने उस की चेतनशक्तिरूप बुद्धि को दबा रक्खा है । जब निद्रा की अपेक्षा दुःख अधिक पहुंचाया जाय तो जाग भी सकता है । जब त्वचा में शून्य रोग होजाता है तब कण्टक छेदनादि से भी इतना कम दुःख प्राणियों को पहुंचता है जिस से पीड़ा नहीं जान पड़ती तो क्या उस में जीवात्मा का निषेध कर सकते हैं ? । बालकपन और युवावस्था में शीत उष्ण आदि मनुष्य को इतनी पीड़ा नहीं पहुंचाते जितनी निर्बल रोगीदशा वा वृद्धावस्था में पहुंचा सकते हैं । यह सुख दुःखादि का भेद अवस्था भेद से है । किसी देश वा किसी काल में जैसे २ सुख दुःख का अनुभव प्राणी करता है वैसा ही सब देश और कालों में बराबर नहीं भोगता किन्तु सुख दुःख देश काल के भेद से बदल २ के कमती बढ़ती होते रहतेहैं । ये सब तो साधारण बातें दृष्टान्त के लिये हैं । मुख्य यह है कि जैसे आंख में छोटासा तृण भी उड़कर पड़ जावे तो बड़ा क्लेश पहुंचता है और अन्य शरीर पर वा पग आदि पर वैसे सहस्रों तिनके भी नहीं जान पड़ते । ऐसे ही विचारशील धर्मात्मा को अधर्म का अंश जितना क्लेशदायक होता है उस की अपेक्षा साधारण को बहुत कम क्लेश व्यापता है । इसी प्रकार ज्यों २ जिस २ प्राणी के शरीर में विचारशक्ति कम होती है वहां २ वैसा ही सुख दुःख का अनुभव कम होताहै । शास्त्रकारों ने जीवात्मा का गमनागमन चार प्रकार की योनियों में मुख्यकर माना है । १—जरायुज । २—अण्डज । ३—स्वेदज । ४—उद्भिज्ज । जरायुज में मनुष्य और पशु मुख्य हैं । अण्डज में पक्षी मुख्य हैं । स्वेदज में कृमि कीट पतङ्गादि हैं । और चौथे उद्भिज्ज में वृक्ष वनस्पति आदि हैं । इन में ऊपर से नीचे तक सब में चेतनशक्ति और उसी के साथ सुख दुःख का अनुभव बराबर कम होता गया है । अन्त में वृक्षादि में इतना कम होगया कि जिस से अनेक लोगों को सन्देह होने लगा कि इन में जीव है वा नहीं । सो इस सन्देह का कारण चेतनशक्ति और सुखदुःखानुभव का न होने के समान निर्बल पड़जाना है । यदि कोई मनुष्य समाधिस्थ हो वा उस की चेतनशक्ति नशा वा उन्मादादि रोग की प्रबलता में ऐसी दब जावे कि जिस को अनेक लोग मरा ही समझलें । ऐसी ही दशा वृक्षादि में जीवात्मा की रहती है । इस का कारण मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में लिखा है कि—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥१॥

पूर्वजन्मों में वैसे २ विशेष तमोगुणी कर्मों के सेवन के कारण अनेक प्रकार के तमोगुण से आच्छादित भीतर मन ही मन में सुख दुःख भोगने वाले जीवात्मा वृक्षादि स्थावरयोनि में रहते हैं । उन को मनुष्यादि के तुल्य शरीराभिमान न होने वा वैसा अभ्यास पड़जाने से बहुत कम सुख दुःख का अनुभव होता है । जैसे कि बड़े की अपेक्षा थोड़ी अवस्था वाले वालक को सुख दुःखानुभव बहुत कम होता है । इत्यादि विचार के अनुसार वृक्षादि में जीवात्मा का होना अवश्य मानना चाहिये । उन की तरकारी शाक खाने, डाली फल पत्ते तोड़ने में कुछ दोष तो अवश्य है परन्तु मांस खाने के समान पाप वा दोष उस में नहीं किन्तु पश्वादि को मारने की अपेक्षा शतांश भी दोष नहीं मान सकते । यदि कोई पश्वादि के समान दोष ठहराने का भार ले तो हमारा प्रश्न उसी के प्रति यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी कीटपतङ्ग, खट्मल, मक्खी मच्छर चीटी आदि को मारडालना तुम बराबर समझते हो ? । क्या मनुष्य चीटी खटमल इन तीनों की हत्या के दोष को कोई बराबर ठहरा सकता है ? । लोक में भी खटमल आदि जन्तुओं को अनेक लोग जान बूझकर मारडालते और उन को हत्या का दोष कोई नहीं लगाता और न वे अपने को दोषी समझते हैं परन्तु भारतवर्षनिवासी वेदानुयायियों में गौको कोई भूल से भी मार देवे तो भी गोहत्यादि का अपराधी माना जाता है तथा यदि कोई मनुष्य को मार डाले तो राजा उसके प्राण उसी अपराध में लेने को तयार होता है यह अपराध की न्यूनाधिक व्यवस्था शास्त्र के अनुसार ही लोक में भी प्रचरित है। एक सहस्र १००० खटमल के मारने में लोक वा शास्त्र के अनुसार इतना पाप नहीं माना जाता जितना एक पशु वा गौके मारने में माना जाता है। इसी प्रकार जन्मभर असंख्य घास वृक्ष वनस्पति के तोड़ने काटने में भी उतना पाप नहीं जितना एक मनुष्य वा गौ के मारने में है। जो सब में बराबर पाप मानने का दावा करे उस को मनुष्य और खटमल के मारने में बराबर पाप ठहराने का उद्योग तथा जनहत्या महापातक को साधारणपातक वा सब जन्तुओं की हत्या को महापातक ठहराने का उद्योग करना चाहिये । इसलिये

घास काटने शाक आदि के लिये पत्ती वा शाखा तोड़ने में ऐसा पाप वा दोष नहीं है जिस की हम मांसभक्षण के साथ कुछ भी तुलना कर सकते हों। लोक वा शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जब क्षुद्रजन्तु खटमलादि के मारने वाले भी हिंसक वा मुख्य हत्या दोषके अपराधी नहीं माने जाते तो स्थावर वृक्षादि तो खटमल आदि की अपेक्षा भी अधिक क्षुद्र हैं। जैसे मनुष्य और पश्वादि की अपेक्षा सहस्रांश भी खटमल आदि के मारने में पाप नहीं वैसे खटमल आदि की अपेक्षा वृक्षादि में लक्षांश भी पाप नहीं। शास्त्रकारों ने ऐसा ही सिद्धान्त मानकर क्षुद्रजन्तुओं के मारने को हत्या वा हिंसा दोष मुख्य नहीं रक्खा। फिर पश्वादि के मारने और घासादि के काटने में बराबर पाप कभी कोई नहीं ठहरा सकता इससे मांस की उपमा शाकादि को नहीं दे सकते।

अब रहा कुछ दोष सो भी जहां उस थोड़े दोष के होने से कई गुण पुण्य वा उपकार है वहां उस कम दोष वाले काम को करना चाहिये। उससे अधिक जो उपकार होगा उस से दोष दब जायगा। अर्थात् घास पत्ती वनस्पति आदि काटे विना काम नहीं चलता वा उस घासादि के बने रहने से उतना उपकार नहीं जितना हम काटकर काम निकाल सकते हैं तो काटना ठीक है। यदि मनुष्य चाहे तो घासादि के काटे विना भी निर्वाह कर सकता है। मनुष्य की प्राणयात्रा के लिये ईश्वर ने अन्न को मुख्यकर बनाया है। उस अन्नरूप फल के ओषधि नामक वृक्ष को सूख जाने पर काटना चाहिये तब कोई दोष नहीं है और अन्नरूप फल पकते समय उनके पेड़ (वृक्ष) आप ही सृष्टि के नियमानुसार सूखजाते हैं। उसी अन्नकी दाल रोटी खाकर निर्वाह करना मुख्य काम है इसी से मनुष्य का निर्वाह हो सकता है। तरकारी भी उन आलू, रतालू, घुइया (अरवी) आदि कन्दों को खाना निर्दोष है जिन का वृक्ष कन्द पकते समय सूखजाता है। इसी प्रकार जलाने आदि की लकड़ी हम वृक्ष के सूखने पर अपने काम में लावें तब कुछ भी दोष नहीं। परन्तु आज कल वा कभी सब वा प्रायः लोग इस प्रकार निर्वाह नहीं कर सकते सो यह शास्त्र के सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप नहीं आता। क्योंकि शास्त्र तुम को सब प्रकार का मार्ग दिखाता है कि यह मार्ग सर्वथा निर्दोष है इस में इतना दोष कम वा अधिक है जिस प्रकार चाहो वैसा करो जैसे मार्ग पर

चलोगे वैसे धर्म अधर्म के भागी होकर सुख दुःख फल पाओगे। परमेश्वर ने हम सब को स्वतन्त्र बनाकर सब प्रकार का उपदेश कर दिया है। यजुर्वेदमें लिखा है कि—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेदधाच्छ्रद्धाथंसत्ये प्रजापतिः॥

उस ने विचारपूर्वक सत्य असत्य का भेद सब को प्रकटकर दिया। सत्य में विश्वास और असत्य में सब को अविश्वास अश्रद्धा उत्पन्न करदी। अर्थात् भलाई बुराई के दोनों मार्ग दिखा दिये [येनेष्टं तेन गम्यताम्] जिस मार्ग से चाहो चलो। यदि सर्वथा धर्मात्मा बनना चाहो और संसार के सब दुःखों से चने की इच्छा रखते हो तो पहिले संसारी सब सुखों को तिलाञ्जलि देकर । बाट को गहो क्योंकि उस मार्ग में पाप का लेश भी नहीं है। हल जोतकर ये अन्न का भी निषेध वहां किया गया है किन्तु ईश्वर की सृष्टि के अनुसार स्वयमेव जो बनादि में पककर गिरजाता है उस मुन्यन्न से प्राणपोषण करो वा कन्द मूल फलादि जो वृक्ष से पककर स्वयं नीचे गिर जावें वा जिन का वृक्ष स्वयमेव सूखजावे उनको खाकर कालक्षेप करो अधिक बोलना छोड़ो एकान्त वास करो नित्य ईश्वरका ध्यान योगाभ्यास तप करो इत्यादि प्रकार से मुक्ति का मार्ग खुला है। द्वीपान्तरवासी मतों के समान किसी निज (खास) शरीर-धारी पर विश्वास लाने पर वैदिकसिद्धान्त में मुक्ति की रुकावट नहीं है। इस प्रकार स्थावरयोनि में जीवात्मा का गमनागमन मानने पर मुक्ति में कुछ रुकावट नहीं है। इसी सिद्धान्त को ठीक मानकर मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम वाले के लिये ऐसे २ साधन लिखे हैं कि वह वृक्ष से स्वयमेव पककर गिरे फल फूलादि खावे किन्तु वृक्ष से फलादि तोड़े नहीं—खोदकर वा जोतकर बोने से उपजे अन्न को न खावे इत्यादि। यदि वृक्षादि में जीवात्मा मानने पूर्वक सुख दुःख न माना जावे तो फल तोड़ने आदि का निषेध करना व्यर्थ होजावे। हम वृक्षादि में जीवात्मा न मानें तो ऐसे २ सिद्धान्तों को भी इन के साथ ही खण्डन करना पड़े। इसलिये भी वृक्षादि में जीव मानने का सिद्धान्त रखना आवश्यक है॥

हां संसारी व्यवस्था में रहकर वृक्ष वनस्पति के तोड़ने काटने से प्रायः मनुष्य नहीं बचसकता इस के उत्तर में हम कहसकते हैं कि इसी से संसारी मनुष्य पूर्ण धर्मात्मा भी नहीं होसकता इसीलिये महर्षि लोगोंने मुक्ति मार्गको संसारी व्यवहार से भिन्न रक्खा है ।

अब इस विषय में एक बात का विचार करना और आवश्यक है । कि जीव वा जीवात्मा किस को कहते हैं जीव का लक्षण क्या है ? न्यायदर्शन-गौतम सूत्र के प्रथमाध्याय में आत्मा का लक्षण लिखा है कि—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा के चिह्न हैं जहां ये प्रत्यक्ष दीख पड़ें वहां जानलो कि इस में आत्मा है । इन्हीं चिह्नों के न रहने से मनुष्य का शरीर मृतक (मुर्दा) मानलिया जाता है । यदि ऐसे चिह्न आत्मा को पहचानने के लिये नियत न करें तो मरे और जीते की परीक्षा भी होना दुस्तर है । इन में से वृक्षादि में कोई भी चिह्न नहीं माना जाता फिर वृक्षादि में जीवात्मा का होना कैसे सिद्ध होसकता है ? ॥

उत्तर—यह लक्षण वास्तव में मनुष्यशरीर का वा जङ्गम प्राणियों का है कि जिन में ये चिह्न हों वे शरीर सजीव चेतन हैं और जिन में ये चिह्न न हों उन्हें मृतक समझो । परन्तु वृक्षादि में जीवात्मा के होने का निषेध इस से नहीं निकलता । ऐसा न मानें तो शरीर से भिन्न आत्मा में अतिव्याप्ति दोष आवेगा । न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने स्वयमेव लिखा है कि—

"नाशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति"

शरीररहित आत्मा को कोई भोग सुख दुःखादि प्राप्त नहीं होता । इसी लिये कर्मों के सुख दुःख फल भोगने के लिये वार २ शरीर धारण करने पड़ता है । जब एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जन्म ले शरीर का अभिमानी आत्मा नहीं बनता उतने बीच में उस में इच्छा द्वेषादि कुछ भी प्रकट नहीं होते तो क्या आत्मा का अभाव मानोगे ?। यदि कहो कि इच्छादि गुण बीजरूप से आत्मा में तब भी रहते हैं तो यही उत्तर वृक्षादि के लिये भी उचित होगा कि तमोगुण से आच्छादित इच्छादि गुण वृक्षादि में भी हैं । वास्तव में इच्छादि गुणों की प्रकटता आत्मा की सत्ता से अन्तःकरण में होती है । और

अन्तःकरण की शक्ति भिन्न२ योनियों वा शरीरों में अन्य२ प्रकार की स्वाभाविक और नैमित्तिक साधनों से हुआ करती है। मनुष्ययोनि को जैसे सुख दुःख भोग साधन दिये गये हैं वे सब जाति के स्वाभाविक हैं। उन में भी स्वाभाविक प्रकृतियों के अवान्तर भेद अनेक वा असंख्य हैं। पशुजाति में एक अन्य ही प्रकार की शक्ति इच्छादि गुणों की प्रकटता के लिये रक्खी गयी है जो मनुष्य की सामान्य स्वाभाविकशक्ति से अनुभव करने की शक्ति बहुत ही कम है। मनुष्य के तुल्य इच्छादि गुण पशुयोनि में कोई कभी नहीं ठहरा सकता। पश्वादि अपनी उन्नति का वा सुख विशेष की प्राप्ति का उपाय स्वयं कुछ नहीं कर सकते। मनुष्य से नीचे एक ही कक्षा उतर कर पशुयोनि है। उस में जब इच्छादि गुण इतने निर्बल पड़गयेतो वृक्षादि जो कई कक्षा (दरजे) नीचे को गिरे हुए हैं उन में इच्छादि की न्यायानुसार जैसी दशा होनी चाहिये सो बिचारशील स्वयं समझ सकते हैं। इस के लिये विशेष आन्दोलन की आवश्यकता नहीं। न्यायदर्शन में प्रायः मनुष्ययोनि का विचार है और उस का मुख्य विषय वा आशय यह है कि अनेक नास्तिकपक्ष के लोग आत्मा को मानते ही नहीं कि मनुष्य के शरीर में भी कोई आत्मा है। क्योंकि उन लोगों का सिद्धान्त है कि जैसे घड़ी आदि यन्त्र अनेक वस्तुओं के संयोग से बनाये जाते हैं और उन में नियमानुकूल गमनादि क्रिया वा अनेकों के संयोग से एक ऐसा गुण प्रकट होजाता है जिस से अनेक काम चले जाते हैं। रुधिर की गर्मी ही जीवनशक्ति है। उस गर्मीके न रहने पर मृतक माना जाता है। इस शरीर में भी अनेक धातुओं के संयोग से घड़ी के तुल्य एक कला चल रही है। घड़ी की कल विगड़ने के तुल्य जब तक साध्यरोगादि द्वारा कला बिगड़ती है तब तक घड़ीसाज के तुल्य डाक्टर वैद्य सम्हाल सकते हैं परन्तु जब असाध्यरोग दबा लेता है। तब घड़ी के तुल्य शरीर की कला फिर काम नहीं देसकती और मृतक मान लिया जाता है इत्यादि प्रकार से बुद्धिसे भिन्न आत्मा को न मानने वाले अनात्मवादियों का खण्डन करने के लिये पूर्वोक्त गोतमन्याय का सूत्र है कि बुद्धि मनुष्य की अनित्य है। क्षण२ वा पल२ में नयी२ उत्पन्न होती रहती है। अवस्थाभेद, देशभेद, कालभेद से तो बहुत ही बदल जाती है किसी की बुद्धि एकसी सदा नहीं रह सकती। घट को देखते समय घटाकार बुद्धि हुई फिर जबर

अन्य२ वस्तु को देखने सुनने शोचने लगा तब२ उस २ पदार्थ की बुद्धि बदलती गयी। ऐसे ही अनेक प्रकार के भिन्न२ गुण कर्म व्यवहार वा वस्तुओं का काल-भेद से जैसा२ अनुभव इन्द्रियों द्वारा करता जाता है वैसी२ बुद्धि नयी२ होती जाती है और पुरानी बुद्धि धीरे२ नष्ट होती जाती है। इस कारण इच्छादि गुणों का आश्रय बुद्धि नहीं ठहर सकती क्योंकि जिस पदार्थ से सुख प्राप्त हुआ है उस को फिर ग्रहण की इच्छा और जिस से दुःख हुआ है उस से बचने की इच्छा यही दो प्रकार की इच्छा सदा सब को होती है इसी कारण पश्वादि को रुपये पैसे की कभी इच्छा नहीं होती। तो इस से यह सिद्ध हुआ कि जिस को जिस पदार्थ वा काम के ग्रहण वा त्याग की इच्छा होती है उसी ने पहिले कभी उस वस्तु वा काम से सुख दुःख का अनुभव किया है तो इच्छा का जो आधार है वा आश्रय है अथवा इच्छा गुण जिस में रहता है उस का दो काल में होना सिद्ध होगया और बुद्धि में यह शक्ति नहीं इसलिये इच्छादि गुणों का जो आश्रय है वही स्थायी वस्तु आत्मा है। उसी ने उन पदार्थों की प्राप्ति से सुख दुःख भोगा था। इसी कारण उद्बोधक चिह्नादि से उस को फिर इच्छा हुई कि इस को मैं प्राप्त करूं वा त्याग करूं। यदि अनित्य बुद्धि को इच्छादि का आधार कोई माने तो जैसे अनुभव करने वाली अन्य बुद्धि के जाने भोगे का स्मरण अन्य बुद्धि को होकर इच्छा होसकती है। वैसे ही अन्य शरीरधारी के देखे सुने का स्मरण अन्य को उस के मन में होना चाहिये। यह दोष अनात्मवादी पर है। इस लिये मनुष्यादि के शरीरों में इच्छादिगुण जिस के आश्रय रहते वा होते हैं वह आत्मा कोई पदार्थ है। इस प्रकार इस सूत्र से अनात्मवाद का खण्डन करके आत्मा का होना इच्छादि गुणों से सिद्ध किया है। यही आशय वात्स्यायनभाष्य में सिद्ध किया है। किन्तु आत्मा के स्वरूप का निर्णय यहां नहीं किया गया और न यह सिद्ध किया कि इच्छादि गुण जहां न दीख पड़ें वहां आत्मा को मत मानो। आत्मा वा जीव का क्या स्वरूप है वह किस२ योनि में जाता वा रहता है उस के इच्छादि गुण किस२ दशा में रहते हैं यह विषय भिन्न है। इस विषय के साथ सूत्र का आशय कुछ नहीं मिलता किन्तु सूत्र का पूर्वोक्त प्रकार विषय ही भिन्न है। जैसे कोई धूम को देखकर अग्नि का होना सिद्ध करे वैसे ही यहां आत्मा की सिद्धि का विषय है।

जैसे धूम से अग्नि के स्वरूप की और जिस २ दशा (हालत) में अग्नि रहता है इस विषय की सिद्धि नहीं होसकती वैसे आत्मा के इच्छादि गुणों से उसके स्वरूप का वा उस की सब दशाओं का निर्णय नहीं होसकता। ये दोनों विषय भिन्न २ हैं इस से वृक्षादि में जीवात्मा के गमनागमन का निषेध नहीं आता॥

अब जीव का स्वरूप क्या है ? अथवा यों कहें कि सजीव वा सचेतन किस को मानना चाहिये ? ।

इस में पहिले प्रश्न का उत्तर तो यह है कि जीव का स्वरूप सूक्ष्म और चेतन है वह इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता वह शब्दादि के तुल्य किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि—

वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

वाल के अग्रभाग के हजारवें अंश के तुल्य सूक्ष्म जीव है वही अच्छे २ यथोचित साधनों से मुक्ति के लिये समर्थ होता है । यद्यपि जीव इतना सूक्ष्म है तथापि वह जैसे छोटे बड़े शरीरों में जाता वा रहता है उस सब शरीर में उस की शक्ति व्याप्त रहती है । जैसे कि दीपक छोटे घर में जलाया जावे वा बड़े घर में जलाया जावे उसी घरभर में उस का प्रकाश फैलेगा । इसी प्रकार जीवात्मा की चेतनशक्ति सब छोटे बड़े शरीरों में फैली रहती है । महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १८७ में लिखा है

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते ॥

मन में प्रकट हुआ अग्नि के तुल्य प्रकाशस्वरूप चेतन सूक्ष्म मनुष्यादि के शरीरों में जीवपदवाच्य कहाता है । मानस कहने से प्रयोजन यह है कि मनरूप साधन के विना जीवात्मा के इच्छादि गुण प्रकट नहीं होते किन्तु आत्मा और मन के संयोग में ही इच्छादि गुण प्रकट होते हैं । सुषुप्ति में भी मन तमोगुण से आच्छादित रहता है इसी कारण ठीक २ सुख दुःखादि का अनुभव नहीं होता किन्तु जैसे अधिक निद्रा में सोते हुए को मच्छरादि के काटने से कुछ दुखः पहुंचता है इसी लिये वह स्वप्नदशा में ही शरीर को हिलाता हाथ

आक्षेप का उत्तर ॥

आर्यसिद्धान्तके गतभाग ५ के ११ वा १२ अङ्कोंमें मांसविषय पर जो लेख छपा था और अथर्ववेदके कई मन्त्रोंका अर्थ भी किया था उस पर बाबा तेजसिंह नामी किन्हीं महाशयने लाहौरके भारतसुधारनामी साप्ताहिक उर्दू पत्रमें कुछ आक्षेप कियाहै। मेरा यह सिद्धान्त तो किसी लेखमें वा पुस्तक बनानेमें नहीं रहता और न किसी विचारशील विद्वान्का ऐसा विचार होना उचितहै कि जो मैं लिखता वा कहताहूं वह सर्वथा निर्भ्रमहै उसमें कुछ भूलचूक नहीं है वा नहीं रह सकती। किन्तु मनुष्यके अल्पज्ञ होनेसे भूल रह जाना सम्भव है। और यह भी सम्भवहै कि किसी बड़े विद्वान्की भूलको भी कोई साधारण मनुष्य पकड़ लेवे। कभी किसी विषयमें विद्वान् भी विचलजाते और कहीं २ साधारण मनुष्योंकी बुद्धि भी तत्व पर पहुंच जातीहै परन्तु इतनेसे साधारण मनुष्य विद्वान् नहीं होसकता। इस कारण आर्यसिद्धान्तमें कुछ भूल रह जावे तो आश्चर्य नहीं क्योंकि आरम्भसे अब तक यह प्रतिज्ञा कभी नहीं की गई कि मेरे लेखमें कभी कहीं किसी प्रकारकी भूल वा त्रुटि न होगी। अब क्रमसे आक्षेप लिखकर उत्तर दिया जाताहै–

बाबा तेजसिंह–आर्यसिद्धान्त में मांसविषय पर पं० भीमसेनने लेख दिया है—बड़ी बुद्धिमानीसे यह लिखा गयाहै परन्तु नतीजा पर पहुंचनेमें इनके तर्जुमेंमें (इनके पहले खयालातके कारण) ग़लती ज़रूर मालूम देतीहै ॥

उत्तर–मुझे सन्देहहै कि मांसभक्षणविधि वा निषेध के किस पक्ष में बाबा तेजसिंह हैं ?। लेख ऐसी चालसे लिखाहै जो न्यायशास्त्रमें लिखे वैतण्डिकों की शैलीसे टक्कर खाताहै। वैतण्डिक मनुष्य अपना पक्ष वा सिद्धान्त कुछ नहीं कहता न किसी पक्षको स्थापित करताहै किन्तु अन्यके पक्ष वा सिद्धान्तमें तर्क उठा देताहै। और दूसरेके कथनका खण्डन करना ही वह अपना परमकर्त्तव्य समझताहै। अनेक मनुष्य अपने पक्ष वा सिद्धान्तको इसलिये भी छिपाया करतेहैं कि हम पर कोई प्रश्न न करे यदि करेगा तो हम पर उत्तर देनेका बोझा पड़ जायगा। परन्तु अपने पक्ष वा सिद्धान्तको प्रायः वे ही लोग छिपातेहैं जिनका पक्ष कच्चा निर्बल होता वा वे स्वयं अपने पक्षके समर्थनमें असमर्थ होतेहैं। यदि सबकी शुभचिन्तक बुद्धिसे बाबा तेजसिंहका लेख होता तो उनको इतना

ही लिखना उचित था कि आर्यसिद्धान्तके अमुक लेखमें अमुक २ भूलहै उसके स्थानमें ठीक ऐसा होना चाहिये। पहिले लिखा कि बड़ी बुद्धिमानीसे लेख लिखा गयाहै फिर कहा भूल अवश्य मालूम होतीहै। परन्तु यह नहीं लिखा कि यह भूलहै और सही यह होना चाहिये। वा० ते० ने आर्यसिद्धान्तमें गलती रहनेका कारण पहिले खयालातको मानाहै। हम इस बातको निस्सन्देह स्वीकार करतेहैं कि हमारे पहिले खयालात अवश्यहैं और पहिले हुए ऋषिमहर्षियोंके वेदानुकूल खयालातों [सिद्धान्तों] को ही हम आर्यसिद्धान्त मानतेहैं। और जो अंगरेजीराज्यके प्रचारसे फैले और फैलते जातेहैं उनको हम लोग नये खयालात मानते और समझतेहैं। यद्यपि नये खयालात सभी पहिलोंसे विरुद्ध नहीं हैं तथापि मुख्य २ वा प्रबल २ विषयोंमें बड़ा विरोधहै। जिसका दूर होना दुस्तरहै।

वा० ते०—वैद्यकशास्त्रमें मांस खानेके अनेक गुण दिखायेहैं अर्थात् दोषोंकी पेक्षा गुण अधिकहैं इत्यादि पं० जी का लेख "विजिटेरियन सोसाइटी" के बिलकुल विरुद्धहै। इनका यह दावा करना कि मांसमें वैद्यकानुसार दोष ही दोषहैं गुण कोई नहीं खारिज होजाताहै। इस समय बहुतसे अंगरेजी डाकृर भी मांस खाना लाभकारी बतलातेहैं और सिद्ध करतेहैं। और पं० जी के लेखसे प्राचीन वैद्यकग्रन्थोंकी भी सम्मति विदित होतीहै। इसलिये "विजिटेरियन" लोगोंको चुप होना चाहिये। या वैद्यक तथा डाकृरीकी बातसे इनकारी होवें॥

उत्तर—संसारमें अनेक विषय ऐसे भी हैं जिनमें सब विचारशील बुद्धिमानोंकी भी एक सम्मति न कभी हुई न होती और न होगी इसी विचारसे न्यायभाष्यकर्त्ता वात्स्यायनऋषिने लिखाहै किः—

"सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते नातोऽन्यथेति"

मनुष्योंके सिद्धान्तों वा मन्तव्योंमें भेद होनेसे ही वाद जल्प और वितण्डा की प्रवृत्ति होतीहै। और व्यक्ति आकृतिके भेदानुसार बुद्धिभेदके अनादि होनेसे वादविवाद भी सृष्टिके आरम्भसे प्रलय तक बना ही रहताहै। इसीलिये जिन अंशोंमें प्रायः वादविवाद नहीं उठता वे ही सर्वसाधारणके लिये कल्याणके मार्गहैं। विजिटेरियन लोगोंके विरुद्ध होनेसे मेरा लेख बुराहै वा वास्तवमें कुछ

भूलहै ?। आस्तिकोंका ईश्वर मानना नास्तिकोंके अनीश्वरवादसे विलकुल विरुद्धहै इससे आस्तिकोंकी गलती आप सिद्ध क्यों नहीं करते ?। साफ २ मेरी भूल तब सिद्ध होती कि सुश्रुत नामक वैद्यकशास्त्रमें मांसके अनेक गुण दिखानेका पता मैंने दिया था उसी ग्रन्थमें मांसके गुणोंके बदले बाबा तेजसिंह जी दोष अधिक दिखा देते कि सुश्रुतके अमुक स्थलमें गुणोंकी अपेक्षा दोष अधिक लिखेहैं। ऐसा करते तो मैं अपनी भूलको अवश्य मान लेता ऐसे तो बा० ते० जी का यही लेख सर्वानुकूल नहीं तो क्या हम कहदें कि गलतीहै ?। ऐसा कदापि नहीं कह सकते किन्तु यही कहना चाहिये कि अमुक पुरुषका अमुक लेख सर्वानुकूल वा सर्वदेशी नहीं। इसलिये बा० तेजसिंहका गलती लिखना ही बड़ी गलतीहै। गलती वा भूल शब्दोंका अर्थ भी समझलें। बाबा तेजसिंह के नये खयालातके कारण विदित होताहै कि वे ईश्वरवाक्य वेदसे भी अधिक बिजिटेरियन लोगोंके कथनका प्रमाण मानतेहैं। वेदकर्त्ता तो एक ही ईश्वरहै परन्तु विजिटेरियन सभी ईश्वरहैं इस कारण अनेक ईश्वरोंके वाक्यको अधिक प्रमाण मानना चाहिये। अब मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि सुश्रुत के सूत्रस्थानका हिताहितीय नामक २० वीशवां अध्याय तथा सूत्रस्थानके ४६ छयालीशवें अध्यायको बाबा साहब देखें यदि वहां मांसके गुण दोषोंकी अपेक्षा अधिक न दिखाये हों तो मेरी भूल बतानेका साहस करें। यदि वहांका लेख किसी प्रकार मिथ्या ठहरे तो यह मेरी भूल न होगी किन्तु वैद्यक सुश्रुतग्रन्थ बनाने वाले वा उसमें पीछे बना कर मिलाने वालेकी भूल होगी। विजिटेरियन लोगोंका वास्तवमें यदि यह दावाहै कि मांसमें सब दोष ही दोषहैं तो उनकी भी बड़ी भूलहै। क्योंकि अनेक सिंहादि जीव केवल मांस खाकर ही जीवित रहतेहैं क्या यह गुण नहीं है ?। सब पदार्थोंमें अत्यन्त घृणित निकृष्ट मनुष्यादिकी विष्ठाहै उसका भी जिन खेतोंमें खात पड़ताहै वहां अन्नादिकी अधिक उत्पत्ति होती तथा सूकर (सुअर) आदि खाकर अपना प्राण पोषण भी करतेहैं। जब इत्यादि गुण विष्ठामें भी हैं तो मांसमें सब दोष ही दोषहैं यह कौन सिद्ध कर सकता है ?। यह तो अवश्य माननीय है कि जब किसी वस्तुमें मनुष्यकी दोषबुद्धि होतीहै तब उसका गुण कोई भी सामने नहीं आता और जब उसके गुणोंकी ओर ध्यान जाताहै तब दोष दूर भाग जातेहैं। एक कालमें दोनों नहीं रहते।

परन्तु यह साधारण मनुष्योंकी चालहै विद्वानोंकी नहीं। विद्वान् लोग दोषोंके समय गुणोंको सर्वथा नहीं भूलते और गुणोंके समय दोषोंको भी सर्वथा नहीं भुलाते हैं। यही उनकी बड़ी योग्यता है। इससे सिद्ध हुआकि प्रत्येक वस्तुमें अनेक २ गुण दोषहैं जिस समय जिस वस्तुके दोष अधिक हानिकारक होजाते और गुणोंसे ठीक लाभ नहीं लियाजाता तब दोषोंको आगे करके उसके प्रचारके रोकनेका उद्योग जगत्में किया जाताहै और ऐसा ही करना भी चाहिये। तथा जब उसी वस्तुके दोष विशेष हानिकारक नहीं होते और गुणोंसे विशेष लाभ देखा जाताहै तब उसके गुणोंको सामने रख कर मण्डन वा समाधान करना पड़ताहै। इसके आगे बाबा तेजसिंहने लिखाहै कि "अनेक अंगरेजी डाकृरोंकी रायसे और पं० जी के लेखसे भी प्राचीन ग्रन्थोंकी सम्मति विदित होतीहै इसलिये विजिटेरियन लोगों को चुप होना चाहिये या वैद्यक तथा डाकृरी की बातसे इनकारी होवें" इसका उत्तर यहहै कि अंगरेजी डाकृटर लोग भले ही मांसको लाभकारी मानकर विधान करते हों कि मांस खाना चाहिये विजिटेयन् लोग उनके अनुकूल बनें वा चुपहों और नये खयालातके अनुसार बा० तेजसिंह जी भी डाकृटरोंके अनुसार मांसका विधान करें वा विजिटेरियन्का पक्ष ले चुप हों वा मांसको सर्वथा दोषी समझें यह उन पर निर्भरहै परन्तु प्राचीन वैद्यकशास्त्र पर कुछ दोष नहीं आता उसका आशय न समझने वालों पर दोषहै। वैद्यकशास्त्रमें मांस खानेका विधान नहीं है और न मैंने लिखाहै कि वैद्यकमें गुण अधिक लिखेहैं इसलिये मांस खाना चाहिये। गुण अवगुण दिखाना एक सिद्धानुवादका विषयहै और विधान करना धर्मशास्त्रका कामहै। अर्थात् "यह काम करना चाहिये" इसका नाम विधान विधिवाक्य वा धर्मशास्त्रहै और "अमुक वस्तुमें ऐसे २ गुण अवगुणहैं" यह सिद्धानुवादहै। वैद्यकशास्त्र का विषय शरीर सम्बन्धी रोगोंसे प्राणियोंको बचाना। और धर्मशास्त्र का प्रयोजन मुख्यकर आत्मिक सुधारसे है इसलिये इन का विषय भिन्न २ है। धर्म के अनुसार वैद्यकशास्त्र के मानने वाले भी मांस खाना बुरा समझतेहैं। इस आशय को न समझ कर बा० ते० जी ने उलटा आशय जो सीधा जान पड़ा झट समझ लिया कि प्राचीन वैद्यक का आश्रय लेकर सम्पादक आर्यसिद्धान्त भी मांस खाना अच्छा बतलाते हैं। और पूर्वापरकी इबारत

पर इतना भी ध्यान न दिया कि इन्होंने स्पष्ट ही मांस खानेको अधर्म । ...ता है । और यह कहीं नहीं लिखा कि मांस खाना चाहिये फिर हम ऐसा व्यकुतर्क क्यों खड़ा करें थोड़ा भी सङ्कोच न आया । यदि सन्देहमात्र होता तो पत्रादि द्वारा पूछलेते । वैद्यकशास्त्र का नाम हमने इस विचार से लिखा था कि यदि कोई शङ्का करे कि वैद्यकमें मांस खानेके अनेक गुण लिखेहैं तो उसको अभक्ष्य क्यों ठहराते हो। इसका उत्तरभी वहां स्पष्ट आगया कि वैद्यकका विषय धर्मशास्त्रसे भिन्नहै । धर्मशास्त्रके अनुसार मांस सर्वथा अभक्ष्यहै । धर्मशास्त्रमें चोरी करना वा परस्त्रीगमन निषिद्ध ठहराया है परन्तु व्याकरणमें चोरी व्यभिचारादि सभी शब्दों की सिद्धि कीहै । जब कोई विद्यार्थी चोरी व्यभिचारादि शब्दोंको व्याकरणसे सिद्ध करता हो तो बा० तेजसिंह जी जैसे लोग झट कह दैंगे कि वह चोरी व्यभिचारादिको कर्त्तव्य ठहराताहै । मैंने वहां स्पष्ट यह भी लिखा था कि वैद्यकशास्त्र अन्नमें जो गुण ठहरावेगा वह चुराये हुए अन्नमें भी अवश्य होंगे । चोरीका अन्न भी क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य करेगा । परन्तु चुराकर खाना धर्मशास्त्रके अनुसार अधर्महै । इसी प्रकार मांस खानेमें अधर्म अवश्यहै । परन्तु जो धर्मशास्त्रको ताकमें रख कर देशचाल वा स्वभाव पड़जाने आदिके कारण सभीका मांस खानेमें गुण दोषोंका विचार किये बिना ही प्रवृत्त होते वा हो सकतेहैं उनको वैद्यकशास्त्र गुण दोष दिखाताहै कि विशेष अवगुणकारी वस्तु खाकर शारीरिक दुःखोंसे जितना बचे उतना ही अच्छा है । इत्यादि प्रकार परोपकारबुद्धिसे सब शास्त्र बनाये हैं । उनको कोई न समझ कर अपनी अज्ञानताके दोषोंको शास्त्रों पर झोंके तो यह उसका दोषहै । हम बाबा तेजसिंह जी आदि लोगोंसे विनयपूर्वक निवेदन करतेहैं कि आगे कभी ऐसे लेख लिखनेकी उत्कण्ठा हो तो किन्हीं अच्छे विचारशीलपुरुषोंकी सम्मति लेलिया करें ॥

बा० ते०—पं० जीके लिखने पर एक और शङ्का उठतीहै, आयुर्वेद जो वैद्यकग्रन्थहै और अथर्ववेदका उपवेदहै इन दोनोंका क्यों विरोध होना चाहिये ? ॥

उत्तर—अथर्ववेद और उसके उपवेद सुश्रुतसे परस्पर विरोध नहीं है । यह आप जैसे थोड़ेसे मनुष्योंको अपनी बुद्धिके अनुसार दीख पड़ा होगा। अथर्ववेदमें

परन्तु खानेका जब स्पष्ट निषेधहै और वैद्यक आयुर्वेदमें विधान नहीं कि मांस खाना चाहिये तो विरोध कहांसे आया । जब एक कहे कि इस कामको न करना चाहिये और दूसरा विधान करे कि इसको अवश्य करना चाहिये तो विरोधहो सो अथर्ववेदमें मांस खानेका निषेधहै और आयुर्वेदमें सिद्धानुवादहै किन्तु विधान नहीं है फिर विरोध कहांसे आया ? । मांसके विषयमें जो कुछ सिद्धान्तपक्षहै सो पहिले भी हम छपा चुकेहैं और आगे यहां भी अन्तमें फिर लिख देंगे अभी केवल वादविवाद है इसको कोई सिद्धान्तपक्ष न समझे ।

वा०ते०—मन्त्र—एतद्वा उ स्वादीयो० ।

इस मन्त्र का अर्थ वे इस तरह करते हैं " यही गौ का दूध और मांस अतिस्वाद है इसी को न खावे, । और लिखते हैं कि यह अतिथि यज्ञ का सम्बन्धहै कि अतिथिको भोजन कराकर यज्ञके शेषको खावे । गौका दूध और सामान्य जानवरका मांस यद्यपि अत्यन्त स्वादु है परन्तु उनको न खावे क्योंकि यह यज्ञमें नहीं चढाई गयी यहां दोनो वस्तु एक ही वजहसे निषेध कियेहैं। या तो यज्ञके सिवाय दोनोंका इस्तेमाल जायज़ है या दोनों का नाजायज़— यह नहींकि पं० भीमसेन साहब मांस को चोरी के माल से उपमादें और दूध पीने को अधर्म न समझें । इसमें पक्षपात पाया जाता है ।

उत्तर—यहां"यही गौका दूध और मांस अति स्वादु है उसी को न खावे„ यह आर्यसिद्धान्तके सम्पादकका लेख नहीं है किन्तु पूर्वपक्ष है । जिस आक्षेप कर्त्ता को पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष समझने तककी योग्यता नहीं वह कैसा विद्वान् वा बुद्धिमान् है यह पाठक लोग स्वयमेव समझ सकते हैं । क्या कोई विचारशील कहसक्ता है कि ऐसे मनुष्य आक्षेप करने के अधिकारी हैं ? । संस्कृत में स्वादु शब्द के दो अर्थ हैं एक मिष्ट लागना द्वितीय इष्ट जिसकी चाहहो । "एतद्वा उ०„ इस मन्त्रमें दोनोंही अर्थ योग्यता देखकर लिये गये हैं। अब बाबा तेजसिंह जी से प्रश्न है कि "यहां दोनों वस्तु एकही वजहसे निषेध किये हैं„ वह एक वजह कौन है ? उसको सिद्ध करने का भार बा० तेजसिंह पर है । उनको प्रमाण वा साबूती देनी चाहिये कि दोनोंके निषेधका एकही अमुक कारणहै। हमारे पक्ष में यह दोष वा प्रश्न इस लिये प्रचरित नहीं होता कि हमने पहले ही भिन्न २ कारण लिख दिया है कि दूध से अग्निका बुतजाना सम्भव है इस

कारण यज्ञ में दूध न चढ़ाना चाहिये। तथा मांस में हत्यारूप पाप लगता है और मांस के जलने से दुर्गन्ध भी आता है। इन भिन्न २ कारणों से यज्ञमें निषेध किये हैं। पाठकगण! आगे बाबा साहब की बुद्धिकी तेजी पर विशेष ध्यान दीजिये!। आप लिखते हैं कि "यातो यज्ञके सिवाय दोनों का इस्तेमाल जायज है या दोनों का नाजायज़" यदि यह नियम शास्त्रीय व्यवस्था वा लोकव्यवहारके अनुसार किसी प्रकारभी ठीक होजावे कि जिन दो वा अधिक वस्तुओंका किसी समय वा किसी काममें किसी कारण निषेध किया जाय तो उसका सभी कामोंमें वा सभी समयमें निषेध होना चाहिये। जैसे मान लीजिये कोई मनुष्य एकान्त में किसी के साथ बात करता हो उसी समय अन्य दो पुरुष वहां आवें जिन में एक को तो वह एकान्त की बात सुनाना ही नहीं चाहता इस से निषेध करे और दूसरेको समीप आनेसे इसलिये रोके कि जिससे द्वितीय साथीको बुरा न लगे वा अन्य किसी प्रयोजनसे रोके तो यह नहीं हो सकता कि फिर कभी उन दोनोंमेंसे किसीके साथ एकान्तमें बात ही न करे। इस प्रकारके सैकड़ों दृष्टान्त मिल सकतेहैं जिनमें किसी समय वा कार्यमें दो वा अधिक वस्तुओंका एक साथ निषेध किया गया हो और समयान्तर वा कार्यान्तरमें उनमेंसे किसीका विधान करना आवश्य कपड़े। हम इसको प्रतिज्ञापूर्वक कह सकतेहैं कि संसारमें जितने पदार्थहैं सभीके गुण कर्म स्वभाव भिन्न २ हैं किसी२ अंशमें किन्हींके परस्पर गुण कर्म स्वभाव मिलते भी हैं तो भी उनमें बोधस्वरूप भेद अवश्य रहेगा और जिनमें कुछ भी भेद न हो वे पदार्थ कभी दो नहीं कहे जा सकते। इसी कारण किन्ही दो वस्तुओंका एक ही कारणसे विधि वा निषेध नहीं हो सकता। इसका भार बाबा तेजसिंह जी पर है कि वे किन्हीं दो वस्तुओंका निषेध वा विधान दृष्टान्तमें दिखावें और अपने पक्षको सिद्ध करें क्योंकि प्रतिज्ञा करने वाले ही का कामहै कि वह न्यायानुसार अपनी प्रतिज्ञाको हेतु दृष्टान्तादि द्वारा सिद्ध करे। हमने तो दोनों वस्तुओं के निषेधका पृथक् २ कारण प्रथमही लिख दियाहै कि दूधसे अग्नि बुझ जायगा और मांसके चढ़ानेसे हिंसारूप दोष वा पाप यजमानको लगेगा तथा दुर्गन्ध भी उठेगा। जब मांसभक्षणका निषेध हमने वेदादि शास्त्रोंके अनुसार मुख्य कर हिंसारूप अधर्म के कारण कियाहै और वही कारण यज्ञमें न चढ़ानेके निषेधकाहै और दूधमें

हिंसादि पाप कोई कभी नहीं ठहरा सकता तो इन दोनोंके निषेधका भिन्न २ कारण सिद्ध होगया परन्तु "दोनों वस्तु एकही वजहसे निषेध कियेहैं" ऐसाकहने वाले बाबा तेजसिंह जीने वह एक वजह (कारण) नहीं दिखायाकि अमुक एकही ही वजहसे दोनोंका निषेधहै। क्यों जी बाबा साहब! आप ही बताइये कि क्या आप दूध और मांसको एक ही सा समझतेहैं?। इसी लिये आप पक्षपातरहित हैं और हमने मांस को चोरी का माल ठहराया तथा दूध के पीने को अधर्म नहीं ठहराया इसी लिये आपने हमको पक्षपाती ठहराया सो यह आप की योग्यता है। इस प्रकार का पक्षपाती रहना हमको स्वीकार है। पर मांस और दूध को बराबर ठहराकर निष्पक्षपाती बनना वा कहाना हमको स्वीकार नहीं है।

बा० ते०—मन्त्र—स य एवं विद्वान्०

पं० साहब लिखते हैं कि इस मन्त्र के अन्य पदों में कुछ झगड़ा नहीं है केवल "मांसम्„ उपसिच्य„ इन दो पदों पर विचार करना उचित है। वह इसका अर्थ यों करते हैं कि अतिथि के सामने मांस परोस कर भेंट वा दक्षिणा देवे। पं० साहब फर्माते हैं कि इस सूक्त में जिसका वर्णन है वे पांच मन्त्र क्रमशः दूध, घी, मधु, स्वादु पदार्थ मांस और पानी अतिथि के सत्कारार्थ पाये जाते हैं और जिस समय और कुछ प्राप्त न हो तथा प्राण बचाने के लिये निषेध नहीं है। इसमें शङ्का उठती है कि यह बात पं० जीने कहां से निकाली? वेदमन्त्रों से तो नहीं निकल सकती। मालूम होताहै कि ये बातें अपनी ओर से निकाली हैं और उस की वजह साफ है।

उत्तर—आर्योंने वेदको सब विद्याओं का मूलमात्र मानाहै। जिन लोगों को मूलमें सब तत्त्व जान पड़ता है उनके लिये टीका वा भाष्य करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं पड़ती पर ऐसे मनुष्य पृथिवी पर आजकल विरले ही होंगे किन्तु टीकासे भी मूलका आशय समझने वाले कमहैं किन्तु ऐसे मनुष्य अब अधिक हैं जो टीकाओंको भी यथावत् नहीं समझ पाते यही हमारे देशके दुर्भाग्यका बड़ा कारणहै। और ये ही तृतीय प्रकारके मनुष्य अपने मन ही मन दम भरतेहैं कि हम सब कुछ समझनेको समर्थहैं। खाली घड़ा ही अधिक उछला करताहै। आम आदिके मूलरूप बीजमें वृक्षके स्कन्ध शाखा डाली पत्ते आदि सूक्ष्म अवयव भौतिक नेत्रसे किसीको नहीं दीखते। तथा साधारण लोग

बुद्धिसे भी निश्चय नहीं रखते न जानतेहैं कि बीजमें वृक्षके सब अंश विद्यमानहैं परन्तु विद्वान् लोगोंको बुद्धिरूप नेत्रोंसे स्पष्ट दीख पड़ताहै कि बीजमें वृक्षके सब अंश विद्यमानहैं। मध्यम कक्षाके मनुष्य टीका वा व्याख्यानसे मूल का कुछ आशय समझ लेतेहैं। अक्षरार्थ और आशयमें भी भेद होताहै। वेदादि शास्त्रों में जब सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं कि—

"यजमानस्य पशून् पाहि । मैनं हिंसीः । न हिंस्यात् सर्वा भूतानि । ब्राह्मणो न हन्तव्यः । गौर्न हन्तव्या ॥,,

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिबधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मांस खाना एक प्रकार का अधर्म है। और शास्त्रों में जितनी बातें सामान्य उत्सर्गरूप से वर्णन की गईहैं उन सबके अपवाद भी कहीं कभी देशकाल वस्तु भेदसे रखने पड़ेहैं। अपवाद रक्खे विना जगत्का कोई व्यवहार कभी नहीं चलताहै। वेदादि धर्मशास्त्रोंमें जो कर्त्तव्य काम सन्ध्या अग्निहोत्रादि वा दया क्षमादि कहे गयेहैं उनका किसी अशक्त दशामें त्यागरूप अपवाद और जो काम त्याज्यहैं उनका विशेष दशा (हालत) में ग्रहण बताया गयाहै। इस अपवादसे उत्सर्गकी कुछ भी कोई हानि समझे तो यह समझने वालेका दोषहै किन्तु शास्त्र का दोष नहीं। जब पहिले लोग सनातनधर्म और आपद्धर्मको यथावत् समझते थे तब प्रत्येक स्थलमें यह कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी कि यह सनातन वा सामान्यरूप उत्सर्गधर्महै तथा यह आपत्कालका धर्म वा विशेषरूप अपवाद धर्महै। परन्तु अब वैसा समय नहीं रहा। अब संस्कृत पढ़े हुओंमें भी ऐसे कम लोगहैं जो सामान्य विशेष वा उत्सर्ग अपवाद वा सनातनधर्म आपद्धर्मकी व्यवस्थाको ठीकर समझते हों। बड़े शोकका स्थानहै कि नेत्रहीन पुरुष यदि किसीको बाधित करे कि तुम दर्पणमें मेरा मुख मुझे दिखाओ तो कोई भी उपाय नहीं दीखता कि उस मनुष्यको कोई रूप दिखा सके। इसी प्रकार न्यायादि शास्त्रोंके कान पूंछका भी जिनको बोध नहीं उनको सामान्य विशेषकी व्यवस्था समझा देना कठिनहै। सामान्य और विशेष दोनों एक ही में विद्यमान

रहतेहैं । जो सामान्यहै वह किसीकी अपेक्षासे विशेष रहता । और विशेष भी किसीकी अपेक्षा सामान्य होताहै । सामान्य विशेषसे तृणमात्र भी कोई वस्तु रहित नहीं है । जिन मन्त्र वा श्लोकादिमें सामान्य विशेष कोई भी शब्द नहीं हैं और उनकी व्याख्यामें कोई टीकाकार सामान्य विशेष शब्दोंको लिखे तो इस व्यवस्थाको कुछ समझने वाले तो प्रसन्न होंगे कि टीकाकारने हमको यह बोध करादिया कि अमुक विधि सामान्यहै वा विशेष तथा अमुक निषेध सामान्यहै वा विशेष । परन्तु अधकचरे लोग शीघ्र ही तर्क कर उठेंगे कि यह सामान्य विशेषकी बात मूलसे तो नहीं निकलती मालूम देती टीकाकारने अपनी ओरसे निकाली होगी । अब विचारशीलोंको ध्यान देना चाहिये कि हम इनका उनको क्या उत्तर देवें ?। हम बाबा तेजसिंह जीसे ही पूछतेहैं कि जिन मन्त्रोंका सम्पादक आ०सि० ने कियाहै उनको आप सामान्यविधि वा निषेध समझते हैं अथवा विशेष विधि वा निषेध समझतेहैं ? । यदि सामान्य मानो तो उनका विशेष दिखाईये । और यदि विशेष मानो तो उसकी अपेक्षा सामान्य दिखाये ? । क्योंकि पूर्वपक्षी भी उत्तरपक्षसे विरुद्ध कुछ अपना पक्ष अवश्य समझताहै यदि कुछ नहीं समझता तो उसका प्रलापमात्र व्यर्थहै ।

एक स्त्री वा पुरुषका एक ही विवाह होना चाहिये यह सामान्यधर्म वा सनातनधर्महै । और पुनर्विवाह वा नियोग करना विशेष धर्म वा आपद्धर्महै । स्त्रियोंके सनातनधर्म विषयमें मानवधर्मशास्त्रके ५ अ० में लि०

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ॥
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥

कि पतिका देहान्त होने पर मरणपर्यन्त शान्तिसे नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहे । क्योंकि श्रेष्ठ स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिका विधान नहीं है । इस प्रकार सनातनधर्मको सामान्यबुद्धि दृढ़ करके आगे नवमाध्यायमें लिखाहै कि—

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥

कुलकी समाप्तिमें पतिके अभावमें स्त्रीको चाहिये कि देवर वा किसी कुटुम्बी पतिके भ्रातासे अभीष्ट सन्तान उत्पन्न करलेवे । इत्यादि प्रकार वेदादि शास्त्रोंमें जितने विधि वा निषेधहै वह कोई सामान्यदृष्टिसे तथा कोई विशेष

दृष्टिसे कहा गयाहै। एक विवाह सामान्य और पुनर्विवाह वा नियोग विशेषहै। यह बात यहां दृष्टान्तमात्र लिख दीहै अन्य कुछ प्रयोजन नहीं था।

(मांसमुपसिच्य०) इसी मन्त्रका अर्थ व्युत्पत्तिपक्षके अनुसार भी किया गयाहै। पहिले रूढिपक्षका अर्थ वहां इसलिये किया था कि रूढिपक्ष माननेवाले भी सनातनधर्म वा सामान्यदृष्टिसे मांसको भक्षणीय नहीं ठहरा सकते किन्तु मुख्यकर वह मेरा सिद्धान्तपक्ष नहीं है। यह तो बहुत प्रसिद्ध बातहै कि जो बात पहिले लिखी जावे वह पूर्वपक्ष कहाता और जो उससे विरुद्ध पीछे लिखा जावे वह उत्तरपक्ष माना जाताहै यदि बाबाजीको इतना भी बोध होता तो इस मन्त्रके पूर्वपक्षमें कुछ तर्क उठाना योग्य न था। यह भी स्पष्ट ही है कि पहिले लिखे अर्थमें सम्पादकका स्वयं ही सन्तोष होजाता तो फिर यौगिकपक्षके द्वितीय अर्थ करनेकी इच्छा स्वयमेव न होती। यह शैली ऋषि महर्षियोंके बड़े२ प्रतिष्ठित पुस्तकोंमें भी हैकि किसी विषयका खण्डन वा मण्डन चला हो वहां कई पक्षान्तरोंसे प्रतिपादन करतेहैं। एक २ प्रश्नके वा शङ्काके अनेक समाधान दिये गये और दिये जातेहैं उन सबका यही आशय होताहै कि पहिले२ पक्षोंमें कुछ २ ग्लानि उन शास्त्रकारों को स्वयमेव होतीहै परन्तु अगले२ पक्षान्तर वा समाधान पहिले२ की अपेक्षा मुख्य वा दृढ़सिद्धान्त माने जातेहैं संस्कृत विद्याके अच्छे२ विद्वान् लोग अच्छे प्रकार इसकी व्यवस्था जानतेहैं। यदि सत्सङ्गादिसे भी इस आशयको बाबा साहबने कुछ जाना होता तो इतना परिश्रम कदापि व्यर्थ करना वे स्वीकार न करते ॥

बा०ते–इस मन्त्रके बाद के तीन मन्त्रोंमें जहां मांस शब्द आयाहै, इसके अर्थ पं० जीने बलकारक औषध करनेकी कोशिश कीहै। लेकिन काफी वजह नहीं बतलाई कि यहां बलकारक औषधिका अर्थ क्यों लेना चाहिये। एक जगह मांसशब्दका अर्थ मांस और दूसरी जगह बलकारक औषध दुरुस्त नहींहै। ख़ासकर जब कि एकही प्रकरणहै। बलकारक औषधिके अर्थ करनेमें एक यह भी शङ्का उठतीहै कि मन्त्रोंमें और खास चीजोंके नामोंमें जैसे--दूध, घी, शहद और जल। फिर कोई वजह नहीं कि मांसके भी ऐसे ही खासनामके अर्थ क्यों न लिये जावें ?॥

उत्तर--इसका अधिकांश उत्तर तो पूर्व आगया कि रूढ़िपक्षके अनुसार पूर्वपक्षमें मांसका रूढ़ि अर्थ किया और उत्तरपक्षमें निरुक्त और पूर्वमीमांसा-

रहतेौंकी सम्मति [illegible] ुसार यौगिक अर्थ दिखाया और इसीको सिद्धान्त ठहराया फिर (अपूपवानू०) तथा (यं ते मन्यम्) इन अगले दो मन्त्रोंमें बार२ पूर्वपक्ष लिखना पुनरुक्त समझकर केवल उत्तरपक्ष ही लिख दिया अर्थात् केवल एक यौगिकही अर्थ करदिया। रहे सबसे पहिले दो मन्त्र उनमें मांसका निषेधहै सो यदि निषेधमें भी यौगिकार्थ किया जाय तो क्या ओषधियोंका भी बाबा साहब निषेध करना चाहतेहैं ?। यह नियम वेदमें नहींहैं कि यौगिकही अर्थ सर्वत्र लिया जाय वा रूढ़िही किन्तु जिस रीतिपर निश्चित किया हुआ वेदका सिद्धान्त न बिगड़े तथा परस्परविरोध न आवे ऐसा अर्थ प्रकरणानुसार करना चाहिये अब शोचनेसे सब महाशयोंको विदित होजायगा कि जब पूर्वपक्ष उत्तरपक्षकी रीतिसे दो अर्थ कियेगये तो एक प्रकरणमें दो अर्थ परस्परविरुद्ध कदापि नहीं होसकते। ऐसे अंशको न समझकर देखने वालेकी बुद्धिमें ही विरोधहै। और एक प्रकरणमें भी एक शब्दके दो अर्थ होसकतेहैं। जैसे मानलीजिये कि भोज नसमयमें कोई कहे कि"पयःपेयम्„ तो दोनों अर्थ सम्भवहैं। अर्थात् पानीपीना तो सम्भव और उपयोगी ही है परन्तु दुग्ध पीनाभी अयुक्त नहीं। इसप्रकार जो परस्पर विरुद्ध न हों ऐसे एक ही प्रकरणमें एक शब्दके अनेक अर्थ भी होसकतेहैं। मांसशब्दसे बलकारक औषधार्थ लेने में काफी वजह यौगिकपक्षका आश्रय ही है। मांसभक्षणको अच्छा समझने वालोंके लिये काफी वजह कोई न मिलेगी क्योंकि जिसके मुखहै वह कुछ कहेता ही रहेगा। चोरोंसे चोरी छुड़ा देनेके लिये सृष्टिके आरम्भसे आजतक किसीने काफी वजह न बतलाई कि जिससे कोई भी चोरी न करता। ऐसे ही मांसभक्षण करने वाले किसीके समाधानको नहीं मानते न मानेंगे। यदि राजदण्ड नियत होजाय तो छिप२ कर उस कामको अनेक लोग करेंगे और अनेक छोड़ भी देंगे। अब रहा यह कि दूध घी आदिका यौगिक अर्थ क्यों नहीं किया गया तथा उन्हींके साथ आये मांसशब्दका यौगिक अर्थ किया गया इसमें विशेष कारण क्या है ?। इसका उत्तर यहहै कि मांसशब्दका जिन मन्त्रोंमें यौगिक अर्थ किया गयाहै उनमें घृत दुग्धादि शब्द नहीं हैं। और यह नियम नहीं होसकता कि प्रकरण भरके सभी शब्दोंका अर्थ यौगिक ही किया जाय वा सभीकों रूढिमान लिया जाय। अर्थ करने और समझनेके लिये कुछ ऊपरी सामग्री और कारण भी

समझने और माननेकी आवश्यकता पड़तीहै। और वह सामग्री वा शास्त्रका सिद्धान्तज्ञानहै। जब हमने वेदादि शास्त्रका सिद्धान्त निश्चयकर मा लिया कि धर्मका प्रथम वा मुख्य लक्षण अहिंसाहै और हिंसारूप अधर्महै। अहिंसाको वेदके अनेक स्थलोंमें धर्ममाना और हिंसाको अकर्त्तव्य ठहरायाहै। तथा जब दूध, घीके रूढि अर्थ लेनेसे उक्त सिद्धान्त कुछ नहीं बिगड़ता और मांसके रूढि अर्थ लेनेसे सिद्धान्तसे विरोध आताहै तो मांसका यौगिकार्थ क्यों न किया जाय ?। इसमें और ऋषियोंकी सम्मतिहै फिर यौगिकार्थ करनेमें कुछ भी विरोध नहीं न कोई दोषहै। यह समाधान आस्तिक वेदमतानुयायी जि-ज्ञासु पुरुषोंके लियेहै। यदि बाबा साहब भी वेदमतानुयायी हैं तब तो यही समाधान अधिकहै और नास्तिक वा दुराग्रही वैतण्डिकोंके लिये समाधान और प्रकारके होसकतेहैं ॥

बा० ले०—पं० भीमसेन साहबने कोई साफ मन्त्र मांसभक्षणके विरुद्ध नहीं पेश किया ॥

उत्तर—इससे पहिले बाबा साहबने सम्पादक आर्यसिद्धान्तको कोई ऐसी कड़ी आज्ञा नहीं दी थी कि तुम मांसभक्षणके विरुद्ध कोई वेदमन्त्र पेश न करोगे तो अमुक दण्ड होगा। यदि राजदण्डकासा भय होता तो खोजनेमें परिश्रम भी किया जाता उसके लिये अन्य काम भी छोड़ दिये जाते। मांस भक्षणके विषयका मैंने अपनी ओरसे लेख नहीं उठाया किन्तु पंजाबसे हीं एक महाशयने मेरे पास छपे हुए अथर्ववेदके मन्त्र भेजे थे और उन्होंने अपने पत्रमें लिखा था कि तुम इन मन्त्रोंका अर्थ करो। मांस खाने वाले लोग इन मन्त्रोंको अपने पक्षका पोषक समझतेहैं। इस कारण मैंने उनका अर्थ अपनी बुद्धिके अनुसार किया और जैसा वेदादि शास्त्रोंका सिद्धान्त जाना था उसके अनुसार अपनी सम्मति भी लिखी। मैंने लिखा था कि सृष्टिके आरम्भमें कोई मनुष्य मांस खाताही नहींथा फिर अप्राप्त वस्तुका निषेध वेदमें क्यों किया जाता मांसभक्षणके निषेध की वेदमें कुछ आवश्यकता न थी। इस पर बाबा साहबका तर्क है कि यह दलील वेदोंके सब देश कालमें होनेके विरुद्धहै। हम पूछतेहैं कि बाबा साहब यदि अप्राप्तिमें निषेधका सम्भव मानतेहैं तो बतावें कि जो पुरुष चोरी नहीं करता उसको क्यों नहीं कहा जाता कि चोरी मतकर

रहते ई मानेगा कि अप्राप्तिमें भी निषेध होताहै उसके मतमें प्राप्तिमें विधान भी होना चाहिये। अर्थात् जो सत्यबोलताहो उससे भी कहा जाय कि सत्य बोल। परन्तु ये दोनों बातें शास्त्रके सिद्धान्तसे और लौकिक व्यवहारसे भी विरुद्ध हैं। जोजिस कामको नहीं करता उसके लिये विधि वा आज्ञाहै कि तुम ऐसा करो और जो नहीं करने योग्य काम करताहै उसको निषेधहै कि तुम ऐसा मत करो। यह मेरा प्रयोजन वा आशय था। क्या बाबा साहब इससे उलटा मानतेहैं?। क्या प्रलयमें वेदोंका प्रचार बाबासाहबके मतमें था वा ताहै?।

अब रहा यह विचार कि ईश्वर भविष्यत् को भी जानता है कि आगे ष्य ऐसा मांसभक्षणादि काम करेंगे फिर उसने वेदोंद्वारा मांसभक्षणका निषेधक्यों नहीं किया? यदि नहीं किया तो वह सर्वज्ञ नहीं और वेद भी सार्वकालिक नहीं रहा। इसका उत्तर यह है कि परमेश्वरने वेदमें यद्यपि ऐसा स्पष्ट नहीं भी कहा हो कि मांसभक्षण तुम मत करो तथापि सब कालके लिये सामान्यकर हिंसारूप अधर्मका निषेधकर दियाहै और किसी प्राणीकी हिंसा किये कराये विना किसीको मांस प्राप्तहो नहीं सकता। तो इससे वेदद्वारा मांस भक्षणका निषेध आगया। इसलिये वेद वा ईश्वरपर कोई दोष नहीं आसकता। शहदके निकालने में जीवहिंसाको बचा सकता है क्योंकि जिस छत्ते में शहद रहताहै उसके भीतर कोई मक्खी वा उनके बच्चे नहीं रहते। और मांस तथा रुधिरके साथतो प्राणोंका ही निवासहै। मांसतो कभी कोई विना जीवहिंसा के निकाल ही नहीं सकता। मधुमें मांसके तुल्य किसीके प्राणोंका वास नहीं है इसलिये मांस और मधुमें बड़ा अन्तरहै। बाबा साहबकी यह बड़ी भारी भूलहै जो मांस और शहदमें बराबर पाप ठहरानेका उद्योग करते हैं। यदि बाबा साहबको वा उनके साथियोंको वेदमन्त्रोंके अशुद्ध अर्थ समझनेकी शक्ति है तो शुद्ध भी अवश्य समझ सकेंगे फिर इतने वितण्डावादके व्यर्थ निर्मूल कुतर्कोंके करनेमें समय व्यतीत न करके केवल उन्हीं अथर्ववेदके मन्त्रोंका ठीक२ अर्थ करके छपा देते और चाहे यह भी न कहते कि अमुक पुरुषने जो अर्थ कियाहै वह गलतहै तो भी सब किसीको प्रकट होजाता कि अमुक२ वेदमन्त्रों का यह अर्थ निर्दोषहै और सम्पादक आर्यसिद्धान्तका अर्थ दोषयुक्त स्वयमेव

सबको प्रकट होजाता । परन्तु इसके लिये कुछ सामग्रीकी अपेक्षाहै सो साहब कहांसे लावें ?। आजकल ऐसे लोग बहुतहैं जो स्वयं तो कुछ करने शक्ति रखते नहीं और पांच सवारोंमें भरती होना चाहते ही हैं तो अन्यके किये कार्योंमें कुछ दंश देना अपना कर्त्तव्य समझ लेतेहैं ॥

अब इस लेखको संक्षेपसे लिख दिया इस कारण समाप्त करतेहैं । और आगे किसी मनुष्यके ऐसे साधारण लेखोंका उत्तर नहीं दिया जायगा जो चाहे सो जैसा लिखा करे । हां, यदि कोई संस्कृतज्ञ पुरुष शास्त्रोक्तयुक्ति प्रमाणयुक्त लेख लिखेगा और उसके किसी अंशका उत्तर देना आवश्यक जान पड़ेगा तो दिया जावगा किन्तु सबका नहीं ॥

अब मांसभक्षणविषयमें संक्षेपसे सिद्धान्तपक्ष इसलिये लिख देते हैं कि जिसको देखकर सर्वसाधारणको ज्ञात होजाय ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो जनः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स धर्मो परमो मतः ॥

जो मनुष्य संसारमें सब प्राणीमात्रके सुख दुःखको अपने समान देखताहै वह सर्वोपरि धर्मात्माहै । अर्थात् वह चाहताहै कि ऐसे २ वर्त्ताव वा काम मेरे साथ कोई न करे उन २ को किसीके साथ मन वाणी कर्मसे कुछ भी चेष्टा अन्य किसी प्राणीके साथ न करे । जो मनुष्य चाहताहै कि मुझको कोई मार न डाले वा सिंह भेड़ियादि न खाजावे वह मनुष्य स्वयं किसी प्राणीको मारनेकी चेष्टा न करे वा ऐसा काम मांसभक्षणादि न करे जिससे किसीका प्राण वियोग होने की सम्भावना हो । जो चाहताहै कि मुझको कोई प्राणी दुःख न देवे वा दुःख देनेकी चेष्टा न करे वह अपने किसी कामसे किसीको दुःख न पहुंचावे । जो चाहताहै कि मेरे साथ कोई छल फरेब वा मिथ्याभाषण न करे वह कभी किसी के साथ छल कपट न करे । जो चाहताहै कि मेरे पदार्थ कोई न छीन ले वा मेरी चोरी कोई न करले जाय वह अन्य किसीके पदार्थको स्वामीकी आज्ञाके विना वा अन्यायसे कदापि ग्रहण न करे । इत्यादि जो २ बातें वा वर्त्ताव अपने लिये किसीसे नहीं चाहता और जैसे २ काम वा बर्त्ताओंको अपने लिये

रहते[illegible]से चाहताहै वैसे२ काम अन्य प्राणियोंके साथ करे यही सर्वोपरि धर्महै। [illegible] मांसभक्षी कोई नहीं चाहता कि मेरा मांसकोई खा लेवे परन्तु सिंहादि हिंसक मांसाहारी उसको हृष्टपुष्ट देखके मांसखाना चाहतेहैं। फिर वह क्यों दूसरोंका मांस खाना चाहता है ?। यही अन्यायहै। इसी कारण मांसभक्षण महाअधर्म राक्षसी कर्महै इसीको सर्वसाधारणके लिये आत्मप्रिय वा आत्मानुकूलधर्म मानाहै कि प्रत्येक आत्मा अपने अनुकूल सुखके साधनों वा सुखको चाहताहै। दुःखको कोई नहीं चाहता दुःख सबके लिये प्रतिकूलहै। अनुकूल सुखको जैसे अपने लिये सब चाहतेहैं वैसे अन्यके लिये भी सुख पहुंचानेका उद्योग करना वा इच्छा रखनी धर्महै और जैसे अपने लिये प्रतिकूल दुःखहै वैसे सबके लिये समझना चाहिये। संसारमें जितने काम प्रतिकूल अनिष्ट वा दुःखदायीहैंउन सबसे अधिक प्रतिकूल अनिष्ट वा दुःखदायी मरणहै। मरणसे अधिक दुःख किसी काममें कोई प्राणी नहीं समझता मरण सबके लिये बड़ा भयङ्कर है। मनुष्य बड़ी २ विपत्ति वा दुःखोंके सहलेनेके लिये तत्पर हो जाताहै परन्तु मरण कोई नहीं चाहता। जब मरणका समय किसीको निकट प्रतीत होता है तब मनमें बड़ा भय प्रतीत होताहै और दुःखसागरमें डूब जाताहै। हिंसक प्राणियोंसे सब डरतेहैं। इसी कारण सर्प वृश्चिकादिके नामसे भी सबको कुछ न कुछ भय होताहै। मांसाहारियोंसे भी जिनका मांस वे खातेहैं उनको सदा भय लगा रहताहै कि न जाने आज किसको यह खायगा। जिनसे प्राणियोंको भय लगा रहताहै उनके लिये सदा भय उपस्थितहै और उनकी सद्गति होना कभी सम्भव नहीं इस कारण मांसभक्षण धर्मसे विरुद्ध अधर्मका कामहै। इस लिये सब सुखाभिलाषियोंको ऐसा काम त्याग देना चाहिये॥

निवेदन ॥

सब महाशयोंकी सेवामें विनयपूर्वक निवेदनहै कि १॥ डेढवर्षसे मेरा शरीर रोगग्रस्त होगया तबसे सब मासिकपत्र वन्द रहे और सबका आय रुक गया। इस कारण धनके विना कारखाना चलनेमें अबतक सङ्कोचसे निर्वाह करने पड़ताहै। इसलिये सब महाशयोंसे सहायताकी आशा करने पड़तीहै और वह सहायता यहीहै कि आर्यसिद्धान्तादिके वार्षिक चन्दासे जैसे पीछे सहायता देते आये वैसे अब भी देते जावें किन्तु यह न समझ बैठें कि जो २ काम इनने आरम्भ कियेहैं उनमें जब वर्षों तककी ढील हुई तो चलेंगे वा न चलेंगे। आशा न तोड़िये। मैं प्रतिज्ञा कर चुकाहूं कि जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक आरम्भ किया हुआ कोई काम न छोडूंगा। रोगके कारण ढील कितनी ही होजावे। इसमें अपना कुछ वश नहीं था न है। शीतकाल (जाड़ों) में मेरा शरीर अनुमान ४ महिने नीरोग रहा पीछे इधर चैत्रसे फिर रोग उभड़ आया। परन्तु गत वर्षके तुल्य इस बार रोग का बल नहीं था। तथापि शरीरकी रक्षा को परमकर्त्तव्य समझकर मैंने सब काम छोड़ दिया। अभी तक सर्वथा नीरोग नहीं हुआ इसीलिये धीरे २ काम का आरम्भ कियाहै। शरीर बराबर नीरोग होता गया तो दोमासके भीतर ही मनुस्मृतिभाष्यके अङ्क भी अवश्य निकालूंगा किन्तु अभी पक्की प्रतिज्ञा करना अच्छा नहीं समझता॥

विज्ञापन ॥

प्रायः महाशयोंको विदित होगा कि वर्त्तमान समयमें मांसभक्षणविषय पर अधिक विवाद जहां तहां उठा सुन पड़ताहै। इस विवादकी जड़ पंजावप्रान्तसे उठी प्रतीत होतीहै। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें पंजावी महाशय ही अधिक उत्साही और अपने कर्त्तव्यमें तत्पर दीखतेहैं। इन्ही द्वारा भारतवर्षकी उन्नतिकी विशेष आशा थी औरहै सो वहां ऐसे २ विवाद उठते हैंजिससे भविष्यत्में कुशलका अनुमान नहीं होता। यदि ऐसा ही विवाद चलता रहा तो कुछ कालमें पञ्जावी आर्योंके दो दल होनेकी सम्भावनाहै। इस लिये विशेष कर उन आर्य लोगोंकी सेवामें विनयपूर्वक निवेदन है कि जो मांसभक्षणको वेदादिशास्त्रोंके अनुसार धर्मका काम समझते हों वे मुझसे शास्त्रसम्बन्धीविचार (शास्त्रार्थ) करलें मैं तीन महीने तक समय देता हूं। मेरा यह विचार विवादकी शान्ति कर धर्मका निर्णय करनेके लियेहै किन्तु किसी

प्रकारके अभिमानादि नहीं । मैं मांसभक्षणको अधर्मसम्बन्धी काम धर्मशास्त्रोंके अनुसार समझताहूं । जिनकी इच्छा हो मुझसे लिखा पढ़ी करें ॥

ह० भीमसेन शर्मा

नवीन पुस्तकों की सूचना ॥

जीवसान्तविवेक पुस्तकमें मुंशी इन्द्रमणि जी कृत अनन्तत्वप्रकाशका उत्तर दिया गयाहै यह भी देखने योग्य पुस्तकहै। भर्तृहरिकृत नीतिशतक भाषा टीका सहित बहुत उत्तम पुस्तक बना है। इसका उपदेश धर्म और नीतिके अनुकूल मनुष्यमात्रके लिये अमृत है। विशेष कर बाल्यावस्थासे ही ऐसे श्लोक बालकोंको कण्ठस्थ करा देने चाहिये और भाषामें अर्थ समझा दिया जाय तो बड़ा उपकार होना सम्भवहै। उपदेश भजनावलीमें विशेष उपयोगी भजनोंका संग्रहहै उत्सवों पर बांटने योग्य है। १) में सौ पुस्तक मिल सकते हैं ॥

संस्कृतका तृतीय पुस्तक ≡) पं० तुलसीराम शर्म्मकृत ॥ गणितारम्भ =)॥ गायत्री अर्थसहित -) शीशेमें लगाने योग्य । उपदेशभजनावली)। भजनामृतसरोवर =)॥ प्रेमोदयभजनावली =)॥ विदुरनीतिमूल =) जीवसान्तविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) हुक्कादोषदर्पण ॥) सभाप्रसन्न ।) मानसविनोद ≡) भजनेन्दु -) इन्फ्लुएन्जाविनाशक ।) आर्य्यतत्वदर्पण =) नारीबुद्धप्रवर्त्तक चारोंभाग १) चाणक्यनीति सूल)॥ आर्यसमाजके नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार अच्छे काग़ज़ पर वा =)॥। सैकड़ा १॥।) हज़ार, निकृष्ट काग़ज़ पर ॥ व्याख्यान देनेका सामान्य विज्ञापन जिसमें चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सबका काम निकलताहै मूल्य प्रति सैकड़ा =) हज़ारका १।) इससे और सस्ता छपाने पर भी नहीं होसकते। समाजके नियम और व्याख्यानके विज्ञापन सब की सुगमताके लिये छपायेहैं अनेक लोगोंको उत्सव आदिमें बांटनेके लिये आवश्यकता पड़तीहै परन्तु सर्वत्र प्रेस नहीं होते और जहां हैं भी वहां दाम अधिक लगता और दिक्कत उठानी पड़तीहै इसलिये जिन महाशयोंको आर्यसमाजके नियम वा विज्ञापन मंगाने हों मुझसे मंगा लिया करें ॥

पता—भीमसेन शर्मा सरस्वतीयन्त्रालय—प्रयाग

ओ३म्

151553

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक

भाग ६] मासिकपत्र [अङ्क ३।४

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामिदयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सन् १८९३ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १।)

धन्यवाद ॥

ठाकुरशेरसिंह जी कर्णवास ५) पं० रामाधीन जी मिश्र सुगेली ५) श्री बा० खूबचन्द शर्मा बुधौलिया कस्बा कौंडिया २) श्री बूलचन्द फतेचन्द जी सिन्धहैदराबाद ५) बा० रामस्वरूप जी परीक्षितगढ़ १) पं० शिवगोविन्द बाजपेयी जी नरघुआ ४) ठा० केहरीसिंह वर्मा जमनीपुर १) मेनेजर कृष्णलाल जी हाथरस ३) बा० बांकेलाल जी किचहा २) लाला बांकेलाल बद्रीदास आगरा २) लालाशालिग्राम जी आगरा १) बा० घनश्यामदास जी नानपुर १०) आर्यसमाज रिसाला प्रयाग ४) पं०सुखदेव शर्मा खंडुआ २) बा० हनुमानप्रसाद जी लखनऊ १) बा० बेनीप्रसाद जी कवरधा ५) चौधरी उमरावसिंह जी नायक नगला ३)

२५-)॥ चार मास के पुस्तक विक्रय के। यह सब धन मास मार्च ९३ तक पाठशाला दयानन्दविश्वविद्यालय की सहायता में आया। इस का उन २ महाशयों को धन्यवाद है जो संस्कृतविद्याकी उन्नति में सहायता देते और दिलाते हैं। परमेश्वर उन के मनोरथ पूर्ण करे।

निवेदन ॥

इस अङ्कके प्रारम्भ में एक फारम अतिहलके कागजमें छपा है उसका कारण यह है कि जोधपुर वृत्तान्त को पृथक् छापकर अखबारों के द्वारा बंटवाने का विचार पहिले हुआ था परन्तु जब लेख बहुत बढ़ते देखा तो अखबारों के साथ बांटा जाना सम्भव न देखकर आर्यसिद्धान्त का अङ्क बना देना उचित समझा गया। अन्य किसी प्रकार से सब के पास पहुंच जाना सम्भव नहीं था। इसलिये हलके कागज लग जाने के अपराध को ग्राहक जन क्षमा करें।

यह तो सब महाशयों को विदित ही है कि मैं दो वर्ष से बीमार हूं। अब तक परमेश्वर की परमदया से ही मेरा शरीर चला जाता है। गत वर्ष मुझे शरीर चलने की आशा कम होगयी थी पर अब अनुमान होता है कि इस भयङ्करकफव्याधि से बच जाऊंगा। यदि शरीर बना है तो धीरे२ प्रारम्भ किये सभी काम पूरे करूंगा। सम्भवहै कि इसी आगामी दिशम्बरमें मानवधर्मशास्त्र के दो अङ्कग्राहकों के पास भेजे जायंगे। क्योंकि गत वर्ष के तुल्य इसशीतकाल में तो अवश्य ही रोगकी शान्ति रहना सम्भव है। जोधपुरवृत्तान्त इतने अतिकाल (देर) से छपा इस का भी कारण रोग से शरीर का पीड़ित रहना ही है। यदि मेरे शरीर से वास्तवमें कुछ आर्यधर्मोन्नति का होना सम्भव है तो परमेश्वर अवश्य ही प्रार्थना पर ध्यान देगा। ग्राहक महाशय यथोचित सहायता देते रहें।

ओ३म्

योधपुरयात्रा का वृत्तान्त

अनेक महाशयों को विदित होगा कि प्रथम ही वार राज जोधपुर मारवाड़ में जुलाई सन् ९३ के अन्त में मेरा जाना हुआ। इस का संक्षिप्त वृत्तान्त सब आर्य महाशयों को जताने के लिये लिखता हूं। मैं ने जब से महाराजा प्रतापसिंह जी की प्रशंसा सुनी थी कि उन्हों ने आर्यधर्म को अच्छे प्रकार स्वीकार किया है। आर्यधर्म में बड़ी प्रीति रखते हैं। तभी से मेरा चित्त चाहता था कि ऐसे राजपुरुषों से मेल होतो मैं धर्मोन्नति और देशोन्नति के अनेक उपाय महाराजा साहब के सामने कहूं क्योंकि वे समर्थ हैं आर्यावर्त्त देश भर में उन के उद्योग से आर्य धर्म की पता का फहरा सकती है। आर्यधर्म का अङ्कुर (जिस का बीज श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने अन्त समय जोधपुर में बोया था) जब जोधपुर में उगने लगा तभी समयानुसार आगरा और अजमेर आदि आर्यसमाजों के उद्योग वा सहायता से पं० ठाकुरप्रसाद जी आदि कई उपदेशक नियत हुए तभी से आर्यधर्मका प्रचार बढ़ता रहा। पं० ठाकुरप्रसाद जी प्रयाग जिले के रहनेवाले हैं वे जब जोधपुर से छुट्टी लेकर घर आते थे तो कभी२ मुझे भी दर्शन देते थे तब मुझे जोधपुर का विशेष हाल मिलता था। मैंने कईवार मित्रभाव से पं० ठाकुरप्रसादजी से कहा कि आप आर्यावर्त्त भर के आर्यसमाजों को जोधपुर राज्य से लाभ पहुंचवा सकते हैं सो आपने अब तक समाजों का कुछ भी उपकार नहीं किया। परन्तु वे साधारण बातों में टाल देते थे। यद्यपि परोपकार की ओर विशेष ध्यान रखने से मनुष्यका स्वार्थनहीं विगड़ता तथापि विशेष कर स्वार्थ की ओर झुके हुए मनुष्य से परोपकार सम्बन्धी कर्म का निर्वाह होना दुस्तर है अस्तु।

जून महीने में मुझे मेरे एक मित्र ने लिखा कि महाराजा के० सी० ऐस० आई० सरकार (१) श्रीकर्नलसर प्रतापसिंह जी आपको बुलाया चाहते हैं। सम्भव है कि जोधपुर में अच्छे प्रकार आर्य्यधर्म का प्रचार होगा। इसके दो चार दिन पीछे एक पत्र स्वामी अच्युतानन्द जी का मुम्बई से मेरे नाम आया जिस का अभिप्राय यह था कि "मैंने महाराजा जोधपुर के सामने आपकी बहुत प्रशंसा

की है वे आप को बुलावेंगे आप का बड़ा सत्कार होगा । मैं आप का बड़ा हितैषी हूं आप भी मेरे कृतज्ञ रहैं । इत्यादि" मैंने इस पत्रके उत्तर में लिख दिया कि आप मेरी प्रशंसा न करते तो भी मैं आप की निन्दा न करता । परन्तु मैं धर्मानुकूल आप की ही क्या किन्तु जो मेरी निन्दा करे और वह प्रशंसा के योग्य हो तो मैं उस की भी प्रशंसा करूंगा ।

(१) महाराजा श्रीकर्नलसर प्रतापसिंह जी को जोधपुरमें सरकार कहते हैं इस कारण मैं वार २ नाम न लिख कर सरकार शब्द लिखूंगा ।

इसी बीच में श्रीमहाराजा प्रतापसिंह जी का निम्न लिखित पत्र जोधपुर से मेरे बुलाने को आया ॥

पत्र महाराजा श्री प्रतापसिंह जी का ॥

श्रीः

पंडित श्री भीमसेन जी थी आप के गुणों की बहुत तारीफ सुनी है इसलिये जीचाहता है कि आप से मिलें सो प्रार्थना की जाती है कि कृपा करके यहां पधारें तो आप से बात चीत करने का मौका मिले—इसलिये अेक महीने वाद यानी शुरू स्त्रावन में पधारें सावन के महीने में ठन्ड भी हो जावेगी ला । २६ जून सन १८९३ जोधपुर से भेजी प्रतापसिंह

इस पत्र का उत्तर मैं ने लिख दिया कि मैं आप की आज्ञानुसार जोधपुर श्रावण के आरम्भ में अवश्य आऊंगा परन्तु कोई रुकावट का कारण विशेष न हुआ तो, क्योंकि मेरा शरीर रोगग्रस्त रहता है कदाचित् आने के समय रोग की अधिकता हुई तो आना कठिन होगा । इत्यादि ॥

इस के पश्चात् एक दूसरा पत्र स्वा० अच्युतानन्द का आया जिस की पूरी २ नकल पाठकों के अवलोकनार्थ कर देता हूं ।

(पत्र स्वा० अच्युतानन्द का)

ओ३म् ८ । ७ । ९३ मुंबई

श्रीमान् परोपकारव्रतधारी महात्मा ऋषिवर पं० भीमसेन जी महाशय नमस्ते

आपको एक कार्ड में लिख चुकाहूं आपने उत्तर तो लिखा होगा परन्तु मेरेको नहीं पहुंचा मैंने आपकी पूरी २ प्रशंसा महाराजाधिराज श्रीमान् प्रतापसिंह जी सा० बहादुरके पास की है इसका परिणाम आप शीघ्र देख लोगे मेरा

कहना यही है (परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ) इस वचनानुसार चलना चाहिये कई उपदेशक जोधपुर में आ चुके और रहते हैं परन्तु आपके बुलानेकी कोई तजवीज नहीं हुई मेरे सामने महाराजने अपने बाबूको कहाथा अभी पत्र लिखो आप १ महीने पीछे पधारना क्योंकि महा० का आबू पर जाने का इरादा था मैं थोड़े दिनके लिये मुम्बई में आया अब महा० जोधपु० जायेंगे मैं भी जोध० में आता हूं अपने राजी खुशी का एक विशद पत्र लिखें मेरेको सन्तोष हो मैंने आपको शरीरसे कभी नहीं देखा

ह० आप का सदैव शुभचिन्तक स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती मेरा पता ठिकाणा जगदीश्वर प्रेस माधोबाग सामा मुंबई

एक बात आप को लिखता हूं महाराज आप से पूछेंगे क्यों पण्डित जी! वेद में मांस खाने की आज्ञा है वा नहीं आपने ऐसा उत्तर देना वेद में तो परोपकार करना विद्या को फैलाना परस्पर प्रेम रखना एक दूसरे की भलाई करनी ईश्वरोपासनादि करने राजा ने प्रजाके सुखके लिये उपाय सोचने इत्यादि बातें हैं वेंगण आलू मांस दूध दही कड़ी भात इत्यादि भोजन रुचि के अनुसार खाया जाता है। महाराज ने मेरे को खुद कहा है स्वामी श्रीमद्दयानन्द स० जी ने हम को कहा है तुम मांस खाया करो इसलिये आपने भी मांस के खण्डन वा मण्डन में नहीं उतरना यदि आप ठाकुरप्रसाद जैसे खण्डन करोगे और मांस खाने वालों को कठोर शब्द बोलोगे जैसे ठा० प्र० ने महाराजा को बोले थे तो ठा० प्र० में महाराज की अप्रीति हो रही है आप में भी कबी प्रीति होने की नहीं आप जितनी कोमलता नम्रता रखोगे उतने ही जादा माननीय होगे ठा० प्र० को अपना शत्रु समझना उपरि से प्रेम रखना। आप हितेच्छु स्वामी प्रकाशानन्द गणेश रामचन्द्र मोतीलाल राव राजा तेजसिंह जी साहेब इतने को समझना मेरे को आशा है मेरे इस लेख को कुछ उलटा पुलटा न समझोगे आप विद्वान् हो भाव जान लोगे॥

इत्यलं बहुना बहुज्ञेषु

इस पत्र का उत्तर मैंने संक्षेप से यही लिखा कि मैं नहीं कह सकता कि महाराज सरकार जोधपुर मुझ से किन शब्दों में कैसा प्रश्न करेंगे और मैं क्या उत्तर दूंगा। परन्तु यह अवश्य कहता हूं कि जो कुछ वे पूछेंगे उस का धर्म

नुसार कोमल शब्दों से उत्तर दूंगा। और मैं किसी को अपना शत्रु नहीं समझता मुझ को कोई कुछ समझे इत्यादि। इसी बीच में एक पत्र अजमेर से प्रकाशानन्द का आया जिस का आशय यह था कि "मैं पंजाब से चलता २ अजमेर से जोधपुर जाता हूं आप वहां से चलने की शीघ्रता न करें मैं जोधपुर पहुंच कर सब हाल लिखूंगा तब आप प्रयाग से चलना" मैंने इसका कुछ उत्तर न दिया। और मन में समझ लिया कि ये लोग मुझे अपने पेच में डालना चाहते हैं यह इन की धूर्त्तता है। मैं पहिले सरकार जोधपुर को लिख चुका था कि मैं चलने से एक सप्ताह पहिले प्रयाग से चलने का दिन आप को लिख दूंगा। इसी के अनुसार सरकार की सेवा में तथा अन्य दो मित्रों को मैंने पत्र भेज दिया कि मैं ता० २९ जुलाई को प्रयाग से जोधपुर को चलूंगा। इस के पश्चात् स्वा० अच्युतानन्द का जोधपुर से एक पत्र आया जिसकी नकल—

ओ३म्

श्रीयुत पण्डितवर भीमसेन जी नमस्ते

आप का पत्र आया वाक्यातीव सन्तोष हुआ अब मैं आप को यहां की कुंची बताता हूं प्रथम १ पत्र आप पण्डित शुकदेवप्रसाद जी जो यहां श्रीमानों के पूरे २ राज्याधिकारी हैं उन को लिखें उस में यह लिखें कि मैं श्रीमानों की विस्तृत कीर्त्ति जो सर्वत्र फैल रही है सुन कर बहुत प्रसन्न होता हूं विशेषतः स्वामी अच्युतानन्द स० द्वारा आप के शुभगुणगण विद्वत्ता देशशुभचिन्तकता परमगम्भीरतादि सुन कर आप के दर्शन की इच्छा रखताहूं आप श्रीमानों के पास में शीघ्र आने वाला हूं इत्यादि योग्य वृत्तान्त लिखकर एक शीघ्रपत्र उसी समय भेज दो और आप शीघ्र आओ 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि, यह किंवदन्ती आप जानतेही हैं पं० ठाकुर० आजकल यहां नहीं हैं उन के अविद्यमान होने ही मेरी महाराज के साथ प्रीति हुई है आप को तथा स्वामीप्रकाशानन्दस० । को मैंने महाराज से पत्र भी अतएव भिजवाये हैं स्वा०प्रकाशान० जी द्वारा आप की प्रशंसा मैंने सुनी है उन से मेरा पूरा २ प्रेम भी है मैंने उन को संन्यास दिया है परोपकारी जितेन्द्रियेश्वरभक्त इत्यादि गुण उस में प्रत्यक्ष प्रकाशते हैं आप की तथा उस की तकरार नहीं होनी चाहिये वह आप के मेरे से अधिक शुभचिन्तक हैं यदि कोई बात निर्णय करनी होतो खानगी करलेनी

चाहिये यदि हम उपदेशकों का भी आपस में विरोध ईर्षाद्वेषादि होंगे देश का कल्याण हो चुका विशेष आप के मिलने से कहूंगा इत्यलं बहुना बहुज्ञेषु ।

ह० आप का सच्चा शुभचिन्तक स्वामी अच्युतानन्द

सरस्वती स्थान नजर बाग का बंगला

जोधपुर मारवाड़

यह पत्र मेरे चलने के निकटही आया इस कारण कुछ उत्तर न दे सका । इस बीच में बहुत शहरों में खबर फैल गई थी कि भी० श० जोधपुर जांयगे । मेरे पास आगरा और अजमेर से कई पत्र आये कि तुम यहां ठहर कर जोधपुर जाना परन्तु मैंने बीच में ठहरना इसलिये स्वीकार नहीं किया कि ये समाजस्थ लोग जो सम्मति मुझे देना चाहते हैं वह मैं इंगितचेष्टित से समझ ही गया हूं और मुझे दिन अधिक लगेंगे सो इष्ट नहीं है । मैंने जोधपुर जाना स्वीकार किया तब भी निश्चय कर लिया था कि ५ । ६ दिन से अधिक वहां भी न ठहरूंगा और यही आशय पहिले से लिख भी दिया था । इस के पश्चात् ता० २९ जुलाई ९३ को सन्ध्या के ९ बजे मैं प्रयाग से चला । आगरे में पहुंचते ही २० । २५ आर्य लोग मुझे स्टेशन पर मिले। यद्यपि मेरा विचार आगरे में ठहरने का नहीं था तथापि सामान तोले जाने की झंझट में गाड़ी राजपुताने की खुल गयी मुझ को रहजाने पड़ा । बोर्डिङ्गहौसमें जा कर ठहरा । वहां अनेक प्रकार की मांसविषयक चर्चा होती रही कि मांसाहारी लोग अनेक जाल रच रहे हैं । प्रकाशानन्दादि की दिनचर्या लोगों ने सुनाई। मैं प्रयाग से चला तभी से मन में शोचता जाता था कि महाराजा सरकार जोधपुर से मैं ऐसे २ परोपकार वा धर्मसम्बन्धी विचार प्रकट करूं कि जिन से सब आर्यसमाजों को उपकार पहुंचे और समस्त आर्यावर्त्त देशमें आर्यधर्म का प्रचार बढ़े । आगरे के धर्मिष्ठ आर्य लोगों ने मुझ से कहा कि पं० ठाकुरप्रसाद जी को हम लोगों ने जोधपुर बहुत सिपारिस की और बड़े उद्योगसे उन को वहां पहुंचाया। उन्हों ने वहां जाते समय राज्य से सामाजिक उन्नति कराने की बहुत प्रतिज्ञा की थी कि राज्य से सब समाजों को अनेक प्रकार के धर्मसम्बन्धी उपकार पहुंचाऊंगा । परन्तु आज तक अपना स्वार्थसिद्ध करने से भिन्न कुछ भी किसी का उपकार नहीं किया । अब आप बताइये कि जोधपुर राज्य में जाकर समाजों वा आर्यावर्त्त भर को धर्मसम्बन्धी क्या२ उपकार पहुंचवाने का उद्योग करेंगे । और महाराजा साहब

सरकार से क्या २ कहेंगे ?। मैंने उत्तर दिया कि एक तो महाराजा साहब जो कुछ पूछेंगे उस का धर्मानुकूल उत्तर दूंगा। द्वितीय उन से आज्ञा लेकर आर्यधर्म की वृद्धि के लिये कुछ अपनी सम्मति कहूंगा कि अमुक २ काम इस २ प्रकार से होने चाहिये। इस पर सम्मति हुई कि आप कुछ नोट करलें जिस से हम लोगों को भी ज्ञात होजाय कि आप क्या कहना चाहते हैं। इसीविचारानुसार निम्नलिखित वातों के नोट आगरे में किये गये।

१—जोधपुर राज्य में धर्मखाते का प्रबन्ध होना अर्थात् राज्य में से प्रतिवर्ष २० वा २५ हजार आदि जो कुछ धन धर्मखातों में व्यय होता हो उस में से कम से कम चतुर्थांश धन सामाजिक धर्मखातों में देने के लिये एक आर्यसमाज की उपसभा के आधीन करना। वह सभा जिन २ कार्यों में उचित समझे उस धन को लगावे। जिस से आर्यधर्म की वृद्धि हो।

२—ऊंचे २ राजकर्मचारियों में योग्य धर्मात्मा आर्य लोगों को अधिकार देना।

३—जोधपुर नगर में एक वड़ी यज्ञशाला का बनवाना। जिस में नैमित्तिक वार्षिक वा षाण्मासिक बड़े २ यज्ञ हुआ करें जिन में कम से कम १०००) के उत्तम पदार्थों का होम प्रति वर्ष हुआ करे।

४—राजपुताने के अन्य राज्यों में धर्मोपदेश के लिये जोधपुर राज्य से आर्य उपदेशकों का भेजना।

५—भारतवर्ष भर में ईसाई आदि नवीन मतजालों से बचा कर वेदानुयायियों को अपने धर्म में स्थिर रखने के लिये नवीन उपदेशकों का नियत करना।

६—सच्चे आर्यों की परीक्षा रखना। (इस का प्रयोजन यह था कि सरकार जोधपुर को आर्य देख कर कौन मनुष्य ऊपर से आर्य बने हैं जो भीतर२ आर्य धर्म के पूरे शत्रु हैं और कौन सच्चे आर्य हैं इस की जांच करना)।

७—जोधपुर राज्य में एक संस्कृत की बड़ी पाठशाला का नियत होना जिस में वेद और न्यायादि शास्त्र सार्थक पढ़ाये जावें। ये नोट लिख कर मैंने अपने पास रख लिये थे। आगरे से चल कर ता० ३१ जुलाई की रात्रि में जोधपुर पहुंचा। वा० गङ्गाप्रसाद जी एम० ए० भी आगरे से मेरे साथ अनेक लोगों की सम्मत्यनुसार चल दिये थे। पं० ठाकुरप्रसादजी पहिले से घर आये थे वे भी मुझे आगरे में मिले पर द्वितीय मार्ग से वे पहिले जोधपुर पहुंच गये थे प्रकाशानन्द अच्युतानन्द को मेरे पत्रादि व्यवहार से कुछ२ ज्ञात होगया था कि यह हमारे पेच में न

आवेगा। तथापि वे मेरे लिये पूर्ण उद्योग कर रहे थे कि हम चाहते हैं वैसा यह कहे और करे। मैंने खरांची स्टेशन से चलते समय जोधपुर को तार दे दिया था कि जिस से स्टेशन पर कोई मिले। तार देख कर सरकार जोधपुर ने गाड़ी आदि को पहुंच ने की आज्ञा भी दे दी थी परन्तु साधुओं ने ऐसी चालाकी की कि जिस से राज की सवारी स्टेशन पर न पहुंच सकी। परन्तु मेरे अन्य दो मित्र जिन को खबर मिल गयी थी कि आज वह आता है कुछ सवारी लेकर स्टेशन पर मिले। दो बजे रात्रि में नजरबाग पहुंचे जहां प्रकाशानन्द अच्युतानन्द ठहरे थे वहीं हम लोगों के ठहरने का प्रबन्ध किया गया था। अच्युतानन्द पहिले ही मुझे पत्र द्वारा सूचित कर चुके थे कि हमारे अनुकूल तुम चलोगे तो अच्छे प्रकार तुम्हारा सत्कार राज्य से करावेंगे। इसी कारण उन्हों ने सवारी न पहुंचने दी। अस्तु दो बजे मकान पर पहुंचते ही अच्युतानन्द प्रका० से नमस्ते हुआ। तत्काल ही अच्युतानन्द मुझे पकड़ कर एक दूसरे कमरे में उठा ले गये वहीं प्रकाशानन्द भी पहुंच गये साधुओं की शीघ्रता का प्रयोजन यह जान पड़ा कि इस को जोधपुर का कोई मनुष्य हमारे विरुद्ध कुछ सम्मति न दे पाये तब तक हम अपनी ओर झुकावें। अनुमान आध घण्टा मुझ से एकान्त में साधुओं ने अनेक बातें कहीं जिन का सारांश यह था कि तुम महाराजा सरकार प्रतापसिंह जी के सामने मांसभक्षण को बुरा मत कहो किन्तु अच्छा कह दो तो तुम्हारी बहुत कुछ प्रतिष्ठा और धन प्राप्ति होगी। मैंने उस समय केवल इसी विचार से कि मेरा शरीर बीमारी के कारण ठीक नहीं यदि कुछ उत्तर दूंगा तो बातों की समाप्ति न होगी मुझे बैठने की शक्ति उस समय नहीं थी। इसलिये यही उत्तर दिया कि मैं इन बातों का पीछे शोच कर उत्तर दूंगा। अब आप भी विश्राम करें मैं भी थका हूं मुझे शक्ति बैठने की नहीं। इस प्रकार दुष्टों से पीछा छुड़ा के खटिया पर आ लेटा। परन्तु मन में ऐसा क्रोध उत्पन्न होगया जिस से निद्रा न आई। विचार हुआ कि ऐसी कोई युक्ति हो कि जिस से अधर्मियों का संग छूट जाय अन्य किसी मकान में ठहरने को जगह मिले। उसी समय कई मित्रों से एकान्त में मैंने कहा कि मैं इस मकान में ठहरना नहीं चाहता मेरे ठहरने को अन्य कोई स्थान ठीक करो। प्रातःकाल होते ही रावराजा तेजसिंह जी आदि कई मनुष्य मुझ से मिलने को आये उन से भी मैंने यही कहा कि हम लोग उन ऋषियों के सन्तान हैं जो बनों में फूस की कुटी बना कर निवास

करते थे इसलिये हम को ऐसे उत्तम महलों में रहना पसन्द नहीं हमारे लिये एकान्त में स्वतन्त्र कोई साधारण स्थान नियत कर दीजिये। इसपर लोगों ने दमदिलाशा दे कर और यह कह कर कि सरकार जानेंगे कि साधुओं से शत्रुता रखते हैं इस कारण वहां नहीं ठहरते यह बात शरकार को बुरी मालूम होगी इस लिये इमी महल में दूसरी ओर का कमरा खुलवा देते हैं उस में आप ठहरें। इस प्रकार उसी महल में ठहरे। अगले दिन से प्रकाशानन्दादि का उद्योग वा विचार यह था कि भी० श० का सरकार से मेल होने से पहिले इन को हम अपने पंजे में लोभ लालच देकर फसा लें और सरकार के सामने कहलादें कि क्षत्रियों के लिये मांस खाने में पाप नहीं। इधर मेरी और वा० गंगाप्रसाद जी एम० ए० की सम्मति हुई कि विरोध और विवाद बढ़ता है यदि विवाद की शान्ति का कोई उपाय होसके तो करना चाहिये। मैंने वा०गंगाप्रसाद जी से कहा कि आप उन लोगों को समझाइये मुझे शान्ति कम है कदाचित् उन की अनुचित अधर्मयुक्त बातों पर मुझे क्रोध आजावे। वा० गंगाप्रसाद जी ने अच्युतानन्द को समझाया और वे मान भी गये। अच्युतानन्द ने कहा कि पं० भी० श० तथा ठाकुरप्रसाद न मानेंगे। इस पर वा० गंगाप्रसाद जी ने कहा उन दोनों को मैं मना लूंगा आप प्रकाशानन्द को समझा लेवें। अच्युतानन्द ने कहा मैं प्रकाशानन्द को समझादूंगा वह मेरा शिष्य है मान जायगा। वहां दोनों की सम्मति से कुछ इबारत वा० गंगाप्रसाद जीने बनाई जिस का आशय यह था कि "जीव हिंसा हुए बिना मांस प्राप्त नहीं होता इसलिये मांस खाने में हिंसा-रूप पाप है। परन्तु जिन संसार के विशेष हानिकारक जीवों को मारने के लिये वेद में आज्ञा है कि राजपुरुष ऐसे प्राणियों को मारें उन का मांस यदि ई खा लेवे तो बड़ा (हिंसारूप) पाप उस मांस के खाने में नहीं है क्योंकि खाने के लिये नहीं मारे गये परन्तु सत्यार्थप्रकाश में लिखे अनुसार उन जीवों मांस भी अभक्ष्य अवश्य है क्योंकि मांस खाने से विषयासक्ति क्रूरता कठोरता निर्दयतादि दोष मनुष्य में आ जाते हैं। सो क्रूरतादि किसी प्रकार क्षत्रियों के लिये उपयोगी भी हैं। विचार था कि इस प्रकार का लेख बना कर दोनों ओर के मनुष्य हस्ताक्षर कर दें तो सरकार के सामने मांस भक्षण का प्रस्ताव उठे तभी दोनों की एक सम्मति सुनादी जाय तो विरोध की शान्ति होगी सरकार भी प्रसन्न रहेंगे और अपने सिद्धान्त की कुछ हानि नहीं है। वेद का सिद्धान्त ठीक

रहा। बा० गंगाप्रसाद जी ने यह लेख मुझे दिखाया तो मैंने अपने सिद्धान्तकी विशेष हानि और स्वामी जीके लेखसे कुछ विरोध न देख कर स्वीकार किया। परन्तु अच्युतानन्द के समझाने पर भी प्रकाशानन्द ने न माना क्योंकि यह ऊपरी बात थी कि प्रकाशानन्द चेला हैं। वास्तव में प्रका० अच्युता० को अपनी चाल में सदा खेंचे रहते थे और मन में अपने को गुरु समझते तथा गुरु को चेला बनाये थे। पीछे मुझको प्रकाशानन्द अलग लिवा गये। बहुत बातें कहीं समझाईं जिन का थोड़ासा सारांश लिखता हूं। "प्रकाशा०—पं० जी! मांस खाने पर पंजाब में कुछ विवाद नहीं है आप को वहां का ठीक हाल मालूम नहीं। वहां दश पांच छोकरबुद्धि के मनुष्य हल्ला गुल्ला इधर उधर करते छपाते हैं और सैकड़ों एम० ए० बि० ए० आलादिमाग़ के महात्मा हंसराज आदि देखिये कुछ भी नहीं कहते न खण्डन करें न मण्डन करें। शोचते हैं। ऐसे ही अजमेर आगरादि में भी कुछ २ लड़कबुद्धि के छोकरे हा २ हू २ मचाते हैं। देखिये मैंने अभी तक किसी अखबार में कोई लेख नहीं छपाया परन्तु आपने छोकरों के कहने में आकर बड़ी जल्दी की जो आर्यसिद्धान्त में बहुतसा लेख छपा दिया और बिना शोचे समझे शास्त्रार्थ का विज्ञापन भी दे दिया"—इत्यादि। इस पर मैंने कहा कि अधर्म का खण्डन जितना शीघ्र किया जाय सो अच्छा है। और इस को अभी दबाते रहें तो अग्नि के समान भीतर २ सुलगता २ किसी दिन एक साथ जल उठेगा फिर बुताना कठिन है। और यह आप का पक्षपात है जो मांसभक्षण का खण्डन करने वालों को छोकरे बताना और मांसाहारी राक्षसों को आलादिमाग़ी (गम्भीर) कहना। यह आप की चालाकी है जो भीतर २ चालोंके साथ मांसभक्षण का प्रचार करते और प्रकटमें कुछ नहीं छपाते वा कहते। पंजाबमें मांस का विवाद वास्तव में है मेरे पास कई अच्छे प्रामाणिक पुरुषों के पत्र लाहोर तथा जालन्धर आदि से आये हैं तब आप का कहना कैसे सत्य मानाजावे। मैंने प्रकाशानन्द से कहा कि यदि आप अपना ठीक २ विचार वा सिद्धान्त छपा देते तो बहुत अच्छा था। आप भीतर २ मांस का प्रचार करते और प्रकटमें गोलमाल चालाकी के उपदेश करते हैं इससे ही तो दिन २ हल्ला गुल्ला वैरविरोध बढ़ता जाताहै। इस पर प्रकाशानन्दने कहा कि मेरा सिद्धान्त सुन लो और तुम अपना कहो यदि दोनों का मिलजावे तो बहुत अच्छा हो। अपना सिद्धान्त कहते समय प्रका० ने जगत्सिंह को भी हटा दिया मैं और वे

दोही मनुष्य थे। प्रकटमें सबके सामने वे अपना सिद्धान्त नहीं कहते किन्तु किसी २ से एकान्तमें कभी कह देते हैं। प्रकाशानन्दके सिद्धान्त जो मुझ से ान्तमें कहे थे—

१—जीवहिंसा को मैं पाप समझता हूं।

२—मांसखाने में मैं पाप नहीं मानता।

३—खाने पीने की रुकावट से देशोन्नति नहीं हो सकती। तथा खाने पीने से धर्म नहीं बिगड़ता।

४—चिकित्सा (वैद्यक) सुश्रुतादि ग्रन्थोंमें जो कुछ लिखा है वह सब कर्त्तव्य समझता हूं।

इन सिद्धान्तों को कह कर प्रका० ने मुझ से पूछा कि तुम अपना सिद्धान्त बताओ। मैंने कहा मेरा सिद्धान्त वही है जो मैं छपा कर सब को प्रसिद्ध कर चुका उससे विरुद्ध कुछ नहीं मानता सो आपने भी मेरा सिद्धान्त देखा होगा। और आपके सिद्धान्त सर्वथा शास्त्र और युक्तिसे शून्य तथा चालाकी से भरे हैं। जब जीवहिंसा में पाप है तो मांसखाने में पाप अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि मांस किसी खेत में नहीं उगता वा पृथिवी में कहीं मांस की खानि नहीं है ी न्तु प्राणियों की हिंसा से ही मांस प्राप्त होता है। इसलिये पहिले दूसरे सिद्धान्त में .रस्पर विरुद्ध हैं। यदि खाने पीने में रुकावट नहीं चाहते तो मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, मेंढ़क, चीटी, मक्खी, मकड़ी, आदि के खाने में भी रुकावट नहीं है? क्या इन को खाना भी धर्मानुकूल समझते हो?। यदि खाने पीने से धर्म नहीं जाता तो तुम्हारे मतमें अभक्ष्य कुछ न रहा फिर मेहतर डोम आदि के हाथका भी खाना चाहिये। अभक्ष्य वही माना जायगा जिस से धर्म बिगड़े, बुद्धि बिगड़े तमोगुण आवे सत्वगुण की हानि हो ऐसे सभी पदार्थ धर्म के बाधक होने से अभक्ष्य माने जाते हैं। अंगरेज मुसलमान आदि पृथिवी के सभी मनुष्य किसी न किसी वस्तुको अभक्ष्य मानते हैं उन अभक्ष्य वस्तुओं की रुकावट उनके यहां भी है। यह मत आप का सब से निराला है जो किसी वस्तु के खाने खिलाने से नहीं रुकना चाहते। यदि खाने पीने से धर्म नहीं बिगड़ता तो चुरा कर वस्तु को खाने से चोरीरूप अधर्म भी आप के मत में न होगा?।

चौथा सिद्धान्त भी ठीक नहीं। वैद्यक शास्त्र में मद्य के गुण भी लिखे हैं तो क्या आप मद्य पीने को भी धर्म मानोगे?। जहां ब्रह्मचर्य के अधिक रहने

से नपुंसकता होती है वहां सुन्दर युवति स्त्री का संयोग लिखा है तो क्या वेश्यागमन को धर्म मानोगे ? । कहीं गोमांस के भी गुण लिखे हैं "गवां मांसे च बलिनम्„ तो क्या गोमांस खाने का भी उपदेश करोगे ? । वाजीकरणाध्याय में मेढ़ा बकरा आदि के वीर्य का प्रयोग लिखा है क्या आप भी मांसाहारियों को वीर्य पिलाओगे ? । इत्यादि । इस पर कई बातों के प्रकाशानन्द ने साधारण उत्तर दिये परन्तु वैद्यक शास्त्र के विषय में स्वीकार किया कि ओषधिरूप से थोड़ा २ मद्य पीना बुरा नहीं इसी प्रकार गोमांस मैथुन आदि भी शरीर की रक्षा के लिये कर्त्तव्य काम हैं ।

इस प्रकार पहिला दिन जोधपुरमें व्यतीत हुआ आगे द्वितीय दिन भी प्रकाशानन्द ने मेरी मुलाकात महाराजा सरकार से न होने दी । उन का विचार यह था कि दो तीन दिन मेल न होने दें तब तक समझा बुझा लोभ लालच दे भी० श० को अपने आधीन करलें तब मेल करावें तो अच्छा । इस दिन प्रकाशानन्द सरकार के पास हो कर लौटे हम लोग जहां भोजन करते थे वहां जाकर खड़े हो गये और कहने लगे कि मेरे कहने से सरकार ने कई हजार का अपना मकान समाज के लिये दे दिया । मैं यहां आर्यसमाज की उन्नति के लिये आया हूं । बड़े २ उपकार के काम यहां कराऊंगा । बा० गंगाप्रसाद जी ने तो कुछ नहीं कहा पर मुझ से न रहा गया मैंने कहा आप ये व्यर्थ की झूंठी बातें क्यो कहते हो तुम आर्यसमाज के पूरे शत्रु हो तुमने आर्यसमाज में अधर्म फैला कर महाविरोध वा विघ्न डाल दिया । मेरी समझ में इन बातों को छोड़ कर फूट और विघ्न मिटाने का उद्योग करो तो अवश्य कुछ उपकार हो । मांसभक्षण का उपदेश करके आर्यसमाज के महाशत्रु तुमही बने । पहिले गोरक्षक रहे अब गोभक्षक बने । यहां आप मांसभक्षण के प्रचारक बन के उपदेश करने के लिये तो आये हो पर हम लोगों को फुसलाने के लिये ऐसी बातें कहते हो इत्यादि बातें मैंने स्पष्ट पुकार २ तेजी के साथ कहीं इस पर प्रकाशानन्द भी कुछ क्रुद्ध हुए । और मांसप्रचारकशब्द को गाली के तुल्य बुरा समझे और मुझ को भी दो चार कठोर वाक्य उन ने कहे । मैंने कहा कि जब मांसभक्षण को आप अच्छा कहते वा मानते हो तो मांसप्रचारक कहने से क्यों चिडते हो । इत्यादि

तीसरे दिन महाराजा सरकार श्री प्रतापसिंह जी से मेरी मुलाकात हुई कई मनुष्य साथ में थे। अच्युतानन्द जा कर सरकार से पहिले ही मिल आये अनु-

मान से जाना कि मांसभक्षण का प्रस्ताव न उठने के लिये कह आये हो। प्रयोजन यह था कि यदि प्रस्ताव उठा तो पं० ठाकुरप्रसाद और भी० श० दोनों सहमत हैं झट हमारे कथन का खण्डन हो जायगा तो हमे नीचा देखने पड़ेगा। सरकार से अनेक बातें शिष्टाचार, मेल मिलाप और धर्मोन्नति विषयक होती रहीं। परन्तु सरकार ने एक बात फेर २ से पूछी जिस का आशय हमलोग उस समय नहीं समझे थे नहीं तो वैसाही उत्तर देते परन्तु वह प्रश्न साधुओं की मति से पूछा मालूम देता था। उस का अभिप्राय यह था कि–

सरकार–दो मनुष्य किसी विषय पर वाद करें तो मेरे तुल्य शास्त्र का शय न जानने वाला श्रोता मनुष्य कैसे विश्वास करे कि किस का कथन सत्य है (अर्थात् तुम लोगोंमें कोई तो मांसभक्षण को वेदविरुद्ध कहते कोई वेदानुकूल बतलाते हैं तो हम किस का विश्वास करें। इस लिये वादीप्रतिवादी दोनों के मत से कुछ सम्बन्ध न रखने वाले किसी मोक्षमूलरसाहबादि अंगरेज को मध्यस्थ नियत करो तो निश्चय होसक्ता है कि मांसभक्षण वेदानुकूल है वा नहीं)।

इस पर मैंने कहा कि प्रथम तो कैसाही अनपढ़ श्रोता हो वह बहुत दिनों तक वादीप्रतिवादी के पक्ष प्रतिपक्षों को ध्यान से नियमपूर्वक सुनता रहे तो उस के आत्मा में दो में एकपक्ष का सच्चा होना और दूसरे का निकृष्ट होना झलक जाता है। द्वितीय एक रीति यह है कि वह श्रोता निश्चय करे कि इन दो में सत्यवादी कौन और मिथ्यावादी कौन है तथा निष्पक्ष छलछिद्र रहित बोलने वाला कौन है इस प्रकार आप्तधर्मात्मा जिस को समझ ले उस के अनेक अपरीक्षित कथन वा सिद्धान्तों पर भी विश्वास करलेना चाहिये और सदा से ऐसी परिपाटी चली आती है। देखिये श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के सिद्धान्तों के सब मन्तव्यों को सब आर्यों ने वाद विवाद पूर्वक निश्चय नहीं कर लिया न सब कोई तर्क के साथ निश्चय कर सकते हैं तथापि अधिकांश लोगों ने उन को जब आप्त धर्मात्मा समझ लिया तब उन के सब मन्तव्यों पर विश्वास किया। इसी प्रकार आप्त के कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये। इस पर प्रकाशानन्द बोले कि ईसामसीह पर भी विश्वास बहुत लोगों ने किया है। इस पर कुछ उत्तर पं० ठाकुरप्रसाद जी ने प्रकाशानन्द को दिया। पश्चात् सभा विसर्जन हुई। मैंने सरकार से उठते समय कहा कि मैं अधिक नहीं ठहर सकता तीन चार दिन केवल ठहरूंगा सो नित्य आप के दर्शन हों ऐसा चाहता हूं। इस पर सरकार ने कहा आप स्वामी जी के साथ नित्य आया करें।

पश्चात् वहांसे स्थानपर सब आये। इसी दिन आर्यसमाज जोधपुरका साप्ताहिक समाज था जिस में प्रकाशानन्द ने सरकार से कहकर मेरे पास तो खबर भिजवादी थी कि पं० भीमसेन शर्मा समाज में न जावें उन के लिये एक सभा पृथक् ही कराई जावेगी जिस में अच्छे प्रबन्ध के साथ व्याख्यान कराया जायगा। पर उस समय मैं इस चाल को भी नहीं समझा था कि (पं० भी० श० नये आये हैं इन की प्रशंसा भी अधिक है इस कारण इन के नाम से बहुत मनुष्य आवेंगे और अनेकों की सम्मति से मांसखण्डनविषय पर इन का व्याख्यान हुआ तो हमारा अनिष्ट होगा हम लोग ऐसा होना अपने पक्षके लिये विष समझते हैं) परन्तु पं० ठाकुरप्रसाद को किसी बहाने से न रोक सके क्योंकि वे सदा के उपदेशक थे उन्होंने मांसखण्डन का व्याख्यान दिया। और उन के व्याख्यान में कुछ विशेष श्रद्धा भी न समझ के अपनी हानि न समझी हो यह भी सम्भव है। इसी दिन सन्ध्या के समयसे पं० ठाकुरप्रसाद जीको अनेक प्रकार के लोभ लालच देकर प्रकाशानन्द ने एकान्त में समझाना फुसलाना आरम्भ किया। पं० ठाकुरप्रसाद जी दिन में दो वार हम लोगों के पास आते और जिस कमरे में हम लोग ठहरे थे उसी में अधिक कर बैठा करते थे परन्तु इस दिन सन्ध्या के समय दो तीन घण्टा प्रकाशानन्द के पास एकान्त में बैठे और उठते समय मुझ से नमस्ते करके चले गये न बैठे न कुछ बातें कीं, इस से अनुमान हुआ कि उसी दिन पं० ठा० प्र० की कुछ २ बुद्धि फिर गयी थी।

अगले चौथे दिन की कथा—प्रातःकाल ही साधुओंके सहित सब लोग जोधपुर का किला देखने को गये दो २ घोड़ेकी दो बग्घी राजकी आईं पं० ठाकुरप्रसाद भी आये सो साधुओं के आगे पीछे लगे रहे हम लोगों के पास नित्य के समान आकर न बैठे चलते समय दोनों साधु और पं० ठा०प्र० आगे बढ़ के छायादार बग्घी में तीनों इकट्ठे बैठ गये। हम लोग अवशिष्ट बग्घी में बैठ भी न पाये तब तक बग्घी चला दी कि कोई विपक्षी हमारे पास न बैठे तो एकान्त में बातें भी करते चलें। किला देख कर सब लोग अपने स्थान पर गये मध्याह्न होगया भोजनादि किया। दोपहर पीछे पं० ठाकुरप्रसाद जी फिर आये और प्रकाशानन्द के पास एकान्त में बातें करते रहे। इस चौथे दिन मुझ को प्रकाशानन्द ने सरकार से न मिलने दिया। यद्यपि मुझ से कह रक्खा था कि हम भी आज सरकार से मिलने न जायंगे। तथापि १ वा १॥ घण्टा दिन शेष रहें

मगाकर पं० ठा० प्र० को लेकर दोनों साधु सरकार से मिलने को गये। इस समय बा० गङ्गाप्रसाद जी भी इन के साथ साधुओं की इच्छा के विना ही चल दिये थे। मार्ग में पं० ठाकुरप्रसाद ने अपना विचार प्रगट किया कि मैं मांसखाना वेदानुकूल समझता हूं। बा० गङ्गाप्रसाद जी ने बहुत समझाया कि पं० जी! इतनी थोड़ी देर में निर्णय (तहकीकात) नहीं होता अभी तक आप का सिद्धान्त रहा कि मांसभक्षण वेदविरुद्ध है। अब आप ने थोड़ी देर में अपना सिद्धान्त बदल दिया। अभी कुछ दिनों तक विचारिये। सरकार के सामने अभी न कहिये कि मांसभक्षण की वेद में आज्ञा है इत्यादि कहने पर भी पं० ठा० प्र० ने न माना सरकार के बंगले पर जाकर प्रकाशानन्द ने सरकार के पास पं० ठा० प्र० को एकान्त में (जहां बा० गङ्गाप्रसाद जी न थे) बुलाकर कहला दिया कि मांसभक्षण वेदानुकूल है। बड़े आश्चर्य और शोक की बात है कि अच्छा पढ़ा लिखा विद्वान् (जिस को सत्यासत्य समझने की शक्ति होने पर भी) मूर्ख मनुष्यका पक्का चेला होजाय। सत्य है ऐसे ही लोगों का यह सिद्धान्त है कि "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" लोभी मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता न कर सकता है धर्मपथ से वह सदा दूर रहता है। अस्तु—वहां से लौटकर सब लोग स्थान पर आये। पं० ठाकुरप्रसाद की आकृति विगड़ गयी थी। मुख पर सफेदी छा गयी आत्मा में अधर्म का भय प्रविष्ट हो गया। उसी समय सब नगर में हल्ला होगया सब ओर से पं० ठा० प्र० के लिये धिक्कार शब्द होने लगा। सरकार के बंगले से लौट कर पं० ठा०प्र० मेरे पास बैठे। मैंने कहा कि आप ने विना विचारे यह क्या अनर्थ कर डाला?। पं० ठाकुरप्र० बोले कि मेरी समझ में आ गया मैं मूर्ख तो हों नहीं जो वेद मन्त्रों का अर्थ न समझूं अब तक मैंने अथर्ववेद के मन्त्रों को ध्यानदृष्टि से नहीं देखा था। एतद्वा उ० इस अथर्व के मन्त्र में "अतिथेः पूर्वम्" की अनुवृत्ति आती है इस कारण यह अर्थ होगा कि अतिथि से पहिले दूध वा मांस कुछ न खावे किन्तु पीछे खावे। इस समय मैंने कहा कि आप ने स्वामी जी का सिद्धान्त भी न शोचा कि जिस पर सब आर्य्यसमाजों का मन्तव्य निर्भर है।

पं० ठा० प्र० ने कहा कि मैं दयानन्दी नहीं किन्तु आर्य हूं। यह मूर्खों का काम है कि किसी एक मनुष्य के भ्रमयुक्त कथन को भी मान लेना। मेरी ओर निर्देश कर कहने लगे कि तुम भी स्वामीजी के सब सिद्धान्तों को नहीं मानते

तुमने एकवार मुझको भी लिखा था कि मुक्तिसे पुनरावृत्ति न होनेमें सब शास्त्रकारों का एकमत है पर स्वामी जी का मन्तव्य सब से निराला है। मैंने कहा यह तो मैं अब भी मानता हूं कि षट्दर्शनों की एक सम्मति है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती परन्तु स्वामी जी का सिद्धान्त वेद से मिलता है उन्हों ने वेद के प्रमाण से पुष्ट कर दिया इस कारण इस विषय में स्वामी जी के सिद्धान्त को मैं अन्य शास्त्रकारों के सिद्धान्त की अपेक्षा प्रबल मानता हूं। और मैं अन्य ऋषियों के समान स्वामी जी को भी एक महर्षि समझता हूं। इस के पश्चात् मैंने कहा कि आप वेद के परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त तो मान नहीं सकते केवल एक ही सिद्धान्त हो सकता है कि "अहिंसाधर्म वेदोक्त हो वा हिंसा वेदोक्त हो"। इन में से पहिले एक सिद्धान्त वेद का निश्चय कर लीजिये। किसी एक मन्त्र से सिद्धान्त निश्चय नहीं होता। जब सिद्धान्त निश्चय हो जावे तब उसी सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रार्थ समझने में श्रम करना चाहिये। इस के पश्चात् अन्य लोग बोलने लगे। जोधपुर के एक ब्राह्मणने कहा कि आप मांस खाना अच्छा बतलाते हैं तो आप को भी खाने पड़ेगा। पं० ठा० प्र० बोले कि हमारे कुल में भाईबन्धु तो सब खाते ही हैं कोई अभक्ष्य नहीं समझता। केवल हमने छोड़ रक्खा है। अर्थात् खा लें तो पतित नहीं हो सकते। इस के पश्चात् सभा विसर्जन हुई सब अपने स्थान को गये।

इसी दिन एक पत्र प्रयाग से मेरे पास गया जो कि जोधपुर से प्रकाशानन्द ने मेरे नाम भिजवाया था उस का वृत्तान्त—जब प्रकाशानन्दादि को कई लक्षणों से ज्ञात हो गया था कि भीमसेन शर्मा हमारे पेच में न आवेगा। तभी मेरे प्रयाग से चलने से दो दिन पहिले ता० २७ जुलाई को एक पत्र लिख कर सरकार के हस्ताक्षर करा के प्रयाग को भेजा उस पत्र की नकल—

ओ३म्

प्रियवर पण्डित भीमसेन जी—नमस्ते—आप दो मन्त्रों का पदार्थ मात्र तथा चार प्रश्नों का उत्तर शीघ्र भेजिये—

पृष्ठ २०६

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदनेनावरुन्धे ॥ ४२ ॥

पृ० २०५ यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमी यः पशुर्वध्यते स एव सः ॥

१ मांस क्षत्रियों के लिये खाना पाप है वा नहीं यदि पाप है तो हिंसा में वा खाने में ॥

२ मांस खाना पाप है तो साक्षात् वेद में कहां लिखा है

३ स्वामी जीने मांस खाना पहली संस्कारविधि में तथा सत्यार्थप्रकाश में लिखा है वा नहीं।

मुकाम जोधपुर से ता०। २७-७-९३

ह० प्रतापसिंह

इस पत्र में यद्यपि मेरे जोधपुर आने का स्पष्ट निषेध नहीं किया गया तथापि इस पत्र का अभिप्राय स्पष्ट है कि तुम जोधपुर न आओ। क्योंकि यदि आने की प्रेरणा वा आशय होता तो पत्र भेजना ही व्यर्थ था जो प्रश्न पत्र में लिखे थे उन को भी वहां पहुंचने पर पूछ ही सकते थे। कदाचित् यह पत्र मुझे चलने से पहिले मिल जाता तो स्वयं ही जोधपुर जाने से रुक जाता परन्तु पत्र मेरे चले जाने के पश्चात् प्रयाग में पहुंचा। और यहां से लोगों ने जोधपुर को मेरे नाम भेज दिया। जिस चौथे दिन मेरे पास जोधपुर में पत्र पहुंचा उसी दिन उस का संक्षिप्त उत्तर मैंने लिख लिया था उस की यथार्थ नकल—

ओ३म्

१—(क) स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति। यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥

(सः,यः) सो जो (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (मांसम्) मन की शक्ति को बढ़ाने वाले भोजन करने योग्य वस्तुओं को (उपसिच्य) शुद्ध कर के (उपहरति) समीप धरे वा गुरु आदि को समर्पण करे (सुसमृद्धेन) अच्छे (द्वादशाहेन) द्वादशाह नामक यज्ञ से (यावत्) जितना अनिष्ट फल (अवरुन्धे) रोका जाता है (तावत्) उतना (एनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अवरुन्धे) हठ जाता है ॥

(ग)—यत्तर्पणमाहरन्तियएवाग्नीषोमीयः पशुर्वध्यते स एव सः॥

(य,एव) जो ही (अग्नीषोमीयः) तेज और शान्ति दोनों प्रकारके गुणों वाला (पशुः) गौ आदि दुग्ध देनेवाला (पशुः) पशु (बध्यते) बांधा जाताहै (यत्) जिससे (तर्पणम्) दुग्धादि द्वारा तृप्तिको (आहरन्ति) प्राप्त करतेहैं (स,एव,सः) वही पशु वास्तवमें उत्तमहै ॥

१–हिंसाके विना मांस नहीं प्राप्त होता इस कारण मांसखानेमें सभीको पापहै ॥

२—य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

अर्थः—जो प्राणी कच्चा मांस खाते तथा मनुष्यके बनाये पकाये मांसको जो खाते और जो कामी लोग अण्डोंको खातेहैं उनको इस जगत्से वा वर्त्त-मान शरीरसे हम नष्ट करें। अर्थात् परमेश्वर आज्ञा देताहै कि मांसाहारियों को संसारसे नष्ट करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें मांसखानेका स्पष्ट निषेधहै।

३–पहिले संस्कारविधि और सत्यार्थप्रकाशकी बहुत बातें स्वामी जीने स्वयं बदल दीं। नये पुस्तक छपा दिये इस कारण पहिलोंका प्रमाण देना व्यर्थ है ॥

ह० भीमसेन शर्मा

इसी चौथे दिन पं० लेखराम जी भी प्रातःकाल ही से जोधपुर पहुंच गये थे और हम लोगोंके निकट ही ठहरे थे। जब प्रकाशानन्दने पं० ठाकुरप्रसाद को उक्त प्रकारसे अपने पक्षमें मिला लिया तब बड़े प्रसन्न हुए कि जोधपुरमें ये ही विपक्षी थे। पं० रामदयालसिंह क्षत्रिय तो पहिले से ही मांसभक्षणके उपदेशक थे अब जोधपुरमें सामाजिक उपदेशक प्रतिपक्षी कोई न रहा। पर मुझको मिलाने और लोभ लालच देनेका उद्योग अबतक साधुओंने नहीं छोड़ा। रात्रिको ९ बजेके समय जब सब लोग सोने लगे तब अच्युतानन्द धीरेसे मुझे बुला लेगये। सब लोग जहांके तहां सोगये। दोनों साधु और मैं तीनही मनुष्य बारह बजे रात तक एकान्तमें बातें करते रहे। यद्यपि मेरी इच्छा न थी कि मैं अधिक देर तक बैठूं तथापि पीछा न छोड़ा तो बैठा रहा। उस समय प्रका-शानन्दसे जो बातें हुईं उनका सारांश "प्रकाशानन्द—पं० जी ! देखिये हमारे सब आर्य भाई भीरु, निर्बल, होगये, बिलकुल तेज घटगया। मांसभक्षण करने

ा मुसलमानोंकी कोमने कैसा २ हिन्दुओंको तंग किया सो सब इतिहासादिसे प्रसिद्ध ही है। मैं सत्य कहताहूं कि ऐसी डरपोंक जाति का कभी विजय नहीं हो सकता सदा ठोकर खाया करेगी। एक २ अंगरेज प्रातःकाल एक मुर्गी का शोरुवा बनवा कर प्रातःकाल चढ़ा जाता फिर दोपहर में गोश्त रोटी उड़ाता फिर सन्ध्याको यथोचित मांसादि खाताहै जिससे दिन रात दिमाग तर रहताहै १२ बारह २ घंटे बैठ २ लिखा पढ़ी के काम करतेहैं बड़ी २ उत्तम बातें शोचतेहैं थकते नहीं। आप देखिये बीमार रहते हैं कुछ बल पराक्रम नहीं। थोड़ा भी शोचविचारका काम करें तो शिर झन्ना उठे। अर्थात् तुम भी खाया करो। इत्यादि।

भीमसेन शर्म्मा—हमारे पाणिनि आदि ऋषि महर्षियोंने जैसे २ शोच विचारके काम कियेहैं उनकी प्रशंसा अब तक अंगरेज लोग भी करतेहैं वे कोई मांसाहारी नहीं थे। तथा अब भी बहुतसे अंगरेज लोग मांस मद्य नहीं खाते पर बड़े २ शोच विचारके परिश्रम करतेहैं। इत्यादि कारण आपका कथन ठीक नहीं है। इसके पश्चात् मैंने कहा कि आप क्या चाहतेहैं? क्या वेदमतानुयायी सभी खाने लगें?। अंगरेजी फारसी पढ़े हुओंका अधिक भाग स्वयं मांसखानेमें प्रवृत्तहै। मांसाहारियोंके बालबच्चे इष्टमित्रादि साथी बिना ही उपदेशके मांस खानेवाले होते जातेहैं फिर आपके उपदेशकी क्या आवश्यकताहै? प्रचार उस कामका करना चाहिये जिसकी ओर मनुष्य बिना उपदेशके न झुकें जैसे सत्यभाषणादि वा सन्ध्यादि कर्म करनेमें उपदेश करने पर भी सैकड़ोंमें कोई झुकताहै। परन्तु स्वस्त्री वा परस्त्रीसे संग करनेके लिये कोई किसीको उपदेश नहीं करता तो भी देखिये कितना प्रचारहै जिससे प्रायः मनुष्य निस्तेज अल्पायु विचारशून्य बुद्धिहीन नित्यरोगी अत्यन्त निर्बल होरहेहैं जिसको आप मांस न खानेका दोष बतलातेहैं। फिर बताइये मांसभक्षणका प्रचार आप क्यों करतेहैं?।

प्रकाश०—आपको नहीं मालूम मांसभक्षणका खण्डन करने वालोंने अनेक लोगोंसे मांस छुड़ा दिया। मैंने कहा इसमें आपकी कुछ हानि नहीं हुई अभक्ष्य वस्तुको छोड़ना और छुड़ाना ही चाहिये। और आपने यह भी कहा कि मांस खानेवाले निर्भय बलवान् होतेहैं यह भी आपकी भूलहै क्योंकि भारतवर्ष भर में कायस्थ, बंगाली और काश्मीरी इन तीन जातियोंमें मांसखानेका अधिक प्रचारहै इतना अन्य किसी में नहीं। ये तीनों बलवान् वा निर्भय क्यों नहीं

होगये ?। सबको प्रकटहै कि इन्हीं तीन जातियोंमें भीरु मनुष्य अधिकहैं। इस पर प्रकाशानन्द बोले कि हमारा प्रयोजन यहहै कि बाजारसे मोल लेकर खाने वालोंमें निर्भयता नहीं आती किन्तु सब लोग अपने २ घरमें प्राणियोंको मारा करें अर्थात् मारकर खानेसे निर्भयतादि गुण आतेहैं। मैंने कहा कि अब तक तो कहीं २ कसावखाने थे अब आप घर २ में कसावखाने बनवाया चाहते हैं घर२ में लोहूकी धारा वहा करें। और ऐसा है तो कसाई सर्वोपरि बलवान् वा विजयी होने चाहिये। जितने गुण आप मांसभक्षणसे चाहते हैं वे सब कसाइयोंमें मिलने चाहिये। यद्यपि मुसलमानोंमें मांसखाना हलालहै तथापि अच्छे घरानों के मुसलमान लोग भी कसाइयोंको नीच ही समझतेहैं। उनके साथ सब व्यवहार नहीं करते। और कसाइयोंको कोई बीर वा विजयी समझ डरता भी नहीं फिर आपका कहना कब सत्य रहा ॥ ?

अच्युतानन्द बोले कि तुम लोगों ने कुछ और ही बातें छेड़ दीं इन को जाने दो हमारा प्रयोजन कुछ और ही था। प्रकाशानन्द तुम मेरा प्रयोजन सुनाओ। प्रकाशानन्द—अच्छा पं० जी ! इन बातों को जाने दो स्वामीजी का प्रयोजन सुनिये—सरकार आप को बहुत चाहते हैं और जोधपुर राज्यमें सब कुछ इन को अधिकार है बड़े प्रतापी और कृपालू पुरुष हैं। आप वेद-भाष्य बनाने की प्रतिज्ञा करें जिस प्रकार की सहायता आप चाहें वैसी देंगे अर्थात् चाहें इकट्ठा कुछ धन लेलो वा कहिये तो मासिक बंधवा दें आप प्र-याग में बैठे लेते रहें राज्य में कोई पूछता नहीं। रामदयालसिंह के ५०) महीने होगये कुछ काम नहीं जब चाहे घर बैठे जब चाहे यहां आ बैठे बराबर ५०) मिलते जाते हैं। पं० ठाकुरप्रसाद भी कुछ काम नहीं करते बराबर १००) मि-लते जाते हैं कई हजार के आदमी होगये। जोधपुर राज्य से सदा के लिये आप की प्रतिष्ठा हो जायगी। जिस के पास धन होता वा जिस की प्रतिष्ठा राजा रईस करते हैं उसका सर्वत्र मान्य होता है। आप गृहस्थ हैं धन की ह- बार आवश्यकता है। इत्यादि लोभ लालच की अनेक बातें कह कर प्रका- अच्युता० से बोले कि तो स्वामीजी ! सरकार से पं० जी की सहायता के लिये कहना चाहिये। अच्युतानन्द बोले कि सरकार की इच्छा के अनुसार पं० जी मांसभक्षण का खण्डन न करके अच्छा कह दें कि क्षत्रियों को खाने में कुछ दो- नहीं तो सभी कुछ कह सकते हैं। मैंने कहा कि मैं अधर्मी नहीं हूं जो धन क

ष्ठा के लोभ से अधर्म को धर्म कहूं। मैं ऐसे धन वा प्रतिष्ठा पर लात मारता हूं। आप ऐसी बातें मुझसे न कहें। मैं रामदयालसिंहादि के तुल्य विना काम किये कदापि न मासिक धन लूंगा। न इकट्ठा लूं। इत्यादि उत्तर देकर १२ बजे रात्रि को उठकर मैं अपने स्थान में आ सोया॥

पांचवें दिन सरकारसे मिलने को जाते समय वे उक्त प्रश्नों के उत्तर मेरी जेबमें पड़े थे। प्रकाशानन्दादिने इस दिन ऐसी चालाकी की थी कि चलते समय बा० गङ्गाप्रसादादि किसी को साथ नहीं लिया। बंगले पर जो अन्य मनुष्य सरकार के पास वार्ता सुनने को आ बैठते थे उन सब को भी किसी प्रकार पृथक् कर दिया मिलते समय दोनों साधु, मैं और सरकार चार ही मनुष्य थे प्रथम सरकार ने कहा पं० गट्टूलाल को मुम्बईसे बुलायाहै मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ होना चाहिये मैंने कहा इसमें कुछ अच्छा फल तो निकलता नहीं और मुझे दिन भी अधिक लगेंगे मैं कल जाना भी चाहताथा आज मुझे पांच दिन होगये। तथापि आपकी ऐसी ही इच्छा हो कि शास्त्रार्थ अवश्य होना चाहिये तो मुझे हठ भी नहींहै तीन चार दिन और ठहर जाऊंगा। इस पर प्रकाशानन्दने हठपूर्वक शास्त्रार्थ होनेका निषेध किया और अगले दिन मेरा जाना पक्का करा दिया। इसका प्रयोजन यहथा कि मुझ जैसे मांसभक्षणके विपक्षीका प्रका० जोधपुरमें अधिक ठहरना बुरा समझतेथे। क्योंकि मांसभक्षणका खण्डन सुननेमें प्रकाशानन्द बड़ी ग्लानि रखतेथे। इसके पश्चात् प्रकाशानन्दने द्वितीय प्रस्ताव किया कि मांसभक्षण विषयमें सरकार पण्डित जी की सम्मति सुनना चाहतेहैं। इस पर सरकार बोले—पण्डित जी! मांसभक्षणविषयमें आप क्या जानतेहैं। मैंने कहा कि यहांसे एक पत्र मेरे नाम मेरे चले आने बाद प्रयागको गयाथा वह कल यहां लौट आयाहै उसका उत्तर आपको सुनादूं इतना कह कर मैंने जेबमें हाथ डाला तभी मुझे प्रकाशनन्दने और सरकारने रोका कि उसको रहने दीजिये किन्तु अपनी सम्मतिमात्र कहिये। मैंने कहा कि मैं सत्य २ जैसा जानताहूं वैसा ही कहूंगा आप जैसे राजपुरुषोंका कामहै कि सत्य सुनें और उस पर ध्यान दें। वेदका यही सिद्धान्तहै कि हिंसा करना बड़ा अधर्महै और हिंसा न करना अर्थात् अहिंसारूप दया वा किसीको पीड़ा पहुंचानेकी चेष्टा न करना यही सर्वोपरि धर्महै। और हिंसा हुए विना मांस मिल नहीं सकता इस लिये मांसभक्षणमें बड़ा पाप वा दोषहै। यह मुख्य सिद्धान्तहै। इस पर प्रकाशानन्द

बोले—यजुर्वेदभाष्यमें स्वामी जी ने लिखाहै कि संसारको हानि करनेवाले प्राणियोंको राजपुरुष क्षत्रिय लोग मारें। प्रकाशानन्दका कथन सरकारकी ओरसे था मानों सरकार ही का यह प्रश्नथा। मैंने कहा—स्वामी जी ने जो लिखाहै सो सत्यहै क्षत्रिय लोगोंका काम ही है कि अपराधीको यथोचित दण्ड देवें। इस पर सरकार बोले कि जिन जीवोंके मारनेकी वेदमें आज्ञाहै उनके मांसखानेमें क्या पापहै उसके लिये वेदमें कुछ लिखाहै वा नहीं ?। मैंने कहा उनके मांस को खाये वा न खाये इसके लिये वेदमें कुछ नहीं लिखा। परन्तु मेरी सम्मति है कि उन जीवोंका मांस कोई खालेवे तो वह पाप नहीं जो मांसभक्षणके लिये ही मारे हुए प्राणियोंके मांसखानेमें होताहै। अधिक दोष नहीं। बड़ा पाप नहीं। वह दोष नहीं। हिंसा दोष नहीं। इत्यादिमेंसे कोई शब्द वा वाक्य मैंने बोला हो परन्तु सबका अभिप्राय एक ही है। सरकारने कहा राजा रामचन्द्रादि भी मांस खातेथे। मैंने कहा वहां भी यही बातहैकि वे जगत्की रक्षाके लिये दुष्टहिंसकप्राणियोंको बनोंमें जाकर मारतेथे वहां अन्नादि न मिलनेसे मांस खाया हो यह हो सकताहै। प्रकाशानन्दने कहा—हरिण भी हानि करते खेत को चर जातेहैं। मैंने कहा—ऐसे तो घरमें पाले पशु भी एकान्त होने पर खेत आदि खा लेतेहैं हानि अनेक प्रकारकी है जिनसे जैसी हानि हो उनको वैसा दण्ड देना चाहिये। हन, हिंस, धातु और मारना शब्दोंके प्रसंगानुसार अनेक अर्थ होतेहैं। कोई कहे कि खेतमें गौ खातीहै उसको मारो। कुमार्ग चलते हुए बालकको मारो तो क्या यह अर्थ होगा कि उनका प्राण वियोग कर दो ?। कदापि नहीं किन्तु यह अर्थ होगा कि उनको यथोचित दण्ड देना चाहिये। जिन प्राणियोंसे अनेकोंके प्राण जातेहैं वा जो असंख्य मनुष्यादिको तंग करते दुःख देतेहैं ऐसे जंगली सूकर आदिको मार डालनेके लिये राजपुरुषोंको वेदादिमें आज्ञाहै उपकारी वा निरपराधियोंको मारने वा सतानेकी आज्ञा नहीं। सरकारने भी यह स्वीकार किया कि उपकारी गौ आदिको मारनेमें अवश्य पाप है हम भी इसको बुरा समझतेहैं। सरकारने कहा कि यदि ब्राह्मण कुलका कोई मनुष्य क्षत्रियोंके काममें रहे तो वह क्षत्रिय माना जायगा ?। मैंने कहा अवश्य वह गुण कर्मसे क्षत्रिय माना जायगा। द्रोणाचार्यादिने भी क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर युद्धादि किया ही है। इत्यादि बातें पांचवें दिन सरकारसे हुईं। पश्चात् हम लोग स्थान पर चले आये। प्रकाशानन्दने मार्गमें ही मुझसे कहा

आपने अनुकूल सम्मति दी सरकार प्रसन्न रहे यही हम चाहतेथे। मैंने प्रकाशानन्दका इंगितचेष्टित मार्गमें देखा तो जान पड़ा कि वे मेरे अभिप्रायसे विरुद्ध उड़ाना चाहतेहैं तो मैंने कह भी दिया कि आपको ऐसा कहना उचित नहीं तथापि साधुओंने न माना और विरुद्ध प्रचार किया। मैंने जो कहाथा उसका अभिप्राय सबको सुना दिया। इस पर सबकी सम्मति हुई कि ये लोग विरुद्ध उड़ातेहैं तो आप अपना ठीक २ आशय लिखकर छपा दीजिये। इस कारण मैंने उस दिनके वार्त्तालापका सारांश लिख कर आर्यावर्त्तमें छपा दिया। साधुओंके मिथ्यापवाद उड़ानेसे मेरे विषयमें लोगोंको कुछ २ शंका भी कदाचित् हुई होगी। परन्तु अन्तमें सत्य बात छिप नहीं सकती। वास्तवमें एक दोष मेरा भी था जिसको मैंने उस समय उपकारी गुण समझा था और पीछे वह मुझे स्वयं दोष प्रतीत होगया। वह दोष यही था कि मैं कठोर शब्दोंको बचाता रहा मेरे मनमें था कि सरकारसे बड़े२ उपकार होने वालेहैं। ऐसे शब्द न कहने चाहिये जो उनको बुरे लगें। परन्तु यह भी मेरा ठीक २ निश्चय था कि सिद्धान्तसे विरुद्ध कुछ नहीं कहूंगा इसीके अनुसार वर्त्ताव किया था। प्रायः शिक्षित विद्वान् लोगोंका यही सिद्धान्तहै कि धर्मानुकूल सत्य बोलना चाहिये। इसको पीछे शोचनेसे मालूम हुआ कि कोमल और प्रिय वाक्योंके व्यवहारसे ठीक २ अधर्मका खण्डन और धर्मका मण्डन प्रायः नहीं होता। इसीलिये पूरे धर्मात्मा लोग प्रियभाषी नहीं होते किन्तु ऊपरसे खरे वा कटुभाषी साधारण मनुष्यों को मालूम होतेहैं। किसी कविका वचनहै कि—

नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते सुहृदो जनाः।
अन्ये च वदराकारा बहिरेव मनोहराः॥ १॥

शुद्ध हृदयके धर्मात्मा लोग नारियलके फल समान बाहर खरखरे और भीतर स्वच्छ दूध वा गोलेके समान सर्वोपकारिणी शुद्ध छल कपटादि रहित बुद्धिको धारण करतेहैं। और जिनकी धर्म पर ठीक२ स्थिति नहीं है। वे लोग बेर (बदर) फलके तुल्य भीतर कठोर निर्दयी और बाहर देखनेमें चिकनी चुपड़ी सबको प्रिय लगनेवाली बातोंसे शोभायुक्त दीखतेहैं। यह सिद्धान्त बहुतही ठीकहै कि धर्मात्मा सत्यवादीसे मनुष्योंका अधिक भाग प्रसन्न नहीं रह सकता। किन्तु धर्मज्ञ सत्य प्रिय लोगही उससे प्रसन्न रहेंगे। और सत्यप्रिय

धर्मज्ञ लोग जगत्में प्रायः कमही रहतेहैं। अब कोई कहे कि मानवधर्मशास्त्र में आज्ञाहै कि:-

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥

सत्य बोले प्रिय बोले किन्तु अप्रियसत्य न बोले और असत्य प्रिय भी न बोले। इसका समाधान—इस वचनका अभिप्राय यहहै कि जहां प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकारके वाक्य सत्य हो सकतेहों वहां प्रिय सत्य बोले किन्तु अप्रिय सत्य नहीं। परन्तु ऐसा प्रिय भी न बोले जो मिथ्या हो। अब यह शङ्का शेष रही कि जहां सत्य तो अप्रिय है और प्रिय बोला जाय वह सत्य नहीं उस प्रियसे धर्मकी रक्षा और अधर्मका खण्डन नहीं होता तो वहां क्या करना चाहिये इसलिये उक्त श्लोकके आगे अगला श्लोक है॥

भद्रम्भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥

जहां अप्रिय सत्य बोलनेसे व्यर्थ ही वैर वा विवाद बढ़ता हो किन्तु उस सत्यसे धर्मकी वृद्धि वा रक्षा विशेष नहीं होती वा अधर्मकी निवृत्ति नहीं होती वहां—"हांहां, हूंहूं, ठीक ठीक, अच्छा अच्छा, वा हां हूं ठीक अच्छा„ इत्यादि कोई शब्द उसके अनुकूल बोलदेवे। अब जहां अप्रिय सत्यसे धर्मकी रक्षा वा वृद्धि होती हो वा ऐसा न बोलनेसे अधर्मसे धर्मका घात होता हो तो दो मार्ग हैं एकतो मौन होजाना द्वितीय अप्रियभी हो पर सत्यही बोलना। इन दोनों में भी धर्मकी रक्षाके लिये "मौनात्सत्यं विशिष्यते„ मौन रहनेसे सत्य बोलना उत्तमहै। मौन रहना वहां उचितहै जहां मौन हो जानेसे ही धर्मकी रक्षा वा वृद्धि होतीहै। जैसे शस्त्रकी तीक्ष्ण तेज धारासे छेदन योग्य वस्तुका छेदन शीघ्र ही ठीक२ हो जाता और कोमल धारासे छेदन होनाही दुस्तरहै। इसी प्रकार प्रिय वा कोमल सत्यसे अधर्मका खण्डन नहीं होता और अधर्मका खण्डन हुए विना धर्मकी स्थिति होना दुस्तरहै। जैसे हिंसकोंकी वृद्धि बनी रहे तो जगत्में अहिंसाधर्मका प्रचार होना असम्भवहै। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधर्मकी निवृत्तिपूर्वक धर्मकी स्थिति करनेके लिये अप्रिय सत्यही मुख्य उपयोगीहै किन्तु

सत्य, हां, हूं, वा मौन रहना उपयोगी नहीं। इस दशामें जो लोग मांस-भक्षण वा अन्य मद्यपान व्यभिचारादिका उत्तेजनाके साथ खण्डन करना अप्रिय होनेसे हानिकारक समझतेहैं वे बड़ी भूलमें हैं वे लोग धर्मकी स्थिति वा रक्षा कदापि नहीं कर सकते। श्रीसत्स्वामिदयानन्द सरस्वतीजी महाराजके व्याख्यान जिन लोगोंने सुने होंगे उनको स्मरण होगा कि वे कितनी तेजीके साथ खण्डन करते थे। वे महात्मा जानते थे कि सूर्यके उग्र वा कठोर तेजसे जैसा अन्धकारका नाश होताहै वैसा चन्द्रमाकी शीतल वा कोमल चांदनीसे नहीं होता। इसलिये कोमल वा प्रिय सत्य बोलनेमें उद्योग करना मेरीभी भूल अवश्य थी इसीलिये प्रकाशानन्दादिको मिथ्यापवाद उड़ानेका अवसर मिला। अस्तु--

मैंने जब अपने अभिप्रायसे विरुद्ध चर्चा होते जहां तहां देखी तो मुझे बड़ा क्लेश हुआ। मैंने पं० लेखराम जी तथा बा० गंगाप्रसाद जी आदिसे कहा कि ऐसी दशामें सरकार मुझे कुछ विदायगी धन देना चाहें तो मैं लेना नहीं चाहता धर्मके सामने धनको मैं तुच्छ समझताहूं। आप लोगोंकी क्या सम्मतिहै?। सब की सम्मति हुई कि ऐसी दशामें तो कुछ न लेना चाहिये। परन्तु कल चलते समय तक भी आप कई लोगोंके सामने सरकारको अपना अभिप्राय सत्य२ सुना दें और वे सुन लें तो लेलेना चाहिये। यदि ऐसी दशामें भी न लिया जाय तो सरकारको दुःख होगा। इसी पांचवें दिन मुझे कुछ रोग बढ़ गया। रात्रि भर ज्वर उत्तेजनाके साथ रहा। मेरा चित्त घबराया कि कहीं रोग अधिक न बढ़ जावे मुझे स्वामी जी का स्मरण आया कि उनको यहींसे रोग बढ़ाथा। इस लिये जहांतक होसके यहांसे अतिशीघ्र चल देना चाहिये।

आगे छठे दिन मैंने प्रकाशानन्दसे कहा कि मैं आज यहांसे चला जाऊंगा मुझे धनादिकी कुछ भी इच्छा नहींहै ऐसी दशामें मैं कुछ भी नहीं लूंगा आप जावें तब सरकारसे यही आशय कह देवें। प्रकाशानन्दने कहा ऐसा करोगे तो सरकारको बुरा लगेगा। आपको ऐसा करना उचित नहीं। थोड़ी देर पीछे दोनों साधु बा० गङ्गाप्रसाद जी मैं तथा जगत्सिंह सब लोग सरकारके बंगलेपर मिलने गये। जगत्सिंहादि सब लोगोंके जानेका प्रस्ताव होचुका तब मैंने कहा कि—कल आपसे जो बातें हुईंथी उनका सारांश मैं फिरसे कहना चाहताहूं क्योंकि मेरे अभिप्रायसे विरुद्ध लोगोंने कुछका कुछ उड़ा दिया इससे मुझे बड़ा कष्ट हुआ। कदाचित् आपने भी भाषाका भेद होनेसे कुछ विरुद्ध समझ लिया

हो। मेरा अभिप्राय यह था कि "हिंसा के विना मांस नहीं मिल सकता और हिंसाको वेदादिशास्त्रों में अधर्म माना है तथा अहिंसा को परमधर्म माना है इस कारण मांस खाना पाप है वा महाअधर्म है। परन्तु जिन प्राणियों के मारने की आज्ञा वेदादि में है उन के मारने में पाप नहीं माना गया उन का मांस कोई खा भी लेवे तो अधिक पाप नहीं है" इस पर सरकार ने कहा कि और तो ठीक है परन्तु अधिक शब्द कल आपने नहीं कहा था। मैंने कहा कि अधिक शब्द न कहा हो कोई अन्य शब्द कहा हो कि वैसा पाप नहीं जैसा मांसभक्षण में माना गया है अथवा हिंसारूप दोष नहीं इत्यादि परन्तु मेरा आशय यही था। कोई उपदेशक वा व्याख्यानदाता अपने सब शब्दों का अनुवाद उसी समय यथावत् नहीं कर सकता कि मैंने अमुक २ शब्द कहे थे तो मैं कलके सब शब्दों का स्मरण कैसे रख सकता था। इस पर दोनों साधु बहुत बिगड़े जिस से शान्तिपूर्वक वार्त्तालाप में विघ्न होगया तब सरकार के सामने मेरे मुख से भी मांसभक्षणको पाप ठहराने के लिये कितने ही कटुवाक्य निकले जो सरकार को भी कदाचित् बुरे जान पड़े होंगे। मेरे शरीर में पहिले दिन का ज्वर अब तक बना था जिस से चित्त भी स्वस्थ नहीं था इस कारण सावधानी के साथ बातें नहीं कर सकता था। अन्त में वहां से चलते समय सरकार ने ५००) मेरे नाम २००) जगत्सिंह के नाम और १००) बा० गङ्गाप्रसाद जी के लिये लिख कर स्टेशन को एक मनुष्य भेज दिया कि इन सब को स्टेशन से रूपये मिल जावें। हम सब वहां से चले आये तो पं० रामदयालसिंह ने मुझ से कहा कि आप को क्या खबर नहीं आज आपकी प्रतिष्ठा नहीं रही। आपने अच्छा नहीं किया सरकार अप्रसन्न रहे आप को ऐसा कहना उचित नहीं था। आप को खबर नहीं आपका निरादर वा अप्रतिष्ठा होगई। मैंने उत्तर दिया कि मैं अप्रतिष्ठा वा निरादर को बुरा नहीं समझता। अप्रतिष्ठा से डरने वाला धर्म का सेवन नहीं कर सकता मुझे ऐसी अप्रतिष्ठा से कुछ भी दुःख नहीं किन्तु यदि मुझे कान पकड़ कर जोधपुर से कोई निकलवा देता तो अपने कर्त्तव्य को ठीक सफल समझता। देखो धर्मशास्त्रमें लिखा है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

इस का अर्थ—विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण को उचित है कि सम्मान वा प्रतिष्ठा से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के तुल्य अपमान वा अप्रतिष्ठा की चाहना सदा रक्खे क्योंकि अप्रतिष्ठा से बचने और प्रतिष्ठा की चाहना रखने वाला जहां धर्म की रक्षा से प्रतिष्ठा जाती देखेगा वहां धर्म का झट त्याग कर देगा और जहां अधर्म करने से प्रतिष्ठा होती देखेगा वहां अधर्म भी करने लगेगा। और संसार में धर्मात्मा शुद्धहृदय के मनुष्य सदा कम होते हैं इस कारण सच्चे और दृढ़ धर्मात्मा को प्रतिष्ठा करने वाले कम ही मिलेंगे। किन्तु अधर्मी के साथी अनेक हो जायगे। इत्यादि विचार के अनुसार मैं अप्रतिष्ठा को ही उत्तम समझता हूं। इस के पश्चात् हम सब लोग स्थान पर आकर शीघ्र ही सामान बांध कर स्टेशन को चल दिये। उस समय न कोई मनुष्य न कोई सवारी थी जिस पर असबाब भी धरलेते। आपस के सब मनुष्य गठरीमुठरी उठा २ स्वयं रेल पर लेगये। केवल जोधपुर के दो ब्राह्मण मेरे मित्र जिन को मेरा जाना पहिले से ज्ञात था वे तथा पं० लेखराम जी पं० रामदयालसिंह जी आदि असबाब लेकर स्टेशन पर पहुंचा आये थे। पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि यह भी कुछ कम अप्रतिष्ठा नहीं हुई। परन्तु इस निरादर के भी मुख्य कर्त्ता साधु लोग ही थे क्योंकि वे कहचुके थे कि यदि तुम हमारी इच्छा के अनुसार मांसभक्षण की पुष्टि न करोगे तो प्रतिष्ठा के बदले तुम्हारी अप्रतिष्ठ वा निरादर होगा। अब रहा ५००) मुद्रा का प्राप्त होना सो यह जोधपुर जैसे राजयों का एक साधारण कर्त्तव्य है। जैसे कोई २०) रु० मासिक की प्राप्ति वाले के समीप दूर से बुलाने पर आवे और वह उस को दो पैसे उदासीन चित्त से दे देवे। और मुख्य तो यह है कि सरकार जोधपुर के चित्त से मेरा निरादर वा अप्रतिष्ठा हुई हो यह मुझे विश्वास नहीं क्योंकि वे गम्भीर और विचारशील पुरुष प्रतीत होते हैं किन्तु निरादर की सब कार्यवाही साधुओं ने अन्य मनुष्यों को मिलाकर चालाकी से कराई थी। अस्तु इस छठे दिन हम लोग जोधपुर से चलदिये मारवाड़ स्टेशन तक बीमारी का नया उपद्रव (जो कि प्रकाशानन्द के साथ एक दिन बारह बजे तक जागने और कुछ भोजनके व्यतिक्रम वा कुपथ्य से मन्दाग्नि और कफ की वृद्धि होकर ज्वर होगया था भूख रुक गयी थी सो सब) रेल में ही सब शान्त होगाया सन्ध्या को क्षुधा लगी शरीर अच्छा होगया।

जोधपुर के अनुभूत समाचार ॥

सरकार जोधपुर के विचार (खयालात) अन्य बहुत से राजपुरुषों की अपेक्षा बहुत ही प्रशंसा के योग्य हैं। आर्यधर्म की ओर अब तक उन का पूर्ण प्रेम था परन्तु जिस एक को बिगाड़ने वाले बहुत हेतु खड़े हो जांय उस का ठीक रहना बहुत ही कठिन है। जोधपुर में आर्यधर्म के पूरे कट्टर शत्रु अनेक [जिस के भीतर विष भरा हो और ऊपर से थोड़ासा घी मुख पर धर दिया जाय उस घड़े के तुल्य] हैं। मेरा अनुमान है कि ऐसे ही मनुष्यों का यह कर्त्तव्य हुआ है। वे लोग भीतर२ अनेक प्रकार के जोड़तोड़ सदा लगाते रहे अन्त में सरकार का चित्त आर्यधर्म से हटाने के लिये उन को सर्वोपरि यह उपाय सूझा कि सरकार मांसभक्षण करते हैं और कुछ२ अच्छा भी समझते हैं। उधर सरकार को मांसभक्षण में पक्का किया और किसी से सिद्ध कराया कि मांसभक्षण वेदोक्त कर्म है। इधर आर्य लोगों को सुझाया कि देखो! मांसभक्षण वेदानुकूल न ठहरने पावे। इस से आर्यधर्म में कलङ्क लग जायगा। इत्यादि प्रकार विग्रह करके सरकार का चित्त आर्यधर्म की ओर से ग्लानियुक्त कर दिया। और वर्त्तमानदशा से अनुमान होता है कि कदाचित् सरकार को आर्यधर्म से और भी ग्लानि आ जावे। यह निश्चित है कि जिन लोगों के स्वार्थ में आर्यधर्म के प्रचार से हानि पहुंची है वे ही मुख्यकर इस के विघ्नकर्त्ता हैं। सरकार जोधपुर के "मुझ से आर्यसमाज का जो कोई काम लो मैं देने को तयार हूं मुझे चपरासी बना दो वही काम दूंगा। मुझे सब आर्य लोग अपना समझते रहें मैं सब के पीछे लगा रहूंगा। मुझ को निराश्रय न करो" इत्यादि वचन सुनने से प्रतीत होता था कि आर्यधर्मकी ओर उनका पूरा प्रेम है परन्तु शोक है कि मैं जिस२ प्रकारका पूर्वलिखित नोटरूप विचार करके गया था उस को असुरों ने न बनने दिया और आर्यधर्म की उन्नति में महाविघ्न फैला दिया। हे परमात्मन्! महाराज कर्नलसर प्रतापसिंह जी के हृदय में ऐसी प्रेरणा कर कि जिस से वे निष्पक्ष हो सत्यासत्य का निर्णय करावें और असुरों की माया में न फसें। सरकार जोधपुर अन्य राजपुरुषों के तुल्य आलसी वा आरामतलब नहीं हैं किन्तु बड़े परिश्रमी धीर वीर और प्रतापी हैं। उन का नाम सार्थक है। उन की आकृति पर प्रताप झलकता है। क्षत्रिय लोगों में शूरवीरता गुण होना बहुत आवश्यक है सो उन

त्यक्ष दीखता है। शस्त्रों का और घोड़ों पर चढ़ने का अधिक शौक है। उनका शरीर आधुनिक अमीरों कासा कोमल नहीं किन्तु अनेक प्रकार का व्यायाम (कसरत) शरीर से प्रतिदिन करते हैं। वस्त्रादि का पहरना ओढ़ना भी शौकीनों कासा नहीं है देशी मोटे वस्त्रों की अधिक चाल राज के बड़े २ सब अधिकारियों तक में वर्त्तमान है। वेदमतानुयायी वा क्षत्रियों को अधिक कर राजकार्यों में प्रविष्ट किया और करते हैं। राजकार्यों को स्वयं देखते और सम्हलवाते चलवाते हैं। इस समय जोधपुर में जो कुछ बातें सुधार की दीखती हैं उन सब का कारण सरकार जोधपुर ही हैं। अंगरेजी राज्यकी अपेक्षा वहां की प्रजा सुखी प्रतीत होती है। जोधपुर में प्रतिदिन वहांके मनुष्य मेरे पास मिलने को आते थे उन से अनेक प्रकार की धर्मचर्चा होती थी। राजमंत्री पं० श्रीशुकदेवप्रसाद जी भी दो वा तीन वार मुझ को दर्शन देने आये। ये महाशय गम्भीर विचारशील पुरुष प्रतीत होते हैं। इन महाशय की धर्म की ओर भी अच्छी दृष्टि है। उन की अनेक वातों से निश्चय हुआ कि वे मांसभक्षण को धर्मा-नुकूल नहीं समझते। उन से समागम होते समय मैंने स्पष्ट कई बार कहा कि मैं बालक नहीं मुझ को अनेक प्रकार के लोभलालच देकर बालकों के तुल्य बह-काना क्या उचित है?। मैं धन और प्रतिष्ठा को धर्म के सामने धूलि से भी नीच समझताहूं। मुझ को धन वा प्रतिष्ठा प्राप्ति का लोभलालच देकर अपने पक्ष के अनुकूल मांसभक्षण के प्रतिपादन कराने का उद्योग जो लोग करते हैं क्या उन को आप धर्मात्मा कहें वा मानेंगे?। और क्या ऐसे मनुष्यों को धर्म के पूरे शत्रु नहीं समझना चाहिये?। ये ही वातें मैंने रावराजा तेजसिंहजी से समा-गम होते समय भी कहीं थी। सबने स्वीकार किया कि तुम्हारा विचार ठीक है।

मैंने जोधपुर का जो २ वृत्तान्त लिखा है उस सव में इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि जिस २ के साथ जो २ बातें मुझसे हुईं वा मैंने कहीं उन सब के आशयमात्र का मुझे स्मरण था इस कारण मैं यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि मैं वा उन २ लोगों ने येही शब्द कहे थे जो यहां लिखे गये हैं। क्योंकि शब्दों का यथावत् स्मरण रखना बहुत कठिन है। परन्तु प्रकाशानन्द के सिद्धान्त वा चिट्ठीपत्री ज्योंके त्यों लिखे गये हैं। इत्यलम्।

स्थावर में जीवविचार ॥

गत १ । २ अंक पृ० २३६ से आगे ॥

उठाता पटकताहै इस कारण उस समय मनके साथ आत्माका पूरा संयोग नहीं माना जाता किन्तु कुछ २ संयोग रहताहै । स्वप्नदशामें जब तक उद्बोधक हेतुओंकी अपेक्षा तमोगुणरूप निद्राकी प्रबलता अधिक रहती है तब तक दुःख पहुंचाने पर भी जाग नहीं सकता । यही दशा वृक्षादि स्थावरोंमें जीवात्माकी है। प्रयोजन यह कि बाहरी प्रकट इच्छादिका नाम जीवात्मा वा जीव नहीं है किन्तु इच्छादि गुणोंसे वा मनसे भिन्न एक जीवात्माहै जिसकी विद्यमानता इच्छादिकी प्रकटता होने न होने पर दोनों दशा में मानी जातीहै । यदि कोई शंका करे कि दीपककी विद्यमानता में प्रकाश न हो तो क्या ठीक है ? ऐसा कोई मान सकताहै ? वा प्रकाश न होनेकी दशामें दीपक होनेमें प्रमाण ही क्या है दीपकका अभाव ही क्यों नहीं मानलिया जाय ? इसका उत्तर–यदि दिनमें अधिक प्रबल आंधी मेघके दब आनेसे रात्रिके तुल्य अन्धकार फैल जावे और प्रकाश न रहे तो क्या तुम मान लोगे वा सिद्धकर सकोगे कि अब सूर्य नहीं है ? वा किसी आच्छादक वस्तुसे दीपक ऐसा दबा दिया जाय जिसका प्रकाश ही न फैले वा बहुत मन्द प्रकाश फैल जावे तो क्या मान लोगे कि दीपक वहां नहीं है । इसी प्रकार यदि मान सको वा सिद्धकर सको कि सूर्यादि नहीं हैं तो वृक्षादिमें भी जीवका अभाव मानलेना । और यदि किसी प्रमाणसे सूर्यादिकी विद्यमानताको सिद्ध करो तो वही प्रमाण वृक्षादिमें जीवकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये उपयोगी होगा । इत्यादि विचारको यहीं छोड़ना ठीकहै क्यों कि आगे पार नहीं ।

अब यह विचारना शेषहै कि सजीव वा सचेतन किसको मानना चाहिये ? । इसका उत्तर यहहै कि जो वस्तु बीजसे उत्पन्न हो और समय, खेत, जल तथा बीज इन चार प्रकारकी सामग्रियोंसे जिसकी उत्पत्ति होकर किसी नियत समय तक बढ़े और पीछे नियत परिणत (वृद्ध) अवस्थामें वा आगन्तुक रोगादिके कारण अपनी सबीज अर्थात् (सजीव) दशाको छोड़कर मृतक हो जावे वा सूख जावे उसको सजीव कहतेहैं । बीज और जीव शब्दमें एक अक्षर की लौट पौटहै । इस कारण इनका अर्थ परस्पर अधिक मेल अवश्य रखताहै कि

बीजसे हों वे शरीर सजीव वा जीव सहित हो सकतेहैं तथा जिनमें जीवहै उनकी बीज द्वारा आगे सन्तति चल सकती है इस प्रकार बीज और जीव ये दोनों सहयोगी वा साहचारी वा सापेक्षशब्द हैं। जहां जीव नहीं उन में आगे सन्तति चलने वाला बीज नहीं हो सकता। और जिन वस्तुओंका बीज नहीं वहां जीवात्मा किसी रूपसे रहे भी परन्तु शरीराभिमानी नहीं हो सकता। बीजशब्दका अर्थ सामान्य कारण नहीं है किन्तु बीज किसी सजीव शरीरका सर्वोत्तमसार होताहै जिसमें उस शरीरके सब अंश सूक्ष्म होतेहैं इसी कारण उस बीजसे फिर शरीर वा वृक्षादि बन जातेहैं। लौकिक व्यवहारमें वृक्षादि शरीर पदवाच्य नहीं माने जाते और शरीरके स्थानमें वृक्षादि शब्दोंका भी प्रयोग नहीं होता इसका कारण चेतनशक्तिकी प्रबलता और निर्बलताहै। मनुष्यादि के शरीरमें चेतनशक्ति प्रबल व्याप्तहै और जिसकी चेतनशक्ति विशेष पीड़ापहुंचने पूर्वक रोगादि द्वारा भिन्न कीजाय वह शरीर कहाता और जो छेदन किया (काटा) जाय वह वृक्ष कहाताहै। इसी कारण मानुष्यादिके शरीरोंमें हिंसाशब्दकी प्रवृत्तिहै और वृक्षादिमें नहीं। परन्तु वेद वा उपनिषादि ग्रन्थों में कहींर शरीर शब्दके स्थानमें वृक्षशब्द का प्रयोग आताहै जैसे ऋग्वेदमें—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः॥ श्वे० उ०

इन दोनों प्रमाणोंमें वृक्ष शब्द करके शरीर लिया जाताहै। इसी प्रकार वृक्षादिके स्थानमें कहीं शरीर शब्द का प्रयोग आजावे तो असम्भव वा आश्चर्य नहीं है। परन्तु वृक्षादि स्थावरोंको शरीर धारी माननेके विषयमें न्याय वैशिक शास्त्रका सिद्धान्त विद्वन्मोदतरङ्गिणीनामक ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि—

शरीरता नास्ति महीरुहेषु जीवाश्रयत्वेऽपि विनास्थिमांसैः।
चेन्मन्यते केवलजीवयोगात् शरीरतास्तां तदयोनिजेषु ॥ १ ॥
अयोनिजं वारिमहीमरुद्दपुर्धरांशसंज्ञव्यवहारसाधनम्। न
पुण्यपापात्मककार्यकारणं पुराकृतैः केवलभोगभाजनम् ॥ २ ॥

वृक्षादि स्थावरों में जीवात्मा का निवास होने पर भी हड्डी मांसादि के न होने से उन के स्वरूप को शरीर शब्दसे नहीं कह सकते वा वृक्षादि को

शरीरधारी नहीं मान सकते। यदि केवल जीवात्मा का योग होनेमात्र से वृक्षादि शरीरधारी मानें जावें तो उन का शरीर अयोनिज माना जायगा। स्त्री के गर्भाशयसे जिन की उत्पत्ति है वे योनिज शरीर माने जाते हैं। तथा अन्य प्रकार से उत्पन्न होनेवालों को अयोनिज कहते हैं॥ शरीर मानने के पक्ष में जल पृथिवी और वायु इन तीन तत्त्वों के योग से वृक्षादि का अयोनिज शरीर माना जाता और पार्थिव भाग की अधिकता से व्यवहार की सिद्धि के लिये वृक्षादिको दृश्यप दार्थों के अन्तर्गत विषय भी मानना ठीक है। वृक्षादि का अयोनिज शरीर पुण्य पापरूप कार्यों के संचय का कारण नहीं अर्थात् वृक्षादि पुण्यपाप कुछ नहीं करते किन्तु पूर्वजन्मों के किये निकृष्ट कर्मों का फल भोगनेमात्र के लियेउन का अयोनिज शरीर है॥

यदि बीजसे उत्पन्न हो वह सजीव सचेतन है तो पत्थर वा कङ्कड़ आदि अन्य भी कई वस्तु ऐसे होते हैं जिनका पहिले छोटा बीजरूप टुकड़ा होताहै उसीसे वे बढ़तेहैं और बहुत बड़े२ हो जातेहैं। तो इस पक्षमें अतिव्याप्ति दोष आगया इस कारण तुमको चाहिये कि पत्थरादि को भी सजीव वा सचेतन मानो। और जब पाषाणादि भी चेतन हुए तो फिर जड़ किसे कहोगे?।

इसका उत्तर यहहै कि पाषाणादिका सजीव वा सचेतन होना साध्यकोटि में है किन्तु सिद्ध नहीं क्योंकि प्रथम तो बीजसे उत्पत्ति होना ही ठीक नहीं जान पड़ता। किसी वस्तुका बढ़नामात्र बीजसे उत्पत्ति सिद्ध नहीं कर सकता। अनेक स्थलोंमें जहां मट्टी नहीं है वा थोड़ी है वहां बड़े२ ढेर होजातेहैं अन्यत्रसे उड़२ कर वायुके द्वारा मट्टी चली आतीहै। पृथिवीके जिस हिस्सेमें जिस वस्तुकी खानि होतीहै वहां अन्य वस्तु जो२ कुछ जा पड़तेहैं सब उसीके रूप में बन जाते हैं। जैसे साम्हर लवणकी जहां खानि है वहां जो कुछ पड़ताहै सब साम्हर बन जाताहै इसी प्रकार जहां पहाड़ों में पत्थर बननेकी खानें हैं वहां अन्य वस्तुओंके त्रसरेणु भी पत्थररूप होते रहतेहैं। इस कारण पत्थर बढते हैं। यदि इस प्रकारके बढ़नेसे जीव होनेकी शङ्का होती है तो सभीमें जीव की शङ्का होना सम्भव है। इसलिये ऐसी शङ्का ठीक नहीं। और द्वितीय कदाचित् कोई पत्थरादि ऐसे हों जैसे वृक्षादि जीवधारी ऋतु, खेत, और जल रूप चार प्रकारकी सामग्रीसे किसी नियत समय तक उत्पन्न होकर सजीव रह

सूख जावें (मृत होजावें) वा अपनी वर्त्तमानदशा (हालत) को छोड़ जावें तो उनको सजीव मान लेनेमें हमारी कुछ हानि नहीं ॥

प्रश्न—क्या घास शाक तरकारी बूटी औषधि आदि सब ही में जीवका निवास मानोगे ? ।

उत्तर—हां ऊपर लिखे अनुसार बीजसे उत्पन्न होकर नियत समय तक ठहर कर नष्ट होजाने वाले घासादि सभी जीवधारीहैं इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

प्र०—यदि घासादि को पश्वादि न खावें तो कैसे जी सकते हैं । और खावें तो पशुपालने वाले को दोष लगेगा । फिर धर्मशास्त्र में पशुपालन वैश्य का कर्त्तव्य कर्म क्यों ठराया गया । पशुओंका भक्ष्य घासादि बनाया और मनुष्यों को पशुपालनकी आज्ञा दी तो सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही मनुष्यों से पाप कराना चाहता है । ऐसा है तो मनुष्य का अपराध नहीं किन्तु ईश्वर का दोष है ।

उ०—यदि पश्वादि हरी घास न खावें और अनेक प्रकार का भूसा पककर वा सूख जानेपर एकत्र की हुई घास खावें तो जीवित रह सकतेहैं । यदि पशुपालने वाला चाहे तो हरे घासादि खिलाये विना अच्छे प्रकार पशु पाल सकता है । और कदाचित् किसी देश वा समयमें हरित घासादिके विना पशुपालन नहीं होसकता हो और पशुपालनवृत्तिको छोड़ भी नहीं सकते तो पशुपालन कर्त्ताको कुछ दोष अवश्य लगेगा । हम पूर्वपक्षीसे पूछतेहैं कि यदि घासादिको जड़ मानकर इस दोषसे तुम किसी प्रकार बच भी गये तो संसारके असंख्य कार्य वा व्यवहार ऐसे हैं जिनको किये विना मनुष्य कदापि नहीं बच सकता उनसे भी बचनेका उपाय कुछ शोचाहै ? यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि संसारके सब काम चलाता हुआ भी कोई सर्वथा निष्पाप होसकताहै । तो हम प्रतिज्ञा कर तेहैं कि ऐसी दशामें मनुष्य कदापि सर्वथा निष्पाप नहीं होसकता । एक २ पग धरनेमें पाप पुण्यका संचय होता रहताहै । चलने फिरने खाने पीने उठने बैठने आदि साधारण व्यहारों में भी अनेक जीवों का जान कर वा अज्ञानसे मरण होता वा उन को कष्ट पहुंचता रहता है । इस से कोई नहीं बच सकता और न उक्त व्यवहार किये विना रह सकताहै । इस से यह प्रयोजन नहीं है कि जब नहीं बच सकता तो जानकर भी पाप करने चाहिये। इसी लिये धर्म-शास्त्रोंमें उपाय बतलाये गयेहैं कि जहां तक हो सदा पापोंसे बचनेका उद्योग

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

७४१ श्रीमान् बैजनाथ जी नजीबाबाद १।)
५६१ श्री गोपालसहाय जी ग्वालियर १)
७२३ श्रीगिरधारीलाल जी रानीगञ्ज १।)
६१८ पं० शिवप्रसाद शर्मा वाजपेई बांदा २)
८९६ महीपतिराय जी इन्दौर १।)
८९८ श्री गोकुलप्रसाद जी धारूर १।)
९०३ श्रीसामलियामल जी फीरोजपुर १।)
४ श्री दरियावसिंह जी वर्मा प्रयाग १)
१७५ श्री ठाकुरप्रसाद जी घनारी २॥)
१५५ श्री नारायणप्रसाद पांडे कानपूर १।)
८४१ श्रीमान् सूर्यप्रसाद जी जावर १।)
९०७ श्री रामप्रसाद शर्मा काशीपुर १।)
७७१ श्रीयुत गङ्गाधर शर्मा अजयगढ़ ॥।-)
७९२ श्रीहरदयाल जी सुखसेन गोंडा १।)
७०५ श्रीबहादुरसिंह जी नाहन १॥-)॥
३४२ श्रीसङ्कप्पा हवल्दार जी अदन १।)
२४ श्रीमुन्नालाल शर्मा अफजलगढ़ १।)
४२७ श्रीरामप्रसाद जी नरसिंहपुर १।)
२२९ मन्त्री आर्यसमाज नरसिंहपुर ।)
८०४ पं० कृष्णराव नारायण रेंगे हर्दा २॥)
७९३ श्री पं० रामाधार शर्मा पाठकपुर १।)
८९४ श्रीयुत भानुशङ्कर शर्मा जूनागढ़ १।)
६८० श्रीगोपालसहाय जी सिकन्दराराऊ २॥)
८९८ श्रीमती भक्तानी जी हरियाना १।)

४४७ ठा० जगन्नाथसिंह जी चित्तौरगढ़ १।)
११९ बा० खागलप्रसाद जी प्रतापगढ़ १।)
२४५ राजा फतसिंह जी पुवांयां २॥)
८८१ बा० घनश्यामदास जी कानपुर २॥)
७८१ बा० विन्ध्याप्रसाद जी कनखल १।)
८८२ बा० कामताप्रसाद जी हैदराबाद १।)
६६६ बा० चुन्नीलाल जी विजवाड़ा २॥)
७९३ बा० विश्वेश्वरप्रसादजी लसवेला १।)
३७४ पं० ठाकुरप्रसाद जी योधपुर २॥)
१६३ पं० हरिगोबिन्दप्रसाद फैजाबाद १।)
६६३ श्री बा० सन्नूलाल जी जालन्धर १।)
४१ श्री बा० सेवालाल जी प्रयाग १)
३४८ बा० मन्नालाल जी अकबरपुर २॥)
१०४ पं० बद्रीदीन जी अकबरपुर १।)
६२३ ला० मूलचन्द जी अलीगढ़ २॥)
८८९ बा० लालचन्द जी विष्णुपुर १।)
३३० श्री मदारीलाल जी जसवन्तनगर २)
१८७ श्री विश्वम्भरनाथ जी दिहली २॥)
७९८ श्री कुंवरप्रसाद जी नागल १।)
३३४ बा० सवायाराम जी झङ्ग २)
८९० श्री द्वारिकाप्रसाद जी गाजीपुर १)
४७५ श्री गयासिंह जी कुन्दोली १।)
५६० श्री गुरुदयालजी तिवारी चंदिया १)
८९१ श्री रोचराम भट्टी जी जालासोर १।)
८४३ श्री महावीर शर्मा जी योधपुर १।)
२५ श्री सन्तराम जी दिहली २)

नवीनपुस्तकोंकी सूचना ॥

"पाखण्डमतकुठार" यह पुस्तक कबीरमत के खण्डन विषय में एक आर्य-संन्यासी सत्यानन्द जी ने बनाया है। इन संन्यासी जीने पहिले कबीरपन्थ में रहकर उस मत की सब पोलपाल जान ली थी सो इस पुस्तक में खोलदी है पुस्तक देखने योग्य है। मूल्य ≡) "जीवनयात्रा" यह पुस्तक पं० देवीदयालु शर्मा उपदेशक सी०पी०ने बनाया है। बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये इस बात को बड़े उत्तम रोचक ढंग से वर्णन किया है पुस्तक देखने योग्य है मूल्य ≡) "किरानीलीला, वेश्यालीला" यह पुस्तक एक आर्य पुरुष ने छन्दबद्ध बनाया है कि जिस को देखने वाले किरानी और वेश्याओं के जाल में कदापि न फसेंगे। पुस्तक बहुत रोचक होनेसे अवश्यदर्शनीय है मूल्य)॥। "नीतिसार" यह पु० भाषा टीका सहित सब का उपयोगी है पं० रमादत्त त्रिपाठी जी ने संगृहीत किया है। नीतिशास्त्र का सार इस में दिखा दिया है मूल्य =)॥ "नीतिशिक्षावली" यह केवल नागरी भाषा में ब्रह्मानन्द संन्यासी जी ने बनाया है मूल्य)।

संस्कृत का तृतीय पुस्तक पं० तुलसीरामशर्मकृत ≡) गणितारम्भ =)॥ अङ्कगणितार्यना पं० बद्रीप्रसादशर्मकृत आर्य बालकों को गणित पहिले से पढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी ≡)॥ उपदेशभजनावली)। भजनामृतसरोवर =)॥ विदुरनीतिमूल =) जीवसान्तविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार अच्छे कागज़ पर। वा =)॥ सैकड़ा निकृष्ट कागज़ पर १॥।) हज़ार, व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिसमें चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा =), हज़ार का १।) डाक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा। छपाने पर भी इस से और सस्ते नहीं हो सकते। समाज के नियम और व्याख्यान के विज्ञापन, सब की सुगमताके लिये छपाये हैं अनेक लोगों को उत्सव आदि में बांटने के लिये आवश्यकता पड़ती है परन्तु सर्वत्र प्रेस नहीं होते और जहां हैं भी वहां दाम अधिक लगता और दिक्कत भी उठानी पड़ती है इसलिये जिन महाशयों को आर्यसमाज के नियम वा विज्ञापन मंगाने हों मुझ से मंगा लिया करें ॥

पता—भीमसेन शर्मा सरस्वतीयन्त्रालय—प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ६] मासिकपत्र [अङ्क ५।६

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सन् १८९४ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित ... १)

मूल्य प्राप्ति स्वीकार ॥

३३ मुं० काशीप्रसाद वकील प्रयाग १)
४८० बा० चोखामल जी गुप्त अजमेर २॥)
४५९ उमराव सिंह जी कुचेश्वर २॥)
२१ पं० बालमुकुन्द जी प्रयाग १)
१० श्रीयुत मन्त्री आर्यसमाज नेष्टा १।)
५३० प० बालकृष्ण पाठक एरडोल १।)
५ बा० रघुबीरसहाय जी प्रयाग १)
७६४ पं० गणेशप्रसाद शर्मा बारहबंकी १)
२३१ पं० कृष्णलाल नागर मथुरा १।)
११२ बा० बद्रीप्रसाद जी लहरा १।)
४२ लाला बद्रीदास बांकेलाल आगरा २॥)
४१८ स्वामी मङ्गलदेव जी सरस्वती १।)
२०५ श्रीयुत बा० दुर्गाप्रसाद जी रईस फरुखाबाद २॥)
७११ प्रयागदत्त जी शर्मा मुम्बई १।)
७१० जगन्नाथप्रसाद शर्मा मुम्बई १।)
१३२ बा० विहारीलाल जी बाड़ी २॥)
५६६ बा० माधवराय जी बालाघाट १।)
५२७ बा० नन्दन झा भागलपुरबरारी १।)
३१ बा० ज्योतिस्वरूप जी देहरादून ॥)
३२३ बा० गणेशीलालजी गुप्त चन्दौसी २॥)
२९२ शिवचरणलाल शर्मा काल्पी १=)
८२७ हीरालाल मोहनलाल भडूच १।)
९१४ दूलहासिंह जी अमीन मारोट १।)
९१७ बा० माधवप्रसाद जी चकराता १।)
३१५ पं० राम[illegible] शर्मा जबलपुर २॥)
[illegible] हनुमानप्रसाद जी लखनऊ १।)

४५४ बा० गुरुदत्तजी कारन्दा अजमेर २॥)
१० बा० बूढ़ामल जी शिमला २॥)
३३४ बा० चेतराम जी बिरहुनि १)
३४३ बा० शिवलाल जी पलवल २॥)
४० बा० प्रसिद्धनारायण कादिराबाद २॥)
१ श्रीयुत मं० आर्य्यसमाज कानपुर २॥)
८९२ पं० सूर्य्यप्रसाद जी ठठिया १)
३१९ पं० पुत्तूलाल शर्मा मकनपुर २)
५४० पं० डालचन्द वैद्य दातागंज ॥।)
३२९ पं० रघुबरदयालु गुसिरापुर २॥)
१४ श्रीयुत जगन्नाथ जी जयपुर ४)
७६२ बिश्वासराय जी सिहोरा १।)
१३३ पं० शिवाधार–रामाधीन जी शर्मा मुम्बई १।)
६१३ बा० मिहीलाल जी अहिरवा २॥)
८२१ श्रीमान् गेन्दसिंह जी द्रुग १।)
९२८ बा० कुन्दलाल खजानची दिहली ≡)
७८० बा० रामस्वरूपसिंह रकसहा १।)
७१९ श्री स्वामीलक्ष्मणानन्द जी सहारनपुर १।)
८१५ टीकमदास भगवानदास बुरानपुर १।)
९३४ श्रीयुत जगन्नाथ जी करेली १।)
२३८ श्यामलाल सखाराम येवला २॥)
९१८ जमनादास राजाराम बलसार १।)
४३१ बा० आनन्दीप्रसादजी बांदीकुई ३॥।)
४०६ नियादर शंकरलाल नजीबाबाद १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भा ६ } ॥ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अ० ५-६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

स्थावर में जीवविचार

गत अंक ३-४ पृ० ३२ से आगे

करने चाहिये जहां नहीं बच सकता वहां उस की प्रायश्चित्त बताये गये हैं तथा उस के बदले विशेष पुण्य करने की आज्ञा दी गयी है। और यह बात तो ठीक है कि मनुष्य को पशुपालन की आज्ञा दी गयी और पशुओं का भक्ष्य घासादि परमेश्वर ने बनाया परन्तु यह आज्ञा नहीं दी कि पशुओं का पालन हरित घासादि खिला कर ही करना चाहिये और यदि कहीं कभी हरित घासादि खाये विना पशुओं का निर्वाह नहीं होसक्ता तो जैसे सिंहादि अनेक प्राणियों का निर्वाह किन्हीं जीवों का मांस खाये विना नहीं होता और अनेक मांसाहारी प्राणियों का मांस ही भक्ष्य बनाया प्रतीत होता है क्या यह भी दोष परमेश्वर ही पर तुम लगाओ गे ?। हमारे पक्षानुसार तो मनुष्य अपने सुख के लिये जो २ काम करता है उनमें यदि उस को कुछ पाप वा दोष लगे वा दुःख मिले तो उस का अपराधी वही बनेगा ईश्वर का इस में कुछ दोष नहीं। यह नहीं हो सकता कि भोजन प्राप्ति से होने वाले सुख को हम भोगें और मल संचय से होने वाले दुर्गन्धादि [illegible] के लिये पशु-

पालन करता है उस में होने वाले अनिवार्य अपराध वा दुःख का भागी भी वह स्वयं होगा यह निश्चय है कि जो संसारी सुख के लिये भागेगा। उस को कुछ दुःख भी अवश्य प्राप्त होंगे। जब संसारी व्यवहार में रह कर मनुष्य सर्वथा निष्पाप नहीं हो सकता तभी तो हमारे यहां तीसरा, चौथा आश्रम बन सकता है। यदि गृहाश्रम में सब व्यवहार करता हुआ भी निष्पाप हो सके तो फिर वानप्रस्थ संन्यासाश्रम व्यर्थ हो जावें। ईसाइयों के यहां वर्णाश्रम की व्यवस्था नहीं इसी लिये उन के मत में कोई निष्पाप नहीं होसकता तब विश्वास कर पाप छुड़ाना चाहते हैं जैसे कोई कहे कि मैं संस्कृत पढ़ने के परिश्रम को तो असाध्य समझ कर नहीं कर सकता परन्तु किसी पण्डित पर विश्वास कर लूं कि वह कृपा कर दे तो पढ़ जाऊं जैसे यह विश्वास विना परिश्रम किये तीनों काल में कभी सफल नहीं हो सकता वैसे ही पाप छुटाने का विश्वास निष्फल जानना चाहिये।

अब स्थावर में जीव होने के विषय में महाभारत के कुछ श्लोक लिखते हैं—
महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म के अन्तर्गत भृगुभरद्वाज के संवाद में लिखा है कि:—

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १ ॥
ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक्फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ २ ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ ३ ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥४॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥५॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात्।

व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ ६ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ॥
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥ ७ ॥
सुखदुःखयोर्ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थः—इस प्रकरण में पहिले यह प्रश्न उठाया गया है कि वृक्षों में जीव और पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां हैं वा नहीं इसी का उत्तर पूर्वोक्त श्लोकों में दिया गया है कि आकाशादि पांचों तत्त्वों का मेल वृक्षों में है और पांच भूतों से बने पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां भी इन में हैं इसी कारण जीव भी इन में अवश्य मानना चाहिये क्योंकि गुणी के बिना गुणों की स्थिति कहीं भी नहीं देखने में आती। पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति जीवात्मा के सहयोगी साधन हैं जहां जीवात्मा का निवास नहीं वहां ज्ञानेन्द्रियों का कोई काम कदापि नहीं हो सकता तो ज्ञानेन्द्रियों के काम से जीव का होना सिद्ध हो गया। यद्यपि वृक्ष की पिण्डी आदि के सब अवयव सम्मिलित हैं तथापि उन में आकाश तत्त्व का काम होता अर्थात् आकाश उन के भीतर विद्यमान है क्योंकि फूल फल वृक्ष के भीतर से समय २ पर सदा निकला करते हैं। यदि अवकाश भीतर न होता तो किसी वस्तु का निकलना पैठना नहीं बन सकता। निकलने पैठने का मुख्य हेतु आकाश तत्त्व ही है। कोई कहे कि ऐसे तो पत्थर आदि में भी आकाश होना सिद्ध हो सकता है इस का उत्तर यह है कि इस पर हमारा विवाद नहीं कि पत्थर आदि में आकाश नहीं है किन्तु हमारा कहना यह है कि वृक्षों में आकाश का काम जैसे स्पष्ट दीखता है वैसा पत्थर में नहीं। कदाचित् पत्थर में आकाश का होना सिद्ध भी हो जाय तो हमारी कुछ हानि भी नहीं परन्तु आकाशादि का होना पत्थरादि में सिद्ध भी हो जाय तो वे चेतन वा सजीव नहीं हो सकते क्योंकि सजीव होने की सामग्री एक यही नहीं है किन्तु बहुत है जो पूर्व से लिखते आये हैं ॥१॥ वायु और अग्नि तत्त्व भी वृक्षादि में हैं अग्नि के बढ़ने से वा ग्रीष्म ऋतु में अधिक ताप पहुंचने से उन वृक्षों पर उदासीनता छा जाती है। उनकी त्वचा और फलफूल मुरझाय जाते वा गिर जाते हैं इस से मालूम होता है कि वायु का कार्य स्पर्शेन्द्रिय इन में है क्योंकि

जिस के स्पर्श इन्द्रिय नहीं उस को बाहरी सरदी गर्मी व्याप्त होकर कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकती ॥२॥ वायु अग्नि और विद्युत् की गर्जना के शब्दों से वृक्षों के फल फूल गिर जाते हैं इस से प्रतीत होता है कि वृक्षों में शब्द सुनने के श्रोत्र इन्द्रिय की शक्ति विद्यमान है। क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय के विना भयङ्कर शब्द का भय किसी के भीतर जाकर कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता। जैसे किसी अत्यन्त बधिर मनुष्य को कैसा ही कठोर वा कोमल वचन कहा जाय जिस को वह कान से न सुन पावे तो उसे कुछ भी हर्ष शोक न होगा ॥३॥ लता की वेल वृक्षादि पर लिपटती और सब ओर को बराबर चढ़ती जाती है इस से जान पड़ता है कि वृक्षों में देखने की शक्ति है क्योंकि जिस में देखने की शक्ति नहीं वह मार्ग में नहीं चल सकता। यदि कोई कहे कि अन्धे भी तो विना नेत्रों के मार्ग में चलते हैं। तो इस का उत्तर यह होगा कि वे बुद्धिस्थ नेत्रों से देख कर चलते हैं। नेत्रों की बाहर निकलने वाली शक्ति अन्धे की बुद्धि में आ जाती है और इन्द्रिय गोलकमात्र बिगड़ जाता है किन्तु इन्द्रियशक्ति नष्ट नहीं होती। और वृक्षादि में भी प्रसिद्ध इन्द्रियों के गोलक हम नहीं ठहराते किन्तु इन्द्रियों की शक्ति के काम उन में दीखते हैं इस कारण इन्द्रियशक्ति उन में मानने की आवश्यकता है ॥४॥ अच्छे २ शुद्ध सुगन्ध और नाना प्रकार की धूपों से वृक्ष नीरोग और फल फूल देने वाले हो जाते हैं इस से ज्ञात होता है कि उन में सूंघने की शक्ति विद्यमान है। क्योंकि जिस में गन्धग्रहण की शक्ति नहीं उस में सुगन्ध दुर्गन्ध प्रवेश कर कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता है ॥५॥ पाद अर्थात् जड़ों से पृथिवी के जल को पीते वा अपने में लेते और वृक्षों को जल के विकार से रोग भी होते दीखते हैं तथा रोगों की ओषधि वा रोग हटाने के उपाय से आराम भी होता दीखता है इस से सिद्ध है कि जिह्वा इन्द्रिय की शक्ति वृक्षों में है। यदि रसग्रहण की शक्ति न हो तो जल का पीना तथा रोग का होना वा रोग की निवृत्ति किसी रसादि के संयोग से होना सम्भव नहीं। पादप शब्द भी संस्कृत वाणी का है उस का अर्थ सर्वसम्मत यही होता है कि "पादैः पिबन्ति ते पादपाः" पगों से जल पीते हैं इस कारण उनका नाम पादप है ॥ ६ ॥ जैसे छोटी नली-रूप मुख से कोई जन्तु ऊपर को जल खींचे वैसे पवनसंयुक्त वृक्ष अपने पग-रूप मुख से जल पीते हैं। अर्थात् वृक्ष की जड़ों को उन का मुख समझना चाहिये ॥ ७ ॥

मांसभक्षणविषय पर हिन्दीप्रदीप की सम्मति

हिन्दीप्रदीप ने मांसभक्षणविषय पर जो कुछ लिखा है उस पर कुछ लिखने की मुझ को इस कारण आवश्यकता प्रतीत हुई कि सम्पादक हिं० प्र० के प्राय: लेख निष्पक्षपात होते हैं और तदनुसार यह लेख भी किसी का पक्ष लेकर नहीं लिखा गया किन्तु समयानुकूल अपने अनुभव को प्रकाशित किया है। यद्यपि लेख निष्पक्ष विचार से लिखा गया है तथापि दीर्घदृष्टि और वेदादिशास्त्रों के सिद्धान्त को समझ कर लिखा प्रतीत नहीं होता। और यह नियम नहीं है कि जो कोई निष्पक्ष होकर कहे वा लिखे वह सब वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्तानुकूल भी हो ही जावे किन्तु यह नियम अवश्य है कि उस पक्षपातरहित मनुष्य ने वेदादि के सिद्धान्त को जानने और भूत भविष्यत् को दूर तक शोचने में जितनी योग्यता प्राप्त की होगी उसी के अनुसार वह लिख वा कह सकेगा। जैसे किसी मनुष्य ने सिद्धान्त से विरुद्ध कुछ सुन समझ कर जान लिया वा मिथ्या को सत्य समझ लिया तो जैसा उस के मन में है वैसा लिखना वा कहना निष्पक्ष अवश्य होगा परन्तु सर्वानुकूल भी हो यह नहीं कह सकते। जो मन में है वही वाणी से कहे वा लिखे इस अंश में वह निर्दोष भी माना जायगा। पर यह भी विधिवाक्य है कि सत्य का खोज करे सत्यासत्य का विवेक कर निश्चय करे कि सत्य क्या है। इस अंश में वह दोषी भी होगा कि उसने सत्य का ठीक २ खोज क्यों नहीं किया अर्थात् मनुष्य के निष्पक्ष होने पर भी यह सम्भव है कि अल्पज्ञता के कारण उसने उलटा निश्चय कर लिया हो। प्रस्तुत यह है कि हिन्दीप्रदीप का लेख भी वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त से ठीक मिला हुआ वा वेदानुकूल और दीर्घदृष्टि के अनुकूल नहीं है किन्तु कई अंश में वेदादिशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध और दीर्घदर्शिता से रहित है। मैं हिन्दीप्रदीप के लेख का सब अनुवाद यहां नहीं लिख सकता किन्तु आशयमात्र लिखकर अपनी सम्मति लिखूंगा ॥

हि०प्र०—इस में सन्देह नहीं मांसभोजन निषिद्ध काम और परमार्थ तथा मोक्षसाधन का विरोधी अवश्य है किन्तु मांसभोजन वेदों में निषिद्ध किया गया है और लोक में अनुपकारी है इसे कोई न मानेगा। वेद के दो हिस्से हैं ज्ञान-काण्ड और कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड में विधान की कौन कहे मांसभोजन का निषेध

सैकड़ों स्थान में पाया जायगा । पर कर्मकाण्ड के एक दो मन्त्रों का नहीं बरन अध्याय की अध्याय इसी के सम्बन्ध में है ।

उत्तर—एक अंश में यह लेख सत्य है कि ज्ञानकाण्ड जो केवल परमार्थ से सम्बन्ध रखता है वहां हिंसा का सर्वथा निषेध है और कर्मकाण्डसम्बन्धी वेद वा वेदानुयायी धर्मशास्त्रों में कहीं २ हिंसा को भी कर्त्तव्य बताया और उस को हिंसा नहीं माना किन्तु अहिंसा ही ठहरा दिया है । परन्तु मांसभक्षण को भक्ष्य वा उपकारी वहां भी नहीं कहा । जैसे मनुस्मृति में कह दिया कि ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

जो कोई हिंसक मनुष्यादि प्राणी अपने को मारने के लिये सन्नद्ध चला आता हो उस को विना विचारे मार दो उस के मारने में मारने वाला पापी वा दोषी नहीं होता यह उदाहरणमात्र है इसी प्रकार लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये वेदादि शास्त्रों के अनेक स्थलों में हिंसा का विधान है परन्तु परमार्थ में किञ्चिन्मात्र भी हिंसा नहीं यह ठीक है । हि० प्र० ने मांसभक्षण के विचार के कोई मन्त्र लिखे होते कि बकरा आदि को इस प्रकार काट २ खाओ तब तो हम उन मन्त्रों पर कुछ विशेष विचार करते अब तो सम्पादक के आशय पर ही कुछ लिखना है । उन के वहुत से लेख का आशय यही है कि "मांसभोजन परमार्थ का सर्वथा विरोधी और संसारी उन्नति मांसभोजन के विना कदापि नहीं हो सकती इस कारण संसारी उन्नति के लिये सर्वथा उपकारी है" सो यह कथन शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है किन्तु इतना ही उचित और ठीक है कि हिंसा के सर्वथा त्याग से संसारी व्यवस्था ठीक नहीं चल सकती और संसार की उन्नति में भी एक प्रकार रुकावट हो सकती है । इस लिये जिन प्राणियों के मारने वा मरवाडालने से जगत् की व्यवस्था धर्मानुकूल चले वह राजादि मनुष्यों का कर्त्तव्य है । संसारी कर्त्तव्यों की उन्नति मांसभक्षण के विना सर्वथा हो सकती है इसी लिये हमारे शास्त्रकारों ने धर्म के लक्षणों में अहिंसा को पहिला धर्म माना है और हिंसा को सब अधर्मों का मूल भी ठहरा दिया है और मांस कभी हिंसा किये विना प्राप्त ही नहीं हो सकता फिर जो मनुष्य

गया मांसभक्षण से जगत् की उन्नति मानता है उस का यह सिद्धान्त स्पष्ट सिद्ध हो कि अधर्म से संसार की उन्नति होती है और अधर्म से उन्नति होगी तो धर्म से अवनति होना अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ। पर हमारी समझ में अधर्म से कभी किसी की उन्नति नहीं होती किन्तु धर्म से ही उन्नति होती है। हमारे शास्त्रों में भी सहस्रों वचन ऐसे मिलेंगे जिनसे यही सिद्ध होगा कि धर्म से उन्नति होगी और धर्मानुकूल ही सब काम करने के लिये आज्ञा दीगयी है। जैसे—

> धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
> धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते॥

धर्म से राज्य को प्राप्त करे और धर्म से ही प्रजा की रक्षा करे और धर्मानुकूल धन का सञ्चय करे तो वह राज्य और धन बहुत काल तक उस धर्मात्मा का साथी होता है छल कपटादि वा हिंसादि से प्राप्त किया राज्य दीर्घकाल तक सुखदायी नहीं हो सकता। इस प्रसङ्ग में हमारा यह कथन नहीं है कि अधर्म से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि कोई मनुष्य भूखा है वह चोरी करके किसी के पदार्थ को खा ले वा धनहीन मनुष्य चोरी के धन से धनाढ्य हो जाय परन्तु जो सुख और सम्पत्ति की स्थिरता धर्मानुकूल प्राप्ति करके भोगने में होगी वह चोर को त्रिकाल में प्राप्त होना असम्भव है। यदि हिन्दीप्रदीप का यह आशय हो कि—मांसभक्षण को हम भी अधर्म वा निकृष्ट कर्म ही मानते हैं किन्तु धर्म नहीं तब एक तो उन को वेद में अधर्म करने की आज्ञा माननी होगी क्योंकि वे लिख चुके हैं कि वेद के सहस्रों मन्त्रों में मांसभक्षण की आज्ञा है। द्वितीय अधर्म उपकारी हुआ तो धर्म आप ही अनुपकारी होगा। यदि मांसभक्षण को धर्मानुकूल मानें तो उन को बताना चाहिये कि धर्म का कोई खास भेद है वा किस धर्म के लक्षण से मांसभक्षण का सम्बन्ध है?। हमारी समझ में धर्म के किसी लक्षण के साथ मांसभक्षण का सम्बन्ध कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। यदि धर्म अधर्म दोनों से भिन्न मानना चाहें तो वह अशिष्टाप्रतिषिद्ध हुआ। अर्थात् जिस के लिये शिक्षा की गयी कि ऐसा करो वह धर्म और वेदादि शास्त्रों में जिस का निषेध किया गया कि ऐसा मत करो वह अधर्म है और जिस के करने न करने का विधि निषेध दोनों ही नहीं वह अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहाता है जैसे हिचकी लेना शरीर खुजलाना, चलना फि-

ना बैठना उठना देखना सुनना इत्यादि कामों में अधिकार है जिस को जब चाहे करे वा न करे "नैव तद्दोषाय भवति नाभ्युदयाय" उस के करने न करने से पुण्य पाप नहीं लगते। ऐसा मानें तो मांसभक्षण को जगत् का उपकारी कदापि न ठहरा सकेंगे। यदि कहें कि मांसभक्षण के विषय में वेदादि शास्त्रों में जो लेख हैं वे सिद्धानुवादपरक हैं किन्तु विधि निषेध दोनों ही नहीं अर्थात् जैसे कहा है कि—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥ मनुः

जङ्गम प्राणियों का भोजन स्थावर, दांतवालों का भोजन अन्न, विना दांतवाले हाथवालों का भोजन, विना हाथवाले और शूरों का भोजन डरपोक प्राणि हैं। यह सिद्धानुवाद है कि दांतोंवाले प्राणी विना दांतवालों को खाजाते हैं वा बलवान् निर्बल को दबा लेता है किन्तु ये विधिवाक्य नहीं हैं कि दांतवालों को चाहिये कि विना दांतवालों को खाजावें वा बलवान् निर्बल को दुःखित करे इत्यादि। तो यह किसी अंश में ठीक है। अर्थात् इस में कुछ हमारी भी सम्मति मिलेगी कि वेदादि शास्त्रों में अनेक सिद्धानुवाद वाक्य भी हैं जिन को शास्त्र की मर्यादा ठीक २ न जानने वाले विधिवाक्य समझ कर भ्रम में पड़जाते हैं परन्तु वेदादि में संसार की विशेष हानि करने वाले अर्थात् उन के वर्त्तमान रहने से जितना उपकार हो सकता है उस से सैकड़ों गुणी हानि पहुंचाने वाले प्राणियों को मारने की आज्ञा भी है ऐसा मानने से बहुतसा विवाद मिट जाता है और यह सिद्धान्त अधिक सम्मत हो सकता है। परन्तु ऐसा होने पर भी मांस भक्ष्य नहीं ठहर सकता। यदि कोई कहे कि मांस नीच प्रकृति मनुष्यों का भक्ष्य रहो तब यह दृष्टान्त लाना पड़ेगा कि जैसे चोरी करना—चोरों का काम है अच्छों का नहीं वैसे मांसभक्षण भी रहा तो वह कर्त्तव्य नहीं ठहरा वा अच्छा काम नहीं हो सकता मांसभक्षण का सम्बन्ध अधर्म के साथ है यह बात वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। मांसभक्षण विषय में जो विवाद है वह धर्माधर्म बुद्धि से है। इस में एक दल तो इस को स्पष्ट ही अधर्म सम्बन्धी काम ठहराता और अधर्मसम्बन्धी ठहरने के लिये वेदादि शास्त्रों से मसाला भी भरपूर मिलता है इसी कारण मांस को अधर्म कहने वाले खुले मैदान

खड़े हैं और उन के आत्मा में किसी प्रकार का लज्जा, भय वा संकोच नहीं है किन्तु वैसा करने के लिये प्रतिदिन उत्साह ही बढ़ता जाता है। परन्तु द्वितीय पक्षवालों को लज्जा भय संकोच दिन २ घेरते हैं और वे लोग सब कुछ भीतरी साहस बांधते अवश्य हैं पर लज्जादि उन्हें सदा दबाते हैं। इसी कारण मांस-भक्षण को धर्म कहने में हिचकिचाते हैं। जिस को परीक्षा करना हो वह किसी मांसभक्षण के पक्षवाले से पूछ देखे कि तुम मांसभक्षण को धर्म मानते हो? तो वह इधर उधर की लम्बी चौड़ी पचाश बातें तो कह डालेगा परन्तु एक शब्द न कहेगा कि हां! मांसभक्षण धर्म है। हम और दूर क्यों जावें हमारे सहयोगी हिन्दीप्रदीप ने इतना लम्बा चौड़ा लेख तो लिखा परन्तु यह कहीं स्पष्ट नहीं लिखा कि मांसभक्षण धर्म है। क्योंकि वही संकोच इन को भी दबाता रहा। यद्यपि हम लिख चुके हैं कि हिन्दीप्रदीप का लेख किसी पक्ष को ले कर नहीं लिखा गया तथापि यह लेख शास्त्र और युक्तियें के सर्वथा अनुकूल नहीं है॥

हिं० प्र०—आर्य जाति जो इस समय पृथिवी भर की जितनी जाति हैं सब से निर्बल और हतोत्साह है उस का एक कारण मांसभोजन से परहेज़ का होना है॥

उत्तर—यह युक्ति सर्वथा निर्बल है। यदि यह सत्य होता तो आर्यजाति में जो सहस्रों मनुष्य मांसभक्षण बहुत काल से करते आते हैं वे सब उत्साही और बलिष्ठ होते और निरामिषभोजी प्रायः निर्बल और हतोत्साह होने चाहिये थे परन्तु ऐसा नहीं दीखता किन्तु इस से विरुद्ध प्रत्यक्ष दीखता है। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जिन को सम्पादक हिन्दीप्रदीप ने ही साढ़े तीन के परि-गणन में महर्षि लिखा है। सब कोई जानता है कि आजन्म मरणपर्यन्त निरामिष भोजी रहे उन का साहस उत्साह और शारीरिक आत्मिक बल भी सब पर प्रकट है। अर्थात् स्वा० दया० जी इस समय में अद्वितीय साहसी वा उत्साही रहे यह प्रायः लोग जानते और मानते हैं। इसी प्रकार अब भी कितने ही मनुष्य जो भारत वर्ष के सुधार के लिये कटिबद्ध सदा रहते और अपने जीवन को इसी काम में समाप्त कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं जिन को दिन रात यही चिन्ता लगी है उन में प्रायः मांसभोजी नहीं है। इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त मिलें गे। हम दूर क्यों जावें हमारे सहयोगी सम्पादक हिन्दीप्रदीप भी देश-

हितैषी लोगों की कोटि में गणना होने की योग्यता रखते हैं। पर जहां तक मुझ को ज्ञात है वे मांसभोजी नहीं हैं। हमारे यहां के इतिहासादि को हम विचारें और अनेक ऋषिप्रणीत पुस्तकों के सारांश को देखें तो आर्य और दस्यु वा देव और असुर आदि नामक दो जाति सृष्टि के आरम्भ से चली आती हैं और इन दोनों का देवासुर संग्राम भी स्वभावों के विरुद्ध होने से सदा ही से चला आया और चला जायगा। और ध्यान देकर शोचने से यह भी निश्चय हो सकता है कि मांसभक्षण करने वाले असुरकोटि के मनुष्य और निरामिष भोजी सामान्य कर दैवीकोटि के मनुष्य हैं क्योंकि भगवद्गीता में दैवीसम्पत्ति के लक्षण लिखे हैं अ० १५—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनम् ॥

निर्भयता अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान और योग की ओर चित्त लगना। हिंसा का त्याग सत्य का वर्त्ताव क्रोधरहित होना दानशीलता शान्ति और चुगुली का छोड़ना इत्यादि दैवीसम्पत्ति के लक्षण हैं तब इस से विरुद्ध भीरुपन हिंसाशील होना आदि आसुरीसम्पत्ति के लक्षण सिद्ध हो गये। भगवद्गीता के १५ अध्याय में देव और असुर स्वभाव के वर्णन में बहुत से श्लोक हैं उनको यहां लेख बहुत अधिक बढ़जाने के भयसे नहीं लिखते। अब शोचना चाहिये कि दैवी शक्ति बलवान् और उत्साही हो सकती है वा आसुरी?। जब निर्भयता दैवीसम्पत् है तो डरपोकपन आसुरी सम्पत् हुई यदि निर्भय मनुष्य उत्साही साहसी न होगा तो क्या डरपोक होगा?। युक्ति से भी शोचो तो चोर सदा भयभीत रहता और धर्मात्मा सदा निर्भय वा उत्साही होता है। और यही बात इतिहासों से भी सिद्ध होती है। श्री कृष्णचन्द्र जो बड़े प्रतापशाली महात्मा थे उस समय दैवीकोटि में अग्रगन्ता रहे और कंसादि सब आसुरी कोटि के थे जिन को श्रीकृष्ण जी ने ध्वस्त किया। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि पाण्डव दैवदल के और कौरव आसुरी दल के मनुष्य थे वहां भी दैवकोटिस्थों का विजय हुआ। राजा रामचन्द्र जी आर्य वा देवकोटि में थे और रावण प्रसिद्ध ही असुराध्यक्ष था वहां भी दैवीदल का विजय हुआ ऐसे सहस्रों

उदाहरण मिलें गे । इन्द्र वृत्रासुर का युद्ध जिस को वेदादि सच्छास्त्रों में इन्द्र-नाम सूर्यदेव और मेघनामक असुर का संग्राम माना है यह भी देवासुर संग्राम है यहां भी सूर्य का विजय और मेघ का छिन्न भिन्न हो कर पृथिवी पर गिरनारूप पराजय सदा ही दीख पड़ता है । प्रकाशक वस्तु सब देवकोटि में और अन्धकार करने वाले असुर कोटि में है तथा धर्म वा धर्मोपयोगी और धर्मात्मा देव तथा अधर्म वा अधर्मी सब असुरकोटि के हैं । जड़ चेतन का कुछ नियम नहीं किन्तु दोनों प्रकार के प्राणी वा अप्राणी देव तथा असुर हो सकते हैं । यद्यपि हमारा यह पक्ष नहीं है कि असुरदल का कभी विजय नहीं होता क्योंकि इतिहासों के अनेक स्थलों में स्पष्ट ही असुर दल का भी विजय लिखा है और हम को भी स्वीकार है कि आसुरीमाया प्रबल है । पर विचारणीय यह है कि संपादक हिं० प्र० के अभिप्रायानुसार आसुरी काम करने वालों की ही उन्नति हो सकती और उन्हीं का विजय होता वे ही बलवान् होते हैं सो यह ठीक नहीं यही हमारा लक्ष्य है । अब यह और विचारना है कि जब देवदल की भी उन्नति वा विजय होता और असुर दल का भी होता है तो इन दोनों में प्रबल कौन होगा । इस पर हमारी सम्मति है कि अन्त में सदा देवदल का विजय रहेगा । और देवदल का बल वास्तविक दृढ़ बल है किन्तु असुरदल की जो उन्नति और विजय होगा वह वास्तविक और चिरस्थायी कदापि नहीं हो सकता किन्तु उसका नाम उन्नत्याभास वा विजयाभास होगा । जिस उन्नति में पूर्ण सुख नहीं जहां सदा भय लगा है चित्त में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प घेरे हैं वहां राज्यादि अधिकार वा धन सम्पत्ति ऐश्वर्य की वृद्धि हो जाने पर भी हिलचल बनी है सुख और शान्ति नहीं है तो शोचिये क्या उन्नति का फल हुआ ? । बस आसुरी सम्प्रदाय की उन्नति और विजय इसी प्रकार का हुआ करता है । और यदि कुछ लेश मात्र सुख भी है तो वहां भी कुछ दैवी काम मिश्रित हैं उन्हीं के संयोग से होगा क्योंकि सत्त्व गुण की अधिकता में देवकोटि रजोगुण की प्रबलता में असुर तथा तमोगुण में राक्षसादि दल की गणना है सत्त्वगुण में सुख का उदय वा प्रकाश रजो गुण में दुःख की अधिकता तमोगुण में अज्ञानान्धकार की प्रवृत्ति है । जब रजोगुण का लक्षण ही दुःख है तो वहां सुख कहां फिर जो आसुरी रजोगुणी मनुष्य को कभी कुछ सुख प्राप्त होता है वह सत्त्वगुणसम्बन्धिनी दैवीसम्पत्ति के संयोग से होता है यही ठीक मन्तव्य

है। इस समय के अनेक मनुष्यों का ऐसा अनुभव (खयालात) प्रतीत होता है कि देखो अंग्रेज जाति की आज कैसी उन्नति है सुख भोग के सब सामान उपस्थित हैं और उस जाति के प्रायः सभी लोग मांसमद्यादि का सेवन करते हैं यदि मांसभक्षणादि बुरे काम होते तो बुरे कामों से कभी किसी की उन्नति होना सम्भव नहीं फिर इनकी उन्नति क्यों हुई ? । जिन कामों से उन्नति हो वे अच्छे और जिन से अवनति हो वे बुरे यही अच्छे बुरे का लक्षण होना चाहिये । कारण मांसभक्षण को अच्छा काम मानना चाहिये ॥

उत्तर—इस का कुछ उत्तर तो हमारे ऊपरी लेख में आ चुका कि प्रथम वास्तविक उन्नति अंग्रेज जाति की भी नहीं है क्योंकि भीतर घुसकर खोजना चाहो तो स्थिरता पूर्वक सुख और शान्ति बहुत कम मिले गी। किन्तु जैसे कोई धन हीन मनुष्य जब अपने से कुछ अच्छी हालत वाले को धनाढ्य और सुखी समझता है पर बड़े २ श्रीमानों के सामने वह कुछ भी धनाढ्य नहीं ठहरता किन्तु दुःखी वा दरिद्रों की कोटि में गिना जाता है । इसी प्रकार हम लोग जो महानिकृष्ट दशा में आगये उन की अपेक्षा अंगरेज जाति अवश्य कुछ अच्छी दशा में है । सो इस अच्छी दशा का कारण मांसभक्षणादि नहीं है किन्तु उस जाति में बहुत से ऐसे गुण वा काम हैं जिन को हम दैवीसम्पत्ति कह सकते हैं और उन्हीं कामों के प्रभाव से उस जाति की कुछ उन्नति वा उस समुदाय को सुख है और वे काम एक दो नहीं हैं कि जिन का परिगणन किया जाय। तथापि कुछ लिखते हैं—

१—स्वदेशभक्ति एक बड़ा गुण है । आपस में एकता वैरविरोध लड़ाई फूट का कम होना । पहिले अन्तरंग सुधार करना चाहिये पीछे बहिरंग । अपना शरीर अपना घर अपना देश अपनी जाति अन्तरंग है अन्य सब बहिरंग । हमारे यहां आपस में एक दूसरे को खाये जाता है । वैर विरोध लड़ाई झगड़े परस्पर में छलकपट के शस्त्र हरवार चल रहे हैं ।

२—उद्योग करना निकम्मा वा आलसी न रहना सदा नई २ बातें शोचना जिन से आमदनी बढ़े और अन्य लोग प्रसन्नतापूर्वक उस वस्तु का ग्रहण करें हंस कर दाम देवें अपना अहोभाग्य मानें । हमारे देश में इस से विरुद्ध उद्योग का ध्यान नहीं आलस्य निद्रा घेरे है। कमाने वाले कम खाने वाले अधिक हैं । नई बात शोचना कोई नहीं जानता पुरानी लीक पीटे जाते हैं कोई कहे कि

यह काम अच्छा है तो उत्तर देते हैं कि क्या हम बाप दादों की चाल छोड़ देंगे।

३–अनेक प्रकार की विद्या बाल्यावस्था से पढ़ना पढ़ाना अनेक गुण सीखना जिस से कृतबुद्धि होकर किसी का मुख देखने वा पराधीनता से निर्वाह करने की आवश्यकता उन को नहीं रहती स्वयमेव कुछ उद्योग करने का साहस हो जाता है उन लोगों को प्रायः ऐसी चिन्ता नहीं दबाती कि अब हमारा कैसे निर्वाह होगा। हमारे यहां इस से विपरीत है प्रथम तो सब कोई विद्या पढ़ने और गुण सीखने का उद्योग ही नहीं करते और जो करते भी हैं उन को भी पराधीनता नहीं छोड़ती थोड़ी २ नौकरी के लिये अनेकों की खुशामद करनी पड़ती है। स्वतन्त्र व्यवसायी बहुत कम हैं।

४–बाल्यावस्था में विवाह न करना सब कन्या पुत्रों को विद्याभ्यास करा के युवावस्था में विवाह होना।

५–सत्य का व्यवहार जिस के साथ जैसी प्रतिज्ञा करें उस का विशेष कर यथासम्भव यथासमय पालन करना।

६–नियमों पर सदा चलना बिना नियम कुछ काम न करना। जो काम जिस समय से प्रारम्भ करके जिस समय तक करने का नियम हो चुका हो उस को चित्त देकर परिश्रम के साथ सदा करते जाना।

७–दीर्घसूत्रिता वा आलस्य का त्याग जिस काम में लगें उस को साहस के साथ करके छोड़ना कुछ असाध्य न समझना।

८—प्रारब्धवाद को तिलाञ्जलि देकर उद्योगी पुरुषार्थी बनना सदा अपने पुरुषार्थ का भरोसा और विश्वास रखना कि इस काम से यह फल प्राप्त करेंगे। और व्यवसायात्मक बुद्धि होना भी मनुष्य के मनुष्यपन में एक बड़ा भारी साधन है अर्थात् यह निश्चय करना कि यही मेरा कर्त्तव्य है इसी से मेरा कल्याण होगा। आज एक काम किया कल उस को बीच में छोड़ कर दूसरे पर ध्यान दिया इस प्रकार अविश्वस्त चंचल बुद्धि रहने से कुछ भी नहीं बनता। इस के अनन्तर एक, दीर्घदर्शिता भी मनुष्य का बड़ा गुण है कि किसी बहुत काल में सिद्ध होने वाले काम का अन्तिम परिणाम और फल शोच कर वहां तक उस काम को निवाह ले जाना। इत्यादि अनेक अच्छे २ गुण अंगरेजों में हैं जिन के कारण उन की कुछ उन्नति भी दीख पड़ती है। और मांसभक्षणादि कामों से उनकी कुछ

उन्नति नहीं किन्तु किसी प्रकार की अवनति अवश्य है जिस को हम प्रत्यक्ष दिखा सक्ते हैं कि यदि अंग्रेज लोग मांसभक्षी न होते तो मुसलमानों को भी रोक सकते थे कि इस काम से हिन्दु प्रजा को दुःख पहुंचता है। जिस काम को स्वयं राजा अपना कर्त्तव्य समझता है उस से दूसरे को कैसे रोकेगा। अर्थात् यह नियम है कि उपदेशक वा नियन्ता जिस काम को स्वयं कर्त्ता है उस से दूसरे को कदापि नहीं रोक सकता। जैसे कि दोषी को अपराध करने से स्वयं दोषी नहीं हटा सकता। यदि ये लोग मांसभक्षी न होते तो ऐसी अधिकता से भारतवर्ष में गोवध न होता तो प्रजा को इतना कष्ट भी क्यों पहुंचता और क्यों ऐसे २ बड़े उपद्रव होते जिन से राजा को भी अर्थात् अंग्रेजों को भी कुछ २ दुःख उठाने पड़ते हैं क्या इस का प्रत्यक्ष कारण मांसभक्षण का प्रचार नहीं है? । यदि कोई कहे कि हिन्दुओं में भी तो पूर्वकाल से ही मांसभक्षण का प्रचार चला आता है इस पर हमारा उत्तर यह है कि जिस प्रकार के मांसभक्षण से विशेष हानि वा दुःख है वैसा भारत वर्ष में पहिले से कभी नहीं था किन्तु जबसे मांसभक्षण करने वाले मुसलमान आदि विदेशी लोगों का राज्य इस देश में हुआ तभी से यह चला है। पहिले कहीं कसाबखाने नहीं थे मांस के बाजार और दुकानें नहीं थीं मनुष्यों के उपकारी गाय बैल भैंसा बकरी बकरा आदि मार २ नहीं खाये जाते थे किन्तु इस देश में जंगल वन अधिक थे उन में असंख्य जीव जन्तु ऐसे रहते थे जिन को कभी २ मृगया (शिकार) द्वारा क्षत्रिय लोग मारते खाते रहते थे यदि उन प्राणियों को न मारते तो अपने पदार्थों की वा अपनी रक्षा कर सकना भी दुस्तर था वे जंगली हिंसक प्राणी इतने बढ़ जाते कि मनुष्यों को ही खा जाते ऐसी दशा में उन का मारना आवश्यक था। परन्तु खाना कुछ आवश्यक वा कर्त्तव्य नहीं ठहराया गया था। पहिले अन्न कम उत्पन्न किया जाता था तब अन्नादि के अभाव में कोई २ मांस खाते थे वा ग्रामादि में लाकर भी खाते हों पर मांस खाने को धर्म नहीं मानतेथे इस प्रकार का मांसभक्षण भी यद्यपि अधर्म कोटि में ही ठहराया जायगा। तथापि अब की अपेक्षा वह अच्छा था क्यों कि उस हिंसा से कुछ वीरता भी आती थी शस्त्र चलाने का अभ्यास भी बना रहता था। मांसभक्षण से वीरता आती है ऐसे-खयालात के मनुष्य बिलकुल भूल में हैं क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध आज कल जितने भारतनिवासी मांसभक्षण करते हैं उन में वीरता क्यों नहीं

आयी ? पढ़े लिखे मांसभक्षी वा निरामिषभोजी प्रायः भीरु (डरपोक) दीख पड़ते हैं और उद्दण्ड ग्रामीण मूर्ख तथा युद्ध की सामिग्री वाले फौजी लोगों में अवश्य कुछ २ वीर हैं जब मांसभक्षी और निरामिषभोजी दोनों में वीर हो सकते हैं तो मांसभक्षण वीरता का कारण कैसे ठहर सकता है ? ॥

हि० प्र०—हमें अचरज है कि स्वामीदयानन्द से देशोद्धारक जिन के चलाये हुए आर्यमत का वसूल केवल कौम की तरक्की है और जिस की नस २ में राजकीय वातों में आर्यजाति का प्रवल होना भरा हुआ है सो मांसभोजन के इतने विरुद्ध क्यों हो गये ?

उत्तर—यद्यपि हम यह दावा नहीं करते कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के उपदेश वा लेख में किसी बात की त्रुटि व न्यूनता नहीं हो सकती क्योंकि यह प्रतिज्ञा एक सर्वज्ञ ईश्वर के उपदेश पर ही हो सकती है कि उस में किसी प्रकार की भूल न हो पर मनुष्य अल्पज्ञ होने से उस के विचार में भूल रहना असम्भव नहीं तथापि यहां मांसभक्षण प्रसंग में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का विचार वा लेख वहुत ही ठीक है इस में कुछ भी भूल वा त्रुटि नहीं है सम्पादक हिन्दी प्रदीप को आश्चर्य होने का कारण वेदादि के सिद्धान्तानुकूल स्वामी जी के मन्तव्य को ठीक २ न समझ पाना है। हमें भी बड़ा आश्चर्य है कि सम्पादक हि० प्र० जैसे देशहितैषी वेदादिशास्त्रों के सिद्धान्तरूप धर्म के प्रचार को देशोन्नति का कारण न समझ कर मांसभक्षणादि अधर्मजनक कामों को देशोन्नति का कारण मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का सिद्धान्त मुख्य कर यही था और है कि धर्म के ठीक २ प्रचार से ही सब की सब प्रकार उन्नति हो सकती है। वेदादि सच्छास्त्र धर्म का ठीक २ मार्ग बताने वाले हैं इस लिये उन वेदादि के अनुकूल धर्म का उपदेश वा प्रचार करना चाहिये। इसी से सब कुछ सुधार हो सकता है। और मनुष्य की उन्नति तथा सुख का बाधक अधर्म है उस को हटाये विना भी धर्म का प्रचार नहीं हो सकता इसी लिये धर्म विरुद्ध मांसभक्षणादि का खण्डन किया। जैसे अन्धकारादि प्रतिकूल की निवृत्ति का उपाय हुए विना प्रकाशादि इष्ट की प्राप्ति ठीक २ नहीं हो सकती। इस मांसभक्षणविषय पर आर्यसमाजस्थों में जो विवाद हो गया है वास्तव में वह शोचनीय दशा है। हमारी समझ में जो लोग मांसभक्षण को धर्मानुकूल ठहराना वा देशोपकारी मानना चाहते हैं

और इसी बुद्धि से प्रचार करते हैं वे लोग आर्य कहाने वा आर्यसमाज में रहने योग्य ही नहीं हैं ॥

जो लोग अत्यन्त दृढांग और बलिष्ठ हो रहे हैं वे सेरों मांस खा कर ही हुए हों तो हिन्दुजाति के लोग जितने मांसभक्षी हैं वे अब तक उन के तुल्य बलिष्ठ वा दृढांग क्यों नहीं हुए ?। हिन्दुओं में भी मांसभक्षी हजारों नहीं किन्तु लाखों हैं वे ही अब तक स्वयं सुधर कर कुछ देश की उन्नति कर लेते। जब हम ध्यान देकर शोचते हैं तो यही सिद्ध होता है कि साहस उत्साह वीरता निर्भयता देशहितैषिता वा परोपकार आदि गुण किसी खास वस्तु के खाने पीने से सम्बन्ध नहीं रखते और यदि कुछ सम्बन्ध रखते हैं तो शुद्ध और सारबुद्धिवर्धक वस्तुओं के भोजन से तथा मुख्य कर ये गुण प्राकृतिक हैं जिस को जातीय गुण कह सकते हैं। जो कि माता के गर्भ से ही उत्पन्न होते और माता पिता के शरीर से रज वीर्य में समयानुसार जो गुण आता वही प्राकृतिक वा जातीय गुण माना जाता है सिंह का बच्चा चाहे जितना निर्बल हो वह अपने से सहस्र गुण बलवान् जन्तु पर भी धावा करने का साहस रखता है इस से सिद्ध हुआ कि बल का अधिक होना साहसादि का कारण नहीं फिर मांसभक्षण को सुधार का हेतु किस प्रमाण से कोई माने। हां ! यह बात ठीक है कि विषयासक्ति वा व्यभिचार की वृद्धि से मनुष्य का सर्वस्व बिगड़ जाता है और उस में साहसादि गुण नाम निशान को रह जाने दुस्तर हैं और यह प्रत्यक्ष भी है कि अधिक विषयासक्ति में फसे सहस्रों मनुष्य वर्त्तमान में मांसमद्यादि निरन्तर खाते पीते हैं परन्तु उन में साहसादि गुण वा मानस बल कुछ नहीं दीखता परन्तु ऐसे अनेक मिलें गे जिन का ब्रह्मचर्य किसी कारण कुछ बना है क्षीणवीर्य नहीं होने पाये वे साहसादि गुणवान् अवश्य हो सकते हैं। महाभारत में भीष्मपितामह आजन्ममरणान्त ब्रह्मचारी रहे यह लेख है उनके आचरण भी सब शुद्ध थे मांसादि भक्षण भी नहीं करते थे परन्तु लाखों मनुष्यों में सर्वोपरि साहसी वा निर्भय थे यह प्रसिद्ध है। जब मांसभक्षण करने वालों में भी विषयासक्ति की अधिकता वा अन्य बल वृद्धि के काम न होने से शारीरिक निर्बलता प्रत्यक्ष है और निरामिषभोजी जितेन्द्रिय पुरुषों में भी वैसे गुण दीखते हैं तो स्पष्ट ही जितेन्द्रियता के गुण सिद्ध हो गये। मनुस्मृति में लिखा है कि " जितेन्द्रियो शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः " राजा जितेन्द्रिय हो तो प्रजा को वश में

रख सकता है पर ऐसा कहीं नहीं लिखा कि मांसभक्षी हो तो प्रजा को वशकर सकता है ॥

खं० हिं० प्र०—अथवा स्वामी (दयानन्द सरस्वती जी) दूरदर्शी अवश्य थे उन्हों ने सोचा कि इनदिनों के पतित दुराचारी यों ही सर्वभक्षी हो रहे हैं इन को जो अभीष्ट है उस का अनुमोदन करते रहेंगे तो इन को अपने दुराचार के लिये ढाल मिल जायगी । इस लिये मांसभोजन की जड़ कटी रहे तो इसी में देश का कुछ कल्याण है । साथ ही गोरक्षा के लिये भी तन मन से उद्यत हुए इस हालत में मांस का निषेध अनुचित नहीं जान पड़ता ।

उत्तर—यद्यपि सम्पादक हिन्दीप्रदीप ने इस उक्त लेख के आगे पीछे कुछ २ इस से भिन्न स्वामी दया० जी के विषय में लिखा है तथापि हम प्रत्यक्षर वा वाक्यमात्र का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते और इन के आशय का जब उत्तर दिया गया तो प्रायः सब बातों का उत्तर आ भी चुका उस को शब्दान्तरों से वार २ लिखना व्यर्थ है । यह बात सत्य है कि इस समय भारतवासी मनुष्य जैसे पतित और दुराचारी हैं ऐसे सृष्टि के आरम्भ से अब तक कदाचित् ही हुए हों और जो कुछ इस देश की अवनति हुई वा हो रही है उस का मूल कारण ये ही हैं सो भी नागरिक सभ्य और शिक्षित कोटि में बनने वाले अधिक दुराचारी हैं ग्रामीण सीधे मनुष्यों में पापी कम हैं वा हैं भी सो छोटे पापी हैं और शिक्षितों में बड़े २ पापी हैं इन्हीं में से अनेक आर्यसमाज में भी घुस पड़े और आर्यसमाज के शुद्ध निर्दोष वैदिकसिद्धान्त को कलंकित करते कराते हैं । अब दुःख तो यह है कि शुद्ध सच्चे मनुष्य बहुत कम हैं इसी से उन की कुछ चलती नहीं उन को चालबाजी आती नहीं इस से घालमेल ऊटपटांग चल रही है । यदि शुद्ध सच्चे मनुष्य आधे भी होते तो वे अलग छिक जाते और सामाजिक सिद्धान्त को शुद्ध रीति से फैलाने का उद्योग करते । यद्यपि गोरक्षा का उपाय करना स्वा० दया० जी को अभीष्ट था वे चाहते थे कि भारतवर्ष में गोवध होना बन्द हो जाय इसी विचार से गोकरुणानिधि बना कर छपाया था और अनेक मनुष्यों के हस्ताक्षर कराना आरम्भ किया था कि पारलियामेण्ट तक निवेदन किया जाय कि गोवध से हम भारतवासियों को महादुःख है तथापि उन की यह चाल नहीं थी कि मांसभक्षण को धर्मानुकूल वा उपकारी जान कर भी मनुष्यों

को अधिक फसा देख कर खण्डन किया हो किन्तु उन का वही आशय था जो मैं पूर्व लिख चुका कि वे मांसभक्षण को धर्म से विरुद्ध और अनुपकारी मानते थे। उन्हों ने अपने पुस्तकों में मांस को अभक्ष्य ठहराया है और जंगली सुअर वा अरणा भैंसा का दृष्टान्त भी दिया है कि ये मांसाहारी जीव नहीं हैं तथापि अनेक मांसाहारियों की अपेक्षा कैसे साहसी और बलवान् होते हैं सो भी प्रसिद्ध है। इस से मांसभक्षण बलिष्ठ और साहसी होने का कारण नहीं है। अब हम इस विषय पर अधिक लिखना नहीं चाहते। परन्तु हिन्दीप्रदीप का लेख भी इस विषय में देखने योग्य है। आज कल नागरी भाषा के पत्रों में हिन्दीप्रदीप के लेख कई अंशों में सर्वोपरि चढ़बढ़ के होते हैं। एक तो भाषा लिखने की शैली अच्छी है द्वितीय लेख भी निष्पक्ष बुद्धि से लिखे जाते हैं यह पत्र किसी का खुशामदी नहीं है इसी कारण प्रतिष्ठा करने योग्य है और इसी विचार से मैंने इस के लेख पर ध्यान दिया और कुछ सम्मति लिख दी। अन्यथा यदि किसी साधारण पराधीन स्वार्थी लोभी वा खुशामदी का लेख होता तो मैं कदापि लेखनी न उठाता। अब पाठक लोग मेरे और हि० प्र० के लेख को देखें वा विचारें जो अच्छा लगे सो मानें ॥

मांसभोजनविचार ॥

यह पुस्तक राज मारवाड़ स्थान जोधपुर में तीन भाग करके छपा है। मांसभक्षण का विचार (वादविवाद) कुछ काल से ही प्रचरित हो रहा है इसी कारण आर्यसिद्धान्त में भी कई बार लेख छपाया गया। अब इन पुस्तकों पर भी कुछ संक्षेप से समालोचना लिखना अपना कर्त्तव्य काम समझ कर प्रारम्भ करते हैं। पाठक महाशयो! ध्यान देकर देखिये "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" कहावत सिद्ध हो गयी। जिस काम का प्रारम्भ ही अज्ञान वा छलकपटादि से भरा हो उस का शेष व्याख्यान कैसा होगा यह आप स्वयमेव शोच सकते हैं इस के लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। लोक में एक और भी जनश्रुति-कहावत प्रचरित है कि "ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडईनामदर्शनात्" किसी मनुष्य ने किसी बालक से पूछा कि तुम क्या पढ़े हो और तुम्हारा नाम क्या है उस ने कहा

कि मैं तो कुछ थोड़ा ही पढ़ा हूं और मेरा नाम टुडई है परन्तु मेरे पिता बड़े भारी पण्डित हैं । तब उस विद्वान् ने कहा—

ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडई नामदर्शनात् ।

कि तुम्हारे पिता की पण्डिताई तो टुड़ई नाम देखने से ही ज्ञात हो गयी कि वे ऐसे पण्डित हैं । अर्थात् जिस को शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अपने सन्तान का सुलक्षण नाम तक रखना न आया एक ऊटपटांग बेहूदापन का नाम रख लिया वह क्या पण्डित होगा ? । यही कहावत यहां प्रचरित होती है कि पुस्तक बनाने वाले की पण्डिताई " मांसभोजनविचार" नाम रखने से ही खुल गयी और यह भी स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल के टोने से सब के गलजाने का निश्चय हो जाने के समान) से प्रतीत हो गया कि जैसा अज्ञान वा चालाकी इस नाम के रखने में हुई है वैसी पुस्तक भर में होगी। क्योंकि किसी कूप से जैसे गुणवाला जल प्रथम निकलेगा वैसा ही आगे २ निकलना सम्भव है। मांसभोजनविचार—इस नाम में दो प्रकार से अशुद्धि हो सकती है । कै तो शुद्ध अशुद्ध का ज्ञान पुस्तकनिर्माता को नहीं अथवा जान कर चालाकी की गयी । पर अधिकांश में चालाकी ही ज्ञात होती है क्योंकि मांस के साथ भोजन शब्द का प्रयोग न तो किसी शिष्ट ग्रन्थ में दीखता और न लौकिक व्यवहार में कोई जानकार प्रयोग करता है इस से सम्भव है कि पुस्तकनिर्माता को यह मालूम हो कि मांस के साथ भक्षणशब्द का प्रयोग आता है फिर भी जानकर कि भक्षण शब्द किसी प्रकार निन्दित वा शिष्टव्यवहार से पृथक् किया हुआ है इसलिये मांस के साथ शिष्टव्यवहार में लाने योग्य भोजन शब्द लगा कर सुधारें । पर यह नहीं शोचा कि जिस की जड़ ही निकृष्ट है वा जो वस्तु ही निकृष्ट है उस के साथ कैसा ही अच्छा शब्द लगाओ वह कदापि ठीक न होगा । जैसे कोई कहे कि हलुआ का चर्वण करना । यह शब्द जैसे असम्बद्ध है वैसे ही मांसभोजन भी जानो । भुज, भक्ष आदि धातुओं के अर्थों में सूक्ष्म भेद है न तो सब पदार्थों के खाने को भक्षण कह सकते न भोजन किन्तु भिन्न २ पदार्थों के खाने में इन धातुओं का प्रयोग होता है। जो पदार्थ चीचड़ नहीं किन्तु मृदु हैं जिन को दांतों से काट २ कर खाने की आवश्यकता नहीं अर्थात् जिन को विना दांतोंवाले भी चूर्ण कर सकता है उन के खाने को भोजन कहते हैं वा वे

पदार्थ भोज्य कहाते हैं जैसे दालभात वा दूधभात, हलवा, लप्सी, शीरा, खिचड़ी इत्यादि वस्तु भोज्य हैं। रोटी पूरी पुआ मांस आदि भक्ष्य, चटनी आदि लेह्य, आम के फलादि चूष्य और दूध जल आदि पेय वस्तु हैं। जब कि रोटी पूरी आदि के खाने को भी भक्षण कहते वा कह सकते हैं तो वास्तव में भक्षणशब्द का अर्थ निन्दित नहीं परन्तु लोक में किसी कारण वा कभी से शिष्ट लोगों ने भक्षणशब्द को निकृष्ट कोटि में छोड़ दिया है। भखलेना वा भखना यह अपभ्रंश भक्षणशब्द का ही है। तात्पर्य यह है कि मांस के साथ भक्षण शब्द की योग्यता है और भोजनशब्द लगाना अयुक्त है। जैसे कि भात आदि कोमल वस्तु के साथ चर्वणशब्द लगाना अशुद्ध है। इसलिये मांसभोजनविचार लिखना अशुद्ध और मांसभक्षणविचार ऐसा नाम रखना शुद्ध है। यद्यपि कहीं २ सामान्यार्थ-वाचक को विशेषार्थ में और विशेषार्थवाचक को सामान्यार्थ में कोई लोग प्रयोग करते हैं पर वहां ऐसा प्रयोग करने में कुछ कारण भी अवश्य हुआ करता है परन्तु यहां भोजनशब्द का प्रयोग प्रमाद से हुआ हो वा भक्षणशब्द को निन्दित जानकर छोड़ा हो इन दो से भिन्न तृतीय कोई कारण सिद्ध होना दुस्तर है॥

द्वितीय विचारणीय विषय यह है कि पुस्तक बनाने वाले ने अपना नाम भी छिपाया है अर्थात् प्रथम द्वितीयभागों में लिखा है कि एक उपदेशक ने प्रकाशित किया। शोचना चाहिये कि नाम छिपाने से क्या प्रयोजन है। यह प्रसिद्ध है कि अच्छा काम करने वाले को कभी यह विचार नहीं होता कि मुझ को कोई न जान ले किन्तु जगत् में चोरी आदि जितने काम बुरे हैं उनके करने वाले सभी चाहते हैं कि हमें कोई न जान पावे कि अमुक काम अमुक पुरुष ने किया। इस से सिद्ध हुआ कि पुस्तक बनाने वाला भी मांसभक्षण के सिद्ध करने को अच्छा नहीं मानता तथापि स्वार्थवश होकर करने पड़ा। इसी कारण पुस्तक निर्माता को यह भी भय वा सङ्कोच लगा होगा कि यह विषय वास्तव में तो वेदादि शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है ही फिर इस का कोई खण्डन अवश्य कर देगा तो लज्जित होने पड़ेगा। पर यह भी स्मरण रक्खो कि छिप नहीं सकते खोज करने वाले अनेक हेतुओं से जान लेते हैं वा अनुमान कर लेते हैं कि यह काम अमुक पुरुष ने किया है। इस में मेरा अनुमान और विश्वास है कि यह सब लेख व्याकरणाचार्य जी का है। हम पछते हैं कि "ऊखली में शिर दे चोटों का डर क्यों करते हैं" प्रसिद्ध क्यों नहीं खड़े होते। अस्तु जो चाहें करें॥

अब हमारा काम है कि इन पुस्तकों का उत्तर लिखें। इस में पहिले हम द्वितीयभाग का उत्तर लिखना आरम्भ करते हैं। यद्यपि १। २ भागों के उत्तर की विशेष आवश्यकता नहीं क्योंकि हमारा मुख्य मन्तव्य वेद है उस विषयक तृतीय भाग का ही उत्तर देना मुख्य है तथापि सर्वसाधारण को समझाने के लिये प्रथम सीधा २ उत्तर देकर पीछे वेद के गम्भीराशय का विचार लिखा जायगा। द्वितीय यह भी है कि मनुस्मृति आदि आर्ष पुस्तक भी वेदानुकूल होने से हमारे मन्तव्य हैं इस कारण उनका समाधान करना भी हमारा कर्त्तव्य है तथा पुस्तक निर्माता ने भी प्रथम द्वितीय भागों को प्रथम छपाया इस लिये भी पहिले इन का उत्तर देना उचित समझा ॥

यद्यपि इस द्वितीयभाग की भूमिका में बहुतसा असम्बद्ध लेख लिखा है सब का उत्तर देना व्यर्थ समझा तो भी निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है। यहां किसी पूर्वपक्षी का नाम नहीं लिखा इस कारण पूर्वपक्षी का सामान्य नाम मांसाशी रक्खा जायगा जिसका संकेत (मां०) होगा और उत्तरदाता का (उ०) रहेगा।

मांसाशी—मांसखाना पाप है कि नहीं ? यदि है तो प्रमाण दें और यह कहें कि यह महापातक है ? वा पातक है ? वा उपपातक है ? यदि इन में से कोई है तो प्रमाण दें। क्या जाति में से इस के खानेवाले को निकाल देना चाहिये यदि चाहिये तो क्या यह जाति भ्रंशक पाप लिखा गया है ? यदि लिखा है तो प्रमाण दें। और यदि यह अन्य पापों की तरह पाप है तो इस का इन की तरह प्रायश्चित भी कहीं लिखा है यदि लिखा है तो प्रमाण दें॥

उत्तरदाता—नहीं शब्द तुम्हारे मत में रहा। हम स्पष्ट कहते हैं कि मांस-खाना पाप है और प्रमाण भी सुनो ? (पाठक लोगों को ध्यान रखना चाहिये कि इस द्वितीयभाग के उत्तर में जितने प्रमाण दिये जायंगे वे प्रायः मनुस्मृति के ही होंगे। क्योंकि यहां इसी पुस्तक पर विवाद है) जब मनुस्मृति आदि में अहिंसा को बड़ा धर्म और हिंसा को बड़ा पाप माना है और विना हिंसा किये वा कराये मांस की प्राप्ति होती नहीं तो उस का खाना पाप सिद्ध हो गया तथा स्पष्ट भी लिखा है कि-

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥

मनु० अ० ५ । जो पुरुष विद्वानों और ज्ञानी महात्माओं के वेदानुकूल मांसभक्षण के निषेधसम्बन्धी उपदेश का निरादर करके अन्य जीवों का मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है अर्थात् अन्य के मांस से स्वयं मोटा बनना चाहता है उस से अधिक पापी और कोई नहीं ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

मनु० अ० ५ । मारने की सलाह देने वाला, मारने वाला, मरे हुए प्राणियों के शरीर को काटने वाला, बेचने वाला, मोल लेने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खानेवाला ये आठ पुरुष घातक हैं अर्थात् हिंसारूप पाप इन आठों को लगता है। मनुस्मृति में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिन से मांसभक्षण का पाप होना स्पष्ट ही सिद्ध होता है । तथा महाभारत अनुशासनपर्व में लिखा है ।

नहि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥

तृण काष्ठ वा पत्थर से मांस उत्पन्न नहीं होता किन्तु किसी जीव को मार कर मांस मिल सकता है इसलिये मांसभक्षण में पाप वा दोष अवश्य है । क्या प्रश्नकर्त्ता आचार्य जी को इन प्रमाणों से सन्तोष न होगा ?। हमारा प्रश्न भी है कि क्या आचार्य जी के मत में मांसखाना पुण्य है ? यदि पुण्य है तो प्रमाण दो जैसे कि हमने पाप होने का स्पष्ट प्रमाण दिया जब मांसभक्षण में पाप नहीं मानते तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि पुण्य है इसलिये पुण्य सिद्ध करने का भार आचार्य जी पर है । मांसभक्षण सब प्रकार के पातकों से सम्बन्ध रखता है जैसे ब्रह्महत्या महापातक है । यदि कभी किसी मांसभक्षण में तत्पर मनुष्य को किसी प्राणी का मांस न मिले और वह उस का मांस खाने के लिये ही ब्रह्महत्या करे ऐसे प्रसंग में मांसभक्षण महापातक कहावेगा । ऐसे राक्षसी स्वभाव के मनुष्य पहिले हुए यह महाभारत इतिहास में स्पष्ट लिखा है । तथा उपपातक

तो स्पष्ट ही मनु ने लिखा है कि गोहत्यादि सब उपपातक हैं और खानेवाला हत्या के दोष में साथी है यह मनु के सिद्धान्त से सिद्ध हो ही चुका । जब—

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् । मनु० अ० ११४

ईन्धन के लिये हरे वृक्षों का काटना तक उपपातक माना गया तो जीवों की हिंसा क्या उपपातक भी न होगा ?। यद्यपि मनुस्मृति के जातिभ्रंशकर प्रसंग में मांसभक्षण का परिगणन नहीं है तथापि मनुस्मृति के सिद्धान्तानुसार तीन वर्णस्थ धर्मात्मा सज्जन पुरुषों की श्रेणी में मांसभक्षण करने वाला नहीं गिना जा सकता क्योंकि:—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ॥ ९५ का पूर्वार्द्ध

यक्ष राक्षस और पिशाच आदि निकृष्ट प्राणियों का अन्न मद्यमांसादि है। अथवा यों कहो कि मद्यमांसादि के पीने खाने वाले यक्ष राक्षसादि कहाते हैं जिन का खान पान मद्यमांसादि है वे यक्ष राक्षसादि हैं इस कथन से यज्ञशिष्ट सात्त्विक आहार भोजी आर्य वा देवकोटि के मनुष्यों से उन का निकल जाना स्पष्ट ही सिद्ध है । क्या किसी को कोई घर ग्राम वा देश से बाहर निकाल सकता है किन्तु यह काम राजा का है । क्या मांसभक्षणप्रचारक साधु वेषधारी आदि असाधु लोग आर्यसमाज से निकाल नहीं दिये गये ? अब भी क्या पुस्तकनिर्माता को सन्देह ही बना है ?। अब और भी ध्यान देकर सुनिये ? मांसभक्षण पाप अवश्य माना गया इसी लिये भूल से कभी मांस खा लेने वाले को प्रायश्चित्त भी मनुस्मृति के अ० ११ में लिखा है—

जग्ध्वामांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥ १५२ का उत्तरार्द्ध

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मद्यं मांसं कथंचन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८
क्रव्यादशूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६

सामान्य कर किसी प्राणी का मांस वा अन्य कुछ अभक्ष्य वस्तु खा लेवे तो सात दिन तक जौ के सत्तू पानी में घोल कर पीवे ब्रह्मचारी वन के एकान्त में

रहे परमेश्वर का भजन वा जपपाठादि करे तो शुद्ध हो सकता है । कदाचित् कभी भूल से भी ब्रह्मचारी पुरुष मद्य वा मांस पी खा लेवे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत से विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करे तो शुद्ध होता है । कच्चा मांस खानेवाले, सुअर, ऊंट, मुर्गा, कव्वा और गधा आदि का मांस कोई खावे तो वह तप्तकृच्छ्रव्रत का प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो सकता है। आज कल अनेक मांसभक्षण करने वाले लोग वा उन के उपदेशक वा आचार्य भेड़ बकरी वा भेड़ा बकरा को मारना, खाना अपना परम कर्त्तव्य समझते और इन के मांस को सर्वोपरि भक्ष्य मानते हैं सो इन के मारने वा खाने में भी प्रायश्चित्त मनु के अ० ११ में स्पष्ट लिखा है अब कहो एक उपदेशक वा आचार्य जी ! कहां जाओगे ? ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८

गधा घोड़ा ऊंट हरिण हाथी बकरा भेड़ा वा बकरी भेड़ी मछली सांप और भैंसा का मारना संकर बनाता है अर्थात् वह मनुष्य किसी वर्ण में रहने योग्य नहीं रहता किन्तु वर्णसङ्कर होजाता है । इस का प्रायश्चित्त—

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥ १२५वां पूर्वार्द्ध

जिन को हिंसा से वर्णसङ्करपन का दोष लगता है वे लोग एक महीने भर नियमानुसार चान्द्रायणव्रत से प्रायश्चित्त करें तो शुद्ध हो सकते हैं। यदि कहें कि यहां मांसखाने पर दोष वा प्रायश्चित्त नहीं लिखा तो उत्तर यह है कि जो मांस खावेगा वह हिंसा दोष का भागी अवश्य है यह पहिले भी मनु की सम्मति के अनुसार सिद्ध कर चुके हैं। अब इन के सब प्रश्नों का उत्तर हो चुका । यदि उपदेशक जी ने मानवधर्मशास्त्र कभी देखा वा जाना होता तो ऐसे प्रश्न करने का कभी साहस न करते जिनका उत्तर उसी धर्मशास्त्र में स्पष्ट लिखा है जिस से आप भक्षण सिद्ध करने के लिये पङ्ख फटफटा रहे हैं। उपदेशक जी जैसे पण्डितम्मन्यता के अभिमान में बोलते समय अनर्थक असम्बद्ध वा पुनरुक्त शब्दों का बचाव नहीं कर सकते वैसे लिखने में भी पुनरुक्ति वा अनर्गलता को नहीं बचा सके। सो ठीक ही है धर्मविरुद्ध काम करने वाले का आत्मा वा मन भयभीत वा भ्रान्त हो जाता है । कई प्रश्नों के अन्त में लिख देते कि इन सब का प्रमाण दें । सो प्रमाण दें यह वाक्य [illegible] लिख दिया ॥

इन की भूमिका के अन्त में लिखा है कि "यदि इस विषय पर कोई शङ्का हो तो मुझ से पूछ सकते हैं" कहिये उपदेशक जी! किन को पूछें आप तो छिप गये। इस पङ्क्ति को लिखते समय आप को यह ध्यान तो रहा ही न होगा कि हम छिप जायंगे तो पूछने वाला किसे पूछेगा। कदाचित् उपदेशक जी बड़े गम्भीराशय हैं उन का यह विचार हो कि कोई शङ्का हो तो मुझसे पूछ सकते हैं। अर्थात् जहां सभी लेख बिना नींव की भित्ती के समान है वहां जब सभी शंकायुक्त हो गया फिर जब कोई एक दो शङ्का है ही नहीं तो क्यों कोई पूछेगा। अस्तु-अब आगे इनके लेख का क्रमशः संक्षेप से उत्तर दिया जाता है। मनुस्मृति अध्याय १॥

मा०—तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥

नोट—अब विचारिये कि वृक्षादिकों के ज्ञानयुक्त होने पर पशुवध में पाप अधिक क्यों और वृक्ष काटने में क्यों नहीं॥

उ०—जी हां विचारेंगे। परन्तु हम से ऐसा विचार कदापि न होगा कि चीटी और मनुष्य दोनों ज्ञानयुक्त हैं इसलिये दोनों के मारने में बराबर पाप है यह तो आप की बुद्धि की तीव्रता का परिणाम वा फल है। यदि एक उपदेशक जी वेदादिशास्त्र वा धर्मशास्त्र जानने का कुछ भी साहस रखते हों तो अब ही सही छिपना छोड़कर प्रथम प्रादुर्भूत हों और मानवधर्मशास्त्र के प्रमाणों से वा किन्हीं युक्तियों से सिद्ध करें कि ब्रह्महत्या और दंशहत्या में बराबर पाप है यदि यह सिद्ध हो गया कि सब प्राणियों के मारने में एकसा ही पाप है तो वृक्षादि को काटने में भी वैसा पाप मानने का आप साहस कर सकते हैं। जगत् में यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि कोई किसी मनुष्य को मारडाले तो राजा उस को फांसी देता और इस काम को इतना बड़ा पाप समझते हैं कि बदले में उसके प्राण ही चले जाते हैं। तथा गौ को मार डाले तो वह हिन्दुसमाज भर में ऐसा हत्यारा माना जाता है कि जाति से बाहर कर देते और जब तक वह लोकसम्मत प्रायश्चित्त न कर ले तब तक उस के हाथ का अन्न जल भी कोई ग्रहण नहीं करता। और यदि कोई मनुष्य एक चीटी वा मच्छर को मार डाले तो इतना कम अपराध समझा जाता है कि जिस को कोई यह भी नहीं कहता

कि तुमने हत्या की है तुम पापी हो सो यह सब लोक चाल धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से मिली हैं केवल इतना भेद है कि प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र के अनुसार होना चाहिये किन्तु लोकसम्मत नहीं । जब लोक वा शास्त्र के अनुसार दंश मशक मारडालने में इतना कम दोष ठहराया गया कि जिस का नाम पाप ही नहीं रक्खा गया तो वृक्ष वनस्पति आदि के तोड़ने काटने में चीटी दंश आदि के मारने से सहस्रों गुणा कम दोष है । फिर वह कैसा वा कितना पाप माना जा सकता है यह विचार शील स्वयं शोच सकते हैं । जगत् में पुण्य पापों के सहस्रों दृष्टान्त ऐसे ही मिल सकते हैं कि अत्यन्त कम दान पुण्य आदि दान पुण्य नहीं कहे जाते। जैसे अन्न का एक दाना किसी को दिया जाय तो उस से किसी का सन्तोष जनक कुछ भी उपकार नहीं इस कारण एक दाना देने वाले की अन्नदाताओं में संख्या न होगी । इसी प्रकार एक दाने का चुराने वाला भी शास्त्र और लोक में चोर नहीं समझा जाता क्योंकि शास्त्र में ऐसे पाप का प्रायश्चित्त कहीं नहीं लिखा गया । तथापि हमारा यह पक्ष नहीं है कि अत्यन्त छोटे पाप पुण्य वास्तव में पाप पुण्य नहीं किन्तु पाप पुण्य अवश्य हैं क्योंकि उन से भी मनुष्यों के संस्कार अवश्य कुछ विगड़ते सुधरते हैं तथापि सब प्रकार के पाप पुण्यों को बराबर समझना यह बड़ी भारी भूल वा पक्षपात है । इसी प्रकार स्थावर के काटने तोड़ने में इतना कम दोष है जिसको पश्वादि मारने की अपेक्षा कुछ दोष नहीं ऐसा कह सकते हैं । वृक्षादि सब के काटने में भी एकसा पाप नहीं है उस को उपकारादि की न्यूनाधिकता के साथ शोचकर जान लेना चाहिये ॥

मा०—कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥

नोट—मांस भक्षण तो हिंसा से प्राप्त होने के कारण पाप है अब विचारना चाहिये कि क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो अथवा मृग मृत्यु के पूर्व नोटिस देते होंगे कि हमारी खाल उतार ले जाओ ॥

उ०—"क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो" इस वाक्य से पं०ठा०प्र० जी का स्पष्ट आशय यह निकलता है कि यदि किसी वृक्ष में लगता होता तो चाम के उतार लेने में पाप न होता परन्तु इस से पूर्व श्लोक में पश्वादि और स्थावर दोनों के काटने में बराबर पाप ठहरा चुके हैं। अब

शोचना चाहिये कि इन का लेख कितना परस्पर विरुद्ध है । यदि कहें कि हम स्थावर में जीव नहीं मानते तो मनुस्मृति के उन श्लोकों को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी जिन से स्थावर में आत्मा का होना सिद्ध होता है । इन एक उपदेशक जी का मत वा सिद्धान्त क्या है ? वा ये टकाधर्मी मात्र ही हैं । क्या ये लोग मृगचर्म का दृष्टान्त देकर अपने तुल्य सब को हिंसक ठहराने का उद्योग करते हैं ? कि जैसे हिंसा से मांस प्राप्त होताहै इस कारण मांसभक्षण करने वाले पापी हैं वैसे मृगचर्म ओढ़ने वाले भी पापी हैं यदि ऐसा है तो उपदेशक जी ने मांसभक्षण में हिंसारूप पाप स्वीकार कर लिया । इस दशा में आप बड़े भाई हो गये क्योंकि जन्मभर में जो कोई ब्रह्मचारी बनेगा उस को एक मृगचर्म चाहिये तो एक हिंसा का दोष उसे लगेगा और मांसभक्षक जन्मभर में जितने जीवों का मांस खायेगा उतनी हत्या का दोषभागी होगा । और यदि यह आशय हो कि जैसे मृगचर्म के सम्पादन में पाप नहीं वैसे मांसभक्षण में भी नहीं तब हिंसा को धर्म मानना और ठहराना पड़ेगा और हिंसा को पाप ठहराने वाले मनु आदि के वचन सब दूषित मानने पड़ेंगे । हम पूछते हैं कि आप इतनी दूर क्यों भागे सीधा २ जूते का दृष्टान्त क्यों न दे दिया जिस को प्रायः मनुष्य जन्म से मरण तक धारण करते और उपानद् धारण के लिये धर्मशास्त्र में भी आज्ञा है मृगचर्म तो ब्रह्मचारी बने उस को एक समय काम लगता है । अब हम यह दिखाते हैं कि चर्म से काम लेने वाले यदि चाहना करें कि हम किसी जीव को स्वयं मारें वा मरवावें जिस से हम को चर्म प्राप्त हो ऐसी दशा में मृगचर्म क्या किसी काम के लिये जिस को चाम की चाहना हो वह मनुष्य हिंसारूप पाप का भागी अवश्य होगा। यदि वह चर्मसे काम लेने के लिये किसी की हिंसा करना कराना नहीं चाहता तो वह निर्दोष है क्योंकि जगत् में जितने प्राणी उत्पन्न होते वे मरते भी अवश्य हैं उस समय उन मृतशरीरों में जो २ वस्तु उपकारी है उस से काम लेना यह मनुष्यों का कर्त्तव्य है । क्या गौ आदि पशु मरने से पूर्व किसी को नोटिस देते हैं कि जूते आदि के लिये हमारा चर्म लेजाओ ? किन्तु चर्मकार लोगों की जीविका है इस कारण जहां मृतपशु देखेंगे झट चर्म उतार लेंगे इसी प्रकार जंगली मनुष्य जिन का जंगलों में फिरना वा रहना स्वभाव सिद्ध है वे अपनी जीविका के अर्थ मृतमृगों का चर्म उतार कर ग्राम वा नगरादि में भी बेंच जाते थे । इस से किसी को भी कुछ पाप नहीं हो सकता । यदि कोई अपनी जीविका बढ़ाने के

लिये मृगों को मार २ कर चर्म बेंचे तो भी वह मारने वाला पापी होगा किन्तु मृगचर्म से काम लेने वाला ब्रह्मचारी हिंसा से प्राप्त होने की इच्छा न रखने से पापी नहीं यदि कोई मांसाहारी कहे कि हम भी हिंसा से मांस प्राप्त होने की इच्छा नहीं रखते । बेंचने वालों से मोल ले कर खाते हैं तो दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि मांसाहारी सब जानते हैं कि आज ही के मारे हुए का यह मांस है और खाने वालों के लिये ही प्रतिदिन प्राणी मारे जाते हैं । यदि स्वयं मरे हुए प्राणियों का मांस खाने की भी चाल होती तो यह दृष्टान्त घट जाता सो जहां तक दृष्टि डालो वहां तक स्वयं मरे प्राणियों का मांस खाना प्राय सभी बुरा समझते हैं। यदि मांसाहारियों को ज्ञात हो कि यह स्वयं मरे प्राणियों का मांस है तो कदापि न खावेंगे इस से सिद्ध हुआ कि वे नित्य नये प्राणियों की हिंसा कर करा के मांस खाना चाहते हैं इस कारण पापी अवश्य हैं ।

मां०—भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि च मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥

भक्ष्य, भोज्य, मूल, फल, हृदय को प्रिय मांस और सुगन्धित पीने योग्य ओषधि रस ये सब श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों के आगे रक्खे । नोट—यह सब पदार्थ श्राद्ध में ब्राह्मणों के भोजनार्थ लिखे हैं जो जगत् गुरु थे और हैं ।

उ०—इस पर विशेष उत्तर की आवश्यकता नहीं जब मनुस्मृति के अनेक स्थलों में हिंसा को अधर्म ठहराया, भिन्न२ प्राणियों की हिंसा में भिन्न२ प्रायश्चित्त लिखे और "यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्" मद्य मांस आदि यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न बताया फिर वह मद्यमांसादि जगद्गुरु ब्राह्मणों का अन्न होगा तो वे भी राक्षस पिशाचों में क्यों नहीं गिने जांयगे ?। ऐसे मांसभक्षी ब्राह्मण जगद्गुरू कदापि नहीं हो सकते हां मांसाशियों में गुरु भले ही बने रहें जगत् में तो लोभ के कारण मांसभक्षण का प्रचार करने से लघु हो जाते हैं । यदि अपने शरीर में अन्य के मांस से मांस बढ़ाकर वा पास में कुछ धनका बोझा मानकर अपने को गुरु (भारी) मानते हों तो यह ठीक है । भला मनु वा भृगु जैसे विद्वान् इधर हिंसा को पाप बतावें मांसभक्षी को राक्षस पिशाच कहें और इधर मांसभक्षण में (क्रव्याद् सूकरो०) इत्यादि वचनों से प्रायश्चित्त दिखावें और उधर मारने खाने की आज्ञा भी दें यह कभी सम्भव है ? कदापि नहीं । फिर भी

श्राद्ध जैसे धर्मसम्बन्धी काम में यजमान को पहिले ही हिंसारूप पाप का भागी बनावें पीछे सर्वगुरु भी पापी हों । जहां २ परस्पर विरुद्ध दो कथन हों वहां एकही सत्य ठहर सकता है। सो यहां मांस की आज्ञा मनुका वचन नहीं किन्तु प्रक्षिप्त है और हिंसा को अधर्म मानना मांसभक्षण पर प्रायश्चित्त कहना वा मांसभक्षी का राक्षसादि नाम रखना यह मनुस्मृति के सिद्धान्त के अनुकूल और सर्वशास्त्रसम्मत होने से मन्तव्य है। यदि आचार्य जी धर्मशास्त्र को जानने समझने का साहस रखते हों तो इसी मनुस्मृति से हिंसा को धर्म सिद्ध कर दें और मांसभक्षण के प्रायश्चित्त को मिथ्या ठहराने का उद्योग करें । बड़े आश्चर्य का स्थान है कि ऐसा युक्तिप्रमाणों से शून्य लेख करते समय इन लोगों को लज्जा भी नहीं आती । लोभः किन्न कारयति ? ॥

मां०—द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥

मच्छी के मांस से दो महिने हिरण के मांस से तीन मेढ़ा के मांस से चार और पक्षियों के मांस से पांच महिने तक पितर तृप्त हो जाते हैं। इत्यादि पांच श्लोक इसी प्रकार के लिख कर सब के अन्त में ॥

नोट—यहां भोजन करने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होने से अभिप्राय है न कि मरों से विश्वास न हो तो खा देखो ॥

उ०—अभीतक हम को एक भ्रम था कि पं० ठा० प्र० मृतक के श्राद्ध का भी प्रतिपादन करना स्वीकार करेंगे सो सन्देह मिटगया । परन्तु विचारशील लोग मेरी बात का ध्यान रक्खें कि मृतक का श्राद्ध न मानना यह भीतरी नहीं है किन्तु ऊपर से है अवसर देख कर ये सभी कुछ पोपलीला सिद्ध करेंगे । पूर्व श्लोक में जो विरोध दिखाया गया उस के अनुसार तो ये मांस के पिण्ड की प्रशंसा के श्लोक प्रक्षिप्त हैं ही यह सब लोग जान सकते हैं । मांस के पिण्ड खाने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होती है यह कहना महा अज्ञान है क्योंकि इन्हीं श्लोकों के आगे इसी प्रकरण में लिखा है कि—"तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्" श्राद्ध के साथ विधिपूर्वक जो कुछ पितृयों के लिये देता है वह २ उन परलोकगामी पितृयों को अक्षय फलकारी होता है। इस में जब परलोक में जो पितृ हैं ऐसा स्पष्ट कह दिया तब यह कट गया कि "भोजन करने वाले ब्राह्मणों

की तृप्ति से अभिप्राय है” “विश्वास न हो तो खा देखो” इस लेख से प्रतीत होता है कि एक उपदेशक महाशय ने खाकर अनुभव कर लिया होगा कि किसी मच्छी का मांस खाने से दो महीने की और किसी मच्छी के मांस से १२ बारह वर्ष की तृप्ति होती है। इस में प्रथम तो हम को यही सन्देह है कि तृप्ति होने से क्या अभिप्राय है। यदि यह आशय है कि उतने दिनों तक भूख नहीं लगती तो इस पर हमें तब विश्वास हो सकता है कि यदि उपदेशक जी छः महिने हमारे वा किसी अन्नाहारी आर्य के पास रहें और एक दिन उनको जितना खायें बकरे का मांस खिला दिया जाय फिर छः महिने तक कुछ भी वस्तु खाने को न मिले और छः मास तक उपदेशक जी की तृप्ति बनी रहे भूख न लगे। परन्तु स्मरण रक्खें कि हर वार पहरा मौजूद रहेगा जिस से कोई वस्तु छिपा कर भी न खालें यदि छः महिने की इस परीक्षा में उपदेशक जी उत्तीर्ण हो गये तो महामांसाचार्य की पदवी मिलने के पश्चात् हम लोग भी के उपदेश को मान लेंगे। वा एक पत्र लिखकर सरकार में रजिस्टरी करादें कि हमारी बात पर विश्वास कर के तुम बकरे का मांस खाओ यदि छः महिनें के भीतर भूख लगे और तृप्ति न रहे तो हम जीवनभर तुम्हारे भृत्य रहें इस प्रकार पक्का विश्वास कराओ तो हम भी एक हत्या का पाप अपने शिर लादें नहीं तो तुम्हारा कथन व्यर्थ है। यदि कोई कहे कि ऐसी असम्भव बात धर्मशास्त्र में क्यों लिखी तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण ही तो हम उक्त श्लोकों को प्रक्षिप्त ठहराते हैं कि वे श्लोक मनु वा भृगु के बनाये नहीं किन्तु किसी मांसाहारी स्वार्थी ने पीछे से बना कर मिला दिये हैं। इस वर्त्तमान समय में सहस्रों मनुष्य मछली वा बकरे आदि का मांस प्रतिदिन खाते हैं और नित्य २ उन को भूख भी लगती है छः महिना तो अधिक समय है किन्तु कोई मांसाहारी जब छः दिन भी तृप्त नहीं रह सकता तो उक्त श्लोकों के मिथ्या होने में क्या शङ्का रही। आशा है कि पाठक लोग पं० ठा० आचार्य जी से पूछें कि आप हमको विश्वास कराना चाहते हो तो एक दिन बकरे का मांस खाकर छः महिने तक निराहार तृप्त रहकर दिखाइये। यदि कहें कि भूख न लगना तृप्ति का अर्थ नहीं है किन्तु चित्त में सन्तोष उतने काल तक रहता है। तो फिर भी बताना चाहिये कि किस प्रकार का सन्तोष रहता है क्या धनादि की तृष्णा मिट जाती वा विषयभोग से मनुष्य की निवृत्ति हो जाती है। यह भी प्रत्यक्ष

से विरुद्ध है अर्थात् मांसाहारियों की तृष्णा अन्य की अपेक्षा भी प्रबल प्रत्यक्ष दीखती है । यदि कहें कि उतने २ दिनों तक उस २ प्राणी का मांस शरीर में धातुओं को पुष्ट करता है तो यह भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध है यदि ऐसा हो तो मांसाहारी सदा नीरोग पुष्ट और बलवान् बने रहें वृद्ध न हों और छः महिने में एक वार मांस खा लिया करें वा १२ वर्ष के बाद एक दिन महाशल्क मछली वा गेंड़ा का मांस खा लिया करें फिर प्रतिदिन खाने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर देना उपदेशक जी का काम है। और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि नौ मास तक गर्भ में माता के आहार से जो बच्चे का शरीर बनता है उस के हड्डी आदि धातु वृद्धावस्था पर्यन्त बने रहते हैं तब मांस में क्या विशेषता रही । सो भी तृप्तिशब्द के अर्थ से ऐसे आशय निकालना कल्पनामात्र है वास्तव में श्लोक बनाने वाले का आशय यही है कि उन पितरों को उस२ मांसके पिण्ड उतने २ दिन तक तृप्त रखते हैं उतने दिन तक पुनः पिण्ड न मिलें तो उनको भूख नहीं सतावेगी । तथा एक और भी असम्भव बात लिखी है कि गोदुग्ध के खोया वा खीर के पिण्डों से बारह बर्ष की तृप्ति और कालशाक से अनन्त समय तक की तृप्ति हो जाती है । जो शाक जिस समय सृष्टि क्रमानुसार उत्पन्न होता वही कालशाक है जैसे माघ पौष में मूली वा सरसों आदि का शाक तथा वसन्त ग्रीष्म में सोया मेथी आदि का। उन२ शाकों को उबाल कर उस २ समय पिण्ड दिये जायं तो अनन्त काल तक तृप्ति हो जाती है । और इस से अधिक तृप्ति किसी जीव के मांस में भी न रही यदि मांसाहारी लोग वा उन के आचार्य जी इस लेख को सत्य मानते हैं तो शाक से अधिक गुण मांस में मानना अवश्य छोड़ देंगे । हम तो खोया वा खीर से भी शाक में बहुत कम गुण मानते हैं और यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं कि शाकों की अपेक्षा गोदुग्ध वा खीर में बहुत अधिक गुण हैं क्योंकि घास वा शाकों का सार निकला हुआ गोदुग्ध है इत्यादि कारणों से मांसपिण्डविषयक उक्त श्लोक मिथ्या हैं किसी स्वार्थी मांसाहारी ने प्रामाणिक पुस्तक में मिला दिये यही निश्चय है ॥

मां०—नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः ।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ म० अ० ४

दीर्घ आयुपर्यन्त जीवन की इच्छावाला अग्निहोत्री द्विज आग्रयण यज्ञ किये विना नवीन अन्न का और पशु यज्ञ किये विना मांस का भक्षण न करे ॥

नो०—संसार में कोई नवीन वा उत्तम पदार्थ विना मित्र बन्धु गुरु पूज्य-पुरुषों के खिलाये खाना वा ईश्वर को स्मरण किये विना खाना असभ्यता वा नीचता है अतः मनु जी का लेख सार्थक है ॥

उ०—यह चौथे अध्याय का २७ सत्ताईशवां श्लोक है इस से पूर्व २५ । २६ वें श्लोकों से गृहस्थ के लिये नित्य नैमित्तिक यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है इस कारण २५।२६ श्लोक विधिवाक्य हैं उसी पर प्रसङ्ग देखकर किसी स्वार्थी मांस-हारी ने यह अर्थवाद गढ़ कर मिलाया है । आचार्य जी ने कभी मीमांसाशास्त्र भी कदाचित् देखा हो पर अनुमान नहीं होता क्योंकि विधि वा अर्थवाद को वे नहीं जानते कि धर्मशास्त्रों में कौन विधिवाक्य तथा कौन अर्थवाद हैं तथा किस विधिवाक्य का कौन अर्थवाद है । अर्थात् पूर्वोक्त (नानिष्ट्वा०) श्लोक को आपने विधिवाक्य मान लिया है तभी तो यहां प्रमाण में लिखा विना विधि-वाक्य के अर्थवाद का स्वतन्त्र कहीं प्रमाण हो ही नहीं सकता । इसलिये यह बड़ा अज्ञान है । विधिवाक्य में केवल यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है खाने पीने का कुछ नाम भी नहीं किन्तु अर्थवाद वाले ने कल्पना कर के मान लिया है सो यह प्रक्षिप्त वा प्रामादिक होने से मिथ्या है । इस का विशेष विचार मानवधर्म मीमांसा भूमिका में हो चुका है इस लिये यहां लिखना पुनरुक्त है। पशुनत्वायनस्यादौ० । इस २६ वें श्लोक के अनुसार संवत्सर के आरम्भ में पशु सम्बन्धी घृतादि से यज्ञ करे इसी को आग्रायण यज्ञ भी कहेंगे सो आचार्य जी ने उलटा नवान्नेष्टि को आग्रायण के साथ लगाया है इस से विदित होता है कि इन को श्लोकार्थ समझने का भी बोध नहीं है । यदि उपदेशक जी मांसभक्षण को दीर्घायु होने का कारण ठहराना चाहते हैं तो इस का उत्तर दें कि आज तक मांसभक्षण करने वाले दीर्घायु क्यों नहीं हुए ?। अब तक न हुए तो आगे भी ऐसा होना असम्भव है। नोट में भावार्थ निकालना जैसा आचार्य जी को आता है ऐसा कदाचित् ही किसी को आता हो। श्लोक में केवल यह आशय है कि विना यज्ञ किये कुछ न खावे इस पर आप लिखते हैं कि मित्र बन्धु गुरु पूज्य पुरुषों को खिलाये विना नया अन्न और मांस खाना असभ्यता वा

आर्यसमाज जबलपुर का वार्षिकोत्सव ॥

यद्यपि ऐसे विषयों पर आर्यसिद्धान्त में लेख होने की आवश्यकता नहीं थी इसीलिये ऐसे विषयों पर लेख नहीं छपा करते थे। तथापि जबलपुर आर्यसमाज के उत्सव पर हमारे पौराणिक महाशयों ने जो२ आक्षेप किये हैं उन का समाधान करना आवश्यक और उचित समझा गया। शुभचिन्तक साप्ताहिकपत्र जबलपुर में जिस मनुष्य के नाम से आक्षेप छपे हैं वह कोई विशेषज्ञ वा संस्कृतज्ञ नहीं जान पड़ते तथापि वे प्रश्न एक पण्डित के हैं ऐसा दृढ़ अनुमान होता है। और ये पं० जी समाज के उत्सव में आये भी थे। इन का नाम रामप्रसाद शास्त्री है शुभचिन्तक में छपा लेख इन्हीं का लिखा वा लिखाया प्रतीत होता है। इस कारण उत्तर देना आवश्यक समझा गया शुभचिन्तक में छपे आक्षेपः—

वहां (उत्सव के होम समय) पर विशेषता यह देखने में आयी कि न तो किसी ब्राह्मण का वरण किया गया, न पञ्चभूसंस्कार किये गये, न परिस्तरण न अन्वाधान, न प्रणीतादि पात्रों का स्थापन, न कुशकण्डिका, न यज्ञाङ्गप्रधान देवता का स्थापन और न स्रुवप्रतपनादि क्रियायें वहां पर कोई नहीं की गयी थीं केवल पीतल की करछुली से भर२ कर मन्त्री आर्यसमाज होमते थे और स्वामी कृष्णानन्दसरस्वती जी घी डालने की विधि वतलाते थे।

उत्तर—जब तक मनुष्य को किसी बात की असलियत का बोध नहीं होता तब तक वह सन्देहों की तरङ्गों में सदा ही गोता खाया करता है और प्रायः उस के काम सिद्ध नहीं होते। यद्यपि उत्सव के समय इसी प्रकार की कुछ शङ्कायें उक्त पं० रामप्रसाद शास्त्री जी ने की और उन के उत्तर भी संक्षेप से यथावकाश मैंने दिये थे परन्तु बुद्धि पक्षपात और हठ से ग्रस्त होने के कारण उन की समझ में न आया होगा। वेदादिशास्त्रों के वास्तविक सिद्धान्त को न समझना ही हठ का भी कारण हो सकता है। और अब भी हम को विश्वास नहीं है कि शास्त्री जी वा उन के अनुयायी लोग हमारे उत्तरों को ठीक मान लेंगे तथापि सर्वसाधारण को जताने के लिये लिखना ही हम अपने परिश्रम की सफलता समझ लेंगे। अब पाठकगणों को ध्यान देना चाहिये—मैंने उक्त प्रकार के आक्षेपों का सामान्य उत्तर यह दिया था कि होम वा यज्ञ करना एक वेदोक्त

श्रेष्ठ कर्म है जिस का सामान्य फल पूर्वमीमांसाशास्त्र के अनुसार स्वर्ग नाम सुख विशेष की प्राप्ति है [सुख विशेष कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य सुख के साथ उस की तुलना नहीं जहां सब प्रकार की उत्तम से उत्तम सुखभोग की सामग्री इकट्ठी हो वही स्वर्ग है ऐसा स्वर्ग सब लोकों में हो सकता है। इस प्रसंग में स्वर्ग कहां और क्या है इस का निर्णय लिखने लगें तो प्रकृतविषय छूटता है इस लिये स्वर्ग का विशेष विचार यहां नहीं छेड़ते] उस सुख विशेष के अनेक प्रकारके भेद हैं। वेद में यज्ञ करने की आज्ञा अनेक स्थलों में अनेक प्रकरों से परमेश्वर ने दी है जैसे—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥

यजुर्वेद में अध्याय ३–कि समिधाओं से अग्नि की सेवन करो अर्थात् प्रथम समिधा चढ़ाओ और पश्चात् घृत की आहुति देकर सचेत करो वा जलाओ। इत्यादि प्रकार से वेद में मूल कर्म के लिये आज्ञा दी गयी क्योंकि वेद मूल है उसमें सब धर्म कर्मों वा विद्याओं का मूलरूप से उद्देशमात्र दिखाया गया है। यदि सब प्रकार का विधान वेद में किया जाता तो वेद अत्यन्त बढ़ जाता और गृह्यसूत्रादि पुस्तक ऋषियों को न बनाने पड़ते। और मनुष्यों के विचार कर सकने योग्य बातों का उपदेश परमेश्वर की ओर से होना आवश्यक भी नहीं। और यज्ञ करने का विशेष विधान सब देश काल और मनुष्यों में एक ही प्रकार का रह भी नहीं सकता। एक काम में जितनी अङ्गरूप क्रिया की जाती हैं वे सब देश काल और मनुष्यों में एकसी नहीं होती। जैसे रोटी बना कर खाना एक कर्म है। अच्छे प्रकार सात्त्विक अन्न पका कर खाना चाहिये ऐसा विधान किसी शास्त्रकार ने कर दिया और किसी ने यह भी लिखा कि पाचक ऐसा नियत करना चाहिये कि जिस में निम्नलिखित गुण विद्यमान हों। यथा—

पुत्रपौत्रगुणोपेतः शास्त्रज्ञो मिष्टपाचकः।
शूरश्च कठिनश्चैव सूपकारः स उच्यते ॥

जिस के पुत्रादि हों किन्तु अकेला फक्कड़ न हो जो किसी से मिलकर विषादि देकर न भाग जावे और वस्तुओं के गुण तथा शास्त्र की मर्यादा जानता हो जिससे

ठीक २ पाक बना सकता हो। स्वादिष्ट भोजन बनाना जिस को आता हो ऐसा

पाचक वा रसोइया नियत करना चाहिये । क्या इस वचन का अभिप्राय ऐसा भी कोई निकाल सकता है कि सब कोई उक्त प्रकार का पाचक रक्खे । यदि यह आशय हो तो शास्त्रकर्त्ता पर बड़ा दोष आवेगा क्यों कि सब कोई पाचक रख ही नहीं सकता उस में विशेष धन व्यय की आवश्यकता है जिस को भोजन ही कठिनता से मिलता है वह रसोइया को नौकर कहां से रक्खेगा ?। वा जो स्वयं ही उत्तम पाक बनाना जानता है उस को पाचक की आवश्यकता नहीं तो जिस को स्वयं भोजन बनाना नहीं आता वा आलस्यादि के कारण जो नहीं बना सकते वा श्रीमान् होने के कारण पाचक रखना चाहते हैं उन को उक्त प्रकार का पाचक यथासम्भव रखना चाहिये । क्या शास्त्री जी वा तर्ककर्त्ता को कोई पूछे कि तुम जिस काम को स्वयं कर सकते हो उस के लिये अन्य को क्यों नहीं बुलाते तो यही उत्तर दे सकते हैं कि हम को बुलाने की आवश्यकता नहीं वा बुला कर सत्कार करने की शक्ति नहीं । इसी उत्तर को यदि यहां भी समझ लेते कि वहां आर्यसमाज के होम में भी स्वयं मन्त्र पढ़ सकने और होम करने की शक्ति थी इसी कारण मन्त्री आर्यसमाज ने पढ़ना वा होम करना प्रारम्भ कर दिया । अनेक समाजों में जहां स्वयं मन्त्र पढ़ना सामाजिक लोग नहीं जानते वहां आरम्भ भी नहीं करते । और मन्त्री आर्यसमाज जबलपुर क्या ब्राह्मण नहीं थे और क्या समाज के लोगों ने उन का वरण नाम स्वीकर नहीं किया था ?। अर्थात् अवश्य किया था तो ब्राह्मण वरण हो गया । इस के पश्चात् पं० देवीदयालु जी को और मुझ को प्रयाग से पत्रद्वारा स्वीकार करके ही बुलाया था यह क्या ब्राह्मण वरण नहीं हुआ । इस प्रकार जब कई ब्राह्मणों का वरण नाम स्वीकार वहां के समाज ने किया तो न किसी ब्राह्मण का वरण किया गया यह कैसा आक्षेप हुआ ?। अब रहा यह कि वहां के अन्य योग्य ब्राह्मणों का वरण नहीं किया गया सो प्रथम तो जिन से ठीक मेल नहीं मिलता वे बुलाने पर भी आते नहीं द्वितीय समाज को बुलाने की शक्ति और आवश्यकता नहीं थी जैसा कि मैं पूर्व लिख चुका हूं ॥

आगे लिखते हैं " न पञ्चभूसंस्कार किये गये " अर्थात् पांच प्रकार से उस पृथिवी को शुद्ध कर लेना चाहिये जहां होम वा यज्ञ किया जाय । १ उल्लेखन, २ उद्धरण, ३ उरक्षपण, ४ अभ्युक्षण, ५ लेपन । ये पांच भूसंस्कार कहाते हैं । परन्तु

जहां कहीं शुद्धि कही जाती है वा लोक में तथा शास्त्र में किसी काम को कर्त्तव्य कहा जाता है वहां समझने वाले को भी कुछ बुद्धि के लगाने की आवश्यकता है। जैसे कोई कहे कि वस्त्रों को धोकर शुद्ध करना चाहिये तो यह अवश्य विचारना होगा कि जो वस्त्र मलीन वा अशुद्ध हैं उन की शुद्धि करने की आज्ञा देने से अभिप्राय है क्योंकि उन्हीं वस्त्रों का शुद्ध करना सार्थक है। और जो धोये हुए शुद्ध निर्मल वस्त्र हैं उन को पछारने लगना समझने वाले की मूर्खता है अथवा मलीन वस्त्रों पर दश बीश बिन्दु जल छिड़क कर उनकी शुद्धि मान लेना यह भी अज्ञान है इसी प्रकार यहां भी जानो कि जहां की पृथिवी अशुद्ध हो वहां पांच प्रकारों से शुद्ध कर लेनी चाहिये। (१–उल्लेखन) नाम खोद डालना, खोदने से निकली मट्टी यदि अशुद्ध प्रतीत हो तो वेदी में की उस मट्टी को, (२–उद्धरण) उठाकर (३–उत्क्षेपण) नाम फेंक देना और उस वेदी में कहीं की शुद्ध मट्टी लाकर बिछाना तदनन्तर (४–अभ्युक्षण) जल से सींचना और (५–लेपन) गोबर से लीप देना। इन पांच संस्कारों में पिछले दो संस्कार तो प्रायः सभी होम करने वाले करते हैं और करने भी चाहिये। परन्तु जहां की पृथिवी शुद्ध समझी जाय वहां खोदना आदि पहिले तीन संस्कार व्यर्थ समझ के नहीं करने चाहिये। परन्तु आक्षेप करने वाले महाशय कहीं भी संस्कार नहीं करते और न करना जानते हैं कि किस प्रकार से किस लिये और कैसी शुद्धि करनी चाहिये। ये लोग स्रुवा से पृथिवी में दो तीन लीकें करके रत्ती दो रत्ती माटी वहां से उठा कर ईशान कोण में फेंक देते और थोड़ा जल छिड़क के वेदी में गोबर थोड़ासा घोल कर डाल देते हैं कहिये यह क्या भूसंस्कार हुआ ?। यह वैसी ही शुद्धि है कि जैसे किसी को जहां स्नान करके शुद्ध होने की आवश्यकता में दश बीश बूंद पानी छिड़क दिया जाय। शुद्धि वा संस्कार करने का प्रयोजन यह है कि वहां की पृथिवी में किसी प्रकार का दुर्गन्ध न रहे जो होम के सुगन्ध को बिगाड़ा करे। शोचना चाहिये कि यह प्रयोजन रत्ती दो रत्ती मट्टी खोद कर निकाल देने से कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। इस के सिवाय अभ्युक्षण और लेपन जैसा सर्वत्र किया जाता है वैसा वहां जबलपुर के होम में भी किया ही गया था। होम के स्थान को देखने से चित्त प्रसन्न होता था किसी प्रकार की अशुद्धि वहां प्रतीत नहीं होती थी। और जहां नई शुद्ध मट्टी पृथिवी पर जमा

कर वेदी बनायी जावे वहां भी उल्लेखनादि द्वारा भूसंस्कार करने की आवश्यकता नहीं होती। इस से सिद्ध हुआ कि जहां जैसी वा जिस क्रिया की आवश्यकता हो वहां वैसा करना चाहिये सर्वत्र नहीं। इस लिये आक्षेप निर्मूल है। इसी प्रकार परिस्तरणादि क्रिया भी आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। अर्थात् जहां जङ्गलों में यज्ञ किये जाते थे वहां घासादि की विशेषता से जीवजन्तुओं का वेदी में घुस पड़ना अधिक सम्भव था वा है इसलिये वहां परिस्तरण से रुकावट करना आवश्यक है। अन्वाधान तो सभी जगह किया जाता है यदि वेदी में अग्नि का स्थापन न होता तो होम ही कैसे होता। उस का विधान है अग्न्याधान का मन्त्र पढ़ कर स्थापन किया जाय सो यदि विधिपूर्वक न किया हो तो करने वाले की भूल उस अंश में कही जा सकती है। पर कहीं भूल होने पर होम करना निष्फल नहीं हो सकता। जैसे कि रसोइया मसाला छोड़ना वा छौंक देना भूल जाय तो उस अंश में पाक की उत्तमता न होगी परन्तु भोजन बनाना व्यर्थ नहीं हो सकता इसी प्रकार यहां भी जानो। यज्ञाङ्गप्रधान देवता का स्थापन कराने से यदि प्रश्न-कर्त्ता का आशय यह है कि किसी की प्रतिमा बना कर वहां स्थापित की जाय तो यह कथन प्रमाण और युक्ति दोनों से शून्य है। क्योंकि पत्थरादि की मूर्त्ति पूजाबुद्धि से वहां स्थापन करने के लिये किसी वेदानुकूल ग्रन्थ में आज्ञा नहीं है। यदि किसी को साहस हो तो प्रमाण दिखावे तदनुसार उत्तर दिया जायगा। हां! यदि किसी ने यज्ञाङ्ग प्रधान देवता का स्थापन करना चाहिये ऐसा ही लिखा हो तब तो स्पष्ट यही अभिप्राय होगा कि यज्ञ के अङ्गों में सब से प्रधान वा मुख्य कर्त्ता है वही यज्ञाङ्गप्रधानदेवता है उस की स्थापना न हो तो यज्ञ ही कौन करे ?। वह तो सभी यज्ञों में होता है और होना भी चाहिये वैसे वहां भी आर्यसमाज ही प्रधान वा मुख्य यज्ञाङ्ग देवता था उस की ओर से मन्त्री जी यज्ञाङ्गप्रधान नियत किये गये जो यज्ञ में स्थित ही थे फिर बताइये आक्षेप कैसे घटेगा ?। अपने आक्षेप को घटाकर दिखाना यह भार शास्त्री जी पर है यदि आक्षेप की पुष्टि नहीं कर सकते तो स्वीकार करें कि हमारा आक्षेप मिथ्या है।

पाठक लोग ध्यान देवें—जिस कार्य का जो अङ्ग कहा वा माना जाता है उसके विना उस कार्य के पूर्ण होने में कुछ न्यूनता अवश्य रह जाती है। जैसे आंख, नाक, कान, हाथ, पांव आदि शरीर के अङ्ग हैं इन में से जो अंग शरी-

में न होगा वा नष्ट हो जायगा उसी का काम न हो सकेगा जैसे आंख न हो तो रूप नहीं देख सकता। अथवा जैसे लकड़ी, आटा, दाल, मसाला, चूल्हा, अग्नि और पाचक इत्यादि पाकक्रिया के अङ्ग हैं इन में से जो न होगा उसी के विना पाकक्रिया में वैसा ही विघ्न होगा जैसा वह गौण वा मुख्य अङ्ग है। और पाचक सब से प्रधान अङ्ग इस लिये है कि वह चेतन होने से सब अङ्गों से काम ले सकता और जड़ अङ्ग सब इकट्ठे रहें तो भी पाक नहीं बन सकता। परन्तु पाचक किसी अङ्ग के अभाव में तत्स्थानी किसी वस्तु से किसी प्रकार काम निकाल सकता है इस लिये वह सर्वोपरि प्रधान अङ्ग है। प्रयोजन यह है कि जिस के होने से उस अंश में उस कार्य का सुधार हो और जिस के न होने से उस कार्य की उस अंश में कुछ हानि हो वह उस का अङ्ग कहा वा माना जा सकता है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। और जिस के होने न होने पर कार्य में कुछ लाभ वा हानि नहीं हो सकती वह उस का अङ्ग कभी नहीं माना जाता। अब आक्षेपकर्त्ता को सिद्ध करना चाहिये कि पत्थरादि की मूर्त्ति वा कृत्रिम नवग्रहादि को कैसे यज्ञाङ्गत्व है? आशा है कि पाठक लोग पं० रामप्रसाद शास्त्री जी से प्रेरणा कर इस का उत्तर मांगें गे कि प्रतिमा को यज्ञाङ्गत्व कैसे है?। यदि यज्ञाङ्गत्व सिद्ध न कर सकें तो मान लें कि हमारा लेख मिथ्या है॥

और स्रुवप्रतपनादि क्रिया भी प्रयोजन से ही की जाती है कि स्रुवा तपा देने से कोई छोटा अदृश्य जीवजन्तु हो तो इधर उधर भाग जावे सो पीतल वा चांदी आदि के वर्त्तन में छिप नहीं सकता इत्यादि कारण जहां पीतल आदि के चमसा से यज्ञ किया जाय वहां तपाना आवश्यक नहीं है। हमारा पक्ष यह नहीं है कि आर्यसमाज में सर्वोत्तम विधि के साथ अभी होम वा यज्ञ होते हैं किन्तु हम स्वीकार करते हैं कि पूर्णविधि नहीं होती परन्तु फिर भी कहने पड़ता है कि आक्षेपकर्त्ताओं के यज्ञों की अपेक्षा प्रधानयज्ञाङ्गों का विशेष विचार आर्यसमाज में अवश्य किया जाता है॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ १॥

जिस यज्ञ में यज्ञकर्त्ताओं को किसी फलविशेष की अभिलाषा न हो कि इस

यज्ञ के बदले परमेश्वर हमको अमुक फल देवे और वेद में परमेश्वर ने यज्ञ करने

की आज्ञा दी है इस लिये यज्ञ करना चाहिये परमेश्वर की आज्ञापालन करना हमारा काम है इस प्रकार मन को निश्चित करके किया यज्ञ सात्त्विक सत्त्वगुणसम्बन्धी वा उत्तम प्रकार का यज्ञ माना जाता है। यही यज्ञ आर्यसमाज में होता है। क्योंकि आर्यसमाज में किसी को फल की इच्छा नहीं रहती कि हम को इस यज्ञ का अमुक वा सामान्यफल मिले और—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ २ ॥

जो किसी कार्यविशेष की सिद्धिरूप फल का निश्चय करके वा दम्भ दिखाने के लिये किया जाय वह यज्ञ रजोगुणी है अर्थात् मध्यम प्रकार का है। आज कल पौराणिक लोगों में जितने होम वा यज्ञ होते हैं उन में किसी फलविशेष की चाहना का उद्देश और दम्भ दिखाने का प्रयोजन प्रायः रहता है इस को ध्यान देने से सभी लोग जान सकते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ ३ ॥

वेदोक्त विधि वा आज्ञा का ध्यान जिस में न रक्खा जाय और विना शोधा बनाया खड़ा अन्न जिस में होमा जाय, मन्त्रों का जहां ठीक शुद्ध उच्चारण न हो तथा होम करने वालों को दक्षिणा (महनताना) जिस में न मिले और बिना श्रद्धा के यज्ञ किया जाय वह तमोगुणी अर्थात् निकृष्ट यज्ञ है। आर्यसमाजों के यज्ञों में बहुमूल्य सुगन्धियुक्त शोधी बनायी सामग्री से होम किया जाता और अन्न का शुद्ध मोहनभोग बना कर चढ़ाते हैं। और पौराणिक लोग प्रायः खड़े जौ तिल चावल चढ़ाते हैं प्रायः उन को शोधते भी नहीं तब शोचना चाहिये कि उक्त भगवद्गीता के प्रमाणानुसार असृष्ट—विना शोधे बनाये अन्न का तमोगुणी यज्ञ इन लोगों का हुआ वा नहीं ?। जब ऐसी दशा है तब तुम किस बल से आक्षेप करने को तत्पर हुए ? क्या इसी जनश्रुति को चरितार्थ करने के लिये आक्षेप किया था कि "परोपदेशे कुशला दृश्यन्ते बहवो नराः" इन लोगों के समान हम पक्षपाती नहीं बनना चाहते। इसीलिये स्वीकार करने पड़ता है कि इन लोगों में कहीं २ कोई २ सत्त्वगुणी यज्ञ होना सम्भव है परन्तु प्रायः रजोगुणी

तमोगुणी अधिक हैं। और कहीं २ आर्यसमाजों में भी रजोगुणी तमोगुणी यज्ञ होने सम्भव हैं उन को भी हम अच्छे ठहरावें यह हमारा काम नहीं है। तथापि इस लेख से यह सिद्ध हो गया कि अधिकांश अच्छे होने से आर्यसमाज के यज्ञ इन के यज्ञों की अपेक्षा अनेक प्रकार उत्तम हैं इस लिये आक्षेपकर्त्ता की सर्वथा भूल है थोड़ी दृष्टि फैला कर पहिले अपने घर को ही देखना चाहिये।

यज्ञशालादि कैसे होने चाहिये ॥

जिस प्रदेश में यज्ञ किया जाय वहां एक यज्ञशाला १६ हाथ लम्बी चौड़ी बनाई जाय वा उसमें सब सामान भित्ति आदि के बनाने में शुद्ध२ परीक्षा करके लगाया जाय जहां यज्ञशाला बने वहां की पृथिवी शुद्ध हो किसी प्रकार का दुर्गन्धादि उस में न हो। यज्ञशाला से इधर उधर भी पृथिवी शुद्ध हो। उस यज्ञशाला के बीच में एक चौतरा चतुष्कोण वा गोलाकृति बनाया जाय जिस की लम्बाई चौड़ाई आठ२ हाथ बराबर हो उस चौतरे पर एक अन्य चौतरा चार हाथ का बनाया जाय और इसी चौहथे चौतरे के बीच में दो २ हाथ लम्बा चौड़ा कुण्ड बनाया जाय चौतरों की भित्तियों में यथोचित चित्रकारी हो यज्ञशाला की बाहरी भित्तियों में आलय (ताख वा तिखाल) तथा अलमारी आदि बनायी जांय जिन में यज्ञ के सब पात्र वा अन्य सामान धरा जाया करे। उस स्थान में यज्ञ के विना अन्य कुछ काम न किया जाय। यज्ञशाला में तीन परिक्रमा यज्ञकुण्ड की पूर्वोक्त प्रकार से बन जायगी। निकृष्ट कोटि के मनुष्य पहिले परिक्रमा में रहें वहीं से यज्ञकुण्ड के दर्शन करें। मध्यम कोटि के मनुष्य पहिले चौतरे पर और यज्ञ करने वा कराने वाले होता यजमानादि द्वितीय चौतरे पर यज्ञकुण्ड के निकट रहें। यज्ञ के पात्र यथासम्भव सोने चांदी के हों वा अभाव में यथोक्त काष्ठ के बनाये हों। यज्ञशाला के पात्र कभी अन्य काम में न लगाये जांय और पाकशालादि के चमसादि पात्र कभी यज्ञशाला में लाये भी न जावें। यज्ञशाला के भृत्यादि भी उसी काम के लिये पृथक् नियत रहें। यज्ञ करने वाले ऋत्विगादि वेदादि शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता हों और मीमांसाशास्त्र जिनने पढ़ा हो वे लोग प्रयोजन को ठीक जानकर विधिपूर्वक यज्ञ कर सकते हैं। इत्यादि प्रकार कर्म, कर्त्ता और साधन तीनों ठीक २ यथायोग्य हों तो ठीक विधिपूर्वक यज्ञ हो सकते हैं। दक्षिणा अर्थात् यज्ञ का मेहनताना भी पूर्ण

निवेदन ॥

सब ग्राहक महाशयों को विदित होगा कि मैं २॥ वर्ष से बीमार रहा इसी कारण आर्यसिद्धान्तादि का निकलना बन्द रहा। अब मेरा शरीर मास चैत्र से कुछर अच्छा होने लगा था अब जो कुछ दशा है उससे निश्चय होता है कि रोग सर्वथा छोड़ जायगा और काम भी निरन्तर आगे को चलेगा। आशा है कि अब आगे ऐसी ढील आर्यसिद्धान्तादि के निकलने में न होगी। इस से पहिले मनुस्मृति भाष्य के दो अङ्क निकल गये हैं अब एक महीने में दो अङ्क मनु० के और दूसरे में आर्यसिद्धान्त के दो अङ्क निकालूंगा जिस से परिश्रम अधिक नहीं वढ़ेगा। सब ग्राहक महाशयों को स्मरण रखना चाहिये कि अब आर्यसिद्धान्त में केवल भाग और अङ्कों का ही हिसाब रहेगा १ भाग का १।) लिया जायगा जब भाग पूरा हो तब ही द्वितीय भाग का आरम्भ हो जायगा। जितने दिन बन्द रहा उन को अधिक निकाल कर पूरा नहीं कर सकता। इस लिये महीनों और वर्षों का अब कुछ हिसाब नहीं रहेगा। ग्राहक महाशय पूर्ववत् सहायता देते रहें। अभी थोड़े दिन उपनिषद् ऐतरेयादि और भगवद्गीता का भाष्य बन्द रहेगा परन्तु उन को पूरे करने का दृढ़ संकल्प है। अब भाद्रमास में मनु० के दो अङ्क निकाले जांयगे। जो महाशय आ० सि० का वार्षिक मूल्य भेजा करें वे अपना नम्बर अवश्य लिख दिया करें जिस से हिसाब में भूल न पड़े॥

धन्यवाद ॥

पं० गंगादीन जी जमादार आ० स० जबलपुर २) पं० भगवानूदीन जी तिवारी जबलपुर २) गोवर्द्धनलाल शर्मा मगरायर ॥) कालकाप्रसाद शर्मा उपदेशक सुखचैनपुर की मार्फत अनेक महाशयों के २०॥-) पं० महेशप्रसाद गुसाईंगंज १) नाथूराम जी शंकर हर्दु आगंज ३) बा० मुकुन्दीलाल जी काजिमावाद २) उमरावसिंह शर्मा नायक नगला २) बा० सन्तप्रसाद जी वनारस १) श्रीजगन्नारायण जी १) सेठ वेलजी लखमसी मुम्बई ४) श्री शालिग्राम जी वाजपेयी इंस्पेक्टर पुलिस रायगढ़ ने नाती के जन्मोत्सव पर दिये ५) श्री अश्विनीकुमार तिवारी चकराता ४) बा० ज्वालाप्रसाद जी डाकूर आसाम ९) बा० शाकम्भरीदास ओवरसियर मण्डला ५) पुस्तक विक्रय के नौ मास के ३३।=)॥ यह सब आमदनी अप्रैल ९३ से दिसम्बर ९३ तक [illegible] सहायतार्थ हुई इस के लिये उक्त दाता महाशयों को विशेष कर धन्यवाद दिया जाता है। मेरी बीमारी से पाठ-

नवीन पुस्तकें ॥

" ऐतिहासिकनिरीक्षण " यह पुस्तक अभी छप कर तैयार हुआ है । पं० लेखराम शर्मा आर्यपथिक को सभी लोग जानते हैं उन्हीं के बनाये "तारीख-दुनिया " पुस्तक का उर्दू से नागरी में बहुत शुद्ध और सरल अनुवाद हो कर छपाया है पुस्तक का अच्छा होना ग्रन्थकर्त्ता की योग्यता से ही सब लोग जान लेंगे इस में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं । पुस्तक बहुत अच्छा देखने योग्य है मूल्य भी ≡) मात्र है ॥

"गणरत्नमहोदधि" यह पुस्तक व्याकरणविषय का है । अष्टाध्यायी पाणि-नीय व्याकरण में जो गणपाठ है उस में ऐसे २ कठिन शब्द पढ़े हैं जिन का अर्थ प्रायः वर्त्तमान कोशों में भी नहीं मिलता द्वितीय पाणिनीय व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थी चाहें तो गणपाठ को सहज में कण्ठस्थ भी नहीं कर सकते इसी लिये वर्धमान नामक पण्डितवर्य ने विक्रमीय संवत् ११९७ में गणपाठ के शब्दों को अच्छे २ छन्दों में श्लोकबद्ध करके ऐसी सुगमवृत्ति बना दी है कि व्याकरण पढ़ने पढ़ाने वालों को बड़ी सुगमता हो गयी । श्लोकबद्ध हो जाने से गणशब्दों को सहज में कण्ठस्थ करके वृत्ति से ठीक २ अर्थ भी जान सकते हैं । अभी तक यह पुस्तक भारतवर्ष में कहीं नहीं छपा था । और अन्त में अकारादि क्रम से सब शब्दों का सूचीपत्र छपा दिया है जिस से किसी शब्द का अर्थ देखना चाहो सो सहज में देख सकते हो । परन्तु संस्कृत का व्याकरण न जानने वालों के लिये यह पुस्तक विशेष उपकारी नहीं है । पुस्तक बड़ा है तथापि मूल्य १॥) मात्र रक्खा है डाकव्यय पृथक् । अब एक मास तक १) रु० में मिलेगा । यदि कोई महाशय पांच पुस्तक इकट्ठे लेंगे तो उन को पांच पुस्तक के मूल्य में छः पुस्तक दिये जांयगे । तथा और अधिक लेने वालों को कुछ और भी सस्ते दिये जांयगे॥

" भर्तृहरिकृत नीतिशतक " यह पुस्तक भाषार्थ सहित छपाया है यद्यपि इस की भाषा अन्यत्र भी छपी है । परन्तु इस भाषानुवाद को देखने वाला अन्य को कदापि प्रसन्न न करेगा तथा मूल्य भी थोड़ा है । नीतिशतक का उपदेश सर्वहितकारी सब के कल्याण का मार्ग है मूल्य ≡)

"किरानीलीला–वेश्यालीला" इस में देखने योग्य अच्छे २ छन्द एक आर्य महाशय ने बनाये हैं इसको देखनेवाले किरानी तथा वेश्याओं से बच जांयगे मू०)॥।

"नागरी का प्रथमपुस्तक" पं० रमादत्तकृत बालकों के पढ़ने योग्य है मूल्य –)

" नीतिसार " नीतिसम्बन्धी अच्छे २ वचनों का सङ्ग्रह भाषार्थसहित पं० रमादत्त ने किया है मूल्य =)॥

"विनीगाष्टक" पं० रमादत्तकृत इस में अनेक विषयसंगृहीत हैं । अब का

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयद्वीक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ६] मासिकपत्र [अङ्क ७।८

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सन् १८९४ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १)

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

७५ श्री रामचरण दीक्षित घाटमपुर २॥)
६५७ श्री गोबर्द्धनलाल मगरायढ़ २॥)
६०५ बा० रामजीदास लखनऊ १॥)
२९० श्री मोतीलाल कुवेरदास जी मेराई २॥)
३५ श्री प्रतापचन्द जी रईस धार ४)
१०३ श्री ज्वालादत्त मिश्र चेचट १।)
४१३ श्री परसीसाह जी गंगोला २॥)
६६० श्री रामचरण शर्मा विलासपुर २॥)
६६३ श्री कृष्णचन्द जी मीलम २॥)
३०९ बा० मथुरालाल जी उज्जैन १।)
९६२ बा० बालासिंह जी उज्जैनि १।)
९५० श्री देवीसिंह जी हुशंगाबाद १।)
५९३ श्री लक्ष्मीदास जी नाहन २॥)
१८६ श्री परमानन्द वाजपेई शिमला २॥)
१८८ श्री भण्डारीलाल जी शिमला २॥)
९४८ श्री नारायणदास जी शाहाबाद १।)
७७३ श्री दत्तशर्मा जी बडनेरा १।)
११ श्री तारादत्त पन्त अल्मोड़ा २॥)
३८२ श्री वेनीप्रसाद जी शिवरीनारायण २॥)
६४२ श्री नित्यानन्द जी गुजरांवाला ≡)
१७० श्री सालिग्राम जी लालगढ़ी १।)
८६५ श्री मुकुन्दीलाल जी काज़िमाबाद १।)
९४७ पं० सिद्धेश्वरी जी उभरियाखलेसर १।)

९४६ बा० गंगाराम जी डलमऊ १।)
३१० श्री पशुपतिनाथ जी दानापुर १)
२९० श्री द्वारिकाप्रसाद जी गाजीपुर १।)
३४६ कालूराम जी सेठों का रामगढ़ २॥)
१३१ गोविन्दप्रसाद जी महम्मदपुर १।)
६२४ बा० गोकुलप्रसाद जी समस्तीपुर १।)
७८२ श्री गोकुलचन्द माथुर कालका १।)
८०७ बा० गुलावसिंह हुशंगावाद २॥)
३९५ डा० गोपालदास जी खेरवाड़ा २॥)
९५९ राना वहादुरसिंह देहरादून १।)
९०७ राय दुर्गाप्रसाद जी नागपुर १।)
९५१ बड़ेजू श्री दीपचन्द वर्मा वांकानेर १।)
५१ बा० बालकृष्णसहाय जी रांची २॥)
२८५ अम्बिकाप्रसाद जी भाब्रर १।)
१०६ श्री शिवदयालु जी तिगांव १।)
६१७ पं० रामप्रसाद जी गंडोला १)
९६४ पं० भवानीदत्त शर्मा अवलाकोट १।)
५९२ बालकृष्णसहाय जी चम्बल १।)
४३१ श्री सुलतानीराम अमृतसर १।)
७१८ सुखमंगल जी मिश्रलखनऊ १।)
१२३ बा० बंशीधर जी गेन्दोली १।)
२०७ श्रीसेठ रामदीन जी महेसपुरा १।)
४९५ श्री कालीचरण मिश्र शाहाबाद २॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ७ । ८

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क ५।६ के पृ० ७२ से आगे

यज्ञसम्बन्धी लेख ॥

होना आवश्यक है क्योंकि दक्षिणा में हिलचल वा न्यूनता होगी तो ऋत्विगादि ठीक २ परिश्रम से यज्ञ न करेंगे इस लिये दक्षिणा भी एक यज्ञ का बड़ा अङ्ग है। उक्त प्रकार की यज्ञशालाओं का नाम ही पूर्वकाल में देवालय था ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि देव नाम यज्ञ का है तो देवालय यज्ञालय शब्द एकार्थ हो गये। ऐसी यज्ञशाला भारतवर्ष में कहीं नहीं दीखतीं इस से मानने पड़ता है कि आर्यसमाज में भी अभी पूर्ण उत्तम रीति से यज्ञ नहीं होता तो भी अनुमान होता है कि आगे २ यज्ञ की प्रणाली सुधरे गी। जैसे आयुर्वेद में लिखे प्रकारों से आज कहां पाकशाला है कौन पाचक है? और किस के यहां वैसा पाक बनता है इस बात को खोजें तो कहीं न मिले गा। इस का एक कारण तो प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने की चाल का उठ जाना और द्वितीय आर्यों के राजयाधिकार से च्युत हो जाना कारण है। अर्थात् सर्वोत्तम पाकाङ्गों वा यज्ञाङ्गों का संचय राजा ही कर सकता है। सर्वसाधारण का काम नहीं है। इसी लिये अनेक बड़े २ अश्वमेधादि यज्ञ राजा के लिये कहे गये हैं। आर्यसमाज में धनादि की न्यूनता से भी यज्ञादि की पूर्ण सिद्धि नहीं है इस प्रकार

आर्यसमाज का यज्ञ श्रौत रीति पर किया गया था क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार वेदकी आज्ञा को प्रधान मान कर वेदोक्त मन्त्रों से किया यज्ञ श्रौत कहावे गा। और वैश्वदेवादि जिसके मन्त्र भी स्मृति प्रतिपादित हैं वह स्मार्त्त है। श्रुति नाम वेद में कहा श्रौत और स्मृति नाम धर्मशास्त्रों में कहा स्मार्त्त कहाता है क्या आक्षेपकर्त्ता श्रौत स्मार्त्त शब्दों का अर्थ इस से भिन्न कुछ समझते हैं? तो प्रकट करें हम उस का भी उत्तर देंगे ॥

आक्षेप—फिर वहां पर यह बात भी किसी की समझ में न आयी कि यह हवन किस उद्देश से किया गया है और इस का दृष्टादृष्ट फल वा फलभागी यजमान कौन है ? ॥

उत्तर—क्या आपने प्रत्येक मनुष्य जो २ होम में उपस्थित थे उन से पूछ कर निश्चय कर लिया था कि सब किसी की समझ में यज्ञ का उद्देश नहीं आया ?। यदि सब से पूछ लिया कहो तो मिथ्या कथन होगा। क्योंकि वहां उपस्थित हुए सभी को ज्ञात है कि उद्देश नहीं पूछा गया। और जब नहीं पूछा तो क्या आक्षेप कर्त्ता अन्तर्यामी हैं जो लिख बैठे कि उद्देश वहां पर किसी की समझ में नहीं आया ?। यदि कहें कि किसी की समझ में नहीं आया इस वाक्य से हमारा प्रयोजन है कि हम पौराणिक लोगों की समझ में नहीं आया। तो यह आशय उस वाक्य से नहीं निकल सकता आप की लेख करने में भूल अवश्य हुई। अस्तु मान लिया कि आप की समझ में नहीं आया फिर बताइये कि यह किस का दोष हुआ ?। कोई ग्रामीण बुद्धिहीन मनुष्य किसी कलाघर में जा कर कहे कि यह मेरी समझ में नहीं आता क्या है ?। तो ऐसी उस की बेसमझी से वह मनुष्य ही बुद्धिहीन ठहरे गा किन्तु उस के न समझ आने से कलाघर निरुद्देश वा व्यर्थ नहीं ठहर सकता इसी प्रकार आप की समझ में यज्ञ का उद्देश न आया यह दोष भी आप पर रहा आप को चाहिये था कि लज्जित होकर आगे को शास्त्र द्वारा यज्ञ के उद्देश का निश्चय करें सो न करके उलटे चले। स्मरण रक्खो कि उलटे चलने से गिरने का पूरा भय है। यज्ञ का दृष्ट अदृष्ट फल शोचने के लिये अधिक विद्या बुद्धि की आवश्यकता है सो आप की समझ में नहीं आ सकता। कोई निर्जल देश में बापी कूप तड़ागादि बनवावे वा बाग लगावे तो आप क्या दृष्टादृष्ट फल ठहरावें गे ?। अथवा निष्फल मान लोगे। आप की समझ में दृष्टादृष्ट फल नहीं आया इस के दो अभिप्राय हो सक्ते हैं एक तो उस यज्ञ का

दृष्टादृष्ट फल कुछ नहीं व्यर्थ किया गया द्वितीय यह कि आप की समझ में नहीं आया। पहिली दशा में आप को सिद्ध करना था। द्वितीय यदि आप नहीं समझे तो यह आप का दोष रहा आर्यसमाज जबलपुरपर कुछ दोष नहीं आता। यदि आप किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध कर सक्ते हों तो अवश्य सिद्ध कीजिये कि आर्यसामाजिक यज्ञ का दृष्टादृष्ट फल कुछ नहीं है तो हम बहुत अच्छा उत्तर दे सकें गे।

आक्षेप—खैर शाम को ६॥ बजे जब पण्डित देवीदयालु शर्मा ने हवन पर एक व्याख्यान दिया जिस का सारांश यह था कि "हवन से मकान की वायु शुद्ध होती है" तब हम लोगों को यह मालूम हुआ कि इस हवन का मुख्य फल वायु शुद्धि और उस के भागी बाबू रामपाल सिंह हैं......पर इस लाभ के लिये जबलपुर आर्यसमाज का रुपया क्यों फूंका गया ? ॥

उत्तर—हम सत्य २ कहते हैं कि आप तब क्या अब तक भी कुछ नहीं समझे न आप समझना चाहते हैं यदि समझना चाहो तब तो आप कुछ काल तक वेदार्थ जानने और सत्सङ्गादि करने पर अवश्य कुछ समझ सकते हो परन्तु आप के साथ में हठ दुराग्रह और मिथ्या अहङ्काररूप शत्रु जो लगे हैं वे कुछ नहीं करने दें गे। जिज्ञासु मनुष्य ज्ञान का अधिकारी हो सकता है अस्तु जो हो सब दशाओं में हमारा काम समझाना है यदि कोई न समझे वा न समझना चाहे तो यह उस का दोष होगा। और उपदेश द्वारा न समझावें तो हम भी दोष भागी हो सकते हैं। यद्यपि पण्डित देवीदयालु जी के व्याख्यान में मैं वा अन्य पाठक लोग नहीं थे तथापि यह किसी को विश्वास नहीं हो सकता कि "हवन से मकान की वायु शुद्ध होती है" इतना ही आशय सब व्याख्यान से निकाला हो। ये शब्द आक्षेपकर्त्ता ने अपने आप गढ़ लिये हैं सम्भव है कि पं० दे० जी के व्याख्यान का यह आशय हो कि हवन से वायु की शुद्धि होती है। परन्तु ऐसा अभिप्राय होने पर भी यह नहीं आता कि यज्ञ करने का और कुछ प्रयोजन नहीं। क्योंकि पं० दे० जी क्या कोई साधारण मनुष्य भी नहीं कह सकता कि वायु का शुद्ध होना ही केवल यज्ञ का प्रयोजन है। अब मैं यज्ञ के महत्त्व पर कुछ संक्षेप से लिखता हूं। "यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः" वात्स्यायन ऋषि न्यायभाष्यकर्त्ता ने लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मण का सामान्य कर यज्ञ ही विषय है [illegible] मैं सर्वोपरि उपदेश है। संसार में मनुष्य के इष्ट सुख

की सिद्धि और अनिष्ट दुःख की निवृत्ति के लिये जितने उपाय वा कर्त्तव्य वेदादि शास्त्रों द्वारा बतलाये जाते हैं उन सब का मूल वा सब में प्रधान सब इष्ट सुखों का साधक सब अनिष्ट दुःखों का हटाने वाला यज्ञ ही है। इसी लिये धर्म के बड़े २ अंशों में पहिला यज्ञ माना गया है "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति छान्दोग्ये" धर्म के तीन प्रधान अंश वा हिस्सा हैं जिन में पहिला यज्ञ है। धर्म का सामान्य वा मुख्य अर्थ यही है कि जिस से कर्त्ता को तत्काल ही चित्त के सन्तोष शान्ति आदि द्वारा सुख पहुंचे और सर्वसाधारण का वा किसी अन्य निज का भी उस से उपकार हो। इसी लिये परोपकार भी धर्म का मुख्य अर्थ है क्योंकि धर्मसम्बन्धी जगत् में जितने कर्म माने जाते हैं उन सब से किसी न किसी प्रकार परोपकार होता ही है। जैसे दया, दान, बाग लगाना, कुआ, बावली, तालाव और प्याऊ सदावर्त्त आदि सब से अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना प्रसिद्ध है। इसी कारण दयादिक धर्म माने जाते हैं जब परोपकार ही प्रधान वा मुख्य धर्म ठहरा तो शोचना चाहिये कि यज्ञ से कितना और कैसा परोपकार होता है ?। हम अपने हृदय से सत्य २ दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि यज्ञ की बराबर कभी किसी काम से सर्वोपरि सर्वोपकार न हुआ और न हो सकता है। थोड़ा ध्यान दे कर शोचने से सब लोग जान सकते हैं कि दान पुण्य सदावर्त्त आदि से किन्हीं खास २ प्राणियोंको जो उस समय उस स्थान में उपस्थित हों सुख पहुंचाया जा सकता है परन्तु जो उत्तम २ पदार्थ अग्नि में चढ़ाने से अग्नि के तेज से परमाणुरूप सूक्ष्म हो कर वायु द्वारा सब संसार में फैल जाते हैं प्रथम तो वे सूक्ष्म परमाणु अग्नि के तेज सहित जहां २ पहुंचते हैं वहां के वायु को शुद्ध करते हैं वा जीवन का आधार बनते हैं क्योंकि वायु के ठीक यथावस्थित शुद्ध रहने पर ही प्राणरूप वायु की रक्षा से जीवन रह सकता है। वायु का सुधरना जीवन और बिगड़ना ही मरण है। प्राणवायु जिस का नाम जीवन है वह एक ऐसा तत्त्व है जो तैजस और वायव्य दोनों अंशों के संयोग से बना है। इसी कारण उष्णता को लिये सुगन्धयुक्त वायु से प्राण वा जीवन की विशेष रक्षा है। इसीलिये गर्मी के साथ जीवन की रक्षा वा प्राण की रक्षा स्पष्ट दीखती और जब शरीर ठंढा होने लगता है रोगी के हाथ पांव में गर्मी नहीं जान पड़ती तभी उस का मरण समय सब को जान पड़ता है इस कारण जिन घरों में नित्य होम होता रहता है वहां की बाहिरी वायु

प्राण के अनुकूल रहने से प्रायः रोग होते ही नहीं और अन्य कारण से हुए रोग भी ऐसे प्रबल नहीं होने पाते जो शीघ्र ही प्राण को नष्ट कर सकें।

इस के पश्चात् वह हुत पदार्थ अग्नि से सूक्ष्म हो कर वायु द्वारा सब जगत् में फैल जाता है और स्थावर जंगम सभी के जीवन की यथायोग्य रक्षा करता है तथा वह होम किया पदार्थ अग्नि वायु द्वारा आकाशस्थ मेघमण्डल में पहुंच कर सर्वोपरि जगत् का उपकारी होता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु०
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ भगवद्गीता०

भावार्थ—घृतादि उत्तम पुष्ट सुगन्धि युक्त शुद्ध किये रोगनिवारक वस्तुओं की विधिपूर्वक अग्नि में जो आहुति डाली जाती है वह अग्नि वायु द्वारा आकाशस्थ मेघमण्डल में पहुंच कर सूर्य के किरणों की सहकारिणी हो कर मेघ को उत्पन्न कराती है क्योंकि घृतादि के पड़ने से अग्नि का तेज अनेक गुणा एव साथ बढ़ जाता है जिस में ऊपर को चढ़ने की शक्ति बढ़ जाती है। और आकाश में गर्मी की अधिकता ही वास्तव में वर्षा का कारण है इसी से ग्रीष्मऋतु में गर्मी के अधिक बढ़ने पर ही वर्षा अच्छी होती है और "अग्नेरापः" अग्नि से जल उत्पन्न होता यह वेद का सिद्धान्त भी इसी के अनुकूल है अर्थात् अग्नि जल का कारण है अग्नि की वृद्धि में जल की वृद्धि और हानि में हानि है इस प्रकार यज्ञ से बढ़ा वा प्रबल शक्तिवान् हुआ इन्द्र नाम सूर्य वर्षा का हे होता है। और वर्षा के यथावत् होने से ही स्थावर जंगम सब जगत् की ठीक रक्षा होती है क्योंकि वर्षा से ही सब प्राणियों का भक्ष्य उत्पन्न होता है जिस जीवित रह सकते हैं "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अ के आश्रय ही प्राणियों के प्राण वा जीवन स्थिर रह सकते हैं। यद्यपि कूप नदी नहर तालाव आदि के जल से भी कुछ २ अन्नादि उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु शोच से ज्ञात हो सकता है कि एक दो वर्ष तक कुछ भी वर्षा न हो तो किसी न तालाव आदि में जल रह ही नहीं सकता सब सूख जाना सम्भव है तब जग के प्रलय का समय आजाना सम्भव है। इस विषय पर कोई महाशय शंका

सकते हैं कि जिन प्रान्तों वा देशों में आजकल सूखा वा दुर्भिक्ष हो जाता है वहां कोई आर्यसमाजी पुरुष वा उपदेशक जाकर यज्ञ करके वर्षा करा दे तो कहीं भी कोई वर्षा के अभाव से होने वाले दुःख से दुःखी न हो। इस पर हमारा उत्तर यह है कि—

जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा।

जो मनुष्य जिस उपाय की मात्रा जानता है उस के सब काम ठीक २ सिद्ध होते जाते हैं। जैसे कोई विद्वान् वा बुद्धिमान् कहे कि जल में शक्कर मिलाने से शरबत बन जाता है इस को झूठा ठहराने के लिये कोई मनुष्य पांच सेर जल में एक तिलभर वा पावरत्ती चीनी छोड़ कर पीवे तो मीठा न होने पर उपदेशक को झूठा बतलावे कि चीनी से जल मीठा नहीं होता। जैसे पावरत्ती चीनी से पांच सेर जल कुछ भी मीठा नहीं हो सकता वैसे ही छोटे २ साधारण होम वा यज्ञों से भी वर्षा उत्पन्न नहीं हो सकती इस लिये मात्रा का ज्ञान प्रत्येक कर्त्तव्य में मनुष्य को करना चाहिये कि कितने उपाय से किस कार्य की सिद्धि हो सकती है। मात्रा का ज्ञान न हो तो यह उसी मनुष्य का दोष है उपदेशक वा शास्त्र का कुछ दोष नहीं। यदि सब नगर वा ग्रामादि में सदैव नित्य नैमित्तिक होम यज्ञ होते रहें तो समयानुकूल सर्वत्र ठीक २ वर्षा भी होती रहे। यदि कोई कहे कि आज कल यज्ञों के न होने पर भी कहीं ठीक २ यथोचित और कहीं अतिवृष्टि भी क्यों होती है?। इस का उत्तर यह है कि हमारा यह पक्ष वा साध्य नहीं है कि यज्ञ किये विना वर्षा नहीं हो सकती यज्ञ से ही वृष्टि होती है किन्तु हमारा कहना यह है कि गर्मी की अधिकता का आकाश में पहुंचना वर्षा का कारण है और ईश्वरीय सृष्टिक्रम के अनुसार यथावसर गर्मी की वृद्धि होती ही रहती है तथा मनुष्यों के भी अनेक कार्यों से आकाश में गर्मी बढ़ा करती है उस सभी प्रकार की गर्मी से वर्षा होना सम्भव है किसी प्रान्त में जल आदि के धूमादि द्वारा और भी कुछ अधिक गर्मी आकाश में पहुंची तो वहां अतिवर्षा होना भी सम्भव है। परन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि जैसे हम प्राणीमात्र अपने लिये सुख चाहते हैं और ऐसे काम स्वयं वा अन्य द्वारा होना अच्छे नहीं मानते जिन से हम को दुःख पहुंचे। क्या सूखी विष्ठा इकट्ठी कर जलायी जाय तो आकाश में गर्मी न चढ़ेगी? परन्तु शोचने से मालूम हो सकता

है कि दुर्गन्धयुक्त परमाणु वर्षा में मिलने से ओषध्यादि मनुष्यादि के भक्ष्य पदार्थ कैसे मलीन और रोगकारी वा दुःखदायी उत्पन्न होंगे। जैसे विष्टा जल कर वायु के दुर्गन्धित कर देने से रोगादि द्वारा प्रजा को विशेष दुःख पहुंचने की सम्भावना है वैसे ही वायु में सुगन्धि फैलने से आरोग्यतादि द्वारा प्रजा को सुख पहुंचने की सम्भावना क्यों नहीं कर सकते? आप शोचिये कि हम क्या चाहते हैं? कि रोगनाशक बलवर्द्धक सुखकारी अन्नादि जगत् में पैदा हों और हम को खाने के लिये मिलें जिस से हम सुखी रहें सो यह हमारी चाहना यज्ञ द्वारा सुगन्धित गर्मी के आकाश में अधिक पहुंचने से सिद्ध हो सकती है। द्वितीय सब नगर ग्रामादि में नित्यनैमित्तिक यज्ञ यथावसर होते रहें तो कहीं भी दुर्भिक्ष वा वर्षा के अभाव से प्रजा को पीड़ा पहुंचना सम्भव नहीं। यदि कभी कहीं कुछ अनवृष्टि भी हो तो वहां विशेष यज्ञ उस समय करें ४० वा ५० हजार रुपये का यज्ञ करें तो वर्षा तत्काल होना सम्भव है। रेल का धुआं भी वास्तव में रोगादि फैला कर दुःख का बड़ा कारण है। राज्यादि के विलक्षण प्रबन्ध से नाना प्रकार का बहुत दुर्गन्ध वायु में फैल कर रोगादि से प्रजा में दुःख फैलाता और मेघमण्डल के जल को वही दुर्गन्ध दुर्गुणयुक्त कर देता है उसी जल की वर्षा से मनुष्यादि का भक्ष्य ओषधि वनस्पत्यादि अन्न रोगकारक दुःखवर्धक उत्पन्न होता है इस दशा में प्रजा निरुपद्रव सुखी रहे यह असम्भव है। इस अनिवार्य रोग की ओषधि सर्वोपरि सर्वोपकारी यज्ञ ही हो सकता है। पूर्वकाल में जब आर्य राजा होते थे तब विष्ठादि कहीं इकट्ठे नहीं किये जाते थे और जङ्गल अधिक थे प्रायः लोग सघन नहीं बसते थे खेतों वा बंजर में दिशा जाते थे अलग २ पड़ा मल शीघ्र सूख जाता था ऐसा दुर्गन्ध नहीं बढ़ता था मनुष्य संख्या भी पहिले विषयासक्ति के कम होने से कम थी यही प्राचीन सभ्यता थी परन्तु अब जङ्गल से लौट कर मलत्याग घर में करना ही बड़ी सभ्यता समझी जाती है पूर्वकाल में पूर्वोक्त प्रकार दुर्गन्धादि के अधिक न बढ़ने से वायु जल के शुद्ध रहने पर भी राजा प्रजा सब की ओर से हुए यज्ञादि से वायु जल स्थान मेघमण्डल की सर्वदा शुद्धि होती रहती थी तभी तो मनुष्य दीर्घजीवी बलिष्ठ साहसी उत्साही बुद्धिमान् सत्त्वगुणी धर्मात्मा अधिक कर उत्पन्न होते थे जिस से प्रायः प्रजा में सुख होता था। यह सब यज्ञ का ही प्रताप था। अच्छे प्रकार कोई कभी शोचे तो यज्ञ के समान उत्तम परोपकारी सुखदाता संसार परम

का सुधारने वाला संसार में कोई धर्म वा कर्म और नहीं है और यह बात केवल कल्पनामात्र नहीं है किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन भाग प्रधान किये हैं अर्थात् तीन के अन्तर्गत सब धर्म आ जाता है जैसे "यज्ञोऽध्ययनं दानमिति" इन तीनों में भी यज्ञ ही प्रथम संख्या (अव्वल नम्बर) में रक्खा है तो यह बात सब शास्त्रों वा वेदों के अनुकूल हुई कि यज्ञ से बड़ा और कोई धर्म कर्म जगत् में नहीं हो सकता। आशा है कि इस थोड़े से लेख से यज्ञ का बड़ा फल सर्वमहाशयों को विदित हो जायगा। जब यज्ञ का ऐसा बड़ा प्रसिद्ध सर्वोपरि प्रयोजन वा फल वेदादि शास्त्रों के अनुकूल सिद्ध है तो न समझने वाले के लिये हमारे पास क्या ओषधि है ? ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ॥

जिस को स्वयं बुद्धि (समझने की शक्ति) नहीं शास्त्र वा उपदेश ग्रहण की योग्यता नहीं उस के लिये शास्त्र क्या कर सकता है। जैसे दर्पण अन्धे को रूप नहीं दिखा सकता। यज्ञ का फल केवल वायु की शुद्धि ही मानली जावे तो भी आक्षेपकर्त्ता को बताना चाहिये कि आप ने वा मकान के स्वामी बा० रामपालसिंह ने वायु का आना जाना रोक दिया था क्या ?। अथवा मकान में जितना वायु वा यज्ञ का धूम उठा उस को क़ैद कर रक्खा था जो इधर उधर कहीं नहीं जा सकता था फिर ऐसा व्यर्थ का प्रश्न उठाने वा आक्षेप करने में लज्जा क्यों नहीं आती। जब वायु के गमनागमन को कोई नहीं रोक सकता तो उसी घर का वायु शुद्ध हुआ यह कमसमझी की बात है। वायु की शुद्धि भी यज्ञ का कुछ थोड़ा वा छोटा साधारण फल नहीं है। किन्तु जिस वायु का शुद्ध होना ही मनुष्यादि प्राणियों का जीवन और वायु का विशेष अशुद्ध होकर बिगड़ जाना ही मरण है। फिर जिस यज्ञ से जीवन की रक्षा हुई उस से बड़ा और कौन काम हो सकता है। जब यज्ञ का ऐसा बड़ा माहात्म्य और फल है तभी तो आर्यलोगों ने सृष्टि के आरम्भ से ही ईश्वरीयविद्या वेद को माना और इसी से परमेश्वर की सर्वज्ञता और वेद सब विद्याओं का मूल पुस्तक है ऐसा कहने वा लिखने के लिये हम को उत्साह वा साहस होता है। यद्यपि यज्ञ जैसे बड़े काम का पूरा प्रयोजन लिखने की मुझे शक्ति नहीं तथापि प्रसङ्गानुसार कुछ लिख दिया। अब तुम के साधारण अन्य आक्षेपों पर और कुछ लिखना व्यर्थ समझ के इस लेख को समाप्त करता हूं। इति ॥

पाठक महाशयों को ज्ञात हो कि दक्षिण प्रान्त सूरतनगर के समीप धर्मपुर में एक देशी राज्य है मैं उस का विशेष हाल नहीं जानता । मेरे समीप धर्मपुर राज्य से निम्नलिखित प्रश्नों का पत्र छपा हुआ वर्त्तमान सं० १९५१ के आश्विन मास में आया और मैंने जो उत्तर दिया वह सर्व महाशयों के ज्ञातार्थ प्रकाशित करता हूं ।

ता० १६–९–९४ ओ३म् वलसार होइके धरमपुर

सब महाशयों को बिदीत हो की कितनी एक राज्यों में जो बलेऊ दसहरा वगैरे परबो पर देवी अथवा देवता को भोग और पूजा, ने, जीवहिंसा करते थे और होता है (भैंसा वा बकरा वगैरे प्राणी का भोग देते हैं) और होता है कारन कीं शास्त्र के प्रमाण से होता रहा है की राजा लोगें ने आपनी खुषी से जीवहिंसा प्रचलित की है इस विषय में अबी श्रीमान् महाराणा साहब महाराज की ऐसी इच्छा है कि पशुवध करना अथवा करवाना कुछ आवश्यक प्रयोजन नहीं है याने कोई बलवान् शास्त्र में राजाओं को एह कार्य अवश्य करने को कहा भी नहीं है इस वास्ते अनेक विद्वानों का मत लेके अथवा विद्वान् लोग शास्त्रविचार के मेरे को सूचना करें तो जीवहिंसा बन्द कर देनी चाहिये सो इस विषय में आपना, आपना विचार लिखना सो मेरी इच्छा है कि विद्वानो के मत से होना सो नीचे लिखे प्रश्नों के प्रमाणों से सब विद्वानों की तरफ से बराबर शास्त्रप्रमाण खुलासा मिलने की आशा रखता हूं.

प्रश्न १–किस प्रकार की पसूहिंसा करना किस शास्त्र में कहा है ॥

२–जिस शास्त्र में कहा हो बिस शास्त्र का प्रमाण आर्य लोगें में है वा नहीं अथवा बहुत लोग मानते हैं कि नहीं ॥

३–ते शास्त्रकरता बलवान् और जिस शास्त्र का प्रमाण बहुत लोग मानते हो ऐसा कोई शास्त्र मा जीवहिंसा का निषेध किया है कि नहीं ॥

४–राजाओं को अवश्य करतव्य होय तो शास्त्र की मर्यादा तोड़ी गिनी न जाय सो क्या प्रमाण है ॥

५–सो हिंसा बध करने में न आवे तो राज्य और प्रजा को अथवा राजा के अङ्ग में कोई तरेका विघ्न आवे तो किस शास्त्र मां बलवान् प्रमाण है ॥

६—पसूवध के बदले दूसरी कोई हिंसा रहित उपाय शास्त्र के अनुकूल होय अथवा शास्त्र की आज्ञा तोड़ी न गिनी जाय या नहीं ऐसी हिंसा रहीत क्या २ क्रिया बराबर हो सकती हैं ॥

७—पसूहिंसा के बदले उस जीव की नाक तथा कान छेद के वा काट के छोड़ देवे तो उस देवता वा देबी की पूजा हुई गिनी जाय या नहीं ॥

ऊपर लिखे प्रश्नों का जथार्थ आप लोग क्रिपा करके उत्तर देना इन प्रश्नों का जो जो उत्तर विद्वानों की तरफ से आवेगा सो इस काम के वास्ते यहां श्रीमान महाराजा साहब की तरफ से कमेटी नियत की गई है सो उस कमेटी में विचार श्रीमान् के रूबरू किया जायगा—इंचार्जदीवान

उ० १- सिंहादयो निर्बलप्राणिघातकाः प्रजापीडकाः पश्वादयः प्राणिनः प्रजारक्षायै क्षत्रियैराजपुरुषैर्हन्तव्या इति वेदादिसर्वशिष्टानुमतशास्त्रेषु विहितम् । यश्च "मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः" इत्यादिना शिष्टानुमतमन्वादिप्रणीतधर्मशास्त्रेषु पशुवधो विहितइव लक्ष्यते स च नायं पशुवधविधिरपितु विध्याभास एव। नहीदृशानि वचांसि मन्वादिमहर्षिप्रणीतान्यपितु पश्चात्कैश्चित्स्वार्थिभिः प्रक्षिप्तानीत्यनुमीयते । तथाचोक्तं महाभारते मोक्षधर्मपर्वणि "अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः । संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसासमनुवर्णिता १ सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् । अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥२॥ सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृसरौदनम् । धूर्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥ ३ ॥ मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् । विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः॥ ४ ॥ तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा । तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न

यज्ञिया ॥ ५ ॥ एतेन स्पष्टमेव निस्सरति यज्ञेष्वपि पशुवधो वेदादिसच्छास्त्रानुकूलो नास्तीति । देवीदेवतोद्देशेन च शिष्टसम्मतवेदादिशास्त्रेषु पशुवधः क्वापि कर्त्तव्यत्वेन विहितो नैव दृश्यते प्रत्युत निषेधस्तु निस्सरति तद्यथा—यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । इति ब्रुवता मनुना मद्यमांसादिकं देवान्नं नास्तीति स्पष्टमेव विज्ञाप्यते पुनर्देवतोद्देशेन क्रियमाणः पशुवधः शास्त्रविरुद्ध एवेति निश्चेयम् । नहि हविर्भुजो देवा मद्यमांसादिकं खादन्ति ये च खादन्ति न ते देवाः किन्तु मद्यमांसभुजो राक्षसादयो हविर्भुजो देवाः ॥

२—येषु मार्कण्डेयपुराणादिषु देवतोद्देशेन पशुवधः प्रतिपाद्यते न ते ग्रन्थाः शिष्टार्यसम्मताः । शिष्टार्याश्च वेदानेव सर्वथा प्रमाणी कुर्वन्ति न तु वेदविरुद्धान् । अतः सर्वशिष्टार्यत्याज्या हिंसाऽस्तीति मन्तव्यम् ॥

३—मनुस्मृत्यादिषु सर्वसम्मतशास्त्रेषु जीवहिंसानिषेधो बहुप्रकारेण दृश्यते हिंसा सर्वपातकानां मूलमहिंसा च सर्वधर्माणां प्रधानो धर्म इति मानवधर्मशास्त्रसिद्धान्तः । योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते । अतो महिषवर्करादयहिंसकानां प्राणिनां हन्तारोऽपि न कदाचित्सुखमाप्स्यन्तीति स्पष्टमायाति ॥

४—विजयदशम्याद्युत्सवेषु राज्ञां पशुवधविधानं सच्छास्त्रेषु नास्ति ।

५—अनिष्टत्यागाद्विघ्नः कोऽपि न भवति । मङ्गलं तु सर्वदा भविष्यतीत्यनुमीयते ।

६—यतः पापजनकः पशुवधः पुनस्तत्प्रतिनिधिकार्यमप्यनिष्टमेवास्ति ॥
७—महिषवर्करादीनां कर्णनासाद्यङ्गच्छेदोऽपि नैव कर्त्तव्यः। न च तत्कर्म क्वापि विधीयते। दुःखजनकत्वात्तदपि कर्म कथमप्यधर्मजनकमेवास्तीति। अतो मदनुमतौ महाराजधर्मपुराधीशेन विजयदशम्याद्युत्सवेषु महिषादीनां वधोऽवश्यं त्याज्यो महिषादिभ्योऽप्यभयदानं दातव्यम्। धर्मपुरे महिषादिहिंसनेन येषां मनुष्याणां मांसादिना कथमपि किमपि भक्ष्यमुपलब्धं भवति तेभ्यस्तत्प्रतिदाने पक्वान्नादिकं भोज्यं विभागेन ततोऽप्यधिकं महाराजेन प्रदातव्यम्। एवङ्कृते महाराजो महापुण्यात्मा भविष्यति। एवं सत्येव धर्मपुरं नामान्वर्थं भविष्यतीति। यदि कश्चिच्छास्त्रार्थं कर्त्तुमिच्छेत्तदाहं तत्परोस्मि किं बहुना—

राज्ञोऽमात्यवर्गस्य चेष्टचिन्तको—भीमसेन शर्मा

भा०—निर्बल दीन प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाले प्रजापीडक सिंहादि दुष्ट प्राणियों को प्रजा की रक्षा के लिये क्षत्रिय राजपुरुष मारें ऐसा विधान वेदादि सत्यशास्त्रों में पाया जाता है और जो "मधुपर्क, यज्ञ, पितृदेव कर्म में ही पशु मारने चाहिये अन्यत्र नहीं" ऐसा विधान मनुस्मृति आदि श्रेष्ठ पुस्तकों में मिलता है सो ऐसे वचन मनु आदि के कहे नहीं हैं किन्तु पीछे किन्हीं स्वार्थियों ने मिलाये हैं। क्योंकि महाभारत शान्तिपर्व में स्पष्ट लिखा है कि "वेदादि शास्त्र से विरुद्ध चलने वाले मूर्ख नास्तिक तमोगुणी संशयात्मा दुष्ट लोगों ने मन्वादि के नाम से हिंसा का वर्णन यज्ञादि में किया है॥ क्योंकि धर्मपरायण मनु जी ने तो सब अच्छे कामों में अहिंसा ही कही है क्योंकि सब प्राणियों के लिये सब धर्मों से बड़ा धर्म मनु जी ने अहिंसा को ही माना है" इत्यादि कथन से स्पष्ट ही आशय निकलता है कि यज्ञादि में भी कदापि हिंसा न करनी चाहिये। और देवी देवतादि के उद्देश से भी वेदादि

सत्शास्त्रों में पशुवध का विधान कहीं नहीं किया किन्तु निषेध तो अवश्य निकलता

है जैसे "यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न मद्यमांसादि है" ऐसा कहते हुए मनु जी ने स्पष्ट ही अपना आशय जता दिया कि मद्यमांसादि देवतों का अन्न नहीं अर्थात् मद्यमांसादि राक्षसादि का भक्ष्य और हविष्य देवान्न है इसी कारण देवतों का नाम ही हविर्भुज है। इस कारण मद्यमांसादि खानेवाले देवता हो ही नहीं सकते।

२–जिन मार्कण्डेयपुराणादि में देवता के नाम से पशु वध कहा है वे ग्रन्थ शिष्टार्य सम्मत और वेदानुकूल नहीं हैं किन्तु वेदविरुद्ध हैं। इस कारण धर्मात्मा होना चाहें वा अपना कल्याण चाहें वे हिंसा को सर्वथा सर्वदा छोड़ते जावें।

३–मनुस्मृति आदि सर्वसम्मत शास्त्रों में जीवहिंसा का निषेध विशेष कर किया गया है कि "जो अहिंसक बकरादि प्राणियों को अपने सुख के लिये मारता है वह जीवित रहने और मरने पश्चात् कहीं भी सुखी नहीं रह सकता" इस लिये भैंसादि को भी न मारना चाहिये क्योंकि भैंसा भी अहिंसक है।

४–विजयदशमी आदि के उत्सवों में राजाओं को पशुवध करने की अच्छे वेदा-नुकूल शास्त्रों में कहीं भी आज्ञा नहीं है।

५–बुराई वा पापकर्म के छोड़ने से विघ्न कुछ नहीं होता किन्तु मंगल अवश्य होना सम्भव है।

६–जिस कारण पाप का हेतु पशुवध है इस लिये उस के बदले किये काम से भी कुछ पाप ही होगा।

७–भैंसा बकरादि के कान नाक आदि भी नहीं काटने चाहिये। क्योंकि उस के लिये शास्त्र में कहीं आज्ञा भी नहीं है। दुःखजनक होने से वह भी अधर्म-सम्बन्धी कर्म है।

इस लिये मेरी सम्मति है कि महाराज धर्मपुराधीश को विजयदशमी आदि के उत्सवों पर भी भैंसादि की हिंसा अवश्य छोड़ देनी चाहिये भैंसादि को भी अभयदान देना चाहिये। धर्मपुर में भैंसादि के मारने से जिन मनुष्यादि को कुछ मांसादि से उपकार पहुंचता हो उन को उस के बदले में पक्वान्नादि देना चाहिये। ऐसा करने से महाराज को बड़ा पुण्य होगा। और ऐसा होने पर ही धर्मपुर नाम सार्थक हो जायगा। यदि इस विषय में कोई पण्डित शास्त्रार्थ करना चाहे तो मैं तैयार हूं। धर्मपुराधीश और अमात्य वर्ग का हितचिन्तक—भीमसेन शर्मा

मांसभोजन विचार द्वितीय भाग का खण्डन

गत अं० ५ । ६ पृ० ६४ से आगे ॥

नीचता है। मैं पूछता हूं कि आप भ्रष्ट हुए तो हुए औरों को भी न छोड़ोगे ?। अपने पूज्य वा गुरू लोगों को भी मांसाहारी बनाना चाहिये यह इन का उद्योग है सो व्यर्थ है क्योंकि मांसभक्षण को बुरा समझने वाले तुम्हारा साथ ही छोड़ देंगे उन को तुम मित्र बन्धु वा गुरु बना ही नहीं सकते और मांसभक्षण को अच्छा समझने वाले स्वयमेव खा सकते हैं उन को तुम क्या खिलाओगे ॥

मां०—शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ २५ ॥

अनायास प्राप्त हुए शय्या आदि का प्रत्याख्यान (नाहीं) न करे किन्तु ग्रहण करले ॥

नो०—सृष्टि नियमानुसार उत्तम पदार्थों का त्याग मूर्खता है सो मांस के दुग्धादिवत् अत्युत्तम पदार्थ होने के कारण उस के त्याग का सर्वथा निषेध है॥

उ०—यद्यपि इस श्लोक के अक्षरार्थ में उपदेशक जी ने कुछ अपना नोन मिर्च नहीं मिलाया तथापि भावार्थ में मांस को दुग्धादि के तुल्य उत्तम कहे विना भी कल न पड़ी अर्थात् जो पदार्थ वास्तव में उत्तम है उस को कोई उत्तम ठहराने का उपाय न करे तो भी वह कभी निकृष्ट नहीं होता प्रायः निकृष्ट को ही उत्तम ठहराने का उद्योग किया जाता है। अब यहां शोचना चाहिये कि इस पूर्वोक्त मनु जी के श्लोक का क्या अर्थ वा अभिप्राय है। मानवधर्ममीमांसा-भूमिका में इस का विचार लिख दिया है कि (शय्यां०) यह २५० वां श्लोक प्रक्षिप्त है। वहां का आशय यह है कि (एधोदकं० २४७) श्लोक से यह प्रकरण चला है कि विना मांगे अनायास देने वाले निषिद्ध वा नीच से भी ईंधन जल आदि वस्तु ले लेवे किन्तु नकार न करे। यह विचार दो श्लोकों में सामान्य विशेष कर समाप्त हो गया। पश्चात् २४९ में (नाश्नन्ति०) श्लोक से कहा अर्थवाद ऊटपटांग है क्योंकि जिस के स्वीकार करने का विधान कर दिया उस दशा में निषेध करना अर्थापत्ति से ही अच्छा नहीं ठहर सकता। परन्तु ऐसा बुरा भी नहीं है कि न लेने वाला पापी हो जावे क्योंकि "प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते" इस कथन से मनु जी ने ही सिद्धान्त कर दिया है कि किसी वस्तु के ग्रहण

करने की अपेक्षा उस का त्याग कर देना कई अंश में उत्तम है । परन्तु जो स्वयं याचना करके नीचादि से भी सब वस्तु ले लेता है उस की अपेक्षा विना मांगे अनायास प्राप्त हुए ईंधनादि का ग्रहण कर लेने वाला उत्तम है यह विधिवाक्य का आशय ठीक २ शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल घट जाता है इसलिये निन्दारूप अर्थवाद अयुक्त है । पश्चात् (शय्यां०) श्लोक की कुछ आवश्यकता नहीं । जो वस्तु ग्राह्य हैं उन का विधान सामान्य भिक्षा के विधान में आ ही जायगा । और मनु के सिद्धान्त से विरुद्ध है क्योंकि ११ वें अध्याय में लिखा है कि "तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः" जो यक्ष राक्षस पिशाचादि का भक्ष्यमद्यमांसादि है वह यज्ञशेष के भोगी ब्राह्मण को कदापि न खाना चाहिये । और मांस में हिंसारूप बड़ा अधर्म भी शास्त्र सम्मत है फिर उस का ग्रहण करना वही शास्त्र कैसे कहेगा ? । इस कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है यह तो मुख्य सिद्धान्त हुआ । अब एक बात और भी विचारणीय है कि यदि श्लोक प्रक्षिप्त न ठहरता और किसी प्रकार कोई हठ करे तो भी उपदेशक जी का कोई प्रयोजन इस से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उपदेशक जी का साध्य पक्ष मांसभक्षण मनु के प्रमाण से सिद्ध करना है न कि मांस का ग्रहण, अर्थात् भक्षण और ग्रहण में बड़ा अन्तर है यदि ग्रहण भक्षण का एक ही अर्थ हो तो खट्वा घर वा कुश आदि का भी खाना आजावे सो ठीक नहीं मांस के ग्रहण कर लेने की आज्ञा आजाने से ब्राह्मण को वा द्विजाति मात्र को मांसखाना चाहिये यह आज्ञा कदापि नहीं आ सकती क्योंकि जैसे अन्य युक्ति वा प्रमाणों से कुशादि का भक्ष्य न होना सिद्ध हो जाने पर कुशादि का ग्रहण भक्षण के लिये नहीं मान सकते वैसे ही अन्य युक्ति प्रमाणों से मांस मनुष्य का भक्ष्य सिद्ध न होने पर उस का ग्रहण भी भक्षण के लिये नहीं यही मानना चाहिये । तथापि कोई कहे कि फिर मांस का ग्रहण किस लिये किया जाय तो इस का उत्तर यह है कि मांसाहारी कुत्ते वा अन्य असुर प्रकृति मनुष्यादि को ग्रहण करके दे देवे कि जिस का भक्ष्य मांस हो । इत्यादि प्रकार इस मनु के श्लोक से इन उपदेशक जी का पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता केवल अज्ञान वश हो कर कागज काला किया है ॥

मां०—क्रव्यादाञ्छकुनीन्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ । अ०५

अ०—कच्चा मांसखाने वाले ग्रामनिवासी पक्षियों जिन का निर्द्देश नहीं किया गया ऐसे एकशफों (एक खुरवाले गधे आदिक) को वर्ज देवे ॥ इसी प्रकार के चार श्लोक और लिख कर अन्त में उपदेशक जी का नोट देखिये । —

नोट—अब विचारना चाहिये कि यदि मांस का सर्वथा निषेध होता तौ फिर इन विशेष पशुपक्षियों का निषेध क्यों किया ? और यदि यह शंका करो कि मांस मात्र समान है फिर निषेध क्यों महाशय ! उन मांसों से रोगादि का पैदा हो जाना सम्भव है और वैद्यक के नियमानुसार उन का निषेध है और स्वामी दयानन्द जी तथा धन्वन्तरि आदि ऋषियों की सम्मति भी इसी प्रकार की है। देखो सुश्रुत और प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश ॥

उ०—इस का निर्णय भी मानवधर्ममीमांसा भूमिका में हो चुका है । यदि उपदेशक जी हमारी उसी युक्ति का खण्डन किसी प्रकार करते तो विशेष उत्तर देने की आवश्यकता थी । वह युक्ति बहुत प्रबल तथा अन्य शास्त्रकारों के अनुकूल है इस कारण उस का खण्डन हो ही नहीं सकता । उस का संक्षिप्त आशय यह है कि अप्राप्ति में विधि और प्राप्ति में निषेध होता है । लोक में भी यही चाल है कि जो मनुष्य जिस काम को नहीं करता उस के लिये विधि—आज्ञा होती है कि ऐसा करो और जो स्वयं ही उस काम को कर रहा है उस को उस काम के करने की आज्ञा करना व्यर्थ है । और जो जिस काम को करता है वा उस काम के करने की सम्भावना में निषेध किया जाता है कि ऐसा मत करो और जो स्वयं ही उस काम को नहीं करता उस के लिये निषेध व्यर्थ है इस प्रकार अप्राप्ति में विधि और प्राप्ति में निषेध होता है । तथा इस का दृष्टान्त यह भी हो सकता है कि—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

यद्यपि ऋतुकालस्थ अमावास्यादि में भार्य्यागमन का विधान अप्राप्ति की सम्भावना में है तथापि निषेध करना आवश्यक समझा गया कि अमावास्यादि तिथि में भार्यागमन के ऋतुकालानुकूल होने पर भी विशेष हानिकारक होने से अवश्य त्याग देना चाहिये । तात्पर्य यह है कि रागानुकूल विना प्रेरणा से ही सर्व समय में कामासक्त होना सम्भव है इस लिये विशेष दशाओं में निषेध किया

है किन्तु निषेध की अर्थापत्ति यह नहीं हो सकती कि अमावास्यादि से भिन्न समय में अवश्य ही भार्य्यागमन का विधान माना जावे । अर्थात् यह हो सकता है कि अन्य तिथियों में भी यथासम्भव ब्रह्मचारी रहे तो बहुत अच्छा समझना चाहिये। इसी लिये गृहस्थ की अपेक्षा ब्रह्मचारी की अधिक उत्तमता वा प्रतिष्ठा होना उचित ही है। इसी प्रकार मांसभक्षण में भी शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध स्वार्थ-साधन के लिये जो स्वयं प्रवृत्ति है उस को संकुचित-कम करने के लिये पहिले किन्हीं खास २ जन्तुओं के मांसभक्षण का निषेध है किन्तु यह आशय नहीं है कि इन से भिन्न प्राणियों का मांसखाना चाहिये क्योंकि ऐसा मानें तो मांसभक्षण को सर्वथा बुरा वा अधर्म ठहराने वाले वचनों से विरोध आवे । और धर्मशास्त्रकारों की यह युक्ति लोकवर्त्ताव के अनुकूल भी है। जैसे किसी काम के करने का किसी को अधिकतर स्वभाव पड़ गया है तो उस को एक साथ सर्वथा उस काम के छोड़ देने का उपदेश करना निष्फल होना अधिक सम्भव है और थोड़ा २ छुड़ाया जाय तो धीरे २ छूटजाना भी सम्भव है क्योंकि प्रायः क्रम २ से होने वाले काम एक साथ हुओं की अपेक्षा अच्छे हो सक्ते हैं । और कदाचित् सर्वथा न छोड़ सके गा तो बुरा काम जितना कम होगा उतना पाप का भार उस पर कम होगा । इस लिये निषेधक सब वाक्य संकोच के लिये हैं किन्तु अर्थापत्ति में विधान नहीं क्योंकि विधान अप्राप्ति में हो सकता है और मांसभक्षण स्वयमेव प्राप्त वा प्रवृत्त है अर्थात् आसुरीप्रकृति के लोग स्वयमेव खाने में प्रवृत्त होते ही हैं यह सृष्टि के प्रवाह से प्रवृत्त है। जिस अंश में यह शंका हो सकती है कि मांसमात्र समान है वहां कोई समाधान है ही नहीं और न किसी का सामर्थ्य कभी हुआ न होगा कि सब मांसमात्र में जो मांसत्व सामान्य है उस को कोई हटा सके । तथा भिन्न २ मांसों में वा एक शरीरस्थ मांसों में देश भेद से जो जो भेद है उस में एकता की शंका किसी बुद्धिमान् को तो हो ही नहीं सकती उपदेशक जी के अनुयायियों को हो तो कुछ आश्चर्य भी नहीं जान पड़ता।

इस के आगे इसी पंचमाध्याय का १६ वां श्लोक लिखा है उसको हम मानवधर्ममीमांसाभूमिका में प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं इस लिये बार २ लिखना व्यर्थ है । तथा आगे भी अब ऐसे प्रक्षिप्त ठहराये श्लोकों का कुछ उत्तर नहीं लिखा जाय गा क्योंकि मुझे वेद पर लिखना आवश्यक है अर्थात् तृतीयभाग में जो अथर्व

वेद के मन्त्रों से मांसभक्षण दिखाया है उस का उत्तर लिखना आवश्यक है इस लिये यहां संक्षेप लिख कर समाप्त करूंगा । १७ और १८ श्लोकों में जो निषेध वा विधान मांसाशी उपदेशक जी ने दिखाया है उस का भी वही पूर्वोक्त उत्तर है कि प्राप्ति में विधि और विशेष प्रवृत्ति में निषेध दोनों संकोच के लिये हैं कि जिस से प्रवृत्ति घटे वास्तव में " भक्ष्यान् पंचनखेष्वाहुः० " यह विधि वाक्य नहीं है क्योंकि सब शास्त्रकारों का यह सिद्धान्त है कि अप्राप्ति में विधि वाक्य होते हैं । इस लिये इस का विशेष उत्तर देना आवश्यक नहीं । आगे २२ । २३ श्लोकों से यज्ञ में पशुवध दिखाया है सो ये भी प्रक्षिप्त श्लोक हैं । मनु का सिद्धान्त होता तो सौ अश्वमेध से अधिक श्रेष्ठ मांसभक्षण के त्याग को क्यों ठहराते । और जिस यज्ञ में हिंसा हो वह आसुरी वा राक्षसी यज्ञ होगा तथा उस में रजोगुण तमोगुण की प्रधानता होने से सत्वगुणी धर्मानुकूल यज्ञ नहीं कहा वा माना जाय गा । और महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि मनु जी ने यज्ञ में हिंसा नहीं कही अर्थात् उन के नाम से धूर्तों ने ऐसी वेदविरुद्ध बातें लिखी हैं । देखो ! आर्यसिद्धान्त भा० ६ के इसी अङ्क पृ० ९ में ॥

मां०--एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

अ०—यह सम्पूर्ण द्विजातियों का भक्ष्य और अभक्ष्य मैं ने कहा इस से आगे मांस के भक्षण और त्याग में विधि कहूं गा ।

उत्तर—लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।

यह बहुत सत्य है कि अन्धे को दर्पण रूप नहीं दिखा सकता इसी प्रकार विचारशून्य स्वार्थी पक्षपाती को शास्त्र से कुछ लाभ नहीं हो सकता । शोचने का स्थल है कि उपदेशक जी ! अभी तो आप मांसभक्षण को पांचवें अध्याय के ११ वें श्लोक से ही सिद्ध करते आते हो फिर अब कहने लगे कि इस से आगे मांसभक्षण के विधि निषेध कहूं गा । क्या यह लेख प्रमत्तवाक्य के तुल्य नहीं है ? कि जिस बात को पहिले ही से कह रहे हो उस की समाप्ति में कहने लगो कि अब इस को कहूं गा । क्या आप ऐसे ही समाप्त मनु के वचन को भी अपनी अज्ञानता से प्रमत्त वाक्य ठहराना चाहते हो ? सो यह आप का प्रयत्न सूर्य पर

धूलि फेंकने के समान है मनु महर्षि वेदपारङ्गत महात्मा थे उन के कथन में ऐसा बड़ा दोष कदापि नहीं हो सकता। अस्तु अब विचारना चाहिये कि (एतदुक्तं०) इस श्लोक का क्या अभिप्राय है। जब इस से पूर्व मांसभक्षणविषयक विधि निषेध दोनों प्रत्यक्ष वर्त्तमान हैं तो यह कहना तो कभी नहीं बन सकता कि अब आगे मांसभक्षण के विधि निषेध कहेंगे तब क्या अर्थ है सो सुनिये !

भक्षणस्य वर्जनं भक्षणवर्जनं तस्मिन् भक्षणवर्जने ।

अर्थात् भक्षण का वर्जन के साथ षष्ठी तत्पुरुषसमास करना चाहिये। द्वन्द्व समास करने में सप्तमी का एक वचन मानने में भी कुछ कल्पना उपदेशक जी को करनी पड़ेगी क्योंकि द्वन्द्व समास में नियमानुसार द्विवचन विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये। तथा पूर्वोक्त दोष भी ऐसा अर्थ होने पर हट जाय गा। क्योंकि इसी प्रतिज्ञा के अनुसार अगला प्रकरण भी ठीक लग जाय गा केवल प्रक्षिप्त श्लोक छोड़ कर प्रकरण मानना चाहिये। तब यह अर्थ स्पष्ट हो गया कि यहां तक तो मांसादि के त्याग और भक्षण दोनों विषय में कहा पर अब आगे केवल मांसभक्षण के त्याग में विधि कहेंगे। और इसी के अनुसार २८। २९ श्लोकों से सिद्धानुवाद में सामान्य प्रवृत्ति दिखा कर ४३ से बराबर मांस का निषेध और बीच के सब श्लोकों का प्रक्षिप्त होना ठीक घट जाता है। जिन लोगों की तमोगुण के अन्धकार वा रजोगुण के रज से बुद्धि आच्छादित होने के कारण शास्त्र के सिद्धान्तानुसार अर्थ करने वा समझने की शक्ति नहीं वे हमारे अर्थ को अनर्थ समझें तो हम को इस का किंचित् भी शोक नहीं है। आगे २७। ३० से ४२ तक इसी अध्याय ५ के श्लोक जिन को मैं प्रक्षिप्त ठहरा चुका हूं जो मांसाशी उपदेशक के अनुकूल हैं उन में से कई लिखे और कई बीच २ के छोड़ दिये हैं। उक्त सब प्रक्षिप्त श्लोकों में यज्ञ के बहाने से मांसखाना किसी मांसाहारी ने मनु के नाम से वर्णन किया है सो यज्ञ में मांस होमना वा खाना महानिन्दित काम है और शास्त्र के सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है यह हम पहिले से ही सिद्ध करते आते हैं। इस लिये विशेष लिखना व्यर्थ है। अब इन उपदेशक जी की एक चोरी पकड़ो है सो भी पाठकों को बता देनी चाहिये। इसी पांचवें अध्याय का ३१ वां श्लोक उपदेशक जी ने छोड़ दिया—!!!

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ॥
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञ के लिये मांसखाना अर्थात् यज्ञ के लिये पशुहिंसा करे यज्ञ किये पश्चात् बचे मांस को खावे यह दैवविधि है और केवल अपनी पुष्टि के लिये मार कर खाना राक्षसों की रीति है। यह इस का अक्षरार्थ है। इस श्लोक को उपदेशक जी ने इस लिये चुराया था कि वर्त्तमान समय में हमारे पक्ष के मांसाहारी यज्ञ के लिये न पशुहिंसा करते और न यज्ञ करते कराते हैं तब उन का मांसभक्षण राक्षसी रीति का ठहरेगा तो हम पर अप्रसन्न होंगे और स्वार्थसाधन में विघ्न होने का भय होगा। इस लिये यह सीधा उपाय शोचा कि इस श्लोक को ही चुरा लें "मौनं सर्वार्थसाधकम्"। यद्यपि यज्ञ के साथ में भी मांसभक्षण को दैवीसम्प्रदाय हम नहीं मान सकते तथापि उपदेशक की माया दिखाने के लिये हमने यह श्लोक लिख दिया। तथा उपदेशक जी ने अपने पुस्तक में "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" यह श्लोक भी जो मांसाहारियों के लिये शिरोमणि प्रमाण है छोड़ दिया इस को छिपाने के दो कारण मालूम होते हैं एक तो इस में मद्य पीने और व्यभिचार में भी दोष नहीं उस का भी मार्ग खोल दिया है जिन मद्य मैथुन के उपदेश में उपदेशक जी को अभी कुछ दिन लज्जा है। मांसभक्षण के झगड़े से फैसल होने पर उपदेशक जी उन दोनों विषयों पर भी हाथ फेरेंगे। और दूसरा कारण यह है कि "निवृत्तिस्तु महाफला" कहने से सिद्ध हुआ कि मांसादि का सेवन करने की अपेक्षा छोड़ देना अत्युत्तम है तो मांसाहारियों की अपेक्षा फलाहारी अतिउत्तम हुए यह उन्हीं को मानने वा लिखने पड़ता। मांसाचार्य जी ने शोचा होगा कि हमारे पक्ष के लोग नीच बनना नहीं स्वीकार नहीं करेंगे। इस लिये ऐसे श्लोक का प्रमाण देना उचित नहीं। इस कारण उक्त प्रमाण को छिपा रक्खा। आगे १३१ श्लोक लिखा है उस को भी हम प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं इस कारण उस पर भी लिखना व्यर्थ है।

मां०—वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च।

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १३ ॥ अ० ६

अ०—वानप्रस्थी मद्य मांस और सब प्रकार के कवक भूस्तृण—शिग्रूक और श्लेष्मातक इन सब पदार्थों को वर्ज दे।

नोट—यदि आम पुरुषों के लिये विधान नहीं था तो फिर वानप्रस्थी के लिये निषेध क्यों किया अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि बाकी सर्वसाधारण के लिये विधान है ॥

उ०—यदि मांसोपदेशक जी को सामान्य विशेष रीति से धर्मशास्त्रादि का आशय समझने की योग्यता होती तो ऐसे अन्धकार में क्यों पड़ते ?। जैसे सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के विधिवाक्य होते हैं। किसी कर्त्तव्य को सर्वसाधारण के लिये विधान करके किसी निज को उस की अवश्य कर्त्तव्यता दिखाने के लिये विशेष विधान किया जाता है। इसी प्रकार सामान्य और विशेष दोनों प्रकार निषेध भी शास्त्रसिद्धान्त के अनुकूल हैं "न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्" इत्यादि वचनों से मांसभक्षण का सामान्य निषेध है। और (वर्जयेन्मधु० इस से संन्यासी के वा वानप्रस्थ के लिये विशेष निषेध इस लिये किया गया कि वानप्रस्थ वा संन्यास तो मांसभक्षणादि दुराचरण से सर्वथा ही बिगड़ जाता है। हम मानवधर्मशास्त्र से ही सामान्य विशेष अनेक विधि निषेध दिखा सकते हैं। जैसे—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥ अ०

अर्थः—वानप्रस्थ पुरुष स्वाध्याय नाम सन्ध्या कर्म की रीति से वेदमन्त्रों का जप वा पाठ नित्य नियम से अवश्य किया करे। स्वाध्याय को मनु जी ने पञ्चमहायज्ञों में पहिला यज्ञ माना है। वानप्रस्थ मन को वश में रक्खे सब से मित्रता और चित्त की चञ्चलता छोड़ कर सावधान रहे। दानशील हो किसी से कुछ लेवे नहीं और सब प्राणियों पर कृपादृष्टि रक्खे। क्या ये सब काम गृहस्थादि को निषिद्ध हैं ? ऐसा उपदेशक जी सिद्ध कर सकेंगे ? कदापि नहीं किन्तु उन को भी मानने पड़ेगा कि यह वानप्रस्थ के लिये विशेष विधान है प्रयोजन यह है कि कोई रुकावटें किसी २ समय में ऐसी हो सकती हैं जब गृहस्थ को धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य काम छोड़ना पड़े वा किसी कारण न कर सके, अथवा कोई अधर्मसम्बन्धी काम जिस का शास्त्र में निषेध किया है किसी कारण कर

पड़जावे यह सम्भव है इस लिये हम कहते हैं कि गृहस्थ पुरुष कदाचित् कोई कभी सर्वथा निष्पाप हो सके। परन्तु वानप्रस्थ आश्रम इसी लिये है कि उस को संसार की कोई रुकावट न होनी चाहिये त्याज्य के छोड़ने और कर्त्तव्य के करने में उस को पूरा यत्नवान् होना चाहिये। इसीलिये विशेष विधान करके शास्त्रकारों ने उस पर जोर डाला है कि उस के लिये अब कोई बहाना बाकी नहीं है। जैसे गृहस्थ को भी पञ्चमहायज्ञादि वा सन्ध्यादि कर्त्तव्य हैं परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को उस से भी अधिक ध्यान के साथ अवश्य कर्त्तव्य हैं इसी प्रकार हिंसा वा मांसभक्षण का त्याग पूर्व लिखितानुसार गृहस्थ को भी कर्त्तव्य है परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को अवश्यमेव त्याज्य है। इस अभिप्राय से मधुमांसादि का विशेष निषेध वानप्रस्थी के लिये किया गया है। और उपदेशक जी ऐसा न मानें तो उन को अपने मतानुसार समाधान करना चाहिये कि—

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥

अर्थात् ऐसे उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर किसी से बैर न करे। इस से आया कि जब संन्यासी किसी से बैर न करे तो क्या गृहस्थादि के लिये आज्ञा होनी चाहिये कि वे सब से बैर बांधा करें?। इस के समाधान का भार मांसाचार्य पर है। जैसे वानप्रस्थी को मांसादि का निषेध आने से अर्थापत्ति द्वारा गृहस्थादि के लिये आप मांसभक्षण की आज्ञा ठहराना चाहते हैं वैसे ही संन्यासी के लिये बैर करने का निषेध होने से गृहस्थादि को बैर करने की आज्ञा आनी चाहिये!। आशा है कि पाठक लोग इस का समाधान मांसोपदेशक जी से पूछेंगे और मुझ को उत्तर दिलावेंगे ॥

मां०—आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ अ०७

अ०—राजा मधु—मांस—घी—गन्ध, ओषधि, रस, पुष्प, मूल और फल इन द्रव्य के लाभ का छठा भाग लेवे ॥

नोट—इस से मांस प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं होता किन्तु नीच लोगों में पहिले व्योपार भी था ॥

उ०—यह श्लोक उपदेशक जी ने केवल पुस्तक पूरी करने के लिये ही लिखा क्योंकि उन को भी यह तो ज्ञात है कि अर्थापत्ति आदि से भी इस से कोई

मांसभक्षण का विधान नहीं निकाल सकता । अब रहा यह कि पहिले भी मांस विकता था इस से हमारी कुछ हानि नहीं। हमारा पक्ष है कि मांसखाना धर्म-विरुद्ध अधर्म का काम है इस के साथ मांस विकने का सम्बन्ध ही क्या हुआ ?। यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कोई कहे चोरी बुरा काम है इस पर कोई कहे कि चोरी तो पहिले भी होती थी देखो मनुस्मृति में चोरी का दण्ड लिखा है शोचिये तो सही यह मांसभक्षण का समाधान क्या हुआ ?। यह तो हम भी मानते हैं कि बुराई भलाई सब अनादि काल से हैं इसी कारण देवासुरसङ्ग्राम सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक चला करता है। हम तो यहां तक स्वीकार कर चुके हैं कि कुछ समय ऐसा आगया था जब लोगों ने मनुष्यों तक को मार २ यज्ञ में चढ़ाया और यज्ञ का शेषभाग मनुष्य का मांस भी खाया हो यह सम्भव है। बस यहां से आगे और अधिक मांसभक्षण की वृद्धि होना असम्भव है। अब रही यह बात कि मांस बेंचने को मनु जी बुरा समझते तो उस पर कर क्यों बांधते किन्तु मांस बेंचने वाले पर कुछ दण्ड लिखना चाहिये था। इस का उत्तर यह है कि—जब जङ्गल वा बन इस देश में बहुत थे जिन में हिंसक जीव इतने बढ़ते थे कि ग्राम नगरादि में भी मनुष्यों तक को खा जाते इस कारण राजा लोगों को उन के मरवाने की आज्ञा देना आवश्यक था और बधिक लोग बनों से प्राणियों को मार २ के कहीं २ मांसाहारियों को उन का मांस बेंच देते थे तब उन के व्यापार पर कर लगाया गया। तथा एक बात यह भी हो सकती है कि राजधर्म का कानून किसी खास देश काल में वर्त्ता जाय ऐसा छोटा विचार मन्वादि का नहीं था इसी लिये उन्हों ने किसी खास राजा को वर्त्तने के लिये नहीं लिखा अर्थात् सब देश सब कालों में होने वाले सब प्रकार के राजाओं के लिये राजधर्म कानून है। इस दशा में यह अभिप्राय हो सकता है कि जिस देश में जिस समय मांस बिकना स्वतः सिद्ध हो जिस को राजा भी न बन्द कर सके तो वहां मांसविक्रय पर भी राजा को कर लेना चाहिये। और सर्वोपरि शोचना यह है कि राजधर्म के साथ धर्म का ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है जो राजा धर्म से विरुद्ध कुछ न करे अर्थात् राजनियम पर चलने वाले को कुछ २ किसी अवसर पर धर्मविरुद्ध काम करने भी पड़ते हैं कि जिन के किये विना धर्म में भी बाधा पड़ना सम्भव हो सकता है और ऐसे कोई २ काम मनुस्मृति में भी

लिखे हैं परन्तु किसी कारण किसी समय राजा को कर्त्तव्य लिख देने से वे धर्मसम्बन्धी काम नहीं हो सकते किन्तु अधर्म ही कहावेंगे । और हमारा पक्ष भी यही है कि मांसभक्षण धर्मविरुद्ध अधर्मसम्बन्धी काम है किसी को कभी करने पड़े यह और बात है । सो इस प्रमाण से मांसविक्रय को वा मांसभक्षण को न मनु जी ने धर्म ठहराया और न कोई धर्म ठहरा सकता है ॥

मां०—वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५अ०८

सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग होता है वैसा २ उन की हिंसा करने में भी राजा दण्ड देवे यह शास्त्र का निश्चय है ॥

नोट—यहां पर यह विचारना आवश्यक है या तो स्वामी श्री दयानन्द जी तथा अन्य सब प्राचीन ऋषियों के मतानुसार वनस्पतियों में जीवात्मा माना जावे तो भी शाकाहारियों को हमारी अपेक्षा बहुत पापी बनना पड़ता है क्यों कि यहां तो एक बकरा मारने से बहुत पुरुषों का काम चल सकता है और उन को तो प्रतिव्यक्ति के लिये कितने २ फलमूलादि नष्ट करने पड़ते हैं । और यदि वह लोग वृक्ष वनस्पत्यादिकों में जीव न मानें (जैसा कि ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी पं० मणिराम पं० लेखराम आदि समाज के उपदेशक तथा कितने एक समाज के सभासद् मास्टर आत्माराम पं० धर्मचन्द तथा लाला केवलकृष्ण आदि स्वा० जी के मन्तव्यविरुद्ध वनस्पति में जीव का होना नहीं मानते हैं) तो उन का यह कथन कि प्राणवियोग व्यापार (जीवात्मा का शरीर से पृथक् करने) का नाम ही हिंसा है सर्वथा असंगत हो जाय गा । किन्तु हमारा कथन कि दुःख देने और नुकसान पहुंचा ने का नाम भी हिंसा है तो फिर उन का मतलब सिद्ध होना कठिन है । और हमारा सिद्धान्त तो मन्वादि सब ऋषियों के अनुकूल है कि थोड़े लाभ के अर्थ बहुत हानि (नुकसान) पाप है और लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म है क्योंकि जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानि कारक है और न ही सर्वथा लाभ कारी है । अतः यही धर्माधर्म का स्वरूप है या यह कहो कि जिन मन्वादिक ऋषियों ने धर्म और अधर्म कहा है वही धर्माधर्म है और लाभ और हानि के न्यूनाधिक होने से धर्माधर्म में न्यूनाधिकता आती है जैसा कि इस श्लोक में कहा है ॥

३०—हमारा सब मन्तव्य वा सिद्धान्त मनु आदि महर्षियों तथा परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी के अनुकूल है उन से विरुद्ध एक पग भी चलना हम अच्छा नहीं समझते तब स्थावर में जीवात्मा की स्थिति मानना वा सिद्ध करना हमारा काम होगया। हम लोग शाकाहारी नहीं किन्तु फलाहारी हैं क्योंकि फल ही वास्तव में उन २ वस्तुओं का सार है। गेहूं आदिक फल ही हैं और पक्व फल के आहार में लेशमात्र भी दोष नहीं है। इसी कारण तपस्वियों के लिये मनु जी ने स्वयं शीर्ण फल खाने की आज्ञा दी है। और शाकादि हरित वस्तु के खाने में यदि कुछ लेशमात्र दोष भी है तो वह ऐसा ही है कि जैसे एक दाने की चोरी वा एक दाने का दान पाप पुण्य में गणना के योग्य नहीं होता। हम इस को अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि एक डांश का मारना और एक गौ का मारना दोनों हत्या बराबर नहीं हो सकतीं युक्ति वा प्रमाण से कोई इन को बराबर नहीं ठहरा सकता। इसी के अनुसार मनुस्मृति में क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा में प्राणायामादि अतिसूक्ष्म प्रायश्चित्त रक्खा है फिर वनस्पत्यादि में तो क्षुद्र जन्तुओं की अपेक्षा भी सहस्रों गुणा अपराध कम है। उन के काटने आदि में दोष नहीं यह कह सकते हैं। पाठक महाशयो! शोचिये स्थावर में जीव मानने के पक्ष में मांसाचार्य जी ने शाकाहारियों को विशेष पापी ठहराने के लिये स्वयं पापी बनना स्वीकार कर लिया अब तो इस से मांसोपदेशक जी ने सिद्ध कर दिया कि मांसभक्षण पाप है और हम मांसभक्षी पापी हैं। शोचने का स्थान है कि मांसभक्षण को अच्छा ठहराने के लिये तो आपने पुस्तक रचा और उसी पुस्तक में बुरा लिखने लगे। यह वैसा ही कथन है किसी को कोई चोर ठहरावे तो उस को वह उत्तर दे कि तुम भी तो चोर हो। अच्छा भाई! हम चोर सही पर तुम ने इस से अपना बचाव क्या किया? अर्थात् स्वयं अपने को चोर तो मान लिया न?। उचित तो यह था कि तुम अपने को निर्दोष सिद्ध करो सो तो कुछ नहीं हुआ। और हमारा समाधान भी होगया कि प्रथम तो हम शाकाहारी नहीं हैं कि घास फूस ही उबाल २ खाते हों किन्तु हम फलाहारी हैं और यदि किसी अंश में कुछ शाकाहारी भी दोषी हों तो मांसभक्षियों की अपेक्षा क्रोडवें अंश में भी दोषी नहीं यह हम अच्छे प्रकार युक्ति प्रमाण से सिद्ध कर चुके हैं बस अब मांसाहारी पापी ठहर गये। वास्तव में जैसा उपदेशक जी ने हम पर ढोल कर लिखा है कि स्थावर में जीव मानो तो तुम्हारे पक्ष में यह

दोष है और न माना तो अमुक दोष है अर्थात् स्थावर में जीव मानने न मानने में हमारा कोई सिद्धान्त नहीं हमारा सिद्धान्त खाली स्वार्थ साधन है हम जब जैसा मानने से अपने स्वार्थ में बाधा न देखेंगे वैसा मान लिया करेंगे यह सिद्धान्त उन का भीतरी है। अस्तु ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी आदि स्थावर में जीव मानते हैं वा नहीं इस विषय को हम ठीक २ नहीं जानते इस लिये कुछ लिखना व्यर्थ है परन्तु हम सब शास्त्रों के अनुकूल स्थावर में जीव मानते हैं।

अब रहा यह कि हिंसा किस को कहते हैं ? इस पर भी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। एक अन्न का दाना किसी को देना दान क्यों नहीं माना जाता यह सब लोग जान सकते हैं। दान पुण्य हिंसा अहिंसा आदि का अर्थ लोक में अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि किसी प्रकार पीड़ा पहुंचाने का नाम हिंसा हो सकता है परन्तु गौण और मुख्य में से मुख्य का ग्रहण होता है गौण का नहीं उसी के अनुसार लोक और शास्त्र में सब प्रकार की ताड़ना का नाम हिंसा नहीं है इसी लिये बैल आदि को छेदने के अर्थ में तुद धातु का प्रयोग होता। इसी प्रकार भिन्न २ प्रकार की ताड़नाओं के लिये भिन्न २ धातु वा शब्द पूर्वजोंने नियत किये हैं यदि सब स्थानों में एक हिंसा शब्द से काम निकल जाता तो अन्य शब्दों वा धातुओं का नियत करना व्यर्थ है इस लिये हिंसा शब्द का खास प्राण-वियोगानुकूल व्यापार ही अर्थ है। यदि आप को कोई प्रमाण मिल सके तो बताइये कि कहां २ आर्षग्रन्थों में हिंसा का अर्थ किस २ प्रकार की ताड़ना में लिया गया है ?। हमे पूरा विश्वास है कि उपदेशक जी ऐसा एक भी प्रमाण नहीं दे सकते। और "थोड़े लाभ के लिये अधिक हानि पाप और अधिक लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म है" यह तो किसी प्रकार हम भी ठीक मानते और यह धर्मशास्त्र के अनुकूल भी है परन्तु यदि यह विचार धर्मानुकूल हो तब न ?। जिस मनुष्य ने अपने स्वार्थ साधन को सर्वोपरि वा बड़ा मान लिया है वह दूसरे की कैसी ही बड़ी हानि हो उस को थोड़ी हानि और अपने स्वार्थ को बड़ा लाभ सदा ही मानेगा। वास्तव में यही दशा प्रायः प्रचलित है शोचने का स्थान है कि अपने स्वाद के लिये वा अपना पेट भर के बल बढाने की इच्छा से दूसरे प्राणियों का प्राण तक ले लेना क्या यह बड़ी हानि नहीं है ? क्या प्राण ले लेने से अधिक जगत् में किसी की और अधिक हानि कोई कर सकता है ?। राजदण्ड में भी फांसी से अधिक कोई दण्ड ही नहीं माना जाता। परन्तु शोचे कौन स्वार्थ की टट्टी

जिन के नेत्रों के सामने दृढ़ता से खड़ी है वह तो नहीं देखने देती। परन्तु यह सिद्धान्त कि "जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानिकारक है और न सर्वथा लाभकारी है अतः यही धर्माधर्म का स्वरूप है,, सब शास्त्रों और युक्ति के विरुद्ध है। क्योंकि अग्नि में जल जाना संखियादि विष खा लेना किसी शस्त्रादि की चोट लगना सब के लिये सब काल में हानिकारक है और विद्या पढ़ना सब का हित चाहना योगाभ्यास वा परमेश्वर की भक्ति आदि अनेक काम सब के लिये सब प्रकार सदा लाभकारी हैं तथा धन को संचित करना विवाह करना सन्तानों की इच्छादि कामों में हानि लाभ दोनों हैं। इसी के अनुसार सब शास्त्रों का सिद्धान्त है। सुश्रुत में भी तीन प्रकार के कर्म वा वस्तु माने हैं। १-सर्वहित। २ सर्वाहित। और ३ हिताहित मेरा लेख इस के भी अनुकूल है और यह कभी कोई सिद्ध भी नहीं कर सकता कि सर्वथा लाभकारी वा सर्वथा हानिकारक कोई काम जगत् में नहीं है क्योंकि परोपकारादि सदा सब के लिये हितकारी है और संखियादि सदा सब के लिये हानिकारक प्रत्यक्ष हैं प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं। इस लिये यह सिद्ध हुआ कि जो सदा सब को लाभकारी है वह मुख्य वा पूर्ण धर्म और जो सदा सब को हानिकारक है वह मुख्य अधर्म है और जहां दोनों मिश्रित हैं वहां जिस समय जिस के लिये जिस देश में जो काम लाभ की अपेक्षा शास्त्र और युक्ति के अनुसार विशेष वा प्रबल हानिकारक ठहरे वह काम उस के लिये उस देश वा काल में अधर्म है और इसी प्रकार हानि की अपेक्षा विशेष लाभकारी धर्म माना जायगा। इस का निर्णय पहिले से कोई नहीं कर सकता किन्तु सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक उस २ समय के विद्वान् वा बुद्धिमानों का काम है कि अधिकानुमति से अधिक हेतु वा कारणों की प्रबलता देख कर धर्म अधर्म का निर्णय किया करें। आशा है कि इस लेख के सिद्धान्त को शोचने वाले सज्जन मांसोपदेशक जी के शास्त्रविरुद्ध लेख को सर्वथा पोच समझ लेंगे।

इस के आगे उपदेशक जी ने मनु के राज धर्म प्रकरण से मांस की चोरी के दण्ड का प्रमाण दिया सो व्यर्थ है। हम तो स्वयं ही मानते हैं कि पहिले राक्षस-नामक जाति के लोग मनुष्य तक का मांस खाते थे तब पश्वादि का क्या कहना सामयिक राजा का काम भी रह था और होना चाहिये कि जो जिस (अच्छी वा बुरी) परम्परा में वर्त्तमान है उसकी वैसी ही रक्षा करे। राक्षस जाति में

मांस भक्षण का प्रचार था किसी जाति की परम्परा वा स्वभाव को राजा भी नहीं बदल सकता परन्तु मांस की चोरी पर दण्ड लिखा जाने से यह भी कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि पहिले राजा लोग भी मांस भक्षण को धर्म समझते हों। हमारा पक्ष यह नहीं है कि मांस भक्षण कभी कोई नहीं करता था न विकता था न कर लेता था। किन्तु पूर्वज महात्मा मनु आदि ने मांस भक्षण को धर्मानुकूल अच्छा नहीं माना। इस के विरुद्ध जो कोई प्रमाण दिखा सके उस का समाधान करना हमारा काम है। यद्यपि सामान्य कर मांसभक्षण वा हिंसा को महापातक मनु जी ने नहीं लिखा तथापि सब धर्मों में बड़ा धर्म अहिंसा और सब पापों से बड़ा पाप हिंसा को मनु जी ने स्पष्ट माना है यह पहिले ही हम सिद्ध कर चुके हैं और हिंसा किये वा कराये विना मांस प्राप्त हो नहीं सकता इस लिये मांसभक्षण बड़ा पाप है। और मांस वेंचने के लिये जो दशमाध्याय में ब्राह्मण को निषेध है इस से वैश्य के बेंचने का विधान अर्थापत्ति से लाना यह उपदेशक जी का अज्ञान है। यदि वेद पढ़ने की ब्राह्मण को आज्ञा हो तो अर्थापत्ति से उपदेशक जी निकालें गे ? कि क्षत्रिय वैश्यादि वेद न पढ़ें। अथवा मनुजी ने लिखा है कि "गृहस्थ ब्राह्मण यदि कुछ उद्योग करके जीविका करने का सामर्थ्य रखता हो तो आलसी हो कर अन्नादि के विना दुःख न भोगे" क्या यहां भी मांसोपदेशक जी निकालें गे ? कि क्षत्रिय वैश्यादि समर्थ होने पर भी दुःख भोगा करें कदाचित् मांसभक्षण से उपदेशक जी की बुद्धि तीव्र हो गयी हो तो ऐसा करने को तत्पर हो जांय। आशा है कि हमारे पाठक महाशय इतना ही लिखने से समझ गये होंगे कि मनुजी का आशय ऐसे प्रकरणों में विशेष विधान करने का है कि अधर्म से संचित हुये मांसादि सभी वस्तुओं का बेंचना लेना वा भक्षणादि सामान्य कर सभी के लिये निषिद्ध है पर ब्राह्मण के लिये विशेष वा आवश्यक निषेध है। और ऐसे स्थलों में मांसाचार्य जी ने अर्थापत्ति निकाली है उस में दिये दोषों के समाधान का बोझा उपदेशक जी के मत्थे रहा जिस का समाधान जन्मान्तर में भी करना कठिन है॥

आगे मनु के दशवें अध्याय के आपद्धर्म विषयक दो श्लोकों पर नोट दिया है— मा० नो०—यह धर्म आपत्काल है यद्यपि कुत्ते आदिकों का मांस निषेध है तथा ऐसे काल में वह भी विधि है। और हमारे शाकाहारी महात्माओं का तो कथन है कि मरजायें तो भी मांस न खायें और इसी तरह इन दुष्टों ने गुरुदत्त जी

को मांस न खाने दिया और वह मर गये। यद्यपि पूर्व समय में उन्हों ने बहुतसा खाया था सो यह लोग यह तो बतावें कि धर्म रक्षार्थ है वा नाशार्थ ।

उ०-उपदेशक जी ने आपत्काल के स्थान में आप्तकाल लिखा है क्या वास्तव में इतना अज्ञान है ? । इन श्लोकों को हम मानवधर्म मी० भूमिका में प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं सारांश यह है कि "न जातु० धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः" मनुष्य अपने जीवन के लिये भी धर्म न छोड़े यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त सब वेदादि वा आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल है । और मांसभक्षण सर्वथा धर्म से च्युत करने वाला है इस लिये जीवन की आशा से भी कभी धर्म को न छोड़े अर्थात् मांस न खावे यह सिद्धान्त बहुत शुद्ध वा पक्का है । इस में एक विचार यह भी है कि मांसभक्षण से आपत्काल में हमारा जीवन अवश्य बना रहे गा ऐसा विश्वास किसी प्रकार न हो सकता और न कोई विश्वास करा सकता है । ऐसा हो तो तब तो मांस को अमृत वा अमर करने वाली कोई ओषधि मांसभक्षणपक्षियों को मान लेना चाहिये क्योंकि उपदेशक जी ने मृत्यु से बचने का उपाय उन को बतला दिया । यह लेख प्रत्यक्ष से कितना विरुद्ध है कि गुरुदत्त जी को मांस खाने देते तो न मरते । मैं कहता हूं कि मांस खाने वाले जब मरने लगते हैं तब आप एक टोकरा भर मांस खिला कर क्यों नहीं जिला लेते ?। आशा है कि मांसाचार्य जी मांस खाकर अमर हो जायंगे । और अपने पक्ष वालों में कोई मरने लगे गा तो मांस खिला कर बचा देंगे । यदि हमें कोई ठीक विश्वास करा देने की शक्ति रखता हो तो विश्वास करा दे हम भी मरण भय आते समय मांस खाकर बच जांय । और खाना स्वीकार करलें पर यह असम्भव है । मांस मद्यादि तो वास्तव में शरीर के नाशक पदार्थ हैं उन के खाने से तो रोगी न मरने को हो तो मरजा सकता है परन्तु जो सर्वोत्तम गुण वाली ओषधि हैं वे भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकतीं यह सब का सिद्धान्त है । इस से मांस से मृत्यु के हटाने का लेख सर्वथा पोच है ।

आगे मांसोपदेशक जी ने गोबधादि उपपातकों को गिना कर लिखा है कि-

नो०-मुझे शोक से लिखना पड़ता है कि ऊपर लिखे उपपातकों की गणना में भी तो कहीं मांस का नाम नहीं आया क्या इन में से भी मांसाहारियों ने काट दिया ? ।

उ०-यह हम भी मानते हैं कि मांसभक्षण उपपातक नहीं किन्तु उपपातकों से बड़ा पातक है सो मनु जी ने कई स्थल में कह दिया है कि-

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ अ०५

जो पितृदेवादि नामक आप्त शिष्ट लोगों के उपदेश से विरुद्ध होकर दूसरों के मांस से अपने शरीर के मांस की पुष्टि करना चहता है उस से अधिक पापी और कोई नहीं इत्यादि लेख मनु जी ने स्पष्ट लिखा है फिर यह लिखना कैसा कि किन्हीं पातकों में मांसभक्षण की गणना नहीं । पूर्वोक्त लेख से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्महत्यादि महापातक कभी प्रमाद से कोई कर सकता है और "जो अपनी पुष्टि के लिये नित्य ही दूसरों के प्राण लेता है उस से बड़ा पापी कोई नहीं" इस कथन से यह भी सिद्ध होगया कि महापातक भी इस से बड़ा पाप नहीं किन्तु महापातकों से भी यही बड़ा है और महापातकों तक का कुछ २ प्रायश्चित्त कहा है उस से बड़े पाप का प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकता फिर प्रायश्चित्त में उस को क्यों लिखते । हम सिद्ध कर चुके हैं कि प्रायश्चित्त धर्मात्मा के लिये हैं । जो कभी भूल वा प्रमाद से कुछ अपराध कर बैठे उस के चित्त में उस काम से जो ग्लानि वा मलीनता हो उस को मेंटने के लिये प्रायश्चित्त कहे गये हैं और जैसे वर्षों तक जिस घड़े में मद्य भरा जाता हो उस की शुद्धि मनु जी ने अग्नि में पकाने पर भी नहीं मानी वैसे ही जो बुराई को अच्छा समझ कर जन्म भर किया करता है उस का प्रायश्चित्त वा शुद्धि का उपाय क्या हो सकता है ? उस का शुद्ध हो सकना असाध्य रोग है । और जो कभी भूल वा प्रमाद से मांस खा लेवे वा मांस खाने आदि के लिये पश्वादि की हिंसा करे उस के लिये प्रायश्चित्तप्रकरण में यथोचित प्रायश्चित्त बराबर लिखे ही हैं । और मांसोपदेशक जी वा उन के पक्ष के लोग सब से बड़ा भक्ष्य वकारा को ठहराना चाहते हैं जिस के लिये भी हम मनु जी के ११ अध्याय के श्लोक से प्रायश्चित्त इसी पुस्तक के खण्डन में दिखा चुके हैं। अब कहिये और किधर २ को भागोगे

मां०—आगे (ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा०) इत्यादि जाति से च्युत करने वाली बुराइयों को गिना कर नोट दिया है—

नो०—इन में भी मांसभक्षण नहीं आया फिर न मालूम हमारे सामाजिक भाई मांसाहारियों को क्यों निकालना चाहते हैं ? जब कि पुंसिमैथुन करने वाले शराब पीने वाले कुटिल इन सब की इज्जत की जाती है शोक !

उ०—जाति से जो मनुष्य पतित किये जाते हैं उस का अभिप्राय यह है कि कुछ काल के लिये जब तक वे प्रायश्चित्त कर लें जाति से पतित रहें फिर सभा के बीच उन से प्रतिज्ञा करा ली जावे कि अब आगे ऐसा अपराध हम भूल कर भी न करेंगे तब जाति में मिला लिये जांय जातिभ्रंश करना एक प्रकार का दण्ड है। यदि हमारे भाई मांसाहारी भी प्रायश्चित्त चाहें और आगे वैसा न करने की सभा में प्रतिज्ञा करें तो फलाहारियों को उचित है कि अवश्य उन को स्वीकार करें। यदि मांसाहारी लोग इस में अपनी हतक समझें तो यह उन की भूल है क्योंकि वास्तव में इसी कर्त्तव्य से उन की योग्यता वा प्रतिष्ठा अधिक हो सकती है। और जब मांसाहारी लोग अपने अपराध को अपराध ही नहीं मानते तब वे छोड़ने की प्रतिज्ञा क्यों कर सकते हैं ? और क्यों छोड़ सकते हैं ऐसी दशा में मांसाहारियों को फलाहारी लोग अपने समाज से अलग न करना चाहें तो भी वे अवश्य अलग हो जायेंगे क्योंकि सृष्टिक्रम के अनुसार जैसे रात्रि दिन, शीत उष्ण, राग द्वेष, धर्म अधर्म आदि अत्यन्त विरुद्ध गुण एक साथ एक काल में नहीं रह सकते वैसे ही दैवी और आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का मेल कदापि नहीं निभ सकता। केवल जगत् में एक मांसाहार ही आसुरी प्रकृति का काम नहीं किन्तु जगत् के अच्छे बुरे सब काम दो ही प्रकारों में आजाते हैं कुछ आसुरी प्रकृति में कुछ दैवी प्रकृति में। इसी कारण मनुष्यादि प्राणियों के मेल न रहने में मांसाहार को छोड़ के अन्य भी बहुत काम हैं जिन के कारण विरोध रहता वा रह सकता है परन्तु कोई काम किसी समय विरोध में प्रधान कारण बन जाता है। यहां भी प्रारम्भ में मांस भक्षण प्रधान हेतु हो गया है। उपदेशक जी की यह बड़ी भारी भूल है कि "मद्य पीने वा पुंसि मैथुन करने वालों की आर्यसमाज में प्रतिष्ठा है और मांसाहारियों की निन्दा होती है" क्योंकि आर्यसमाज में क्या मेरा निश्चय है कि किसी समुदाय में ऐसों की प्रतिष्ठा नहीं। आर्यसमाज में तो किसी बुराई की प्रतिष्ठा नहीं सभी अनर्थों के हटाने का उद्योग यथासम्भव किया जाता है। यही आर्य समाज का परम सिद्धान्त है। यदि यह आशय हो कि मद्य पीने वाले आदि कोई मनुष्य समाज में होनें सम्भव हैं और वे निकाले नहीं गये वा उनके निकालने का उद्योग नहीं किया जाता तो इस का उत्तर यह है कि उन्होंने अभी तक मद्य पानादि को अच्छा काम ठहराने का किसी ने कोई उद्योग भी नहीं किया न कोई पुस्तक बनाया है। न वे कहीं अब तक ऐसे काम को प्रसिद्ध अच्छा कह कर करने के लिये साहस बांधते हैं

जिससे आशा है कि वे लोग वैसे कामों से स्वयं लज्जित हैं इसी से छोड़ देना सम्भव है । यदि कभी मद्यादि का पक्ष लेकर कोई खड़ा होगा तो वह मांसाहारियों का ही आश्रय ले सकता है किन्तु आर्यसमाज में ऐसे मनुष्य कदापि नहीं ठहर सकते । अर्थात् वे सब आपके ही साथी वास्तव में होंगे ॥

मां०—जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥

शूकरादि के अभक्ष्य मांस को खा कर सात रात्रि जौ पीवे यह प्रायश्चित्त है । नो०—यहां भी अभक्ष्य मांस के भक्षण का प्रायश्चित्त तो कहा है मांस भक्षण का नहीं कहा ॥

उ०—उपदेशक जीने अर्थ बदल ने के लिये यहां एक चालाकी की है परन्तु जिन को थोड़ा भी संस्कृत विद्या में प्रवेश होगा वे इस चाल को झट समझ सकेंगे कि "मांसम्—अभक्ष्यं च जग्ध्वा" अर्थात् सीधा अर्थ है कि मांस और अन्य अभक्ष्य वस्तु को कोई धोखे में खा लेवे तो सात दिन प्रायश्चित्त करे यदि यहां अभक्ष्य शब्द मांस का विशेषण होतो च पढ़ना व्यर्थ हो जावे । संस्कृत में च अव्यय भाषा के और शब्द के स्थान में आता है । जैसे कोई भाषा में कहे कि "मांस और अभक्ष्य को खा कर" यहां अभक्ष्य और मांस दोनों एक वस्तु के नाम नहीं हो सकते वैसे वहां भी जानों । इन की बड़ी अविद्या यह है कि इतने पर भी इन्हों ने कुछ अपना पक्ष सिद्ध नहीं कर लिया । अस्तु अब हम इस द्वितीय भाग पुस्तक का खण्डन लिखना समाप्त करते हैं और विचार पूर्वक देखने वालों को इसी लेख में उन अंशों का भी उत्तर मिल जायगा कि जिन पर प्रसिद्ध में मैंने कुछ नहीं लिखा हो ।

और राजस्थान समाचार में जो पं० ठाकुर प्रसाद जी ने कुछ लेख छपाया वा छपाते हैं । उन सब का उत्तर देना मैं आवश्यक नहीं समझता क्योंकि प्रथम तो जो कोई प्रबल युक्ति वा प्रमाण दिया हो वा मेरे लिखे युक्ति प्रमाणों का खण्डन ही प्रबल प्रमाणों से किया हो वा उन पर दिये दोषों का ही कोई अच्छा समाधान किया हो यह मैंने अभी नहीं देखा । रहा मेरे लिये कुछ कटुवाक्य लिखना इस का उत्तर मैं कुछ नहीं दिया चाहता । सब से पहिली बात यह थी कि मांसभोजन शब्द अशुद्ध है अर्थात् मांस के साथ भक्षण शब्द का प्रयोग शिष्ट ग्रन्थों में आता है भोजन नहीं इस के लिये स्पष्ट प्रमाण अब तक कोई नहीं मिला अर्थापत्ति आदि से कहीं २ खेंच खांच की है । और नैषध काव्य कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है । तथापि कुछ संक्षेप से अन्यत्र समाचार पत्रादि द्वारा उत्तर दिया जायगा पाठक लोग चिन्ता न करें ।

त्रयीविद्या ॥

सब वेदमतानुयायियों को विदित हो कि त्रयीविद्या के नाम से एक लेख वा बड़ा व्याख्यान लिखने की इच्छा वा उत्कण्ठा कई मित्रों के अनुरोध से मेरे चित्त में हुई है। यद्यपि इस विषय के व्याख्यान की पूर्ण शक्ति मैं अपने में नहीं देखता तथापि वेदपारदर्शी मन्वादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थों का आश्रय लेकर ऐसे अज्ञात मार्ग में चलना चाहता हूं। आशा है कि परम कृपालु सर्वान्तर्यामी परमेश्वर मेरी बुद्धि को सहायता देगा। सब महाशयों को अभी से ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि मैं अपने सभी लेखों को विचार पक्ष के लिये लिखता हूं वा यों कहिये कि विचार करने के लिये एक प्रस्ताव उपस्थित वा पेश करता हूं कि उस को देख शोच कर जो कुछ वैदिक शुद्ध मार्ग के अनुकूल हो वह अधिक बुद्धिमानों की सम्मत्यनुसार ठीक कर लिया जाय क्योंकि प्रस्ताव न हो तो विचार किस पर कर सकते हैं। तथापि यहां विशेष कर सूचित करता हूं कि यह लेख अभी केवल विचार के लिये है पीछे इस के व्याख्यान की पूर्त्ति होने पर बहुसम्मत्यनुसार इस लेख को ठीक कर के एक पुस्तक "त्रयीविद्या" नाम से पृथक् छपादिया जावे गा। यह पुस्तक निर्विघ्न साङ्गोपाङ्ग बन गया तो बड़ा अपूर्व पुस्तक सिद्ध हो जायगा। और वेदमतानुयायियों का बड़ा उपकारक होगा। इस पुस्तक से निम्न लिखित बातें सहज में सिद्ध हो जांयगीं। १ वेद ईश्वरीय विद्या वा सब विद्याओं का मूल कैसे हो सकता है?। २—तीन वेद वा त्रयीविद्या ऋषि लोगों ने क्यों मानी है?। ३—चौथा वेद किस प्रकार माना जाता है?। ४—वेद में मन्त्रों की पुनरुक्ति क्यों है?। ५—वेद किन के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए?। ६—अध्यात्म अधिभूत, अधिदेव की व्याख्या। ७—देव, ऋषि, पितृ, मानव की व्याख्या। ८—तीन लोक। तीन देव। तीन गुण। तीन काल। चार वर्ण। चार आश्रम। चार अवस्था। कर्म, उपासना, ज्ञान ये वेद के तीन काण्ड। धर्म के तीन स्कन्ध वा चतुष्पात् धर्म का व्याख्यान। तीन व्याहृति तथा ओङ्कार की तीन मात्राओं का व्याख्यान। इत्यादि प्रकार तीन और चार संख्या से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्यों गुणों वा कर्मों का क्रम सहित तत्त्वज्ञान होने के लिये यह व्याख्यान विशेष उपयोगी होगा यह मेरा पूर्ण विश्वास है। इस लिये इस लेख का आरम्भ करता हूं ॥

यद्यपि विद्या के अनेक भेद वा संख्या भिन्न २ ग्रन्थकारों ने लिखीं वा मानी हैं परन्तु उन में परस्पर विरोध नहीं। अर्थात् उसी विद्यासम्बन्धी विषय को कहीं १४ संख्या से वर्णन किया है कि विद्या १४ प्रकार की है कहीं उसी सब विषय को तीन वा चार वा अन्य संख्या के विभागों में विभक्त करके व्याख्यान किया है। तथापि मनु आदि मुख्य २ महर्षियों ने कहीं २ विद्या के चार भाग ही प्रधान किये हैं। मनु० राजधर्म अ० ७। ४३

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः॥

जो तीन प्रकार की वेद विद्या के जानने वालों से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर तीनों विद्याओं को पढ़े और जाने तदनन्तर दूसरी राजनीति विद्या वा सामान्य नीतिशास्त्र (जिस के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव संश्रय ये छः वा साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार अङ्ग हैं) को यथावत् जान के राज्य करने के योग्य बने। इस के पश्चात् तीसरी आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कविद्या जिस का फल जीवात्मा परमात्मा के विषय में तत्त्वज्ञान होने से उस को आत्मविद्या भी कह सकते हैं इसी आन्वीक्षिकी वा आत्मविद्या का छः दर्शन वा छः शास्त्रों में साङ्गोपाङ्ग व्याख्यान है अर्थात् इसी तीसरी आन्वीक्षिकी वा आत्मविद्या का छः भागों में वर्णन करने के लिये महर्षि लोगों ने छः शास्त्र बनाये हैं। इस को राजा यथावत् पढ़े और जाने। तत्पश्चात् चौथी खेती वाणिज्य और पशुपालनादि लौकिक व्यवहार चलाने की विद्या को संसारी मनुष्यों से अनुभव के साथ जाने इन चार प्रकार की विद्याओं को ठीक २ जानने वाला मनुष्य राज्य करने योग्य वा राज्य का अधिकारी हो सकता है। ऐसे राजा के न्यायाधीश होने पर ही सब प्रजा में सुख और शान्ति निरुपद्रव ठहर सकते हैं॥

इतनी विद्या के यथावत् जान लेने पर उस को पूरा विद्वान् वा चतुर्दश विद्याओं का निधान मान सकते हैं। वेद के छः अङ्गों की संख्या वेदाध्ययन के साथ, तथा दण्डनीति नामक द्वितीय विद्या में धनुर्वेद और अर्थवेदसम्बन्धी वा इतिहास पुराणादि का सब विषय आजाता है। इस प्रकार विद्या के इन चार भागों में सब शास्त्रों की विद्या आ जाती है। न्याय के वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है—

इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या ॥

अ० १ । आह्निक १ । सूत्र १ पर

ये पूर्वोक्त चार विद्या भिन्न२ प्रकार से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मार्ग दिखाने वाली होने से प्राणधारीमात्र के कल्याणार्थ कहीं गयीं हैं जिन में से एक चौथी आन्वीक्षिकी न्याय विद्या है। यद्यपि आन्वीक्षिकी विद्या के छः शास्त्रों में छः भाग हैं तथापि उन में न्याय को सर्वोपरि प्रधानता है। इस से न्यायशास्त्र मुख्य आन्वीक्षिकी विद्या है। प्रत्यक्ष वा वेदादि शास्त्रप्रमाण से जो कुछ देखा वा जाना है उस को तर्क से फिर देखना शोचना कि ठीक है वा नहीं आन्दोलन के साथ जिस रीति से पक्का दृढ निश्चय होजाय वह आन्वीक्षिकी विद्या है आन्वीक्षिकी शब्द का यह अर्थ छहों शास्त्रों के विषय के साथ एकसा घट जाता और न्याय शब्द भी प्रधानता के साथ गोतमीय न्याय का बोधक है परन्तु सामान्य कर, सब अन्य पांच शास्त्रों के साथ भी न्याय का अर्थ घट जाता और व्यवहार में भी लगाया जाता है जैसे काणाद न्याय जैमिनीय न्याय, इत्यादि। अर्थात् वात्स्यायन ऋषि ने भी विद्या के चार भाग प्रधान कर माने हैं। अब इस में विचारणीय यह है कि विद्या के इन चार भागों में भी त्रयीविद्या प्रधान वा सब का मूल बीजरूप है और सब विद्या इसी की शाखारूप हैं। जैसे क्लेशों की पांच संख्या में अविद्या को सब अन्य चार क्लेशों का खेत योगशास्त्र में माना है कि अविद्या में से ही अन्य क्लेश उगते हैं। जैसे स्त्री से सन्तानों की उत्पत्ति होती है और सन्तानोत्पत्ति का मूल बीज स्त्रीपुरुषों में पहिले ही विद्यमान है तो भी स्त्री पुरुष को सन्तान नहीं मान लेते यदि मान लें तो सन्तानोत्पत्ति की इच्छा भी किसी को न हो। इसी प्रकार सब अन्य विद्याओं की उत्पत्ति वेद से होने पर भी वा वेद के सब विद्याओं का मूल होने पर भी वेद को सब विद्या नहीं मान सकते। तथापि जहां एक विद्या कहें वा तीन विद्या कहें वहां केवल वेदविद्या के ग्रहण से सब विद्यामात्र का ग्रहण वा बोध होगा। वेदविद्या सर्वोपरि प्रधान है वेद से सब कुछ सिद्ध हो सकता है यह मनु जी ने भी माना है ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥१॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ३ ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ४ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ५ ॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ६ ॥
सेनापत्यं च राष्ट्रं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ७ ॥
यथा जातबलो वन्हिर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ ८ ॥
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९॥ मनु० अ० १२

भावार्थ—मानस ज्ञान वा क्रिया में पूर्ण पितृ, वाणी के ज्ञान क्रियाओं में पूर्ण कुशल देव और प्राण के आधीन मनुष्य इन तीनों प्रकार के देह धारियों का सनातन—सदा विद्यमान नेत्र एक वेद ही है। महाभारत में भी लिखा है कि “वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः” ब्राह्मण लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य को वेद से ही देखते हैं। जीवन मरण के लौट पौट होते जाने पर भी वेद का ज्ञान सब के लिये भला बुरा मार्ग दिखाने वाला ज्यों का त्यों बना रहता है इस कारण वह सनातन है। जैसे वास्तव में जो प्राणी सूर्य को नहीं जानते कि यह क्या वस्तु है इस में देवतापन वा उत्तमता क्या है ? सूर्य देवता से हम कहां तक वा क्या सुख प्राप्त कर सकते हैं उन के लिये भी सूर्य का प्रकाश सृष्टिक्रम के अनुसार नेत्रों से देखने की

सहायता अवश्य करता है। इसी प्रकार वेद को न जानने वा मानने वालों को भी सर्वव्याप्त ईश्वरीय विद्या वेद का ज्ञान सहायता अवश्य देता है। केवल वेद को साक्षात् वा पूर्ण जाने विना विशेष ज्ञान से होनेवाली विशेषकार्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणीमात्र का चक्षु वेद ही है। जैसे हम इधर उधर देख कर किसी के पदार्थ को लेना चाहते हैं जिस कर्म का नाम चोरी है। उस की इच्छा होते ही एक प्रकार का भय वा हिलचल आत्मा में उत्पन्न होता है जिस से शान्ति का वा धैर्य का नाश हो कर प्रारम्भ से ही सुख की जड़ कटती है उस का उपदेश सब से पहिले वेद से ही मनुष्यों को मिला कि "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" स्वामी की आज्ञा के विना किसी के धन को लेने की इच्छा मत करो। इसी के अनुसार पीछे २ महर्षि आदि लोगों ने चोरी आदि के त्याग का व्याख्यान अनेक ग्रन्थों द्वारा बढ़ाया। चोरी करना बुरा है यह सब प्राणीमात्र को अपने हृदय से दीखता है इस का दिखाने वाला चक्षु सनातन वेद ही है। इसी प्रकार मनुष्यमात्र ने वा प्राणीमात्र ने सामान्य कर जो कुछ कर्त्तव्याकर्त्तव्य अब तक जाना है वह सब जैसे पर्वत से निकल कर कोई नदी देश में फैले वैसे प्राणीमात्र में वेद का ज्ञान फैल रहा है। जैसे परमेश्वर रचित पृथिव्यादि सब वस्तु देश काल और प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं वैसे वेद भी सर्वगत होने से ईश्वरीयविद्या है। जैसे सूर्य को हानि पहुं-चाने की शक्ति किसी की नहीं वैसे ही वेद को भी कोई बिगाड़ बना नहीं सकता अर्थात् पुस्तकों के बिगड़ने बनने से शब्दार्थ सम्बन्धरूप वेद नहीं बनता बिग-ड़ता। वेद अथाह समुद्र के तुल्य नानाप्रकार की विद्या का भण्डार है इस कारण अल्पज्ञ मनुष्य उस की थाह नहीं ले सकता। यह बात बहुत ठीक वा स्थिर है ॥१॥

जब वेद सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश पहुंचाने वाला सब का चक्षु है तो उस से विरुद्ध वा वेदाशय के खण्डनार्थ नास्तिकादि ने अनुभव करके अपनी अल्पज्ञता से पाप दृष्टि के साथ जो ग्रन्थ बनाये हैं वे सब संसार वा परमार्थ सम्बन्धी सच्चे मार्ग से भुलाने वाले हैं। अर्थात् अन्धकार तमोगुण में गिराने वाले वेदविरुद्ध पुस्तक अवश्य हैं इस कारण उन का पढ़ना देखना बड़ा हानि-कारक है ॥ २ ॥ दूसरे श्लोक में वेद के साथ द्वेषबुद्धि से पाण्डित्य खर्च करके बनाये वा वेद का ही उलटा आशय समझ के बनाये मद्य मांसादिक बुराइयों को अच्छा ठहराने वाले पुस्तक तमोगुणी अन्धकार में डालने वाले जताये अ

इस तीसरे श्लोक से यह दिखाते हैं कि पानी में बुद्बुद (बलबूला) उठ कर मदा जाने के तुल्य अन्य वेदविरुद्ध समय २ पर सर्वसाधरण के बनाये वा प्रचरित किये उपदेश वा पुस्तकादि शीघ्र २ बिना जड़ के वृक्ष वा विना नींव की भित्ति के तुल्य बन २ कर नष्ट होते रहते हैं । वे भी आधुनिक (निर्मूल होने) वा निकृष्ट फल वाले होने से निष्फल वा मिथ्या हैं। अभिप्राय यह है कि जिस फलरहित वृक्ष की जड़ दृढ़ नहीं है वा जिस की जड़ को नदी आदि का प्रवाह शीघ्र काट कर गिराने वाला है उस वृक्ष का आश्रय लेने वाले पक्षी कभी सुखपूर्वक नहीं ठहर सकते वा उस से छायादि का भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते इसी प्रकार निर्मूल ग्रन्थों का आश्रय लेने वाले वा उन में किये वेदविरुद्ध उपदेशों पर चलने वाले मनुष्य कदापि सुखी नहीं रह सकते इस लिये वेदोक्त उपदेश पर चलना ही मनुष्य का इष्ट साधक है और वेदविरुद्ध को अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥३॥ जगत् में चार भागों में बांटे गये सब कर्मों के द्वारा सब इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के त्याग के लिये चार वर्णों का नियत होना । तीनों लोक की व्यवस्था और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम का विभाग भूत भविष्य और वर्त्तमान तीनों काल की व्यवस्था यह सब वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं । इन चार वर्णादि का विशेष व्याख्यान इसी प्रसंग में आगे किया जायगा ॥ ४ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में रहने वाले प्रादुर्भूत गुण कर्मों से उत्पन्न होने वाले शब्दादि के ज्ञान का मूल कारण वेद ही है । अर्थात् शब्दादि की रचना का भी ठीक २ ज्ञान वेद के सिद्धान्त का यथार्थ बोध होने से ही हो सकता है ॥५॥ सामान्य कर सनातन वेद की शिक्षा जो प्राणीमात्र में किसी न किसी रूप से फैली हुई है वही सब का धारण करती है । अर्थात् चोरी न करो, किसी को दुःख न दो, न्याय करो, दुःखी पर दया करो, सत्य बोलो वा सत्य वादी का विश्वास करो, विद्या पढ़ो, धैर्य को धारो, इन्द्रियों को अधिक चञ्चलता से रोको, शुद्ध रहो, बुद्धि से शोच समझ के काम करो, क्रोध मत करो, दान दो, एक स्त्री से विवाह करो, व्यभिचारी मत बनो, इत्यादि बातें पहिले २ वेद से निकल कर सब प्राणियों वा विशेष कर मनुष्य मात्र में प्रचरित होगयी हैं इन्हीं से जगत् का व्यवहार चल रहा है । जितने अंश में इन बातों का यथोचित वेदानुकूल वर्त्ताव नहीं उतनाही व्यवहार के हित चल रहने से मनुष्यादि को अनेक दुःख वा उपद्रव घेरे हैं । और जितने अंश में मनुष्यादि को कुछ सुख और शान्ति

है उतनी वेदानुकूल ज्ञानोपदेश के वर्त्ताव में आने से है। यदि सब सब की चोरी करने लगें सत्य कोई न बोले वा किसी की बात का कोई विश्वास न करे न कोई विद्या पढ़े सब क्रोध करें और कोई किसी की स्त्री न रहे सब से सब व्यभिचार करने को प्रवृत्त हो जांय तो सब मर्यादाओं के टूट जाने से सब प्राणी आपस में लड़ कट मरें जगत् के नाश का समय आजाय इस लिये वेद की शिक्षा ही जगत् को वर्त्तमान दशा में थाम्भे हुए है। जो द्वीपान्तर वासी लोग वेद को न मानने वाले वा वेद विरोधी समझे जाते हैं उनकी उन्नति अवनति वा सुधरने बिगड़ने में भी वेद की शिक्षा का अधिक न्यून होना ही मूल कारण है इस दशा में हम को यह कहना वा मानना नहीं चाहिये कि ईसाई मूसाई आदि वेद को नहीं मानते किन्तु यह कह सकते हैं कि उन लोगों ने भी अभी वेद को ठीक वेद नहीं जान पाया। जिस कारण पूर्वोक्त प्रकार वेद ही सब का धारण कर रहा है इसी कारण मनु जी कहते हैं कि मैं इस वेदशास्त्र को सर्वोपरि मानता हूं। क्योंकि यही वेद शास्त्र इस जीव को उत्तम अभीष्ट सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। इस से बड़ा साधन शुद्ध निष्कण्टक मार्ग में चलाने वाला और कोई नहीं है। इस लिये जो दुःखसागर में डूबने से बचना चाहे वह वेद की नौका पर चढ़े और वेदज्ञ मल्लाहों का आश्रय करे॥ ६॥

वेद शास्त्र के सिद्धान्त वा आशय का यथावत् जानने वाला मनुष्य ही सेनापति, सामान्य राज्य का अधिकारी, अपराधानुकूल पक्षपात छोड़ कर दण्ड (सजा) की आज्ञा देने वाला और चक्रवर्त्तीराज्य का भी अधिकारी यथोचित हो सकता है। यह बात क्या सर्वसाधारण के मन में भी ठीक जच सकती है? मुझे अनुमान है कि मनु जी के इस कथन पर किसी विरले ही मनुष्य का पूरा विश्वास हो सकता है। इस का कारण यह है कि जिस समय मनुस्मृति बनी थी वह समय सर्वथा बदल गया तब कोई २ मनुष्य वेद को यथावत् जानने वाले भी मिलते थे और कुछ २ जानने वाले तो प्रायः थे ही और जब तक वेद के जानने वाले आर्यावर्त्त में रहे तब तक राज्यादि के अधिकारी भी येही आर्यावर्त्त वासी थे। अब समय इतना लौट पौट हो गया कि उस बात पर हमारा विश्वास भी नहीं जमता। इस का दृष्टान्त हम वर्त्तमान समय का यह देवें कि जो दशा इस समय अंग्रेजी राज्य में वर्त्तमान है कि इस २ कक्षा तक अमुक २ प्रकार अंग्रेजी विद्या पढ़ के अमुक २ कामों को सीख कर ऐसे २ बड़े काम करने की योग्यता मनुष्य प्राप्त

कर लेता है यह बात कभी ऐसे समय में दश बीश हजार वर्ष बीत जाने पर जब कि आज कल की सब वर्त्तमान कार्य दशा लौट पौट हो जावे तब कोई वर्णन करे तो निश्चय है कि किसी को विश्वास न आवेगा कि यह ठीक है परन्तु वर्त्तमान में प्रायः सभी को विश्वास है। वेद का आशय क्या है वेद क्या वस्तु है? इस को शोचने से प्रतीत होता है कि वेद के मन्त्र पढ़ लेनेमात्र से वेद का ज्ञान होना नहीं कह सकते किन्तु इस की अपेक्षा धनुर्वेदादि रूप से किसी प्रकार वेद का जो आशय जगत् भर में फैल गया है उस को किसी भाषा द्वारा अनुभव के साथ जो जितना जानता है वह उतने अंश में वेदज्ञ है ऐसा मानना अनुचित नहीं है। इसी के अनुसार हम विना संकोच कह सकते हैं कि वर्त्तमान अंगरेजी राज्य की जो कुछ उन्नति है और जो कुछ विद्या सम्बन्धी अंश उन में है वह वेदाशय को किसी प्रकार कुछ जान कर हुआ वा है। जो कोई लोग अंगरेजी राज्य की वा अंगरेज जाति की पूर्ण उन्नति हो गयी समझते हैं यह उन का समझाना वैसा ही है जैसे कोई दरिद्र मनुष्य लक्षाधीश के उन्नत कार्यों को देख कर उस को सर्वोपरि धनी मान बैठे वा लक्षाधीश को भी अपने से अधिक ऐश्वर्यवान् कोई न दीख पड़े तो वह अपने को सब से बड़ा धनी मानले। यदि अंगरेज लोग वेद की और वेदानुकूल शास्त्रों की ओर पूर्ण दृष्टि देने लगें तो उनको हमारी अपेक्षा शीघ्र वेद का असली गूढ़ आशय कुछ काल में जान लेना असम्भव नहीं। और वेदानुकूल अपने कामों का संशोधन अंगरेज लोग करने लगें तो सम्भव है कि इन को पूर्ण उन्नति और अटल चक्रवर्त्ती राज्य शान्ति वा सुख के साथ बहुत काल के लिये स्थिर हो जाय। उसी को हम दैवी उन्नति वा दैवी राज्य विना संकोच मान सकेंगे। हमारे इस लेख को कदाचित् कोई लोग ऊटपटांग समझें तो आश्चर्य नहीं परन्तु हम को वेद पर पूरा विश्वास है कि वेद परमेश्वर की विद्या है उस विद्या के अनुसार जो उन्नति है वही पूर्ण उन्नति होगी। सेनापति आदि पदों का अधिकारी पूरा २ वेद शास्त्र का जानने वाला ही हो सकता है इस कथन से यह भी अभिप्राय निकलता है कि वेद सब विद्याओं का भण्डार है जिस अंश की विद्या में जो जैसा प्रवीण हो वह वैसे २ सेनापति आदिक पद का अधिकारी हो सकता है। यदि कोई अधिक वा सर्वांश वेद विद्या का ज्ञाता हो तो वही चक्रवर्त्ती राजा बनाया जाय वा यह भी कह सकते हैं कि जैसे सूर्य सब तेजधारी प्रकाशक तैजस

धन्यवाद ॥

श्रीजंगसिंह नम्बरदार गढ़िया २) चौधरी उमरावसिंह जी नायक नगला ३) पं० छज्जूराम शर्म्मा राहुनगरी ॥) जीसुखराम शर्मा महमूदपुर ।) मुरारीलाल शर्मा असमालपुर ।) श्रीगङ्गारामजाट महमूदपुर =) कल्लूराम कहार =) श्री बा० केवलप्रसाद जी सिवनीपछरा २) बा० राधाकृष्ण जी इरादत नगर १) बिहारीलाल जी वैद्य पहासू २) लाला विष्णुचरणलाल जी भरथना १) श्रीडाक्टर इन्द्रमणि जी लखनऊ ने पुत्री के विवाहोत्सव में दिये ५) लाला पन्नूलाल प्रधान आ० स० जलाली ने विवाहोत्सव पर दिया १) भैया बोदामल फुलूमल जी सिन्धहैदराबाद २≡) सेठ बेलजी लखमसी मुम्बई ५) पं० गौरीशङ्कर शर्मा १=) धर्मार्थ पुस्तकों की विक्री से चार मास में प्राप्त हुए २४।) यह सब ५०॥।-) पचाश रुपये तेरह आने जनवरी ९५ बे से अप्रेल तक चार मास में पाठशाला की सहायता में धर्मार्थ आया इस लिये उक्त सब महाशयों को धन्यवाद है । परमात्मा उन के मनोरथ सुफल करे ॥

सूचना—

सब महाशयों को विदित है मेरा शरीर ३ वर्ष से रोगग्रस्त रहा इस कारण कर्त्तव्य कामों में विशेष विघ्न हुआ । अब यद्यपि तीन चार महिने से रोग शान्त है तथापि अनेकानेक अन्य घर के बीमारी आदि वा यन्त्रालय के काम भी विघ्नकारी हो जाते हैं इस से तथा मुझे अभी तक अपने रोग का भी कुछ भय बना रहा है कि कहीं फिर न उठ आवे इन कारणों से इस बार भी अंक निकलने में कुछ देर हुई तथापि पहिले की अपेक्षा अब की बार कम ढील हुई है । आशा है कि आगे इतनी भी नहीं होगी क्योंकि छापेखाने का भार लेने के लिये एक महाशय ने प्रतिज्ञा की है यदि यह संकल्प ठीक सिद्ध होगया तो मुझे कुछ अब से अधिक अवकाश लेख करने के लिये मिलेगा तथा जो महाशय मुझे वार २ बाहर बुलाना चाहते हैं उन की सेवा में भी निवेदन है कि यदि आप कोई ऐसा ही काम देखें कि मेरे आये बिना सिद्ध होना सम्भव कम हो तभी मुझे बुलाया करें साधारण उत्सवादि में मेरे जाने से भी मासिकपत्रों के निकलने में बड़ा विघ्न होता है । अभी पीछे तीन मास में कई स्थानों में जाने पड़ा । कम जाने पड़े तो मासिक अङ्कों के शीघ्र निकलने का उद्योग होना सम्भव है । और ऐसा होने पर भी कुछ २ ढील होना सम्भव है इस लिये ग्राहक महाशयों से विशेष निवेदन है कि किसी नियत तिथि वा तारीख को सार्वभिवा...

मासिकपत्र आप के पास न पहुंचें तो आप बुरा न समझिये क्योंकि ये कोई समाचार पत्र नहीं हैं कि जो पीछे पहुंचने वा छपने से व्यर्थ हो जांय किन्तु यह धर्मसम्बन्धी वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त वा विचार है जो सदा ही उपकारी रह सकता है। एक बात यह भी शोचने की है कि मुझे लिखने को समय कम मिलता और विचार अधिक करने पड़ता है। मेरे पास अब तक लिखने के लिये पूरा सामान तक जमा नहीं हुआ अर्थात् वेद, उपवेद, गृह्य, श्रौतसूत्र, अङ्ग उपाङ्ग ब्राह्मणादि सभी पुस्तक देखने के लिये पास रहने चाहिये उन में अभी तक बहुत कम पुस्तक हैं। यदि कोई महाशय इस के लिये मुझे सहायता देना चाहें तो दो रीति हैं एक तो अपनी ओर से पुस्तक मँगा दें और जब मेरा काम निकल जाय तक पुस्तक अपने लेलेवें द्वितीय मुझे अपेक्षित पु० लेदें और उस के बदले मेरे बनाये पु० लेते जांय वा धीरे २ बिना सूद का मूल धन लेलेवें। अब एक निवेदन यह है कि अनेक ग्राहक महाशयों के अङ्क मारे २ फिरते हैं उन को पता ठीक करा लेना चाहिये और सहायता देने में भी शिथिलता होने से शीघ्र छपने में विघ्न होता है इस लिये कृपा कर सहायता देते रहैं। अब इस के पश्चात् मनु का अङ्क निकलेगा॥

पुस्तकों का सूचीपत्र॥

जिन महाशयों को विशेष हाल देखना हो वे बड़ा सूचीपत्र मंगा कर देखें॥

मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) सात उपनिषद् संस्कृतभाष्य व भाषार्थ सहित इकट्ठा लेने वालों से ३॥) जिल्द सहित ३॥।=) पृथक् २ ईश ≡) केन।) कठ १) प्रश्न ॥।) मुण्डक ॥।-) माण्डूक्य।) तैत्तिरीय १) आर्यसिद्धान्त पांच भागरूप पुस्तक का मूल्य विना जिल्द ३॥) और जिल्द सहित ३॥।=) विवाहव्यवस्था =) देवनागरी की वर्णमाला)। और १) रु० में १०० पुस्तक मिलेंगे। सत्यसङ्गीत)। यज्ञोपवीत-शङ्कासमाधि -) सदुपदेश)। संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पुस्तक)॥। तथा द्वितीय पु० -)। वा तृतीय पु० ≡) नवरत्नभूषण =) गणरत्नमहोदधि १॥) गणितारम्भ =)॥ भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) जीवनयात्रा ≡) किरानीलीला—वेश्यालीला)॥। नीतिसार =)॥ द्वितीयपुस्तक।) भजनामृतसरोवर =)॥ ऐतिहासिकनिरीक्षण ≡) नागरी का प्रथमपुस्तक -) वनिताबिनोद =) हितशिक्षा -)॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकेन्दुपरागे प्रथमोंऽशः -)॥ द्वितीयोंऽशः -)॥ भजनेन्दु -) स्वर्ग में सब्जेक्टकमेटी ≡) संगीतरत्नाकर =) बालचन्द्रिका -) बारहमासी झूलना)॥।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयद्दर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ६] मासिकपत्र [अङ्क ९।१०

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सन् १८९५ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १)

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

६८५ बा० रघुनन्दनप्रसाद जी सोनपुर १।)
३४७ श्रीयुत देवदत्त शर्मा दसूया १।)
९७५ श्री० मन्त्री आर्य्यसमाज फलिया १।)
६७८ श्रीयुत अम्बालाल जी बामणदाणी—डूंगरपुर २॥)
९७४ श्री विष्णुचरणलाल—भर्थना १।)
९७६ श्री मजलिस राय जी मूसानगर १।)
९१९ ठाकुर शिवप्रसाद वर्मा इन्द्रौर १।)
४६६ श्री तुलसीराम जी देहरादून १।)
९५६ श्रीयुत वासुप्रसाद जी मण्डला १।)
६१८ पं० शिवप्रसाद बाजपेई बान्दा १।)
७७६ बा० रामप्रसाद जी बान्दा १।)
५९४ श्रीआनन्दस्वरूपवकील कानपुर २॥)
३९९ श्री केवलप्रसाद जी मन्त्री आर्य्यसमाज सिवनीछपरा २॥)
२१९ गोवर्द्धनदास नगीनदास मुम्बई १।)
१५९ रा०वाजीरावतातियाराव मुम्बई २॥)
१४० सेठ सुन्दरदास धर्मसी मुम्बई २॥)
१६० रा०रा० शास्त्रीरणछोरजीमुम्बई २॥)
७४ मुं० रामशरणदास बुलन्दशहर २॥)
८७८ श्री नानकचन्द जी रावलपिंडी १।)
५६० श्री जगन्नाथसिंह जी जहाजपुर १।)
२०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)
२२० सेठ बेलजी लखमसी मुम्बई १।)
२०८ श्री मन्त्री आर्य्यसमाज झांसी १।)
५१३ बा० अश्विनीकुमार जी चकराता १।)
८९१ श्री शेषभट्ट जी बेलतंगडी १।)
३२८ श्री रामगुलाम जी लालग्राम २-)
[illegible] पं० [illegible] जी मा० आसाम १।)

८८ श्री मुकुन्दराम जी दारानगरगंज १।)
६०१ मन्त्री आर्यसमाज किरांची १।)
६०४ श्री सेठ ज्येष्ठाप्रेमजी मुम्बई १।)
६६६ श्री मुन्नीलाल हेडमास्टर जी होशियारपुर २॥)
९९१ श्री बहादुरसिंह जी जगतपुर जि० रायबरेली १॥।=)
६२ मुं० जयन्तीप्रसाद जी गाजीपुर १।)
२०३ श्री कुन्जबिहारी जी राजापुर १।)
२६८ श्री यमुनाप्रसाद जी ग्वालियर २॥)
९०९ शिवदर्शनसिंह जी अवधन १)
९८४ विजयबहादुरसिंह जी जगत्पुर १।)
४०८ श्री मथुराप्रसाद जी मैनपुरी १।)
९५७ धनीराम जी लखनऊ १।)
४८३ टीकाराम जी कासगंज १।)
६५ मन्त्री पं० जगन्नाथ दुबे होलेपुर २॥)
१३१ पं० रामदयालु जी सुलताना २॥)
९८९ शाकुम्बरीदास जी छिन्दवारी १=)
५८७ श्री सोहनसिंह जी पिलखना २॥)
९८८ मन्त्री आर्यसमाज पीलीभीति १।)
९९० सूबेलाल साह जी दार्जिलिंग १।)
९९२ ब्रह्मदत्त जी जबलपुर १।)
१२२ गोवर्द्धनलाल जी देहरादून १।)
७०१ कर्त्ताराम जी कर्नाल १।)
९९४ चुन्नीलाल जी दार्जिलिंग १।)
९०४ प्रभुदयाल जी झीन्द १।)
६९९ जगन्नाथशर्माइन्स्पेक्टरनरसिंहपुर १।)
१३७ मथुरादास जी इंजिनियर सीतापुर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ९।१०

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

एक महाशय ने कुछ प्रश्न किये थे उनका उत्तर यहां छपाने योग्य समझा इस लिये सब पाठकों के अवलोकनार्थ छपाया जाता है । आशा है कि गुणानुरागी लोगों को लाभकारी होगा ।

१ प्र०—वर्णविचार अर्थात् जातिभेद कब से प्रचलित हुआ ? ।

उ०—वर्णभेद वा जातिभेद सृष्टि के आरम्भ से चला ॥

२ प्र०—सृष्टि के आरम्भ में वर्ण पृथक् २ किस प्रकार ज्ञात हुए । अर्थात् हम ब्राह्मण से तुम क्षत्रिय से वे वैश्य से और अमुक शूद्र के वीर्य से उत्पन्न हुए ? ।

उ०—महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १८८ भृगु भरद्वाज संवाद में लिखा है कि—भरद्वारजउवाच—

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥ १ ॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥ २ ॥

भावार्थः—काम, क्रोध भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, और थकना आदि हम सब मनुष्यमात्र को बराबर ही सताते वा दबाते हैं फिर ब्राह्मणादि वर्णभेद का कारण क्या है ? ॥ १ ॥ पसीना, मूत्र, विष्ठा, कफ, पित्त, लोहू आदि सब

के शरीर से एकसा ही निकलता है । ब्राह्मणादि वर्णों के मूत्रादि में कुछ भेद नहीं दीखता फिर वर्णभेद का कारण क्या है ? ॥ २ ॥ इस प्रश्न का उत्तर भृगु जी ने दिया सो लिखते हैं—भृगुरुवाच—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ ३ ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ४ ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥ ५ ॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ ६ ॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ ७ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ ८ ॥

भाषार्थः—सृष्टि के आरम्भ में वर्ण भिन्न २ नहीं थे । ब्रह्म वा ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सभी का नाम ब्राह्म वा ब्राह्मण था ।

ब्रह्मणा सृष्टा ब्रह्मणो वापत्यानि ब्राह्मणाः ।

ब्राह्मण शब्द का मुख्यार्थ भी यही है कि ब्रह्म ने वा ब्रह्मा ने रचे अथवा ब्रह्मा के सन्तान मरीच्यादि ब्राह्मण कहाये । क्योंकि पहिले रचना के समय ब्राह्मणादि में कुछ भेद नहीं बनाया था । पीछे कर्मोंके भेद से ब्राह्मणादि वर्ण भिन्न २ किये गये । और इस के लिये वेद से सहारा मिला कि ऐसे २ कर्म वा गुण वाले को ब्राह्मण क्षत्रियादि जानना चाहिये ॥ ३ ॥ कामभोग जिनको प्रिय क्रोधी, तीक्ष्ण स्वभाव वाले शीघ्रता करने वाले जिन्होंने अपना धर्म जितेन्द्रियता अक्रोध शान्तिशीलता विचारपूर्वक काम करना आदि छोड़ दिया ऐसे

लाल रंग धारी ब्राह्मण क्षत्रियपन को प्राप्त हुए वा क्षत्रिय माने गये ॥ ४ ॥ गोरक्षा से अपनी जीविका मान कर पीलावर्ण धारण करने वाले खेती से निर्वाह करते हुए जिन्होंने अपना धर्म पढ़ना पढ़ाना शिलोंच्छवृत्ति वा जप तप आदि छोड़ दिया ऐसे ब्राह्मण सृष्टि के आरम्भ में वैश्यभाव को प्राप्त हुए वा वैश्य माने गये ॥ ५ ॥ हिंसा करना तथा मिथ्या बोलना जिन को प्रिय हुआ ऐसे लोभी सब काम करके जीविका करने वाले, कृष्णवर्ण युक्त (काले वस्त्रों के धारण कर्त्ता और शरीर का भी रंग प्रायः जिनका काला हुआ) तथा शुद्धि पवित्रता से रहित भ्रष्टाचारी ऐसे ब्राह्मण शूद्र माने गये वा कर्मानुसार शूद्र बन गये ॥ ६ ॥ इन पूर्वोक्त कर्मों से भिन्न २ हुए ब्राह्मणों के चार वर्ण बन गये । इन चारो वर्ण के लिये धर्म और यज्ञ करना कभी निषिद्ध नहीं है ॥ ७ ॥ इन पूर्वोक्त ब्राह्मणादि चारो वर्ण के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने सब के हितार्थ वेदविद्या प्रचरित की जिस के अनुसार चलने से सब का कल्याण होता परन्तु लोभवश होकर वेदविद्या का त्याग कर देने से अज्ञानता को प्राप्त होगये ॥ ८ ॥

इस विषय में विशेष वक्तव्य यह है कि—यद्यपि सृष्टि के समय मनुष्यमात्र उत्पन्न हुए तब वर्ण भिन्न २ नहीं थे तथापि उन २ में पूर्वकल्प के शेष संचित संस्काररूप कर्मों के अनुसार वैसी २ योग्यता पहिले से ही विद्यमान थी जिस के अनुसार वे ब्राह्मणत्वादि के अधिकार को प्राप्त हुए क्योंकि विना बीज वा मूल के वृक्ष होना जैसे असम्भव है वैसे निर्मूल कुछ नहीं हो सकता । इसीलिये यह भी शंका भी निवृत्त हो जाती है कि जिन को शूद्र बनाया वा नियत किया उन्हीं को ब्राह्मण का अधिकार क्यों नहीं मिला? तथा जिनको ब्राह्मण बनाया वे शूद्र क्यों नहीं बना दिये गये ? । अर्थात् पूर्व संस्कारों के अनुसार जिन में जैसी योग्यता देखी गयी उन २ को वैसा २ ब्राह्मणादि का अधिकार दिया गया । और ब्राह्मणादि की क्या २ योग्यता होनी उचित है यह पहिले २ वेद से ज्ञात हुई कि अमुक २ गुण कर्म जिस २ में हों वह २ ब्राह्मण वा क्षत्रिय होना चाहिये । इस से यह सिद्ध हो गया कि यद्यपि सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणादि का कोई प्रत्यक्ष चिन्ह नहीं था इसी से यह व्यवहार बन गया कि वर्णों में पहिले भेद नहीं था । तथापि ब्राह्मणपन आदि पहिले से ही उन २ में था इसीलिये

ईश्वरीय सृष्टि के साथ वर्णव्यवस्था माननी चाहिये क्योंकि मनुष्यों की रचना से पहिले ही वेद में वर्णविभाग विद्यमान था। अब रहा यह कि ब्राह्मणादि के ऊपरी प्रत्यक्ष चिह्न क्या होने चाहिये ? इस का उत्तर यह है कि-एक तो चिह्न शरीर के साथ होने चाहिये और द्वितीय कृत्रिम चिह्न भी भिन्न २ पहिले नियत किये रहें। ब्राह्मण गौरवर्ण, क्षत्रिय रक्तवर्ण, वैश्य पीतवर्ण और शूद्र कृष्णवर्ण क्यों माने गये क्या ऐसा २ स्वाभाविक शरीर का रंग हो तो ब्राह्मणादि का विभाग माना जायगा ? यदि ऐसा मानोगे तो बड़ा दोष आवेगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। प्रत्यक्ष देखलो जो ब्राह्मणकुलों में माने जाते हैं उन में हजारों काले रंग के विद्यमान हैं फिर यह नियम कैसे बनेगा ?। इस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में भी कुछ विरोध नहीं केवल समझ का दोष है। प्रथम तो शोचना यह है कि शास्त्रीय व्यवस्था और लोकव्यवहार में बड़ा अन्तर है उस को विना शोचे यह शंका हुई कि सब में सब रंग विद्यमान हैं। हम पूछ सकते हैं कि वेदादि का पढ़ना पढ़ाना वा सन्ध्यादि कर्म करना तथा सत्यादि धर्म के सेवन का सभी को तुल्याधिकार है तथा सब प्रकार के कर्म भी सभी में विद्यमान हैं अर्थात् ब्राह्मण जाति में पढ़ना पढ़ाना वा सन्ध्यादि ब्राह्मण के जमीदारी आदि में बलात्कार कार्यसिद्ध करना आदि क्षत्रिय के खेती पशुरक्षा वा गोरक्षा तथा व्यापारादि वैश्य केऔर सब प्रकार की नौकरी करनादि शूद्र के काम प्रत्यक्ष विद्यमान हैं तब उस समुदाय का नाम ब्राह्मण क्यों रक्खा जाय किन्तु उन को चारो वर्ण कहना चाहिये। परन्तु इस का समाधान कठिन है। हमारा सिद्धान्त तो यह है कि-वर्त्तमान समय में तो वर्णव्यवस्था बहुत बिगड़ गयी है इसी से शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जो लोग वैश्य क्षत्रिय वा शूद्र होने की ठीक२ योग्यता रखते हैं ऐसे बहुत वा अधिकांश ब्राह्मण कहाते हैं परन्तु जब कभी २ ठीक २ शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल वर्णव्यवस्था मानी जाती थी वा मानी जावे तब भी सब प्रकार के गुण कर्मों वाले मनुष्य सब वर्णों में रहते थे वा रहेंगे क्योंकि वर्णव्यवस्था का सर्वव्याप्त होना वेदादि के अनुकूल है। जब एक २ शरीरधारी में चारो वर्ण के अङ्ग वा गुण कर्म विद्यमान हैं तो सब ब्राह्मणादि में सब क्यों न होंगे। अर्थात् ईश्वरीय सभी नियम ऐसे हैं जो सब में सब व्याप्त हैं जिस के नियम वा काम सर्वत्र व्याप्त हैं इसी से वह परमेश्वर है वा सर्वशक्तिमान् है। अब रहा यह कि जब सब में सब है तो ब्राह्मणादि भिन्न २ कैसे होंगे ? इस का दृष्टान्त यह

है कि जैसे लोक में कहते हैं कि ब्राह्मणों का यह ग्राम है वा क्षत्रियों वा ठाकुरों का वा मुसलमानों का ग्राम है यद्यपि उस में नाऊ धोबी आदि कमीन लोग भी दो चार घर बसते हों तथापि ब्राह्मणादि के नाम से ग्राम कहा वा माना जाता है। जैसे यहां लोक में अधिकांश वा प्रधान के नाम से व्यवहार होता और गौण का नाम छोड़ दिया जाता है इसी प्रकार शास्त्र में भी मुख्य को प्रबल वा विशेष मान कर व्यवहार किया जाता है जिस शरीर धारी वा समुदाय को हम ब्राह्मण मानें उस में ब्राह्मण के गुणकर्म स्वभाव प्रबल वा मुख्य होने चाहिये और क्षत्रिय वैश्यादि के गुणकर्म स्वभाव कुछ २ उस में अवश्य रहेंगे उन से ब्राह्मणपन का व्यवहार रुक नहीं रुकता। इसी प्रकार गौरवर्ण आदि सर्वत्र रहेंगे परन्तु ब्राह्मण वर्ण में विशेष होना चाहिये। अब रहा यह कि सृष्टि भर में मनुष्यों का कोई समुदाय ऐसा हो सकता है जिस में प्रायः सभी मनुष्य गौर वा श्वेतवर्ण के हों और उन को लौकिक वा शास्त्रीय किसी नियम से तुम ब्राह्मण न ठहरा सको तो गोरापन ब्राह्मण का लक्षण व्यभिचारी हो जायगा ?। इस का समाधान यह है कि प्रथम तो गौरवर्णादि को हम युक्ति के साथ सिद्ध करेंगे तब उस में भेद खड़ा हो जायगा जब कई प्रकार गौरवर्ण के होजायंगे तब हम कहेंगे कि इस प्रकार का गौरवर्ण ब्राह्मण का लक्षण है। जैसे कहें कि सैन्धव लवण श्वेत है और एक काला लवण भी होता है फिर श्वेत और काले अनेक वस्तु हैं तो क्या सब काले वस्तुओं को कोई काला लवण मान सकता है? कदापि नहीं अर्थात् काले लवण की स्वाद लेकर परीक्षा करना जैसे मुख्य मानी जायगी वैसे ही ब्राह्मणपन की परीक्षा के भी कोई नियम ऐसे अव्यभिचारी नियत करने होंगे जिस से उस में सन्देह कुछ भी नहीं रहेगा। जैसे श्वेतरंग अनेक पवित्र सत्त्वगुण वाले वस्तुओं से बनाया जायगा तो कहीं निकृष्ट मलीन वस्तु से भी श्वेतरंग बनना सम्भव है परन्तु वे दोनों श्वेत एक से प्रतिष्ठित नहीं माने जासकते। वैसे यहां भी गौर-वर्ण की उत्पत्ति प्रायः दूध घृत मिश्री चावल गेहूं जौ आदि सत्त्वगुणी पदार्थों के सेवन से मानी है। इसी लिये वैद्यक सुश्रुत के शारीरस्थान में लिखा है कि गर्भवती को दूध भात आदि श्वेतवर्ण सत्त्वगुणी वस्तु खिलाने चाहिये जिस से गोरा सत्त्वगुणी सन्तान उत्पन्न हो। और प्रायः गर्भावस्था में आहार के ही भेदसे वर्णभेद की उत्पत्ति ठहरायी है। और सत्त्वगुणी होना ब्राह्मण का मुख्य

लक्षण है तो सत्वगुण वाली ब्राह्मणी अपने स्वभाव के अनुसार श्वेत सत्वगुणी वस्तु खायगी तो उस से हुआ गौरवर्ण ब्राह्मणपन का सहकारी अवश्य होगा। यदि कोई रजोगुण वा तमोगुण की प्रबलता में गौरवर्ण हो तो वहां ब्राह्मणपन के प्रधान लक्षण सत्वगुण की न्यूनता से ब्राह्मणपन नहीं माना जायगा। इस से यह सिद्ध हुआ कि सत्वगुण सम्बन्धी गोरापन ब्राह्मणत्व के साथ लगाया जायगा। इस की अर्थापत्ति होगी कि रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी गोरापन ब्राह्मणत्व का साथी नहीं। द्वितीय वार्त्ता यह है कि जिस की सिद्धि में बहुत से हेतु वा लक्षण होते हैं वह एक लक्षण से सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे भोजन बनाने में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता है तो अग्नि, जल, आटा, लकड़ी, दाल मसाला चूल्हा वर्त्तन और बनाने वाला आदि एक २ वस्तु से भोजन कदापि नहीं बन सकता। अनेक वा प्रधान २ वस्तुओं के होने से बन सकता है और यदि सब सामान ठीक २ हो तो बहुत अच्छा भोजन बनना सम्भव है। इसी प्रकार ब्राह्मणपन के सामान में एक गौरवर्ण के होने पर भी ब्राह्मण नहीं कहा वा माना जा सकता और अन्य गुण कर्म ब्राह्मणपन के हों केवल गौरवर्ण न हो काला वा अन्य वर्ण हो तो भी ब्राह्मण माना जायगा। यदि अन्य गुण कर्मों के साथ गौरवर्ण भी हो तो पूरा वा पक्का ब्राह्मणपन होगा। तथा ब्राह्मणवर्ण को यह भी एक शास्त्रीय आज्ञा है कि वह स्वाभाविक श्वेतरंग के ही वस्त्र भी धारण करे। किसी रंग में वस्त्र न रंगे और स्वाभाविक श्वेतरंग से ही ब्राह्मण की पहिचान रहनी चाहिये। यद्यपि गौरवर्ण अधिकांश सत्वगुण से ही सम्बन्ध रखता है और इसी लिये ब्राह्मणपन के साथ श्वेत वा गौरवर्ण का सम्बन्ध लगाया है। और पदार्थविद्या के अनुसार भी यही नियम दीखता है कि सत्वगुणी पदार्थ जगत् में प्रायः गौर वा श्वेतवर्ण हैं। सत्वगुण का लक्षण भी प्रकाश वा ज्ञान ही माना है सूर्यादि प्रकाशक वस्तु प्रायः सत्वगुण से सम्बन्ध रखते हैं और अन्धकार वा कालारंग प्रायः तमोगुण से सम्बन्ध रखता है तथापि गौणभाव से गौरवर्ण सर्वव्याप्त है। संस्कृत में वर्णशब्द रंग का वाचक भी आता है। और इसी लिये ब्राह्मणादि वर्ण माने गये हैं। जो बाहर भीतर से सर्वथा शुद्ध श्वेतवर्ण हो वह ब्राह्मण माना जावे॥

रक्त वा लालवर्ण क्षत्रिय इसलिये माना गया कि रक्तवर्ण विशेष कर तेज

वा गर्मी से सम्बन्ध रखता है जब किसी के भीतर से क्रोधरूप अग्नि भड़कता है

तब उस की आकृति लाल होती मुख पर वा आंखों में लाली अधिक छा जाती है। रुधिर आंखों वा मुख पर झलकने लगता है। अग्नि में भी लाल गुण रजोगुण से और श्वेत वा गौर सत्त्वगुण से सम्बन्ध रखता है। इसीलिये रुधिर को सुश्रुत में अग्नितत्त्वप्रधान माना है। क्षत्रियवर्ण की प्रधानता तेजी वा अधर्म अनुचित को अपने यथोचित क्रोध से नष्ट करने में है यही वास्तव में क्षत्रियपन है। शोचने से यह भी ज्ञात होगा कि जगत् में लालरंग के वस्तु प्रायः रजोगुण बढ़ाने वाले हैं अथवा यों कहिये कि रक्तवर्ण और रजोगुण वा क्षत्रियपन का प्रायः साथ है। इसलिये परीक्षा करके क्षत्रिय को रजोगुणी क्षत्रियत्व वर्धक वस्तुओं का अधिकांश सेवन करना चाहिये वा यों समझिये कि जिस में क्षत्रियत्व प्रधान है वह स्वभाव से ही वैसे पदार्थों पर रुचि रक्खेगा। और इसी लिये प्रायः रक्तवर्ण के वस्त्र क्षत्रिय धारण करे जिस से बाहरी चिह्न वा पहचानना भी सुगम हो। अहिंसाधर्म का जितना सेवन ब्राह्मणवर्ण को आवश्यक है उतना क्षत्रिय को नहीं क्योंकि प्राणवध की योग्यता रखने वालों को प्राणदण्ड देना क्षत्रिय का ही प्रधान कर्म है। परन्तु धर्मानुकूल वधदण्ड को शास्त्रकारों ने पातक नहीं माना क्योंकि उस से धर्म की रक्षा विशेष है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणपन की ओर झुका हुआ क्षत्रिय का कर्त्तव्य धर्म वा धर्मानुकूल माना जायगा। इसीलिये मांसभक्षणादि धर्मरक्षा के लिये न होने से क्षत्रिय का कर्त्तव्य वा धर्म नहीं माना जायगा। यदि केवल खाने के लिये पशुहिंसा करेगा तो महानिकृष्ट अधर्म माना जायगा। अर्थात् यद्यपि सत्त्वगुण रजोगुण के मेल में क्षत्रियपन वा क्षत्रियधर्म की स्थिति है तो भी रजोगुण प्रधान है॥

रजोगुण तमोगुण के मेल में वैश्य है। पीतरंग कामासक्ति को बढ़ाने वाला प्रधान है। वैश्य के कर्म भी ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन की ओर झुके रहेंगे तभी तक वैश्य स्वधर्म में रहेगा वा माना जायगा। और नीचे की ओर झुकते ही नीच हो जायगा। पीतवर्ण के पदार्थ भी प्रायः रजस् और तमस् के मेल से सम्बन्ध रखने वाले माने जायंगे। और शूद्रवर्ण में तमोगुण वा अन्धकार की प्रधानता होने से उस का रंग वा वस्त्र काले होंगे वा होने चाहिये॥

प्र०४—यदि संस्कार से जाति नियत है तो लोग जन्ममात्र से ही जाति क्यों मानने लगते हैं?।

३०४—यद्यपि संस्कार से जाति नियत है तथापि जाति का एक अंश जन्म से भी सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण ब्राह्मणी पिता माता जब अपने धर्म कर्म में ठीक २ स्थित हो कर गर्भधानादि संस्कार करेंगे तो उन के सन्तानों की निष्ठा बुद्धि भी अच्छी होगी धर्म कर्म की ओर झुकावट रहेगी सुश्रुत का प्रमाण।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

इत्यादि सन्तानोत्पत्ति विषयक कथन भी तभी सार्थक हो सकता है। इसी लिये "विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणलक्षणम्" यहां योनि नाम जन्म को ब्राह्मण बनने में कारण मानना यथार्थ बनता है। वीर्य और रुधिर के गुण तो अवश्य ही माता पिता से सन्तानों में आते हैं। संस्कारों के यथार्थ हुए विना केवल जन्म से जाति न मानना चाहिये यह शास्त्रों में संस्कार से जाति ठहराने का आशय है। इसी के अनुसार जो केवल जन्म से जाति मानता हो उस की भूल है। परन्तु केवल संस्कार से भी पूर्णरूप जाति नहीं बन सकती। जैसे छोटे २ घोड़ी घोड़ों से उत्पन्न हुए बछेड़े को सब प्रकार की रक्षा वा शिक्षारूप संस्कारों से राशी घोड़ा नहीं बना सकते न वैसा शिक्षित कर सकते हैं क्योंकि वह राशी-घोड़े के वीज से उत्पन्न नहीं हुआ। आमका वृक्ष जैसे वीज से होगा वैसे ही गुदारे वा छोटे बड़े फल उस पर लगेंगे। वृक्ष का संस्कार यथावत् होने से कुछ २ गुण उस में बदल भी जावें पर कारण का गुण अवश्य बना रहता है। यदि किसी क्षत्रिय वा वैश्य कुलोत्पन्न पुरुष में ब्राह्मण के गुण कर्म, स्वभाव से ही प्रतीत होते और किसी ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य में स्वभाव से ही क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के गुण पाये जाते हैं। इस का कारण पूर्वोक्त सुश्रुत के प्रमाणानुसार गर्भाधान समय में माता पिता की निष्ठा है। जैसे आचार विचार आहार युक्त हुए माता पिता गर्भाधान करते हैं वैसा ही गुण सन्तानों में उतर आता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्र वा प्राणीमात्र में चारों वर्ण के गुण रहते हैं। मान लीजिये कि किसी एक मनुष्य के शरीर में चारो वर्ण हैं। उस का शिर ब्राह्मण, उदर वा बाहू क्षत्रिय, जङ्घा वैश्य और पग शूद्र हैं। प्रत्येक मनुष्य में प्रतिदिन वा पल २ में ब्राह्मणादि के गुण बदलते रहते हैं। जब कोई मनुष्य सत्य, दान, क्षमा, शौच, दया, तप की ओर अधिक झुकता है वा सत्य आदि एक २ के

सेवन में विशेष उपाय करता है तब वह ब्राह्मण, जब वही मनुष्य धर्मानुसार श्रेष्ठों की रक्षा कर दुष्टों को दण्ड देने में शूर वीरता करे। उस के मन में वा शरीर में जब धर्मानुकूल वीरभाव उत्पन्न हो तब वही क्षत्रिय, जब धनादिक ऐश्वर्य बढ़ाने की ओर अधिक चेष्टा करे तब वही वैश्य और जब उस के शरीर वा मन में सेवक होना प्रकट हो तब वही शूद्र है। इस प्रकार एक ही प्राणी चारों वर्ण के गुण धारण करता है। जिस २ में ब्राह्मणादि के गुण अधिक काल तक ठहरते वा प्रबलता से रहते हैं उस २ को ब्राह्मणादि कहते वा मानते हैं। तात्पर्य सब का यह हुआ कि संस्कार और जन्म दोनों से जाति नियत है न केवल संस्कार से जाति है न केवल जन्म से। परन्तु एक २ से जहां कोई जाति मानता है वा कहता है वहां एक अंश को लेकर उस का जाति मानना वा कहना है ऐसा समझ लेना चाहिये। इसी लिये गुण कर्म रहित ब्राह्मण को शास्त्रकारों ने ब्राह्मणब्रुव, वा जातिब्राह्मण नाम रक्खा है कि कहनेमात्र का ब्राह्मण वा जन्ममात्र से ब्राह्मण है वास्तव में नहीं॥

प्रश्न—यदि कोई उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ भी निकृष्ट वर्ण के गुण कर्मों वाला जन्म से ही हो तो उस के संस्कार उत्तम वर्ण कैसे न होने चाहिये और हों तो उक्त सिद्धान्तानुसार शास्त्र की मर्यादा में विरोध आवेगा।

उत्तर—इस का उत्तर यह है कि जन्म होते ही परीक्षा नहीं हो सकती कि इस में कैसे गुणकर्म होंगे और अच्छे गुण कर्मों की आशा पर सब कामों का प्रारम्भ अच्छी दशा के साथ किया जाता और करना भी यही चाहिये। जब ब्राह्मण अपने सन्तान को ब्राह्मण बनाना चाहता है तो दशवें दिन उस का शर्मान्त नाम भी उस को भाविनी आशा से रखने के लिये शास्त्र की आज्ञा है। यदि कोई कहे कि ब्राह्मण के बालक का भविष्यत् में कर्मानुकूल ब्राह्मण होना निश्चित नहीं है तो हम उत्तर देंगे कि ब्राह्मण के सन्तान का भविष्यत् में शूद्र होना कहां निश्चित है?। परन्तु ब्राह्मण के सन्तान का ब्राह्मण होना अधिक सम्भव है जैसे कि उत्तम बीज बोने से उत्तम अन्न होना अधिक सम्भव है और उस का शूद्र होना कम सम्भव है। परन्तु जो नाममात्र के ब्राह्मण रह गये जिन में गुण कर्म रूप ब्राह्मणपन का पता नहीं उन के सन्तान वास्तव में शूद्र होंगे जिन कुलों में ब्राह्मणपन का कोई काम सहस्रों वर्ष से नहीं रहा वे अब तक भी शूद्र नहीं

बनाये गये यह लौकिक परिपाटी शास्त्र से विरुद्ध है इस का उत्तर कुछ नहीं। संस्कार वा जन्म से जाति मानने में थोड़ा विचार और भी कर्त्तव्य है।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासी भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

अर्थः—जन्म से मनुष्य शूद्र तुल्य होता है और संस्कार ठीक२ होने से द्विज कहाता तथा वेद के अभ्यास से उस की विप्रसंज्ञा पड़ती और ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण कहाता है। यह श्लोक कहीं का हो किसी ने बनाया हो हमें केवल आशयमात्र देखना है। बड़े२ ऋषि महर्षि महात्मा विद्वानों का पूर्वकाल से ही इस विषय पर सम्मति भेद दीखता है कोई लोग जाति वा स्वभाव अथवा प्रारब्ध को प्रबल मानते वा ठहराते हैं और कोई संस्कार वा क्रियमाण को प्रबल ठहराते हैं इसी पर यहां कुछ विचार लिखना है। इस पूर्वोक्त श्लोक में संस्कार को प्रबल ठहराया है। शोचना यह है कि मान्यवर धर्मशास्त्रकार मनु जी की इस विषय में क्या सम्मति है? मनु में भी अनेक वचन संस्कार को प्रबल ठहराने के लिये मिलते हैं और अनेक ऐसे भी हैं जिन से जाति की प्रबलता निकलती है। मनुस्मृति अध्याय २

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्मस्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १ ॥
कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ २ ॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ ३ ॥

अर्थः—यज्ञोपवीत संस्कार होने से पहिले ब्राह्मणादि के बालक को वेद न पढ़ावे जबतक संस्कार नहो तबतक शूद्र के तुल्य है ॥ १ ॥ और यज्ञोपवीत हो जाने पर वैदिककर्म का उपदेश होना चाहिये और तभी क्रमसे विधिपूर्वक वेद पढाया जावे ॥ २ ॥ तपस्वी ब्राह्मण को उचित है कि वेद का सदाही अभ्यास करे क्योंकि वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का मुख्य तप है। जैसे सुवर्णादि धातु को संस्कार द्वारा शुद्ध करने के लिये अग्नि में तपाना मुख्य है [और तपाने शोधने

का ही नाम संस्कार है] वैसे अन्तःकरण की मलीनता जिससे ब्राह्मणपन कलङ्कित होजाना सम्भव है उस की शुद्धि मुख्यकर वेदाभ्यास से संबन्ध रखती है। इत्यादि मनु के वचन संस्कार की आवश्यकता दिखाने के लिये हैं और-

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ १ ॥
यादृशन्तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ २ ॥
इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।
न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३ ॥
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीबलैः।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ४ ॥
व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ५ ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ६ ॥ मनु-अ० ९।

बीज और खेत की उत्तमता के विचार में बीज प्रबल वा उत्तम कहा गया है क्योंकि सब प्राणियों की उत्पत्ति बीज से ही दीखती है ॥ १ ॥ जैसा बीज ऋतुकाल में बोने के समय ठीक किये वा खातादि डाल कर जोते हुए खेत में बोया जाता है वह अपने तिरोभूत (दबे हुए) गुणों से (जो गुण बीज में सूक्ष्मरूप से पहिले ही विद्यमान हैं) प्रसिद्ध हुआ वैसा ही जमता है जैसा बीज बोया गया था ॥ २ ॥ प्राणीमात्र की उत्पत्ति का यह स्त्रीरूप सनातन खेत कहा वा माना जाता है। जब यह प्रश्न होकि उत्पत्ति होने में खेत के गुणों को बीज वा बीज के गुणों को खेत पुष्ट करता है ?। क्योंकि विद्यमान बीज वा खेत दोनो में से किसी के गुणों की पुष्टि वा वृद्धि होना ही वास्तव में उत्पत्ति कहाती है। इस के लिये उत्तर दिया गया कि पुष्टि वा वृद्धि के समय खेत के किन्हीं

गुणों को बीज पुष्ट नहीं करता अर्थात् सन्तानों की उत्पत्ति में पुरुष के बीजस्थ गुणों की ही वृद्धि वा पुष्टि होती है ॥ ३ ॥ इस का दृष्टान्त यह है कि पृथिवी की एक ही कियारी में बोने के समय किसान ने बोये कई प्रकार के बीज स्वभाव से अर्थात् अपने स्वाभाविक गुणों से अनेक रूप उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥ कई ब्रीहि वा शालि नामक धान मूंग तिल उड़द लहसन जल और जौ मिला कर एक ही स्थल में बोदेने से भिन्न २ उत्पन्न होते हैं। अर्थात् धान के बीज से धान तिल से तिल और मूंग से मूंग इत्यादि प्रकार अपने २ बीज से भिन्न २ ही ओषधियां जमती हैं। यदि उत्पत्ति में खेत के गुणों की प्रधानता होती तो प्रायः एक गर्भाशय के तुल्य पृथिवी के हाथ दो हाथ स्थल में एक ही सा गुण होने से धान आदि में से कोई एक वा दो ही सब बीजों से उत्पन्न होते ॥ ५ ॥ अन्य कुछ बोया जाय अन्य उत्पन्न हो यह नहीं बन सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में दीखता है कि धान आदि जो बीज जिस खेत में बोया जाता है वही उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ और प्रत्यक्ष से विरुद्ध कभी अनुमान भी नहीं हो सकता। इस लिये मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति में बीज की ही प्रधानता है। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अच्छे पूरण धर्मात्मा विद्वान् शुद्ध संस्कारी पुरुष से नीच स्त्री में भी शुद्ध सत्त्वगुणी उत्तम धर्मात्मा उत्पन्न होना असम्भव नहीं व्यासादि की उत्पत्ति इस का उदाहरण हो जायगा। परन्तु बीज की उत्तमता वा प्रधानता के व्याख्यान से कोई महाशय खेत के गुणों का सर्वथा खण्डन भी न मान बैठें जिस से विदुरादि के किसी प्रकार नीच होने आदि की शङ्का उठे। यहां खेत के गुणों के वर्णन का अवसर नहीं है मनु के व्याख्यान में वा कहीं अन्यत्र यथावसर खेत के विषय में भी लिखा जायगा। यहां केवल जाति की प्रधानता का व्याख्यान है।

अब शोचना यह है कि धर्मशास्त्रादि के सिद्धान्तानुकूल जाति और संस्कार दोनों में से किसको प्रबल वा प्रधान मानना चाहिये? इस का पूरा २ विवेचन करना तो कोई साधारण काम नहीं है क्योंकि सुमार्ग दिखाने वाले सभी वेदादिशास्त्रों में कहा सब विषय प्रायः दोही भागों में विभक्त हो सकता है। एक तो संस्कार द्वितीय जाति और इन दो विषयों की व्याख्या शास्त्रकारों ने प्रारब्ध क्रियमाण आदि अनेक नाम वा रूपों में की है। इसी लिये सहसा कोई

एक को सर्वोपरि ठहराने लगे यह ठीक वा उचित नहीं है किन्तु यथावसर

वा अपने २ विषय में दोनों प्रधान वा प्रबल हैं यह कहना ठीक मालूम होता है। जैसे अन्यत्र भी सोना जागना, रात्रि दिन, सरदी गर्मी इत्यादि सभी के लिये यही व्यवस्था रखनी वा माननी पड़ेगी कि अपने २ समय वा उन २ की प्रधानता से होने वाले कामों में शीत उष्ण आदि दोनों ही प्रधान माने जावेंगे। इसी प्रकार वस्त्र पर आयेहुए ऊपरी मल को धोकर शुद्ध करलेने के लिये संस्कार की आवश्यकता वा प्रधानता है। परन्तु काले कम्बल का कालापन छुटाने के लिये कितनाही संस्कार करो उस का श्वेत होना असम्भव है यहां जाति की प्रबलता वा मुख्यता है क्योंकि संस्कार निष्फल वाहै। ब्राह्मणादि तीन वर्णों के गर्भाधानादि वेदोक्त संस्कार उनकी शारीरिक वा आत्मिक मलीनताओं को दूर करने के लिये करने अवश्य चाहिये यहां संस्कार मुख्य है और जाति गौण है। परन्तु कोई जन्म सेही ऐसे मलीन संस्कारों वाला किसी कारण अति नीच प्रकृति का सन्तान होना सम्भव है जिस के चाहे जैसे संस्कार करो वा शिक्षा करो उस का सुधरना वा शुद्ध होना कठिन वा दुर्लभ है यहां जाति मुख्य है। इसी के अनुसार नीतिशतक में भर्त्तृहरि ने कहा है कि-

सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

शास्त्रों में सब उपद्रवों की औषधि है परन्तु मूर्ख की मूर्खता दूर करने की कोई औषधि नहीं। जहां कहीं मूर्खता दूर होने का कोई उपाय हो वहां यह शोचना वा मानना होगा कि कई प्रकार की मूर्खता है जो उपाय से हठ सकती है उस को ऐसे प्रसङ्गों में भर्त्तृ आदि ने मूर्खता नहीं माना और जिस प्रबल मूर्खता को मूर्खता माना है वह नहीं हठ सकती और सामान्य मूर्खता जिस का उपाय हो सकता है उस को ऐसे बचन कहने वालों ने मूर्खता में नहीं गिना। यहां जाति की प्रबलता और शिक्षादि संस्कार को निष्फल कहा गया। इसी के अनुसार धर्मशास्त्रादि में शूद्र को वेद पढ़ाने का निषेध किया है कि जाति की प्रबलता होने से पढ़ानारूप संस्कार निष्फल होगा वा यों कहो कि:-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥

मूर्खों को किया उपदेश कोप के लिये होगा किन्तु उस को उपदेश से सुख वा शान्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं जैसे सांप को दूध पिलाना केवल विष को

बढ़ाने के लिये होगा। तो मूर्ख वा शूद्र के सुधार के लिये किया वा कराया धर्मोपदेश शिक्षा वा वेद का अध्ययन उस को वा अन्यों को विपरीत अनर्थ फल देने वाला होगा इस लिये ऐसे को धर्म का उपदेश वा वेद का अध्ययन कदापि न कराना चाहिये यह मनु आदि का सिद्धान्त जाति की प्रबलता के पक्ष में है। इस लिये अभी तक जो लोग ऐसा समझते वा मानते हैं कि धर्मशास्त्रकार ब्राह्मणों ने शूद्रादि को पढ़ाने वा धर्मोपदेश का निषेध पक्षपात से किया यह उन की भूल या अज्ञान है। तथापि ग्रन्थकारों का यह आशय न समझ लेना चाहिये कि ऐसे अवसरों में उपदेश वा शिक्षारूप संस्कार सर्वथा व्यर्थ ही हो किन्तु संस्कार सभी समय सब के लिये कुछ न कुछ लाभकारी होगा। अर्थात् काले कम्बल को स्वाभाविक काला रंग छुटाने की इच्छा से धोना निष्फल होगा परन्तु ऊपर से लगी मलीनता को दूर करने के लिये कम्बल का भी धोना सार्थक है। और कुछ २ स्वाभाविक वा जातीय मलीनता भी धीरे २ संस्काररूप शुद्धि होती रहेगी जिस को प्रत्यक्ष में शुद्ध हुई भले ही न कह सकें परन्तु वास्तव में कुछ २ शुद्धि होते २ कालान्तर में कुछ अधिक होने से प्रकट होना भी सम्भव है। अर्थात् एक साथ वा थोड़े काल में अथवा जन्म भर में भी स्वाभाविक मलीनता को सर्वथा दूर कर के ठीक शुद्धि करने की चेष्टा संस्कार से व्यर्थ है। इसी के अनुसार "गधा धोऐ बछेड़ा नहीं होता" इत्यादि कहावतें जाति के बलवान् पक्ष को लेकर प्रचरित हुई हैं। और कुछ २ स्वाभाविक मलीनता की शुद्धि हो सकती वा पीछे लगी बाहरी मलीनता सर्वत्र दूर हो सकती है इस लिये न्यूनाधिक भाव से संस्कार होना सर्वत्र ही सार्थक है। वैद्यकशास्त्र में सब रोगों [जिन को असाध्य मान चुके ऐसों पर भी] पर ओषधि लिखना संस्कार की प्रबलता वा सर्वत्र आवश्यकता दिखाने के लिये है और किन्हीं रोगों को असाध्य लिखना जाति की मुख्यता दिखाने के लिये है। विद्या शिक्षा द्वारा मनुष्य को योग्य बनाने का उपदेश वा उद्योग संस्कार की आवश्यकता में है। किसी को पढ़ाने वा उपदेश देने का निषेध जाति वा स्वभाव की प्रबलता में है। शूद्र का यज्ञोपवीत न कराया जाय और ब्राह्मणादि के बालकों की योग्यता के बिना ही निश्चय किये भी यज्ञोपवीत कराने का उपदेश जाति की आवश्यकता दिखाता है। इसी प्रकार संस्कार की आवश्यकता में प्रायश्चित का विधान है।

अब तक के लेख से यह सिद्ध हुआ कि देश काल और वस्तुओं के नाना प्रकारों के भेदों से कहीं यथावसर जाति की मुख्यता और कहीं संस्कार की मुख्यता है। आजकल प्रायः लोगों का सिद्धान्त वा निश्चय यह ठहरता है कि यदि जन्मसे जाति मानें तो गुण कर्म की वा संस्कार की आवश्यकता वा उत्तमता नहीं हो सकती और गुणकर्म वा संस्कार से जाति मानें तो जन्म से नहीं मान सकते इस प्रकार दोनों का परस्पर विरोध बुद्धिमानों को भी प्रतीत होता है। और इस के प्रत्यक्ष विरोध का दृष्टान्त भी मिलता है कि यदि संस्कार नामक गुणकर्म से जाति है तो कोई किसी वर्ण में उत्पन्न क्यों न हो जिस में ब्राह्मण के गुणकर्म होंगे वही ब्राह्मण मानना चाहिये। और जन्म से ही ब्राह्मणादि जाति मानो तो ब्राह्मण कैसे गुणकर्म होने पर भी उस को ब्राह्मण नहीं मान सकते इस दशा में गुणकर्म रूप संस्कार का जाति के साथ अड़ंगा लगाना व्यर्थ है। इस लिये ये दो में एक को ठीक मानो ॥

इस का उत्तर यद्यपि पूर्व लेख में भी कुछ आगया तथापि अब और स्पष्ट लिखते हैं। सिद्धान्त यह है कि जगत् में जैसे सभी पदार्थ गुणकर्मों से जाने जाते हैं कि यह अमुक वस्तु है। मनुष्य और पशु की पहचान भी गुणकर्मों से सम्बन्ध रखती है। और बोल चाल आचार विचार आदि देख कर उत्तम निकृष्ट की पहचान होती है। काठ का हाथी कोई ऐसा बना सकता है जिस में रूपरंग बनावट आदि सब ज्योंके त्यों हों परन्तु हाथी के कर्म उस में न होने से ही वह हाथी नहीं माना जाता। इसी प्रकार कलई करके बनाया सुवर्ण आदि सभी पदार्थ गुणकर्म परीक्षा होने पर जो सच्चा निकले वही वास्तव में सुवर्णादि माना जाता है। इस लिये प्रत्येक वस्तु के भिन्न २ होने में गुणकर्म ही प्रधान है। परन्तु गुणकर्मों का जाति के साथ क्या सम्बन्ध है? यही शोचना है। विचारो कि हाथी में जो हाथीपन है जिस के होने से वह सच्चा हाथी माना जाता और जिस हाथीपन के न होने से ही काष्ठ का हाथी बनावटी झूठा माना जाता है वह हाथीपन हाथी में कहां से आया तो यही सिद्ध होगा कि सच्चा हाथीपन जन्म से वा गर्भ से अथवा उस हाथी के मा बापों में जो जातीय गुण था उन्हीं के बीज से सच्चा हाथीपन आया इसी से तो वह सच्चा हाथी ठहरा और काष्ठ के हाथी में वह बात जन्म से न होने पर वह झूठा माना

गया। यदि बीज के गुणकर्मों से हाथी बन सकता तो काष्ठ का हाथी भी वास्तविक हाथी होजाता। इस कारण जन्म से सम्बन्ध रखने वाले गुणकर्मों से जाति भेद नियत होता है। यह सिद्धान्त मानना चाहिये। यदि कहोकि हाथी का दृष्टान्त ब्राह्मणादि जाति में नहीं घटता क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियादि में आकृति वा बनावट का भेद नहीं है हाथीपन के दृष्टान्त की सिद्धि से मनुष्य जाति की सिद्धि हो सकती है। तब इस का उत्तर यह होगा कि मनुष्यादि जाति का भेद स्थूल होने से स्पष्ट और ब्राह्मणादि का भेद सूक्ष्म होने से विशेष अनुभव के साथ जानने योग्य है। और जैसे हाथी घोड़ा गाय बैल आदि सब जातियों में छोटे बड़े उत्तम मध्यम निकृष्ट गुणों के भेद से अवान्तर जाति भेद होते हैं इसी के अनुसार घोड़ों की अनेक जातियों में अमुक जाति (नाह) के घोड़े उत्तम होते हैं यह व्यवहार भी जन्म वा जाति से ही सम्बन्ध रखता है अर्थात् सामान्य विशेष दो प्रकार की जाति मानी जाती है। जैसे पशुजाति सामान्य है उस में गौ घोड़ा आदि विशेष जाति हैं तथा घोड़ा सामान्य जाति और उस में अनेक प्रकार के घोड़े होना विशेष जाति है। इसी प्रकार सामान्य में विशेष विचार करने से विशेष २ जाति बनती जाती हैं। वैसे ही मनुष्य जाति सामान्य और उस में स्त्री पुरुष दो जाति विशेष हैं फिर स्त्री जाति के अनेक भेद अनेक जाति विशेष हैं मनुष्य सामान्य जाति में ब्राह्मणादि भी विशेष जाति हैं। और ब्राह्मणादि सब मनुष्य जाति में यदि रुधिरादि धातुओं की तुल्यता मान के भेद तोड़ना चाहो तो हम पूछते हैं क्या मनुष्यादि के समान रुधिरादि धातु पशु आदि में नहीं हैं ? फिर पशु और मनुष्य एक ही क्यों नहीं माने जाते ? यदि आकृति का भेद पश्वादि में कहो तो मनुष्यों में भी सत्वादि गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक प्रकार का भेद मानने पड़ेगा। जो ध्यान देकर शोचने से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में सर्वत्र ही सामान्य विशेष भेद व्याप्त है जो कोई विशेष अवान्तर भेद को मान के जाति भेद मानता है उस का कोई सामान्य की एकता मान कर भेद का खण्डन करे तो यह खण्डन ऐसा ही होगा कि जैसे कोई कहे कि पेशाव का पानी अत्यन्त बुरा और हिमालय से निकला गंगाजल सर्वोत्तम है।

इस का खण्डन करने वाला कहे कि यह ठीक नहीं पानीपन में सब पानी

एकसा है। जैसे यह खण्डन किसी को मान्य हो तो वह सब जलों को एकसा

माने और भेद को छोड़ के व्यवहार करे परन्तु जैसे सब पानी को एकसा मान कर कोई मनुष्य पेशाबादि के जल को स्नानादि के काम में नहीं ले सकता वैसे ही ब्राह्मणादि मनुष्यों के रुधिरादि धातुओं में भी भेद मानना चाहिये। जो सत्त्वगुणी शुद्ध दुग्ध घृतादि पदार्थों का सेवन करेगा उस के शरीर में रुधिरादि धातु शुद्ध बनेंगे और सड़े घुले तमोगुणी अशुद्ध निकृष्ट वस्तु खाने वालों के रुधिरादि धातु तमोगुणी निकृष्टगुणों वाले होंगे इस लिये रुधिरादि का भी भेद ब्राह्मणादि में मानना चाहिये और उन रुधिरादि का भेद पहिले २ माता पिता के रजवीर्य से आवेगा इस लिये गुण कर्मों का सम्बन्ध गर्भाधानसंस्कार से ही लेना चाहिये इस प्रकार गुण कर्म और जन्म दोनों को मिला कर जाति भेद वा वर्णव्यवस्था के मानने में कोई दोष वा विरोध नहीं आ वेगा। और अनुमान है कि इसी पूर्वोक्त लेख से विचारशील लोग यह भी शङ्का निवृत्त कर लेंगे कि सम्प्रति लोक व्यवहार से जो २ ब्राह्मण आदि वर्ण माने जाते हैं उन २ सब में ब्राह्मणादिके से गुण कर्म नहीं मिलते और फिर वे ब्राह्मणादि माने जावें तो गुण कर्म का जाति के साथ सम्बन्ध कहां रहा ? इस का संक्षिप्त उत्तर यह पूर्वाशय के अनुकूल है कि जिन ब्राह्मणादि के कुलोत्पन्नों में परीक्षा होने पर उस वर्ण के कुछ भी गुणकर्म न ठहरें तो उन को शास्त्र के सिद्धान्त से ब्राह्मणादि नहीं मानना चाहिये। लोक रीति से मानते हैं इस में हमारा वश नहीं। और साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जो २ परीक्षा में ब्राह्मणादि न निकलें उन के माता पिता से ब्राह्मणादिपन नहीं आया क्योंकि गर्भाधान के समय उन माता पिता के मन वाणी वा शरीर में ब्राह्मणादि कैसे गुण कर्म नहीं थे किन्तु जैसे थे वैसे गुणकर्मों वाला सन्तान हुआ। और इसी नियम से जो क्षत्रियादि में ब्राह्मण की योग्यता रखने वाला होगा उस के गर्भाधान से ही ब्राह्मण के गुणकर्मों का सम्बन्ध मानना होगा ॥

यद्यपि यह सूक्ष्म गम्भीर शास्त्र सम्बन्धी विषय है इसी लिये इस पर जितनी छान बीन होकर लिखा जाय सो ही थोड़ा है तथापि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षेप से जो कुछ लिखा है उस से कुछ समाधान होने की आशा है। पाठक महाशय यह अवश्य ध्यान रक्खें कि ऐसे विषय को थोड़ा सा पढ़ने से वा पूरा पढ़ के कम समझ पाने से कोई २ शङ्का उत्पन्न हो सकती है इस लिये थोड़ा पढ़ने से संदेह हो तो ध्यानपूर्वक पूरा २ लेख पढ़ें तथा यदि एकबार पढ़ने से समझ में न आवे तो द्विवारा तिवारा समझ पूर्वक पढ़ने से कोई शङ्का न रहना सम्भव है। तथापि शंका रहे तो पत्र द्वारा मुझ से पूछिये।

मैंने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह शास्त्र और युक्ति के अनुकूल होने से सभी को माननीय होना चाहिये। यदि कुछ विरुद्ध जान पड़ेगा तो उन को जो

गुण कर्मों का सम्बन्ध छोड़ कर लोक व्यवहार से कहाने वाले ब्राह्मण क्षत्रियादि के कुल में उत्पन्न होने मात्र से ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण मानते हैं सो बात शास्त्र विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। आशा है कि मेरे पूर्वोक्त लेख से सब महाशय यह सारांश निकालेंगे कि अच्छे संस्कारी सत्कर्मी सत्वगुणी ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न होने पर भी कोई मनुष्य पूरा २ ब्राह्मण नहीं बन सकता क्योंकि यद्यपि वे रजवीर्य आदि कारण से आये उत्तम गुण से वा जड़ से ब्राह्मण हैं तथापि गर्भाशय वास आदि से आये शारीरिक आत्मिक मलीनता सम्बन्धी दोषों से आच्छादित वा दूषित हो जाने से वह सन्तान पूरा २ ब्राह्मण नहीं हो सकता है इसी लिये जन्म से शूद्र तुल्य माना गया और गर्भाधानादि वा यज्ञोपवीतादि संस्कारों से शुद्ध होने पर ब्राह्मण वा द्विज कहाने के योग्य हो सकता है और जड़ से ब्राह्मणपन होने के कारण उस का शर्मान्त नाम रखने और किसी अंश में ब्राह्मण कहने की आज्ञा भी शास्त्रकारों ने दी। अब रहा यह कि गर्भाधान के समय उस के माता पिता में ब्राह्मणपन की योग्यता थी वा नहीं यह सन्तानोत्पत्ति होने पश्चात् कैसे निश्चय हो सकता है ? तब उस सन्तान में जड़ से ब्राह्मणपन मानना चाहिये वा नहीं ? इस का समाधान यह है कि कुछ तो माता पिता के विद्यमान आचार विचार देख सुन कर आगे पीछे के आचार विचारों का अनुमान हो सकाता है क्योंकि किसी के चाल चलन एक साथ सर्वथा नहीं बदल सकते और कुछ सन्तान की वर्त्तमान दशा पर ध्यान देने से भी आगे पीछे का अनुमान हो सकता है। और अच्छे कुलों के चालचलन बिगड़ते २ भी अन्य नीचकुलों की अपेक्षा कुछ २ किसी अंश में अच्छे बने ही रहते हैं इस लिये शास्त्र की आज्ञानुसार उन का भी ब्राह्मण के समान नामकरण वा यज्ञोपवीतादि संस्कार करना चाहिये। यह सब होने पर भी उनके ठीक २ ब्राह्मण होने में सन्देह बाकी रह सकता है तभी तो विद्वानों का यह सिद्धान्त सार्थक होगा कि "ब्राह्मणादि के बालकों का यज्ञोपवीतादि संस्कार कराके और शूद्र को संस्कार के विना ही विद्या शिक्षा दी जावे यदि युवावस्था तक उन २ में ठीक २ परीक्षा होने पर भी अपने २ वर्ण की योग्यता न आवे तो जिस २ वर्ण की योग्यता ठहरे उस २ वर्ण में सामिल किये जावें" परन्तु वर्त्तमान काल में जिन के कुलों में अनेक पीढ़ियों से ब्राह्मणपन के काम उठ गये तथा नीच वैश्यादि के कर्म खेती व्यापारादि करते २ युग बीत गये उन में शास्त्र के सिद्धान्त से ब्राह्मणपन ठहर सकना कठिन जान पड़ता है। तथा आजकल के पठित शिक्षितों में भी ब्राह्मणपन के कर्म शुभाचरणादि बहुत कम दीखते हैं। इस कारण वर्त्तमान समय में वर्णव्यवस्था की अच्छी दशा नहीं है। इत्यलं बहु लेखेन ॥

त्रयीविद्या (गत अङ्क पृ० ११२ से आगे)

पदार्थों में सब से बड़ा होने के कारण सब के तेजों वा प्रकाशों के दबा लेने से सर्वोपरि माना जाता है वैसे सर्वांश में वेद का पूर्ण जानने वाला सब के बुद्धि बल को दबा कर सर्वोपरि चक्रवर्त्ती बन जाता है और सब को बड़ा मानने पड़ता है। मुख्य अभिप्राय यह है कि वेद के सिद्धान्तानुसार विद्या और धर्म दोनों को ठहरने के लिये जिस के अन्तःकरण में पूरा स्थान मिल जाता है उस की बुद्धि आत्मा शरीर तथा वाणी ठीक २ शुद्ध हो जाती है वही सब का हिताहित विचार के निष्पक्षता के अधिक आजाने से सब का मान्य राजा हो सकता है। वेद का आशय अन्य भाषाओं के द्वारा सर्वत्र फैल जाने से जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य उन २ मनुष्यों को ज्ञात हो जाता है वे किन्हीं निकृष्ट कोटि के मनुष्यों की अपेक्षा विशेष जानकार हों यह सम्भव है परन्तु साक्षात् मन्त्रपाठद्वारा यदि कोइ वेद का पूरा विद्वान् हो तो वही विद्या और धर्म दोनों में पूरा योग्य होगा ॥ ७ ॥ जैसे वनादि में लगा तेजीके साथ जलता हुआ अग्नि गीले हरे वृक्षादि को भी जला कर शीघ्र ही भस्म कर डालता है वैसे ही वेद के पढ़ने से जिस के हृदय में विद्या और धर्मसम्बन्धी ज्ञान का प्रबल प्रकाश उत्पन्न हो जाता है वह अविद्या वा अधर्मसम्बन्धी कर्मों से सञ्चित हुए हृदय के सब बड़े २ मलीन संस्कार वा वासनाओं को एक साथ हटा देता है। यह नियम है कि सूर्य का उदय होने पर रात्रि का अन्धकार नहीं ठहर सकता इसी प्रकार विद्या और धर्म के उदय में अविद्या अधर्म के कुसंस्कार नहीं ठहर सकते ॥ ८ ॥ सब का अन्तिम फल यह होता है कि वेदरूप शास्त्र के ठीक २ गूढ तत्त्व को यथावत् जानने वाला पुरुष ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थादि किसी आश्रम में क्यों न हो इसी विद्यमान शरीर में जीवित दशा में ही पूर्ण ब्राह्मण सर्वोपरि माननीय पूर्ण महात्मा पूरा योगी वा ज्ञानी कहाने योग्य जीवन्मुक्त हो जाता है उस का देहान्त होने पर जन्म नहीं होता किन्तु मुक्त हो जाता है। अर्थात् संसार परमार्थ का पूरा २ सुख भोगने वाला अधिकारी यथार्थ वेदवेत्ता के समान अन्य कोई नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ माननीय मानवधर्मशास्त्र का आशय हमारे पाठक लोग ऐसा न समझ लें कि जैसे आधुनिक ग्रन्थों में अत्युक्ति के साथ साधारण

वस्तु की सहस्रों गुणी मिथ्या प्रशंसा लिख मारी है वैसे किसीने मनुस्मृति में भी लिखदी होगी क्योंकि वेद की प्रशंसा विषय में सब बड़े २ मान्य प्राचीन ग्रन्थों में बड़े २ ऋषि महर्षि विद्वान् नैयायिकों [फिलासफरों] का भी यही आशय वा सिद्धान्त मिलता है। जिस विषय में अनेक बुद्धिमान् विद्वानों की एक सम्मति हो वह विषय अधिक माननीय होता वा होना चाहिये। द्वितीय वार्त्ता यह भी है कि जब सृष्टि के आरम्भ में हम सभी मूर्ख थे वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि के विशेष ज्ञान से शून्य थे तब विद्या की परम्परारूप स्रोत का अवलम्ब कहीं से न मिलता तो आज हम विद्या की उन्नति कैसे करते? अर्थात् जैसे प्रवाहरूप परम्परा से चलने वाले जगत् के सब कामों का आरम्भ हम को मानने पड़ता है कोई काम वा प्रवाह निर्मूल नहीं दीखता वा यों कहो कि कोई वृक्ष ऐसा नहीं दीखता जिस का मूल–जड़ पृथिवी में न हो केवल आकाश में उस की शाखा फैल गयीं हों जैसे यह असम्भव बात माननी पड़ेगी वैसे ही विद्या की परम्परा वा प्रवाह चलने का मूल वा स्रोत निकलने का स्थान सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की ओर से वेद मानने पड़ेगा और अवश्य यह मानना चाहिये कि विद्या के प्रवाह का पहिला मूल कोई है और जो सब विद्याओं का मूल है उसी को हम वेद मानना चाहते हैं। इस के साथ ही हम को यह भी मानने पड़ता है कि जब अत्यन्ताभाव से भाव नहीं हो सकता अर्थात् जैसे आम के बीज में मनुष्य के शरीर का अत्यन्ताभाव है तो त्रिकाल में भी किसी उपाय के द्वारा आम के बीज से मनुष्य का शरीर नहीं बन सकता। अर्थात् मूल वा बीज में जो २ गुण वा स्वभाव सूक्ष्मरूप से रहते हैं उन्हीं की वृद्धि वा फैलाव हो सकता है वैसे ही मूलरूप ईश्वरीयविद्या वेद में वे सब विद्या सम्बन्धी अद्भुत २ विषय जिन को सृष्टि के आरम्भ से अब तक विद्वानों ने जाना और प्रसिद्ध किया वा आगे जो २ विषय प्रकट होंगे वे सब सूक्ष्मरूप से पहिले ही से विद्यमान हैं। इत्यादि प्रकार जब विद्या सम्बन्धी सब विषयों का मूल भण्डार वेद ठहर सकता है तो विद्या से सम्बन्ध रखने वाले संसार परमार्थ सम्बन्धी सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सिद्धि वेदवेत्ता को यथावत् प्राप्त होना ठीक सम्भवित है। इसी लिये मनुकृत वेद प्रशंसा पर हमारा विश्वास है और सत्य पर विश्वास होना भी चाहिये। क्योंकि सब कामों का आरम्भ वा सिद्धि विश्वास के ही आधीन है इस लिये सत्य पर सत्य विश्वास करो॥

कोई कह सकता है कि तुम कितना ही लिखो वा बको हम को तो विश्वास तब तक नहीं आ सकता कि जब तक प्रत्यक्ष सिद्धि कुछ न दिखा सको क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धि देख कर संसार के सभी विषयों का विश्वास स्वयमेव हो जाता है। अधिक तर्क वितर्क की आवश्यकता आपही मिट जाती है। जैसे तुम कहते हो कि वेद का जानने वाला ही ठीक २ सेनापति हो सकता है। भला वेद पढ़ा कोई ऐसा सेनापति दिखाओ कि जो सब प्रकार की आयुर्वेद विद्या में सर्वोपरि जानकार हो तो हम भी वेद पर विश्वास कर लेवें और मनुजी के वा तुम्हारे कथन पर विश्वास करें ॥

इस का कुछ उत्तर तो हमारे पूर्व लेख में आगया कि समय लौट पौट हो गया वेद के यथार्थ ज्ञाता नहीं रहे इसी से अब एक साथ वेद की प्रशंसा पर विश्वास जमना कठिन है और यह भी सत्य है कि अंग्रेज जातिने अनेक आश्चर्यरूप शिल्पविद्या के काम प्रत्यक्ष कर के दिखा दिये तो उन को सत्य ठहराने के विना ही सब लोग निस्सन्देह मानते हैं। अर्थात् शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार हम भी यही मानते हैं कि "सेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। अथवा प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" प्रत्यक्ष प्रमाण सब से प्रबल है प्रत्यक्ष से जिस को हम देख लेते हैं उस विषय को जानने वा मानने के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती परन्तु प्रत्यक्ष भी अनेक प्रकार का है कुछ विषय ऐसे हैं जिन को हम इन्द्रियों द्वारा देख सुन के साक्षात् करते हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं कि जिन का इन्द्रियों द्वारा कभी अनुभव नहीं होता परन्तु हम को उन का पूरा विश्वास आत्मा और मन के द्वारा हो जाता है वे भी प्रत्यक्ष ही माने जाते हैं। अब हम को वक्तव्य यह है कि जैसे प्रायः अज्ञात वा अप्रसिद्ध विषयों में पहिले शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास कर के विशेष ज्ञान होने के लिये अनुमान खोजते हैं कि इस का अनुमान से कैसे निश्चय हो सकता और इस की सिद्धि के लिये क्या २ वा कैसा २ अनुमान होना चाहिये। अनुमान से निश्चय किये पश्चात् आगे और कुछ अधिक परिश्रम करने से प्रत्यक्ष वा साक्षात् उस का अनुभव हो जाता है इस का दृष्टान्त यह है कि कोई मनुष्य अपने किसी काम को सिद्ध करना चाहता है इस लिये वह पहिले किसी विद्वान् से उस की सिद्धि का उपाय सुने वा जाने यह शब्द प्रमाण हुआ। विद्वान् के उपदेशरूप शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास कर के आगे चले तो उस

को कार्यसिद्धि के कुछ चिह्न दीखें तब अनुमान प्रमाण हुआ फिर आगे चले तो उस वस्तु वा विषय के प्रत्यक्ष हो जाने पर जानने की इच्छा पूर्ण हो जायगी। इस प्रकार अज्ञातवस्तु वा विषय को जानने के लिये सर्वत्र ही शब्दप्रमाण की सब से पहिले अत्यन्त आवश्यकता है यदि शब्दप्रमाण पर सर्वथा कोई विश्वास ही न करे तो भावी उद्योग के लिये वह चेष्टा भी नहीं कर सकता तब किसी को पूरा विश्वास होना ही असम्भव है। इसी प्रकार वेद का सर्वोपरि गम्भीर सिद्धान्त जानने के लिये हम को पहिले मन्वादि महर्षियों के कहे शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास करना चाहिये। और विश्वास करके आगे चलें वेदानुयायी अन्य शिष्ट प्रणीत ग्रन्थों का भी वेद विषय में क्या आशय है यह भी शोचें और वर्त्तमान वेद पुस्तकों से भी उस सिद्धान्त को मिलावें और आद्योपान्त लौट २ कर कई वार मूल वेद के आशय को पढ़ें देखें विचारें तदनन्तर उस के अनुसार काम कर २ के अनुभव करें तो हम को पूरा विश्वास हो कर पूरा फल प्राप्त होना सुगम है। अर्थात् हम यह नहीं कहते कि इस समय किसी को वेद मन्त्र पढ़ादिये जांय तो वह सेनापति आदि काम के पूर्ण योग्य हो सकता है। किन्तु प्रत्येक कार्य की सिद्धि का जो क्रम है उसी रीति से वह करना चाहिये। प्रथम तो जो कोई मनुष्य वेद पढ़े वह अनोटपटक आधुनिक ग्रन्थों का देखना पढ़ना सर्वथा त्यागदे। उस की बुद्धि तीव्रसंस्कारिणी हो उस को पहिले वेदानुकूल आर्ष मूल ग्रन्थ ठीक २ पढ़ाये समझाये जावें फिर वह टीका पुस्तकों को छोड़ कर मूल वेद को किसी अच्छे विद्वान् से परिश्रम और अच्छी निष्ठा के साथ कुछ काल तक पढ़े तब उस को वेद का असली सिद्धान्त कुछ प्रतीत होना सम्भव है। और जब तक वेद के मुख्य सिद्धान्त पर किसी की बुद्धि ही न पहुंचे तब तक वह आगे क्या निश्चय कर सकता है। प्रत्येक ग्रन्थों का सारांश वा सिद्धान्त थोड़ासाही होता है परन्तु जब तक उस ग्रन्थ को आद्योपान्त साधनों के सहित कोई अपने हृदय में नहीं धर लेता तब तक उस के पूर्वापर अंशों को मिला कर सारांश निकाल के कार्य सिद्धि कर लेना कठिन है। अर्थात् वेद पढ़ के भी जो वेद को नहीं जानता वह सेनापति आदि किसी काम का अधिकारी होने योग्य नहीं।

इस के अनन्तर एक बात यह भी विचारणीय है कि जो काम जैसा छोटा वा बड़ा हो उस की सिद्धि के लिये वैसा ही परिश्रम और समय लगना चा-

हिये । वेद का मुख्य सिद्धान्त बहुत काल से समय के परिवर्त्तनानुसार लुप्त सा होगया उस को हम सर्वथा भूल गये स्वप्न में भी वेद का ध्यान नहीं आता तो अब एक साथ ऐसे बड़े गम्भीर आशय को प्रत्यक्ष जान के बड़े २ काम सिद्ध करलें यह असम्भवसा है । यदि अस्मदादि के लेखानुसार ब्राह्मणादि शिष्ट लोग मनु आदि महर्षियों के वाक्यों पर कुछ विश्वास कर के ठीक २ संस्कृतविद्या के पढने पढाने के साथ वेद के पढने जानने का मार्गखोलें तो अब से कई हजार वर्षों में वेद को यथार्थ जानने वाले हों और वे सूर्य के समान प्रकाशित हो कर संसार परमार्थ के सब बड़े २ काम सिद्ध कर के प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं । परन्तु जब से हम वेद को जानने समझने की ओर झुकने लगेंगे तभी से कुछ २ यथोचित सफलता दीख पड़ने से आगे २ भाविनी सिद्धि होने का विश्वास और उत्साह हम को बढता जायगा । अंग्रेजजाति का पूर्व इतिहास जिन लोगों ने देखा होगा वे शोच सकते हैं कि पहिले इन की क्या दशाथी और ऊपर को बढने लगे तब से कितने काल में इस वर्त्तमान दशा तक पहुंचे हैं । परन्तु अंगरेजजाति धर्म विषय में अभी तक बहुत गिरीदशा में है इसी लिये हम इन की लिफाफेदार उन्नति को विना जड़ की निर्मूल उन्नति कहें तो अनुचित नहीं है । यदि ये लोग मूलरूप धर्म को पकड़ के वा धर्म को आगे करके चलें तो इन की समूल उन्नति कहना ठीक होगा । इस से यह प्रयोजन सिद्ध हुआ कि हम वेद की ओर ध्यान दिलाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं । अब हम इस वेद की प्रशंसा को अधिक तूल न देकर अपने मुख्य विषय पर चलेंगे ॥

हमारा मुख्य उद्देश त्रयीविद्या का व्याख्यान करना है इस लिये इस विषय में प्रथम यह शोचना है कि त्रयीविद्या किस का नाम है चतुष्टयी वा पञ्चतयी अथवा द्वयीविद्या क्यों नहीं कहा गया ? । और इस शब्द का क्या अर्थ है ? ॥

इस का उत्तर यह है कि—तीन २ वर्ण आश्रमादि वा तीन लोक देवादि का क्रम जिन के साथ लगा है ऐसे तीन वेदों का नाम त्रयीविद्या है अर्थात् तीन प्रकार की विद्या के तीन भेद प्रधान होने से ऋगादि नामक तीन वेद माने गये हैं । यदि इसी त्रयीविद्या का विशेष व्याख्यान करें तो इसी में से चतुष्टयी वा पञ्चतयीविद्या भी निकल सकती है जहां चतुष्टयी पञ्चतयी आदि शीर्षक (हेडिंग) रख के व्याख्या हो वा है वहां भी त्रयीविद्या उस के अन्तर्ग-

तत्प्रधानभाव से रहती है। चौथी विद्या चौथी दशा को कहते हैं वह ऐसी है जिस का कुछ वर्णन किया भी जा सकता है परन्तु पूरा २ वर्णन होना कठिन पड़ जाता है। कहीं २ चौथी अवस्था के युक्ति प्रमाणानुकूल होने से मानना तो पड़ता है कि चौथी दशा है और होनी चाहिये परन्तु कहना लिखना कुछ नहीं बनता केवल तीन दशा के समझने वाले मन में निश्चय कर लेते हैं कि यह चौथी है। इसी लिये चौथी भी माननी पड़ती है और इसी लिये त्रयीविद्या के व्याख्यान में चौथी भी अन्तर्गत माननी चाहिये। तथापि तीन का ही प्रधानता से व्याख्यान हो सकने के कारण त्रयीविद्या का उद्देश लेकर शास्त्रकारों ने प्रायः व्याख्यान किया है उसी के अनुसार मैं भी त्रयीविद्या शीर्षक रख के व्याख्यान करना उचित समझता हूं। तथा एक बात यह भी है कि प्रायः आर्ष ग्रन्थों में वेदों की गणना करते समय तीन वेद क्यों माने गये ? इस का भी समाधान त्रयीविद्या के व्याख्यान में आजायगा। अब रहा यह कि एकविद्या वा द्वयीविद्या क्यों नहीं कहा तो इस का समाधान यह है कि एक विद्या भी कह सकते हैं। परन्तु एक संख्या के अखण्ड मानने की दशा में वह व्याख्यान में नहीं लाई जा सकती क्योंकि भेद के साथ व्याख्यान का सम्बन्ध है चाहे यों कहो कि भेद वा शाखाओं का नाम ही व्याख्यान है और वह मूल की हालत वा दशा ऐसी है जिस में भलाई बुराई धर्म अधर्म जड़ चेतन विद्या अविद्या ज्ञान अज्ञान उत्तम मध्यम निकृष्ट सत्व रजस् तमस् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि के सभी भेद मिले रहते हैं उस का ठीक २ विवेक होना दुस्तर है इसकारण इसी सर्वमिश्रित अनिर्वचनीय सर्वमयी सर्वभक्षिणी सर्वजाति पांति आदि के भेद को तोड़ने वाली एक दशा को तुरीयावस्था कह सकते हैं और यह दशा निवृत्ति मार्ग से सम्बन्ध रखने वाली है। जब इस का व्याख्यान वा विवेक होने लगता है तभी उस व्याख्यान को त्रयीविद्या मानना चाहिये। इसी विचार के अनुसार हम उस चौथी दशा को अकथनीय समझते हैं और त्रयीविद्या इस लिये प्रधान वा मुख्य है कि धर्म अधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य सत्यासत्य आदि का विवेचन इसी से सम्बन्ध रखता है और जब तक धर्माधर्मादि का विवेक न हो तब तक कोई प्राणी अनिष्ट को छोड़ने और इष्ट को ग्रहण करने की कदापि चेष्टा नहीं कर सकता। इसलिये एक संख्या से व्याख्यान नहीं किया गया। अब रहा दो संख्या का विचार सो ठीक है दो संख्या का शीर्षक रख के व्याख्यान करना

बन सकता है। और दो संख्या के व्याख्यान का आरम्भ भी यहीं से होगा कि प्रकृति पुरुष, जड़ चेतन, स्त्री पुरुष, माता पिता, भोग्य भोक्ता, वा प्रकाश अन्धकार, धर्म अधर्म, सत्य असत्य, विद्या अविद्या, ज्ञान अज्ञान, सुख दुःख, राग द्वेष, हानि लाभ, शीत उष्ण, दिन रात, पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष, पूर्व उत्तर, आगे पीछे, ऊपर नीचे, आकाश पाताल, ऊंच नीच, अच्छा बुरा, शुद्ध अशुद्ध, उत्पत्ति प्रलय, गोरा काला, नीति अनीति, न्याय अन्याय, सांख्य योग, ईश्वर जीव, सुखी दुःखी, उत्तरायण दक्षिणायन, नित्य अनित्य, शुक्ल कृष्ण, बड़ा छोटा, सुकर्म दुष्कर्म, काल अकाल, सुभिक्ष दुर्भिक्ष, प्रमेय प्रमाण, द्रष्टा दृश्य, कर्त्ता कर्म, धर्म धर्मी, गुण गुणी, एक अनेक, खाना पीना, बैठना उठना, आना जाना, गाना बजाना, देव असुर, आर्य दस्यु, आर्य शूद्र, उत्तम निकृष्ट, इष्ट अनिष्ट, कर्म अकर्म, काम क्रोध, शान्ति अशान्ति, इत्यादि शोचने से बहुत निकल सकते हैं। परन्तु शोचने से यह भी मालूम होगा कि इन्हीं दो २ में से तीसरा भी मिलकर बनाना चाहिये इस लिये दो की अपेक्षा से भी तीन के व्याख्यान की उत्तमता वा प्रधानता है क्योंकि दो के बीच में सदा ही तीसरा माना जाता है उस को जबतक अलग न किया जाय तबतक मध्यम को उत्तम के साथ मिला देने से उत्तम दूषित होगा और मध्यम को नीच के साथ मिला देवें तो मध्यम दूषित होगा परन्तु तीनों को पृथक् २ गिनें तब यह दोष नहीं आवेगा इस कारण त्रयीविद्या का व्याख्यान प्रधान है॥

अब रहा आगे असंख्य तक व्याख्यान बढ़ाना उस में किस संख्या को प्रधान और किस को गौण माना जाय ?। इस का उत्तर यह है कि वहां भी सर्वत्र तीन संख्या की ही प्रधानता रहेगी और तीन का तीन से ही व्याख्यान बढ़ाते २ असंख्य तक पहुंचा जायगा और उस सब विस्तार में जब शोचेंगे तब तीनही प्रधान दीख पड़ेंगे। जैसे न्याय के अनुसार काल एक विभु वा व्यापक द्रव्य है जो कभी किसी वस्तु वा काम से पृथक् नहीं हो सकता किन्तु सदा सब के साथ लगा है वह अपने वास्तविक स्वरूप से पहिले एक है। उस के पहिले सुकाल दुष्काल वा भूत भविष्य आदि दो २ भेद किये जाते हैं। परन्तु दो भेद करने की दशा में वर्त्तमान काल को दो में से किसी के साथ वा कुछ २ अंश दोनों के साथ मिलाना पड़ेगा इस लिये दो में से एक शुद्ध भूत वा शुद्ध भविष्य न रहेगा वा कुछ २ दोनों दूषित रहेंगे इस कारण तीसरा वर्त्तमान निकालना आवश्यक हुआ और यहां भी दो की अपेक्षा तीन संख्या शुद्ध निष्कलंक होने से प्रधान हुई। और इस तीन संख्या की प्रधानता का भी त्रयीविद्या से सम्बन्ध जानो॥

अब काल की भूत वर्त्तमान और भविष्य नामक तीन संख्या का आगे तीन से ही व्याख्यान बढ़ा सकते हैं जैसे आसन्नभूत परोक्षभूत प्रत्यक्षभूत, आसन्नभविष्यत् अनद्यतनभविष्यत् अद्यतनभष्यित् वर्त्तमानभूत, वर्त्तमानभविष्य, शुद्धवर्त्तमान। इत्यादि इसी प्रकार आसन्नभूतादि का भी तीन २ भेदों से व्याख्यान बढ़ सकता है। जैसे एक अकार के ह्रस्व दीर्घादि तीन २ भेदों से व्याख्यान हो कर १८ भेद हो जाते हैं। इस लिये त्रयीविद्या का व्याख्यान प्रधान है ॥

वेद

अब तक सामान्य व्याख्यान रहा अब हम एक वेद शब्द का कुछ व्याख्यान करें गे जिस के तीन अंशों से त्रयीविद्या कही जायगी। एसियाटिक सोसायटी कलकत्ता के छपे निरुक्त वेदाङ्ग की व्याख्या के आरम्भ में किसी विद्वान् ने वेद विषय पर जो भूमिका लिखी है उस का यहां यथार्थ अनुवाद करके उस पर अपनी कुछ सम्मति लिखना उचित समझ के आरम्भ करता हूं आशा है कि पाठकलोग इस को विशेष ध्यान से शोचें गे।

अथ कोऽसौ वेदः? वेदशब्दस्य कीदृशी व्युत्पत्तिरिष्टा आर्याणाम्, तथा वेदस्य किं लक्षणम्, स्वरूपं च तस्य किमिति त्रयः प्रश्नाः स्वतएव सर्वमनःसु समुत्पद्यन्त एव, तत्समालोचायैवर्त्तर्हि किञ्चिदिह यतामहे इति यावत्।

(वेदः) "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः,, इत्येतद्वेदशब्दव्युत्पादनं कृतं दृश्यते देवमित्रपुत्रेण विष्णुमित्रेण बह्वृक्प्रातिशाख्यस्य वृत्त्युपक्रमे। अन्यान्यविधानि च सन्ति बहूनि वेदशब्दव्युत्पादनानि तानि च तत्र २ द्रष्टव्यानि ॥

भाषानुवाद—वह वेद कौन है अर्थात् आर्यों को वेदशब्द का निरुक्त वा व्याकरणानुसार कैसा अर्थ करना अभीष्ट है? [ध्यान रखना चाहिये कि इस व्याख्यान में जो आर्यशब्द आया वा आवेगा उस से आर्यसमाजस्थ थोड़े से ही मनुष्यों का ग्रहण नहीं है किन्तु आर्यावर्त्त वासी वेदानुयायी सदाचारी ब्राह्मणादि का ग्रहण समझना चाहिये] तथा वेद का क्या लक्षण वा लाक्षणिक अर्थ? और

वेद का क्या स्वरूप है ? ये तीन प्रश्न स्वयमेव सब के मनों में उत्पन्न होते ही हैं। उस की समालोचना के लिये ही यहां हम कुछ यत्न करेंगे। "धर्मार्थ काम मोक्षरूप पुरुषार्थ के फल जिन से जाने जाते वा प्राप्त किये जाते हैं वे वेद हैं" यह वेदशब्द की व्युत्पत्ति देवमित्र के पुत्र विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य नामक पुस्तक की वृत्ति से पूर्व भूमिका में लिखी है। और वेदशब्द की अन्य २ प्रकार की अनेक ग्रन्थों में अनेक व्युत्पत्ति की हैं उन को वहां २ देखो।

सम्पादक—हमारी सम्मति में वेद विषय पर तीन ही प्रश्न होना ठीक नहीं हैं किन्तु वेद के मानने वालों के चित्त में उस के गम्भीर सिद्धान्त की ओर समय के परिवर्त्तनानुसार बहुत काल से प्रवृत्ति न रहने के कारण सैकड़ों प्रश्न खड़े होते हैं और शङ्काओं की वृद्धि ने वेद से सब को विमुख कर दिया। इसी कारण ब्राह्मणादि आर्यलोग अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भूल कर दूसरे मार्ग में चलपड़े इसी का नाम आर्यों की अवनति होगा। वेद को किसने बनाया? कब बनाया? वेद मनुष्य का बनाया है वा अनादि सिद्ध ईश्वरकृत है? ईश्वरकृत वेद है तो बायबिलादि क्यों नहीं? वेद में क्या विषय है? अग्नि आदि जड़ तत्वों की पूजा है वा नहीं?। वेद में निज मनुष्यों का नाम लेकर इतिहास है वा नहीं? यदि है तो वेद ईश्वरकृत कैसे हुआ? वेद में सब विद्या हैं वा नहीं? वेद परोक्षार्थ बोधक है वा प्रत्यक्षार्थ बोधक भी? वैदिकधर्म क्या है? और वह सर्वोपरि वा सर्वमान्य कैसे है? वेद किसी खास देश काल और जाति के लिये है वा सब देश काल और मनुष्यजातिमात्र के लिये? वेद अनादि वा अपौरुषेय कैसे है? इत्यादि अनेक प्रश्न हो सकते हैं जिन के प्रायः सभी उत्तर इस त्रयीविद्या के व्याख्यान में आ जावेंगे। अथवा इत्यादि प्रकार की शङ्काओं का समाधानरूप ही त्रयीविद्या का व्याख्यान होगा। यदि कहा जाय कि ये सब प्रश्न तीन में आसकते हैं तो ठीक है। एक प्रश्न में भी सब आ सकेंगे तब तीन भी प्रश्न क्यों हों?॥

"प्रत्यक्षानुमानागमेषु (प्रमाणेषु) अन्तिमो वेदः" इति, "समथबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनं वेदः—" इति, "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" इत्यादीनि च वेदलक्षणानि सायणीये ऋग्भाष्यादौ द्रष्टव्यानि। "इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो

वेदयति स वेदः" इत्येकेनैव वाक्येन च वेदस्य व्युत्पादनलक्षणे अप्युक्ते, कृष्णयजुर्भाष्यभूमिकायां सायणेनैव "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥" इति वचनं च तत्र मानत्वेनोपन्यस्योक्तं च "सएवोपायो वेदस्य विषयः, तद्बोधएव प्रयोजनम्,तद्बोधार्थी चाधिकारी तेन सहोपकार्योपकारकभावश्च सम्बन्धः" इति।

भा०-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन तीन प्रमाणों में अन्तिम शब्द प्रमाणरूप वेद है। समय के बल से अर्थात् किसी समय वेद की ओर ठीक प्रवृत्ति हो तब परोक्ष विषय के साक्षात् अनुभव होने का साधन वेद है। जिस को किसी पुरुषविशेष ने कभी नहीं बनाया ऐसा वाक्य समुदाय वेद है। इत्यादि वेद के लक्षण सायणाचार्यादि कृत ऋग्वेदभाष्यादि में देखने चाहिये। इष्ट सुख की प्राप्ति और अनिष्ट दुःख से बचने का जो अलौकिक उपाय बताता है वह वेद है। इस एक ही वाक्य से वेदशब्द की व्युत्पत्ति और उस का लक्षण कहा गया है। तथा कृष्ण यजुर्वेदभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने ही-प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो उपाय नहीं जाना जाता उस उपाय को विद्वान् लोग वेद से जानते हैं उसी से वेद का वेदत्व सिद्ध होता है यह बचन वहां प्रमाणरूप मान के आगे कहा है-वही उपाय वेद का विषय है। उसी उपाय का बोध होना वेद का प्रयोजन है उस बोध को चाहने वाला मनुष्य वेद का अधिकारी और वह विषय उपकारक तथा उस से उपकार लेने वाला उपकार्य इन दोनों का उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध है। अर्थात् सब शास्त्रों का यह मूल है कि-

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

जिस का कुछ प्रयोजन सिद्ध हो और प्रयोजन प्रयोज्य वा विषय विषयी आदि का सम्बन्ध सिद्ध हो ऐसे व्याख्यानरूप ग्रन्थ को श्रोता वा विद्यार्थी सुनने वा पढ़ने को प्रवृत्त हो सकता है। जब कोई मनुष्य किसी काम को करना चाहता है तो पहिले १ प्रयोजन २-विषय ३-अधिकारी ४ सम्बन्ध इन चार बातों का ज्ञान होना चाहिये, जिस कर्त्तव्य का मुख्य वर्णन उस में हो वह विषय, जिस

कार्य वा प्रयोजन की सिद्धि के लिये कहा गया हो वह प्रयोजन, और उस विषय को जानने की योग्यता और इच्छा रखने वाला अधिकारी कौन तथा उस विषय के साथ अधिकारी का क्या सम्बन्ध है इस प्रकार चार अंशों का ज्ञान सब शास्त्रों के आरम्भ में होना चाहिये जिस से उस २ शास्त्र के पढ़ने वा जानने की रुचि पूर्वक प्रवृत्ति हो । इसी के अनुसार वेद के आरम्भ में चार अंश पूर्वोक्त दिखाये हैं ।

सं०—यद्यपि चार वेदों के समान प्रमाण चार हैं परन्तु तीन संख्या वा त्रयीविद्या के प्रधान होने से कई शास्त्रकारों ने तीन ही प्रमाण माने हैं । उन में शब्दप्रमाणरूप वेद का नाम आगम है । आगमशब्द का विशेष व्याख्यान आगे मिलेगा । परोक्षानुभव का साधन वेद है इस कथन से वक्ता का यह अभिप्राय हो कि केवल परोक्ष विषय का ही वेद से अनुभव होता है तो ठीक नहीं क्योंकि "भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति" भूत भविष्यत् प्रायः परोक्ष और भव्यनामक वर्त्तमान प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष का साथी अनुमान यह सभी वेद से सिद्ध होता है इस मनु जी के कथन का खण्डन होगा । और मुख्य बात यह भी शोचना है कि जब हम शास्त्रीय सब अंशों का मूल वेद को ठहराने का भार लेना चाहते हैं तो प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रतिपादक न्यायादि शास्त्र का भी मूल वेद माना जायगा ऐसी दशा में वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानना कदापि ठीक नहीं हो सकता । और इसी लिये हम वेदानुयायी लोगों को शब्दरूप वेद प्रमाण के आधीन वा वेद से ही प्रत्यक्षादि प्रमाण की प्रवृत्ति माननी चाहिये । और प्रमाण गणना का क्रम यह होना चाहिये कि शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान । न्यायशास्त्र में लोकव्यवहार की सिद्धि पर मुख्य दृष्टि रख कर शब्दप्रमाण से प्रत्यक्षादि का यथावत् सृष्टि में प्रचार हो जाने पर प्रत्यक्ष को पहिला प्रमाण गिना गया है । इसी सिद्धान्त के अनुसार वेद में—

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् । य॰

सूर्य एक ही विचरता, चन्द्रमा वार २ कलाहीन हो २ कर फिर २ पूरा होता, अग्नि शीत का औषध है और वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये पृथिवी सब से बड़ा खेत है । अब शोचिये इस मन्त्र में कही चारो बातें प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं । उदय

से अस्त तक सूर्य किसी सहायक के विना एकेला ही अपनी कक्षा में घूमता है उस के साथ कोई अन्य ग्रह नहीं यह प्रत्यक्ष दीखता, चन्द्रमा का घटना बढ़ना भी प्रत्यक्ष है, अग्नि के तापने से शीत की निवृत्ति होना सभी को प्रत्यक्ष है और पृथिवी का बड़ा खेत होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है फिर ऐसे प्रत्यक्ष सिद्ध विषय का परोक्षार्थ बोधक वेद में वर्णन क्यों किया गया ? इस का उत्तर उन को देना कठिन होगा जो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानते हैं वा मानेंगे परन्तु हमारे पक्ष में इस का समाधान बना हुआ है कि सृष्टि के आरम्भ में जब प्राणी उत्पन्न हुए तब उन को प्रत्यक्षादि का अनुभव तो था ही नहीं कि अग्नि से शीत की निवृत्ति हो सकती है वा किस से और प्रत्येक वस्तु को अनुभव कर २ बोध होने में काल अधिक लगता तब तक दुःख भोगा करते वा गुण कर्मों का बोध न होने से प्रत्यक्षादि से अनुभव करने की ओर प्रवृत्ति वा झुकावट भी नहीं हो सकती जैसे पशुओं को कभी मणि वा रत्नों का अनुभव प्रत्यक्ष देखने पर भी नहीं होता इस कारण मनुष्य सृष्टि के साथ ही परमात्मा ने शब्दप्रमाण रूप वेद का उपदेश किया । उस शब्द से पहिले बोध हुआ कि अग्नि शीत का औषध है इसी ज्ञानके अनुसार जब शीत लगा तब अग्नि जलाकर तापने से प्रत्यक्ष अनुभव भी होगया कि ठीक अग्नि ही सर्वोपरि शीत का औषध है इसी प्रकार शब्दप्रमाणरूप वेद से सृष्टि के आरम्भ में अनेक विशेषोपयोगी पदार्थों के गुणों का बोध मनुष्यों का हुआ जिसके अनुसार सब ने अपना २ काम चलाया । शोचने से यह अब भी बोध होगा कि सदा ही शब्दप्रमाण सब से बड़ा प्रबल वा सब का मूल कारण है क्योंकि बाल्यावस्था से मनुष्यादि शब्दों के सुनने वा सीखने से ही सब को सब प्रकारका ज्ञान होता है। शास्त्रसम्बन्धी शिक्षाद्वारा भी पहिले शब्दों से ही सब प्रकार का ज्ञान सब को कराया जाता है पीछे वे शब्द से जाने विषयों का प्रत्यक्षानुभव करते हैं। और इसी अभिप्राय से पूर्वमीमांसा-कार जैमिनि ऋषि ने शब्द प्रमाण को सर्वोपरि बड़ा प्रमाण माना है जब अनेक हेतुओं से शब्दप्रमाण सब का मूल वा सर्वोपरि है तो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानने वालों का सिद्धान्त कैसे ठीक होगा ? । हमारा अनुमान है कि जब प्रारम्भ से वेद की शिक्षा फैल कर प्रत्यक्ष वा अनुमानसाध्य विषयों का बोध होने की परम्परा अन्य न्यायादि शास्त्रों द्वारा वा लोकव्यवहारानुसार चलने लगी तब उन लोगों की प्रत्यक्षादि ज्ञान के आदि कारण वेद का दीर्घदर्शिता के अभाव

से विस्मरण होगया और प्रत्यक्षादि की स्वतन्त्र सिद्धि मान कर वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानने लगे। जैसे किसी को व्याकरण पढ़ के बोध हो जाने पर व्याकरण का विस्मरण हो जाय और वह उस बोध को फिर स्वतन्त्र मानने लगे॥

जब हम शोचने लगते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण बलवान् है वा शब्द तो दोनों की पुष्टि के प्रमाण मिलते हैं " प्रत्यक्षे किं प्रमाणम् " यह जनश्रुति भी प्रत्यक्ष को प्रबल करती है कि प्रत्यक्ष में अन्यप्रमाण की आवश्यकता नहीं। और शब्द की आवश्यकता तो सब से पहिले ही आवश्यक है तब किस को प्रबल वा बड़ा प्रमाण माना जाय? अनाप्तोपदेश शब्दाभास का नाम शब्दप्रमाण न होजाय ऐसे शब्दाभास को प्रमाण कोटि से दूर करने के लिये प्रत्यक्षादि को प्रबल मानना और सर्वत्र प्रत्यक्षानुमान से शब्द की सदा परीक्षा करनी चाहिये। परन्तु शब्दाभास की परीक्षा के लिये प्रत्यक्षादि की प्रबलता होने पर भी शब्द प्रमाण निर्बल नहीं ठहर सकता। क्योंकि देश काल वस्तु भेद से अनेक अवसरों पर जहां २ प्रत्यक्ष में भ्रान्ति होती है। उस की निवृत्ति प्रायः शब्दप्रमाण से ही होती है। जैसे कोई कृत्रिम आम्रफल के तुल्य बनाये हुए वस्तु को सच्चा आम का फल समझले उस को भ्रान्ति सत्योपदेश शब्द प्रमाण से दूर हो। अर्थात् अनेक उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं जिन की भ्रान्ति शब्दप्रमाण से दूर हो और प्रत्येक वस्तु का नाम सहित गुणकर्म ज्ञान पहिले शब्द प्रमाण से हो चुकता है तभी उस का प्रत्यक्ष ज्ञान भी ठीक होता है अर्थात् जबतक किसी को सोमलतादि ओषधियों का नाम भेद गुण कर्म और स्वरूप भेद शब्दप्रमाण से न ज्ञात हो तबतक अन्य घासों के समान सोमलता भी कहीं खड़ी रहे पर विशेष कर अनुभव के साथ उस को जानने का उद्योग न कोई कर सकता न जान सकता है तब केवल नेत्र से देखलेने मात्र से प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ भी नहीं मान सकते। इस से यह सिद्ध हुआ कि शब्दप्रमाण सर्वोपरि प्रबल प्रत्यक्षादि का भी कारण है। और पाठक लोग यह भी ध्यान रक्खें कि यह मेरा लिखना व्यर्थ इस लिये नहीं कि मैं त्रयीविद्यारूप वेद का व्याख्यान करता हूं उस में शब्दप्रमाण जब तक सर्वोपरि मान्य न ठहरे तब तक वेद का भी प्रमाण सब से अधिक नहीं ठहर सकता। इस से सिद्ध होगया कि शब्दप्रमाणरूप वेद प्रत्यक्षादि का बीज वा मूल है वेद में से ही अन्य सब प्रमाण निकले हैं तो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानना ठीक नहीं। अपौरुषेय वाक्य का नाम वेद है इस का अभिप्राय

यह है कि किसी निज-(खास) मनुष्य ने श्लोकादि बद्ध पुस्तकों के समान किसी समय वाक्य योजना की कल्पना विचार पूर्वक नहीं की कि मैं इस वाक्यावली को इस नियम से संयोजित करूं। अन्य ग्रन्थों की वाक्यावली समय २ पर उन २ मनुष्यों ने संयोजित की है इस लिये वे सब ग्रन्थ पौरुषेयी रचना के माने जाते हैं। पुरुष नाम परमेश्वर का है उस की बनायी वाक्यावली को भी पौरुषेयी कह सकते हैं परन्तु मानने पड़ेगा कि परमेश्वर ने भी वेद को किसी समय में नहीं बनाया किन्तु उस की अनादि विद्या वेद है। प्रतिकल्प के आरम्भ में उस वेद को वह वैसा ही पूर्व कल्पवत् मनुष्यों के द्वारा सृष्टि में प्रचरित कर देता है इसी लिये वेद को अनादि अपौरुषेय कहते हैं। और पुरुषों के द्वारा वेद की प्रसिद्धि होने पर भी पौरुषेय वेद इस लिये नहीं माना जाता कि श्लोकादि के तुल्य पद-वाक्य योजना कर के पुरुष जिस को बनावे उस का नाम पौरुषेय हो सकता है। परमेश्वर की प्रेरणा से जैसे क्रम सहित वाक्यावली प्रतिभारूप ज्ञान के समान पुरुषों को स्फुरित हुई वैसी ही उन्हों ने प्रकट करदी किन्तु अपनी बुद्धि से उन्हों ने कुछ रचना नहीं की यही अपौरुषेय कहने वा मानने का अभिप्राय होना वा मानना चाहिये। प्रत्यक्ष वा अनुमान से जिस उपाय को नहीं जान सकते उस को जिस से जानते हैं वह वेद है इस कथन से सायणाचार्य का आशय यह जान पड़ता है कि वेद का आश्रय लिये विना प्रत्यक्ष और अनुमान से स्वतन्त्र भी किन्हीं विषयों की वा उपायों की सिद्धि हो सकती है। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि सृष्टि के आरम्भ में शब्दप्रमाणरूपवेद का आश्रय मनुष्यों को न मिलता तो प्रत्यक्षादि से अनुभव करने की ओर झुकावट भी न होती फिर जैसे वाल्यावस्था में माता पितादि से शब्द सुनने विना किसी बालकादि को प्रत्यक्षादि के अनुभव की शक्ति होना ही दुस्तर है वैसे ही प्रत्यक्षानुभव से अब तक मनुष्यों को बोध होना दुस्तर था इस लिये प्रत्यक्षानुमान से जो उपाय जानें जावें उन में शब्द की आवश्यकता पहिले पीछे सब काल में है। इसी से शब्द का आश्रय लिये विना स्वतन्त्र प्रत्यक्षादि से किसी उपाय की सिद्धि नहीं है॥

वेदस्वरूपं चोक्तमेवं बौधायनेन " मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः "—

इति। आपस्तम्बेन च यज्ञपरिभाषायां स्पष्टमुक्तम्—"मन्त्रब्राह्म-

(मांसभोजन विचार तृतीयखण्ड)

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस पुस्तक के द्वितीय भाग का खण्डन मैं लिख चुकाहूं। और उसी के साथ यह भी प्रतिज्ञा की थी कि तृतीयभाग पर भी कुछ लिखूंगा। इस लिये इस पर कुछ संक्षेप से लिखना आवश्यक हुआ। अब इस का उत्तर लिखने पश्चात् ऐसे विषयों पर लिखने की विशेष रुचि नहीं है किन्तु वैदिकसिद्धान्त की पुष्टि के लिये अनेक विषयों पर लेख लिखना आवश्यक और उचित समझता हूं।

इस पुस्तक की भूमिका पर कुछ लिखना आवश्यक नहीं क्योंकि ऐसी प्रबल युक्ति भी कोई नहीं दीगई जिस का उत्तर देना आवश्यक हो। इस में पहिला प्रकरण ईश्वर प्रार्थना है। इस पर भी मुझे कुछ विशेष लिखना आवश्यक नहीं है तथापि इतना कहना आवश्यक है कि—अपने शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना से मांसोपदेशक जी का यह आशय हो कि हमारे प्रत्यक्ष शत्रु फलाहारी लोग हैं उन का नाश हो तो वास्तव में उन के भीतर बड़ा कल्मष है और ऐसे पाप का प्रायश्चित्त भी मिलना दुस्तर है। हम को मांसोपदे० जी का यही अभिप्राय उन के लेख से झलकता प्रतीत होता है। तथापि हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारे भाई मांसाहारियों की बुद्धि को वह शुद्ध करे वे लोग अपने समान सब प्राणियों का सुख दुःख हानि लाभ देखने सोचने लगें और जैसे अपने प्राण की वा अपने मांस की रक्षा चाहते हैं वैसे वे अन्यों की भी रक्षा चाहने लगें और धर्मात्मा बनें। और अपने आत्मा को जो प्रिय हो वह भी धर्म का एक बड़ा चिह्न धर्मशास्त्रकार मनु जी ने माना है वा यों कहो कि वास्तव में वही धर्म का मुख्य लक्षण है। थोड़ा शोचने से प्रतीत होता है कि—मुझ को कोई मार न डाले, मुझ को कोई दुःख न दे, मेरी चोरी कोई न करले, मेरा मांस रुधिर कोई न खाजाय इत्यादि प्रत्येक जीवधारी अपने २ आत्मा में चाहता है यही सब के आत्मा को प्रिय है। जैसे मांसाहारी लोगों को अपनी हिंसा वा अपना मांस किसी के खाने को काट लेने देना प्रिय नहीं वैसे मानलो कि प्रत्येक प्राणी के आत्मा को ऐसी बातें प्रिय नहीं इसी कारण हिंसा चोरी आदि अधर्म और अहिंसादि धर्म ठहर जाता है। हिंसा कर के वा करा के मांस खाने में अधर्म होने का यह एक प्रत्यक्ष बड़ा प्रमाण है इस का कुछ समा-

धान भी नहीं हो सकता तथापि दुराग्रही लोगों का मानलेना दुस्तर है। हे परमात्मन्! ऐसे हठीले लोगों के चित्त से पक्षपात को दूर कीजिये। स्वार्थपरता के लोभ से बचा के शुद्ध कीजिये यही सर्वशक्तिमान् से हमारी प्रार्थना है।

अब एक बात यह विचारणीय है कि वेद में जो प्रार्थना की गई है उस का मनुष्यों को जब समान अधिकार माना जाय कि जिन किन्हीं दो दलों में शत्रुता हो जाय वे दोनों उन्हीं मन्त्रों से अपने २ शत्रुओं को नष्ट भ्रष्ट करने की प्रार्थना कर सकते हैं तो यदि दोनों की प्रार्थना सत्य हो तो परमेश्वर दोनों दलों को नष्ट कर डाले क्या यह ठीक उचित होगा?। हमारी समझ में यह कदापि ठीक नहीं क्योंकि इस से धर्माधर्म की व्यवस्था बिगड़ जायगी। तब हम को यह मानना चाहिये कि धर्मात्मा के लिये प्रार्थना की आज्ञा है और धर्मात्मा की प्रार्थना ही परमेश्वर सुनेगा। अधर्मी को प्रार्थना से रोक नहीं सकता पर उस की प्रार्थना सदा निष्फल होगी। इसी से धर्माधर्म की व्यवस्था भी ठीक रहेगी और यही उचित भी है। अब रहा यह कि धर्मात्मा का विजय तो कर्मानुसार ही हो सकता है फिर वह व्यर्थ ही क्यों प्रार्थना करे तो इस का उत्तर यह होगा कि मानस वाचिक कायिक तीन प्रकार के कर्मों में प्रार्थना भी वाणी का कर्म है जैसे अन्य कर्मों का नियत फल होता है वैसे प्रार्थना का भी होगा वा यों कहो कि कर्मानुसार जो फल होने वाला है वह प्रार्थना की सहायता पाय कर और भी अच्छा वा शीघ्र होगा। जैसे किसी को संचित हुए कुपथ्य से रोग होने वाला हो तो उसी संचित कुपथ्य के अनुकूल नया कुपथ्य उस का सहायक मिल जाने पर प्रबलता के साथ शीघ्र रोग हो जाता है यदि सहायक न मिले तो उतने वेग के साथ शीघ्र रोग न हो और कुछ काल कटता जाना सम्भव है अथवा जैसे कोई अच्छा फल संचित कारण से होने वाला हो उस को अनुकूल सहायक मिलजाने पर अच्छा और शीघ्र ही हो जाता है इसी प्रकार सर्वत्र जानो पुण्य के अनुकूल पुण्य होता है और प्रार्थना भी एक पुण्य कर्म है। और पापी के संचित पाप के अनुकूल सहायक प्रार्थना नहीं इसी से सफल नहीं हो सकती। यदि कोई कहे कि तो पापी को प्रार्थना ही न करनी चाहिये तो इस का उत्तर यह है कि जब तक मनुष्य को पापकर्मों से घृणा नहीं होती और बुराइयों से मन नहीं हटता तभी तक वह पापी है तब तक उस से आप ही प्रार्थना न हो सकेगी और उस को प्रार्थना करनी भी नहीं चाहिये क्योंकि सर्वथा

निष्फल होगी । और जब उस के चित्त में पापों से घृणा हो जायगी तब वह अपने पहिले कर्मों से अपने को पापी मानने लगे गा । ऐसी दशा में वह अन्य भी अच्छे काम करने लगे गा तब उन की सहायकारिणी होने से प्रार्थना भी सफल होगी और वह मनुष्य पापी नहीं माना जाय गा । किन्तु धर्मात्माओं की किसी कोटि में गिना जाय गा । इस से सिद्ध हुआ कि धर्मात्मा की प्रार्थना सफल हो सकती है । तब शोचलो कि यदि हिंसा करने कराने वाले धर्मात्मा ठहरें गे तो प्रार्थना भी उन को सफल होगी ॥

मांसोपदेशक जी ने अपनी प्रार्थना में एक दो मन्त्र ऐसे भी लिखे हैं कि जिन में शत्रु के हाथ पांव मांस रुधिर काटने निकाल ने की प्रार्थना की गयी है । जैसे–

स्कन्धान् प्रजहि शिरः प्रजहि । मांसान्यस्य शातय० इत्यादि ।

हे रुद्र तू इस हमारे शत्रु के कन्धे काट शिर काट । इस के मांस के टुकड़े कर दे त्वचा अलग कर दे अर्थात् जैसे कोई मांसाहारी अपने भृत्य (नौकर) को आज्ञा देवे कि तू मेरे खाने को इस की हड्डी नाड़ी नसें खाल आदि को अलग करके शुद्ध मांस निकाल के लाव मैं खाऊं । वैसी यहां प्रार्थना की गयी है उपदेशक जी से पूछना चाहिये कि क्या परमेश्वर से ही आप कसाई का काम कराना चाहते हो ? । यदि कहो कि हम तो अपने शत्रुओं को तंग कर २ दुःख पहुंचाने की प्रार्थना परमेश्वर से करते हैं तब हमारा प्रश्न यह है कि कन्धे शिर काटने मांस के टुकड़े २ कराने करने को आप अच्छा समझते हो वा बुरा । यदि अच्छा कहो तो शत्रु के अनिष्ट की प्रार्थना नहीं बने गी । और बुरा कहो तो सभी का मांस काटना आपने बुरा मानलिया और यह भी सिद्ध हो गया कि अपने खाने के लिये किसी का मांस काटो वा कटावो गे उस को दुःख पहुंचना सिद्ध हो गया और दुःख पहुंचाना पाप सिद्ध ही है तब मांसभक्षण पाप तुमने भी मानलिया और यदि नहीं मानो गे तो तुम्हारी प्रार्थनानुसार शत्रुओं को भी मांस काटने से दुःख नहीं हो सकता ।

अब शोचिये तो सही आप की प्रार्थना आप के पग की कुल्हाड़ी हो गयी वा नहीं ? मांसभक्षण को अच्छा ठहराने के लिये तो उद्योग किया परन्तु उसी उद्योग से बुरा ठहर गया इस से अब भी समझो तो ऐसे निकृष्ट पक्ष को

छोड़ो नहीं तो यही हाल रहे गा कि दो जगह जोड़ो गे चार जगह टूटे गा। क्योंकि तुम्हारा पक्ष बिना नींव की भित्ति है यह निश्चय रक्खो। मांसभक्षण के पुस्तकों के बनाने वाले ने अपना नाम सब पुस्तकों में छिपाया है। यद्यपि इस तृतीयभाग में पं० देवीचन्द शर्मा का नाम लिखा है तथापि उस में चालाकी मालूम होती है क्योंकि "पं० देवीचन्द शर्मा ने निर्णयार्थ प्रकाश किया" इस लेख से पं० देवीचन्द जी निर्माता सिद्ध नहीं होते तो बनाने वाला यहां भी छिप गया। इन को इतना विचार नहीं आता कि ऐसे हम कहां तक छिपेंगे किसी प्रकार कोई जानही लेगा तब कितना लज्जित होना पड़ेगा ॥

अब इन के मांस को सिद्ध करने वाले प्रमाणों को देखिये। इस पुस्तक में एक चालाकी और प्रतीत होती है कि एक तो छोटी सांची और मोटे अक्षरों में छपाया और द्वितीय ऐसे ही बहुत वचन लिख डाले कि जिस से कुछ पुस्तक देखने में मोटा होजाय जैसा कि मांस के बढ़ने से कोई मुटाया हो जिस को देख मांसाहारी प्रसन्न हों वैसे मोटे पुस्तक को देख के जानें कि देखो वेद से इतने प्रमाण मिलते हैं जिन से इतना मोटा बड़ा पुस्तक बन गया। वास्तव में सोचा जाय तो ऐसे बहुत कम वाक्य वा मन्त्र हैं जिन का उत्तर हम को देना चाहिये। जिन मन्त्रों में मांसशब्द के साथ किसी प्रकार की भक्षण क्रिया आवे तो उस का ही उत्तर देना हम को अधिक आवश्यक है और ऐसे ही प्रमाण छांटकर मांसोपदेशक जी लिखते तो उन का पुस्तक चतुर्थांश भी न होता। हम अपने ग्राहकों को सूचित करते हैं कि जिन प्रमाणों का हम कुछ उत्तर न लिखें उन के लिये कोई कहे तो यही उत्तर देना चाहिये कि तुम्हारी प्रतिज्ञा मांसभक्षण को अच्छा ठहराने की है उस के अनुसार जिन मन्त्रों में मांस और भक्षण क्रिया दोनों नहीं उनको पहिले अपने पक्ष के पोषक तुम ठहरा दो तब हम से उत्तर मांगना।

अथ मांसं भक्ष्यं नवेति विचारे वैदिकसिद्धान्त आथर्वणः।

अब मांसभक्ष्य है वा नहीं इस विचार में वैदिकसिद्धान्त अथर्ववेद का है।

यह लेख मांसोपदेशक का प्रतिज्ञारूप जानो यह कैसा असम्बद्ध वा ऊटपटांग है सो सब लोग स्वयं शोच लेंगे। जब मांस के साथ भक्षणशब्द को बुरा समझ के मांसभक्षणविचार पुस्तक का नाम नहीं रक्खा फिर यहां भक्षधातु का प्रयोग

क्यों किया ? क्या यह प्रयोजन था कि ऊपर का लिखा नाम सहसा सब के दृष्टिगोचर होगा और भीतर का लेख सब कोई नहीं देखता । अस्तु जो हो अब हम व्यर्थ लिखना ठीक नहीं समझते थोड़ीसी गोलमाल पोलपालपाठकों को दिखाना उचित समझी सो लिख दी ॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते । अथर्व० ९ । ६ । ३ ॥

अतिथियों की प्रार्थना करने वाला अतिथियों की ओर जो देखता है वह यज्ञ को देखता है ॥

यह इन मांसोपदेशक जी का पहिला प्रमाण है । प्रतिज्ञा की थी कि मांस भक्ष्य है वा नहीं परन्तु जो प्रमाण देने लगे उस से मांस का भक्ष्य वा अभक्ष्य होना कुछ नहीं निकला यह लेख असम्बद्ध होगया फिर हम इस का क्या उत्तर देवें ? । यद्यपि पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ भी अज्ञान कीचड़ में फसजाने से ठीक नहीं हुआ तथापि हमारा यहां यह सिद्धान्त नहीं कि हम सब भूलें उन की दिखावें किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि किन्हीं मन्त्रों में मांस के भक्ष्य होने की शङ्का किन्हीं को होना सम्भव हो तो उन का हम यथोचित समाधान देवें । इसलिये अब ऐसे वाक्यों पर हम कुछ न लिखेंगे ॥

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः । अथर्व । ९ । ६ । ६ ॥

भाषार्थः—अतिथि के लिये जो तर्पण लाते हैं जो अग्नि तथा सोम के लिये यज्ञ में पशु मारा जाता है वह ही वह है ॥

उ०—यह अर्थ पं० ठाकुरप्रसाद वा देवीचन्द आदि उन मांसोपदेशकों का किया है जिन का बनाया यह पुस्तक है । हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त इसी छठे भाग के ३ । ४ अङ्क पृष्ठ १६ । १७ में इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप से छप चुका है । इस के अर्थ में मांसोपदेशक जी ऐसे गिरे हैं जिस का ठिकाना नहीं । इस मन्त्र के अन्य पदों के अर्थ में कुछ अधिक विवाद नहीं अर्थात् केवल एक (बध्यते) क्रिया के अर्थ पर विचार करना है । मांसोपदेशक जी

ने इस क्रिया पद को हनधातु का प्रयोग माना ज्ञात होता है क्योंकि हिंसार्थ बध धातु कोई है नहीं अन्य किसी प्रकार बध्यते क्रिया का मारा जाना अर्थ हो ही नहीं सकता। सो यह लेख सर्वथा मिथ्या है। हनधातु का बध्यते शब्द व्याकरण से बन ही नहीं सकता। हन को बधादेश करने के लिये पाणिनि के तीन सूत्र हैं-

हनो वध लिङि ॥ लुङि च ॥ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥
२। ४। ४२। ४३। ४४ ॥

इन तीनों सूत्रों से लिङ् और लुङ्लकार में हन को वधादेश होता है। बध्यते लट्लकार का प्रयोग है। तथा हन को जब वधादेश होता है उस में अन्तःस्थ वकार है और बध्यते क्रिया में वेद पुस्तकों में भी पवर्ग का पिटचिरा बकार पढ़ा गया है। इस कारण हन को वधादेश करके यह प्रयोग कदापि नहीं बन सकता। तब-बन्ध,बन्धने भ्वादि। और बन्ध,बन्धने क्र्यादि। इन्हीं दो धातुओं में से किसी का यह बन सकता है। इन दोनों धातुओं का एक ही अर्थ है। बन्धन नाम बांधना यह प्रसिद्ध है इस का हिंसार्थ कदापि नहीं हो सकता। मांसोपदेशक जी ने इसी तृतीयभाग की भूमिका में प्रतिज्ञा की है कि हम ने अष्टाध्यायी आदि आर्ष पुस्तकों के प्रमाणानुसार मन्त्रों का अर्थ लिखा है अपनी ओर से कल्पना कुछ नहीं की। सो अब उपदेशक जी! आप बताइये किस व्याकरण के अनुसार बध्यते का हिंसार्थ किया है?। पाठकलोगो! ध्यान दीजिये (यह साधारण गलती नहीं है) ऐसे ही अल्पज्ञ मनुष्य महावेदविरोधी हैं जो वेद के अर्थ का सत्यानाश अपनी अल्पज्ञता से करते हैं। यदि मांसाचार्यादि लोग इस बध्यते क्रिया को पाणिनीय व्याकरणानुसार हिंसार्थ न ठहरा देवें तो आप लोग इन का पूर्ण पराजय समझ लेने में क्या फिर भी आगा पीछा शोचेंगे?। मेरी समझ में आप को निस्सन्देह पराजय मान लेना चाहिये। इस मन्त्र का अर्थ मैं यहां कर चुका हूं तथापि फिर थोड़ासा लिख देता हूं—

अ०-अग्निश्च सोमश्च-अग्नीषोमौ देवते अस्य सोऽग्नीषोमीयः। पञ्चतत्त्वसम्बद्धेन पार्थिवतत्त्वेनोत्पन्नानि पश्वादिशरीराणि तत्त्वगुणयुक्तान्येव भवितुमर्हन्ति। तच्छरीरेषु स्वभावाकृतिवर्णादिभेदेन तत्त्वगुणतारतम्यमनुमेयम्। यादृशगुणप्रधानः पशुर्भ-

वति ततस्तादृशगुणप्रधानान्येव दुग्धादीनि निस्सरन्ति । अतः कारणादग्नीषोमीयात्पशोरेव सत्त्वभूयिष्ठं शान्तिप्रदं सुमधुरं बुद्धिबलौजसां वर्धकं च दुग्धमुत्पद्यते तस्माद्दुग्धायाग्नीषोमीयः पशुर्बन्धनीयः । तज्जन्यदुग्धादिना सम्बद्धमेव स्वस्य स्वमान्यानां च तृप्तकरमाहारं सम्पादनीयम् । येन सत्त्वगुणवृद्धिपुरस्सरा धर्मवृद्धिः स्यादिति वेदमन्त्रस्य तात्पर्यं सुधीभिरनुसन्धेयम् । तृप्यन्त्यनेन तत्तर्पणं दुग्धादिकमाहरन्ति भुञ्जते पिबन्ति ॥

भाषार्थः-(यत्) जिस कारण वा जिस विचार से जिस (तर्पणम्) तृप्ति के हेतु तृप्त करने वाले पदार्थ का (आहरन्ति) आहार भोजन करते वा तृप्तिकारक वस्तु का आहार करना चाहिये । और बलबुद्धि आरोग्य तथा आयु को बढ़ाने वाले वस्तु के आहार की सदा इच्छा रखना ही सज्जनों का कर्त्तव्य है । इस प्रकार का आहार (यः, एव) जो ही (अग्नीषोमीयः) अग्नि और जलसम्बन्धी सौम्यतत्त्व जिस में प्रधान हैं ऐसा (पशुः) गौ आदि पशु (बध्यते) बांधा जाता वा दुग्धादि के लिये रक्खा जाता है उस से सम्बन्ध रखता है (सएव) वही पशु (सः) वह है जिस को हम तृप्तिकारक उत्तम आहार का हेतु मान सकते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि पांचो तत्त्व से मिले हुए पार्थिवतत्त्व से पश्वादि का शरीर बनता है इस कारण सभी देहधारियों में किन्हीं तत्त्वों के प्रधान वा किन्हीं के गौणगुण रहते ही हैं । उन २ देहधारी गौ आदि के शरीरों में स्वभाव आकृति और रूप रंगादि का भेद देख कर तत्त्वों के न्यूनाधिक गुणों का अनुमान कर लेना चाहिये । जैसे गुणों में प्रधान गौ आदि पशु होगा वैसे ही प्रधानगुण वाले उस के दुग्धादि होंगे । इस कारण अग्नीषोमीय पशु से ही सत्त्वगुणप्रधान शान्तिदायक मीठा बुद्धि बल और पराक्रमों का बढ़ाने वाला दुग्ध उत्पन्न होगा इस कारण दूध के लिये अग्नीषोमीय पशु बांधना चाहिये । उस से हुए दुग्धादि के संयोग से ही अपना और अपने मान्यों का आहार बनाना चाहिये । जिस से सत्त्वगुण की वृद्धि सहित धर्म की वृद्धि हो यह वेद मन्त्र का आशय है । यद्यपि मूलमंत्र में दुग्ध के लिये पशु बांधा जाता वा बांधना चाहिये ऐसा नहीं कहा तथापि पशुओं का बांधना प्रायः दुग्धादि के लिये ही होता है निष्प्रयोजन

नेके ई नहीं बांधता । इस लिये दुग्धार्थ गौ आदि का बांधना अधिक प्रसिद्ध होने से नहीं कहा गया ॥ मांसोपदेशक—

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्॥ अथर्ववेदे ९।६।३९॥

यही अत्यन्त स्वादु पदार्थ जो गौ का दूध दधि मक्खन घी आदि जो अतिथि को दिया जाता है तथा सामान्य दूध और मांस अतिथि को खिलाये बिना न खावे किन्तु अतिथि को खिला कर दूध मांसादि को खावे ॥

उत्तर—इस मन्त्र पर मांसोपदेशक जी ने ११ पृष्ठ कलम घिसी है जिस का सारांश ऊपर तीन पङ्क्ति में लिख दिया गया । हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त भाग ५ के ११।१२ अंकों में इन मन्त्रों पर मैं ने दो पक्ष दिखाये थे पूर्व पक्ष में आपत्काल में मांसभक्षण का विचार लिखा था उत्तर पक्ष में उस पूर्व पक्ष का समाधान भी कर दिया था । अब भी उस उत्तर पक्ष से मिलता हुआ समाधान होगा । यद्यपि इस मन्त्र पर अनेक झगड़े लिखे जा सकते हैं जिन से बहुत लेख बढ़ जाना सम्भव है तथापि विशेष आवश्यकता न देख कर हम सब अंशों पर नहीं लिखेंगे केवल दो बातों पर अपनी अनुमति यथाशक्ति लिखना उचित समझी है। १—इस मन्त्र में ३७ मन्त्र से "तस्मात्पूर्वो-नाश्नीयात्" इस वाक्य की अनुवृत्ति आती है वा नहीं । और २—अधिगवपद के साथ क्षीर और मांस शब्द का कुछ सम्बन्ध है या नहीं और है तो क्या ?। इन्हीं दो बातों का निश्चय होने से पाठकों के प्रायः सभी सन्देह निवृत्त हो जायेंगे ऐसी आशा है। इस में पहिली बात अनुवृत्ति लाने की है सो इस अथर्ववेद के सभी काण्डों में स्पष्ट यह नियम दिखाया है कि जिन सूक्तों के प्रथम मन्त्र के अन्त्य का वाक्य जिस की अगले प्रत्येक मन्त्र में अनुवृत्ति करना है उस को छापने वालों ने भी द्वितीयादि मन्त्रों में नहीं छापा किन्तु उस के स्थान में सर्वत्र शून्य देते गये हैं जिस अन्त के मन्त्र में अनुवृत्ति समाप्त हुई है वहां उस वाक्य को फिर से पूरा लिख दिया है ।

यही चाल आज कल भाषाछन्द बनाने वालों की भी है कि तुक के दो एक अक्षर लिख कर विन्दु देते जाते हैं और जहां से आगे उस तुक को फिर

धन्यवाद ॥

बा० भगवान् दास मनराखनराम ग्राम भुसावल जि० वलिया १०) ठाकुर कर्णसिंह जी मन्त्री आ० स० जवांने अपनी पुत्री के विवाहोत्सव पर दिये २) श्री शिवमंगलवाजपेयी स्टेनश सिवानियां ४) श्री ठाकुरप्रसाद वर्मेन् पटना १) श्री रामचन्द्रलाल वर्मा मुखतार रायगढ़ २) श्रीयुत जयकृष्ण जी अमृतसर ५) श्री विश्वेश्वरदयाल किरांची सिन्धने अपने नीरोग होने की प्रसन्नता में दिये २) पं० गंगासेवक तिवारी चंदिया ५) कुंवर मथुरासिंह जी मैंनपुरी २) पं० देवीसहाय ब्रेंचपोस्टमाष्टर मुजफ्फरनगर ने पुत्रोत्पत्ति की प्रसन्नता में दिये २) श्रीयुत बेंचेलाल मिश्र घुरसेन ४) मई ९४ से दिसम्बर तक आठ मास में पुस्तक विक्रय से ३०-)॥ यह सब धन आठ मास में पाठशाला की सहायता में आया। उक्त सब महाशयों को परमेश्वर चिरायु करे। मेरी बीमारी के कारण पाठशाला का काम भी दोतीन वर्ष से शिथिलता के साथ चला इसी से सहायता भी कम मिली मेरी इच्छा है कि पाठशाला का अच्छा प्रबन्ध चले सो केवल मेरे आधीन नहीं है किन्तु सहायता अधिक मिले तो इसी काम के लिये एक अध्यापक नियत हो और अनाथ विद्यार्थियों के भोजनाद्यर्थ भी कुछ आवश्यक है। जो महाशय यह शोचें गे कि संस्कृतविद्या वेदादिशास्त्र का दान विशेष कर धर्मानुकूल है इसी से धर्म की उन्नति हो सकती है वेही सहायता करने को तत्पर होंगे॥

सूचना ॥

प्रयाग में इस समय एक ऐसे पं० खाली हुए हैं जो संस्कृत से भाषा में अच्छा अनुवाद कर सकते। भाषा में कविता अच्छी कर सकते और समाचार पत्रादि में सब प्रकार के लेख दे सकते हैं सम्पादक होने योग्य हैं।

उर्दू के पुस्तक ॥

(सीताचरित्र नावल) जिस में श्रीमान् महाराजाधिराज श्रीमहाराजा रामचन्द्र जी की पटरानी और श्रीमती जनकदुलारी सीता जी का वृत्तान्त है और पातिव्रतधर्म के सबूत में और भी छोटी २ कहानियां लिखी गई हैं। और वर्त्तमान समय के स्त्रियों के वर्त्ताव से मिलान कर अच्छी तरह दिखलाया गया है कि स्त्रियों को किस प्रकार अपना जीवन पूरा करना चाहिये और अब क्या रीति प्रवृत्त है। यह पुस्तक चार भाग है श्रीदयाराम नायवतहसीलदार शहर मेरठ ने उर्दू में बना के छपाया है मूल्य प्रत्येक भाग का ॥) सब के २) हैं उर्दू पढ़े मनुष्यों को लेने चाहिये मेरे पास भी मिलते हैं॥

सूचना ॥

१—मेरे यहां एक संस्कृत कोश (डिक्शनरी) आज कल छप रहा है। जिस का नाम " आयुर्वेदशब्दार्णव " है। इस में प्रायः सभी शब्द आयुर्वेद सम्बन्धी अकारादिक्रम से लिखे गये हैं। शब्द के आगे लिङ्गों के संकेतार्थ स्त्री. पु. न. लिख कर उस शब्द के संस्कृत पर्यायवाची शब्द तथा जिन २ वस्तुओं का वाचक वह शब्द आता है उन को पहिले पृथक् २ संस्कृत में लिख कर पश्चात् भाषा का नाम वा कहीं २ उर्दू फारसी का नाम भी लिखा है। अकारादिक्रम से संस्कृत शब्दों का भाषा में अर्थ जानने के लिये यह कोश सभी को उपयोगी होगा अनुमान है कि दो महिने में यह पुस्तक छप जायगा। इस का मूल्य अभी १) अनुमान किया है। यदि १) से अधिक हुआ तो भी पहिले से हुए ग्राहकों को १) में दिया जायगा। अभी हम किसी से अगाऊ मूल्य लेना नहीं चाहते केवल जिन महाशयों को लेना हो वे अपना २ नाम पता लिख भेजें उन को ग्राहक श्रेणी में लिख लिया जाय छप जाने पर वे० पे० भेजा जायगा ॥

२—अष्टाध्यायी पाणिनीय व्याकरण की प्रथमावृत्ति भाषार्थ सहित पुस्तक बहुत शीघ्र छपने वाला है। यह पुस्तक बहुत उत्तम ढब का होगा घर बैठे ही लोग अष्टाध्यायी के मूलसूत्रों का अर्थ कण्ठस्थ कर सकें गे। जिन महाशयों को लेना हो कृपा कर ग्राहक होने की सूचना करें छपकर तयार होते ही उन के नाम वे० पे० द्वारा भेजी जायगी मूल्य अनुमान १) होगा ॥

३—हम कुछ पुस्तकों का मूल्य ता० १ फरवरी ९५ से तीन मास के लिये कम करते हैं। ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ये सात उपनिषद् संस्कृत भाषा टीकासहित बहुत उत्तम छपे हैं जिन की प्रशंसा सर्वत्र है। पहिले इन का मूल्य कुछ घटा कर ३॥) किया था पर अब २॥) में दिये जांय गे। आर्यसिद्धान्त पहिले पांच भाग ६० अङ्कों के ३॥) मूल्य था सोभी २॥) मिले गा मनुस्मृति की भूमिका जिस को देखने से सब शंकाओं की निवृत्ति और सब सिद्धान्त का बोध होता है १।।।) से अब १।) में मिलेगा। तथा गणरत्नमहोदधि पुस्तक व्याकरण पढ़ने पढ़ाने वालों के लिये अधिक उपयोगी है जिस में पाणिनीय गणपाठ की अच्छी व्याख्या की गयी है यह पुस्तक केवल संस्कृत में है भाषा इस में कुछ नहीं पहिले इस का मूल्य २) था अब तीन मास तक १) में मिलेगा। इस समय जो लोग इन पुस्तकों के लेने में भूल करें गे उन को पीछे पूरा २ दाम देकर लेने पड़ें गे ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ६] मासिकपत्र [अङ्क ११।१२

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सन् १८९५ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १।)

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

॰३३ श्री महाबीर प्रसाद जी मुजफ्फ-
र पुर १।)
॰९३ विश्वेश्वरदयाल जी किरांची १।)
॰३५ श्री मेघराज विद्यार्थी जोधपुर १।)
॰८४ रामदास जी कामठी १।)
॰०० मन्त्री आर्य्यसमाज नर्दौली १।)
॰१३ द्वारिकाप्रसाद जी मिर्जापुर २)
॰८ जगतनारायण जी वनारस १॥≡)
॰०१ फकीरचन्द जी भड़ोदा २॥=)
॰७ हरगोविन्द जी वड़ोदा १।)
॰४ जीतसिंह विन्दकी १।)
॰९५ पं० रामभजन जी खजांची
शाहजहांपुर ३॥।)
॰ पं० शुकदेवप्रसाद जी जसपुर १॥)
॰६७ ठा० अभयराम जी वर्मा पकरैला १।)
॰१ सुन्दरलाल गणेशीलाल मुम्बई २॥)
॰ पं० पालीराम जी देहली १।)
॰३८ मूलचन्द जी सागर १=)॥
॰२ घनश्याम गोस्वामी मुल्तान १।)
॰३९ नाथूराम दाल वाला अलीगढ़ १।)
॰५ मोतीलाल गोविन्दलाल
कसेरा लालगंज १।)
॰६ पं० गणेशदत्त जी ड़िबाई १।)
॰०७ रामनारायण जी दिल्दारनगर १।)
॰८ नन्दकिशोर जी भूपाल १।)
॰३९ रामचैतन्य ब्रह्मचारी जी मुम्बई १।)
॰०८ श्री रसिकलाल जी वरेली १।)
॰१० भवानीप्रसाद जी नहठौर १।)
॰७ गणेशीलाल जी चन्दौसी १।)

४८७ प्रियालाल फोटोग्राफर आगरा ३)
जगतनारायण जी तालग्राम १।)
१०१५ भगवानदास जी मुरादाबाद १।)
४०३ राजारामहरिवंशलाल
देहरा दून १।)
६२१ सतीप्रसाद जी योधपुर १।)
१०११ पं० राजीवलोचन शुक्ल
भगवन्त नगर १।)
६४८ चन्दालाल जी मुलतान १।)
१२६ मुं० होरीलाल जी एटा १।)
१२५ ला० रुद्रप्रसाद जी एटा १।)
६१३ मिहीलाल जी अहिरवा १।)
१०१७ राजकुमार सुकुल अहिवाड़ा १।)
७५१ वा० भगवानलाल जी मोतिहारी२॥)
१२८ देवीदयाल जी फर्रुखावाद १।)
७५३ दीवानचन्द जी नाहन १।)
६७४ नाथाभाई-भानाभाईजी सूरत १।)
७९५ कुं० श्यामलालसिंहजी सिहौर १।)
७१४ शिवसिंह जी जालन्धर १।)
१०२० झब्बूलाल जी विन्ध्यानगर १।)
४३३ युगलकिशोर जी रुहतक २॥)
८१३ प्रेमराज जी नयनीताल १।)
४५६ जयदेवभगीरथ नयनीताल १।)
२९ पं० रमादत्त जी नयनीताल १।)
५३२ दशरथराम जी हाजीपुर १।)
७९९ मुलकदेशराज हि० ई० पु० शाहपुर १।
४१८ लक्ष्मणप्रसाद जी मुड़वाड़ा १)
२९६ काशीराम जी मुलतान १।)
१०२३ विहारीलाल जी रुस्तमपुर १)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११। १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(गत अंक पृ० १४९ से आगे त्रयीविद्या का विचार)

णयोर्वेदनामधेयम् ” इति । सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येणापि तदेवापस्तम्बीयलक्षणमवलम्ब्यैव प्रपञ्चितमृग्भाष्यभूमिकायां बहुधैव,सिद्धान्तितं चैतत्तत्रैव“मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः” उक्तं च भगवता जैमिनिमुनिनापि तथैव, तदनु श्लोकितं च सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायां षड्गुरुशिष्येण तथाहि—

मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते ॥
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि ।
विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ॥
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ।
ऋक्पादबद्धो गीतस्तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः ॥
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ।

वदरशून्यइत्यादौ मन्त्र त्रैविध्यमुच्यते ॥

सर्वैर्ब्रह्मेति सूत्रेऽपि चतुर्भिरिति निर्णयः ।
* प्रस्तुतर्कादिति वाचि त्वो वा मन्त्रे सूत्रकारणे ॥
ऋग्रूपमन्त्रबाहुल्यादृग्वेदः स्यात्तथेतरौ ।
शान्तिपुष्ट्यादिकब्रह्मवर्गप्रणवविद्यया ॥
ऋचां च यजुषां तुर्यो बाहुल्येन विधायकः ।
एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः ॥
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ।
नवाध्वाथर्वणोऽन्येतु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम् ॥

एतेन खलु सर्वेषामेव वेदानां सर्वविधस्वरूपाण्युक्तान्येव समासतस्तेन धीमतैवेत्यत्रास्माकं नैव किंचिद्वक्तव्यमस्त्यवशिष्टम् । विशेषतस्तु जिज्ञासायां वेदविषयनिर्णयायैवोत्पन्नं सुमहद्दर्शनशास्त्रं जैमिन्यादिभिर्महात्मभिः प्रपञ्चितं मीमांसासूत्रादिकमेव सुधीभिर्द्रष्टव्यमित्यलं चर्वितचर्वणेन वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वादिविचारेणेति ॥ (सत्यव्रत के संस्कृत का आशयः—)

भाषार्थः—बौधायन ने मन्त्र और ब्राह्मण को वेद का स्वरूप माना और आपस्तम्ब सूत्रकार ने यज्ञपरिभाषाप्रकरण में स्पष्ट कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है । और सब वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने भी उसी आपस्तम्बीयसूत्रकृत लक्षण का आश्रय लेकर ही दोनों का वेद होना बहुधा लिखा है । और वहीं यह सिद्धान्त किया है कि मन्त्रब्राह्मणरूप शब्दसमुदाय वेद है । और जैमिनिमुनि जी ने भी मीमांसाशास्त्र में दोनों को ही वेद माना है । इसी के अनुसार सर्वानुक्रमणी पुस्तक की वृत्ति बनाने वाले षड्गुरुशिष्य ने अपनी भूमिका में श्लोकों में वर्णन किया है—यथा—

महर्षि लोग मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहते हैं । कर्म में जिस का विनियोग किया जाय कि इस मन्त्र से यह काम करना चाहिये वह मन्त्र, और विधि और अर्थवाद को दिखाने वाले भाग को ब्राह्मण कहते हैं । और

* यथा लिखितं विन्यस्त मशुद्धं तु प्रतीयते

मन्त्र तीन प्रकार के माने गये हैं १ ऋक् २-यजुः ३ साम, चारों वेद में ये तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं इसी से वेदत्रयी कहते हैं। पादव्यवस्था सहित मन्त्रों का नाम ऋक्, गाने की प्रक्रिया में लाये हुए मन्त्र साम और गद्य रीति से पढ़े मन्त्र यजुः कहाते हैं। जहां वेद की रचना का भेद दिखाने से प्रयोजन है वहां तीन वेद लिखे वा माने और जहां पुस्तक वा संहिताओं से प्रयोजन है वहां चार वेद लिखे गये हैं। जिस संहिता में ऋक्रूप मन्त्रों की अधिकता है उस का नाम ऋग्वेदसंहिता और इसी प्रकार यजुर्वेदादि में भी जानो। इक्कीश ऋग्वेद की, एक सौ यजुर्वेद की, एक हजार सामवेद की, तथा नव वा पन्द्रह अथर्ववेद की शाखा मानी जाती हैं इस पूर्वोक्त लेख में वेद के कई प्रकार के लक्षण दिखा दिये गये इस कारण विशेष लिखना व्यर्थ है। वेद वा वेद के विशेष वाचक पदों के लक्षण जिन को विशेष जानने इष्ट हों वे लोग पूर्वमीमांसादि में देख लेवें।

परन्त्वस्त्यत्रैतदालोच्यम्-आपस्तम्बादिमतानुगाः सायणाचार्यादयस्तु मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वं चिरात् सिद्धमिति मन्यन्ते। केचित्त्वाधुनिका ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र 'यएवं वेद' इति दर्शनादेव प्रथमं तावद् ब्राह्मणानामेव वेदाख्या प्रचलिता ततः कालक्रमेण मन्त्रेष्वपि सा उपचरितेत्याहुः। वयन्तु तदुभयोरेव विपरीतं ब्रूमः-पुरासीत् विद्याऽपरपर्याय एवायं वेदशब्दः, तथा यतश्च सर्वासामेव विद्यानां निधानानीमे मन्त्राः प्रदृष्टा अतो मन्त्रकालएव त्रिविधानां मन्त्राणां वाचकः सम्पन्नो वेद इति। ततो ब्राह्मणकाले ब्राह्मणेष्वपि ग्रन्थेषु मन्त्रमात्रपरएव व्यवहृतो वेदशब्दः। पश्चात् सूत्रकाले तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव विद्यानिधानत्वेनादरातिशयस्थितेरुभयोरेव बोधकः सञ्जातो वेदइति तदत्र त्रयः पक्षाः सम्पद्यन्ते-(१)मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोर्वेदत्वम्। (२) ब्राह्मणग्रन्थानामेव मुख्यं वेदत्वम्। (३) सर्वविद्यानिधानानां हि मन्त्राणामेव वेदइति व्यवहारो मुख्योऽतिपूर्वकालिक-

श्चेति । अथैषां कतमः पक्षो ज्यायानिति पूर्वापरदर्शिभिर्माध्यस्थ्यधिषणावद्भिरेव समालोच्यताम् ॥

भा०-परन्तु इस विषय में यह विवेचन करना है कि--आपस्तम्बादि के मतानुयायी सायणाचार्यादि तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का वेद होना प्राचीन काल से ही सिद्ध हुआ मानते हैं और कोई२ आधुनिक लोग ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'य एवं वेद' ऐसा पाठ देखने से ही "पहिले ब्राह्मणग्रन्थ ही वेदपदवाच्य हुए पीछे धीरे२ मन्त्रभाग में भी वेदशब्द का व्यवहार हुआ" ऐसा कहते हैं परन्तु हम (सत्यव्रत) उन दोनों से विपरीत कहते हैं-पूर्वकाल में जबतक ब्राह्मणादि पुस्तक नहीं बने थे तब विद्या का पर्यायवाची ही वेदशब्द था अर्थात् वेद वा विद्या दोनों पद से एक ही वस्तु मन्त्र संहिता समझी जाती थी और उस समय के महर्षि लोगों ने जिस कारण सब विद्याओं के भण्डार मन्त्रों को देखा इस से मन्त्रकाल में ही तीन प्रकार के मन्त्रों का वाचक वेदशब्द सिद्ध हुआ । तत्पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थों के बनने पर ब्राह्मणग्रन्थों में भी मन्त्रमात्रपरक ही वेदशब्द का व्यवहार रहा किन्तु सूत्रकाल में कुछ व्याख्या के लिये पढ़े मन्त्रों के होने और ब्राह्मणोपनिषदादि में कुछ रचना मन्त्रों कीसी ही होने से ब्राह्मणों को भी वेद कहने लिखने वा मानने की परम्परा चली अर्थात् मन्त्रों के तुल्य विद्या का कुछ अंश ब्राह्मणों में प्रतीत होने से ब्राह्मणों को भी पीछे वेद मानना आरम्भ हुआ । पश्चात् जब सूत्ररूप ग्रन्थ बनने लगे तब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही को विद्या का भण्डार होने से अतिप्राचीन मान के अत्यन्त आदर देने के लिये वेद का व्यवहार प्रचलित हुआ अर्थात् आपस्तम्बादि सूत्रकारों ने वेद विद्यासम्बन्धी अंश देख कर वेद के तुल्य आदर वा प्रतिष्ठा होने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कहा । सो यहां तीन पक्ष खड़े होते हैं एक तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का वेदहोना, द्वितीय ब्राह्मण ग्रन्थों का ही मुख्यकर वेद होना, तृतीय सब विद्याओं के भण्डार मन्त्रों का ही अतिपूर्व काल से मुख्यकर वेद पद से व्यवहार होना । अब इन तीनों में कौन पक्ष उत्तम है यह पूर्वापर दृष्टि रखने वाले मध्यस्थ बुद्धि वाले मनुष्यों को विवेचन करना चाहिये ॥

सम्पादक-हमारी सम्मति में आपस्तम्बादि के मतानुयायी सायणाचार्यादि

नहीं क्योंकि सायणाचार्यादि ने मन्त्रों और ब्राह्मणों को समान ही वेदत्व माना

है क्योंकि आपस्तम्ब ने यज्ञपरिभाषा विषय में दोनों को वेद माना तो सब प्रसंगों में दोनों का वेद होना सिद्ध नहीं होता । और उन लोगों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की विशेष प्रशंसा जताने के लिये जब कहीं २ वेद कहा तो यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों का वेद होना सब को अभीष्ट नहीं था । जब सायणाचार्यादि ने आपस्तम्बादि का ठीक २ आशय नहीं जाना तो वे लोग आपस्तम्बादि के मतानुगामी नहीं हो सकते ॥

श्रूयते हि शुक्लयजुषि मन्त्रएव त्रयीपरो वेदशब्दः—"वेदे'न रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः (१९।१८)" इति । "प्रजापतिः सुतासुतौ सुतासुतयोः रूपे वेदेन ज्ञानेन त्रय्या विद्यया वा व्यपिबत् विविच्य पीतवान् । सुतः—सोमः, असुः—पयः परिस्रुच्च" इति च तस्यैव व्याख्यानं भाषितं महीधरेण । तदत्र वेदेनेत्यस्य द्विविधोऽर्थः कृतो दृश्यते—ज्ञानेन, त्रय्या विद्ययेति च । तत्र द्वितीयार्थएव युक्ततरोऽस्माकम् मूले 'वेदे'न' इत्याद्युदात्तश्रवणात् । अस्ति हि वेदशब्दः उञ्छादिगणे (६।१।१६०) पठितः करणव्युत्पाद्यो यौगिकोऽन्तोदात्तः । अस्ति चापरो वृषादिगणे (६।१।२०३ पा०सू०) पठितस्त्रय्यां रूढः आद्युदात्तो वेदइति । अतएव ऋक्संहितायां श्रुतस्य " यः समिधा (६।१।५) " इति मन्त्रस्य व्याख्याने भाषितं सायणाचार्येण 'वेदेन—वेदाध्ययनेन'—इति । तैत्तिरीयसंहितायामप्येवमस्ति त्रयीपरो वेदशब्द आद्युदात्तः (७।५।११।२) । अथैवाथर्वणिका अप्यसकृदामनन्ति संहितायामेव त्रयीपरं वेदशब्दम् । तथा हि—"यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् (४।७।५।६) " इति । बुध्यतएवात्र हि वेदा इत्यस्यार्थ ऋगादय इति तथा तत्रैवोनविंशकाण्डेऽपि त्रिशः श्रुता वेदशब्दस्त्रयीपरएव । तदेवं सर्वसं-

हितास्वेव त्रयीपरो वेदशब्दो विश्रूयतएव ॥

भा०—शुक्लयजुर्वेद के मन्त्र में ही वेदशब्द त्रयी-(ऋक् यजुः, साम) का वाचक आया है (पाठक महाशयों को ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण में सर्वत्र त्रयीशब्द से ऋक् यजुः साम नामक मूल तीन वेदों का ग्रहण करना अभीष्ट है इसी लिये त्रयीशब्द का अर्थ वार २ न लिखेंगे) (वेदेन० यजु० १९। १८) इस मन्त्र की व्याख्या में महीधर ने लिखा है कि "प्रजापति ने सोमरस और दुग्ध वा जलरस के रूपों को वेद नाम ज्ञान वा त्रयीविद्या से विवेचन करके पिया„ यहां महीधर ने वेदशब्द का दो प्रकार का अर्थ किया है एक ज्ञान द्वितीय त्रयीविद्या इन में वेद का त्रयी अर्थ करना हम (सत्यव्रत) भी ठीक समझते हैं क्योंकि मूल में (वेदेन) ऐसा आद्युदात्त वेदशब्द पढ़ा है और पाणिनीयव्याकरण के अनुसार वेदशब्द के दो अर्थ होते है और उस में दो प्रकार का स्वर होता है (६ । १ । १६०) पाणिनिसूत्र के गणपाठ में पढ़ा वेदशब्द करणकारक में व्युत्पन्न हुआ यौगिक अन्तोदात्त है । और (६ । १ । २०३) सूत्र के गणपाठ में पढ़ा वेदशब्द त्रयी का वाचक योगरूढि आद्युदात्त है । इसी के अनुसार ऋग्वेदसंहिता (६ १ । ५) में आये वेदशब्द का अर्थ सायणाचार्य ने त्रयी किया है अर्थात् ऋग्वेद में भी आद्युदात्त वेदपद त्रयी का वाचक है । तैत्तिरीय कृष्णयजुःसंहिता में भी आद्युदात्त वेदशब्द त्रयी का वाचक आया है । तथा अथर्ववेदसंहिता में भी अनेक स्थलों में अनेक वार वेदशब्द त्रयी का वाचक पढ़ा गया है जैसे (यस्मिन्वेदा० ४ । ७ । ५ । ६ अथर्व०) यहां वेदशब्द त्रयीवाचक है क्योंकि वेद कहने से ऋगादिवेद लियेजाते हैं । तथा अथर्ववेद के उन्नीशवें काण्ड में भी तीनवार आया वेदशब्द त्रयी का वाचक ही है । इस प्रकार सभी वेदसंहिताओं में वेदशब्द मन्त्ररूप मूल तीन वेद का वाचक आता है । इस से सिद्ध हुआ कि पहिले मन्त्रभाग का ही नाम वेद था ब्राह्मणादि का नाम वेद नहीं था ॥

एवं ब्राह्मणेष्वपि सर्वत्र श्रूयतएव वेदस्त्रयीपरः । तथा हि ब्रह्मब्राह्मणे "त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेदएवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान्वेदानभ्यतपत् (ऐ० ब्रा० ५।५।६)" इति । एवमन्यत्रान्यत्र च तत्रैव (६।१५।७।१८) तैत्तिरीयब्रा-

ह्मणेऽपि तृतीयकाण्डे (१०।११।४) श्रूयतएव त्रयीपरो वेदशब्दः। तथा छान्दोग्यब्राह्मणे च–" स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् (९।१।२) " इत्यादि । अथर्वब्राह्मणेऽपि–"इमे सर्वे वेदाः (गो०ब्रा०१।२९)" इत्यादि । तदेवं सर्वब्राह्मणेषु च त्रयीपरो वेदशब्दः श्रूयतएव ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी सर्वत्र वेदशब्द त्रयी का वाचक मिलता है । ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि तीन वेद उत्पन्न हुए–अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद आदित्य से सामवेद इत्यादि । इसी ऐतरेय ब्राह्मण के अन्य स्थलों में भी त्रयीवाचक वेदशब्द आया है । तथा यही तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में भी लिखा है। छान्दोग्य ब्राह्मण में लिखा है कि "वह बोला कि मैं ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को पढ़ा हूं इत्यादि । अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में भी यही लिखा है इस प्रकार सब ब्राह्मण पुस्तकों में वेदपद त्रयीवाचक आता है ॥

अत इदानीं वक्तुं शक्यतएवैतत्–सर्वसंहितास्वेव त्रयीपरवेदशब्ददर्शनमेव प्रमाणयति, आसीन्मन्त्रकालेऽपि केवलमन्त्राणामेव वेदइति व्यपदेशः । तदापि मन्त्रव्याख्यानार्थकानां ब्राह्मणग्रन्थानामनाविर्भावात् । प्रदर्शितब्राह्मणवाक्यानि च तदेव द्रढयन्ति । ऋगादिशब्दानां मन्त्रेष्वेव मुख्यशक्तेः । अतएवोपपद्यन्ते तत्र गोपथे " इमे सर्वे वेदाः " इत्यत्र विशेषणानि " सब्राह्मणाः" प्रभृतीनि । निरुक्ते ये चार्थज्ञप्रशंसनाय शाखान्तरीयमन्त्रा उद्धृता यास्केन तत्र च श्रूयते त्रयीपरएवाद्युदात्तो वेदशब्दः "अधीत्य वेदम्" इति तस्माच्च ज्ञायते मन्त्रकालएव मन्त्रार्थको वेदशब्द आसीत् प्रसिद्धइति । यास्कः स्वयं चाह सुव्यक्तम् "कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" (नि०भा०२पृ०२४)इति स च कर्म्मस-

स्पत्तिर्मन्त्रः क्वास्ति ब्राह्मणेषु संहितासु वा ? संहितास्वेति चेदु्दि-तोऽपि स्फुटं व्यज्यते संहितार्थएव वेदशब्दोऽभिमतः खलु निरुक्तकारस्यैतस्य यास्कस्यापीति ॥

इस कारण हम यह कह सकते हैं कि सब संहिताओं में त्रयीवाचक वेदशब्द का होना ही सिद्ध करता है कि ब्राह्मणग्रन्थ बनने से पूर्व मन्त्र के समय में वेदशब्द से केवल मन्त्रों का ही व्यवहार होता था क्योंकि उस समय मन्त्रों के व्याख्यानार्थ हुए ब्राह्मण पुस्तक नहीं बने थे। और पूर्वलिखे ब्राह्मणवाक्य भी यही बात दृढ़ करते हैं कि ऋक् आदि शब्द मुख्यकर मन्त्रों के ही वाचक हैं इसी से गोपथ के साथ ब्राह्मणमें "सब वेद, ब्राह्मणों सहित" कहने का विशेषण घटता है यदि सब वेद कहने से ब्राह्मण भी आजाते तो ब्राह्मणों सहित कहना व्यर्थ हो जाता। (जैसे कोई कहे कि धनञ्जयसहित सब विद्यार्थियों को बुलाओ तो सिद्ध होगा कि धनञ्जय विद्यार्थी नहीं इसी प्रकार यहां भी जानो।) निरुक्त में जो वेदार्थ जानने वाले की प्रशंसा के लिये शाखान्तरों के मन्त्र (स्थाणुरयं०) इत्यादि लिखे हैं। वहां भी (अधीत्य वेदम्) वाक्य में त्रयीवाचक वेदशब्द आद्युदात्त लिखा है इस से भी प्रतीत होता है कि मन्त्रकाल में ही मन्त्रार्थवाचक वेदशब्द प्रसिद्ध था। निरुक्तकार यास्कऋषि ने स्पष्ट लिखा है कि कर्मसिद्धि का हेतु मन्त्र वेद में है। जब मन्त्र संहिताओं में ही हैं ब्राह्मणों में नहीं तो इससे भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि निरुक्तकार यास्कऋषि को भी संहिता का वाची ही वेदशब्द अभीष्ट था ॥

वस्तुतो ज्ञानार्थस्य लाभार्थस्य वा विदधातोरेव रूपं वेद इत्युक्ते विद्यैव तस्यार्थः फलति। अनन्ताश्च विद्या इह जगति सन्ति चिररात्राय, ततएव वेदस्य सनातनत्वमनन्तत्वं च मन्यन्ते आर्याः। आदिसभ्यकाले चात्र भारते ये ऋषयः प्रादुर्बभूवुः। आसन्नेव ते विविधविद्याविभूषणाः साक्षात्कृतधर्माणः। अतएव तैर्दृष्टा मन्त्रास्तत्कालादेवोच्यन्ते वेदाइति। तदेवं मन्त्रेष्वेव वेद-शब्दस्य मुख्या शक्तिः, ब्राह्मणानान्तु यथा ऋगादिलक्षणाभावेऽपि

तत्तद् व्याख्यानार्थतया तत्तन्नाम्ना व्यवहारः, तथैव वेदनाम्नापीति

वेदशब्दस्य तत्र वृत्तिस्त्वौपचारिक्येव । तथाह्यामनन्ति तैत्तिरीयाः—"अनन्ता वै वेदाः"—इत्यादि (तै० ब्रा० ३ । १० । ११ । ३ । ४) इति ॥ छान्दोग्येऽपि श्रूयतएव वेदार्थो विद्याशब्दः । तथाहि—"स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्,, इत्यादि (१ । १७ । १-१०) एवं तत्रैवान्यत्रान्यत्रापि (४ । २१ । १, २३, २) तदेवं वेदस्य विद्याऽपरपर्यायत्वं स्फुटमेव । अतः सुष्ठूक्तमस्माभिः पुरासीत् विद्याऽपरपर्याय एवायं वेदशब्दः—इत्यादि । तथा सम्भाव्यते चैष पक्षो युक्ततम एवोपन्यस्तो मन्त्रेष्वेव वेदशब्दस्य मुख्या वृत्तिरिति । आपस्तम्बादिसूत्रारम्भकाले तु ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदत्वं व्यपदिष्टम् । ततः प्रभृतिसिद्धमेव "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति । ततएव मनुसंहितादावपि "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः (२ । १६५) " इत्यादिषु वचनेषूभयोरेव ग्रहणमवगम्यते । अतएवोक्तं संगच्छते "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्त्तते यज्ञइतीयं वैदिकी श्रुतिः (२ । १५) " इति । "उदिते जुहोति" इत्यादिविधयस्तु ऐतरेयादिब्राह्मणेष्वेव श्रूयन्ते (५ । ५ । ४, ५, ६) तथा "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (म० सं० २ । १०) " इत्यत्र च श्रुतिलक्षणे मन्त्राणां ब्राह्मणानां च ग्रहणमिष्टं तस्येत्यपि प्रतीयतएव, ज्ञायते च तथा श्रुतिरिति वेदस्यैव नामान्तरमिति ॥

भावार्थः—वास्तव में ज्ञानार्थ वा लाभार्थ विद् धातु से ही वेदशब्द सिद्ध होता है ऐसा कहने पर वेद का आशय विद्या ही ठहरती है । और इस जगत् में दीर्घकाल से अनन्तविद्या हैं इसी कारण आर्य लोग वेद का वा विद्याओं का सनातन होना तथा अनन्त होना मानते हैं । पहिले सभ्य समय में इस भारतवर्ष में जो ऋषि लोग हुए वे नानाप्रकार की विद्याओं से विभूषित धर्म को साक्षात् करने वाले अवश्य थे इसी कारण उन लोगों के देखे वा जाने हुए मन्त्र

उसी समय से वेद कहे जाते हैं । सो इस प्रकार वेदशब्द मुख्य कर मन्त्रों का ही वाचक है । और ब्राह्मणग्रथों में जैसे ऋक् आदि के लक्षण न मिलने पर भी उस२ ऋक् आदि का व्याख्यानार्थ होने से उस२ ऋक् आदि के नाम से व्यवहार होता है वैसे ही वेद नाम से भी गौणप्रकार ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होगा अर्थात् वेदशब्द मुख्यकर मन्त्रों का ही नाम है पीछे ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद के तुल्य उत्तम मान कर वेद कहने लगे । तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है कि वेद अनन्त हैं । जब वेद के पुस्तक अनन्त नहीं हो सकते तो वेद पुस्तकों से सम्बन्ध रखने वाली विद्या का ही वेदशब्द से अनन्त कहना ठीक बन सकता है । छान्दोग्य में भी वेदार्थवाची विद्या शब्द आया है सो इस प्रकार वेद और विद्याशब्दों का पर्यायवाची होना स्पष्ट ही सिद्ध है इस कारण हमारा कहना बहुत ठीक है कि पहिले विद्या का पर्यायवाची वेदशब्द था इत्यादि । तथा यह पक्ष भी ठीक ही सम्भवित है कि मन्त्रों में ही वेदशब्द की मुख्य वृत्ति है । और आपस्तम्बादि सूत्र बनने के समय ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद कहना प्रचलित हुआ तब से लेकर सिद्ध हो ही गया कि मन्त्र ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है । तिस से पीछे मनुस्मृति आदि में भी " सम्पूर्ण वेद पढना चाहिये " इत्यादि वचनों में दोनों का ग्रहण प्रतीत होता है । ऐसा होने पर ही अगला कथन ठीक बन जाता है कि " सूर्योदय से पहिले सूर्योदय होने पर वा उदय होते ही होम करे" सो "उदिते जुहोति" इत्यादि वचन ऐतरेयादि ब्राह्मणों में ही हैं किन्तु मन्त्रसंहिताओं में नहीं तथा "श्रुति को वेद जानो" यहां श्रुति के लक्षण में भी मन्त्रब्राह्मण दोनों का ग्रहण मनु को अभीष्ट है यह भी प्रतीत होता है और जान भी पड़ता है कि श्रुति वेद का ही नामान्तर है ॥

सम्पादक—हमारे पाठक लोग यह न समझ लेवें कि त्रयीविद्या के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके अन्य कुछ लिखने लगे किन्तु यह सब त्रयीविद्या के मुख्य व्याख्यान को पुष्ट करने के लिये सत्यव्रत सामश्रमी के वेदविषयक व्याख्यान का अनुवाद है । जहां कुछ मैं (भी० श) अपनी ओर से लिखता हूं वहां सम्पादक शीर्षक देकर लिखा है । और ऐसा ही आगे दूर तक लेख चलेगा ॥

यद्यपि पूर्व के लेख में कुछ विशेष सम्मति लिखना आवश्यक नहीं तथापि इतना वक्तव्य है कि वेद और विद्याशब्द सब अंशों में एकार्थवाची नहीं हैं

किन्तु वेदशब्द कहीं २ विद्या का पर्यायवाची पहिले लिया जाता था वहां भी वेदपुस्तकस्थ विद्याओं का ही ग्रहण होता था। और कहीं वेदशब्द मन्त्रसंहितारूप पुस्तकों का वाचक भी लिया जाता था। परन्तु अब लोक व्यवहार में विद्याशब्द वेद का पर्यायवाची नहीं लिया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि वेदशब्द विद्या का पर्याय होगा तब भी उस से वेदपुस्तकस्थ विद्या ही ली जायगी और विद्याशब्द से जहां कहीं वेदपुस्तकस्थ विद्या ली जायगी वहीं वेद, विद्या दोनों एकार्थ होंगे और कहीं विद्याशब्द से सामान्य ज्ञान लिया जायगा। इस प्रकार इन दोनों में भेद भी रहेगा। मनुस्मृति में भी वेद वा श्रुतिशब्द सर्वत्र मन्त्रब्राह्मण दोनों के वाचक नहीं किन्तु कहीं २ यज्ञादि के विधान में वेद के तुल्य कार्य साधक होने से ब्राह्मणों को भी गौणभाव से वेद मान लिया है। "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इस श्लोक में वेदपद से यदि मनुजी को मन्त्रब्राह्मण दोनों का ग्रहण इष्ट होता तो रहस्य नाम उपनिषद् भी ब्राह्मणों के अन्तर्गत आ जाते फिर सरहस्य विशेषण निरर्थक हो जाता इस से सिद्ध हुआ कि वेद करके दोनों का ग्रहण मनु कर्त्ता को सर्वत्र इष्ट नहीं है। तथा पठनपाठनविषय में वेदशब्द से वा ऋगादि विशेष शब्दों से सर्वत्र मन्त्रसंहिताओं का ही ग्रहण होगा क्योंकि पठनपाठन में अब तक भी संहिताओं के पढ़ने की परिपाटी बनी है किन्तु उन २ के ब्राह्मण स्वाध्याय में नहीं लिये जाते। "वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च (४।१२३)" यहां वेद से भिन्न आरण्यक कहने से सिद्ध है कि वेदशब्द से आरण्यक का भी ग्रहण नहीं होता। इस से सिद्ध है कि मनुसंहिता में भी वेदपद से मुख्यकर प्रायः मन्त्रसंहिताओं का ही ग्रहण है।

(श्रुतिः) श्रवणात् श्रुतिरित्याख्या। "श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे (पा० ३।३।९५ वा० २)" इति निष्पादितः श्रुतिशब्दस्तु श्रवणेन्द्रियपरः। इहतु "स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४)" इति भावार्थएव क्तिन्निष्टः। एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण,—कोऽपि कदापि एकस्यापि मन्त्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथमपि न समर्थः। अतएव वाद्यादिवदनादिरपौरुषेयश्चेति स्तूयत एवायमिति वृद्धाः। स एष श्रुतिशब्दो वेदपरो न व्यवहृत

आसीन्मन्त्रकाल, मन्त्रसंहितासु क्वचिदपि वेदार्थश्रुतिशब्दस्य दर्शनाभावात् । अपि तु ऐतरेयादिब्राह्मणप्रचारात्पुरैव गाथाकाले व्यवहृतो भावसाधनः प्रवादपरः । तथाह्यैतरेयकम्—"तस्माद-पत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत् । तदेषाभियज्ञगाथाभिगीयते—'यजे-त्सौत्रामण्यामपत्नीकोऽप्यसोमपः । मातापितृभ्यामनृणाद्यजेति वचनाच्छ्रुतिः, इति तस्मात्सौम्यं याजयेत् (ऐ० ब्रा० ७। १। ९)" इति । तामिमां यज्ञगाथामवलम्ब्यैवाख्यातं ब्राह्मणम्—"तदा-हुर्वाचाऽपत्नीकोऽग्निहोत्रं०—०स्वर्गाल्लोकान् जयन्तीति (७ । १ । १०)" इति । तदेवमादीनां दर्शनादिदमपि व्यक्तम्—आदौ म-न्त्रकालः, ततस्तेषां यज्ञादिषु व्यवहारकालः, ततस्तादृशप्रवा-दश्रुतिकालः, ततो गाथाकालः, ततश्च ब्राह्मणकालः, गाथामूला-न्येव हि बहूनि ब्राह्मणवचनानि श्रूयन्त इति ॥ सएष प्रवादा-र्थएव श्रुतिशब्दो ब्राह्मणकालादनन्तरमेव मन्त्रब्राह्मणयोर्व्यव-हर्तुमारब्धः, ततएवैतन्निरुक्तत्रयोदशाध्यायान्ते दृश्यते—"सेयं विद्याश्रुतिमतिबुद्धिः (४ भा० ३६ पृ०)" इति तथा स्मर्यते च मन्वादिभिः—"श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः (२ । ९)" इति । "उदितेऽनुदिते चैव समया ध्युषिते तथा । सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः २ । १५" इत्यादि च । वेद-स्यानुश्रवनाम्नापि श्रुतिमूलकमेव । तथाहि—"दृष्टवदानुश्रविकः" इतीश्वरकृष्णीयसांख्यकारिकाव्याख्यानावसरे व्युत्पादितमेवं वा-चस्पतिना—"गुरुमुखादनुश्रूयतइत्यनुश्रवो वेदः" इति ॥

श्रुति—जिस से सुने वह श्रुति है ऐसे अर्थ में पाणिनि सूत्र (३ । ३ । ९५) स्य वार्त्तिक से सिद्ध हुआ श्रुतिशब्द श्रोत्र इन्द्रिय का वाचक है और (३ । ३ । ९४) सूत्र

से भावार्थ में क्तिन्प्रत्यय हो कर वेदवाचक श्रुतिशब्द बनता है । यह वेद गुरु परम्परा के साथ दीर्घ काल से सुना ही जाता है किन्तु कभी कोई एक मन्त्र के भी बनने के समय को किसी प्रकार निर्णय नहीं कर सकता। इसीलिये यह वेद वायु आदि के तुल्य अनादि अपौरुषेय है ऐसी स्तुति की जाती ऐसा पूर्वज वृद्ध लोग मानते आये हैं। सो यह श्रुति शब्द मन्त्रकाल में वेद का पर्यायवाची नहीं लिया जाता था क्योंकि मन्त्रसंहिताओं में वेद अर्थ का वाची श्रुतिशब्द कहीं भी नहीं दीखता । किन्तु ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों का प्रचार होने से पहिले गाथा के समय में (जब वेदार्थसम्बन्धी विषय कहानियों के तौर पर ब्राह्मणपुस्तक बनने से पहिले प्रचरित थे) प्रवाद (कहावत) के वाची भावसाधन श्रुतिशब्द का व्यवहार होता था सो ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि "सो यह यज्ञविषयक गाथा चली आती है कि, सौत्रामणी यज्ञ में सोमपान न कर के पत्नी के विना ही यज्ञ करे, इत्यादि। इस यज्ञगाथा का आश्रय लेकर ही आगे २ ब्राह्मणग्रन्थ में वर्णन किया है। इत्यादि बातों के दीखने से यह भी प्रकट होता है कि सब से पहिला मन्त्रकाल, तदनन्तर उन मन्त्रों का यज्ञादि में व्यवहार होने का दूसरा काल तदनन्तर यज्ञादि में जैसा व्यवहार होता था उसी के अनुकूल कहावतों का प्रचार-रूप प्रवाद वा श्रुतिकाल, तत्पश्चात् गाथाकाल और गाथाकाल के पश्चात् ब्राह्मण पुस्तक बने तब उन के प्रचार का समय हुआ क्योंकि गाथा जिन का मूल है ऐसे अनेक ब्राह्मण पुस्तकों के लेख सुनने में आते हैं। सो इस प्रवादवाची श्रुतिशब्द का ब्राह्मणग्रन्थ बनने पश्चात् ही मन्त्रब्राह्मण दोनों में व्यवहार करना प्रारम्भ हुआ । उसी से निरुक्त के तेरहवें अध्याय के अन्त में यह लिखा है कि "सो यह विद्या,श्रवण मनन के पश्चात् जानी जाती है। और मनुस्मृति में भी प्रवादार्थ श्रुतिशब्द मन्त्रब्राह्मण का वाचक ही आता है । वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुति मूलक ही है । गुरु मुख से उच्चारण हुए पश्चात् सुना जाता है इस लिये अनुश्रव वेद का नाम है यह वाचस्पति ने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका के व्याख्यान में लिखा है । अर्थात् परोक्षार्थ जिस से सुना जाय वह अनुश्रव है।

लौकिकप्रवादवाक्यानामपि श्रुतित्वव्यवहारो दृश्यते बहुत्र। तदेवं यस्य कस्यचिद्वचनस्य प्रचारकालस्यादिर्न निर्णीयते-कदा केन कथितमिति, यदि न प्रामाणिकतया गुरुपरम्परयोप-

देशो लभ्यते, तत् किल वैदिकं वा लौकिकं वा वचनं श्रुतिरित्युच्यते। कल्पयन्ति चानुमितश्रुतीः मन्वादिभिर्वेदविद्भिर्विहितानां विधीनां मूलानि स्मार्त्तग्रन्थेषु। वेदार्थस्मरणमूलकत्वादेव च तेषां स्मृतित्वाख्यानात्। तदेवं यस्य च प्रामाणिकस्मृतिवचनस्य मूलं वैदिकवचनं साक्षान्नोपलभ्यते, तस्य मूलं तादृशवैदिकवचनं कल्पनीयं भवति, तत् कल्पितवचनमपि श्रुतिरिति व्यवहृतं रघुनन्दनादिभिः। वस्तुतः श्रुतिकल्पनारीतिस्त्वयुक्तैव मीमांसाधिकरणमालायाम्—"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इति विधानमनुसृत्य 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इति विधेर्लोभमूलकत्वेनाप्रामाण्यख्यापनात्। तदेवं मन्त्रभागानां श्रुतित्वं तु सर्ववादिसम्मतम्; ब्राह्मणभागानां श्रुतित्वं च मन्वादिभिः स्वीकृतमेव। प्रवादवाक्यानां लौकिकानां च श्रुतित्वं व्यावहारिकं दुर्बलम्, कल्पितश्रुतयोऽपि सन्ति रघुनन्दनादीनामिति श्रुतिचातुर्विध्यं सुस्थिरमिति॥

और लौकिक प्रवाद वाक्यों को भी श्रुति कहते हैं लोक में साधारण लोग जिस को कहावत कहते उस को संस्कृत में श्रुति वा जनश्रुति कहते हैं। सो इस प्रकार जिस किसी वचन के प्रचार समय का आदि काल निश्चित न हो कि कब किसने यह कथन किया किन्तु प्रामाणिक होने से गुरु शिष्य की परम्परा से जिस का उपदेश प्राप्त होता रहे वह चाहै वैदिक वचन हो वा लौकिक हो श्रुति कहा जाता है। वेदवेत्ता मन्वादि महर्षियों के प्रणीत विधिवाक्यों का मूल, वेद में जब प्रत्यक्ष नहीं दीखता तब अनेक विद्वान् लोग उन विधिवाक्यों की मूल अनुमित श्रुतियों की कल्पना करते हैं और मानते हैं कि वेदार्थ का स्मरण करना ही मन्वादि प्रणीत धर्मशास्त्रों का मूल होने से वे ग्रन्थ स्मृतिपदवाच्य कहाते हैं। सो जिस प्रामाणिक स्मृतिवचन का मूल वैदिक वचन साक्षात् उपलब्ध नहीं होता उस को मूल वैसा ही वैदिक वाक्य कल्पना कर

लेना चाहिये । उस कल्पित वचन का भी रघुनन्दनादि ने श्रुति पद से व्यवहार किया है । पर वास्तव में श्रुतिकल्पना की रीति अयुक्त ही है । मीमांसाधिकरणमाला में लिखा है कि कल्पितवचन लोभादि दोषग्रस्त होसकने से प्रमाण कोटि में नहीं लिया जा सकता । सो इस प्रकार मन्त्रभागों का श्रुति होना तो सर्वसम्मत है तथा ब्राह्मणभागों का श्रुति हाना भी मन्वादि ने स्वीकार ही किया है और लौकिक कहावतों का श्रुतिपदवाच्य होना व्यवहाराधीन निर्बल है और रघुनन्दनादि के मत में कल्पित श्रुति भी हैं इस रीति से चार प्रकार की श्रुति होना ठीक ठहरता है ॥

सम्पादक--श्रुतिशब्द जो वेद का वाचक प्रसिद्ध है उस को आज कल के संस्कृतज्ञ पण्डित लोग ब्राह्मणवाक्यों के साथ ही प्रायः लगाते और मानते हैं अनेक लोग यह सिद्धान्त ही कर बैठे हैं कि श्रुतिपद ब्राह्मणग्रन्थस्थवाक्यों का ही वाचक है सो यह उन की बड़ी भूल है क्योंकि ऐसा होने पर ब्राह्मण पुस्तक बनने से पहिले श्रुतिशब्द वेदवाचक उन के मत में हो ही नहीं सकता । वास्तव में श्रुति शब्द का यह अर्थ ठीक ही है कि जिस का बनाने वाला कोई किसी समय न हुआ हो किन्तु जो अनादि स्वतःसिद्ध हो वह श्रुति है यह अर्थ अनादि अपौरुषेय मन्त्रसंहितारूप वेद में ही घटता है । ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेक वाक्य ऐसे रक्खे हैं जो उन पुस्तकों के बनने से पहिले ही वेदमन्त्राशय के अनुकूल लोक में प्रचरित थे उन्हीं के आश्रय से ब्राह्मणस्थ वाक्यों को श्रुतिपदवाच्य माना गया । और मन्त्रों के तुल्य जिन प्रामाणिक लौकिक प्रवादवाक्य (कहावतों) का कोई कर्त्ता निश्चित नहीं हो सका उन को भी किसी अंश में मन्त्रों की तुल्यता लेकर श्रुति कहने का व्यवहार चला । जैसे वेद के अङ्गों में व्याकरणपद से पाणिनीय सूत्र मुख्य कर लिये जाते हैं पर जब पीछे महाभाष्य बना तो व्याकरण पद से उस का भी ग्रहण होने लगा । यद्यपि महाभाष्य प्रधानता से व्याकरण-पद का वाच्यार्थ नहीं तथापि जैसे वेद के छः अङ्गों-(वेदार्थ ज्ञान के साधनों) में व्याकरण को प्रधानता है वैसे मूलपाणिनीय व्याकरण के गूढाशय को जानने में मुख्यसाधन महाभाष्य है और मुख्यसाधन को साध्य वा स्वतन्त्र मान लेना यह व्यवहार सिद्ध वार्त्ता है जैसे सौकर्यातिशयविवक्षा में कर्म वा करण कारक भी स्वतन्त्र कर्त्ता मान लिये जाते हैं । पश्चात् कुछ२ तुल्यता होने और पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेकर बने मुग्धबोध, कातन्त्र आदि वा सिद्धान्तकौ-

मुदी, शेखर, मनोरमा, सारस्वत, चन्द्रिकादि नामक पुस्तक भी गौणभाव से व्याकरण माने जाते और आगे बनने वाले भी माने जांयगे। इसी प्रकार पहिले २ मुख्य कर मूल मन्त्रों का वाचक हुआ श्रुतिशब्द पीछे २ उन्हीं के तुल्य (किन्हीं अंशों में) बने ब्राह्मणादि का भी वाचक गौणभाव से हुआ। और कदाचित् अब तक जिन ग्रन्थों वा वाक्यों का नाम श्रुति नहीं है उन का भी आगे भविष्यत् में श्रुति नाम हो जावे तो आश्चर्य नहीं। यह गौणरीति से शब्दों का वाच्यवाचक व्यवहार लोक के आधीन है और सिद्धानुवादकोटि में रखने योग्य है इस लिये विशेष आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु विधिवाक्य यह होना चाहिये कि तुल्यता को लेकर गौणप्रयोग का व्यवहार भले ही बना रहे और यथावसर वैसा व्यवहार हुआ करो परन्तु जैसे ग्रामादि में साधारण बोध वाले मनुष्य भी मुख्य पण्डितों के अभाव में पण्डित माने जाते हैं पर जिस में पण्डित के अधिक वा प्रबल लक्षण विद्यमान हैं ऐसों के सामने साधारणों को पण्डित नहीं माना जाता वा जिन की अपेक्षा वे पण्डित हो सकते हैं उन की अपेक्षा गौणभाव से किसी अंश में वे भी पण्डितपदवाच्य माने जाते हैं इसी प्रकार मन्त्रसंहिता जो मुख्य कर वेद वा श्रुतिपदवाच्य हैं उन के सामने वा उन की अपेक्षा से ब्राह्मणादि को वेदत्व वा श्रुतित्व कुछ भी न मानना चाहिये। अन्य ब्राह्मणों से निकृष्ट ग्रन्थों की अपेक्षा प्रशंसा के लिये ब्राह्मणादि को कोई वेद वा श्रुति कहे तो अनुचित नहीं। परन्तु यह अवश्य स्मरण रहे कि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" गौण मुख्य दोनों की विद्यमानता में लोक के अनुसार मुख्य से कार्य लेना चाहिये। इस से विरुद्ध करने पर बड़ी हानि होती है। जैसे विद्वान् ब्राह्मणों को पुरोहितादि करना वा दानादि द्वारा उन का सत्कार करना उनकी सम्मति से अपने धर्म सम्बन्धी व्यवहार चलाना चाहिये यह धर्मशास्त्रादि में विधान है जिस से मनुष्य का कल्याण होना सम्भव है। पर साम्प्रत में मूर्खों वा लोभी लालचियों को पुरोहितादि बनाते उन्हीं को दानादि देते उन्हीं को पूज्य मानते हैं वे मूर्ख न तो लोगों को अधर्म से बचासकते और न धर्ममार्ग वता सकते हैं। जो स्वयं दलदल में फसा है वह दूसरे को कीचड़ से निकाल सके यह असम्भव है तो शोचिये मुख्य ब्राह्मण वा पण्डितों का मान्य प्रतिष्ठा कम होने और गौणों की मान्य प्रतिष्ठा हो जाने से विद्या की भी हानि होकर कैसा अनर्थ बढता जाता है। इसी प्रकार मुख्य वेद वा श्रुतिपदवाच्य

मन्त्रसंहिताओं का जिस आदर भाव से पठन पाठन होना चाहिये वह छूट गया उस के स्थान में गौण असान्य अपाठ्य पुस्तकों का पठन पाठन चल गया और वेद से भी अधिक कल्पित पुस्तकों की प्रतिष्ठा होने लगी इस से लोग मुख्य कल्याण के मार्ग को भूल गये और दिन २ अधोगति होती जाती है । इस कारण जो लोग अपना कल्याण चाहें वे मूल वेद को पकड़ने का उद्योग करें । शाखा पकड़ के लटकते रहेंगे तो जब २ आंधी आदि से शाखा टूटती जायगी तब २ बहुत ऊंचे से गिर २ महादुःख सागर में गोते खाया करेंगे ।

(आम्नायः) "श्रुतिस्त्री वेद आम्नायस्त्रयी" इति नामलिङ्गानुशासनात् श्रुतिः, वेदः, आम्नायः, त्रयी, इत्येतान्येकार्थान्येव पदानि । आम्नायसमाम्नायौचाभिन्नार्थौ । अतएव "इतिमहेश्वराणि सूत्राणि" इति । भट्टोजिदीक्षितप्रथमव्याख्यानावसरे ह्युक्तं नागेशेन लघुशब्देन्दुशेखरे—"आम्नायसमाम्नायशब्दौ वेदएव रूढौ" इति । वेदशब्देन तु आसूत्रकालात् मन्त्रा ब्राह्मणवचनानि च गृह्यन्ते इत्युक्तमिदानीमेव । अतएव भगवता जैमिनिना कृते इदानीं प्रचलिते मीमांसादर्शने च बहुत्रैव मन्त्रब्राह्मणार्थपरो ह्याम्नायशब्दो दृश्यते । तथाहि—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (१ । २ । १)"—"उक्तं समाम्नायैदमर्थं० (१ । ४ । १)" इत्येवमादयो द्रष्टव्याः । "स्याद्वाम्नायधर्मत्वाच्छन्दसि नियमः (१ । ४)" इत्येतस्य वाजसनेयिप्रतिशाख्यसूत्रस्य व्याख्यानावसरे च "आम्नायो वेदः" इत्यारभ्य, ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः, इत्याद्युक्तं तद्भाष्यकृदुव्वटेनापि । तथा स्पष्टं चोक्तमथर्ववेदीये कौशिकसूत्रे—"आम्नायःपुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (१)"—इति ॥

अमरकोषानुसार आम्नाय शब्द भी वेद का पर्यायवाची है । और समाम्नाय भी आम्नाय का ही पर्यायवाचक है । इसी से "इति माहेश्वराणि सूत्राणि" इस भट्टो

जीदीक्षित के प्रथम वाक्य का व्याख्यान करते समय लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश ने कहा है कि "आम्नाय, समाम्नाय शब्द वेद अर्थ ही में रूढ हैं" और वेद शब्द से सूत्र बनने के समय तक मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों का ग्रहण होता रहा यह हम पीछे कह चुके हैं। इसी से जैमिनि मुनिकृत सम्प्रति प्रचलित मीमांसादर्शन के अनेक स्थलों में मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का वाचक आम्नाय शब्द दीखता है यथा (१।२।१) (१।४।१ मीमांसाद०) इत्यादि स्थलों में देखना चाहिये तथा " स्याद्वाम्नायधर्मत्वात्० १।४" इस वाजसनेयियों के प्रातिशाख्यसूत्र के व्याख्यान में "आम्नायोवेदः" यहां से लेकर आम्नायपद के मन्त्र ब्राह्मण दोनों अर्थ उव्वट भाष्यकार ने भी माने हैं। तथा अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में स्पष्ट ही कहा है कि "आम्नाय मन्त्र और ब्राह्मण दोनों कहाते हैं"।

यास्कीयेऽत्र निरुक्तेऽप्युभयोरेवाम्नायत्वमाख्यातं दृश्यते। तथाहि—"अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति—ओषधे त्रायस्वैनम् (य० वा० सं० ४।१॥६।१५) 'स्वधिते मैनं हिंसीः (य० वा० ४।१॥६।१५), इत्याह हिंसन् (२ भा० १०२, १०७ पृ०)" इत्याशङ्क्य समाहितं ततउत्तरम्—"यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत (२ भा० ११२,११४ पृ०)" इति। तदत्र मन्त्राणामेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। अन्यत्र तु "एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः (३ भा० ४०३ पृ०)"—इत्यत्र। इत उत्तरं चैतत् सिद्धान्ते "यथोएतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित—इति, आम्नायवचनादेतद्भवति (३ भा० ४१६ पृ०)" इत्यत्र च ब्राह्मणानामेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। एवं च सुव्यक्तं निरुक्तकृन्नयेऽप्युभयोरेव मन्त्रब्राह्मणयोराम्नायत्वमिति। मन्त्राणामाम्नायत्वं मत्वैव ततः संगृहीतस्य निघण्टोश्च समाम्नायत्वमुक्तमादौ तेनैव निरुक्तकृता—"समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः (२ भा० ७ पृ०)" इति। अतएव तद्वृत्ति-

कृता दुर्गाचार्येणोक्तं भूमिकायाम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता, सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव यथायथापन्नास्ता गौर्गोधर्माइति (२ भा० ६ पृ०)" इति। वेदाङ्गानामप्याम्नायत्वं निरुक्तकृत्सम्मतमेव। तेन प्रदर्शिते पुरावादे "समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च (२ भा० १३७ पृ०)" इति वचने मन्त्राणाम्, ततः संगृहीतानां नैघण्टुकपदानाम्, वेदाङ्गानां चाम्नायत्वबोधनात्। लघुशब्देन्दुशेखरेऽपि प्रत्याहारव्याख्यानावसरे "ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नायइति व्यवहारानुपपत्तिः?" इत्यादिकं विचारमवतार्य पाणिनिव्याकरणादीनां वेदाङ्गानामप्याम्नायत्वं प्रमाणीकृतं नागेशेन। "तस्येदम् (४।३।१२०)" इति पाणिनीयसूत्रे हि यदुक्तं वार्तिकम् "चरणाद्धर्माम्नाययोः (२)" इति तदनुसृत्यैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (पा० ४।३।१२९)" इति सूत्रे नाट्यस्याप्याम्नायत्वमुररीकृतं दीक्षितेन। तथाह्युक्तम्—"चरणाद्धर्माम्नाययोरित्युक्तं तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव" इति। एवं च शिलालिप्रभृतिकृतानां प्राचीनतमानां नटसूत्रादीनामप्याम्नायत्वं दीक्षितादिसम्मतमिति ॥

यास्कमुनि कृत निरुक्त में दोनों को ही आम्नाय माना है। अर्थात् कहीं केवल मन्त्रों को और कहीं केवल ब्राह्मणों को ही आम्नाय निरुक्त कार ने लिखा है। निरुक्तकारने मन्त्रों को आम्नाय पदवाच्य मान के ही मन्त्रों से संग्रह किये निघण्टु को "समाम्नायः समाम्नातः" इत्यादि में समाम्नाय कहा है। इसी से निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्यने अपनी भूमिका में कहा है कि "मन्त्रों से पद ले २ कर ज्योंके त्यों निघण्टु में रक्खे गये हैं। और वेद के अङ्गों का भी आम्नाय होना निरुक्तकार की सम्मति के अनुकूल ही है (नि० २ भा० १३७ पृ०)

तथा लघुशब्देन्दुशेखर में भी प्रत्याहार सूत्रों के व्याख्यान में नागेशने लिखा है कि "चौदह सूत्रों को अक्षर समाम्नाय नहीं कह सकते" ऐसा पूर्वपक्ष कर के पाणिनीय व्याकरणादि वेदाङ्गों का भी आम्नाय होना प्रमाण किया है । (४ । ३ । १२०) इस पाणिनीय सूत्र पर कहे "चरणाद्धर्माम्नाययोः" इस द्वितीय वार्त्तिक के अनुसार (पा० ४ । ३ । १२९) सूत्र पर नाट्यशास्त्र को भी आम्नाय पदवाच्य ठहराने के लिये भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है कि "चरणवाची शब्द से धर्म आम्नाय अर्थ में प्रत्यय कहा है उसी के साहचर्य से नटशब्द से भी उन्हीं अर्थों में होगा" इस प्रकार शिलालि आदि आचार्यों के बनाये अति प्राचीन नट सूत्रादि का भी आम्नाय होना भट्टोजिदीक्षितादि के सम्मत ही है ।

वृद्धास्त्वाहुः-(म्ना अभ्यासे) इति धातुत एवाम्नायपदं निष्पन्नम्। अतो यः कश्चन ग्रन्थोऽभ्यस्त उक्तः सएवाम्नायः । एकस्यैव पुनःपुनरुच्चारणादिना स्मृत्यनुगतकरणमेवाभ्यसनम् । युगावसानकाले प्रायः सर्वेष्वेव प्राण्यादिष्ववसन्नेषु ये केचिच्छिष्टा अवशिष्टा बभूवुः । तैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपः साङ्गो वेदः प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः, तैश्च बहुभ्यइत्येवं विस्तृतः सः, पुनर्युगान्ते चोपगते पुनःसर्वएव ते विलीनाः, पुनर्नवयुगारम्भे लब्धावशिष्टैः शिष्टैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपत एव प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः । एवमेवाभ्यासः सम्पद्यते साङ्गस्य वेदस्य सदैवेति स साङ्गो वेदः सर्वएव समाम्नाय इत्याख्यायते। अतएव ज्योतिषविषये सूर्यसिद्धान्ते ज्योतिषोपनिषदध्यायेऽप्युक्तमेवमेव "युगेयुगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः। प्रसादात्कस्यचिद्भूयः प्रादुर्भवति कामतः" ॥ इति (१९ श्लो)

परन्तु वृद्ध लोग कहते हैं कि 'म्ना' धातु अभ्यास अर्थ में है इसी से आम्नाय पद सिद्ध हुआ है। इस कारण जो कोई ग्रन्थ अभ्यस्त कहा जाय वही आम्नाय है । एक ही छन्द आदि का उच्चारणादि द्वारा वार २ स्मरण (याद) करना अभ्यास कहाता है। प्रत्येक युग की समाप्ति में प्रायः सब प्राणियों के नष्ट हो जाने पर जो कोई शिष्ट तपस्वी योगी ज्ञानी लोग बच गये उन्हों ने अपनी

स्मृति (यादगारी) के अनुसार अङ्गों सहित वेद अपने २ शिष्यों को पढ़ाया फिर उन शिष्यों ने अन्य अपने बहुत शिष्यों को पढाया इस प्रकार वेद का विस्तार वा विशेष प्रचार हुआ । फिर उस युग की भी जब समाप्ति हुई तब वे पढ़ने पढ़ाने वाले और पुस्तकादि सब लय को प्राप्त होगये फिर नये युग के आरम्भ में प्रलय होने से बचे तपस्वी महात्माओं ने अपनी २ स्मृति के अनुकूल ही अपने २ शिष्यों को वेद पढ़ाया । इसीप्रकार अङ्गोंसहित वेद के पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास सदैव सिद्ध होता है । वह अङ्गोंसहित वेद आम्नाय वा समाम्नाय कहाता है। इसी लिये—सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष के ज्योतिषोपनिषद् अध्याय में कहा है कि "परमेश्वर की यह रचना प्रत्येक युग में नष्ट होती और फिर उस ईश्वर की इच्छानुसार किसी के प्रसाद से प्रकट होती है" ।

तत्र चायं विशेष उपलभ्यते,—मन्त्राणामेव यथावत्स्वरवर्णमात्रादियुतानां यथाश्रुतानामभ्यासः क्रियते, सएव मन्त्रभागो दृष्टइत्युच्यते तत्रापि स्मृतिच्युत्यादि हेतुभिः पाठ न्यूनाधिक्यं पाठान्तरत्वं क्रमान्यत्वं चानिवार्यमिति शाखान्तरत्वं सम्पद्यते । ब्राह्मणानान्तु तदर्थाभिधानएवोपयोगित्वात्तच्चान्यथाप्युपपद्येतेति न तत्र यथावत्पाठाभ्यासः स्वीकृतः प्रत्युत तदर्थाभ्यासएव कृतोऽपरग्रन्थप्रवचनेनेति । सएव ब्राह्मणभागः प्रोक्त इत्युच्यते। एवं वेदाङ्गग्रन्थानामपि मूलतत्त्वानामभ्यसनीयत्वेऽपि तत्तत्प्रयोगस्थानानामस्ति देशकालाद्यपेक्षेति देशकालाद्यनुसारेणैव विधानमुचितमिति प्रतिनवयुगे नवकल्पनैव कृता। सएव वेदाङ्गभागः कल्पइति चोच्यते । तदेवं सर्वएव वेदाङ्गास्तत्त्वतोऽभ्यस्ता अपि अक्षरशः प्रतियुगे नूतनाः कल्प्यन्ते—इति कल्पनामभाजः स्युः । परं शिक्षाप्रभृतीनां पञ्चानां कल्पनामतो व्यवहारो न दृश्यतेऽपितु यागादिविधायकानां पैङ्गीप्रभृतीनामेव ग्रन्थानामेकविधानां कल्पइति प्रसिद्धिः । व्यवहारएवात्र निदा-

नम् । तथा च वेदाङ्गग्रन्थेषु तेषामेव यज्ञसूत्रग्रन्थानां प्राथम्यमनुमीयते । यथा हि शैशिरीयाणां पञ्चानामेव शाकलत्वेऽपि आद्यायाएव शाखायाः शाकल इति प्रसिद्धिः । यथा च सर्वेषामेव सामवेदीयार्चिकानां छन्दस्त्वेऽपि पूर्वभागस्यैव छन्दइति । अत एव ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि निरुक्तादिनामदर्शनं न विस्मयकरं भवत्यार्याणाम् । नाट्यादिग्रन्थोऽपि नासीत्पुराकल्पे इति को वदितुं सक्षमः ?। परं मन्त्रातिरिक्तानां केषामपि प्रबन्धानां नहि यथावदक्षरशोऽभ्यसनं सप्रयोजनमित्यतिप्राचीननटसूत्रादीनां कृतकत्वेऽप्याम्नायत्वमव्याहतमेव । तदेवं नटशब्देनापि कात्यायनोक्तधर्माम्नाययोरभिसम्बन्धे को दोषः पाणिनिवृत्तिकृतः खलु भट्टोजिदीक्षितस्य । परमत्र चेदमवश्यं धार्यं यद् भवतु नाम मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य, मन्त्रोद्धृतपदसङ्घात्मकस्य निघण्टोः, षड्विभागोपेतस्य वेदाङ्गस्य अन्येषां च नटसूत्रादीनां सर्वेषामेव प्राचीनतमानामार्य्यशास्त्राणामाम्नायत्वम् । परं मन्त्रभागस्यैवाम्नायत्वं मुख्यम् । प्रतिकल्पे मन्त्राणामेवाक्षरश आम्नानात् । तथैव नैघण्टुकपदानाम्, तदनुब्राह्मणभागस्य, तस्यापि तथाव्यवहारात् । तदनुवेदाङ्गानां यास्कादिभिः स्वीकारात् । नटशास्त्रादीनां तु तथात्वे प्रामाण्यं विप्रकृष्टत इति ॥

और उस विषय में विशेषता यह मिलती है कि ठीक २ स्वरवर्ण और मात्रादि युक्त संहिताओं में लिखे मन्त्रों का ही मुख्य कर अभ्यास किया जाता है। यही मन्त्र भाग दृष्ट कहाता है । वहां भी स्मरण में भेद पड़जाने आदि हेतुओं से पाठ का न्यूनाधिक होना वा पाठान्तर होना वा क्रम बदल जाना आदि नहीं हो सकता [अर्थात् प्रति युग के अन्त में होने वाले अवान्तर प्रलय के पश्चात् प्रलय से बचे ऋषि लोग युगान्तर के आरम्भ में अपने २ स्मरण के अनुसार

अपने २ शिष्यों को कण्ठस्थ वेद पढ़ाते थे । सब का स्मरण अन्न के तुल्य कभी एक सा हो नहीं सकता इस कारण उन २ के भिन्न २ पठन पाठन में मन्त्रों के न्यूनाधिक होने पाठान्तर होने वा क्रम बदल जाने से एक २ वेद की अनेक २ शाखा बन गईं] और ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदार्थ कहने के लिये ही उपयोगी होने से अन्यथा भी अर्थात् ब्राह्मण में कहे मन्त्रार्थ प्रकार को छोड़ के अन्य प्रकार से भी मन्त्रार्थ बन सकता है । इस कारण ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठ का अभ्यास ऋषि लोगों ने स्वीकार नहीं किया किन्तु ऋषि लोग अन्य ब्राह्मणरूप ग्रन्थों के पठन पाठन से मूल वेद थे अर्थ का ही अभ्यास करते थे । इस कारण ब्राह्मणभाग भी प्रोक्त कहा वा माना गया था ।

ऐसे ही मूल वेदाङ्गरूप ग्रन्थों का अभ्यास कर्त्तव्य होने पर भी उन २ वाच्य पदार्थों में उन २ शब्दों के प्रयोग देश कालादि की अपेक्षा अवश्य रखते हैं तब देश काल के अनुसार ही वेदाङ्गों का बनना उचित हुआ । इस से प्रत्येक युग के आरम्भ में नये २ वेदाङ्ग पुस्तक बनते आये । प्रत्येक युग में नवीन कल्पना होने से उन वेदाङ्गों का नाम कल्प कहा जाता है । सो इस प्रकार मूलरूप वेदाङ्गों का अभ्यास सदा सिद्ध होने पर भी प्रतियुग में नये २ कल्पना किये जाते हैं इस कारण सब व्याकरणादि अङ्गों का नाम कल्प होना चाहिये । परन्तु शिक्षादि पांच अङ्गों का कल्प नाम वर्त्तमान में नहीं दीखता किन्तु यज्ञादि विधायक एक प्रकार के पैङ्गी आदि नामक ग्रन्थ ही कल्प करके प्रसिद्ध हैं इस का कारण व्यवहार ही है । और वेदाङ्ग ग्रन्थों में उन यज्ञसूत्र कल्पग्रन्थों का ही सब से पहिले बनना अनुमान से ज्ञात होता है। जैसे शैशिरीय पांच शाखाओं का नाम अर्थानुसार शाकल होना चाहिये परन्तु पहिली का ही नाम शाकल है । तथा जैसे सामवेदीय सब आर्चिकों का नाम छन्द होना चाहिये परन्तु केवल पूर्वभाग का ही नाम छन्द है । इसी से ब्राह्मण ग्रन्थों में निरुक्तादि नाम दीखना आर्य लोगों को संदेह कारक नहीं होता । नाट्यादि ग्रन्थ पहिले कल्प वा युग में नहीं थे यह कौन कह सकता है ? । परन्तु मन्त्रों से भिन्न किन्हीं ग्रन्थों का यथावत् प्रत्यक्षर अभ्यास करना प्रयोजन साधक नहीं इस कारण अतिप्राचीन नटसूत्रादि के कल्पित होने पर भी उन का आम्नाय होना अविरुद्ध है । तो ऐसे कात्यायनोक्त "धर्माम्नाययोः" वार्त्तिक के साथ नट शब्द का सम्बन्ध करने में पाणिनि सूत्र के वृत्तिकार भट्टोजिदीक्षित का क्या दोष

है ? । परन्तु यहां यह अवश्य करना चाहिये कि मन्त्र ब्राह्मणरूप वेद, मन्त्रों से लिये पदों के समुदाय रूप निघण्टु, छः भागों में विभक्त वेदाङ्ग और अन्य अतिप्राचीन नट सूत्रादि आर्य शास्त्रों का नाम आम्नाय रहो, पर तो भी मुख्य-कर मन्त्रभाग का ही नाम आम्नाय हो सकता है क्योंकि प्रतिकल्प में मन्त्रों का ही प्रत्यक्षर अभ्यास किया जाता है । और मन्त्रों से निकाले निघण्टु के पदों का, मन्त्रानुकूल व्याख्यान रूप ब्राह्मणों का आम्नाय होना व्यवहार होने अर्थात् आम्नाय पद से कहे जाने से सिद्ध है । तत्पश्चात् यास्कादि के स्वीकार करने से वेदाङ्गों का आम्नाय होना सिद्ध है । परन्तु नट शास्त्रादि के आम्नाय होने में प्रमाण मिलना कठिन है ॥

सम्पादक—यह वेद सम्बन्धी शब्दों का विचार अनेक ग्रन्थों के प्रमाण लेकर लिखा जाता है इस कारण कदाचित् सत्यव्रत के संस्कृत का सारांश साधारण पाठकों की समझ में न आवे इस कारण मैं संक्षेप से सुगम सारांश लिख देता हूं—वेद शब्द के पर्यायवाचकों में एक आम्नाय, वा समाम्नाय पद भी आता है । इस समय के वर्त्तमान सामान्य वा विशेष सब शास्त्रों में आम्नाय शब्द से ब्राह्मण, सूत्र, वेदाङ्ग और प्राचीन नाटक सूत्रों तक का ग्रहण किया है । सो मुख्य कर वा सब से पहिले मन्त्र संहिता मूलवेद को ही आम्नाय कहना वा मानना चाहिये और गौणभाव से ब्राह्मणादि को भी आम्नाय माना वा मानते हैं यह सिद्धान्त है ॥

अब विशेष वक्तव्य यह है कि-यद्यपि नट सूत्रादि भी किसी अंश में उप-योगी हो सकते हैं इस कारण उन को भी कोई पठन पाठन व्यवहार में ला सकते हैं तथापि वे पुस्तक कितने ही प्राचीन हों तो भी उत्तम कोटि के मनुष्यों के पढने पढाने योग्य नहीं हो सकते अर्थात् जैसे कहा जाय कि "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" ब्राह्मण का छः अङ्गों सहित वेद का पढ़ना निष्कारण धर्म है । ब्राह्मण को वेद वेदाङ्ग अवश्य पढने चाहिये । जैसे यहां वेद पढने के लिये आज्ञा है वैसे नट सूत्रादि के पढ़ने की आज्ञा कहीं नहीं मिल सकती । और जिस का पठन पाठन विधि विहित हो उसी का आम्नान वा अभ्यास शास्त्रानुकूल होने से आम्नाय नाम है । इस कारण यौगिक अर्थ के अनुसार नट सूत्रादि का विधि विहित अध्ययन नहीं तो उनको आम्नाय कहना भी भट्टोजिदीक्षितादि की अवश्य भूल माननी चाहिये ॥

संस्कार वा संशोधन ॥

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस से पहिले आर्यसिद्धान्त अङ्क ९।१० में जाति और संस्कार विषय पर एक महाशय कृत प्रश्नों के उत्तर में कुछ लेख छप चुका है। अब उसी विषय के एक अंश पर कुछ लिखने की आवश्यकता दो कारणों से हुई। एक तो जाति और संस्कार के विषय में स्पष्ट और ठीक २ सिद्धान्त लिख देने पर भी लेख का दर्रा नये ढंग का होने से कई महाशयों को यह संदेह हुआ कि श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज केवल कर्म वा संस्कार से वर्णव्यवस्था मानते थे क्योंकि उन के सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में इसी ढंग का लेख पाया जाता है और मैं ने संस्कार वा गुणकर्म और जन्म दोनों से वर्णव्यवस्था सिद्ध की तो दोनों के लेख में परस्पर विरोध होगया। इस विरोध का दूर करना हमारा काम है। द्वितीय यह कि सामान्य कर सभी समय में प्रत्येक वस्तु के संस्कार वा संशोधन की आवश्यकता होती है परन्तु जैसे कभी २ किसी काम के करने की अधिक आवश्यकता हो जाती है वैसे ही संस्कार वा संशोधन होने की आज कल अत्यन्त आवश्यकता है इसलिये केवल एक संस्कार का कुछ और व्याख्यान करना उचित समझा गया। आशा है कि पाठक लोग ध्यान पूर्वक पढ़ के लाभ भागी होंगे और मेरे श्रम को सुफल करेंगे ॥

१-वास्तव में स्वामी जी का लेख ऐसा ही है जिस से गुणकर्मरूपसंस्कार से ही जाति वा वर्ण व्यवस्था सिद्ध होती है और मेरे लेख की चाल भिन्न प्रकार की है यही संदेह का कारण हुआ परन्तु इतने से मूल सिद्धान्तपक्ष में कुछ दोष नहीं आता। सिद्धान्त यह है कि गुणकर्म का भेद ही प्रत्येक वस्तु के भिन्न २ होने में मूल कारण है। सब नकली घोड़ा हाथी आदि पदार्थों में शिल्पी लोग अपनी चतुराई से ज्यों की त्यों आकृति आदि बना भी देते हैं परन्तु बोलना चलना आदि कर्म और इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख बुद्धि आदि गुण उन में नहीं आ सकते इसलिये गुणकर्म का संस्कार न होने से ही वे वास्तव में सच्चे घोड़ा हाथी आदि नहीं माने जाते और न मानने चाहिये। इसी प्रकार जिस में मनुष्य की आकृतिमात्र हो और मनुष्यजाति के गुणकर्म न पाये जावें वह मनुष्य नहीं कहा वा माना जायगा। इसी के अनुसार जगत भर में गुणकर्मों के विना कोई भी वस्तु सच्चा नहीं ठहरता। सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक यह

नियम सदा विद्यमान रहता है क्योंकि सृष्टिक्रम से भी इस का मेल है भगवद्गीता में स्पष्ट लिखा भी है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥

परमेश्वर ने चार वर्ण आदि सृष्टि को गुण कर्म के भेद से बनाया अर्थात् सब के गुण कर्म भिन्न २ नियत किये। वैसा ही सृष्टिक्रम बराबर चला जाता है। और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उत्तम कोटि के मनुष्यादि भी नीच गुणकर्मों का अधिक काल तक सेवन करते २ नीच हो जाते और निकृष्ट कोटि के मनुष्यादि उत्तम २ गुण कर्मों का सेवन करते २ अधिक काल में उत्तम हो जाते हैं वा यों कहो कि अधिक सुगन्ध में रहने वाला थोड़ा दुर्गन्ध भी सुगन्ध हो जाता और अधिक दुर्गन्ध में रहता २ थोड़ा सुगन्ध भी दुर्गन्ध बन जाता है इसी को सत्संग और दुःसंग भी कह सकते हैं पर यह सब गुण कर्मों से ही होता है इस लिये गुणकर्म ही प्रधान हैं। गुणकर्म का भेद न हो तो वर्णव्यवस्था नहीं बन सकती यही स्वामी जी महाराज का वेदानुकूल सिद्धान्त है और मेरा विचार वा लेख सर्वथा इस के अनुकूल है॥

अब विशेष विचारणीय यह है कि—स्वामीजी को जाति वा जन्म से सम्बन्ध रखने वाले वर्णव्यवस्था के गुण कर्म दिखाने की आवश्यकता इस लिये नहीं थी कि मनुष्य प्रायः जन्म से ब्राह्मणादि बन बैठे थे और गुण कर्मों की प्रधानता से मानीगयी वेदादि शास्त्रानुकूल वर्णव्यवस्था का सर्वथा आदर ही नहीं रहा था इस लिये गुणकर्म से ही वर्ण भेद ठहराना आवश्यक था और सदा ही गुण कर्मों से वर्णभेद मानना चाहिये। परन्तु स्वामीजी ने कहीं यह भी नहीं लिखा कि बालक के जन्म से गुणकर्मों का सम्बन्ध कुछ नहीं किन्तु स्वामी जी के लेख का मुख्य सारांश यह है कि ब्राह्मण के कुल में हो वह ब्राह्मण ही माना जाय यह नियम नहीं हो सकता। ब्राह्मण कुल में होने पर भी परीक्षा होने पर यदि विद्या और गुणकर्म ब्राह्मण के जैसे निकलें तो ब्राह्मण माना जाय। यदि क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के जैसे गुणकर्म उस में हों तो वह उन २ वर्णों में सम्मिलित करना चाहिये सो यह विचार बहुत सत्य है मेरे लेख से इस का कुछ विरोध नहीं मेरा विचार है कि जो गुणकर्म मूलरूप से गर्भाधान समय से ही होते हैं उन के होने पर भी नवीन संस्कारों से वह शुद्ध न किया जाय तो वे जातीय वा स्वाभाविक

गुण ऐसे दब जाते हैं कि जिस से वह ब्राह्मणादि पदवाच्य नहीं रहता अर्थात् गुणकर्मों के विना वर्णव्यवस्था की सिद्धि मैं भी नहीं मानता । और जाति वा जन्म के साथ गुणकर्मों का सम्बन्ध स्वामीजी को भी मान्य वा इष्ट था यह बात उन के लेख से सिद्ध होती है । स्वामी जी ने स्वपुस्तकस्थ वर्णव्यवस्था के लेखों में प्रायः " गुण कर्म स्वभाव " तीन शब्द लिखे हैं अर्थात् गुणकर्म और स्वभाव तीनों से वर्णभेद माना है । अब शोचिये कि स्वभाव किस का नाम है ? । स्व नाम अपने भाव नाम होने उत्पत्ति वा जन्म से सम्बन्ध रखने वाला प्रधान गुण जिस को संस्कृत में प्रकृति भी कहते हैं इसी लिये स्वाभाविक और प्राकृत दोनों शब्द पर्यायवाची ठहर जाते हैं । वास्तव में जो पदार्थ जिस समय बनता है तभी देश, काल और उपादान कारणों के कई अंशों के संयोग से एक वा कई संयोगजन्य गुण उस वस्तु में ऐसे उत्पन्न होते हैं जो उस के भिन्न २ कारणों में से किसी में उन की विद्यमानता नहीं कह सकते किन्तु जैसे चूना हल्दी मिलाने से जो रंग रूप गुण उत्पन्न होता है वह चूना वा हल्दी एक किसी में नहीं माना जा सकता किन्तु उन के संयोग से हुआ मानें गे और चूना हल्दी की भिन्न २ व्यक्ति एक ही देश काल में संयुक्त कीजायं वा भिन्न २ देश कालों में भिन्न २ व्यक्तियों के संयोग से रंग में भी सूक्ष्म २ अवान्तर भेद अवश्य होगा । और वह उस संयोगी रोली नामक वस्तु का स्वाभाविक वा प्राकृत वा जातीय गुण माना जाय गा । यह तो दृष्टान्त रहा इसी के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति में भी गर्भाधान से ही स्वाभाविक गुण जो नियत हों गे उन्हीं को जातीय गुण मानना चाहिये । यहां हम मनुष्य की उत्पत्ति के स्वाभाविक गुण दिखाने के लिये आयुर्वेद सुश्रुत के शारीरस्थान के कुछ प्रमाण लिखें गे ।

सुश्रुत शारीरस्थान गर्भव्याकरण नाम चतुर्थाध्याय–

सप्त प्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथक् द्विशः समस्तैश्च ।

भा०–मूलरूप सात प्रकृति होती हैं–वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातपित्तकफ इन सात में एक २ के देश काल और वस्तु के भेद से असंख्य अवान्तरभेद हो जाते हैं अर्थात् प्रत्येक शरीरधारी में भिन्न २ ही प्रकृति होती है क्योंकि दो प्राणियों के भी देश, काल, वा वस्तुरूप कारण सर्वथा एक नहीं हो सकते । और कारणों में जितना २ सादृश्य होता है उतना २ ही उन२ प्राणियों के स्वभाव वा प्रकृतियों में एकता भी प्रतीत होती है । एक गर्भाशय

से दो सन्तान जो एक साथ जन्मते हैं उन में यद्यपि देश काल और शुक्र शोणितरूप कारण का सूक्ष्मभेद भी अवश्य होता है तथापि देशकालादि का अति सामीप्य होने से उन की प्रकृति अधिकांश मिल जाती हैं। कहीं२ यहां तक सुना है कि दोनों को एक साथ ही रोग होगये वा अन्य कई काम दोनों को एक साथ होते हैं। यह सब प्रकृति के वा स्वभाव के अधिक साधर्म्य को सिद्ध करते हैं। दो सन्तान एक साथ क्यों होते हैं इस के व्याख्यान का प्रकरण नहीं तथापि प्रसङ्गानुसार लिख देने में कुछ दोष नहीं दीखता ॥

बीजेन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरस्सरौ ॥

गर्भाधान के समय गर्भाशय में गया शुक्र भीतरी वायु से जब कभी दोभागों में पृथक् २ विभक्त हो जाता है तो गर्भाशय में दो जीव प्रविष्ट होकर दो बच्चे बनते हैं और संस्कृत में उन को यम कहते हैं ॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥

स्त्री, पुरुष के शोणित, शुक्र का संयोग होने पर जो दोष अर्थात् वातादि प्रबल होता उसी से प्रकृति वा स्वभाव बनता है उस का लक्षण आगे कहा है।

अब यह भी शोचना है कि प्रकृति वा स्वभाव का सम्बन्ध शारीरिक जड़भाग के साथ है वा चेतन के साथ। इस का समाधान यह है कि जड़ चेतन के भेद का निर्णय करना तो प्रकरणान्तर है परन्तु यह प्राणिशरीर जन्म से मरण पर्यन्त जड़ चेतन के संयोग से चलता है वा यों कहो कि जड़ चेतन के संयोग से जन्म और इन्हीं दोनों के वियोग से मरण हो जाता है तो प्राणियों की विद्यमानता वा सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में जड़ चेतन का संयोग ही प्रधान रहा। तब प्रकृति वा स्वभाव को भी जड़चेतन के संयोग का गुण मान लेने में कुछ दोष नहीं है। और वर्णव्यवस्थासम्बन्धी सत्यभाषणादि गुण भी केवल आत्मा वा शरीर के नहीं हैं क्योंकि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि गुण भी जड़ वा चेतन किसी एक के नहीं ठहर सकते किन्तु संयोगी गुण हैं। इस दशा में प्रकृति वा स्वभाव का वर्णव्यवस्था के साथ [illegible] मानना चाहिये। और [illegible] शास्त्रों के साथ ठीक मिलता है ॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसञ्चयमित्रः ।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ॥

भा०——जिस के विचार व्यवस्थित न हों प्रायः चलायमान बुद्धि रहे, दृष्टि चंचल हो, रत्न सर्वोत्तम पदार्थों और धन का संचय जिस के पास प्रायः न रहे मित्र जिस के कम हों जो असंबद्ध वा व्यर्थ थोड़ा ही बोले इत्यादि सामान्य कर वातप्रकृति मनुष्य के लक्षण हैं ॥

न भयात्प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ।
भवतीह सदा व्यथितास्य गतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥

भा०—भय से किसी को प्रणाम न करे वा डर के किसी से न दबे जो अपने को न नमे उस से आप भी ऐंठ रक्खे और अपने सामने नमने वालों को शान्ति वा अभयदान देने वाला जिस की चाल क्रोध से भरी सदा भयकारिणी हो इत्यादि लक्षणों वाला पित्तप्रकृति में गिने जाने योग्य होता है ॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः ।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥

भा०——जिस के नेत्रों के जोड़ों में लाली हो जिस के हाथ पांव आदि का फैलाव अच्छा हो, शरीर में लावण्य चिकनापन हो शान्तशील हो, क्लेश दुःख विपत्तियों के सहने का स्वभाव जिस में हो, गुरु लोगों का मान्य आदर सत्कार करे इत्यादि लक्षणों वाला बलास (कफ) प्रकृति मनुष्य है ॥

इन २ उक्त लक्षणों वाले मनुष्य किसी वर्ण किसी देश वा किसी कुल समुदाय में क्यों न उत्पन्न हों उन २ स्वभावों के अधिकांश होने से शास्त्रानुकूल वात आदि की प्रकृति के मानने चाहिये । ये सामान्य कर तीन प्रकार के स्वाभाविक वा प्राकृत गुण दिखाये गये हैं ॥

प्रकोपो वान्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥
विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥

भा०—वात पित्त वा कफ अथवा दो तीन के मेल में से जिस प्रकृति का मनुष्य हो उस दोष का कोप उस को नहीं होता जैसे वातप्रकृति मनुष्य को वात के कोप से होने वाले उपद्रव वा रोग नहीं हो सकते प्रकृति से विरुद्ध कार्य तब होते हैं जब कि मरणसमय निकट आता है क्योंकि मरण समय में अन्य शारीरिक वस्तुओं की न्यूनता के साथ प्रकृति में भी अतिन्यूनता विपरीतभावों का कारण हो सक्ती है। और प्रकृति के अनुकूल वस्तु कभी किसी को रोग हेतु हों तो प्रकृति की परीक्षा में भूल माननी होगी। वातप्रकृति मनुष्य को जो उपद्रव वा रोग होंगे प्रायः वे कफ वा पित्त के कोप से होने सम्भव हैं क्योंकि जैसे मित्रों वा सजातीय अनुकूलों के बढ़ने से विरोध नहीं होता किन्तु अपने अनुकूल के अधिक मेल से अधिक सुख वा आनन्द बढ़ता है और प्रतिकूल वा शत्रुओं के पास आने से खल बल मच जाती सुख वा शान्ति का नाश होजाता है। वैसे ही वातप्रकृति वाले को वात की वृद्धि सदा अनुकूल सुखकारिणी होगी और कफ वा पित्त की वृद्धि सदा प्रतिकूल होने से रोग वा उपद्रवकारिणी होगी इस लिये मनुष्य को उचित है कि अच्छे परीक्षकों से सर्वथा प्रकृति की परीक्षा करके अपनी प्रकृति के अनुकूल पदार्थों का ही प्रायः सेवन करे। मनुष्य की प्रकृति कभी बदलती भी नहीं अर्थात् वातप्रकृति मनुष्य कभी बदल के पित्त-प्रकृति नहीं हो सकता किन्तु जन्म से मरण पर्यन्त वातप्रकृति ही बना रहेगा। और प्रकृति वा स्वभाव का कभी नाश भी नहीं होता किन्तु जिस शरीर के साथ स्वभाव उत्पन्न हुआ है उस के साथ ही स्वभाव भी नष्ट होगा। स्वभाव वा स्वाभाविक गुणों को सभी शास्त्रकार लोगों ने उस २ वस्तु के साथ नित्य माना है। और उस २ प्रकृति की प्रबलता ही मनुष्य के जीवन का मूल है। यदि विरुद्ध का कोप न हो तो वह देहधारी अपनी पूरी अवस्था तक चलकर मरेगा। सब शरीरधारियों की आयु एकसी नहीं होती इस में प्रकृति की बनावट भी कारण है अर्थात् प्रत्येक वस्तु के बनते समय उस के उपादान कारण के अंशों का जैसा प्रबल पुष्ट वा निर्बल संयोग होगा वैसी ही उस की आयु होगी क्योंकि संयोग का नाम ही उत्पत्ति है वा यों कहो कि जैसी कड़ी गांठ लग जायगी वैसी ही देर में खुलेगी और संयोग, साधनों के अनुसार होता है और साधन पूर्वकर्मा-नुसार प्राप्त होते हैं इसलिये प्रारब्ध कर्मानुसार आयु का नियत होना शास्त्रा-नुकूल ठीक ही मान्य है। जैसे विष में उत्पन्न हुआ कीड़ा विष से नहीं मरता

क्योंकि विषरूप ही उस का शरीर है। इसी प्रकार प्रकृति मनुष्य को बाधा नहीं पहुंचातीं किन्तु प्रकृति से विरुद्ध ही वस्तु सब को हानिकारक होता है॥

स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्।
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥

भा०—स्थिर मोटे शरीर वाला मोटी बुद्धि का मनुष्य प्रायः असमर्थ होने से सब प्रकार के अपमान वा दुःखों को सहता हुआ भी बुद्धिमानों के काम में बैल के समान पराधीनता से जुता रहै ये पार्थिव प्रकृति के लक्षण हैं यही लक्षण भैंसादि पशुओं में भी घटजायगा। और पांचवीं कोटि की आकाश प्रकृति भी कोई मानते हैं सो सब से अधिक पवित्र बड़ी आयु वाला आकाश प्रकृति मनुष्य वातप्रकृति से भी उत्तम कोटि में गिनाजायगा परन्तु त्रयीविद्या के सिद्धान्तानुसार तीन प्रकृति ही मुख्यकर मानी जायंगी अन्य गौण रहें गी।

अब आगे सात्विक प्रकृति की तीन कोटि के लक्षणों वाले स्वभावों का कुछ संक्षेप से वर्णन है—

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्॥ १॥

भीतर बाहर सब ओर से वास्तविक शुद्धि करना और चाहना, शास्त्रोक्त परोक्ष विषयों में विश्वास, वेदों का अभ्यास वा वेद विषयों के विचार का व्यसन, गुरु लोगों के सत्कार में रुचि अतिथि हो कर भ्रमण करना जिस को प्रिय हो किन्तु एक स्थान में अधिक न रहे अथवा अतिथियों की सेवा जिस को प्रिय हो और यज्ञ करने के स्वभाव वाला मनुष्य ब्रह्मकाय अर्थात् सात्विकों में भी उत्तम कोटि का है वा ब्रह्मा कहाने योग्य हो सकता है। वास्तव में उस २ प्रकार का गुण ही देवतापन है और उन गुणोंवाला देवता है। इस लिये ये ब्रह्मदेव वा ब्रह्मा देवता के लक्षण हैं। इस से हमारा प्रयोजन सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा जी का खण्डन करने में नहीं है किन्तु ऐसे ही और भी उत्तम गुण उन में थे इसी से वे भी ब्रह्मा कहाये॥

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम्॥

दीर्घदर्शी गम्भीर विचारों वाला शूरता में प्रवीण वा उत्साही आज्ञा (हुकुम) चलाने वाला निरन्तर शास्त्र के अनुकूल बुद्धि वाला तथा अपने साथियों वा प्रेमियों का सम्यक् भरण पोषण करने वाला हो ये महेन्द्र वा विष्णु देवता के गुण हैं ये जिस में हों वह द्वितीय कक्षा का क्षत्रियता प्रधान सात्त्विक गुणधारी मनुष्य है और इन्हीं गुणों की अत्यन्त यावच्छक्य वृद्धि जिस में हो वह मनुष्य विष्णुपदवाच्य हो सकता है। इन्ही गुणों के विशेषतम होने से राजा रामचन्द्र वा श्रीकृष्णचन्द्रादि विष्णु के अवतार मानेगये हों यह सम्भव है। और विष्णुनाम अनादि परमेश्वर का भी है क्योंकि वह सर्वज्ञ सर्वोपरि शूर सब को वेदादि द्वारा आज्ञा देने वाला और सब का पालन पोषण करने वाला है उस का अवतार नहीं होता। इस कारण इन लक्षणों में परमेश्वर का ग्रहण नहीं हो सकता ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥

शीतप्रदेश हिमालय आदि में रहना शीत सहना जिस को स्वीकार हो सहनशीलता पीलावर्ण जिस का हो सिंह वा वानर केसे वाल हों प्रिय बोलना जिस में स्वाभाविक हो ये वरुणदेवतासम्बन्धी शरीर के लक्षण हैं। शिव वा महादेव भी इसी मनुष्य को कह सकते हैं यह सात्विकों की तीसरी कक्षा है जिस का वैश्यवर्ण की उत्तम कक्षा के साथ सम्बन्ध है। ये सब गुण प्राकृत वा स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं। इत्यादि प्रकृति सम्बन्धी विचार आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों में बहुत है इस को लिखते जायं तो कई फारम लेख हो सकता है सो इतना बढ़ाना अभीष्ट नहीं। इस पूर्वोक्त लेख से हमारा मुख्य आशय यही है कि स्वभाव वा प्रकृति मनुष्य के शरीर के साथ ही बनती है और स्वभाव को स्वामी जी महाराज ने भी वर्णभेद में कारण माना तो जन्म के साथ गुणकर्मों का सम्बन्ध स्वामी जी के मन्तव्य से भी आगया तब इस में विशेष शङ्का को अवकाश नहीं रहता ॥

यदि कोई कहे कि कोई मनुष्य जन्म से अच्छे संस्कारों वाला नहीं वा यों सही कि जिस के संस्कार गर्भाधान समय से निकृष्ट हों तो क्या वह पीछे उत्तम गुणकर्मों वा सत्सङ्गादि उत्तम शास्त्रों के अभ्यास से उत्तम वर्ण ब्राह्मणादि कहाने

योग्य हो सकता है वा नहीं ? । यदि कहो होसकता है तो जन्म से वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध मानना व्यर्थ हुआ और यदि कहो कि नहीं होसकता तो संस्कार व्यर्थ हुआ । कोई उत्तम बनने का उद्योग ही नहीं कर सकता । इस दशा में मनुष्य की उन्नति के लिये जो २ उपाय शास्त्रकारों ने बताये हैं वे सब व्यर्थ हो जांयगे इत्यादि अनेक दोष इस पक्ष में हैं॥

इस का समाधान सीधा है कुछकठिन नहीं है । सब मनुष्य चार कोटि में बांटे जांयगे अर्थात् मनुष्यसमुदाय के मुख्य कर प्रथम चार भाग करने चाहिये, यथा—

१—जिन के माता पिताओं ने शुद्धाचरणी धर्मपरायण परोपकारप्रिय विद्याभ्यासी शान्तशील ईश्वरभक्तिप्रेमी होना आदि गुण कर्म धारण कर के गर्भाधान किया हो तथा गर्भावस्था में गर्भ को शुद्ध संस्कार माता से पहुंचते रहे हों और ऐसे सन्तानों के उत्पन्न होने पर भी माता पितादि उन को सदा ही शुद्धाचरणी शुद्ध संस्कारी वनाने का उपाय करते रहें तथा वे समर्थ होने पर स्वयं भी अपने सुधार के लिये सदा उत्तम २ आचरण ग्रहण करते रहें तो ये सर्वोत्तम कोटि के मनुष्य होंगे । ऐसे मनुष्य यदि चतुर्थांश भी जगत् में वा जिस देश में हों उस की अच्छी उन्नति कही वा मानी जायगी । जैसे एक घर में रहने वाले अनेकों को एक ही दीपक पूरा काम देता है सब को अन्धकार के दुःख से बचा के सुख पहुंचाता है वैसे यदि विद्यादि शुभगुण संयुक्त मनुष्य चतुर्थांश भी सर्वत्र फैले हों तो वे प्रदीपवत् विद्याधर्मसम्बन्धी ज्ञान प्रकाश को सब में फैला के सब को सुखी रख सकते हैं। ये ही उत्तम कोटि के मनुष्य वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण कहे जायगें।

२—३—द्वितीय कक्षा के मनुष्य वे होंगे जिन को माता पितादि द्वारा तो जन्म से वा गर्भाधान से ही अच्छे संस्कार पहुंचें पर पीछे उत्तम प्रकार की शिक्षा न रहे उत्तम विद्याभ्यास उत्तम सत्संग न रहे परन्तु अधिक निकृष्टाचरणी भी न होने पावें तो वे द्वितीयकक्षा के योग्य हों गे । और जिस को हम तीसरी कक्षा में गिनना चाहते हैं कि जिस के गर्भाधान से माता पितादि द्वारा उत्तम संस्कार नहीं आये किन्तु अतिनिकृष्ट संस्कारी भी गर्भ से उत्पन्न नहीं हुआ उस के संस्कार जन्म होने पश्चात् प्रतिदिन अच्छे २ होते जावें वा जब से वह स्वयं समझने लगे तब से ही विद्याधर्मादि की ओर सदा अधिक २ तत्पर होता जावे तो द्वितीयकक्षा में गणना के योग्य होगा और जिस को द्वितीयकक्षा में गिना चाहते हैं वह तृतीय कोटि में चला जायगा । परन्तु इन दोनों कक्षाओं के तार-

तस्य शोचने में इतना विचार अवश्य रखना होगा कि जब तक मनुष्य की वाल्यावस्था रहती वा जब तक स्वाधीन विचार से शोच समझ के कार्य नहीं करने लगता और जब तक माता पितादि के आधीन रहता है गर्भाधान से लेकर उतने काल तक उस के संस्कार जन्म से संबन्ध रखने वाले मानने चाहिये और वे ही संस्कार अधिक प्रबल होते हैं वह सन्तान जन्म से लेकर अपने माता पितादि के गुणकर्म प्रायः सभी सीख लेता है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि किसानों के लड़के वाल्यावस्था में ही खेती का काम अच्छे प्रकार सीख के करने लगते हैं। ऐसे ही द्विकन्दार वैश्यों के लड़के हिसाब सम्बन्धी व्यापार कार्यों में सहज ही निपुण हो जाते हैं यह नियम प्रायः सर्वत्र ही मिलेगा इस के अनुसार वाल्यावस्था तक जिन के अच्छे संस्कार रहेंगे वे पीछे कुछ विगड़ें भी तो एक साथ इतना बिगड़ जाना सम्भव नहीं जितना कि बाल्यावस्था तक जो कुसंस्कारी रहा वह सुधरने लगे तब भी जितना बिगड़ा रहेगा। क्योंकि जैसे घर आदि प्रत्येक वस्तु के बनने वा सुधरने में वैसा ही अधिक२ समय अपेक्षित होता है कि जैसा वह बिगड़ा हो वा जैसा उस को सुधारना है। इन विचारों को काम में लाते हैं तो अधिकांश में यही ठहरता है कि जिस के संस्कार बाल्यावस्था तक अच्छे रहें वही द्वितीय कक्षा में गिना जायगा। कदाचित् कोई ऐसा भी हो जो वाल्यावस्था तक कुसंस्कारी रह कर आगे ऐसा अधिक वा शीघ्र सुधरे जिस को हम द्वितीय कोटि में प्रविष्ट कर सकें तो वह निज बात अपवादरूप हैं उस से अधिकांश विचार में बाधा नहीं पड़ती जगत् में सब विचार वा काम अधिकांश पर निर्भर किये जाते हैं। इस के अनुसार जब द्वितीय कोटि में वे मनुष्य रहें जो गर्भाधान से बाल्यावस्था तक अच्छे संस्कारी होते आये तीसरी कक्षा में वे रहेंगे जो पीछे सुधरने लगे।

इसी अंश पर मानवधर्मशास्त्र के तृतीयाध्याय में लिखा है—

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १ ॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ २ ॥

भा० जिस का पिता वेद का विद्वान् न हो और पुत्र वेदपारदर्शी हो और द्वितीय जिस का पिता वेदवेत्ता हो और पुत्र वेद का विद्वान् न हो तो इन दोनों में वह श्रेष्ठ अर्थात् द्वितीय कक्षा के योग्य है जिस का पिता वेदवेत्ता हो और जिस का पिता वेदज्ञ नहीं किन्तु स्वयं ही विद्वान् हुआ वह तृतीय कक्षा में रहे गा। परन्तु विद्या सम्बन्धी अवसर पर इस तीसरे का ही द्वितीय से अधिक सत्कार होगा। और जिस के पिता पितामह प्रपितामह सभी वेदज्ञ हों तथा स्वयं भी वेदपारग हो तो वह सर्वोत्तम कोटि में रहे गा। पर यह सामान्यनियम है विशेष दशा में पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से कोई मनुष्य तृतीय कक्षा के योग्य होने पर भी विद्याबुद्धि तथा शुभाचरणों की अधिकतर तीव्रता होने से उत्तमों से भी उत्तम कोटि में गिना जाय यह सम्भव है जैसे श्रीकृष्णचन्द्रादि हुए ॥

४–चौथी कक्षा में वे रहेंगे जिन के गर्भाधान वा जन्म से भी संस्कार अच्छे न हों और पीछे भी जिन के सुधरने का कोई उपाय न किया जाय जैसे चर्मकार चण्डालादि वा नाऊ धीवर कुलाल, धोबी आदि ॥

अब इस लेख से पूर्व किये प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह सिद्ध होगया कि पहिले से जिस के संस्कार निकृष्ट हैं वह उत्तम गुणकर्मादि के सेवन से उत्तम बन सकता है। यह ठीक है परन्तु जिस के संस्कार गर्भाधान से भी अच्छे हों और पीछे भी अच्छे रहें उस की बराबर वा उस से उत्तम नहीं हो सकता। जब अनेकों की अपेक्षा संस्कारों से उत्तम होता जाय गा तो अच्छे गुणकर्मों वा उत्तम शास्त्रों के अभ्यास सत्संगादि से मनुष्य को उत्तम बनने का उद्योग करना और उस विषय में शास्त्रों की आज्ञा दोनों सार्थक हुईं और जन्म से वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध व्यर्थ इस लिये नहीं होता कि जड़ से जिस का सुधार हो और पीछे भी होता रहे वह सर्वोत्तम है। वास्तव में इस जन्म से क्या पूर्वजन्म से भी किसी का सुधार हुआ मानते हैं तो वह भी शुद्ध संस्कारों से ही हुआ मानने पड़ता है और मानना भी चाहिये। इस लिये संस्कार को प्रधान मानना ही ठीक है ॥

अब इस प्रकृति वा स्वभाव के साथ गुण कर्मरूप संस्कारों की प्रबलता दिखाने के प्रसंग में हमें एक बात और लिखनी आवश्यक है जिस से यह सन्देह भी निवृत्त हो जाय गा कि संप्रति प्रचलित डाक्टरी विद्या के तुल्य हमारे आयुर्वेद शास्त्र का भी यही सिद्धान्त ठहर आवे कि गर्भाधान के अनन्तर शुक्रशोणित के संयोग से

ही प्रकृति बनती है। और वहीं से सब गुण अवगुण उत्पन्न होते हैं तो पूर्वजन्म से आने वाले जीवात्मा की आवश्यकता नहीं रही और पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार जन्म और सुखदुःख फलभोग मानना सब व्यर्थ हुआ जाता है। इस दशा में डाक्टरों के तुल्य रुधिर को ही जीव मानलें तो आवागमन भी समाप्त हो जायगा। नास्तिकता का यह भी एक अंश है। पुनरुत्पत्ति मानने वाले शास्त्रों को भी तिलाञ्जलि देना पड़ेगा। और डाक्टरों के सिद्धान्तानुसार आयुर्वेदीय सुश्रुत ग्रन्थ के शोणितवर्णनीय नामक सूत्रस्थान के चतुर्दश अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि–

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीवइति स्थितिः ॥

शरीर का मूल रुधिर है रुधिर से ही शरीर का धारण होता है इस देह में रुधिर नरहे तो क्षणभर भी जीवन नहीं रह सकता इस लिये रुधिर की रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये क्योंकि रक्त ही जीव है। इस से सिद्ध हुआ कि जब रुधिर ही जीव है तो शरीर में जन्मान्तर से आनेवाले अन्य किसी जीवात्मा का आगमन मानना व्यर्थ हो गया। ऐसे बड़े सन्देह को दूर करना भी आवश्यक है ॥

उत्तर–आयुर्वेद सुश्रुत ग्रन्थकर्त्ता का यदि यह अभिप्राय होता कि वास्तव में रुधिर ही जीव है तो वे गर्भाधान के साथ में जीवात्मा का पृथक् प्रवेश कदापि न लिखते परन्तु सुश्रुतकार ने शारीरस्थान के गर्भावक्रान्ति नामक तृतीयाध्याय में स्पष्ट लिखा है:–

तत्र स्त्रीपुरुषयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन। ततोऽग्निसोमसंयोगात्संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते। क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता योऽसावित्येवमादिभिः पर्य्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवासुरैर्वा परैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्य्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥

भा०—गर्भाधान समय में स्त्रीपुरुष का संयोग होने पर पुरुष के शरीर से वायु पित्तरूप तेज को उभाड़ता पीछे वायुसहित तेज के उभड़ने से शरीर से छूटा शुक्र स्त्री के गर्भ में जाता और आर्त्तव नामक शोणित के साथ मिलता है तब अग्नितत्त्वप्रधान शुक्र और सोमतत्त्वप्रधान शोणित दोनों का संङ्घट्टरूप गर्भ गर्भाशय में पहुंचता है। इसी के साथ जानने स्पर्श करने सूंघने देखने सुनने और स्वाद लेने वाला अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों से वा मन से जानना आदि काम लेने वाला—आगे २ सन्तानोत्पत्ति करने की शक्ति रखने वाला पगों से चलने बुद्धि से साक्षी शरीर का धारणकर्त्ता वाणी से बोलने वाला इत्यादि पर्यायवाचक नामों से जो कहा जाता वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा वास्तव में जिस का स्वरूप न्यूनाधिक नहीं होता इसी से अविनाशी अचिन्त्य, सत्त्वरजस्तम के साथ सम्बन्ध रखने वाले देवासुरसम्बन्धी गुणों सहित वा प्रारब्ध कर्मों के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य गुणों के साथ वायु से प्रेरित हुआ गर्भाधान के पीछे गर्भाशय में प्रवेश करके स्थित होता है। अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश होने से ही गर्भ का बढ़ना और उस के अवयवादि बनने का आरम्भ होता है। यदि शुक्र शोणित ही जीव होता तो इतने व्याख्यान से जीवात्मा का पृथक् प्रवेश सुश्रुतकार क्यों दिखाते इस से सिद्ध है कि वे रुधिर को जीव नहीं मानते थे। तथा इसी तृतीयाध्याय में आगे और भी लिखा है—

इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि ॥

भा०—इन्द्रियों की शक्ति लौकिक वा पारमार्थिक ज्ञान और सुखदुःखादि भोग ये सब गर्भ में आत्मा के साथ पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार आते हैं। इत्यादि से जब सिद्ध होगया कि सुश्रुतकार जड़ पदार्थों से भिन्न चेतन जीवात्मा का प्रवेश गर्भ में मानते हैं तो एक मनुष्य परस्परविरुद्ध दो बातें एक पुस्तक में मान नहीं सकता इस दशा में मानना चाहिये कि " रक्तं जीवइति स्थितिः " वाक्य का कुछ और तात्पर्य है। और वह यह है कि यहां जीवशब्द आत्मा का वाचक नहीं किन्तु शरीर इन्द्रियां प्राण बुद्धि आत्मादि के संयोग से ठहरने वाला जीवन नाम प्राणधारण का वाचक जीव शब्द लेना चाहिये कि रक्त ही जीवन का मूल है जैसे अन्य किसी एक वा दो इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी जीवन बना रहता है पर प्राण के न रहने पर जीवन वा जीव नहीं रहता इसी प्रकार

अन्य किसी धातु के न रहने पर शरीर का जीवन कदाचित् बना रहे पर रुधिर के न रहने पर जीवन नहीं रह सकता। और वास्तव में मुख्यकर जीवपद आत्मा का पर्यायवाचक नहीं किन्तु चेतन जीवित शरीर का नाम वास्तव में जीव है पर आत्मा के विना सर्वथा ही शरीर जीवित वा चेतन नहीं रह सकता तो जानो आत्मा ही जीवन हुआ इस गौणार्थ से आत्मा के स्थान में भी कहीं२ जीवशब्द का प्रयोग आता है। इस के अनुसार गौणभाव से यदि यहां कोई जीवपद करके आत्मा के ही लेने का आग्रह करे तो यह आशय होगा कि "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" इसका प्रत्यक्षार्थ तो यह है कि अन्न ही प्राणी के प्राण हैं परन्तु शोचने से मालूम होता है कि प्राण अन्य वस्तु शरीर में एक प्रकार का वायु है और अन्न एक भिन्न पदार्थ है। न्यायभाष्य कर्त्ता वात्स्यायन ऋषि ने इस श्रुति का आशय यह लिखा है कि "अन्नसाधनाः प्राणः" मुख्य साधन का साध्य के साथ अभेदान्वय कर देना व्यवहार है इस का तात्पर्य यह होता है कि उस साधन के विना उस साध्य की स्थिति नहीं रहती। यहां भी प्राण की स्थिति में अन्न मुख्य साधन है अन्न के विना प्राण नहीं ठहर सकते इस बात को जताने के लिये अन्न को प्राण ही कह दिया गया इसी प्रकार रुधिर के विना जीव नाम आत्मा शरीर में नहीं ठहर सकता तो मुख्य साधन बुद्धि से रक्त को जीव कह देना एक प्रकार का व्यवहार है जैसे वहां अन्न से भिन्न प्राण एक वस्तु है वैसे यहां भी रक्त से भिन्न जीवनाम चेतन आत्मा है। यह तो देहात्मवाद के सन्देह को हठाने का समाधान हुआ पर वास्तव में इस विचार के उठाने से हमारा प्रयोजन यह था कि आत्मा के साथ वासनारूप से जो पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कार विद्यमान रहते हैं उन्हीं के अनुसार मनुष्य का जन्म होकर सुखदुःखादि का भोग मिलता है और बुद्धि भी पूर्वजन्म के सञ्चित कर्मों के अनुसार ही होती है तथा वर्णव्यवस्था का बुद्धि के साथ बड़ा सम्बन्ध है इस लिये वर्णभेद होने में पूर्वकर्मों के संस्कार मूल कारण हैं। उस की रीति यह है कि जब मनुष्य मरने लगता है तब उस के वर्त्तमान जन्म के और पिछले जन्मों के शेष बचे सब सञ्चित कर्म सङ्घट्टरूप से इकट्ठे होते हैं उस सङ्घट्ट पाप पुण्य वा दोनों की समदशा इन में जो प्रधान हुआ वा जैसी वासना प्रबल हुई उसी के अनुसार संस्कार वाले ब्राह्मणादि वर्णस्थ माता पिता के यहां उस का जन्म होता और उन्हीं वासनाओं के अनुसार आगे२ उस की बुद्धि और मन होते हैं अर्थात् पूर्व कर्मों

के अनुसार ही सुखदुःख भोग का सामान वैसे ही ब्राह्मणादि कुलके माता पिता मिलते और सामान तथा माता पिता के अनुसार ही गर्भाशय से मनुष्य के संस्कार वा स्वभाव प्रकृति उत्पन्न होती है इस परम्परा को शोचने से स्पष्ट ही कहने वा मानने पड़ता है कि स्वभाव वा प्रकृति का पूर्वजन्म के कर्मों से बड़ा सम्बन्ध है। इसी के अनुसार हम कह सकते हैं कि जो मनुष्य जिस प्रकार के कर्मों वा आचार विचार चाल चलनों को अधिक प्रसन्न करता जन्म से मरण तक उसी प्रकार की चिन्ता जिस को अधिक लगी रहती वह मरणानन्तर वैसे ही समुदाय में जन्म लेकर वैसे ही अच्छे बुरे साधन प्राप्त करके फलभोगता है। जैसे सम्प्रति भारतवर्ष के अनेक मनुष्य जो अंगरेजों के चाल चलन व्यवहारों को अधिक अच्छा मानते और इसी लिये यथासम्भव भोजन छादनादि व्यवहारों की नकल भी करते हैं उन के स्वभाव वा प्रकृति के बदलने का यहीं से आरम्भ होगया तो मरणानन्तर वे अंगरेज़ मातापिताओं में जन्म लेंगे और जन्म से ही उन में अंगरेजप्रकृति बनेगी जिस का पूर्वजन्म से मुख्य सम्बन्ध है॥

यह सब लेख स्वभाव वा प्रकृति के विचार पर लिखा गया जिस का आशय था कि ब्राह्मणादि वर्णभेद के साथ स्वभाव वा प्रकृति का अधिक सम्बन्ध है और स्वभाव जन्म से ही बनता तथा जन्म सञ्चितवासनानुकूल होता वासना संस्कारों के अनुसार होतीं और संस्कार मानस वाचिक कायिक गुणकर्मों के सेवनानुसार होते हैं इस लिये गुणकर्मों से वर्णव्यवस्था मानना तो ठीक ही है पर वे गुण कर्म तत्काल ही नहीं बनते बिगड़ते किन्तु उन का मूलकारण पूर्वजन्म से बड़ा सम्बन्ध रखता है। और जैसे २ गुणकर्म बदलते जाते हैं वैसे २ थोड़ी २ वर्णव्यवस्था भी बदलती जाती है इस लिये क्रियमाण प्रबल हो जाता है। अब इस अंश पर लेख समाप्त करके आगे कुछ संस्कार की आवश्यकता पर लिखने का विचार है॥

संस्कार शब्द संस्कृतभाषा का है इस देववाणी का संस्कृत नाम भी इसी लिये रक्खागया कि सब भाषाओं की अपेक्षा इस का अधिक संशोधन हुआ वा यही भाषा वेदद्वारा सृष्टि के आरम्भ से मनुष्यों को प्राप्त हुई क्योंकि परमेश्वर से अधिक शुद्ध कोई वस्तु जगत् में नहीं है तब उस से आई भाषा भी सर्वोपरि पवित्र होना न्यायानूकूल ही है। संस्कार शब्द का यद्यपि अनेक अर्थों में व्यवहार किया जाता है तथापि इस का ऐसा कुछ लाक्षणिक अर्थ नियत है जिस को कहीं [illegible] कहीं गौणभाव से लेकर ही व्यवहार होता है। संस्कार

शब्द वास्तव में गुणवाचक है क्योंकि वैशेषिकशास्त्रोक्त चौवीश गुणों में संस्कार भी एक गुण माना गया है। वह एक ऐसा गुण है जिस के आजाने से उस वस्तु की पहिली दशा (हालत) बदलजाती है। अर्थात् जिस पदार्थ में संस्काररूप गुण आजाता है उस की निकृष्ट दशा बदल के अच्छी दशा हो जाती है। यद्यपि संस्कारपद का अच्छे अर्थ में ही प्रायः व्यवहार होता है तथापि वास्तव में सामान्यकर अच्छे बुरे दोनों का नाम संस्कार है इसी कारण नीच संस्कार दिखाने में कु अव्यय लगा कर कुसंस्कार बोलाजाता है सर्वथा पहिले गुण का तिरोभाव वा परिवर्त्तन होकर नवीन गुण का आरोप हो जाना संस्कार है। परन्तु प्रचार पाये हुए व्यवहार के अनुसार हम संस्कार शब्द को अपने व्याख्यान में अच्छे शुद्ध हो जाने के अर्थ में ही प्रयोग करेंगे। "संस्कृतमन्नं संस्कृतः सूपः संस्कृता यवागूः।" भोजन बनगया वा पकके तयार हो गया, दाल लवण मसाले छोंक आदि द्वारा अच्छी शुद्ध बनगयी शीरा वा हलुआ बनगया ऐसे प्रसंगों में भी संस्कार शब्द का प्रयोग आता है। परन्तु आजकल दो अर्थों में मुख्यकर संस्कार शब्द का व्यवहार होता है। एक तो गर्भाधानादि सोलह संस्कार श्रौत वा स्मार्त्त रीति से प्राचीन पद्धतियों के अनुसार मानेजाते हैं और द्वितीय सामान्यकर आत्मिक और मानस मलीनता वा ग्लानि हटकर अच्छे शुद्ध गुणों का मन और आत्मा में संयोग हो जाना संस्कार कहाता है परन्तु शोचने से दोनों प्रकार के संस्कारों का एक ही आशय ठहरता है क्योंकि गर्भाधानादि का भी यही प्रयोजन है कि मनुष्य के आत्मा मन और शरीर की मलीनता दूर हो जावें। यद्यपि मुख्यकर आत्मिक संशोधन का नाम संस्कार है तथापि शरीर आत्मा का स्वस्वामी वा भोग्यभोक्ता वा व्याप्यव्यापक वा आधाराधेय वा साधनसाध्यादि अतिसम्मिलित सम्बन्ध होने से शरीर संशोधन के विना आत्मा की शुद्धि हो नहीं सकती जैसे मलीन स्थान मलीन घर में रहनेवाला शुद्ध नहीं रह सकता वा जैसे मलीन घड़े में रक्खा शुद्धजल भी शुद्ध नहीं रह सकता वैसे मलीन अशुद्ध शरीर में आत्मा वा मन भी शुद्ध नहीं रह सकता किन्तु संगदोष से अशुद्ध अवश्य हो जायगा। इस प्रकार शारीरिक संशोधन आत्मसंस्कार का मूल कारण होने से वा साथी होने से शारीरिक संशोधन को भी संस्कार कहा वा माना गया है। जिस के विना जो काम नहीं हो सकता उस मुख्यवाचीपद से साधन का भी व्यवहार होता है जैसे भोजन बनाने की सामग्री जोड़े विना

निवेदन—

आर्य्यसिद्धान्त ६ भाग समाप्त हुवा इस का १।) जिन थोड़े से महाशयों ने नहीं भेजा है वह तथा आगामी ७ वें भाग का भी १।) भेज कर सहायता दीजिये उपनिषद्, मनुभूमिका, गणजत्नमहो० कोष, आ० सि० पाँचोंभाग पुस्तक का मूल्य केवल ३१ एप्रिल तक घटाया था सो समीप आ गया ग्राहक लोग शीघ्र मंगावें १ मई से पूरे मूल्य पर मिलेंगे—

२—वैद्यक कोश छपकर समाप्त होने को है मूल्य ॥।) अष्टाध्यायी शनैः २ छपती है इस में विचार का काम अधिक है—

३—मनुस्मृति का अङ्क भी विचार पक्ष में रहने से कुछ रुका था अब छपना आरम्भ होगया है अनुमान २ अङ्क साथ मई महीने के भीतर भेजे जायंगे ॥

धन्यवाद ॥

निम्न लिखित धन आर्य्यधर्म सभा पाठशाला निमित्त जिन २ महाशयों ने दान दियाहै उन २का धन्यवाद पूर्वक स्वीकार करके आशा है कि अन्य महाशय भी पाठशाला को सहायता देंगे—आज कल १ सुन्दरलाल २ रामेश्वर वाजपेयी ३ गुरुदत्त पंजाबी ४ सुखनन्दन ५ ब्रह्मदत्त ६ जीवाराम ७ ध्यानचन्द विद्यार्थी पढ़ते हैं१ विद्यार्थी श्यामलाल शर्म्मा ६ वर्ष में अष्टाध्यायी महाभाष्य न्यायदर्शन कादम्बरी काव्यादि पढ़ कर जो बनेर पाठशाला में २०) पर पाठक होगया दूसरा बालकृष्ण भी ऐसा ही पण्डित होकर हैद्राबाद प्रान्त का उपदेशक होगया—उपदेशकों को पाठशाला ही उत्पन्न करती हैं ॥

कुंवर मथुरासिंह जी ने २) नक़द दिया था सब विद्यार्थी लोगों को १ दिन भोजन भी कराया था । शङ्करलाल जी विधूना ने १०) जी.पी. वर्मा गोपालगंज प्रतापगढ ने १) कर्मचन्द्र जी बड़ा बाजार कलकत्ता ने ४) पुत्र के विवाह में । तिलकसिंह वर्मा तरिगवां ने १) निज विवाह में । हीरालाल जी बान्दीकुई ने १) पुत्री के विवाह में । पं० भीमसेन शर्म्मा ने ९।) जनवरी, फर्वरी ९५ के पुस्तक विक्रय सें । ठाकुर सीताराम जी सुहागपुर ने १) विष्णुदेव वर्मा उपसंशोधक सरस्वतीयन्त्रालय को रिसाला समाज से होली पर १) मिला था सो उन्हों ने पाठशाला को दे दिया । गङ्गासेवक जी तिवारी ने १) माता के मृतक संस्कार में । ला० कमलनयन जी खिरवा एक मुकद्दमे में प्रयाग आये थे १) देगये । दत्तराम शर्मा असिस्टेंट स्टेशनमास्टर तालनी जी. आई. पी. रेलवे नागपुर लाइन ने ५) धर्मार्थ दिये । ईश्वर अन्य महाशयों की भी ऐसी शुभ निष्ठा करें ॥

पुस्तकों का सूचीपत्र ॥

जिन महाशयों को विशेष हाल देखना हो वे बड़ा सूचीपत्र मंगा कर देखें ॥ विज्ञापनानुसार ३१ एप्रिल ९५ तक ही पुस्तक घटे मूल्य पर मिलेंगे समय निकट आया ग्राहक शीघ्रता करें ॥

मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) से घटाकर १।) सात उपनिषद् संस्कृतभाष्य व भाषार्थ सहित इकट्ठा लेने वालों से ३) से २॥) जिल्द के ।-) पृथक् ईश ≡) केन ।) कठ १) प्रश्न ॥।) मुण्डक ॥।-) माण्डूक्य ।) तैत्तिरीय १) ५ भाग आर्य्यसिद्धान्त ६० अङ्क ३) से २॥) और ७२ अङ्क भाग ६ सहित ३॥।) से ३।) गणरत्नमहोदधि १॥) से १) तथा ऊपर के छः उपनिषद् गुटका मूल =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् मूल गुटका ≡) विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्मसमतपरीक्षा ≡) अष्टाध्यायीमूल ≡) न्यायदर्शनमूलसूत्रपाठ ≡) कुमारीभूषण -) शास्त्रार्थखुर्जा -) देवनागरी की वर्णमाला)। और १) रु० में १०० पुस्तक मिलेंगे । सत्यसङ्गीत)। यज्ञोपवीत-शङ्कासमाधि -) सदुपदेश)। संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पुस्तक)॥। तथा द्वितीय पु० -)। व तृतीय पु० ≡) नवरत्नभूषण =) गणितारम्भ =)॥ शङ्कागणितार्यमा ≡)॥ उपदेशभजनावली ।) विदुरनीति मूल =) जीवभ्रान्तिविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ पाखण्डमतकुठार ≡) जीवनयात्रा ≡) किरानीलीला—वेश्यालीला)॥। नीतिसार =)॥ द्वितीयपुस्तक ।) भजनामृतसरोवर =)॥ ऐतिहासिकनिरीक्षण ≡) नागरी का प्रथमपुस्तक -) वनिताविनोद =) हितशिक्षा -)॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंऽशः -)॥ द्वितीयोंऽशः -)॥। भजनेन्दु -) संगीतरत्नाकर =) बालचन्द्रिका -) बारहमासी-झूलना)॥। शास्त्रार्थकिराणा =)

श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी कृत पुस्तकें—

सत्यार्थप्रकाश २) संस्कारविधि १।) आर्य्याभिविनय ।) पञ्चमहायज्ञविधि ≡)॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका २॥) वर्णोच्चारणशिक्षा -) निरुक्त १) धातुपाठ ।=) गणपाठ ।-) आर्य्यसमाज के नियम =)॥। व ≡)। सैंकड़ा । व्याख्यान देने के सामान्य विज्ञापन =) सैंकड़ा

ह० भीमसेन शर्म्मा—प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतो पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क १। २

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

१ जुलाई सन् १८९५ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

-३९ कालूराम*जी मुलतान १।)
१०२३ विहारीलाल जी रुस्तमपुर † १।)
-७५० डा० लक्ष्मणप्रसाद फर्रुखावाद १॥)
-७३ पं० दिवाकरदत्त शर्मा हिसार १।)
-०५ ला० जीवनदास जी लाहौर १।)
१०२८ बा० वेणीमाधव वन्द्यो० इन्दौर १।)
१०२९ बा० अयोध्याप्रसाद जी आगरा १।)
१०३१ ठा० मातावदलसिंह जी धोकड़ी १)
-१८ रतिराम जी पांड़े पुराना कानपुर १।)
-३१८ बा० सीताराम जी क्लर्क लखनऊ १।)
-३०१ सुन्दरलाल गणेशीलाल मुम्बई १।)
-२२० पं० राधिकाप्रसाद जी बुधौलिया १)
-७०३ श्री रामवावा चित्रकूट १।)
-५६ श्री दीवानसिंह जी डूंगरपुर १।)
-९४ बा० आनन्दस्वरूप जी कानपुर १।)
-४७ चिरञ्जीवलाल व्रजलालजी मुम्बई २)
१०४० गंगादीन जमादार जबलपुर १।)
१०१४ राधाकृष्ण ठेकेदार आपोजेई १।)
१०४२ रामचन्द्र जी सुखनार रायगढ़ १।)
-७७ शिवशरणलाल जी पाटन १।)
१०३९ श्रीराधाराम वकील अमृतसर १।)
१०५० प० धर्मचन्द्र जी अमृतसर १॥)
-३२ श्री मुन्नीलाल त्रि० जलालावाद १)
-०४ लाला मुन्शीराम जी झिंद १।)
-३५ श्री गुटईलाल सोनी पिनाहट १।)
१०२७ श्रीतुलसीराम वाजपेयी विसवां १।)
१०४६ श्रीपुलन्दरसिंह जी लश्कर १।)
१०५१ गोकुलप्रसादस्वर्णकारबुलंदशहर १।)
-२२ बा० निहालसिंह जी करनाल १।)

* २९६ काशीराम (भाग ६ अङ्क १२ में भूल से छपा)

† भाग ६ अङ्क १२ में १) भूल से छपा
... १।) चाहिये

११० श्री ला० मुंशीराम जी जालंधर १।)
१६ श्रीरामदयालु जी ओ० कलमेश्वर २)
१७९ श्री जगन्नाथप्रसाद त्रि० दमोह १।)
१०५३ श्रीरामप्रकाशलाल मुजफ्फरपुर १।)
१०४४ श्रीपुष्करसिंह जी गूजरपुर १।)
१०३० श्री छज्जूसिंह सुर्दरिस दाहा १।)
५२० श्रीटोडामल वंशीधर हलद्वानी २॥)
८६१ श्री लछिमन दास जाफराबाद १।)
१०५५ श्रीवनवारीलाल जी इटावा १।)
४९४ बा० रामजीमल भा० मुजफ्फरपुर १।)
१०५९ चन्दनसिंह वर्मा लोहाई १।)
३९४ पं० हरीराम मास्टर शिवरी० १।)
१०६० गोपालदास जी योधपुर १।)
५४८ श्रीरामप्रसाद जी रईस जगाधरी १।)
९३२ मुन्नीलाल जी जलालावाद ।)
३९३ रघुनाथसहाय जी हिसार १।)
१०६६ श्री गंगाराम जी विलासपुर १।)
६८४ बा० जयनारायण जी रांची १।)
५७२ पं० घनश्याम गोस्वामी मुलतान १।)
१०६२ बा० पंचमसिंह वर्मा वड़ोदा १।)
१०६३ श्री रा० रा० भाटिया मित्रमण्डल किशनदासहरी मुम्बई १।)
९५० श्री देवीसिंह जी होशंगावाद १।)
८३८ बा० जगमोहनलाल जी वस्ती १।)
५२७ डाकूर रामप्रसाद जी नरसिंहपुर १।)
३८९ सूर्य्यप्रसाद जी रईस फर्रुखावाद १।)
१०४७ चेतसिंह वर्मा आगरा १।)
१०१३ भोलासाहु मालगुजार भुलमला १।)
१०६७ गंगाराम विद्यार्थी तालग्राम ॥)
१०६९ सर्वजीतलाल जी सीखड़ १।)
१०१८ ठाकुरप्रसाद मस्सैन पटना १।)
१०६८ हीरालाल नन्दकिशोर पिंडरा रोड १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११ । १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ११।१२ से आगे संस्कार विषयक लेख

भोजन नहीं पकाया जा सकता तो भोजन बनाने का सामान ठीक करते हुए को कहते हैं कि भोजन बनाता है । इसी प्रकार विवाहार्थ होने वाले मंगलाचरण वा होमादि कार्य को भी विवाह गौणभाव से कहते हैं वास्तव में स्त्रीपुरुष के संयोगविशेष का नाम विवाह है । इसी प्रकार यहां भी आत्मसंस्कार के लिये साधन वा पूर्वरूप से अपेक्षित शारीरिक शुद्धि को भी संस्कार मान कर व्यवहार किया गया है ॥

अनेक शास्त्रों का सारांश लेकर किसी नीतिज्ञ विद्वान् पुरुष ने यह जनश्रुति [कहावत्] प्रचलित की है कि–

संस्कारात्प्रबला जातिः ॥

संस्कार से जाति प्रबल है इस जनश्रुति के विपक्ष में लिखने का हमारा यद्यपि उद्देश नहीं है क्योंकि जैसे काले कम्बल के स्वाभाविक काले रंग को कोई धोनेरूप संस्कार से वा अन्य रंग चढ़ा के नहीं मेट सकता, जैसे कुत्ते की पूंछ के स्वाभाविक टेढ़ापन को मिटा के कोई सीधी नहीं कर सकता इसी प्रकार स्वाभाविक वा प्राकृत सभी गुण नित्य होते हैं । तथापि इतना अवश्य कहना है कि किन्हीं अंशों में संस्कार से जाति प्रबल है तो अनेक स्थलों में जाति से संस्कार भी प्रबल है । अथवा यों कहो कि अपने २ विषय में जाति और संस्कार दोनों प्रबल हैं । इस के तीन भेद होंगे । १–एक तो जाति की प्रबलता २–संस्कार की प्रबलता और ३–जाति वा संस्कार दोनों के विप्रतिषेध में जहां एक

ही प्रबल ठहर सकता है वहां केवल जाति प्रबल है और इसी तृतीय प्रकार के अनुसार संस्कार से जाति प्रबल ठहराई गयी है वा इसी के साथ में प्रारब्धानुसार कर्म फल भोग की प्रबलता ठहरती है। बड़े आश्चर्य का विषय यह है कि जाति पक्ष को कुछ न मानने वाले और सर्वांशों में संस्कार को ही कार्य साधक मानने वाले मनुष्य यदि यह कहें वा सिद्ध करें कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

शुभ वा अशुभ अच्छा वा बुरा जो कर्म जिस ने किया है उस का फल उस को अवश्य भोगने पड़ेगा। तो यह कहना ऐसा होगा कि असाध्य वा स्वाभाविक रोग कोई नहीं केवल औषधि ही करने से फल होगा और किये हुए कुपथ्यरूप कर्मों का दुःख फल अवश्य भोगने पड़ेगा। वा यों सही कि प्रारब्धानुसार अन्धकार में तो रहना ही पड़ेगा पर अन्धकार कुछ नहीं दीपक जलाना ही सर्वत्र मुख्य है। संस्कार की अपेक्षा जातिपक्ष को कुछ न मानना भी वैसा ही "वदतो व्याघात" के तुल्य गिरा हुआ पक्ष है। क्योंकि रोग पूर्वकृत कर्मों का फल भोग है वा असाध्य रोग का नाम जाति और औषधि चिकित्सा द्वारा रोग दूर करने का उपाय संस्कार है। यदि औषधि द्वारा रोग निवृत्त हो जाय तो किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ेगा यह नियम नहीं रह सकता और यदि वैसा ही वा उतना ही रोग का फल दुःख प्राणी को भोगने पड़े जितना नियत है तो औषधि रूप संस्कार करना व्यर्थ हुआ यह दोष उसी पूर्वोक्त पक्ष में आता है। असाध्य रोग, नियतविपाक कर्म, जाति, स्वभाव, प्रकृति इत्यादि शब्द एक ही कोटि के हैं। जिस ने जैसा कर्म, किया है उस को वैसा फल अवश्य भोगने पड़ेगा विना भोगे न छूटे गा वा "कर्म रेख नहि मिटे मिटाई" ये सब वाक्य जाति पक्ष को पुष्ट करने वाले हैं इन में से जो किसी एक को भी प्रबल ठहराने का उद्योग करे गा उस के पक्ष में जाति पक्ष की प्रबलता स्वतः सिद्ध हो जायगी। अब हम इन सन्देहों को दूर करने का समाधान लिखने के साथ संस्कार वा संशोधन से सम्बन्ध रखने वाली कर्मगति का भी कुछ वर्णन करें गे। शास्त्र से विरुद्ध लोकव्यवहार के अनुसार ब्राह्मणादि कहाने वालों के कुलों में उत्पन्न होने मात्र से ब्राह्मणादि वर्ण मानलिये गये और ब्राह्मणादि के जैसे शास्त्रानुकूल गुण कर्म स्वभाव उन में हैं वा नहीं इस विचार को छोड़ दिया। इस वेद विरुद्ध परिपाटी के चल जाने से वर्णव्यवस्था बिगड़ गयी। जैसे अभी अंगरेज़ जाति में यह नियम किया गया है कि अमुक कुल [ख़ानदान] के मनुष्यों को ही अमुक २ बड़े २ अधिकार दिये जावें। यद्यपि अभी उन के यहां संस्काररूप शिक्षा प्रणाली का प्रबन्ध अच्छा है। यदि काल पाकर शिक्षा प्रबन्ध ऐसा न रहे और उन कुलों में अयोग्य पुरुष उत्पन्न होने

लगें तो कुल में उत्पन्न होने से अधिकार देना यह जातिपक्ष खण्डनीय होगा। इसी प्रकार इस भारतवर्ष में भी नियत किये ब्राह्मणादि समुदायों में शिक्षादि का पहिले ऐसा प्रबन्ध चला हुआ था कि सब लोग अपने २ वर्ण के अनुकूल ही शिक्षा पाकर कर्म भी करते थे इस कारण उन २ ब्राह्मणादि जातियों के कर्म और अधिकार भी नियत हो गये थे इसी से किसी वर्ण में संकर दोष पहिले नहीं था वा था भी तो इतना कम था कि जिस की होने में गणना न हो सके। यह सब प्रबन्ध काल पाकर बिगड़ गया योग्य को अधिकार मिलने का कोई नियम न रहा सब ब्राह्मणादि वर्णसंकर हो गये अर्थात् ब्राह्मणादि नामों से कहाने वाले सब समुदायों में नीच से नीच कहाने योग्य भी मनुष्य उत्पन्न हो गये कोई भी ठीक शुद्ध न रहा अब ऐसा कोई समुदाय नहीं है जिस को शुद्ध ब्राह्मण वा शुद्ध क्षत्रिय कह सकें। इस का कारण यही है कि:—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। अ० १०
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १ ॥ मनु०

अन्य वर्ण की स्त्री का अन्य वर्णस्थ पुरुष के साथ व्यभिचार हो कर उत्पत्ति होने, अन्य वर्ण की स्त्री से विवाह करने और अपने २ कर्त्तव्यकर्मों के छोड़ देने से मनुष्य वर्णसंकर हो जाते हैं। जब किसी कुल के मनुष्यों पर अधिक अहंकार वा अभिमान चढ़बैठता और वे मदान्ध हो जाते हैं कि हम जो चाहें सो करें बड़े ही माने जायंगे हम को दोष कौन लगा सकता है तब वे कर्त्तव्य से च्युत हो जाते और उन के कर्म ही उन को नीच बना देते हैं। इसी के अनुसार जब भारतवर्ष के उच्चवंशी ब्राह्मणादि नीच २ कर्मों की ओर गिरते गये और वर्णसंकर बनगये तो महा अवनति हुई दुःखसागर में गोते खाने लगे। ऐसी दशा में जिन महात्मा लोगों को दया आयी उन्हों ने झूठे जात्यभिमान का खण्डन किया और गुण कर्म की प्रबलता से माननीय शास्त्रानुकूल वर्णव्यवस्था का मण्डन वा प्रतिपादन किया जिस की अत्यावश्यकता थी और है। पर उन्हों ने यह भी कहीं नहीं जताया कि जन्म वा जाति के साथ गुणकर्मों वा वर्णों का कुछ सम्बन्ध नहीं तो भी समय के प्रवाहानुसार अनेक लोग जाति को सर्वथा अमान्य समझते हैं। इस कारण इन जाति और संस्कार दोनों की तत्त्वावस्था दिखाने की इच्छा से मैं ने कुछ लिखना आवश्यक समझा।

हमारे लेख में इस का समाधान प्रकारान्त से पीछे भी आचुका है कि यदि औषधि द्वारा रोग निवृत्त होजाय तो भी किये हुए कर्म फल का भोग अवश्य हुआ क्योंकि औषधि करने में जो २ क्लेश वा धनव्यय होता वा इच्छा विरुद्ध अति कटुआदि औषधियों के खाने में जो कठिनता होती इत्यादि भी एक प्रकार का भोग है और औषधि करने के समय जब तक रोग बना रहता तब तक

रोग से भी दुःख भोगने ही पड़ता है इस कारण औषधि से रोग की निवृत्ति होना भी भोग से ही हुई जाननी चाहिये। जैसे किसी अपराध में किसी को दण्ड दिया जाय कि तुम इतना काम वा परिश्रम कर दो और वह उस काम को अधिक परिश्रम वा क्लेश सह के शीघ्र पूरा करदे तो अधिक देर तक धीरे २ न भोगा शीघ्र भोग लिया निरर्थक दोनों दशा में नहीं हुआ। इसी प्रकार अधिक दिनों तक रहने वाला रोग औषधि आदि कर के शीघ्र भोग लिया जाय तब भी भोग ही रहेगा। और औषधि से असाध्यरोग न जावे तो भी औषधि करना व्यर्थ नहीं क्योंकि रोग का न जाना सर्वथा रोग छूट जाने की अपेक्षा से है किन्तु कुछ कम तो अवश्य होता ही है और जितना रोग घटेगा उतना ही रोगी का दुःख भी कम होता जायगा इस लिये औषधि करना असाध्य दशा में भी सार्थक है। जैसे सेर भर अन्न खाने वाले मनुष्य को छटांक भर भोजन मिले और वह कहे कि इस से मेरी कुछ भी क्षुधा शान्त न होगी तो यह उस का कथन सेर भर की अपेक्षा अतिन्यून शान्ति को जताने के लिये होगा जिस को वह शान्ति नहीं कहना चाहता पर वास्तव में छटांक भर से यदि क्षुधा कुछ भी शान्त न हो तो फिर सेर भर से भी न होगी। ऐसे ही यहां भी जानो।

अब योगशास्त्र साधनपाद के १२। १३ सूत्र और उन के भाष्य का आशय लेकर कर्मगति पर कुछ लिखता हूं। मूल संस्कृत अधिक इस लिये नहीं लिखता कि लेख बहुत न बढ़े। पहिले कर्म दो प्रकार के हैं। १-दृष्टजन्मवेदनीय २-अदृष्टजन्मवेदनीय। दृष्टजन्मवेदनीय कर्म वे हैं जो उसी जन्म में भोग लिये जावें जिस जन्म में किये गये हैं। जो कर्म जैसी अत्यन्त लाग से शीघ्र २ किये जाते हैं उन का फल भी वैसा ही शीघ्र होता है। जैसे तीव्र वेग के साथ तन मन धन से रात दिन लग के जप तप और योगाभ्यासादि द्वारा परमेश्वर की भक्ति वा महर्षि महानुभाव धर्मात्मा विद्वानों की सेवा अत्यन्त लाग से सब काम छोड़ के करे तो उस का शुभ फल उसी जन्म में शीघ्र ही प्राप्त होता है। और इसी प्रकार अपना विश्वास रखने वालों के साथ वार २ विश्वासघात वा तपस्वी महानुभाव धर्मात्मा विद्वान् महर्षियों के साथ लगातार वार २ अनुपकार किया जाय वा उन को कष्ट दिया जाय इत्यादि प्रकार के पापकर्म का भी शीघ्र ही दुर्दशारूप बुरा फल होता है। जैसे वर्षा होते समय कीचड़ में दौड़ने वाला शीघ्र गिर जायगा। वैसे ही वेग के साथ किये कर्मों का शीघ्र फल मिलना न्याय वा युक्ति के भी अनुकूल है।

और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म वे हैं जिन का फल जन्मान्तर में भोगा जावे। उन के तीन फल भेद हैं। योगसू० १३।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

मरणसमय तक अविद्यादि क्लेशरूप वासनाओं के सञ्चित रहने पर उस सञ्चितकर्म का तीन प्रकार का फल होता है १—जाति वा जन्म कि ब्राह्मणादि कैसे उत्तम वा नीच कुल में जन्म हो और कैसी अवस्था हो और कैसा भोग मिले। अर्थात् ब्राह्मणादिपन विशेष वा मनुष्यादि सामान्य जाति का नियत होना पूर्वजन्म के कर्मानुसार होता है यह योगसूत्र व्यासभाष्य तथा अन्य सभी आर्षग्रन्थों का एक सिद्धान्त है। और ऐसा ही मैं प्रथम भी लिख चुका हूं। तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नाम सञ्चितवासनारूप कर्म के और भी दो प्रकार हैं १—नियतविपाक, २—अनियतविपाक।

तत्राऽदृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य कस्मात्—यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—१—कृतस्याविपक्वस्य नाशः। २—प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा। ३—नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य चिरमवस्थानमिति। १—तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव कर्म कवयो वेदयन्ते"। २—प्रधानकर्मण्यावापगमनं यत्रेदमुक्तम्। स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापगतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति। ३—नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानं कथमिति—अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य, यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत्, आवापं वा गच्छेत्, अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य विपाकाभिमुखं करोतीति ॥ व्यासभाष्यम्—

भावार्थः—जिस का विपाक नाम फलभोग नियत हो जो भोगे विना किसी प्रकार न छूटे किन्तु अवश्य फल भुगावे वह अच्छा वा बुरा अदृष्टजन्मवेदनीय

नियतविपाक कर्म है। इसी नियतविपाक सञ्चित कर्म का यह पूर्वोक्त नियम

है कि मरणानन्तर अगले जन्म में जाति आयु और भोग नियत हों किन्तु अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक [जिस के विपाक नाम फलभोग का नियम न हो कि फल होगा वा नहीं और होगा तो कब ऐसे] सञ्चित कर्म की तीनदशा होती हैं। १-किया हुआ कर्म विना ही फल दिये नष्ट हो जावे। जैसे छोटे २ कुपथ्यों से सञ्चित हुए रोग के कारण काल पाकर निर्बल होके स्वयं नष्ट हो जाते किन्तु उन से कोई विशेष रोग उत्पन्न नहीं होता। २-अथवा प्रधानकर्म के साथ इस प्रकार मिल कर बना रहे जिस में उस की पृथक् गणना न हो। जैसे जौ आदि अधिक अन्न में थोड़े से घास आदि के दाने बोने सींचने काटने गाहने आदि में साथ ही रहने पर भी जौ बोये जौ सींचे जौ काटे जौ गाहे इत्यादि व्यवहार होता और घास बोयी वा घाससहित जौ बोये ऐसा व्यवहार नहीं होता अर्थात् जौ के साथ घास के दानों की गणना नहीं होती। अथवा जैसे १ ऽ एकमन चीनी में दो पैसा भर मट्टी मिली हो तो भी चीनी ही समझी जाती और उतनी मट्टी की गणना ही नहीं होती इसी प्रकार अधिक पुण्य वा पाप में थोड़ा पाप वा पुण्य मिल कर बना रहता और उस पुण्य के साथ थोड़े पाप की और पाप के साथ थोड़े पुण्य की गणना भी नहीं होती कि दूसरा भी है। इसी के अनुसार थोड़ा पाप रहने पर भी पुण्यात्मा वा धर्मात्मा और थोड़ा पुण्य रहने पर भी पापी वा अधर्मी मनुष्य कहाता है। ३—जिस का फलभोग नियत है ऐसे प्रधान कर्म से दबा हुआ पाप वा पुण्य बहुत काल तक बना रहे और जब अपने अनुकूल कर्म की सहायता मिले तभी बल पाकर पकजावे और फल देने को तत्पर होजावे। किये हुए कर्म का विना फल दिये नष्ट होजाना जैसे प्रकाश से अन्धकार का नाश विद्या से अविद्या का राग से द्वेष का सुख से दुःख का वैसे ही पुण्य कर्मों के उदय से पाप का नाश हो जाना। जैसे सब ओषधि सब रोगों को दूर नहीं कर सकतीं वा जैसे प्यास की ओषधि जल से क्षुधा की निवृत्ति और क्षुधा की ओषधि अन्न से प्यास की निवृत्ति नहीं हो सकती ऐसे ही जिस प्रकार के पुण्य में जैसे पाप को निवृत्त करने की शक्ति है वह पाप यदि नियतविपाक न हो तो वैसे पुण्य से हट सकता है। जैसे मन दो मन बोझा उठाने की शक्ति होने पर भी कोई असंख्य मन बोझवाले पर्वत को नहीं उठा सकता वा एक दो बिन्दुजल ग्रीष्म की प्यास को और एक दो दाना भूख को नहीं मेट सकता वैसे ही अधिक काल से संचित होने से जिस की जड़ पुष्ट होगयी उस नियतविपाक असाध्य कर्म को थोड़े उपाय से कोई नहीं हटा वा दबा सकता। और यदि कोई प्रबल साधनों से नियत विपाक वा असाध्य को भी दबा ले तो उस के लिये वह असाध्य वा नियत विपाक ही न माना जायगा। क्योंकि असाध्य भी सापेक्ष ही ठहरता है जिस को जो अपनी शक्ति से बाहर समझे उस को वही असाध्य है जैसे जिस को दो चार रुपये भी

एकत्र कर सकना कठिन हैं उस को सहस्र रुपये का संचय असाध्य है अर्थात् यह नियम नहीं हो सकता कि जो असाध्य हो उस को कोई भी न कर सके और साध्य काम सभी को साध्य हो जावे। इसी लिये पुरुषार्थ वा संस्कार की प्रबलता में नीति का यह बचन संघटित हो सकता है कि—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः? ॥ १ ॥

उद्योगी पुरुष सब कुछ सिद्ध कर लेता है प्रारब्ध में हो तभी सुख मिलता है यह कापुरुष (कायर) लोगों का कहना है इस लिये उद्योगी मनुष्य को उचित है कि प्रारब्ध को लातमार शक्ति भर पुरुषार्थ करे और उपाय करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो अपने कर्त्तव्य का अन्वेषण करे कि मेरे परिश्रम वा उपाय में क्या दोष वा त्रुटि रही जिस से कार्य सिद्ध नहीं हुआ किन्तु यह न मानले कि प्रारब्ध में नहीं था इस से नहीं हुआ॥

द्वितीय कोटि के आवापगमन में भी यदि पुण्य प्रबल है और नये पाप का संचय न हो तो दुःख भोग में नहीं गिर सकता वा उत्तम कोटि के स्वर्ग सुख भोग में कोई विघ्न नहीं कर सकता पर तृतीय कोटि में शंका अवश्य रहेगी कि दबे हुए पाप को जब अवकाश मिलेगा तभी प्रबलता पाये शत्रु के समान दुःख देगा इस लिये उस से बचने का उपाय सदैव कर्त्तव्य है। मनुष्य अल्पज्ञ है इस से नहीं जान सकता कि मेरे दबे हुए पाप कौन हैं जो कभी प्रबल हो सकते हैं इस कारण उस को अत्यन्त उचित है कि अपने शुभकर्मों को सदा प्रबल करता रहे तो पाप सदा निर्बल ही होते रहेंगे। इस प्रसङ्ग में योगशास्त्र के अनुसार कर्मगति का कुछ व्याख्यान करने का मुख्यतात्पर्य यह है कि सब प्रकारों और सब कालों में ओषधि पथ्य क्रियमाण का सुधार वा संस्कार मनुष्य को करना चाहिये यह सब वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त पाठकों को जताया गया सो जैसे नीरोगदशा में नये रोग न हों इस लिये पथ्य और अज्ञात कुपथ्यों से सञ्चित रोग के कारण अङ्कुर के समय ही नष्ट हो जायं इस लिये ओषधि कर्त्तव्य है तथा साध्य रोगों को दूर करने और असाध्य भी कदाचित् अधिक दिनों तक लगातार सुविचार के साथ ओषधि होने से साध्य हो सकें इस लिये ओषधि कर्त्तव्य है कदाचित् असाध्य का बल बढ़ जायगा तब दुःख अधिक देगा और ओषधि से कुछ २ दबता रहा तो वैसा दुःख न देगा इस कारण ओषधि और पथ्य सदा ही कर्त्तव्य हैं वैसे ही प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि नियतविपाक पापकर्म को प्रबल न होने देने के लिये वा नियतविपाक पुण्यफल भोगने के लिये तथा अनियतविपाक पाप को सदा दबाने

वा नष्ट करने के लिये और अनियतविपाक पुण्य को सदा प्रबल करने के लिये सब देश काल वा अवस्थाओं में शुभकर्मरूप संस्कार करता रहे । जाति प्रारब्ध वा असाध्य जैसे सार्वत्रिक नहीं वैसे ही संस्कार सर्वदेशी अवश्य है जैसे उत्पत्ति समय पूर्वजन्म के संस्कार से जाति बनती है यह जाति बनने का अव्यभिचारी नियम है वैसे जाति से संस्कार बनने का नियम नहीं कि जो जाति से अच्छा हो वह अच्छे ही काम भी करे । इस लिये सर्वदेशी होने से संस्कार वा क्रियमाण प्रबल है । वेदादिशास्त्रों में मनुष्य के लिये नित्य नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का कर्त्तव्य कहा है और वह सब कर्त्तव्य आत्मा, मन, वा वाणी का शोधक वा धर्म संचय का हेतु होने से संस्कार वा धर्म माना जाता है । जैसे नित्यस्नान से शरीर का, नित्य प्रक्षालन से वस्त्रों का और नित्य झाड़ने लीपने से घर का संस्कार करनेकी आज्ञा है वैसे नित्य कर्त्तव्य में पञ्चमहायज्ञ प्रधान हैं इन पञ्चमहायज्ञरूप संस्कारों से आत्मा और मन की नित्यशुद्धि करनी चाहिये-मनु ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ॥
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥ १ ॥

भा०-(ज्ञानम्) जैसे अग्नि दीपकादि के तेज से वा प्रकाश से मलिनता वा अन्धकार दूर होता है वैसे आत्मा वा अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति बढ़ने से अन्तःकरण वा आत्मा का मलीनता रूप अज्ञान नष्ट होकर आत्मा शुद्ध वा संस्कृत होता है (तपः) जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादिधातुओं की मलीनता नष्ट होती वैसे सन्ध्यादि में प्राणायामादि तप नित्य करने से इन्द्रियें और मन का संस्कार होता (अग्निः) जैसे अशुद्ध वस्तु वा स्थान की अशुद्धि अग्नि से दूर होती वैसे बाह्य अग्नि से शरीर के अवयवों और पित्तरूप जाठराग्नि के यथोचित बढने से शरीर के भीतरी अंशों का संशोधन वा संस्कार होता है । (आहारः) जैसे विष्ठादि मलिन खात मिलाने से शाक वृक्ष वनस्पति आदि अशुद्ध उत्पन्न होते और अच्छे गुणोंवाला खात देने से शुद्ध आरोग्य वा बुद्धिवर्द्धक पदार्थ उत्पन्न होते वैसे ही मद्यमांसादि मलिन आहार भोजन से शरीर के धातु मलिन बनते उस से मन और आत्मा भी मलिन हो जाता है इसी लिये वे पदार्थ अभक्ष्य माने जाते हैं। और घृत दुग्धादि शुद्ध सत्त्वगुणी आहार से शरीर के रुधिरादि धातु शुद्ध बनते और उस से आत्मा और मन का भी संस्कार होता जाता है (मृत्) जैसे विष्ठादि दुर्गन्ध वस्तु को मट्टी खा जाती वा अपने स्वरूप में बना लेती है वैसे ही दुर्गन्ध युक्त हाथ आदि मट्टी लगाकर धोने से शुद्ध हो जाते हैं वा सब शरीर में मट्टी लगाने से रोमकूपों द्वारा निकलने वाले दुर्गन्धित अंशों को शुद्ध करती है (मनः) यद्यपि अनेक शास्त्रकारों की सम्मत्यनुसार मन अभौतिक माना जाता है तथापि एक प्रकार का ज्योतिःस्वरूप अवश्य

है । जैसे शुद्ध गुण के सम्बन्ध से गुणी की शुद्धि होती वैसे ही मन के शुद्ध होने से आत्मा की शुद्धि अवश्य होती है इसीलिये मन को शुद्ध करनेवाले उपाय आत्मा के संशोधक भी मानने चाहिये (वारि) जैसे जल से धोकर शरीर वस्त्रादि की शुद्धि होती वैसे आचमनादि द्वारा भीतर गये स्वयं शुद्ध और मन्त्रपूत जल से शरीर के भीतरी अंशों का भी संस्कार होता है और उस से आत्मा वा मन की प्रसन्नता होती है (उपाञ्जनम्) झाड़ने बुहारने और लीपने आदि से नित्य शोधे जाने वाले स्थान में रहने वाले का मन प्रसन्न वा ग्लानिरहित शुद्ध रहता है इस कारण शरीरधारियों के शुद्ध रहने में बाहिरी स्थानादि की शुद्धि भी कारण अवश्य है (वायुः) जैसे पुरीषस्थान (पाखाने) में कुछ काल तक दुर्गन्ध वायु के सेवन से शरीर वा मन में ग्लानि होती है वैसे ही निर्जनदेश के शुद्ध वायु के मिलने से प्रसन्नता शुद्धि वा संस्कार होता है । वायु भी मनुष्य का एक सूक्ष्म आहार है। जैसे अन्य दुर्गन्धयुक्त अभक्ष्य तमोगुणी पदार्थों के खाने से रोग ग्लानि वा मलिनता उत्पन्न होती है वैसे अधिक मनुष्य समुदाय के अशुद्ध अभक्ष्य वायु के श्वास द्वारा बार २ लेने से ग्लानि वा मलिनता बढ़ती है और जीवन वा आयु दिन २ घटती जाती है इस कारण शुद्ध एकान्त निर्जनदेश के वायु का आहार शुद्धि वा जीवन को बढ़ानेवाला अवश्य है। (कर्म) शुद्ध परोपकारी दानादिकर्मों से आत्मा वा मन की प्रसन्नता वा शुद्धि होती (च) और (अर्ककालौ) सूर्य भी मनुष्यों की शुद्धि का एक बड़ा कारण है । रात्रि में जो तमोगुण सम्बन्धी अन्धकार प्राणियों के चित्त में प्रवेश करता है वह सूर्योदय के प्रकाशरूप सत्वगुण के फैलने से दूर हो जाता है । जैसे दुर्गन्धित वस्तुओं का दुर्गन्ध सूर्य के प्रखर तेज से छिन्न भिन्न होकर नष्ट होता है वैसे शरीरों सम्बन्धी निकृष्टांशों की भी शुद्धि सूर्य के द्वारा होती है । और काल सभी पदार्थों का संशोधक है [क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्] जो काम शीघ्र न कर लिया जाय वा शीघ्र न होजाय उस का रस काल पी जाता है अर्थात् उस के करने का साहस काल पाकर स्वयं शान्त होजाता है । जैसे जहां पुरीषस्थान वा मोरी रहे और पीछे वहां खाली पड़ा रहे तो काल पाकर वह स्थान स्वयमेव शुद्ध होजाता है । अर्थात् जिन स्थानों को हम उत्तम मानते जहां भोजनादि बनाते हैं जो हमारी पाकशाला वा पाठशाला हैं वे कभी अत्यन्त मलिनस्थान भी अवश्य रह चुके हैं परन्तु अब काल ने उन को शुद्ध कर दिया वा काल बीत जाने से वे शुद्ध होगये ऐसे ही अनेक छोटे २ कुसंस्कार बुरी वासना जो होती रही हैं उन को नवीन बुरे संस्कारों की सहायता मिलना बन्द होजाय तो काल पाकर स्वयमेव शान्त हो जाती हैं फिर कभी फल देने की शक्ति उन में शेष नहीं रहती । इस प्रकार ज्ञान से लेकर कालपर्यन्त गिनाये पदार्थ संस्कार वा शुद्धि करनेवाले स्वभाव से ही हैं इसलिये संशोधक पदार्थों की सदा ही अपेक्षा रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है ॥

वेद... ...त्रों के सब विधिवाक्य (कि ऐसा करो वा ऐसा मत करो) संस्कार के प्रतिपादक अर्थात् शरीर मन वाणी वा आत्मा की शुद्धि के लिये उपाय बताने वाले हैं और वास्तव में संस्कार वा संशोधन ही धर्म है इसी से शुद्धान्तःकरण और धर्मात्मा एकार्थ शब्द हैं। जहां कहीं स्वभाव जाति वा नियतविपाक कर्मों की प्रबलता सिद्धानुवाद से दिखायी है वहां भी कर्त्तव्यरूप संस्कार के निषेध करने में तात्पर्य नहीं किन्तु जैसे पूर्व प्रारब्ध प्रबल है वैसे अब का प्रारम्भ किया आगे प्रबल होगा ऐसा मान कर शुभकर्मों का सदा अनुष्ठान करना चाहिये। जैसे असाध्य रोग के न हटने पर भी चिकित्सा की ओर चित्त लगने, वैद्य आदि को अपने दुःख निवारण के लिये तत्पर देखने, रोग दुःख के विरुद्ध औषध्यादि से कुछ शक्ति वा साहस बढ़ने और रोग का भी कुछ बल घटने से रोगी का कुछ दुःख घटता और कुछ सुख भी होता तथा रोगी और उस के साथियों का कर्त्तव्य में तत्पर होने का अभ्यास बढ़ता है इत्यादि कारणों से औषधि करना निष्फल नहीं किन्तु सफल ही है। वैसे ही प्रारब्ध कर्म अमिट होने पर भी उस से विरुद्ध शुभाचरण सार्थक ही रहेगा। और जब असाध्य रोग के तुल्य नियतविपाक प्रारब्धकर्म नहीं है तब तो पूरा २ ही उद्योग सफल होता है। इसी के अनुसार पंचमहायज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्य सब दशा में सेवनीय और सफल हैं। जैसे घर वस्त्र वर्त्तनादि नित्य २ झाड़े लीपे धोये मांजे न जांय तो नित्यप्रति कुछ २ कूड़ा मैल बढ़कर महानिकृष्ट हो जाते वा नष्ट होजाते हैं वैसे शरीर, मन, वाणी और आत्मा भी पञ्चमहायज्ञादि द्वारा नित्य २ न शोधे जांय तो मलिन वा नीच हो जाते हैं। जैसे शरीर पर नित्य नित्य मैल वढ़ता है वैसे संसारी विषयों के कुसंस्कार मन और आत्मा में इन्द्रियों द्वारा पहुंचा करते हैं उन्ही कुसंस्कार वा दुष्ट वासनाओं को पाप दोष वा अधर्म भी कह सकते हैं। ज्ञानी पुरुष को विषयभोगादि की वासना नहीं सतातीं इस कारण उस को पाप नहीं लगते यह कहना उचित है।

१–ब्रह्मयज्ञ। २–देवयज्ञ। ३–पितृयज्ञ। ४–भूतयज्ञ। ५–नृयज्ञ। ये पांच महायज्ञ कहाते हैं मुख्यकर इन्ही का नाम नित्यकर्म है। यहां संस्कार के व्याख्यान में इन का क्रम से कुछ व्याख्यान किया जायगा क्योंकि ये नित्य कर्त्तव्य संस्कार हैं। और चारो आश्रम वालों को किसी न किसी प्रकार कर्त्तव्य हैं। इन में पहिला ब्रह्मयज्ञ है इस का सामान्य वा मुख्य नाम यही है और विशेष नाम, सन्ध्योपासन और स्वाध्याय दो हैं। आगे इन्ही दो के अवान्तर भेद वा व्याख्यान जानो। नियम से वेद का पढ़ना पढ़ाना और वेदमन्त्रों का नित्य नियम से स्तोत्रपाठ करना स्वाध्याय कहाता है शुद्धि के साथ नियमानुकूल सायं प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना भक्ति वेदमन्त्रों द्वारा करना सन्ध्योपासन है। सन्ध्योपासन में प्रथम शरीरशुद्धि का विधान है और शरीर शुद्धि के साथ

ही स्थान वा वस्त्रादि उपयोगी पदार्थों की भी शुद्धि का विधान समझ लेना चाहिये । मुख्यकर जप करने का नाम सन्ध्या है शेष सब कर्त्तव्य इस के सहायक साधन हैं । इसी लिये प्रत्येक कर्माङ्ग का भिन्न २ फल खोजना व्यर्थ है । जैसे भोजन बनाने में चूल्हे से अमुक ओर बैठे सामने आटा धरे वा इस २ क्रम से अन्य सब भोजन बनाने की सामग्री रक्खे इत्यादि विधान का भिन्न फल कुछ नहीं किन्तु सुगमता से अच्छा भोजन बनने के लिये सब कर्माङ्गों का भिन्न २ विधान है और सर्वत्र ही कर्माङ्गों का प्रधान कर्म के साथ फल वा सम्बन्ध समझा जाता है इसी प्रकार यहां भी मार्जन आचमनादि सब उपासना के साधनाङ्ग हैं उन का फल मुख्य यही है कि उपासना सुगमता के साथ अच्छी हो । यह नियम है कि जब मनुष्य के विचार अनुभव (खयालात) अच्छे होते धर्म का अङ्कुर चित्त में जमता वा धर्मात्मा पुरुषों से प्रीति वा मेल होता है तब बुराइयों से चित्त हटता निकृष्ट वासना उस समय शिथिल वा मलीन हो जाती हैं वैसे यहां भी सर्वोपरि धर्मात्मा शुद्धस्वरूप निष्कलङ्क परमेश्वर की उपासना करते समय सूर्योदय से रात्रि के अन्धकार के तुल्य हृदय के कुसंस्कार दूर होजाते हैं उस समय चित्त शुद्ध और निष्पाप हो जाता है । मनु०—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन् नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१॥ अ०२

भा०—जैसे प्रातःकाल स्नान करने से रात भर में शरीर पर आया मैल धो जाता है और सायङ्काल के स्नान से दिन भर में धूलि पड़ने आदि द्वारा सञ्चित हुआ मैल दूर होता और शरीर शुद्ध हो जाता है वैसे ही प्रातःकाल की सन्ध्या के यथोचित जप से मन और आत्मा में कुसंस्कारों द्वारा रात्रि भर में प्राप्त हुई मलीनता दूर हो जाती है और सायङ्काल में यथोचित सन्ध्योपासन से दिनभर में प्राप्त हुई कुसंस्काररूप मलीनता दूर होती है । यदि नित्य नियम से यथोचित सन्ध्योपासन होता रहे तो नित्य धोये जाने वाले वस्त्र के समान मनुष्य का मन और आत्मा मलिन नहीं होने पाता इस लिये नित्य कर्मों में सन्ध्योपासन पहिला संस्कार है । विचार का स्थान है कि जिस वस्त्र पर दिन रात अनेक प्रकारों से नानाविध मल जमता जाय और उस को शुद्ध करने के लिये कभी कुछ भी उपाय न शोचा वा किया जाय तो कितना मलिन हो जायगा जिस की अवधि (हद्द) नहीं हो सकती और फिर उस वस्त्र को शुद्ध करने के लिये कितना समय और परिश्रम अपेक्षित होगा यह विचारशील स्वयं शोच लेंगे । इसी प्रकार अनेक अनवधिक जन्मजन्मान्तरों से नानाप्रकार के दुष्ट संस्काररूप मल वा [illegible] होगये तो

भी हम आत्मसंस्कार की ओर कुछ भी तत्पर नहीं होते जितना हम घर व-स्त्रादि के संस्कार में उद्योग करते हैं बस से चतुर्थांश भी आत्मसंस्कार में ध्यान दें तो अवश्य कुछ धर्म की ओर झुके समझे जावें। शोचने से ज्ञात होगा कि-इस्प्रति वस्त्रादि के निर्मल रखने की ओर शिक्षित लोगों की कैसी अधिक प्र-वृत्ति है और साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि आत्मसंस्कारनामक धर्म से वे कहां तक विमुख हैं!!! और दिन२ धर्म से पीठ फेरते ही जाते हैं। वास्तव में लि-फाफेदार बाह्य दिखावटी शुद्धि की अपेक्षा भीतरी संशोधन मुख्य है क्योंकि आत्मसंस्कार से जो सुख मनुष्य को प्राप्त हो सकता है वह तीन काल में भी अन्य प्रकार से नहीं मिल सकता। इस लिये जो लोग अपना कल्याण चाहें वे सन्ध्योपासनादि आत्मसंस्कार की ओर झुकें। जैसे वस्त्र पर बहुत काल से संचित हुई सूक्ष्ममलिनता एक दो बार प्रक्षालन (पछारने) मात्र से निवृत्त नहीं होती वैसे अनादि काल से संचित हुए दुर्वासनारूप पाप थोड़े दिन सन्ध्योपासनादि संस्कार से दूर नहीं हो सकते तथा जैसे प्रथम से शुद्ध वस्त्र पर भी पक्की स्याही का दाग लग जाय तो सहज उपाय से नहीं छूटता वैसे ही नित्य २ सन्ध्यो-पासनादि आत्मसंस्कार करने से शुद्ध अन्तःकरण में भी दिन वा रात में कोई प्रबल कुसंस्काररूप पाप जम जाय तो वह नित्य के सन्ध्योपासनादि साधारण सं-स्कारोपाय से नहीं हट सकता उसी को असाध्य रोग के तुल्य नियतविपाक कर्म मानना चाहिये परन्तु नित्य २ संस्कार होते रहने से निर्बल वह भी होता रहेगा। जैसे अधिक मलिन वस्त्र को भी नित्य थोड़ा २ धोते रहो तो नवीन मैल न चढ़ेगा और पुराना भी कुछ घटता जायगा। अब यह तो सिद्ध होगया कि सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म आत्मा वा मन के संशोधनार्थ हैं।

रक्षा, शिखाबन्धन, मार्जन, इन्द्रियस्पर्श, प्राणायाम, अघमर्षण, परिक्रमा, उपस्थान, जप और समर्पण ये सन्ध्योपासन के अङ्ग हैं। इन सब को नियम पूर्वक एक साथ करना सन्ध्योपासन कहाता है। रात्रि दिन के सन्धि समय जो कर्त्तव्य उपासना है वही सन्ध्योपासन है॥

१—प्रत्येक काम को विघ्न ही बिगाड़ते हैं और विघ्नों से बचना ही रक्षा कहाती है और "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" कल्याणकारी काम में विघ्न बहुत होते हैं। और एकान्त में सन्ध्योपासन करने की आज्ञा है वहां कोई प्रकार का विघ्न न हो इसलिये प्रथम परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारी सब प्रकार रक्षा करे और विघ्नों से हम को बचावे। जैसे लौकिक किसी काम की प्रार्थना हम किसी समर्थ मनुष्य से करना चाहते हैं यदि उस कार्य का सिद्ध होना अत्यन्त अभीष्ट है तो हम उस कार्य की सिद्धि के लिये प्रार्थना से भिन्न उपाय भी करते हैं किन्तु प्रार्थना करने से अन्य उपायों का निषेध नहीं होता और जिस को हम सब उपायों से करने के लिये तत्पर हों वही काम हम को

अत्यन्त प्रिय वा इष्ट हो सकता है वैसे ही यहां भी रक्षा आदि हम को अत्यन्त इष्ट हैं तो उन के लिये प्रार्थना करें और यथोचित अन्य उपाय भी करते रहें जो कि प्रार्थना से विरुद्ध न हों। जब सत्य भाव से हम परमेश्वर की प्रार्थना करें तो यदि उस व्यापक अन्तर्यामी की कृपा वा प्रेरणा से विघ्न हटने और रक्षा होने का हम को सहज उपाय सूझे तो भी प्रार्थना का ही फल समझना चाहिये। जैसे सुपात्र को दान देने की आज्ञा है वैसे परमेश्वर भी सुपात्र की प्रार्थना का अवश्य फल देता है। जैसे लोक में एक २ कौड़ी मांगने वालों को प्रायः सर्वत्र और शीघ्र कौड़ी २ मिलती जाती है। पैसा मांगने वालों को सैकड़ों में कोई २ देता है और रुपया मांगने वाले को यदि कोई दयालु दाता सुपात्र ही समझले तो देने को तत्पर होता वा अधिक परिश्रम किया समझले तो देता है तथा कोई अर्थी सौ दो सौ रुपये किसी दाता से मांगे तो अनेक वार मांगने से वह जब मांगने वाले का इतना परिश्रम समझले जिस का प्रतिफल देने को चित्त में उत्साह हो और सुपात्रता भी प्रतीत हो तो दयालु दाता यथोचित देता है। इसी कारण कुछ अधिक भिक्षा मांगने वाले फेरी लगाते हैं और उस फेरी लगाने वाले का परिश्रम नित्य २ दाताओं के चित्त में स्थान पाता जाता है जब उस के देने का समय आता है तब प्रायः दाता लोग भिक्षुक की सुपात्रता और अपनी योग्यता के अनुसार देते हैं। वैसे ही परमेश्वर भी प्रार्थी की सुपात्रता और प्रार्थना के परिश्रमानुसार उस को फल अवश्य देता है। कर्मों से फल होता है जो जैसे कर्म करे परमेश्वर उस को वैसा ही फल देता है विना कर्म के किये कुछ भी सुख वा दुःख फल किसी को प्राप्त नहीं हो सकता इस के अनुसार विना अच्छे कर्म किये प्रार्थनामात्र से परमेश्वर अच्छा फल देगा? तो उत्तर यह है कि कर्म किये विना कुछ भी फल नहीं मिल सकता यह ठीक है परन्तु प्रार्थना भी एक कर्म है क्योंकि कायिक वाचिक मानस तीन प्रकार के कर्मों में प्रार्थना वाचिक कर्म है जब कर्मों का फल देता है तो प्रार्थना का भी यथोचित फल अवश्य देगा। प्रार्थना पर इतना इस लिये लिख दिया कि सन्ध्यादि कर्मों में अनेक प्रकार की प्रार्थना है और शुद्ध स्वरूप परमेश्वर से संस्काररूप धर्म के साधनों को चाहना बहुत ही उचित वा अनुकूल है जैसे प्रकाशस्वरूप दीपक से अन्धकार हटने और प्रकाश होने की आशा सिद्ध ही होती है वैसे ही शुद्धस्वरूप परमेश्वर से शुद्धि की प्राप्ति अति सुगम है॥

सन्ध्योपासन में शिखा बन्धन भी एक कर्माङ्ग है। सामान्य कर ब्राह्मणादि द्विजों के लिये और विशेष कर ब्राह्मण के लिये वेदादि शास्त्रों में तीन बन्धन वा ऋण नियत किये हैं उन बन्धनरूप ऋणों का चुका देना ही चतुर्थाश्रम में मुक्ति है। मनु जी ने भी षष्ठाध्याय में स्पष्ट कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्यमनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

तीन ऋण चुका कर ही मोक्ष में मन लगावे और ब्राह्मणग्रन्थों में भी स्पष्ट लिखा है कि–

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः ॥

अच्छा बुरा समझने योग्य समर्थ हुआ ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋण वा बन्धनों से ऋणी होता है अर्थात् जैसे किसी असमर्थ दुःखी को इस आशा पर ऋण दिया जाय कि जब यह कमाने योग्य होगा तब चुका देगा। जब वह समर्थ कमाने योग्य होता तब उस पर ऋण चुकाने का भार होता यदि समर्थ होकर न चुकावे तो जानो पापी वा अपराधी है वैसे उत्पन्न होने के समय से विद्या शिक्षा पाकर समर्थ होने समय तक जो पालन पोषण अध्यापन वा शिक्षण में उस के साथ ऋषि आदि नामक सत्पुरुषों ने परिश्रम किया उस का बदलारूप तीनों प्रकार के ऋण चुकाना है। जैसे कोई पुरुष रस्सी वा जंजीर से बंधा हो और भागना चाहे तो बिना बन्धन खोले भाग नहीं सकता वैसे ही तीन प्रकार के भीतरी बन्धनों को जब तक न छुड़ा ले तावत् कोई मुक्त नहीं होता यह सब शास्त्रों का एक ही सिद्धान्त है। उन भीतरी तीन ऋणरूप बन्धनों को भूले नहीं किन्तु तीन स्थानों में बाहरी तीन बन्धन वा गांठों को तब तक शरीर के साथ रक्खे जब तक बन्धनों से न छूटे वा तीनों ऋण अपने ठीक २ शास्त्रानुकूल धर्मानुष्ठान से न चुका देवे। इन में एक बन्धन शिखा है जिस में सन्ध्योपासनादि के समय नित्य ही गांठ देनी चाहिये और जैसे भूलने की शंका होने पर लोकव्यवहार में कपड़े में गांठ लगवादी जाती है कि "गांठबांधलो भूलना नहीं" वैसे ही ऋषि ऋण चुकाने सम्बन्धी ब्रह्मयज्ञ नामक कार्य के आरम्भ में शिखा में नित्य गांठ देते समय अपने पर ऋषि ऋणरूप भार का नित्य स्मरण करले कि मैं इस को न भूलूं वा छोडूं गा। इस के छोड़ने से ऋणी के तुल्य मैं पापी रहूं गा इस लिये अपना कर्त्तव्य (फ़र्ज़) समझकर करता रहूं। दूसरा बन्धन यज्ञोपवीत की ग्रन्थि है। वह नित्य सामने रहता है उस की गांठ को देखकर वा नवीन बनाते समय गांठ लगावे तब द्वितीय बन्धनरूप ऋण चुकाने का स्मरण करता रहे। तृतीय बन्धन मेखला (कन्धनी) की गांठ है जो लंगोट लगाने के लिये बांधी जाती और धोती के भीतर रहती है और इस तृतीय ऋण चुकाने की अवधि (हद्द) सन्तान उत्पन्न कर विद्या शिक्षा सम्पन्न समर्थ बनादेने तक है। मेखला की गांठ के स्मरण से सन्तानोत्पत्तिरूप ऋण चुकाने का वार २ स्मरण रखना चाहिये। इस प्रकार शिखाबन्धन कर्मादि गायत्रीमन्त्र पढ़के करना

चाहिये । और परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह मेरी बुद्धि को ऋषि ऋण चुकाने में तत्पर रक्खे इस लिये मैं उस के तेजःस्वरूप का नित्य ध्यान करूं॥

सन्ध्योपासन में "मार्जन" एक कर्माङ्ग है । यद्यपि मार्जन शब्द मुख्यकर कूंचा वा झाडू का नाम है स्त्रीलिङ्ग में बुहारी को मार्जनी कहते हैं । "मृजूष शुद्धौ" धातु से मार्जन वा मार्जनी शब्द बना है "मार्ष्टि अनेन तन्मार्जनम्" जिस से शुद्धि करें वह मार्जन है । मार्जन शब्द द्रव्य वाचक है किन्तु क्रिया वाचक नहीं । यहां सन्ध्योपासन में यदि इस को क्रिया वाचक लें तो मार्जन नामक द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाली शुद्धि हेतु क्रिया का गौण नाम होगा । कई दर्भ कुश लेकर उन की एक छोटी कूंची झाडू के समान बनानी चाहिये और बनाने की चाल भी है उस का नाम मार्जनी वा मार्जन है उस से किया जल सेचनरूप कर्म भी मार्जन होगा । और जैसे पृथिवी में जल सेचन का व्यवहार भी पृथिवी को शुद्ध करने के लिये है और प्रत्यक्ष में भी जल सेचन से पृथिवी की शुद्धि अनुभूत होती है पृथिवी से एक प्रकार का सुगन्ध निकलता और गर्मी शान्त होती है । सींचे हुए स्थान में जाने वा बैठने से चित्त प्रसन्न होता ग्लानि दूर होती है इस कारण पृथिवी का मार्जन भी पृथिवी का सस्कार है वैसे ही जल सेचनरूप मार्जन कर्माङ्ग से गर्मी और ग्लानि की शान्ति हो कर स्फूर्त्ति आती है । और इस मार्जनरूप जल सेचन के साथ परमेश्वर से प्रार्थना भी करनी चाहिये और उस के साथ ऊहित मन्त्रों का पाठ करने के लिये भी शास्त्रकारों की आज्ञा है । ऊहित मन्त्र वे कहाते हैं जिन में कोई मूल वा मुख्यपद वेद मन्त्रों से लियाजाय और उस के साथ उपयोगी अन्य पद मिलाकर वाक्य बना लिया हो वे एक २ वाक्य एक २ मन्त्र कहाते हैं जैसे "भूः पुनातु शिरसि" यहां भूः शब्द मूल वेद से लिया गया और शेष पद मिला के वाक्यरूप मन्त्र बना लिया गया । मन्त्रों को यथावसर ऊहा करने के लिये शास्त्रों में आज्ञा भी है । भू आदि नामक परमेश्वर हमारे शिर आदि अङ्गों को पवित्र अर्थात् शिर आदि के शुद्धकरने में हम पर वह ऐसी कृपा करे कि जिस से शिर आदि अङ्ग शुद्ध होकर उन से होने वाले काम निर्दोष होते रहें । जैसे "भुवः पुनातु नेत्रयोः" भुवर्नामक परमात्मा हमारे नेत्रों को पवित्र करे इस कथन से यह अभिप्राय न समझलेना कि आखों में जो कीचर आदि नामक मल लगा हो उस को परमेश्वर छुड़ा देवे क्योंकि सन्ध्योपासन के आरम्भ से पहिले ही हम को आज्ञा है कि शरीर की शुद्धि करो उस शरीर शुद्धि में नेत्रादि अङ्गों का धोना वा मल छुड़ाना भी स्वतः सिद्ध है और ऐसे तुच्छ वा साधारण काम में परमेश्वर से सहायता की प्रार्थना भी विशेष लाभकारिणी नहीं हो सकती । इसलिये "भुवर्नामक परमात्मा हमारे नेत्रों को पवित्र करे" इस प्रार्थना वाक्य का आशय यह है कि अधर्मदृष्टि से यदि हम किसी पदार्थ वा स्त्री आदि को देखें, क्रूरदृष्टि से देखें, जैसा कि अन्य

का देखना हम को अपने वा अपने किसी वस्तु के लिये अनुचित जान पड़ता है ऐसी दृष्टि नेत्रों का दोष वा अपवित्रता है उस को शुद्ध करने में परमेश्वर हमारी सहायता करे। हम यदि धर्मानुकूल सब के पदार्थों वा सब प्राणियों को देखें जैसा कि अन्यों का देखना हम अपने लिये अच्छा समझते हैं तो यही नेत्रों का पवित्र होना है और ऐसी पवित्रता होना साधारण काम नहीं है इस के लिये परमेश्वर से सहायता चाहना अति आवश्यक है अथवा मन और आत्मा की चेतन शक्ति सर्व शरीर में रहने वाली है उस को शुद्ध पवित्र करने के लिये प्रार्थना और उद्योग है यह भी आशय पूर्वकथन के अनुकूल ही है। आशा है कि मार्जन के संस्काराङ्गविषय पर इतना लिख देने से पाठकों को बोध हो जायगा कि मार्जन भी संस्कार का एक अङ्ग है।

और आचमन भी सन्ध्योपासन में एक कर्माङ्ग है। आचमन का विधान मनुस्मृति में भी लिखा है:—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥

भा०—मन्त्रद्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करके शुद्ध जल से पहिले तीन बार आचमन करे तदनन्तर जल से दो बार मुख धोडाले और हाथ में जल लेके सब इन्द्रियों का स्पर्श करे जिस में परमेश्वर से प्रार्थना भी करता जावे तथा वैसे अपनी नाभि और हृदय तथा शिर का भी स्पर्श करे इसी का नाम इन्द्रिय स्पर्श भी है। जिस जल में फेन काई वा गंदलापन दुर्गन्धि और किसी प्रकार की मलीनता न हो सूर्य के ताप से वा अन्य प्रकार गर्म न होगया हो ऐसे निर्मल जल से शुद्धि चाहने वाला धर्मज्ञ पुरुष पूर्व वा उत्तर को मुख करके सदा आचमन करे। अर्थात् सन्ध्या करने के लिये पूर्वाभिमुख वा उत्तराभिमुख बैठे। शुद्ध करने वाले वस्तुओं में पहिले जल भी गिना चुके हैं जिस वस्तु को जल से धोया वा सींचा जाय उस की यथोचित शुद्धि होती है यह प्रत्यक्ष भी सिद्ध है। इसी प्रकार आचमन द्वारा जो जल भीतर पेट में जाता है उस से कण्ठादि की कुछ शुद्धि होना स्वतः सिद्ध है। और इस के साथ में पवित्र स्वरूप परमेश्वर का स्मरण और शुद्धि की प्रार्थना भी हम को तत्काल ही कुछ २ सुख पहुंचाती है। जैसे अच्छे धर्मात्मा पुरुष के हृदय में लगते हुए उपदेश के प्रत्येक वाक्य से हृदय के मलीन संस्कारों को धक्का लगता वा शुभ संस्कारों का प्रवेश हृदय में होता जाता है इसी से हर्ष भी उत्पन्न होता जाता है तो उस का प्रत्यक्ष फल

(गत अङ्क से आगे त्रयीविद्या का व्याख्यान ॥)

रहा ब्राह्मण यज्ञसूत्र वा वेदाङ्गादि का आम्नाय होना सो गौण रीति से हो ही सकता है इसलिये विशेष कहना व्यर्थ है। पर यह अवश्य मानना होगा कि वेद का नाम योगरूढ़ आम्नाय है और ब्राह्मणादि के मूल वेदार्थ के जानने में उपयोगी होने से यौगिकार्थ लेकर वे भी आम्नाय कहाते हैं। जब वार२ पढ़ना वा नित्य नियम से पाठ करना मुख्य अभ्यास वा आम्नाय कहाता है और नित्य नियम से वेदपाठ का ही नाम स्वाध्याय वा ब्रह्मयज्ञ है जिस के लिये धर्मशास्त्रादि में अनेक प्रकार से विधान है। तो इतने ही अर्थ से आम्नायपद मुख्यकर मन्त्रसंहितारूप वेद का वाचक ठहर जाता है ॥

यद्यपि इस प्रयोजन के लिये अन्य अवान्तर प्रलयादि का प्रकरण बढाने की आवश्यकता नहीं तो भी सामश्रमी जी ने परिश्रम किया है। इस कारण हमे भी इस विषय में कुछ लिखने पड़ा। प्रलयशब्द का यद्यपि सामान्यार्थ सब देश वा कालों में विद्यमान रहता है अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय सदा वा प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। क्योंकि नामरूप भेद से पदार्थों का बनना उत्पत्ति और उन का नाश वा मरण प्रलय कहाता है इसीलिये किसी प्रकार की विशेष हानि होने पर लोक में कहते हैं कि "प्रलय होगया" तथापि जैसे सर्वत्र प्रधान मुख्य और गौण के प्रसंग में प्रधान का ही ग्रहण वा व्यवहार होता है वैसे यहां भी प्रलय शब्द मुख्य वा विशेष (ख़ास) अर्थ का वाचक समझना चाहिये। और मुख्य प्रलय तीन प्रकार का है। १—महाप्रलय। २—ब्राह्मकल्पसम्बन्धी प्रलय। ३—अवान्तर, मन्वन्तर वा युगान्तर का प्रलय। इन में महाप्रलय वह है जिस में महत्तत्व पर्यन्त सूक्ष्म कार्यों का भी प्रलय होजाता है उस समय सूक्ष्मभूतों के अणु भी नहीं रहते किन्तु अणु से भी अतिसूक्ष्मावस्था प्रकृतिमात्र रह जाती है। इसी महाप्रलय के वर्णन में वेद में लिखा है कि—"तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्" उस महाप्रलय के समय आकाश अणु और द्व्यणुकादि भी नहीं थे। द्वितीय ब्राह्मकल्पसम्बन्धी प्रलय में पञ्चतन्मात्र सूक्ष्मभूत भी बने रहते हैं किन्तु सब प्राणीमात्र और पृथिव्यादि स्थूल भूतपर्यन्त का लय हो जाता है। और तृतीय अवान्तर प्रलयों में विशेष योगी, ऋषि, महर्षि, तपस्वी लोग अपने तप के प्रभाव से बने रहते और पृथिव्यादि स्थूलभूतों का भी नाश नहीं होता केवल सर्वसाधारण मनुष्यादि प्राणियों का नाश होता है। यहां सामश्रमी जी के लेखानुसार प्रतीत होता है कि अवान्तर प्रलयों में वेद का आम्नान अभ्यास वा पठनपाठन सर्वथा बन्द होजाता और प्रलय से बचे तपस्वी लोग समाधि आदि किसी दशा में रहते हैं परन्तु हम कहते हैं कि वेद का पठन पाठन अवान्तर प्रलयों में सर्वथा निवृत्त नहीं होता किन्तु कम होजाता है जो तपस्वी लोग

प्रलय से बच जाते हैं वे लोग वेदाभ्यास को भी तप मान कर अभ्यास करते रहते हैं। गोतमीय न्याय के भाष्यकार वात्स्यायन महर्षि ने—अ० २ आह्निक १ सूत्र ६७ पर लिखा है कि:—

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वमाप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् ॥

भा०—पीछे हो चुके वा आगे आने वाले मन्वन्तर युगान्तरों में गुरुशिष्य सम्प्रदाय द्वारा वेद के अभ्यास का विच्छेद न होना ही नित्यत्व है और आप्त लोगों ने शिरोधार्य वेद का प्रमाण सर्गारम्भ से माना, इस से प्रमाण मान्य है। (यहां वात्स्यायन का तात्पर्य वेदशब्दों के नित्यत्व से है वेदज्ञान से नहीं क्योंकि वेदज्ञान तो गुरुशिष्य परम्परा न रहते भी परमात्मा में रहने से सर्वथा नित्य है) इस से स्पष्ट सिद्ध है कि मन्वन्तर युगान्तरों के अवान्तरप्रलयों में वेद का आम्नान बना रहता है किन्तु ब्राह्मकल्प के अन्त में वेदाभ्यास का विच्छेद होता और प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर मनुष्यों के द्वारा वेद का प्रचार कर देता है। सम्भव है कि लिपिक्रियासहित पुस्तकों द्वारा वेद का प्रचार ब्राह्मकल्प भर बराबर न रहे और बीच२ कण्ठस्थ पठनपाठन होता रहे तो इस से हमारे मन्तव्य में कुछ बाधा नहीं पड़ती ॥

अब एक बात यह भी विचारणीय है कि वेद की अनेक शाखा किस कारण हुईं? सामश्रमी जी का कथन है कि "अवान्तर प्रलय के पश्चात् जब फिर से वेद का पठन पाठन चला तो ऋषि लोगों ने अपने २ स्मरण के अनुसार मन्त्रों का पठन पाठन चलाया उन के स्मरण के भेद से पाठ का न्यूनाधिक होना पाठान्तर होना वा पदवाक्यादि के क्रम का लौट पौट होना इत्यादि अब के तुल्य स्वाभाविक वा सम्भव ही था इस कारण वेद की अनेक शाखा होगयीं" हमारी सम्मति है कि वेद की शाखा होने में यही कारण हो वा कुछ अन्य भी हो इस का आन्दोलन करना विशेष उपयोगी नहीं इस प्रसंग में केवल इतना वक्तव्य है कि सामश्रमी जी के आशयानुसार वेद की सब शाखा ही हैं और शाखाओं के समुदाय का नाम वेद मानना सिद्ध होता है सो ठीक नहीं क्योंकि शाखा समुदायमात्र का नाम वृक्ष नहीं है मूलवृक्ष शाखाओं से भिन्न होता है वैसे ही मूलवेद से शाखा किसी प्रकार उत्पन्न हुई हों पर मूल को भिन्न ही मानना चाहिये। और इस समय जो शाखा ग्रन्थ विद्यमान हैं उन के आदिअन्त वा शीर्षक (हेडिंग) में लिखा है कि यजुर्वेदीय काण्वशाखा, सामवेदीय तलवकारशाखा, इत्यादि पर मूल वेदों में लिखा है "ऋग्वेदः" "यजुर्वेदः" इत्यादि जिस से स्पष्ट सिद्ध है कि मूलवेद की गणना शाखाओं में नहीं। मूलवेद के ठीक शुद्ध निर्भ्रान्त रहने पर उन में कहीं पाठान्तर भी मिले तो विशेष कारणों से निर्णय हो सकता

है इस दशा में शाखाओं का होना बाधक नहीं। वास्तव में शाखा व्याख्यान का नाम हो सकता है जो मूल के भीतरी आशयांशों का विस्ताररूप हो जैसे वृक्षादि के मूल में से शाखा निकलती हैं ॥

(सत्यव्र०) (त्रयी) अमरसिंहोक्तेषु वेदनामसु त्रयीत्येवावशिष्टमालोचयितुम्। तदप्यालोच्यते यथाज्ञानम्-अस्ति हि काचिद्रचना पद्यं नाम सैव पुरा ऋगिति श्रुता, अस्ति काचिद्रचना गद्यं नाम सैव पुरा यजुरिति श्रुता, अस्ति काचिद्रचना गानं नाम सैव पुरा सामेति श्रुता। यतोहि गद्यपद्यगानातिरिक्तो नास्ति रचनाप्रकारः, अतएव ऋक्संहितासु, यजुःसंहितासु, सामसंहितासु, अथर्वसंहितासु वा ऋग्यजुःसामभ्योऽन्यो नैव दृश्यते कोऽपि वेदमन्त्रः। गद्यपद्यगानातिरिक्ता रचना कदापि नासीत्, इदानीमपि नावलोक्यते लोके, तत्कथं नाम ऋग्यजुःसामलक्षणातिरिक्ताऽपि मन्त्ररचना भवेद्वैदिकीति। तदाह भगवान् जैमिनिः—"तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः (मी० द० २। १। ३२। ३३। ३४)" इति तदेतन्न्यायविस्तरे स्पष्टीकृतं च माधवेन, द्रष्टव्यं तत्रैव। एवं च त्रयी नाम त्रिविधरचनामयी आप्तवाणी, सैव वेदः, सैव आम्नायः, सैव श्रुतिरित्यादि ॥

यद्यपि मन्त्राणामेव रचनानियमाधीनमेतत्त्रयीनाम, अतो मन्त्रभागस्यैव त्रयीत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्। नतु ब्राह्मणभागस्येति वक्तुं युज्यते। "अहे बुध्नीय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि (तै० ब्रा० १। २। २६)" इति श्रुतिश्चात्र साधिकैव। अत्र हि "त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः, ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुः, तं गोपायेति योजना" इत्यधिकरणमालाकारो माधवश्चोक्तवान् तथैव। तथापि मन्त्रभागानुगतब्राह्मणग्रन्थानामपि त्रयीत्वं व्यावहारिकमिदानीं मन्तव्यमेव, संज्ञायाः

खलु व्यवहाराधीनत्वात्। परं यथोक्तं पुरस्तान्मन्त्रभागस्यैव वेदत्वं, श्रुतित्वं, समाम्नायत्वं च मुख्यम्। ब्राह्मणभागस्य त्वप्रधानमिति बोध्यं तथैवात्रापीति ॥

भाषार्थः—अमरकोष में कहे वेद के नामों में त्रयीशब्द का विचार शेष रहा यथाबुद्धि उस की भी समालोचना की जाती है। मन्त्रों की रचना तीन प्रकार की होना ही त्रयी का कारण है। १—छन्द वा श्लोकबद्ध रचना पद्य नाम ऋक्, २—पद वा अक्षरसंख्या का नियम जिस में नहीं ऐसी गद्य रचना यजुः, ३—गीत वा गानरूप रचना साम, पहिले सुनी गयी वा मानी गयी क्योंकि पद्य, गद्य, और गान से भिन्न अन्य कोई रचना का प्रकार न था न है इसी कारण ऋक् यजुः साम और अथर्व की सब संहिताओं में तीन प्रकार की रचना से भिन्न कोई मन्त्र नहीं दीखता। और लोक में भी गद्य पद्य गान से भिन्न कोई रचना का प्रकार न कभी था न अब दीखता है तो ऋक् यजुः सामरूप रचना से भिन्न वेद मन्त्रों की अन्य रचना कैसे हो सकती है ?। सो पूर्व मीमांसाकार भगवान् जैमिनिऋषि ने भी कहा है कि "जहां अर्थ के आधीन पादव्यवस्था होवे ऋक्, गाये जाने वाले मन्त्र साम, और शेष भाग यजुः मानना चाहिये" सो मीमांसा न्याय के विस्तर में माधवाचार्य ने स्पष्ट व्याख्यान भी किया है उस को वहीं देखो। इस प्रकार त्रयी नाम तीन प्रकार की रचनारूप आप्तवाणी ही वेद आम्नाय वा श्रुतिपदवाच्य है ॥

यद्यपि तीन प्रकार की रचना के नियमानुसार त्रयी नाम मन्त्रभाग का ही मन्तव्य है किन्तु ब्राह्मणभाग का नहीं ऐसा कह सकते हैं। और अधिकरणमालाकार माधवाचार्य ने कहा है कि "तीन वेद के जानने वाले ऋषि लोगों ने जिस मन्त्रभाग को ऋगादिरूप से तीन प्रकार (ऋग्यजुः सामरूप) कहा वा माना है उस की रक्षा तुम करो" तथापि मन्त्रभाग के अनुकूल चलने वाले अब ब्राह्मणग्रन्थों का भी त्रयी होना व्यवहारानुसार मन्तव्य ही है क्योंकि प्रत्येक संज्ञा व्यवहार के आधीन है। परन्तु पहिले कहे अनुसार मुख्य कर मन्त्रभाग का ही वेद, श्रुति, और समाम्नाय नाम है और ब्राह्मणभाग के वेदादि नाम गौण हैं इसी प्रकार मुख्य कर मन्त्रभाग का नाम त्रयी और ब्राह्मण का गौण नाम है ॥

सम्पादकीय विचार—यद्यपि ऊपर लिखे वेद के तीन भेद प्रधान हैं इस कारण वेदत्रयी वा त्रयी आदि शब्दों से प्रधान तीन भेद दिखा कर चारो वेद का ग्रहण होना सिद्ध किया गया उस के हम सर्वथा प्रतिवादी नहीं हैं कि वेद के तीन भेद प्रधान नहीं तथापि रचना के तीन भेद मानने में हमारी सम्मति नहीं क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से मध्यविच्छेद तक रचना के दो ही भेद प्रधान दीखते हैं। लोक में वा वेद में गद्यपद्यरूप दो ही प्रकार सर्वसम्मत प्रधान

हैं। यदि कोई पद्य वा गद्य के अवान्तर भेद गान को सामान्य रचना का भेद ठहराना चाहे तो घट के भेदों को मट्टी के भेद वा रुई के भेदों को कपास के भेद मानने के तुल्य ही दोष होगा। और रचना का भेद जो पद्य है उस के अवान्तर भेदों को भी रचना का ही भेद मानें तो गायत्र्यादि छन्द जो पद्य के भेद हैं उन को रचना का भेद न मानने में कोई हेतु नहीं है। यदि वे भी रचना के भेद मान लिये जांय तो तीन ही प्रकार की रचना नहीं रह सकती इसलिये रचना के तीन भेद कहना वा रचना तीन ही प्रकार की मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। इस से सिद्ध हुआ कि रचना दो ही प्रकार की है तो तीन प्रकार की रचना के कारण से वेदत्रयी मानी गयी यह भी ठीक नहीं ठहर सकेगा॥

इस दशा में मानना चाहिये कि वेद सामान्य कर एक है वा विद्या एक है उस की पदवाक्यरूप रचना के प्रधान दो भेद हैं एक पद्य दूसरा गद्य। फिर उस वेद के प्रधान तीन भेद हैं ऋक्, यजुः, साम, वेद के तीन ही भेद मुख्य क्यों माने गये? तो उत्तर होगा कि सर्वत्र तीन ही संख्या प्रधान ठहरती है। वेद वा विद्या की तीन संख्या को मूल मान कर अनादि काल से सृष्टिप्रवाह में तीन संख्या सब से अधिक प्रधान ठहरायी है। उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप परमेश्वर के तीन ही काम प्रधान हैं। उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन, गुण तीन, काल तीन, द्विजवर्ण तीन, लोक तीन, ओम् की मात्रा तीन, महाव्याहृति तीन, गायत्री के पाद तीन, कर्म, उपासना, ज्ञान तीन ही वेद के प्रधान विषय हैं। अवस्था तीन ही हैं विद्या के तीन ही भेद प्रधान हैं। जैसे उत्पत्ति स्थिति प्रलय संसार की तीन दशा हैं सब संसार तीन ही दशाओं में सदा रहता है। जैसे बाल्य, यौवन, वृद्धत्व मनुष्य की तीन अवस्था हैं सब शरीरधारी तीन ही दशा में रहते हैं। जैसे गुरुमुख से पढ़ना, विचारना, शोचना वा अनुभव करके देखना और उस दशा में पढ़ाना वा उपदेशादि द्वारा प्रचार करना, जैसे विद्याध्ययन की तीन ही दशा प्रधान हैं वैसे ही एक वेद की तीन ही मुख्य दशा बन सकती हैं उन में पहिली दशा ऋक्नाम स्तुति पदार्थों के गुण शब्दार्थ द्वारा कीर्त्तन करना वा जानना। द्वितीय यजु नाम यज्ञ करना अर्थात् पूजा सेवन उपासना जिन को पहिली दशा में शब्दार्थ द्वारा जाना उन कर्त्तव्यों को साक्षात् करके देखना अनुभव (तजर्बा) करना और तृतीय सामनाम शान्ति समाधान समाधि वा ज्ञान की व्याप्ति वा बुद्धि की अधिक तीव्रता होना। इन में पहिली दशा को विशेष कर वा प्रधानता से जताने वाला ऋग्वेद, द्वितीय उपासनारूप दशा का विशेष व्याख्यान करने वाला यजुर्वेद, तृतीय ज्ञान वा शान्ति का विशेष साधन सामवेद है। वाणी से पद्य का अच्छा उच्चारण होता है इस कारण वाणी से विशेष सम्बन्ध रखने वाली स्तुति पद्यरचना से ऋग्वेद में वर्णन कीगयी मन से गद्यद्वारा अनुभव वा उपासना ठीक बन सकती है इस कारण मन से विशेष सम्बन्ध रखने वाली

उपासना गद्यरचना से यजुर्वेद में मुख्य कर दिखायी है, और प्राण से गानद्वारा ज्ञान वा शान्ति सुख अच्छा मिलता है इसलिये प्राण से विशेष सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान गान से सामवेद में वर्णन किया गया। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान हृदय में उत्तेजित करना हो उस को समझपूर्वक गावे तो ज्ञान की वृद्धि अवश्य होती है। जैसे विषयवासनासम्बन्धी निकृष्ट गान विषयानन्द्रियों का सहायक अवश्य होता है वैसे परमेश्वर आदि परमार्थसम्बन्धी विषयों का वेदद्वारा समझपूर्वक हुआ गान भी परमार्थ ज्ञान का सहायक अवश्य होगा। इसलिये ज्ञानसम्बन्धिनी गानविद्या का नाम सामवेद है। अर्थात् वेद के तीन भेद उक्त कारणों से सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ने ही नियत किये वा यों कहो कि विद्या के तीन भेद किये विद्या मुख्य तीन ही प्रकार की हो सकती है उन में रचना पद्य गद्यरूप दो प्रकार की रक्खी और गानविद्या भी एक पद्य का भेद माना गया। उस तीन प्रकार की विद्या के चार पुस्तक वा ग्रन्थ नियत किये उन चारों में तीन ही विद्या प्रधान रहीं इस कारण तीन विद्याओं के वाचक जहां वेद का ग्रहण करना इष्ट हुआ वहां तीन वेद वा वेदत्रयी वा ऋक्, यजुः, साम तीन शब्दों द्वारा चारोंवेद की तीन ही विद्या मानकर वेदमात्र का ग्रहण करना जताया गया। और जहां तीन से मिलकर बनी चौथी विद्या वा चौथे वेद को पृथक् करके लेना अभीष्ट हुआ वहां आर्षग्रन्थों वा वेदों में चारोंवेद का नाम लिया गया। तात्पर्य यह हुआ कि जिन २ ग्रन्थों में तीन वेद लिखे हैं वहां विद्या के वा वेद के तीन प्रधानांश जताने से प्रयोजन है और उन तीन प्रधान अंशों में चौथा वेद भी अन्तर्गत है इसलिये तीन के ग्रहण में चारों का समन्वय समझना चाहिये। इसलिये यह दोष जो अनेक लोग आरोपित करना चाहते हैं कि तीन वेद पहिले बने और एक पीछे बना निवृत्त हो जाता है। और पाठक महाशयों को यह भी ध्यान रहे कि अन्य अनेक पदार्थों की तीन संख्या की प्रधानता के साथ जो वेद वा विद्या के तीन ही भाग वा दशाओं की प्रधानता दिखाई इस से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अनेक पदार्थ लोक में तीन २ माने जाते हैं इस कारण वेद भी तीन ही मानने चाहिये अर्थात् अन्य वस्तुओं के तीन २ होने को हम वेद के तीन होने में कारण नहीं ठहराते किन्तु हमारा आशय यह है कि परमेश्वर ने उत्पत्ति स्थिति प्रलय तीन काम अपने लिये नियत किये, वेदों के साररूप ओ३म्शब्द में तीन अक्षर संयुक्त किये, तीन महाव्याहृति नियत कीं और इन्हीं के अनुसार वेद वा विद्या के तीनभाग ऋक् यजुः साम नाम से प्रधान किये इत्यादि ईश्वरीय रचनाक्रम के अनुसार वेद का आशय लेकर अन्य भी पदार्थ प्रधानता से तीन भागों में ही विद्वानों ने भी विभक्त किये सो यह विचार युक्ति और प्रमाण दोनों के अनुकूल है अथवा वेदों के तीन ही प्रधानभाग होने से अन्य विषयों वा पदार्थों के तीन ही प्रधानभाग

हुए वा माने गये अर्थात् ओम्, व्याहृति और वेद के खण्डों का तीन होना अन्य सब गुणादि के तीन होने का हेतु वा कारण हुआ। यह भी ध्यान रहे कि जहां सामान्य वेदशब्द तीन संख्या सहित आवें वा ऋक् यजुः साम तीन शब्द विशेष आवें वहां वेद वा ऋगादिशब्द तीन प्रकार की विद्या के वाचक समझने चाहिये और जहां वेदों की चारसंख्या कही वा मानी जाय वहां पुस्तक वा ग्रन्थ मानने चाहिये और चार वेद कहने में विद्या भी चार ही प्रकार की मानी जायगी परन्तु तीन कहने में विद्या तीन प्रकार की और पुस्तक चार माने जांयगे। चौथी विद्या पहिली तीन से भिन्न तो इससे नहीं कि उन्हों तीन के मेल से बनी है और भिन्न इस लिये है कि तीन में से किसी एक में चौथी अन्तर्गत नहीं है। तीन की प्रधान विवक्षा में तीन प्रधान है और जहां चारों की प्रधानता विवक्षित हो वहां चारों प्रधान हैं ॥

(सत्यव्र०) इह केचिदन्यथैवाहुरन्यदेशीयाः। तद्यथा-पुरा किल यदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रयएव वेदा आसन् नासीदथर्ववेदः, तदैव वेदस्य त्रयीत्याख्या प्रचलितेति। अतएव प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु त्रयीति वेदस्योल्लेखो दृश्यते, नानतिप्राचीनेषु यथा च छान्दोग्यब्राह्मणे-"अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् (६। १७) इत्यादि एवं मनुसंहितायामपि-"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् (१। २३)" इति। छान्दोग्यादिभ्योऽर्वाचीना ये ग्रन्थास्तेषु तु वेदस्य चतुष्टमेव न त्रयीत्वम्। तदानीमथर्ववेदोऽपि सम्भूतइत्येव तथात्वे बीजम्। तथाहि बृहदारण्यके-"अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वःसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (४। ४। १०)" इत्यादि। किं च महाभारतेऽपि-"एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥ चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते (१ प० २६८। २६९)" इति। पुनस्तत्रैव "यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ (१ प० ३६८ श्लो०)"

इति। एवं च ऋग्यजुःसाम-इत्येव त्रयो वेदास्त्रयीशब्दवाच्याः, अथर्ववेदस्तु न त्रयीशब्दस्य शक्त्या बुध्यते, अपि तु गौण्येति। तथा च ऋगादयस्त्रयएव प्राचीनतमाः, अथर्ववेदस्तु तदपेक्षयार्वाचीनएवेति फलितं वेदतत्त्वान्वेषिणां तेषां मनोरथद्रुमेणेति ॥

भा०—इस तीन वेद मानने के विषय में यूरोपादि अन्य देशवासियों ने अन्यथा ही कहा है। जैसे—वे लोग कहते हैं कि पहिले जब ऋक् यजुः साम तीन ही वेद बने थे किन्तु अथर्व नहीं बना था तभी वेद का त्रयी नाम पड़ा। इसी कारण अतिप्राचीन ग्रन्थों में वेद का त्रयी शब्द से लेख दीखता है किन्तु कम प्राचीन ग्रन्थों में नहीं। जैसे छान्दोग्य ब्राह्मण में लिखा है कि "अग्नि से ऋक् वायु से यजुः और आदित्य से सामवेद हुआ, और उस ने इस त्रयीविद्या को अभितप्त आलोडित किया" इत्यादि। इसी प्रकार मनुसंहिता में भी लिखा है कि "यज्ञसिद्धि के लिये ब्रह्मा ने अग्नि वायु और सूर्य से ऋग्यजुः साम तीन सनातन वेदों को प्राप्त किया" और छान्दोग्यादि से पीछे बने ग्रन्थों में वेद के चारों नाम पाये जाते हैं केवल तीन के नहीं क्योंकि उस समय अथर्व वेद भी बनगया था यही वैसा होने में कारण है वैसा ही बृहदारण्यकोपनिषद् में भी लिखा है कि—" अरे! मैत्रेयि! ऋक् यजुः साम अथर्व ये चारो वेद इस सनातन महान् परमेश्वर से श्वास के तुल्य निकले हैं" तथा महाभारत में भी लिखा है कि " पहिले समय में सब देवता लोगों ने मिलकर तराजू के एक पल्ले में चारों वेदों को और एक में भारतपुस्तक को रक्खा। ब्राह्मणोपनिषदादि सहित चारो वेदों से भी जब भारत बोझ में अधिक हुआ तभी से लेकर लोक में यह महाभारत कहा गया।" फिर उसी महाभारत में और लिखा है कि " जो पुरुष अङ्गों वा उपनिषदों सहित चारों वेदों को जाने और इस महाभारत इतिहास को न जाने वह विचक्षण—चतुर न होगा।" इस प्रकार ऋक् यजुः साम ये ही तीनो वेद त्रयीशब्द के वाच्यार्थ है किन्तु त्रयीशब्द के कहने से अथर्ववेद का बोध नहीं हो सकता और गौण रीति से त्रयी करके अथर्व लिया जासकता है। इस कारण ऋगादि तीन ही वेद अति प्राचीन हैं और उन तीन की अपेक्षा अथर्ववेद आधुनिक ही है यह उन वेद तत्त्वान्वेषी लोगों के मन गढे सिद्धान्त का सार वा फलितार्थ है ॥

नैतन्मतमस्मन्मनोहरम्, नापि विचारसहम्, निर्मूलत्वादेकदेशदर्शित्वदोषग्राहग्रस्तत्वाच्च। तथाहि न क्वापि वेदे लोके

वा तादृशमतस्य किञ्चिदपि मूलं कथमपि दृश्यतेऽनुमातुं वा

शस्यते । त्रयीतिनाम्नो वेदस्य व्यवहारएवात्र निदानमिति चेत् , अस्मदुक्तत्रयीनामकरणमेव तत्संहारकतया सदैव जागर्त्ति । सत्स्वपि हि चतुर्षु वेदेषु रचनात्रयभेदनिबन्धनं तेषु त्रयीत्वमव्याहतमेव । अतएव सामवेदे ऋचां यजुषां च पाठा विद्यन्तएव, एवं यजुर्वेदेऽपि ऋचां पाठा उपलभ्यन्तएव, कथमसाङ्कर्य्यं सामादिलक्षणानामित्याशङ्क्य सिद्धान्तितं माधवाचार्य्येण,—अस्तु सामादिनामतः सम्प्रति प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु यजुरादीनां साङ्कर्यम्, परं न हि तेन सामादिलक्षणानां साङ्कर्यं सम्पद्यते । ऋगादिलक्षणानि तु सर्वथा अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषशून्यान्येवेति—इदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धिविरुद्धा एव ऋगादयः शास्त्रसम्मताइति । तथाहि—"नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते । पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्यसंकरः ॥ * * * । तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणंनास्ति । कुतः ? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । 'अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्रः' —इति हि लक्षणं वक्तव्यं, तच्च संकीर्णम् । "देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिः—" इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः, न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति, तद्ब्राह्मणे सावित्र्यर्चेत्यृक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । 'एतत्साम गायन्नास्ते, इति प्रतिज्ञाय किञ्चित्साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम् (तै० स० १ । ६ । ५ । १) । अक्षितमसि । अच्युतमसि । प्राणसंशितमसि । इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि (छा० ब्रा० ३ । १७) तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेन्न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात् । 'पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः" गीतिरूपा मन्त्राः सामानि' 'वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि' इत्युक्ते न क्वापि संकरः (अधि० मा० २ । १ । ४०)" इति ॥

भा०–यह विदेशियों का मन्तव्य निर्मूल होने और एकदेशदर्शिता के दोष से युक्त होने से हम को मनोहर नहीं लगता और न हम ऐसे अयुक्त विचार को सहन कर सकते हैं। क्योंकि वेद वा लोक में वैसे मन्तव्य का मूल किसी प्रकार कुछ भी कहीं नहीं दीखता वा न अनुमान किया जासकता है। यदि वे कहें कि त्रयी नाम से वेद का व्यवहार ही इस का मूल है तो हमारा पूर्वोक्त त्रयी पद का व्याख्यान उस निर्मूल मन्तव्य के खण्डनरूप से सदा ही जागता है क्योंकि वेदों के चार होने पर भी रचना के तीन भेदों का नियत होना उन चारों में अविरुद्ध ही है। इसी से सामवेद में ऋचाओं और यजुओं के पाठ विद्यमान हैं तथा यजुर्वेद में भी ऋचाओं के पाठ मिलते ही हैं। इस दशा में यह शङ्का हो सकती है कि साम आदि के लक्षणों में संकरता दोष आवेगा अर्थात् सब में सब के लक्षण घटें तो कोई भी वेद शुद्ध एक लक्षण वाला नहीं रहा ऐसा संदेह उठा के माधवाचार्य ने यह सिद्धान्त किया है कि वर्त्तमान में सामादि नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में यजु आदि के लक्षणों का मेल भले ही रहो। पर उस से साम आदि लक्षणों की संकरता सिद्ध नहीं होती किन्तु ऋक् आदि के लक्षण तो सर्वथा अव्याप्ति [गानमात्र साम न ठहरे] अतिव्याप्ति [जिस गान रहित ऋक् वा यजु को साम नहीं ठहराना चाहते वह भी साम हो जावे] दोषों से शून्य ही हैं। इस समय के पठन पाठन वाले भिन्न २ पुस्तकों का नाम ऋक् यजुः साम मानते हैं उस से विरुद्ध यजु आदि के किसी पुस्तक में हों पादबद्ध मन्त्र ऋक्, गद्यरूप मन्त्र यजुः, और गानमात्र साम मानना ही वास्तव में सर्वशास्त्र सम्मत सिद्धान्त है। माधवाचार्य के अधिकरणमाला नामक पुस्तक में किये सिद्धान्त का सारांश यह "ऋक् साम यजु के लक्षणों का मेल हो जाने की शङ्का ठीक नहीं क्योंकि पाद, गान और गद्यरूप से भिन्न २ तीनों हैं। जब तीन प्रकार के ऋक् यजु साम का लक्षण व्यवस्थित नहीं कि ऋग्वेद नामक पुस्तक में सब ऋचा ही हों वा यजु में सब मन्त्र गद्य ही हों सब में सब का होना अनिवार्य है और अध्यापकप्रसिद्ध ऋग्वेदादि पुस्तकों में पढ़ा मन्त्र ऋक् आदि नामक माना जाय सो सब संकर है जैसे "देवो वः०" यह मन्त्र यजुर्वेद कर के प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ा है पर वह यजु नहीं है क्योंकि यजु के शतपथब्राह्मण में सावित्री ऋचा से उस मन्त्र का नाम लेकर व्यवहार किया है। तथा यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में सामवेद दिखाया प्रसिद्ध है। तथा सामवेद में "अक्षितमसि०" इत्यादि तीन यजु पढ़े हैं और गाये जाने वाले साम की आश्रयरूप ऋचा सामवेद में कही हैं इस से लक्षण को विरुद्ध मानना ठीक नहीं क्योंकि पादव्यवस्था सहित अर्थ युक्त छन्दोबद्ध मन्त्र कहीं हों सब ऋक्, सर्वत्र गानरूप मन्त्र साम तथा छन्द वा गान दोनों से रहित मिला कर गद्यरूप से पढ़े मन्त्र सर्वत्र यजु हैं। ऐसे लक्षण मानने में कहीं संकरता दोष नहीं है ॥

एवं चेदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धितो वेदनामग्रहो मुग्धकर एव। वस्तुतो यत्र क्वच ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य पादबन्धेनार्थोपेतत्वं वृत्तबद्धत्वं च दृश्यते सोऽवश्यमेव ऋङ्मन्त्रः। एवं यत्र क्व च ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य गीत्यात्मकत्वं दृश्यते सोऽवश्यं साममन्त्रः। तथैव यत्र क्वच ग्रन्थे अग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य यजुष्ट्वं दृश्यते सोऽवश्यमेव यजुर्मन्त्रः। एतदेवाङ्गीकृत्य स्मृतं बह्वृक्प्रातिशाख्यव्याख्याने विष्णुमित्रेण— "तथाचोक्तम्—यः कश्चित्पादवान्मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसम्पदा। स्वरयुक्तोऽवसाने च तामृचं परिजानते—इति" इत्यादि। अतएव चात्रैव निरुक्ते ऋगिति प्रदर्शितं शतपथब्राह्मणीयवचनम्। "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" इति। नह्येतद्वचनमस्ति क्वचिदपि ऋक्संहितायाम्। प्रत्युतास्त्येव शतपथब्राह्मणे (१४।९।४।२६) यदि नामऋक्संहितावचनानामेव ऋक्त्वमाचार्यसम्मतं स्यात्, तर्हि कथमुच्येतात्र भगवता यास्केन "तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् (२भा०२५९पृ०)" इत्यादि। इह तु ऋगिति शतपथीयवचनम्, श्लोकइति तदानीं प्रचलितायां मनुसंहिताया वचनं च प्रदर्शितम्। तदेवमेवैषाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति यत्र क्व च वेदे स्यादृग्लक्षणो मन्त्रः, भवत्येव ग्रहणं तस्य ऋगिति, एवं यजुरपीति। एवं च ग्रन्थानां कालकृतबहुत्वेऽपि वेदस्य त्रैविध्यं तदनु त्रयीत्वं च यथा पुरा तथाऽद्यापि सुस्थितमित्यथर्ववेदोऽपि नास्माद्भिन्नः, तस्यापि ऋग्यजुर्मयत्वात्। अपि च यथा सामबहुले सामवेदइति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचामृक्त्वं यजुषां यजुष्ट्वमुररीकार्यमेव, न च तत्स्वीकारात्तस्य सामवेदत्वं विहन्यते। तथैवाथर्वकृत्याबहुले अथर्ववेदइति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचामृक्त्वं यजुषां च यजुष्ट्वं कथं न स्वीकार्यम्? तथा स्वीकृते

च तस्याथर्वपदत्वं कथं वा विहन्येत ? एवं हि अस्त्वथर्ववेदस्य स्वातन्त्र्यम्, तदीयमन्त्राणां केषांचिदृक्त्वं केषांचिच्च यजुष्ट्वं न केनापि कदापि कथमपि वारितुं * शक्यते। तत्सिद्धमेतत्–वेदानां ग्रन्थभेदकृतचतुष्ट्वेऽपि रचनाभेदकृतत्रयीत्वे न कोऽप्यस्ति संशयः। अतएवैवमुक्तं दृश्यते सर्वानुक्रमणीवृत्तौ—"विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते। ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥ अहे बुध्नीयमन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते। ऋक्पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मन्त्रः। चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते" इति ॥

भा०—इस प्रकार इस समय के पठनपाठन वालों की प्रसिद्धि से ऋक् आदि नामों से एक २ वेद पुस्तक का ग्रहण करना अज्ञान का कारण ही है। वास्तव में जहां कहीं ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र की प्रत्येक पाद में वाक्यार्थ की समाप्ति और छन्दबद्ध रचना दीखती है वह अवश्य ही ऋक् मन्त्र है। ऐसे ही जहां कहीं ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र का गानरूप होना दीख पड़ता है वह अवश्य ही साम मन्त्र है। तथा जिस किसी ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र का गद्य यजु होना दीखता है वह अवश्य ही यजु मन्त्र है। ऐसा मान कर ही ऋक् प्रातिशाख्य के व्याख्यान में विष्णुमित्र ने कहा है कि "अक्षरों के यथोचित संनिवेश सहित पाद वाला अवसान में स्वरयुक्त जो कोई मन्त्र हो उस को ऋक् मानना चाहिये। इसी से शतपथब्राह्मण के " अङ्गादङ्गात्संभवसि० " श्लोक को निरुक्त में ऋक् नाम से दिखाया है यह पूर्वोक्त वचन ऋक्संहिता में कहीं भी नहीं है किन्तु शतपथब्राह्मण (१४ । ९ । ४ । २६) में विद्यमान है। यदि ऋक्संहिता में पढ़े मन्त्रों को ही आचार्य ऋक् मानते तो भगवान् यास्क जी कैसे कहते कि अमुक विषय ऋक् और श्लोक से भी कहा गया है। सो यहां ऋक्शब्द से शतपथ का वचन और श्लोक पद से उस समय की प्रचलित मनुसंहिता का वचन दिखाया है। सो इस प्रकार यह आचार्य की प्रवृत्ति जताती है कि जहां कहीं मूलवेद में वा ब्राह्मणादि में ऋग्लक्षण का छन्द हो उस का ऋक्पद से ग्रहण होना चाहिये वैसे ही यजु का भी जानो इस प्रकार काल भेद से वेद ग्रन्थों के अनेक हो जाने पर भी वेद के तीन प्रकार होना वा त्रयी होना जैसे पहिले समय में था वैसे अब भी ठीक व्यवस्थित ही है। इस कारण इस त्रयी से भिन्न अथर्ववेद भी नहीं यह सिद्ध हुआ क्योंकि वह भी ऋग्यजूरूप ही है। और सामलक्षण मन्त्र जिस में अधिकांश हैं ऐसे सामवेद नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में पढ़े ऋग्रूप-

* चिन्त्यम्

मन्त्रों का ऋक्पन तथा यजुर्मन्त्रों का यजुपन स्वीकार योग्य ही है किन्तु उस के स्वीकार से उस का सामवेदत्व नष्ट नहीं होता वैसे ही अथर्वकृत्या जिस में अधिक हैं ऐसे अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में पढ़े ऋग्मन्त्रों का ऋक्पन वा यजुओं का यजुपन स्वीकार योग्य क्यों न हो ? और वैसा स्वीकार होने पर उस का अथर्ववेदत्व क्यों नष्ट हो ? इस प्रकार अथर्ववेद की स्वतन्त्रता रहो परन्तु उस के किन्हीं मन्त्रों का ऋक् होना वा किन्ही का यजु होना कोई कभी किसी प्रकार नहीं हटा सकता । तो यह सिद्ध होगया कि ग्रन्थ भेद से वेदों के चार होने पर भी रचना भेद से तीन होने में कुछ भी सन्देह नहीं है। इसी लिये सर्वानुक्रमी की वृत्ति में यह कहा है—"चारो वेद में ऋग्यजुः सामरूप से विनियोग में आनेवाले मन्त्र तीन प्रकार के दिखाये हैं" ॥

सम्पादक—इस पर्वोक्त लेख में हम को कुछ अधिक वक्तव्य नहीं क्योंकि "वेदों के तीन होने में रचना के तीन भेद कारण नहीं किन्तु विद्या के तीन भेदों का प्रधान होना कारण है" यह सिद्ध कर चुके हैं । अब केवल इतना और कहना है कि यज्ञादिकर्मकाण्ड में जिन का विनियोग किया जाता है वे पादबद्ध गायत्र्यादिछन्द मन्त्र ऋक्, गद्यरूप यजु और गीतरूप साम ये शब्दराशिस्वरूपवेद के तीन भेद भी विद्या के तीन भेदों को पुष्ट करने के लिये हैं । अर्थात् शब्दराशिरूपवेद के हम भी तीन भेद मानते हैं परन्तु वे विद्या की तीन संख्या को पुष्ट करने के लिये हैं क्योंकि स्तुति कर्म के साथ ऋक् का विशेष सम्बन्ध है इसी कारण व्याकरण के "ऋचस्तुतौ" धातु से ऋक्शब्द बनाया गया है । और यज्ञरूप उपासना के साथ यजु का विशेष सम्बन्ध है इसी कारण व्याकरण में "यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से यजुः शब्द बना है । उपासना शब्द का अर्थ सामान्य कर तन मन से उस काम में आसक्ति होना है । और सामशब्द "षोऽन्तकर्मणि" धातु से बना है इसी धातु से व्यवसाय वा अध्यवसायादि शब्द बनते हैं । कर्म का अन्त ज्ञान है क्योंकि उपासना ज्ञान के लिये और स्तुति वा कर्म उपासना के लिये है । इस कथन से जब ऋग्यजुःसाम शब्द ही वेद की शब्दराशि के तीन भेद दिखाने के साथ अर्थद्वारा त्रयीविद्या को पुष्ट करते हैं तो चारों वेद में तीन प्रकार का पाठ जताने के लिये सामश्रमी जी के दिये सब ग्रन्थान्तरों के प्रमाण त्रयीविद्या के पोषक होंगे यह हमारा आशय है ॥

यच्चोक्तम्—प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु छान्दोग्यादिषु त्रयीव्यवहारः, तदपेक्षयार्वाचीनेषु बृहदारण्यकादिष्वेवाथर्वनामेति, तदिदं तेषामेकदेशदर्शित्वमेवावेदयति सर्वत्र सर्वविधदर्शनात् । तथाहि—तत्रैव छान्दोग्ये— ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं

चतुर्थम् (७।७)" इति च। तत्रैव मनुसंहितायामपि (९।२९०) "अभिचारेषु" "कृत्यासु" इति। तत्रैव शतपथब्राह्मणेऽपि—"त्रयो वेदा अजायन्त (११।५।८)" इत्यादि च। तत्रैव महाभारतेऽपि—"अग्निहोत्रं त्रयीविद्या (१।१००।६६)" "कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले (२।५।९८)," "न सामऋग्यजुर्वर्णाः (३।१५०।१३)" इत्यादि च। किं बहुना यत्र क्वच ग्रन्थे वेदस्य त्रित्वं दृश्यते तत्र सर्वत्रैव चतुष्ट्वमपि। तदेवं ग्रन्थानां प्राचीनत्वार्वाचीनत्त्वभेदएव वेदस्य त्रित्वचतुष्ट्ववर्णने बीजमिति मतं सर्वथैवापास्तम् ॥

अथर्ववेदस्याधुनिकत्वे पाणिनेरस्मरणमपि मानान्तरमित्युक्तिश्च तेषां तथैव। तथाहि—ऋग्यजुःसाम—इमानि तु मन्त्रलक्षणानि, ऋग्लक्षणो मन्त्रः, यजुर्लक्षणो मन्त्रः, सामलक्षणो मन्त्रइति, तादृशमन्त्रास्तु सर्वेष्वेव वेदेषु राजन्ते इति तेषां ग्रहणेनैव सर्ववेदानां ग्रहणं सम्पन्नम्। सूत्राणामेव ग्रहणेनैव यथा सर्वेषामेव पटानामिति। अथर्वेति तु न किंविधस्यापि मन्त्रस्य लक्षणम्, अपितु यथा शाकलादिशाखानां साधारणं नाम ऋग्वेदइति, यथा च कठादिशाखानां साधारणं नाम यजुर्वेदइति, यथा च कौथुमादिशाखानां साधारणं नाम सामवेदइति, तथैव शौनकादिशाखानां साधारणं नाम अथर्ववेदइति। शाकलादिसंहिताग्रन्थानां तु दृष्टत्वाभावः, अपि तु पाणिनेरतिपूर्वतनीयत्वादार्षत्वाच्च प्रोक्तत्वं पाणिनिसम्मतम्। अतएव यथाप्रयोजनं प्रोक्ताधिकारे एव शाकलादीनामुल्लेखः कृतः पाणिनिना—"शाकलाद्वा (४।३।१२८)" इत्यादिभिः सूत्रैः। तत्राथर्ववेदीयशौनकसंहितानामप्यस्त्येवोल्लेखः—"शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) इति"। तस्मिंश्च सूत्रे छन्दसीति दर्शनादिदं च ज्ञायते यत् प्रोक्तत्वेनैव ग्राह्योऽपि न छान्दसः एवमप्यस्त्येव कश्चन ग्रन्थः पाणिनेर्विदितइति स च ग्रन्थः खल्वथर्ववेदीयशिक्षैव। ततएव

तत्र प्रत्युदाहृतं नागेशेन "शौनकीया शिक्षा–" इति। अथर्ववेदीयकल्पस्यापि ग्रहणं कृतमेव तत्र प्रोक्ताधिकारे "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४।३।१०३)" इति। चतुरध्यायिकौशिकसूत्रस्याथर्ववेदीयत्वं तु सुप्रसिद्धमेव। किं च तत्रैव प्रोक्ताधिकारे यथैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (४।३।१२९)" इति सूत्रितम्। तथैव "आथर्वणिकस्येकलोपश्च (४।३।१३३)" इत्यपि सूत्रितमेव। तथा च यथैव छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितं छान्दोग्यमिति, तथैवाथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितमेव आथर्वणइति पदम्। चरणाद्धर्माम्नाययोः (४।३।१२६) इति वार्त्तिकं च पाणिनितात्पर्यख्यानपरमेव नतु वाचनिकमित्यपि तत्रैव भाष्ये स्फुटम्। तथाहि–"नचेदानीमन्यदाथर्वणिकानां स्वं भवितुमर्हति, अन्यदतो धर्माद्वा आम्नायाद्वा"–इति। वस्तुतः सर्वत्रैव "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इत्येव भाष्यसम्मतम्। तदित्थमथर्ववेदास्तित्वज्ञानं पाणिनेरासीन्नवेति विचारस्तु दूरे आस्ताम् प्रत्युत अथर्ववेदीया शौनकसंहिता, अथर्ववेदीयकल्पसूत्रंचचतुरध्यायात्मकं कौशिकं नाम, अथर्ववेदीया शिक्षा, अथर्ववेदीयानां पाठप्रकाराद्यात्मको धर्मश्चेति सर्वाण्येतान्यासन्नेव तस्य पाणिनेर्विदितानीति॥

भा०–और जो उन विदेशी लोगों ने कहा है कि अतिप्राचीन छान्दोग्यादि ग्रन्थों में ही त्रयी शब्द से वेद का ग्रहण किया गया किन्तु उन छान्दोग्यादि की अपेक्षा नवीन बृहदारण्यकादि में अथर्व नाम भी आता है। सो यह कथन उन लोगों के एकदेशदर्शी होने को विदित कराता है क्योंकि सब ग्रन्थों में सब प्रकार तीन वा चार संख्या से वेदों का नाम दीखता है। जैसे वहीं छान्दोग्य में लिखा है कि "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को जानता है" उसी मनुसंहिता के अ० ९। २९ में चौथे वेद की सूचना है। उसी शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "तीन वेद उत्पन्न हुए"। तथा उसी महाभारत के तीन स्थलों में तीन वेद का नाम आया है इत्यादि। बहुत लिखने से क्या प्रयोजन जिस किसी

चतुर्थम् (७।७)" इति च। तत्रैव मनुसंहितायामपि (९।२९०) "अभिचारेषु" "कृत्यासु" इति। तत्रैव शतपथब्राह्मणेऽपि—"त्रयो वेदा अजायन्त (११।५।८)" इत्यादि च। तत्रैव महाभारतेऽपि—"अग्निहोत्रं त्रयीविद्या (१।१००।६६)" "कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले (२।५।९८)," " न सामऋग्यजुर्वर्णाः (३।१५०।१३)" इत्यादि च। किं बहुना यत्र क्वच ग्रन्थे वेदस्य त्रित्वं दृश्यते तत्र सर्वत्रैव चतुष्ट्वमपि। तदेवं ग्रन्थानां प्राचीनत्वार्वाचीनत्वभेदएव वेदस्य त्रित्वचतुष्ट्ववर्णने बीजमिति मतं सर्वथैवापास्तम् ॥

अथर्ववेदस्याधुनिकत्वे पाणिनेरस्मरणमपि मानान्तरमित्युक्तिश्च तेषां तथैव। तथाहि—ऋग्यजुःसाम—इमानि तु मन्त्रलक्षणानि, ऋग्लक्षणो मन्त्रः, यजुर्लक्षणो मन्त्रः, सामलक्षणो मन्त्रइति, तादृशमन्त्रास्तु सर्वेष्वेव वेदेषु राजन्ते इति तेषां ग्रहणेनैव सर्ववेदानां ग्रहणं सम्पन्नम्। सूत्राणामेव ग्रहणेनैव यथा सर्वेषामेव पटानामिति। अथर्वेति तु न किंविधस्यापि मन्त्रस्य लक्षणम्, अपितु यथा शाकलादिशाखानां साधारणं नाम ऋग्वेदइति, यथा च कठादिशाखानां साधारणं नाम यजुर्वेदइति, यथा च कौथुमादिशाखानां साधारणं नाम सामवेदइति, तथैव शौनकादिशाखानां साधारणं नाम अथर्ववेदइति। शाकलादिसंहिताग्रन्थानां तु दृष्टत्वाभावः, अपि तु पाणिनेरतिपूर्वतनीयत्वादार्षत्वाच्च प्रोक्तत्वं पाणिनिसम्मतम्। अतएव यथाप्रयोजनं प्रोक्ताधिकारे एव शाकलादीनामुल्लेखः कृतः पाणिनिना—"शाकलाद्वा (४।३।१२८)" इत्यादिभिः सूत्रैः। तत्राथर्ववेदीयशौनकसंहितानामप्यस्त्येवोल्लेखः—"शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) इति"। तस्मिंश्च सूत्रे छन्दसीति दर्शनादिदं च ज्ञायते यत् प्रोक्तत्वेनैव ग्राह्योऽपि न छान्दसः एवमप्यस्त्येव कश्चन ग्रन्थः पाणिनेर्विदितइति स च ग्रन्थः खल्वथर्ववेदीयशिक्षैव। ततएव

तत्र प्रत्युदाहृतं नागेशेन "शौनकीया शिक्षा-" इति। अथर्ववेदीयकल्पस्यापि ग्रहणं कृतमेव तत्र प्रोक्ताधिकारे "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४।३।१०३)" इति। चतुरध्यायिकौशिकसूत्रस्याथर्ववेदीयत्वं तु सुप्रसिद्धमेव। किं च तत्रैव प्रोक्ताधिकारे यथैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (४।३।१२९)" इति सूत्रितम्। तथैव "आथर्वणिकस्येकलोपश्च (४।३।१३३)" इत्यपि सूत्रितमेव। तथा च यथैव छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितं छान्दोग्यमिति, तथैवाथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितमेव आथर्वणइति पदम्। चरणाद्धर्माम्नाययोः (४।३।१२६) इति वार्त्तिकं च पाणिनितात्पर्यव्याख्यानपरमेव नतु वाचनिकमित्यपि तत्रैव भाष्ये स्फुटम्। तथाहि-"नचेदानीमन्यदाथर्वणिकानां स्वं भवितुमर्हति, अन्यदतो धर्माद्वा आम्नायाद्वा"-इति। वस्तुतः सर्वत्रैव "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इत्येव भाष्यसम्मतम्। तदित्थमथर्ववेदास्तित्वज्ञानं पाणिनेरासीन्नवेति विचारस्तु दूरे आस्ताम् प्रत्युत अथर्ववेदीया शौनकसंहिता, अथर्ववेदीयकल्पसूत्रंचचतुरध्यायात्मकं कौशिकं नाम, अथर्ववेदीया शिक्षा, अथर्ववेदीयानां पाठप्रकाराद्यात्मको धर्मश्चेति सर्वाण्येतान्यासन्नेव तस्य पाणिनेर्विदितानीति॥

भा०-और जो उन विदेशी लोगों ने कहा है कि अतिप्राचीन छान्दोग्यादि ग्रन्थों में ही त्रयी शब्द से वेद का ग्रहण किया गया किन्तु उन छान्दोग्यादि की अपेक्षा नवीन बृहदारण्यकादि में अथर्व नाम भी आता है। सो यह कथन उन लोगों के एकदेशदर्शी होने को विदित कराता है क्योंकि सब ग्रन्थों में सब प्रकार तीन वा चार संख्या से वेदों का नाम दीखता है। जैसे वहीं छान्दोग्य में लिखा है कि "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को जानता है" उसी मनुसंहिता के अ० ९। २९ में चौथे वेद की सूचना है। उसी शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "तीन वेद उत्पन्न हुए"। तथा उसी महाभारत के तीन स्थलों में तीन वेद का नाम आया है इत्यादि। बहुत लिखने से क्या प्रयोजन जिस किसी

ग्रन्थ में वेदों का तीन होना दीखता है वहां सर्वत्र ही चार वेदों का नाम भी विद्यमान है। सो इस प्रकार ग्रन्थों के प्राचीन वा नवीन होने का भेद ही वेद के तीन और चार होने के वर्णन में कारण है यह मत सर्वथा ही खण्डित हो जाता है।

पाणिनि को अथर्व का स्मरण नहीं था यह भी उन लोगों ने अथर्व के आधुनिक होने में प्रमाणान्तर दिया है। यह भी उन का कथन वैसा ही है। क्योंकि ऋक् यजुः साम ये तीनों मन्त्रलक्षण हैं। ऋग्लक्षणमन्त्र यजुर्लक्षणमन्त्र और सामलक्षण-मन्त्र, ऐसे तीन प्रकार के मन्त्र सभी वेदों में विराजमान हैं इस कारण उन ऋगादि तीन शब्दों के ग्रहण से ही सब वेदों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है। सूत के ग्रहण से जैसे सब वस्त्रमात्र का ग्रहण हो जावे क्योंकि सब वस्त्रों में वही सूत विद्यमान होता वा रहता है। और अथर्व यह पद किसी प्रकार के मन्त्रों का वाचक नहीं है किन्तु जैसे शाकलादि शाखाओं का ऋग्वेद सामान्य नाम, जैसे कठादिशाखाओं का साधारण यजुर्वेद नाम और जैसे कौथुमादि शाखाओं का साधारण सामवेद नाम है वैसे ही शौनकादि शाखाओं का साधारण नाम अथर्ववेद है। शाकलादि संहिता ग्रन्थ इस समय लुप्तप्राय होगये किन्तु पाणिनि से अतिप्राचीन होने से उन का प्रोक्त होना पाणिनि की सम्मति के भी अनुकूल है। इसी कारण प्रयोजना-नुकूल प्रोक्ताधिकार में ही पाणिनिने शाकलादि वेदसंहिताओं का लेख किया है (शाकलाद्वा) इत्यादि सूत्रों से। वहां अथर्ववेदीय शौनक संहिताओं का लेख भी विद्यमान ही है जैसे (शौनका० ४। ३। १०६) और इस सूत्र में छन्दसि पद के ग्रहण से यह भी ज्ञात होता है कि प्रोक्तरूप से कहीं अथर्वसंहि-ता ग्राह्य है किन्तु छन्दःसम्बन्धिनी नहीं। शौनक रचित ऐसा ग्रन्थ भी कोई पाणिनि को ज्ञात अवश्य था जिस की निवृत्ति के लिये छन्दसि पद का ग्रहण किया और वह ग्रन्थ अथर्ववेदीय शिक्षा ही है। इसी से उस सूत्र की व्याख्या में नागेश ने प्रत्युदाहरण दिया है कि "शौनकीया शिक्षा" यहां छन्दोग्रहण से णिनिप्रत्यय नहीं होता। और अथर्ववेदीय कल्प ग्रन्थ का भी ग्रहण वहां प्रोक्ताधिकार में किया ही है जैसे (काश्यपकौशिका० ४। ३। १०३) सो चार अध्यायरूप अथर्ववेदीय कौशिक कल्पसूत्र अतिप्रसिद्ध ही है। तथा और भी उसी प्रोक्ताधिकार में जैसे (छन्दोगौक्थिक० ४। ३। १२९) सूत्र कहा वैसे ही (आथर्वणिक० ४। ३। १३३) सूत्र भी कहा ही है। और जैसे धर्म और आम्नाय अर्थ में छन्दोग से छान्दोग्य पद पाणिनि ने सिद्ध किया वैसे ही उन्हीं अर्थों में आथर्वणिकशब्द से आथर्वण पद सिद्ध किया है "(चरणाद्ध० ४। ३। १२६)" वार्त्तिक भी पाणिनि का आशय जताने के लिये बनाया गया है किन्तु कोई नया वचन नहीं है क्योंकि महाभाष्यकार ने भी ऐसा ही माना है कि आथर्वणिकों का स्वतन्त्र ग्रन्थ विषय में धर्म वा आम्नाय से भिन्न और कुछ नहीं हो सकता।" और

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त के पाठक और ग्राहक महाशयों में से कईएकों का ऐसा परामर्श पाया जाता है कि जिन २ महामोहविद्रावण वा अज्ञानतिमिरभास्करादि पुस्तकों का उत्तर आरम्भ किया गया और अपूर्ण रहा हुआ है पूर्ण करके तब किसी अन्य बड़े काम का आरम्भ किया जावे—तथा यहां सम्पादक आर्यसिद्धान्त श्रीमान् पण्डित भीमसेन शर्म्मा जी के पास नित्य २ अनेक आवश्यक विषयों के प्रकाशित करने की प्रेरणा आती रहती हैं इस दशा में उन को मनुभाष्यादि का मासिक लेख तथा कृतारम्भ उपनिषद्भाष्य वा गीताभाष्यादि के पूर्ण करने की चिन्ता भी अवश्य है इस कारण उत्तर देने योग्य पुस्तकों की शेषपूर्त्ति मैं करना चाहता हूं इस में सन्देह नहीं कि आ० सि० के पाठकों को पं० जी ही के लेखों के पढ़ने की प्रबल उत्कण्ठा रहती है तथापि जहांतक हो सकेगा इन विषयों की पूर्त्ति में आप के सन्तोषजनक लेख लिखने का उद्योग किया जावे गा। परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह इस कार्य्य में सहायता दे उसी की कृपा से उस के सत्यसनातन वैदिकधर्म का मण्डन तथा तद्विरुद्ध मतान्तरों का निरास हो सकता है ॥

तुलसीराम स्वामी

भाग ४ अङ्क १२ पृष्ठ १८० से आगे महामोहविद्रावण का संस्कृत लेख

यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टाभवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थेबहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् कुतः। द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात्। अत। विज्ञायते "न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञास्ति" इति वदन्सतामसम्भाषणीयोऽयं कपटकाषाय इति पुष्कलम्॥

उत्तर—यदुच्यते मन्त्रच्छन्दसोर्द्वयोरपि वेदत्वे यथा "मन्त्रेश्वेतवहो० ३।२।७१ अवेयजः ३।२।७२ विजुपेच्छन्दसि" ३।२।७३ इत्यत्र पूर्वं मन्त्रपदोपादाने कृतेऽपि विजुपेच्छन्दसीति पुनश्छन्दःपदोपादानमिवैव पूर्वोक्तमपि द्वितीयाब्राह्मणे इति ब्राह्मणपदमुपादायापि छन्दसीत्युपादानं न विरुद्धं न वा व्याघातकं ब्राह्मणानां वेदत्वस्येति। अत्रोच्यते, यथा ब्राह्मणानां वेदत्वं छन्दस्त्वं वा साध्यमस्ति न तथा मन्त्राणां छन्दसां वा उभयेष्वन्यतमस्य वा वेदत्वं साध्यम्। मन्त्राणां छन्दसां च वेदत्वमुभयसम्मतं तथासति "मन्त्रेश्वेतव०" इत्यत्र मन्त्रपदेन सामान्य-

तथा सर्वोऽपि वेदो विषयीक्रियते पुन "विजुपेच्छन्दसी" ति छन्दोग्रहणं गायत्र्यादिच्छन्दोबद्धानामेवावधारणार्थम् । तदित्थं मन्त्रच्छन्दसोः किञ्चिदर्थान्तरं नास्मन्मतेऽनिष्टम् । एवमेव च "अम्नरुधरवरित्युभयथा छन्दसी" ति छन्दःपदमुपादाय पुनः "भुवश्च महाव्याहृतेः" इति महाव्याहृतिग्रहणं सामान्यतः सर्वच्छन्दोविषयस्यात्राऽविषयीकरणार्थम् । तन्नात्राल्पश्रुतानामपि सन्देहस्याऽवकाशः कथं पुनर्वाराणसीस्थानां भाष्ये कृतश्रमाणां पण्डिताभिमानिनाम् । यच्चोच्यते छन्दःपदं सामान्यार्थवाचकं ब्राह्मणपदं च तस्यैव विशेषार्थपरम् । तदपि साध्यमेव । नहि किमपि प्रमाणमुपलभ्यते छन्दःपदस्य सामान्यवाचकत्वे, प्रत्युत तस्य विशेषार्थद्योतकत्वे सन्ति प्रमाणानि यथा–"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य" इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने निरुक्तकारेण स्पष्टमुक्तम्–सप्त हस्तासः=सप्त छन्दांसि । अत्र सप्तपदेन छन्दसां ग्रहणात्स्पष्टं प्रतीयते गायत्र्यादीन्येव सप्त छन्दःपदवाच्यान्यभीष्टानि । निरुक्तग्रन्थारम्भे चोक्तम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" निघण्टुस्थानि पदानि मूलवेदस्य गायत्र्यादिछन्दोभ्य एव संगृह्य पठितानीति प्रत्यक्षम् । नच निघण्टौ किमपि पदं ब्राह्मणपुस्तकेभ्य उद्धृतमुपलभ्यते इत्यादिप्रमाणैश्छन्दःपदं गायत्र्यादिपिङ्गलोक्तछन्दोवाचकं नच तद्व्यरूपाणां ब्राह्मणानां कथमपि वाचकं भवितुमर्हतीति ध्यायन्तु धीराः । तथा सति नास्ति छन्दोऽवयवीभूतं ब्राह्मणम् ॥

महामोहविद्रावण का भाषार्थः—

यदि उक्त दयानन्द का पक्ष ठीक माना जावे तो (मन्त्रे श्वेत०) सूत्र से अनुवृत्ति आने से कार्यसिद्ध हो जाता फिर "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ होगा क्योंकि उस के मत में मन्त्र और छन्दः एकार्थ हैं । जैसे ब्राह्मण शब्द का पाठ " द्वितीया ब्राह्मणे " सूत्र में किये पीछे " चतुर्थ्यर्थे० " सूत्र में "छन्दसि" पद पढ़ने से पाणिनि का आशय है कि ब्राह्मणपद छन्द का वाचक नहीं

इस पाणिनि के आशय की तू उत्प्रेक्षा करता है वैसे यहां भी मन्त्र कहने पश्चात् "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दः पद कहने से मन्त्र शब्द छन्द का वाचक नहीं यह आशय सिद्ध है सो यह ब्राह्मणों के द्वेषी तेरे मत में महाअनिष्ट है। ब्राह्मण पद का ग्रहण करके छन्दः सामान्य पद का कहना वा सामान्य छन्दःपद को कह कर कहीं महाव्याहृति आदि वेद के विशेष पद को कहना किसी के वेदत्व को नहीं हटाता अर्थात् छन्दःपद सामान्य वेद का पर्यायवाचक और मन्त्र वा ब्राह्मण आदि विशेष वाचक हैं इस से ब्राह्मण का वेद न होना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ऐसा कहता हुआ कपटमुनि सज्जनों को त्याज्य वा उपेक्षणीय है॥ यहां विशेष अक्षरार्थ न लिख कर केवल आशयमात्र भाषा संक्षेप से लिखदी है क्योंकि मुझे किसी प्रकार लेख बढ़ा कर पत्रे पूरे करने नहीं हैं॥

उत्तर—महामो० कहते हैं कि अष्टाध्यायी अध्याय ३ पाद २ सूत्र ७१ (मन्त्रे-श्वेतवहो०) में मन्त्र पद आचुका था तब फिर इस से अगले (अवेयजः ३। २। ७२ विजुपेच्छन्दसि) सूत्र में छन्दःपद क्यों आया ? स्वामी दयानन्द के मतानुसार भी मन्त्र और छन्द दोनों तो वेद हैं ही तब "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति से काम चल जाता। उत्तर यह है कि मन्त्रशब्द सामान्य कर समस्त वेद संहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही वाचक है इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहितामात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति रहती इस के निवारणार्थ, केवल गायत्र्यादिच्छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये "विजुपेच्छन्दसि" में छन्दः पद पढ़ा है—आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र तथा सामान्य गद्य यजु आदि सब ही हैं—परन्तु "छन्दसि" ग्रहण से केवल छन्दोबद्ध ही लिये जायगे—और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों में से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु उभयसम्मत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं इसी प्रकार "अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ८।२।७० "सुवश्च महाव्याहृतेः" ८।२।७१ यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाव्याहृति के अतिरिक्त समस्त वेद ("छन्दसि" की अनुवृत्ति से) विषय हो कर अतिव्याप्ति दोष आता। यहां भी छन्दः का "वेद होना" और महाव्याहृति का 'वेद का एक देश होना, दोनों का सम्मत है-यदि इसी प्रकार छन्द वा मन्त्रादि का "वेद होना„ और ब्राह्मण का "वेद का एक देश होना" उभयपक्षसम्मत होता तब तो इस दृष्टान्त से महामो० कर्त्ता को लाभ होता—यहां तो ब्राह्मण को न तो सामान्य वेद का वाचक मानते हैं न वेद का एक देश मानते हैं इस दशा में ब्राह्मणों का वेदत्व वा वेदैकदेशत्व सभी साध्य है इसलिये महाव्याहृति आदि का दृष्टान्त उन का पक्षपोषक नहीं—और जो यह लिखा है

तथा सर्वोऽपि वेदो विषयीक्रियते पुन"र्विजुपेच्छन्दसी"ति छन्दोग्रहणं गायत्र्यादिच्छन्दोबद्धानामेवावधारणार्थम् । तदित्थं मन्त्रच्छन्दसोः किञ्चिदर्थान्तरं नाऽस्मन्मतेऽनिष्टम् । एवमेव च "अग्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसी"ति छन्दःपदमुपादाय पुनः "भुवश्च महाव्याहृतेः" इति महाव्याहृतिग्रहणं सामान्यतः सर्वच्छन्दोविषयस्यात्राऽविषयीकरणार्थम् । तन्नात्राल्पश्रुतानामपि सन्देहस्याऽवकाशः कथं पुनर्वाराणसीस्थानां भाष्ये कृतश्रमानां पण्डिताभिमानिनाम् । यच्चोच्यते छन्दःपदं सामान्यार्थवाचकं ब्राह्मणपदं च तस्यैव विशेषार्थपरम् । तदपि साध्यमेव । नहि किमपि प्रमाणमुपलभ्यते छन्दःपदस्य सामान्यवाचकत्वे, प्रत्युत तस्य विशेषार्थद्योतकत्वे सन्ति प्रमाणानि यथा-"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य" इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने निरुक्तकारेण स्पष्टमुक्तम्-सप्त हस्तासः=सप्त छन्दांसि । अत्र सप्तपदेन छन्दसां ग्रहणात्स्पष्टं प्रतीयते गायत्र्यादीन्येव सप्त छन्दःपदवाच्यान्यभीष्टानि । निरुक्तग्रन्थारम्भे चोक्तम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" निघण्टुस्थानि पदानि मूलवेदस्य गायत्र्यादिछन्दोभ्य एव संगृह्य पठितानीति प्रत्यक्षम् । नच निघण्टौ किमपि पदं ब्राह्मणपुस्तकेभ्य उद्धृतमुपलभ्यते इत्यादिप्रमाणैश्छन्दःपदं गायत्र्यादिपिङ्गलोक्तछन्दोवाचकं नच तद्व्यरूपाणां ब्राह्मणानां कथमपि वाचकं भवितुमर्हतीति ध्यायन्तु धीराः । तथा सति नास्ति छन्दोऽवयवीभूतं ब्राह्मणम् ॥

महामोहविद्रावण का भाषार्थः—

यदि उक्त दयानन्द का पक्ष ठीक माना जावे तो (मन्त्रे घ्वेत०) सूत्र से अनुवृत्ति आने से कार्यसिद्ध हो जाता फिर "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ होगा क्योंकि उस के मत में मन्त्र और छन्दः एकार्थ हैं । जैसे ब्राह्मण शब्द का पाठ " द्वितीया ब्राह्मणे " सूत्र में किये पीछे " चतुर्थ्यर्थे० " सूत्र में "छन्दसि" पद पढ़ने से पाणिनि का आशय है कि ब्राह्मणपद छन्द का वाचक नहीं

इस पाणिनि के आशय की तू उत्प्रेक्षा करता है वैसे यहां भी मन्त्र कहने पश्चात् "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दः पद कहने से मन्त्र शब्द छन्द का वाचक नहीं यह आशय सिद्ध है सो यह ब्राह्मणों के द्वेषी तेरे मत में महाअनिष्ट है । ब्राह्मण पद का ग्रहण करके छन्दः सामान्य पद का कहना वा सामान्य छन्दःपद को कह कर कहीं महाव्याहृति आदि वेद के विशेष पद को कहना किसी के वेदत्व को नहीं हटाता अर्थात् छन्दःपद सामान्य वेद का पर्यायवाचक और मन्त्र वा ब्राह्मण आदि विशेष वाचक हैं इस से ब्राह्मण का वेद न होना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ऐसा कहता हुआ कपटमुनि सज्जनों को त्याज्य वा उपेक्षणीय है ॥ यहां विशेष अक्षरार्थ न लिख कर केवल आशयमात्र भाषा संक्षेप से लिखदी है क्योंकि मुझे किसी प्रकार लेख बढ़ा कर पत्रे पूरे करने नहीं हैं ॥

उत्तर—महामो० कहते हैं कि अष्टाध्यायी अध्याय ३ पाद २ सूत्र ७१ (मन्त्रे-श्वेतवहो०) में मन्त्र पद आचुका था तब फिर इस से अगले (अवेयजः ३ । २ । ७२ विजुपेच्छन्दसि) सूत्र में छन्दःपद क्यों आया ? स्वामी दयानन्द के मतानुसार भी मन्त्र और छन्द दोनों तो वेद हैं ही तब "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति से काम चल जाता । उत्तर यह है कि मन्त्रशब्द सामान्य कर समस्त वेद संहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही वाचक है इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहितामात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति रहती इस के निवारणार्थ, केवल गायत्र्यादिच्छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये "विजुपेच्छन्दसि" में छन्दः पद पढ़ा है—आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र तथा सामान्य गद्य यजु आदि सब ही हैं—परन्तु "छन्दसि" ग्रहण से केवल छन्दोबद्ध ही लिये जायगे—और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों में से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु उभयसम्मत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं इसी प्रकार "अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ८ । २ । ७० "भुवश्च महाव्याहृतेः" ८ । २ । ७१ यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाव्याहृति के अतिरिक्त समस्त वेद ("छन्दसि" की अनुवृत्ति से) विषय हो कर अतिव्याप्ति दोष आता । यहां भी छन्दः का "वेद होना" और महाव्याहृति का 'वेद का एक देश होना, दोनों का सम्मत है-यदि इसी प्रकार छन्द वा मन्त्रादि का "वेद होना„ और ब्राह्मण का "वेद का एक देश होना" उभयपक्ष-सम्मत होता तब तो इस दृष्टान्त से महामो० कर्त्ता को लाभ होता—यहां तो ब्राह्मण को न तो सामान्य वेद का वाचक मानते हैं न वेद का एक देश मानते हैं इस दशा में ब्राह्मणों का वेदत्व वा वेदैकदेशत्व सभी साध्य है इसलिये महाव्याहृति आदि का दृष्टान्त उन का पक्षपोषक नहीं—और जो यह लिखा है

कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी छन्द का विशेष वाचक है। यह भी साध्य ही है—छन्दः पद के सामान्यवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता प्रत्युत विशेषवाचक होने में बहुत प्रमाण हैं यथा "चत्वारि शृङ्गा त्रयो०" इस मंत्र के व्याख्यान में निरुक्तकार ने स्पष्ट कहा है कि " सप्तहस्तासः=सप्तच्छन्दांसि" यहां सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं । और निरुक्त के आरम्भ में भी लिखा है कि "छन्दोभ्यः समा०" केवल छन्दों से पद लेकर इस निघण्टुग्रन्थ में समाम्नान किया है । यह भी प्रकट है कि मूल वेदसंहिता के छन्दों में से ही संग्रह करके निघण्टुस्थ पद लिखे गये हैं, ब्राह्मणपुस्तकों से उद्धृत करके निघण्टु में कोई पद नहीं लिखा । इत्यादि प्रमाणों से छन्दः पद पिङ्गलोक्त गायत्र्यादि ७ छन्दों का वाचक होने से गद्यरूप ब्राह्मणों का वाचक नहीं होसक्ता इस कारण सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मण ग्रन्थ विशेषाऽवयव नहीं होसक्ते ॥

(महामो०) अत्रापरे ब्राह्मणविद्विषोऽमुष्यसंसर्गिणोऽनधीतशास्त्रा ग्रहिला अनभिज्ञा विवदन्ते। तथाहि—यदि ब्राह्मणानि छन्दांसि, तदा पाणिनिः कथं ब्रूते "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि"। ४।२।६६। यदि हि ब्राह्मणानि छन्दांसि तदा पर्य्याप्तं छन्दांसीत्येव, यावता ब्राह्मणान्यपि छन्दांस्येवेति । सत्यम् । ब्राह्मणानां मन्त्रैः सह छन्दोभावस्य समानत्वे पृथग्ब्राह्मणग्रहणमपार्थकमिति प्राप्तं तथापि ब्राह्मणग्रहणमिह "अधिकमधिकार्थम्" इति न्यायेन ब्राह्मणविशेषपरिग्रहार्थम्; तेनेह न याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्कयानि* सौलभानि । व्याकरणभाष्यकारोपि प्रकृतसूत्रे ब्राह्मणग्रहणप्रयोजनमिदमसूचयत् " याज्ञवल्कयादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः " इति वदन् ॥ अयमेवन्नार्थः " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" । ४।३।१०५। इति सूत्रे पुराणप्रोक्तत्वविशेषणेन ब्राह्मणानि विशिंषतः पाणिनेरभिमतः । इतरथा ब्राह्मणविशेषस्यापरिजिघृक्षितत्वे पुराणप्रोक्तेष्वित्याचार्यप्रवृत्तिरनर्थिका स्यादिति ना(चिन्त्यमिदम् तु० रा०) परोक्तं किमपि भाष्ये श्रमजुषां

* प्रमादएवैष भाष्ये श्रमजुषामाकाशपुष्पोवनफल भूतः—आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६।४।१५२ इत्यस्य जागरूकत्वात्—याज्ञवल्कानीति साधुपदम् । तु०रा०

विदुषामिति बहुलेखादुदास्महे * ॥

सुबोधव्याकरणे † तूत्तरपञ्चकेऽमी पुनरर्थाः स्वच्छमसकृदसूत्रिषतेति शम् ॥

उत्तर–अत्रापरे ब्राह्मणविद्विषोऽमुष्यसंसर्गिणोऽनधीतशास्त्रा ग्रहिला इत्यादिकुवाच्यानां तु नोत्तरं दद्मो न च दातुमुत्सहामहे यतस्तेषामियं सभ्यता तानेव भूषयतु । परन्तु "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति ४ । २ । ६६" पाणिनिसूत्रेऽस्मत्पक्षपोषके यद्रेणुपुलिनायितमुच्यते तच्छ्रोतव्यं श्रोतृभिः । यद्दयादिस्वामिभिर्ब्राह्मणानामवेदत्वे उच्यते यदि छन्दःपदेन मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो युष्माकमिव पाणिनेरपि विवक्षितोऽभविष्यत् तर्हि कुतस्तत्र केवलं छन्दःपदोपादानं तन्नये न पर्य्याप्तमभविष्यत् ? तत्रोत्तरेणार्थमुत्तरं रेणुपुलिनायितमिदमस्ति यत् "अधिकमधिकार्थम्" इति न्यायेन ब्राह्मणविशेषपरिग्रहार्थम्, तेनेह न याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि सौलभानीति । यद्यत्रोपात्तेऽपि छन्दःपदे ब्राह्मणपदग्रहणमधिकार्थं स्यात् तदा तु भवदुद्धृतमेव वार्त्तिकं "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्य" इत्यात्मकं व्यर्थं

---

* यद्यप्येतत्खण्डनानर्हं, व्याकरणे तदीयाबोधस्यानेकैरितरैरेव पूर्वं प्रदर्शनात् + । तथाप्यनभिज्ञजनभ्रमनिराकरणाय किञ्चिदाम्रेडितमिवाऽनुष्ठितं क्षन्तव्यं विज्ञैः ।

† इदं हि व्याकरणमाधुनिकानां छात्राणामुपकाराय तत्रभवद्भिः सुमहद्भिः श्री ६ राममिश्रशास्त्रिभिर्निरमायि यस्य मुद्रणादिना प्रचारोऽचिरादेवाभ्यर्थ्यते शब्दतत्त्वमभिजिज्ञासमानैराधुनिकाल्पसारवैयाकरणजनाविलोक्तिभीरुभिर्जनैः ॥

+ कारकान्तकौमुद्यध्ययनफलमिदम्–प्रदर्शितत्वादिति साधुपदम् ॥

स्यात् यतोऽधिकवचनेनैव तत्सिद्धेस्तदत्र वार्तिकस्यास्योद्धारः स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः ॥

यच्चेममेवार्थं पोषयन्त आहुः—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" ४। ३। १०५ इत्यत्र पुराणप्रोक्तेष्विति विशेषणेन कानिचिन्नूतनप्रोक्तानि ब्राह्मणानि नैवासन् जिघृक्षितानि इतरथा विशेषणं व्यर्थं स्यादिति तदत्रतु चतुर्वेदिनां षड्वेदित्वलिप्सूनां स्वस्यैव द्वयं परिहाय द्विवेदित्वं गतानामिवैवेयं चेष्टा तेषां यतो ब्राह्मणानामपि मन्त्राणामिवाऽपौरुषेयत्वं वेदत्वं च साधयितुमिच्छवस्तेहि स्वयमेव केषांचिद्ब्राह्मणानां पुराणप्रोक्तत्वमथान्येषां नवीनप्रोक्तत्वं च प्रतिपादयन्तो वेदत्वमसाधयन्तः पौरुषेयत्वं नूतनकृतत्वं च केषाञ्चिद् ब्राह्मणानांस्फुटयन्ति। अतोऽयं लेखो न तत्पक्षपोषकोऽपितु तेषामेव ब्राह्मणद्विट्त्वसूचकः। अस्मन्नये च पाणिन्यपेक्षया केषाञ्चिद्ब्राह्मणानां पुराणप्रोक्तत्वं केषाञ्चिच्च नूतनप्रोक्तत्वं तदुभयमपि संगच्छते तेषां पौरुषेयत्वात्। प्रोक्तत्वं च द्विविधं पौरुषेयाऽपौरुषेयपुस्तकभेदात्। अपौरुषेयेषु प्रोक्तपदेन प्रचारितत्वमध्यापितत्वं वा बोध्यम्। पौरुषेयेषु च व्याख्यातत्वमेवावगन्तव्यम्। एवं सत्येव (शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४। ३। १०६) इत्यादिप्रोक्ताधिकारपठितसूत्रोदाहरणानां संगतिः। छन्दसां ह्यपौरुषेयत्वस्योभयपक्षसम्मतत्त्वान्नहि केनापि शौनकादिव्याख्यातत्वं स्वीक्रियते। यदि कश्चिद्ब्रूयात्—यथा छन्दसां प्रोक्तपदेन प्रचारितत्वमध्यापितत्वं वा गृह्यते तथैव ब्राह्मणकल्पानामपि प्रचारितत्वग्रहे कोऽस्ति बाधः? एवं प्राप्तेऽप्युच्यते—नहि प्रोक्तपदेन पौरुषेयाऽपौरुषेयेषु सर्वेषु प्रचारितत्वमेवार्थो युक्तः प्रतिभाति, तथाहि "तेन प्रोक्तम् ४। ३। १०१" इति प्रोक्ताधिकारे "तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४। ३। १०२" इत्यस्य भाष्ये छन्दःप्रत्युदाहरणभूतम् "तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः" इत्युक्तं न च छन्दसामिव श्लोकस्या-

पि अपौरुषेयत्वसाधनं कस्यापि पक्षे युक्तम् । ततश्च प्रोक्तार्थे यस्मात्प्रत्ययो विधीयते वाच्यश्चेत्पौरुषेयं तेन व्याख्यातं तद्बोध्यमपौरुषेयं चेत्तेन विशिष्टतया प्रचारितमित्येवाऽर्थोऽवगन्तव्यः, तस्माद्ब्राह्मणानां कल्पानां च पौरुषेयत्वात् प्रोक्ताधिकारे तत्तद्व्याख्यातत्वं सुव्यक्तम् । यच्च टिप्पण्याम्—व्याकरणे तदीयाबोधस्येत्यादि व्यञ्जितम् तत्त्वाकाशष्ठीवनमेवेत्युदास्महे ॥

महामो० का भावार्थ—यहां कोई ब्राह्मणशत्रु इस (दयान०) के संसर्गी अनपढ़ हठी अनभिज्ञ विवाद करते हैं कि यदि ब्राह्मण वेद हैं तो पाणिनि जी "छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि०" सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द क्यों लिखते क्योंकि छन्द शब्द से ब्राह्मण का अर्थ भी आजाता । यद्यपि यहां छन्द शब्द लिखना पर्याप्त (काफ़ी) था परन्तु ब्राह्मणशब्द लिखना विशेष प्रयोजन से है अर्थात् सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट नहीं है किन्हीं विशेष ब्राह्मणों का ग्रहण इष्ट है इसी लिये भाष्यकार ने " याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः " यह वार्त्तिक लिखकर याज्ञवल्क्यादिकृत ब्राह्मणों का इस सूत्र में ग्रहण नहीं किया इसी आशय के पुष्ट करने को पाणिनि जी ने " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु " इस सूत्र में "पुराणप्रोक्तेषु" यह विशेषण लिखा है—यदि सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट होता तो यह विशेषण "पुराने ऋषियों के प्रोक्त जो ब्राह्मण वा कल्प" व्यर्थ होता यह सब कुछ भाष्य में परिश्रम करने वालों से छिपा नहीं है इस लिये बहुत लेख से उदासीनता करते हैं * ॥ सुबोध व्याकरण † में तो ये पुनरर्थ बहुत स्पष्ट सूचित कर दिये हैं ॥

उत्तर—ब्राह्मणों के शत्रु, अपढ़, ग्रहिल (हठी) आदि कुवाच्यों का तो हम उत्तर नहीं देते न देना चाहते हैं यह सभ्यता तो बड़ों का भूषण रहो । परन्तु हमारे पक्ष के पोषक "छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि०" इस सूत्र पर जो बालू का पुल उतरने को बांधा है वह श्रोताओं के सुनने योग्य है । श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी

---

* यद्यपि यह खण्डन योग्य नहीं, क्योंकि व्याकरण में उन (दयानन्द) का अबोध अन्य ही अनेकों ने दिखला दिया है तथापि अनभिज्ञ जनों के भ्रमनिवारणार्थ कुछ पुनरुक्ति सी कीगई उस को विद्वान् क्षमा करें ॥

† यह व्याकरण आधुनिक विद्यार्थियों के उपकारार्थ तत्रभवान् सुमहान् श्री ६ रामसिश्र शास्त्री जी ने रचा है जिस के छपने आदि से शीघ्र प्रचार की, आधुनिक छोटे वैयाकरणों के सरलतर वाक्यों से डरे हुए व्याकरण के तत्त्वजिज्ञासु जनों से प्रार्थना कीजाती है ॥

ने यह लिखा है कि "यदि ब्राह्मण भी वेद होते तो महर्षि पाणिनि जी ऊपर लिखे (छन्दोब्राह्म०) सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द क्यों लिखते इस से प्रतीत होता है कि महर्षि पाणिनि जी भी ब्राह्मण को वेद नहीं मानते थे" इस पर आप लिखते हैं कि [यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखे हैं कि "अधिकमधिकार्थम्" इस न्याय से पाणिनि जी को यहां सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था इसी लिये महाभाष्य में "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो-वक्तव्यः" इस वार्त्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इस सूत्र द्वारा की गयी है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मणग्रन्थ अभिमत वा अभीष्ट होते तो "पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋषियों के कहे" ब्राह्मण ग्रन्थ—ऐसा विशेषणयुक्त क्यों लिखते इस से प्रतीत हुआ कि छन्द और ब्राह्मण यद्यपि दोनों ही वेद हैं इस लिये यद्यपि छन्दः पद लिख कर ब्राह्मणपद लिखने की आवश्यकता न थी परन्तु किन्हीं २ ब्राह्मणों का ही ग्रहण होने और किन्ही याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से उक्त सूत्र में ब्राह्मण पद अधिकार्थ है] हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मण पद लिखने ही से किन्हीं विशेष याज्ञवल्क्यादिवर्जित ब्राह्मण विवक्षित थे तो आप का लिखा "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो०" वार्त्तिक व्यर्थ भाष्यकार ने लिखा। परन्तु यथार्थ में आप का अभिमत तात्पर्य्य पाणिनि वा पतञ्जलि (महाभाष्यकार) का न था, यथार्थ में तो पाणिनि ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण न मान कर ब्राह्मणपद भिन्न लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणों का ग्रहण होता इस के निवारणार्थ "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषे०" वार्त्तिक लिख कर "याज्ञवल्कानि, सौलभानि" इत्यादि उदाहरणों के द्वारा वार्त्तिक की सफलता दिखलाई है—और "पुराणप्रो०" इस सूत्र से जो उसी विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहावत हुई कि "चौबे चले छब्बे होने को, गांठ के दो खोकर दुबे रह गये" अर्थात् प्रतिपादन तो यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्र वा छन्द के तुल्य वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं और जैसे वेद मन्त्रसंहिता अपौरुषेय हैं वैसे ब्राह्मण भी हैं यह भी उन को प्रतिपादनीय था। उस के स्थान में ब्राह्मणों का याज्ञवल्क्यादिकृत होना लिख कर और कुछ ब्राह्मण पुराणप्रोक्त हैं कुछ नवीनप्रोक्त भी हैं ऐसा मान कर आपने तो ब्राह्मणों की प्राचीनता भी (किन्हीं की) खोदी केवल याज्ञवल्क्यादिवर्जितों की ही प्राचीनता आप के लेख से शेष रह गयी—हमारे पक्ष में तो पाणिनि की अपेक्षा किन्हीं ब्राह्मण पुस्तकों का प्राचीनप्रोक्त होना और किन्हीं का नूतनप्रोक्त होना दोनों ही ठीक हैं क्योंकि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय हैं प्रकार का अर्थ है एक अपौरुषेय पुस्तकों में दूसरा पौरुषेयपुस्तकों में। अपौरुषेयपुस्तकों में

सदा के लिये मूल्य घटा दिया ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) दो मास जुलाई, अगस्त ९५ तक ॥।) पश्चात् १) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका २) से १॥) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है। ईश ≡) केन ।) कठ ।॥) प्रश्न ॥=) मुण्डक ।॥) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ।॥) ये ७ उपनिषद् सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक वार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ४।) से ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में बहुत शुद्ध तथा दर्शनीय छापे गये हैं मूल्य ≡) गणरत्नमहोदधिः २) से १॥) आर्यसिद्धान्त १२ अङ्क का ३॥।) ऐतिहासिक निरीक्षण ≡) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्मसतपरीक्षा ≡) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूलसूत्रपाठ ≡) कुमारी–भूषण -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पुस्तक)॥। द्वितीय पुस्तक -)। तृतीय पुस्तक ≡) नवरत्नभूषण =) गणितारम्भ =)॥ विदुरनीति मूल =) जीवसान्तविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल ॥) पाखण्डमतकुठार ≡) जीवनयात्रा ≡) किरानीलीला–वेश्यालीला)॥। नीतिसार =)॥ हिन्दीका प्र० पु० -) द्वितीयपुस्तक ।), शास्त्रार्थखुर्जा -) शास्त्रार्थकिराणा =)

भजन पुस्तकें–भजनामृतसरोवर =)॥ सत्यसंगीत)। उपदेशभजनावली)। सदुपदेश)। भजनेन्दु -) वनिताविनोद =) संगीतरत्नाकर =) नारीसुदशाप्रवर्त्तक ४ भाग १) सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग ॥।) सत्यार्थप्रकाश २) भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्य्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त १) करपल्लवी -) इशारों से वातचीत करने की विधि है वेश्यानाटक उर्दू =)॥ व्याख्यानसागर ।-)

आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार अच्छे कागज़ पर । वा निकृष्ट कागज़ पर =)॥। सैकड़ा १॥।) हज़ार व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रसिद्ध सैकड़ा =), हज़ार का १।) डाक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा ।

भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त–प्रयाग

सूचना ॥

सब ग्राहक महाशयों को विश्वास दिलाने की इच्छा से सूचित करता हूं कि पं० तुलसीराम स्वामी परीक्षितगढ़ निवासी के आ जाने पर लेखों सम्बन्धी सहाय मिलने का पूर्व से ही विश्वास था तदनुसार महामोहविद्रावणादि के अवशिष्ट आक्षेपों पर प्रत्येक अङ्कद्वय में एक २ फारम लेख पं० तुलसीराम स्वामी जी की ओर से सम्पादित होकर छपना आरम्भ हुआ है आशा है कि ग्राहक महाशयों को सन्तोष जनक होगा। शेष चार फारम मेरा लेख रहा करेगा। और ये ही महाशय इस सरस्वतीयन्त्रालय प्रयाग के प्रबन्धकर्त्ता (मेनेजर) नियत किये गये हैं इस कारण मेरे नाम के मनीआर्डरादि लेने हिसाब रखने पत्रादि पर हस्ताक्षर करने और जिन महाशयों से आर्यसिद्धान्तादि का मूल्य चाहिये उन से मांगने आदि का उक्त पण्डित जी को पूरा अधिकार मेरी ओर से है। आशा रखता हूं कि कोई महाशय पं० तुलसीराम स्वामी के मांगने पर दाम भेजने में कुछ भी सङ्कोच न करेंगे। और इन की हस्ताक्षरी रसीद प्रेस की ओर से पक्की समझी जायगी। अभी तक इस कार्यालय में कोई प्रबन्धकर्त्ता नहीं था इस कारण हिसाब की वैसी सफाई न थी जैसी अब रहेगी इस लिये सब ग्राहक महाशयों को उचित है कि अपना २ हिसाब साफ कराने का उद्योग करें। जिन का हिसाब साफ न होगा और जो पत्र का उत्तर भी न देंगे उन के नाम मासिक अङ्क आगे को न भेजे जाया करेंगे ॥

द्वितीय सूचना यह है कि एक नाम के कई ग्राहक होने से हिसाब आदि में सन्देह होता है ग्राहकों को उचित है कि कृपा करके अपने नाम के पूर्व छपा हुवा नम्बर का अङ्क स्मरण करके अवश्य लिख दिया करें ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव कोष छप कर तयार हो गया। यद्यपि मूल्य इस का १) रक्खा गया है तथापि तीन मास जून से अगस्त ९५ तक ॥।) में मिलने का नियम किया था जिस में जून व्यतीत होगया। शेष दो मास ही रहे हैं जो ग्राहक शिथिलता करेंगे पीछे १) में पा सकेंगे इसलिये जिन महाशयों को लेना हो वे शीघ्र मगा लेवें। संस्कृतशब्दों के अर्थ शुद्ध भाषा में लिखे गये हैं। अब मेरा शरीर बहुत अच्छा है रोग सर्वथा छोड़ गया। आशा है कि आगे २ अच्छा काम चलेगा ॥

ह० भीमसेन शर्मा—प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ३ । ४

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

२६ अगस्त सन् १८९५ ई०

१।२।८५ से मूल्यप्राप्तिस्वीकार ११।७।८५ तक

०५४ पं० मिश्रीलाल जी शर्मा आवर १।)
०७८ बा० बलदेवसिंह वर्मा सोजात १।)
१६ ला० देवीदास खत्री लखनऊ १।)
०६४ बा० चरणदास जी नवाशहर १।)
०७१ बा० दुर्गादास जी राजबाड़ी १।)
०३४ बा० कर्मचन्द जी कलकत्ता १।)
५१॥ श्री कृष्णचन्द्रजीओव०पेशावर २॥-)
०७४ लाला बसन्तलाल गुप्त पटना १।)
०७३ श्री चतुर्भुज जी दफेदार जहाज़पुर १।)
०८२ श्री नारायणदास जी नगीना १।)
६२ श्री उजागरसिंह जी फैज़ाबाद २॥)
४७ ठाकूर इन्द्रमणि जी लखनऊ १।)
६२ श्री शिवप्रसाद छोटी विलासपुर १=)
७९ श्रीहरिशंकरप्रसादजीशर्मानगीना १।)
७५ श्री हीरालाल जी बान्दीकई २॥)
९२ श्री हरदयालु जी सुखसेन गोंडा १।)
०७८ श्री रामलगनसिंह जी सिहोरा १।)
०७७ श्री शिवप्रसाद जी रईस नगला १।)
९५ पं० तुलसीराम जी शर्मा नामनेर २॥)
८८ श्री अयोध्याप्रसाद जी गोहाटी १।)
०६६ पं० बेचेलाल घुरसेन १=)
०८० मन्त्री आ०स० सिटी लखनऊ १।)
८७ बा० रमादत्त शर्मा चकराता १।)
००५ श्री साधूशान्त इन्द्रदेव मैनपुरी १।)
१९ श्री देवकीनन्दन शर्मा भिनगा १।)
३४ श्री देवराज जी जालन्धर ३)
३० श्री बसन्तलाल बूढ़ा०जालन्धर ३=)
६८ श्री रूढ़ामल जी जालन्धर २॥)
११० श्री मुंशीराम जी जालन्धर १।)
९२५ श्री रामकृष्ण जी वकील जालन्धर २॥)
६६३ श्री तेलूमल जी जालन्धर १।)
०८४ पं० नारायणदत्त जी शर्मा तीतरों १।)
२२७ बा० सीताराम मथा जी किरांची १।)
६०१ श्री मन्त्री जी आ० स० किरांची २॥)

७८० श्री रामस्वरूप जी गहमर १।)
५०८ श्री रघुवरदयालु भदर्सा १।)
१०६१ श्री टोडरमल आ० स० खिरवा १।)
५११ श्री भगवन्तसिंह महोवा १।)
१०८२ श्री घनश्याम गुप्त कलकत्ता १।)
१०८५ श्री भैरवप्रसाद नीमच १।=)
१०८३ योगनारायण फुवा गडिवस्ती १।)
१०८६ श्री लैसनायक वानो, २॥=)
३२३ श्री गणेशीलाल चन्दोसी १।)
१२६ श्री होरीलाल जी एटा १।)॥
९८९ श्री शाकम्भरीदास जी जवलपुर १।)
१०८७ श्री रामप्रताप शर्मा जयपुर १।)
२८९ श्रीरामत्रिवेदी जी कुमिल्ला २॥)
७९८ मुं० कुंवरप्रसाद जी प्रतापगढ़ १।)
१४७ श्री चिरंजीलाल दूलीचन्द मुम्बई १।)
१०८९ पं०महाबली शर्मा मुम्बई १।)
१०९० ठाकुरदेवीसिंह वर्मा मुम्बई १।)
१०९१ बा० हरिशंकर चौवे मुम्बई १।)
१०८८ श्री कर्मचन्द जी क्वैटा २॥)
८३७ श्री वेणीप्रसाद जी कानपुर २॥)
३१७ श्री वालगोविन्द जी विगहपुर २॥)
७६६ प्राणजीवणदास नारा० राजकोट २)
३२२ बाबू बालमुकुन्द जी भूपाल १।)
१०९३ श्री दुर्गाप्रसाद वि०सिंकदरपुर १।)
१०६ श्री शिवदयाल जी तिगांव २)
७०८ श्री नारायणदत्त जी झांसी २॥)
५४श्री शिवराव संगीशशर्मा मञ्जेश्वर १।)
३८१ श्री विसरामविष्णु जी मुम्बई २॥)
५४४ श्रीमनोहरसिंह जी उदयपुर २॥)
७७७ पं० रामदयालु शर्मा कामठी ॥।)
१७ श्री लच्छीराम खेमका चूरू ५)
९३३ श्री महावीरप्रसाद मुजफ्फरपुर १।)
१५७ श्रीगोमाजीरंगाजी सायण १।)
५६१ श्री गोपालसहाय लश्कर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ३ । ४

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(भाग ७ पृष्ठ ३२ से आगे त्रयीविद्या)

वास्तव में सर्वत्र ही "व्याख्यान से विशेष का निश्चय होता है इस कारण सन्देह होने से लक्षण में त्रुटि वा न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये" यह भी महाभाष्यकार की सम्मत्यनुकूल ही है। सो इस प्रकार अथर्ववेद के होने का ज्ञान पाणिनि को था वा नहीं यह विचार तो दूर रहो प्रत्युत अथर्ववेदीय शौनकसंहिता, चार अध्यायरूप अथर्ववेदीय कौशिककल्पसूत्र, अथर्ववेदीयशिक्षा और अथर्ववेदी लोगों का पाठ प्रकारादिरूप धर्म ये सब उन पाणिनि को विदित अवश्य ही थे॥

सम्पादक—इस विषय में इतना वक्तव्य है कि शाकलादि सब शाखाओं का सामान्य नाम ऋग्वेदादि नहीं शाखा एक प्रकार का व्याख्यान हैं जैसे मूलवृक्ष की शाखा प्रख्यात करने वाली होने से व्याख्यान के स्थान में मानी जाती हैं वैसे मूल के आशय को विस्तृत करने वाली होने से वेद की शाखा हुई। जैसे उस २ वृक्ष में लगी रहने से उस २ की शाखा कहाती हैं इसी से षष्ठी विभक्ति का सम्बन्धार्थ घटता है वैसे ही मूल वेदाशय से विरुद्ध न चलने तक वे उस २ वेद की शाखा मानी जा सकती हैं विरोध में मेल न रहने से षष्ठी का सम्बन्धार्थ भी न घटेगा। व्याख्यानों का नाम भी वेद हो तो सम्बन्धार्थ नहीं घटेगा। जैसे आम की शाखा कहते और शाखाओं का आम ऐसा व्यवहार नहीं होता वैसे ही वेद की शाखा कहना चाहिये शाखा का वेद नहीं। यदि प्रत्येक वेद की सब समान शाखा ही मानी जायं शाखा से भिन्न मूल कुछ न हो तो शाखा का ऋग्वेद यह भी प्रयोग होना चाहिये पर होता नहीं तो शाखाओं से भिन्न वृक्षादि के तुल्य मूल मानना आवश्यक हुआ। संहिता पद अन्य शाखाओं के साथ भी वैसा ही लग सकता है जैसे मूल के साथ। पाणिनिकी उत्पत्ति से भी

बहुत पहिले सृष्टि के ही आरम्भ में सब वेदों के साथ ही अथर्ववेद भी बना और पाणिनि को अथर्ववेद के सब अंशों का बोध भी था इस विषय में विदेशीय लोगों का परामर्श सर्वथा अज्ञानमूलक है इस में हमारी सर्वांश सम्मते है। काशिका और सिद्धान्त कौमुदी आदि के व्याख्याकारोंने "शाकलाद्वा" सूत्र लिखा है उस के अनुसार सामश्रमी जी ने भी लिखा सो ठीक नहीं क्योंकि गोत्रप्रत्ययान्तों से सङ्घादि अर्थों में (सङ्घाङ्क ४।३।१२७) सूत्र से प्रत्यय विधान का यहां नियम है और चरणवाचियों से धर्म आम्नाय अर्थ में प्रत्यय होगा। चरणवाची मानें तो शाकल पाठ ठीक हो पर उस से संघादि अर्थों में प्रत्यय करना विरुद्ध है। गोत्रप्रत्ययान्त शकल से प्रत्यय कहें तो शाकल्य से प्रत्यय होगा। शाकल्य के लक्षण नाम सूत्र को महाभाष्यकार ने अनेक स्थलों में शाकल कहा है इस से भी निश्चय है कि गोत्र प्रत्ययान्त शाकल्य शब्द से लक्षण अर्थ में "शकलाद्वा" सूत्र से प्रत्यय होता है चरणवाची से नहीं तो ऐसी दशा में प्रोक्तार्थ न मिलने और सूत्र का "शकलाद्वा" शुद्ध पाठ होने से यहां प्रमाण में "शाकलाद्वा" लिखना सर्वथा व्यर्थ और अशुद्ध है। और "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" भी वार्त्तिक है पाणिनिसूत्र नहीं काशिकाकारादि का सूत्र पाठ में लिखना प्रमाद है कैयट ने भी अपाणिनीय माना है तब पाणिनिसूत्र मान के प्रमाण देना भूल प्रतीत होती है॥

(सत्यव्रत) निरुक्तकारः खलु यास्कः पाणिनेः पूर्वतनः—इति वादिनां निरुक्तेऽसकृदेवाथर्ववेदीयनिगमोद्धृतिदर्शनात् तस्य यास्कबहुपूर्वदृष्टत्वनिर्णयेनैव पाणिनिविदितत्वं सुवचमेव। तदथर्ववेदस्य पाणिनिविदितत्वविचारस्त्वस्तु पेटिकाबद्धः, तन्मते हि तत्पूर्वजस्य यास्कस्यापि विदित एवासीत्स इत्युपपद्यते। तथाहि—"तथापि निगमो भवति—'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति'—इति (२भा० ५७ पृ०)"—इति। तावेतौ द्वावेव निगमौ अथर्ववेदत एव लब्धौ (अथ०सं०७।७।८।६)। अन्यत्र च "एकं पादं नोत्खिदतीत्यपि निगमो भवति (४भा०२९५पृ०)"—इति। एषोऽपि निगमोऽथर्वसंहितात एव लब्धः; श्रूयते हि तत्रैवैकादशकाण्डीयद्वितीयानुवाकान्त्यसूक्ताद्या ऋक् "एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंसमुच्चरन्"—इत्यादि। किञ्चात्र निघण्टुस्थितस्यैकपादित्यस्यैष एव निगमोऽन्यत्र त्वैश्वदेव्याद्यृक्षु तु निपातएवेति निर्णयात् निघण्टुसमाम्नायश्रवणात् पुराप्यासीदथर्ववेद इति यास्कसम्मतमेवेत्युप-

लभ्यते; निघण्टोश्च यास्कादिबहुपूर्वश्रुतत्वं प्रतिपादितमेव पूर्वम् (कौ पृ०) । तस्मात् सर्ववेदसमकालिकत्वमेवाथर्ववेदस्येत्यत्र सन्देहलेशोऽप्ययुक्त एवेत्यस्माकमिति ॥

वस्तुतएकएव वेदः, त्रिविधरचनात्मकस्त्रयीति प्रसिद्धोऽपि ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता, अथर्वसंहितेति चतुःसंहिताभिश्चतुःसङ्ख्यान्वितः । संहितालक्षणं तु प्रातिशाख्यादौ प्रसिद्धम्–"पदप्रकृतिः संहिता (ऋ०प्र० २।१)"–इति, "वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता (य०वा०प्रा० १।१५८)"–इति, "परः सन्निकर्षः संहिता (पा० १।४।१०९) " इति; एवमादि । तत्र ऋक्लक्षणानां (पद्यात्मकानां) मन्त्राणां चतुर्विधास्वपि संहितासु विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थेऽन्यलक्षण एकोऽपि मन्त्रो न दृश्यते, तस्यैव ऋक्संहितात्वम् । एवं तदतिरिक्तासु त्रिविधास्वपि संहितासु यजुर्लक्षणानां (गद्यात्मकानां) मन्त्राणां विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थे यजुषामेवाधिक्यम्, ऋचामपि यजुष्ट्वेनैव पाठो विनियोगश्च तस्यैव यजुःसंहितात्वम्; अतएवोक्तमध्वर्युब्राह्मणभाष्यभूमिकायां सायणाचार्येणापि–"तत्र यजुषामध्वर्युवेदेऽतिबहुलत्वात् क्वचित् क्वचित् ऋचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्येवाख्यायते"–इति । सामसंहितायास्तु स्तोमानां गानानाञ्च मूलीभूतानां कासाञ्चिदृचाम्, स्तोमलक्षणानां कतिपयानां यजुषां चाश्रयत्वेऽपि सर्वेषामेव साम्नामाधारभूमित्वं स्पष्टमेव । तदेवं गद्यपद्यगीतिभेदात् त्रिविधाएव रचना भवन्ति, तादृशरचनात्रैविध्यावलम्बेनैतानि त्रीणि नामानि सम्पन्नानि । ततश्चतुर्थसंहितायाः किं नाम* भवितव्यमिति चिन्तायामेवं त्रिभागकारिणो नाम्नैवैतस्य नामकरणमुचितमिति सिद्धं नामाथर्वसंहितेति ॥

भाषार्थः—निरुक्तकार यास्कमुनि पाणिनि से पहिले हुए ऐसा कहने वाले

*चिन्त्यमत्र विभक्तिविधानस्वतन्त्रताभाति भी० श०

विदेशियों के मत में भी निरुक्त में वार २ अथर्ववेद के वाक्यों का अनुवाद दीख पड़ने से अथर्ववेद यास्क ने पाणिनि से पहिले ही देखा यह सिद्ध हो गया। और जब पाणिनि से पहिले निरुक्तकार ने अथर्व को देखा तो पीछे हुए पाणिनि का अथर्व को देखना स्वतः सिद्ध हो गया। सो अथर्व का पाणिनि को ज्ञान था वा नहीं यह विचार तो पेटी में बांध के रक्खो किन्तु उन लोगों के मत में पाणिनि से पहिले हुए यास्क को भी अथर्ववेद का ज्ञान था यह सिद्ध है क्योंकि "तथापि निगमो भवति" (२ भाग० ५७ पृ०) में ऐसा कह के निरुक्तकार ने "यमक्षितिम्०" इत्यादि अथर्ववेद के कई मन्त्रों के व्याख्यान वा उदाहरण अनेक स्थलों में दिये हैं और वे मन्त्र (७ । ७ । ८ । ६) आदि स्थलों पर अथर्वसंहिता में प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। और निघण्टु में आये एकपात् शब्द का मूल "एकं पादं नोत्खिदति ॥ ११ । २" यह अथर्व में स्पष्ट है। क्योंकि अन्य वैश्वदेवी आदि ऋचाओं में आये एकपाद् शब्द का निपात होना ही निर्णय किया गया है इस से सिद्ध हुआ कि निघण्टु पुस्तक बनने से भी बहुत पहिले अथर्ववेद विद्यमान था यह निरुक्तकार यास्कजी के सहमत ही है और निघण्टु यास्क ऋषि से बहुत काल पहिले बना यह भी हम (सत्यव्रत) पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। इस से सिद्ध हुआ कि अथर्ववेद आधुनिक वा पीछे का बना नहीं किन्तु ऋग्वेदादि के साथ ही अथर्व भी बना इस में कुछ भी सन्देह करना हमारा अयुक्त ही है ॥

वास्तव में वेद एक ही है उस में तीन प्रकार की रचना होने से त्रयीशब्द से प्रसिद्ध हुआ भी ऋक्, यजुः साम, अथर्व इन चार संहिताओं से चार संख्यायुक्त हुआ। और संहिता का लक्षण प्रातिशाख्यादि में प्रसिद्ध ही है। "पद कार्य का होना संहिता, वर्णों का परस्पर मिलना संहिता, तथा पूर्व २ वर्णों का पर २ के साथ अत्यन्त समीप प्रयोग करना संहिता कहाती है" इत्यादि। उन में ऋग्लक्षण पद्यरूप मन्त्रों के चारों प्रकार की संहिताओं में विद्यमान होने पर भी जिस ग्रन्थ में अन्य यजु आदि के लक्षण वाला एक भी मन्त्र नहीं दीखता वह ऋग्वेदसंहिता कहाती है। इसी प्रकार ऋक् को छोड़ के अन्य तीन प्रकार की संहिताओं में यजु लक्षण वाले गद्यरूप मन्त्रों के विद्यमान होने पर भी जिस ग्रन्थ में यजुओं की अधिकता है और ऋग्लक्षण मन्त्रों का भी यजुःपन से ही पाठ वा कर्मों में विनियोग किया गया है वही यजुःसंहिता कहाती है। इसी लिये यजुर्वेद के ब्राह्मणभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने भी कहा है कि "यजुर्वेद में यजुर्लक्षण मन्त्रों के अधिक होने से कहीं २ ऋग्लक्षण मन्त्रों के होने पर भी यजुर्वेद ही कहा जाता है" और सामसंहिता के स्तोम और गानों की मूलरूप किन्हीं ऋचाओं और स्तोमरूप किन्हीं यजुओं का आश्रय होने पर भी सभी के आधार भूमि सामलक्षण मन्त्र स्पष्ट ही हैं। इस प्रकार पद्य गद्य और गान भेद

से तीन ही प्रकार की रचना होती हैं। उस तीन प्रकार की रचना के सम्बन्ध से वेदत्रय तीन वेद वा ऋग्यजुः साम त्रयी कहाते हैं। तब चौथी संहिता का क्या नाम होना चाहिये इस विचार में ऋगादि संहिताओं के विभाग करने वाले ऋषि के नाम से ही इस का नाम करना उचित है ऐसा मान के अथर्वसंहिता इस का नाम सिद्ध हुआ।

अथर्वा नामर्षिरेव हि यज्ञप्रक्रियायाः प्रथमप्रकाशकः, अतः सएव हौत्रादिकार्यसौकर्यायैवमृगादिनाम्ना वेदविभाजकश्चेत्यपि सम्भाव्यते। तथाहि—"यज्ञैरथर्वा प्रथमः, पथस्तते (ऋ० सं० १।६।४।५)"—इति, "अग्निर्जातो अथर्वणा (ऋ० सं० ७।७।४।५)"—इति, "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत (ऋ० सं० ४०।५।२३।३)"—इति, "अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः (अ०सं०७।१।२) "—इति चैवमादिमन्त्रलिङ्गात् प्रतीयत एवाथर्वणो यज्ञाविष्कर्त्तृत्वम्। "यदृचैव होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयीविद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् (ऐ०ब्रा०५।५।८)"—इत्यादिश्रुतेश्च स्फुटमेव प्रतीयते यज्ञकार्यनिर्वाहसौकर्यार्थमेव च ऋगादिसंहिताविभाग इति। किञ्चात्रैव च "अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते? त्रय्या विद्यया"—इत्यतः समग्रा एव त्रयी विद्या ब्रह्मत्वकरणे साधिकेति स्पष्टम्। न चाथर्वसंहिताध्ययनमन्तरा समग्रायास्त्रय्याः ज्ञानं भवितुमर्हति; होत्रध्वर्यूद्गातृव्यवहार्यातिरिक्तानामप्यृग्यजुर्मन्त्राणां तत्र सद्भावात्। अतएव "ऋचान्त्वः पोषमास्ते (ऋ०सं०)" इति मन्त्रस्य निर्वचनावसरे यास्कोऽप्याह—" ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (२भा०६६पृ०)"—इति। अथर्ववेदी एव ब्रह्मा भवति स एव च यज्ञं समन्तात् रक्षति। तथाहि—"ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्योऽन्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादाद् यदि वाप्यसान्निध्याद्

यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत्"—इत्यादिः, "तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्; स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्'-इत्यन्तो गोपथग्रन्थो द्रष्टव्यः (गो० ब्रा० २।२।५)। छन्दोगा अपि ब्रह्मणो भिषक्त्वमामनन्त्येव—"भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति (छा० ब्रा० ५।१७।८)"—इत्यादि। सामवेदभाष्यावतरणिकादौ सायणाचार्योऽप्यवोचत्—"त्रयाणामपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा"—इति। युक्ततरञ्चैतद् तदैव ब्रह्मर्त्विजि, यदा खलु तस्य चतुर्वेदवित्त्वेन समग्रत्रयीवेत्तृत्वं स्यात्; सर्ववेदवेत्तृत्वेनैव च तस्य विश्वव्यचाइति समुद्रइति चाख्यानं सङ्गच्छते। श्रूयते हि—"समुद्रोऽसि विश्वव्यचा (य० वा० सं० ५।३३)"—इति यजुर्मन्त्रः। स्फुटतरञ्चैतदाम्नातं दृश्यते गोपथपूर्वार्द्धे एव। तथाहि—"तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युम्, सामविदमुद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्"—इति, "प्रजापतिर्यज्ञमकरोत्; स ऋचैव हौत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम् (गो० ब्रा० १।३।१।२)"—इति च। एवञ्च यज्ञीयहौत्रादिकार्यानुसारतएव चतस्रः संहिताः सम्पन्नाः, यत्र च यदीयं विधानादिकं श्रूयते, तदेव तस्य ब्राह्मणमिति च। तदुक्तं सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायाम्, "विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्रइति चक्षते। विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि"-इति। एवमेकस्यैव वेदस्य चतुर्द्धा विभागः सम्पन्नस्तत्र कः संशयः ?। सामवेदीयोहोह्यग्रन्थयोः प्रकरणसन्निवेशदर्शनेन च यज्ञकार्यसौकर्यायैवैकस्य वेदस्य चतुर्भेदाः कृता इत्याभाति स्फुटमेव; तयोरुभयोरेव हि ग्रन्थयोः क्रमात् दशरात्र-संवत्सर-एकाह-अहीन-सत्र-प्रायश्चित्त-क्षुद्रेतिसप्तपर्वात्मकत्वम्। एवमेव अध्वर्युवेदसंहिताभाष्ये प्रथमानुवाकव्याख्यावतरणिकायां यदाह सायणाचार्यः

"अस्मिन् वेदे समाख्याता दर्शपूर्णमासेष्टिमन्त्रास्त्रिविधाः, आध्वर्यवा याजमाना हौत्रकाश्चेति। ÷**। एतेषां मध्ये याजमानानां हौत्राणाञ्च चित्रस्थानीयत्वात् भित्तिस्थानीयानामाध्वर्यवाणामेवादौ पाठो युज्यते"—इत्यादि, तदपि सङ्गच्छते; यदि हि यज्ञकार्यानुक्रमेणैवैताश्चतस्त्र एव संहिताः ग्रथिता न स्युस्तर्हि तस्य तथोक्तिरसङ्गतित्वमेवोपगच्छेन्नामेति। वस्तुतस्तु यजुर्वेदीयमैत्रायणीयशाखायाः परिच्छेदविन्यासानां प्रत्यक्षसंदर्शनेनैवास्तङ्गच्छेदेवैष संशयस्तत् किमत्र प्रमाणपारायणेनेति ॥

अथर्वा नामक ऋषि ही यज्ञक्रिया का प्रथम प्रकाशक हुआ। इस कारण उसी अथर्वा ने होता आदि के कामों की सुगमता के लिये ऐसा ऋगादि नाम से वेदों का विभाग किया ऐसी सम्भावना होती है। ऋग्वेदसं० (१।६।४।५) में लिखा है कि "अथर्वा ने यज्ञों से पहिले वेद का मार्ग विस्तृत किया" ऋ०सं० (७।७।४।५) में लिखा है कि "अथर्वा से अग्नि प्रकट हुआ" ऋ० सं० (४।५।२३।३) में लिखा है कि "हे अग्ने तुझ को पुष्कर में अथर्वा ने मथ के निकाला" इत्यादि मन्त्रों में अथर्वा का चिह्न होने से प्रतीत होता है कि अथर्वा ही यज्ञों का प्रकट करने वाला है। तथा ऐतरेयब्राह्मण (५।५।८) में लिखा है कि "ऋक् से होता का, यजु से अध्वर्यु का और साम से उद्गाता के काम का आरम्भ किया जाता है यह यज्ञ सम्बन्धी त्रयीविद्या है इसी त्रयी को ठीक२ पूरा जानने वाला ब्रह्मा हो सकता है। इस से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञसम्बन्धी कार्य को सुगमता से पूरा करने के लिये ऋगादि संहिताओं का विभाग किया गया है। क्योंकि इसी पूर्वोक्त प्रमाण में पूछा गया कि "किस से ब्रह्मापन किया जाता है?" तो उत्तर हुआ कि "त्रयी विद्या से" इस कारण संपूर्ण ही त्रयीविद्या ब्रह्मापन के होने में साधक हेतु हुई। और अथर्वसंहिता पढ़ने विना सम्पूर्ण त्रयीविद्या का ज्ञान किसी को हो नहीं सकता क्योंकि होता अध्वर्यु और उद्गाताओं के व्यवहार करने योग्य मन्त्रों से भिन्न ऋक् यजुर्लक्षण वाले मन्त्र अथर्वसंहिता में विद्यमान हैं। इसी लिये "ऋचान्त्वः पोषमास्ते" इस ऋग्मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि—"सब विद्याओं का ज्ञाता ब्रह्मा होता वह सब जान सकता है" और अथर्व वेद को सम्यक् जानने वाला ही ब्रह्मा होता है और वही सब ओर से यज्ञ की रक्षा करता है। सो यह गोपथब्राह्मण (२।२।५) में स्पष्ट लिखा है कि "जो भृग्वङ्गिरस् नाम अथर्व वेद का जानने वाला है वह विद्वान् ही ब्रह्मा होता। वह ठीक २ नियमानुसार गुरु

परम्परा से वेद पढ़ा हो उस ने ठीक २ ब्रह्मचर्याश्रम किया हो उस के शरीर के अङ्ग पूरे हों लूला लंगड़ादि किसी अङ्ग से हीन न हो अधिकाङ्ग भी न हो प्रमादी भूलने वाला न हो सावधानी से कार्य में तत्पर रहै ऐसा ब्रह्मा यज्ञ की रक्षा करता है । उस ब्रह्मा के प्रमाद से वा समीप न रहने से जैसे टूटी नौका अगाध जल में डूबे वैसे यज्ञ की दुर्दशा होती है । इसलिये यजमान को चाहिये कि अथर्ववेद के सम्यक् ज्ञाता को ब्रह्मा बनावे क्योंकि वही यज्ञ को पार लगाता वा पूरा करता है यह ब्राह्मण है" छान्दोग्य ब्राह्मण (५ । १७ । ८) में भी ब्रह्मा को भिषक् कहा ही है "वह भेषज कृत यज्ञ होता जहां ठीक २ जानने वाला ब्रह्मा होता है" और सामवेदभाष्य की भूमिका के आरम्भ में सायणाचार्य ने भी कहा है कि "होता आदि तीनों की भूल वा दोष को सदा ब्रह्मा सुधारा करे" सो ब्रह्मा ऋत्विज में यह तभी ठीक घट सकता है जब वह चारों वेद का ज्ञाता होने से सम्पूर्ण त्रयीविद्या का विद्वान् हो । और सब वेदों का ज्ञाता होने से ही उस का विश्वव्यचा और समुद्र नाम यजुर्वेद (५ । ३३) में आया ठीक बन सकता है । और गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध (१ । ३ । १ । २) में स्पष्ट ही कहा दीखता है कि"इस से ऋग्वेदज्ञ को होता बनाओ, यजुर्वेद जानने वाले को अध्वर्यु, सामवेत्ता को उद्गाता और अथर्ववेद जानने वाले को ब्रह्मा नाम से स्वीकार करो । पहिले प्रजापति ने यज्ञ किया उस ने ऋग्वेद से होता के कर्म, यजु से अध्वर्यु के और साम से उद्गाता के तथा अथर्व से ब्रह्मा के काम वा होने को नियत किया ॥

इस प्रकार यज्ञसम्बन्धी होतादि के कर्मों के अनुसार ही वेद की चार संहिता सिद्ध हुईं । और जिस में जिस ऋक् आदि के कर्म का व्याख्यान सुना जाता है वही उस वेद का ब्राह्मण है । सो सर्वानुक्रमणी भाष्य की भूमिका में लिखा है कि " विधि और अर्थवादरूप शेष भाग को ब्राह्मण कहते हैं " इस प्रकार एक ही वेद के चार भाग सिद्ध हुए इस में कुछ सन्देह नहीं । और सामवेद सम्बन्धी ऊह वा ऊह्य ग्रन्थों के प्रकरण की परिपाटी देखने से भी यही भान होता है कि यज्ञसम्बन्धी कर्म की सुगमता के लिये ही वेद के चार भाग किये गये । क्योंकि उन दोनों ऊह ऊह्य ग्रन्थों में क्रम से दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त, और क्षुद्र इन सात विषयों का वर्णन है । इसी प्रकार यजुर्वेदसंहिताभाष्य के प्रथमानुवाक के व्याख्यान की अवतरणिका में जो सायणाचार्य ने कहा है कि"इस वेद में कहे दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि के मन्त्र तीन प्रकार के हैं १—अध्वर्यु २—यजमान और ३—होतासम्बन्धी, इन में यजमान और होतासम्बन्धी मन्त्रों के चित्र (तस्वीर) स्थानी होने से भित्ति (दीवार) स्थानी अध्वर्युसम्बन्धी मन्त्रों का ही पहिले पाठ होना चाहिये । क्योंकि "सति कुड्ये चित्रं भवति" भित्ति पहिले हो तब उस पर चित्रकारी खींची जा

सकती है" इत्यादि कथन भी इस में संघटित होता है। यदि यज्ञकार्यों के क्रम से चारों वेदसंहिताओं का विभाग न किया हो तो वैसा कथन भी असंगत हो जावे। और वस्तुतः यजर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा के परिच्छेदों का रचना-प्रकार देखने से ही यह सन्देह दूर भाग जाता है तब बहुत प्रमाण खोजने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥

तथा च निष्पन्नमेतत्—होतृव्यवहार्यमन्त्रास्तु सर्वएव ऋचः; तासामृचां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव ऋक्संहितेति सम्पन्नः तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थ ऋग्ब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना ऋग्वेदइति प्रसिद्धौ। अध्वर्युव्यवहार्यमन्त्राः प्रायो यजूंषि, ऋचोपि सन्ति; तादृशर्ग्यजुःसंहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव यजुःसंहितेति सम्पन्नः; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थो यजुर्ब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना यजुर्वेदइति प्रसिद्धौ। उद्गातृव्यवहार्यमन्त्रास्तु ऋचो, यजूंषि, सामानि च। तादृशर्ग्यजुःसाम्नां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव सामसंहितेति सम्पन्नः; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थः सामब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना सामवेदइति प्रसिद्धौ। ये, खलु ऋग्वेदमात्रे कृतश्रमाः; अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च ऋग्वेदमात्रम्। तएवाख्यायन्ते ऋग्वेदिनइति। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः तेऽपि तदीयसंहितायामन्तर्निविष्टाः। ये खलु यजुर्वेदमात्रे कृतश्रमाः अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च यजुर्वेदमात्रम्, तएवाख्यायन्ते यजुर्वेदिनइति। किञ्च यजुःसंहितायामृचामपि सद्भावात् यजुर्वेदिनामृग्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते "द्विवेदी"—इत्यप्युच्यन्ते, भाषायां 'दुवे'—इति च। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः, तेऽपि तदीयसंहितायामन्तर्निविष्टाः। ये खलु सामवेदमात्रे कृतश्रमाः, अध्यापयन्ति, व्यवहरन्ति च सामवेदमात्रम्, तएवाख्यायन्ते सामवेदिनइति; किञ्च सामसंहितायामृचां यजुषाञ्च विद्यमानत्वात्

सामवेदिनामृग्यजुषोर्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते "त्रिवेदी" इत्यप्युच्यन्ते; भाषायां 'त्रिवाडी'—'तिवारी'—इति च । तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः तेऽपि तदीयसंहितायां ब्राह्मणे चान्तर्निविष्टाः । एभ्योऽवशिष्टमन्त्राणां पेटिकारूपा संहत्यैव निबद्धा चतुर्थसंहिता सम्पन्ना, तत्र ऋचोऽपि सन्ति यजूंषि अपि, सैवाथर्वसंहितेति प्रसिद्धा । तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थोऽथर्वब्राह्मणमिति । तावेव ग्रन्थावधुना अथर्ववेदइति प्रसिद्धौ । क्रतौ ब्रह्मत्वकार्ये कर्तव्ये सर्वासामेवर्चां सर्वेषामेव यजुषां सर्वेषाञ्चैव साम्नां बोधः प्रयोजनीयः; तादृशसर्वमन्त्रवेत्तृत्वञ्च ऋग्यजुःसामसंहिताध्ययनवतामपि अथर्वसंहिताध्ययनमन्तरा न सम्भवति, अतो यथा होत्रे ऋग्वेदः, यथा च आध्वर्यवे यजुर्वेदः यथैव औद्गात्रे सामवेदः तथैव ब्रह्मत्वेऽथर्ववेदः । किञ्च यथा ऋग्वेदस्य होतृवेदइत्यपरं नाम यथा च यजुर्वेदस्य अध्वर्युवेद इत्यपरं नाम, यथैव सामवेदस्य उद्गातृवेदइत्यपरं नाम, तथैवाथर्ववेदस्य ब्रह्मवेद इत्यपरं नाम । अपि च ब्रह्मत्वकरणायैवाथर्ववेदाध्ययनं विशेषतः सप्रयोजनम्, तच्च ऋगध्ययनमृते न सम्भवति, अतोऽथर्ववेदाद्यध्ययनेच्छूनामृग्वेदाध्ययनमप्यवश्यं कर्तव्यमित्यतो येत्वथर्ववेदिनस्त एव प्रायश्चतुर्वेदाध्यायिनो भवन्ति, ततः "चतुर्वेदी"—इत्याख्यायन्ते, भाषायां 'चौबे'—इति च । तदेवं मूलत एकस्यैव वेदस्य रचनाभेदमूलकत्रयीत्वेऽपि हौत्रादिकार्यसौकर्यार्थं कृतं चतुष्ट्वमवश्यमेव सर्वैरादरणीयम् । अतएव दृश्यतेऽत्र निरुक्तेऽपि—"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः (४ भा० ३४५ पृ०)"—इति । सिद्धमित्थं चत्वार एव वेदास्त्रयी शब्दवाच्याइति ॥

अब इस पूर्वोक्त सब कथन से यह सिद्ध हुआ कि होता के काम में आने वाले सब मन्त्र ऋच् कहाते [illegible] संहिता

हुआ और उन ऋचाओं के विनियोगादि का कहने वाला ग्रन्थ ऋग्ब्राह्मण हुआ ये ही दोनों ग्रन्थ सम्प्रति ऋग्वेद नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु के काम में आने वाले मन्त्र प्रायः यजुः कहाते किन्तु उन में ऋचा भी मिली हैं उन दोनों ऋग्यजुः समुदाय से बने ग्रन्थ का नाम यजुर्वेदसंहिता हुआ और उन के विनियोगादि को दिखाने वाला ग्रन्थ यजुर्ब्राह्मण कहाया ये ही दोनों ग्रन्थ इस समय यजुर्वेद करके प्रसिद्ध हैं। उद्गाता के व्यवहार करने योग्य मन्त्र ऋक् यजुः और साम तीनों हैं; उन तीनों के समुदाय से सम्बद्ध ग्रन्थ सामवेद हुआ और उस का विनियोगादि दिखाने वाला ग्रन्थ सामब्राह्मण कहाया, इन्हीं दोनों ग्रन्थों को सम्प्रति सामवेद कहते हैं। जिन लोगों ने ऋग्वेदमात्र पढ़ा उसी को पढ़ाते और उसी का व्यवहार करते वे ऋग्वेदी कहाते हैं उन ऋग्वेदियों के ब्रह्मयज्ञादि कर्मों की सिद्धि के लिये जो कुछ मन्त्र आवश्यक हैं वे उन की संहिता में विद्यमान हैं। जो लोग यजुर्वेदमात्र पढ़ के उसी को पढ़ाते और व्यवहार करते हैं वे यजुर्वेदी कहाते हैं; किन्तु यजुःसंहिता में ऋचाओं के भी विद्यमान होने से यजुर्वेदियों का ऋग्वेद का भी बोध हो जाता इस से वेही द्विवेदी वा दुवे कहाते हैं। उन के ब्रह्मयज्ञादि की सिद्धि के लिये जो कुछ मन्त्र प्रयोजनीय हैं वे उन की संहिता में विद्यमान हैं। और जो सामवेदमात्र को पढ़ के पढाते और व्यवहार करते हैं वे सामवेदी कहाते हैं; सामसंहिता में ऋक् यजुः नामक मन्त्रों के भी विद्यमान रहने से ऋग् यजुः का भी सामवेदियों को बोध हो जाता इसी से त्रिवेदी वा तिवारी कहाते हैं। और उन सामवेदियों के ब्रम्हयज्ञादि की सिद्धि के लिये जो मन्त्र आवश्यक हैं वे भी उन की संहिता वा ब्राह्मण में विद्यमान हैं। इन से भिन्न मन्त्रों की पिटारी रूप से बनी चौथी संहिता है उस में ऋक् यजुः दोनों प्रकार के मन्त्र हैं उसी का नाम अथर्वसंहिता हुआ उस के विनियोगादि का अभिधायक ग्रन्थ अथर्व ब्राह्मण कहाता वेही दोनों ग्रन्थ सम्प्रति अथर्ववेद कहाते हैं। यज्ञ के समय ब्रह्मा का कार्य करने में सम्पूर्ण ऋक् यजुः साम तीनों का प्रयोजन पड़ता है। और ब्रह्मा होने योग्य सब मन्त्रों की जानकारी होना ऋग्यजुः साम तीनों के पढ़ने पर भी अथर्व पढ़े विना नहीं हो सकती। इस से जैसे होता बनने के लिये ऋक्, अध्वर्यु होने के लिये यजुर्वेद, और उद्गाता होने के लिये सामवेद का ज्ञान आवश्यक है; वैसे ब्रह्मा होने के लिये अथर्ववेद को पढ़ने जानने की आवश्यकता है। जैसे ऋग्वेद का होतृवेद, यजु का अध्वर्युवेद और सामवेद का उद्गातृवेद दूसरा नाम है वैसे अथर्व का ब्रह्मवेद यह नामान्तर है। अर्थात् ब्रह्मा होने के लिये ही अथर्ववेद का पढ़ना विशेष प्रयोजनीय है। सो ऋगादि वेदों को पढ़े विना ब्रह्मा नहीं हो सकता इस से जो लोग अथर्ववेद पढ़ना चाहें उन को ऋगादि वेद अवश्य पढ़ने चाहियें। इस से जो अथर्ववेदी हैं वे ही प्रायः चतुर्वेद पाठी होते जिस से वे चतुर्वेदी वा चौबे कहाते हैं। सो

इस पूर्वोक्त प्रकार से एक ही वेद के रचनाभेद होने से त्रयी होने पर होतादि के कार्यों की सुगमता के लिये चार वेद का होना सब को अवश्य मानना चाहिये। इसी लिये इस निरुक्त में भी कहा है कि "यज्ञ के चार शृङ्ग चार वेद हैं" इस प्रकार सिद्ध हुआ कि त्रयीशब्द से चारों ही वेद का ग्रहण वा बोध होता है ॥

सम्पादकीय समालोचना—सामश्रमी जी के उपरोक्त लेख को वा उस के भाषानुवाद को पाठक लोग विचार पूर्वक पढ़ेंगे तो उस का आशय जान लेंगे। इस लिये सब अंशों पर लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं। सब व्याख्यान का मुख्य सिद्धान्त यह निकला कि ऋगादि नाम से प्रसिद्ध चारों वेदसंहिता त्रयी करके लिये जाते हैं किन्तु वेदत्रय, ऋग्यजुः साम, वा, त्रयीविद्या कहने से तीन वेदपुस्तकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण "त्रयोवेदा अजायन्त" वा "वेदत्रयं निरदुहत्" इत्यादि प्रमाणों में चारों वेद का ग्रहण मानना चाहिये। और इसी लिये इस विषय में अथर्व की पीछे उत्पत्ति मानना विदेशी लोगों का भ्रम अवश्य है। अब हम को दो बातों पर विशेष विचार करना है। एक तो सृष्टि के आरम्भ में वेद एक था और पीछे अथर्वा ऋषि ने यज्ञों की सुगमता के लिये उस के चार भाग किये क्या यह सामश्रमी जी का परामर्श सत्य है? अथवा ईश्वरीयरचना के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से ही वेद के चार पुस्तक और त्रयीविद्या मानी गयी? इन दोनों में क्या सत्य है?। द्वितीय चौथे वेद का अथर्वनाम क्यों पड़ा? इन विषयों में सामश्रमी जी का परामर्श ठीक नहीं क्योंकि सामश्रमी जी यदि वेद शब्द को जातिवाचक मान कर एकत्व कहते तो जैसा एकत्व पहिले था वैसा अब भी वेदत्व सामान्य को लेकर एक ही वेद है। जैसे मनुष्यत्व सामान्य मनुष्य की सब व्यक्तियों में एक ही माना जाता है। इसी प्रकार सब ऋगादि के साथ सम्बद्ध जातिरूप से एक वेद सदा ही माना जायगा। और पुस्तक व्यक्तिरूप से वेद का विभाग सृष्टि के आरम्भ में ही परमेश्वर ने किया यह बात प्रथम तो वेद से ही सिद्ध है कि चार वेद परमेश्वर से हुए। अथर्व ११। ७। २४—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः॥

अर्थः—ऋग्यजुः साम और छन्दः पद से अथर्व (पुराणम्) ये प्राचीन वा सनातन चारों वेद सर्गारम्भ में उच्छिष्ट नामक परमात्मा से उत्पन्न हुए। और "बिभर्त्ति भर्त्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता" यह भी मन्त्र उसी उक्त ११ काण्ड के सातवें अनुवाक का है जिस में उच्छिष्ट शब्द का अर्थ भी स्पष्ट खोल दिया कि जिस से कोई विवाद न करे अर्थात् जो सब जगत् का रक्षक वा उत्पादक तथा सब का धारण करने वाला है प्रलय के पश्चात् वही एक शेष रह जाता अन्य

सब नष्ट वा अदृश्य हो जाता है इस लिये उस ब्रह्म का नाम उच्छिष्ट है इसी कारण उस परमात्मा को शेष भी कहते हैं । उसी से चारवेद हुए । इसी प्रकार ऋगादि अन्य वेदों में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिन में परमेश्वर से चारों वेद का होना स्पष्ट दीखता है । और वेदों के अनुकूल ही अन्य ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों में प्रारम्भ से ही चारों वेदों का होना स्पष्ट सिद्ध होता है तब अथर्वा ऋषि ने वेदों का विभाग ऋगादि नाम से किया यह कैसे सिद्ध होगा क्या अथर्वा से वेदविभाग मानने वाले लोग सब वेद के मन्त्रों को अथर्वा से पहिले ही से नहीं मानेंगे ? यदि मानेंगे तो ऋगादि की भिन्न २ उत्पत्ति परमेश्वर से दिखाने वाले मन्त्रों को क्या अथर्वा के बनाये मानेंगे ? यदि मानो तो क्या प्रमाण है अर्थात् कुछ नहीं । इस लिये पहिले सर्गारम्भ से ही वेद चार हुए अथर्वादि किसी ने चार नहीं किये यही मन्तव्य ठीक है । और सभी ऐतिहासिक लोग सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा जी को चारों वेद का ज्ञाता वा वक्ता मानते हैं । चारों वेद जिस के मुख में हों वह चतुर्मुख इस अर्थ से ही ब्रह्मा चतुर्मुख कहाये यह सिद्ध होता है तो यह कैसे ठीक हो सकेगा कि अथर्वा ऋषि ने वेदों का विभाग किया । क्योंकि अथर्वा से पहिले हुए ब्रह्मा जी ने चारों वेद पहिले ही पढ़े जाने और पीछे हुए अथर्वा ने विभाग किया यह कहना ऐसा है कि जैसे "पिता के जन्म का दर्शन पुत्र ने किया" यह असम्भव कथन है । इस से अथर्वा को ऋगादि वेदों का विभागकर्त्ता मानना ठीक नहीं । अब विचारणीय विषय यह है कि अथर्व शब्द का अर्थ क्या है और ऋग्वेद में तथा अथर्व में आये अथर्वा पद से किस का ग्रहण होगा—इस का उत्तर यह है कि—

थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधो निपातः—इति निरुक्ते। चर-गतिभक्षणयोरिति भौवादिकः । चरसंशये चौरादिकः । यो न चरति न चलति न कुतोऽपि क्वापि गच्छति विभुत्वाद्यद्वा न किमपि भक्षयति "अनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति" इत्युक्तत्वात्, अथवा यो न संशयमाप्नोति सर्वदैव समाहितः सर्वज्ञत्वात्स्वाश्रयिणां सर्वसन्देहनिवारकः स परमेश्वर एवाथर्वपदवाच्यः । सामान्यनित्यार्थबोधका यौगिका एव वैदिकाः शब्दा इति सर्वार्षशास्त्रसम्मतमिति । तस्यैव नाम ऋग्वेदादिसंहितासु—अथर्वपदेन बोध्यम् । तथा च "यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते" इत्यस्य ऋग्मन्त्रस्यायमर्थः प्रथमो विस्तृतो व्याप्तोऽनादिरथर्वनामकः परमात्मा

सर्गारम्भे मनुष्याणां प्राणिमात्रस्य वा कल्याणार्थं सुखेन जीवनाय यज्ञैर्वेदद्वारा कर्त्तव्ययज्ञादिधर्म्यकर्मभिः पथः पन्थानं धर्ममार्गं तते विस्तृतं कृतवान्। तथा "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत" पुष्करादधि आकाशे तमग्निमथर्वा परमेश्वरः सर्गारम्भे निरमन्थत निर्मथ्य निस्सारितवान्। तथा "अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ अथर्व० ७।१।२" योऽथर्वपदवाच्यः परमेश्वर इमं यज्ञं यज्ञादिकं धर्मकृत्यं मनसा प्रकृष्टज्ञानेन चिकेत ज्ञातवान् सर्गारम्भे ज्ञात्वा च नोऽस्मभ्यं प्रवोच ऋग्वेदादिनोपदिष्टवांश्च तमथर्वाणमचलमसन्दिग्धं च पितरं सर्वरक्षकं सर्वोत्पादकं च देवबन्धुं देवानां धर्मात्मनां विद्याधर्मप्रचारकाणां पुरुषाणां बन्धुभूतं मातुर्गर्भमिव स्वान्तःकरणे ज्ञानिभिर्ध्रियमाणं पितुरसुं पितुः पुत्रमिव ज्ञानिनां प्रियतमं युवानं सदैवाजरमेकावस्थमेवंभूतमिहेहास्मिन्नस्मिन्कार्ये त्वं ब्रूहि प्रार्थय स्मर च। ब्रवइति लेट् प्रयोगः॥

भाषार्थः—थर्वशब्द का अर्थ निरुक्तकारों की सम्मति के अनुसार चलायमान, खाने वाला, वा सन्देह युक्त होना है और जो व्यापक होने से आकाश के तुल्य अचल है कहीं से चल के वा हट के कहीं नहीं जाता, जो कुछ नहीं खाता वा शुभाशुभ कर्मों के फल सुख दुःख नहीं भोगता क्योंकि वेद में उस को अभोक्ता कहा है। और जो संशय में नहीं पड़ता क्योंकि सर्वज्ञ है अल्पज्ञानी को अनेक सन्देह होते हैं, जो अपने आश्रित भक्तों के सब सन्देहों का दूर करने वाला है। उस परमेश्वर का नाम अथर्वा है। अर्थात् जिस में थर्व नाम सन्देह, चलायमानता और भक्षण वा भोग नहीं वह थर्व का निषेध अथर्व निपात पद वाच्य परमेश्वर है। और वेद के शब्द नित्य वा सामान्य अर्थ के वाचक यौगिक ही होते हैं यह सब आर्षग्रन्थों के अनुकूल है। तब उसी परमेश्वर का ग्रहण ऋग्वेदादि संहिताओं में अथर्व पद से करना चाहिये। इस के अनुसार (यज्ञैरथर्वा०) इस ऋग्वेद के वाक्य का यह अर्थ होगा कि (प्रथमः) व्यापक अनादि (अथर्वा) पूर्वोक्त अचलादि अर्थ वाले परमेश्वर ने (यज्ञैः) वेद द्वारा कर्त्तव्य यज्ञादि कर्मों के प्रचार से (पथः) धर्म मार्ग को मनुष्य वा प्राणिमात्र के कल्याणार्थ सब के

सुखपूर्वक जीवन के लिये (तते) विस्तृत किया, तथा (त्वामग्ने०) सृष्टि के आरम्भ में अथर्वानामक परमेश्वर ने इस अग्नि को मथ कर आकाश में उत्पन्न किया तथा (य इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जिस अथर्वा नामक परमेश्वर ने इस यज्ञादि धर्म कार्य को अपनी सर्वज्ञता से महोपकारी जान के (नः प्रवोचः) सृष्टि के आरम्भ में ऋग्वेदादि द्वारा हमारे लिये उपदेश किया (तमथर्वाणम्) उस अचल अम निद्रध (पितरम्) सर्वरक्षक सर्वोत्पादक (देवबन्धुम्) विद्याधर्मप्रचारक धर्मा त्माओं के बन्धुरूप हितैषी (मातुर्गर्भम्) माता के गर्भ के तुल्य सावधानी से ज्ञानी लोग जिस को अपने हृदय में धारण करते (पितुरसुम्) पिता को पुत्र के तुल्य ज्ञानियों को जो अत्यन्त प्रिय है जो (युवानम्) सदा अजर वृद्धावस्था रहित एकावस्था में स्थित ऐसे परमेश्वर को हे मनुष्य तू (इहेह) इन २ अपने सुख हेतु कामों वा विपत्ति आदि के समय (ब्रवः) स्मरण किया कर वा उस की प्रार्थना किया कर ॥

हम पहिले लिख चुके हैं कि ऋक् आदि संहिताओं के विभाग परमेश्वर की ओर से सृष्टि के आरम्भ में वेद वा विद्या के प्रधान तीन भेद जताने के लिये हुये ऋक्शब्द से वाणीकर्म स्तुति नाम प्रथम कक्षा का कर्त्तव्य लिया जाता यजुः शब्द द्वितीय कक्षा के यज्ञरूप उपासना का वाचक और तृतीय सामशब्द "साम सान्त्वने। वा षो अन्तकर्मणि" धातु से तृतीय कक्षा के कर्त्तव्य तप शान्ति वा ज्ञानबोधक है। अर्थात् विद्या वा वेद की तीन कक्षा वा अवस्था वा कोटि दिखाने के लिये तीन ऋगादि वेद परमेश्वर ने भिन्न २ बनाये। इन्हीं ऋग् यजुः साम तीनों का नाम वास्तव में त्रयीविद्या है इस त्रयी का विशेष व्याख्यान आगे २ किया जायगा। ऋगादि शब्द तीन प्रकार की विद्या के बोधक हैं इसी लिये पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ऋषि ने इन का लाक्षणिक अर्थ दिखाया है किन्तु शब्दार्थ नहीं अर्थात् जैसे "गीतिषु सामाख्या" कहा तो यहां आख्या शब्द से यह जताया है कि गाये जाने वाले मन्त्रों को लोक सामपद से कहते हैं किन्तु सामशब्द का गान अर्थ नहीं है। ऋगादि शब्दों का अर्थ—कर्म, उपासना और ज्ञान हो सकता है जो कि त्रयी विद्या का विषय माना जाता है। हमारे इस कथन का आशय यह है कि सामश्रमी जी के कथनानुसार यज्ञसम्बन्धी कार्य की सुगमता के लिये ही केवल ऋगादि का विभाग हुआ यह ठीक नहीं किन्तु मुख्यकर विद्या के तीन भेद दिखाने के लिये ऋगादि वेदों का विभाग किया गया। जैसे त्रयीविद्या के नियमानुसार सर्वत्र तीन वा चार प्रकारों में विभाग करके कार्य करना सुगम होता है वैसे उसी नियमानुसार यज्ञ में भी होतादि के काम का विभाग त्रयी के अनुसार है। होता केवल होम कर्म करने वाला, अध्वरनाम यज्ञ का मन वच कर्म से उपासक अर्थात् यज्ञ के ठीक होने के लिये यज्ञ कार्यों की सम्हाल रख

वाला और उद्गाता नाम उपास्यदेव में शान्तिपूर्वक चित्त लगाकर और सब ओर से चित्त को एकाग्र करके वेद का गान करने वाला । इस प्रकार होतादि के कार्यों का विभाग भी त्रयीविद्या के भेद से हुआ वा त्रयी के लिये हुआ किन्तु होतादि के कार्य बांटने के लिये त्रयीभेद हुआ यह कथन उलटा है । इस के अनुसार " यदृचैव हौत्रं क्रियते । तथा तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व " इत्यादि ऐतरेय वा गोपथ ब्राह्मणादि के प्रमाण भी हमारे पक्ष में ठीक घट जाते हैं कि प्रथम कक्षा की वेदविद्या में जो प्रवीण (पास) हो वह होतृ कर्म के लिये उपयोगी होता वा प्रथम कक्षा की ऋग्विद्या के ज्ञाता को होता बनाना चाहिये, इसी प्रकार द्वितीय कक्षा की यजु नामक वेद विद्या में प्रवीण अध्वर्यु के कर्म को ठीक वा अच्छा करने योग्य होता, और तृतीय साम नामक वेद विद्या में प्रवीण उद्गाता होने योग्य होता है । जैसे पहिली २ संख्या अगली २ अधिक में प्रविष्ट रहती है वैसे ही यजु में ऋक् तथा साम में ऋग्यजु दोनों और अथर्व में ऋग्यजुः साम तीनों का समावेश मानना चाहिये । इस उक्त प्रकार से सामश्रमी जी के लिखे सभी प्रमाण हमारे पक्ष के पोषक बने हुए हैं इस लिये ऋगादि तीन वेद का विभाग त्रयीविद्या के लिये मानना चाहिये यह सत्य है । अब रहा चौथा वेद अथर्व उस का विभाग विद्या की तुरीयावस्था जताने के लिये है । चतुर्थ वेद का अथर्व नाम भी चौथी विद्या के प्रकाशनार्थ ही हुआ है क्योंकि चौथी विद्या पहिली तीन के मेल से हुई है । जैसे किन्हीं तीन वस्तुओं को एकत्र संघट्ट करके मिला दिया जाय तो वह उन एक २ तीनों से भिन्न चौथा वस्तु बन जाता है किन्तु उस को किसी एक के नाम से नहीं कह सकते वैसे ही ऋगादि तीन प्रकार की विद्या के मेल से चौथा अथर्व वेद हुआ । इस का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना कि तीनों वेद के मन्त्र वा तीनों में से कहीं २ के वाक्य वा शब्द जोड़ कर अथर्व वेद बना किन्तु अभिप्राय यह है कि तीनों प्रकार की विद्या के आशयों के संघट्ट का नाम चौथा वेद है । निघण्टु के पञ्चमाध्याय पञ्चमखण्ड में मध्यस्थान देवताओं के छत्तीस नामों में "अङ्गिरसः, अथर्वाणः" ये दोनों पद आये हैं । सो पृथिवीस्थान अग्निकोटि के देवताओं का प्रधानता से ऋग्वेद में व्याख्यान है और अन्तरिक्षस्थान वायुकोटि के देवताओं का प्रधान व्याख्यान यजु में तथा स्वःस्थान तीसरी सूर्य वा आदित्य कोटि के देवताओं की व्याख्या करना सामवेद का प्रधान विषय है । तथा पृथिवी और अन्तरिक्ष वा अन्तरिक्ष और दिव् इन दो २ के सन्धिगत देवताओं के वर्णन की प्रधानता अथर्व में है । सन्धिगतदेवता तीनों कोटि से सम्बद्ध रहते हैं । अङ्गिरस् और अथर्व भी सन्धिगत देवतावाचक लिये जायंगे । अग्नि आदि देवताओं की जिन सन्धिगत शक्तियों में ये नाम चलाय समानता

खूबचन्द बुधोलिया कृत प्रश्नों के उत्तर ॥

आर्यसिद्धान्त के पाठक महाशयों की सेवा में निवेदन है कि महाशय श्री खूबचन्द बुधोलिया ने कई प्रश्न मेरे पास उत्तर के लिये भेजे हैं उन का उत्तर यहां छपाना इसलिये उपकारी समझा कि अन्य भी लोगों को ऐसे २ सन्देह हुआ करते हैं उन का उत्तर छपजाने से सब लोगों की शङ्का दूर होगी ॥

१ (प्रश्न)-मंजारों और श्वान के बच्चों के नेत्र जन्मसमय बन्द रहने का क्या कारण है ?। और २ जन्तुओं के नहीं यह क्या कारण है ? ॥

उत्तर-प्रत्येक जाति के प्राणियों के प्राकृत वा स्वाभाविक गुण भिन्न २ हैं। इस का मूल कारण उस २ जाति के भिन्न २ आहार विहार तथा कर्म हैं। जो २ प्राणी जैसे २ पदार्थ खाता है जैसे २ कर्म करता है वैसी २ वासना उन की सञ्चित होती हैं वैसी ही उन की बुद्धि होती तदनुकूल उन के आचरण आगे २ बनते बिगड़ते हैं। इस प्रसंग में मानवधर्मशास्त्र का एक श्लोक १२ अ० का लिखते हैं।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥

भा०-जैसे मन, वाणी और शरीर इन्हीं तीनों से तीन प्रकार के शुभकर्म होते हैं वैसे इन्हीं तीन से मुख्यकर तीन ही प्रकार के पाप भी होते हैं। मानस पापों की अधिकता से चाण्डालादि अन्त्यज कुलों में जन्म होता, वाणीसम्बन्धी पापों के अधिक सञ्चय से तिर्यग्योनि पशु पक्षी आदि की योनि मिलती और चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार परस्त्रीगमनरूप शारीरिक पापों की सर्वोपरि प्रधानता से वृक्ष वनस्पत्यादि स्थावर योनियों में जन्म होता है। तात्पर्य यह है कि मानस से वाचिक और वाणी के पापों से भी अधिक बुरे वा प्रबल शारीरिक पाप हैं इसी लिये अगले २ का अधिक २ बुरा वा कठिन दण्ड लिखा है। मनुष्य की अपेक्षा तिर्यग्योनि में तमोगुण अधिक है और उस से भी अधिक तमोगुण स्थावरों में है जो सदा सुषुप्ति दशा में ही पड़े रहते हैं और इस तीसरी कक्षा के तमोगुण के कारण चोरी हिंसा और व्यभिचार हैं। जो मनुष्य बहुत काल तक वा जन्मभर लगातार निरन्तर चोरी हिंसा मांसभक्षण नित्य नियम से प्राणियों को मार २ कर करता है वह इतना तमोगुणी हो जाता है कि जिस से जन्मान्तरों में स्थावरयोनि मिले। इन तीन प्रकार के चोरी आदि पापों में भी हिंसा सब से बड़ा पाप है क्योंकि प्रत्यक्ष भी दीखता है कि जब किसी के घर में चोर डाकू घुस पड़ें तो वह अपने धनादि इष्ट पदार्थों की चोरी होजाने की अपेक्षा अपने जीवन को बड़ा समझता और धनादि पदार्थों को मारे जाने के

भय से बचा देता और यथासम्भव अपने प्राणों की रक्षा करता है अर्थात् प्राण के जाने की अपेक्षा चोरी को अच्छी मानता है । इसी प्रकार मान लो कि सब प्राणी अपने जीवन की रक्षा सर्वोपरि इष्ट समझते हैं । इसी लिये हिंसा सब से बड़ा पाप और अहिंसा वा हिंसा से बचाना सर्वोपरि पुण्य है । नित्यप्रति हिंसा कर२ मांस खाने वाले प्राणियों की मननशक्ति वा चेतनता घटती जाती है तमोगुण बढ़ता जाता है क्योंकि वे अन्य प्राणियों की चेतनता का जो नित्यप्रति नाश करते जाते हैं इस से उन के मन में नित्य२ धक्का लगते२ तमोगुण बढ़ता जाता है । जैसे कोई मनुष्य जलते हुये दीपकों को बुझाने का स्वभाव डालले जहां दीपक जलते देखे वहीं बुझाने को तत्पर हो तो जानो उस का आत्मा सत्त्वगुणरूप प्रकाश को मिटा कर अन्धकार को चाहता है यह सिद्ध होगा । वैसे ही सत्वगुणरूप अन्य प्राणियों की चेतनता को बिगाड़ने वाला नित्य२ तमोगुण की ओर झुकता जाता है । इसी लिये वह तमोगुण की अधिकता से जन्मान्तर में स्थावरयोनि को प्राप्त होता है । मांसभक्षण हिंसारूप अधर्म से पूरा सम्बन्ध रखने वाला है क्योंकि मांसभक्षी पुरुष कदाचित् अपने हाथ से हिंसा न करें तो भी मनु आदि के "खादकश्चेति घातकाः" इत्यादि प्रमाणों के अनुसार वह हिंसक अवश्य माना जायगा इसी लिये उस की सत्व गुणरूप मानस शक्ति की दिन २ हानि और तमोगुण की वृद्धि होती जायगी । इसी लिये वेद में भी स्पष्ट लिखा है कि । अथर्व० ६ । ७० । १ ।

यथा मांसं यथा सुरा यथाऽक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यतः स्त्रियां निहन्यते मनः ॥

अर्थात् मांस मद्य खाने पीने जुआ खेलने वाले तथा स्त्री से मैथुन करने वाले पुरुष की मानस शक्ति घटती है । मांसादि चारों का सेवन धर्म की ओर से वा सत्वगुणरूप प्रकाश से सदा ही मन को हटाता और तमो गुणरूप अन्धकार की ओर झुकाता जाता है । इस की साक्षी निरुक्तकार ने भी मांस पद के अर्थपर दी है कि " मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा " निरुक्त पूर्वार्द्ध अ० ४ खण्ड ३ । जिस के सेवन वा भक्षण करने वालों का मन नष्ट होता वा दुःखित मलीन तमोगुणी होता है । सीदति क्रिया का अर्थ बहुत स्पष्ट है धात्वर्थ से अवसाद वा हिंसा अर्थ होता है । मनुस्मृति में बीसों स्थलों में दुःखार्थ सीदति क्रिया पढ़ी है । जैसे "पङ्के गौरिव सीदति ४ । १९१" धर्म कर्म रहित अविद्वान् अपात्र ब्राह्मण यदि दान लेता है तो वह कीचड़ में फंसी गौ के समान दुःख पाता है । अर्थात् मन जिस में दुःखित नष्ट वा मलीन हो इस प्रकार के अर्थ में "म-

न-सद्" दो शब्दों को मिला कर निरुक्तकार ने मांस शब्द की सिद्धि की है और वह पूर्वोक्त वेदमन्त्र के अनुकूल है अर्थात् वेद में मांस पद का आशय देख कर ही निरुक्तकार ने वेदानुकूल वैसा अर्थ किया है। अब वेदादिप्रमाणों से तो यह सिद्ध हो गया कि हिंसा तथा मांसादि अभक्ष्य भक्षणादि शारीरिक दुष्कर्म धर्म से भुलाने चेतनता को घटाने और तमोगुण के बढ़ाने वाले कर्म हैं परन्तु सुनने में आता है कि अनेक अंग्रेज़ी डाक्टर तथा अन्य मांसाहारी लोग मांस को मन की शक्ति का बढ़ाने वाला मानते और आत्मिक उन्नति का सहायक बनाने का उद्योग करते हैं। इस का उत्तर यह है कि जो मनुष्य जिस मत वा जिस दशा में विद्यमान हैं वे सभी अपने २ व्यसन वा कामों को अच्छा कहते वा मानते हैं। अपने काम की स्वयं प्रशंसा करना प्रामाणिक नहीं गिना जा सकता। यदि मांस न खाने वालों में अधिकांश बुद्धिमान् लोग मांसभक्षण को आत्मोन्नति का कारण बताते तो अवश्य कुछ ध्यान देने योग्य होता। सब लोग प्रायः मानते हैं कि भारत वर्ष में ब्रह्मर्षि तपस्वी लोगों ने सृष्टि के आरम्भ से अध्यात्मविषय में जितनी उन्नति प्राप्त की उतनी आज तक किसी देश-देशान्तर के निवासियों ने नहीं कर पायी और इतिहासादि से यह भी सिद्ध है कि वे ब्रह्मर्षिलोग मांसाहारी नहीं थे। तो यह सिद्ध है कि भारतवर्ष में आत्मोन्नति वा आत्मज्ञान की अधिक प्रवृत्ति का कारण मांस मद्य तथा विषयासक्ति का त्याग भी अवश्य था और है। मद्य मांसादि का सेवन विषयवासना को बढ़ाने वाला प्रत्यक्ष है इसीलिये मद्य मांसादि की सहायता से विषयासक्त अन्य-देशवासियों ने अध्यात्म विषय में अब तक कुछ भी अधिकता नहीं प्राप्त की। इत्यादि अनेक हेतुओं से सिद्ध है कि मांसादि का सेवन आत्मोन्नति का साधक नहीं किन्तु बाधक अवश्य है। रहा अंगरेज़ आदि लोगों का दृष्टान्त कि इस जाति के लोग प्रायः मांस मद्य खाने पीने वाले हैं तथापि उन की उन्नति है। इस का उत्तर यह है कि इन लोगों में शारीरिक वा सामाजिक सुधार के बहुत से अच्छे २ नियम हैं जिन के कारण इन की कुछ उन्नति है किन्तु धर्म विषय वा अध्यात्मविषय में इन की कुछ भी उन्नति नहीं है। कार्यसाधन व व्यवहार-बुद्धि के अधिक होने से आत्मोन्नति नहीं कह सकते। इस विषय पर विवाद लिखना हमारा उद्देश्य नहीं है इसलिये इस को यहीं छोड़ के अपने प्रकृत विषय का विवेचन करेंगे ॥

हमारा उद्दिष्ट यह था कि मांसमद्यादि का सेवन तमोगुण की ओर झुकाता है और हिंसा कर २ अत्यन्त निरन्तर मांसभक्षणादि करने वाला पुरुष जन्मान्तर में वृक्षादिस्थावर योनि में जाता है कि जहां नित्य ही सुषुप्ति-रूप तमोगुण महान्धकार में पड़ा रहता क्योंकि उसने हिंसादिद्वारा अन्य प्राणियों की चेतनशक्ति का विनाश किया तो जानो वह चेतनता को अच्छे

नहीं समझता "जो जैसा बीज बोये वह वैसा फल पावे" इस कहावत के अनुसार वह प्राणी स्थावर योनि में रहने योग्य हो जाता है। और यह प्रत्यक्ष भी है कि जब किसी प्रकार किसी से कोई प्राणी मर जाता है वा समझ पूर्वक मारता है तो मारने वाले के मन को उसी समय धक्का लगता है। यदि उसने दुर्गन्ध में रहने के समान प्राणियों के मारने में अपना अभ्यास बढ़ा लिया हो तो उस को कम जान पड़ेगा और कोई अनभ्यासी करे तो कुछ काल तक उस की धुकधुकी धड़कती रहेगी। और जिस के मन को बहुत काल से असंख्य धक्के लगते आये वह तो पूरा तमोगुणी होता जायगा। जिन के उत्तम कोटि के शारीरिक पाप हों और मानस वाचिक मध्यम वा निकृष्ट हों तो वे स्थावर बनते और जिन मनुष्यों के वाचिक पाप सब से अधिक हों तथा शारीरिक मध्यम हों तो वे कुत्ता बिल्ली आदि मांसाहारी तिर्यग्योनि में जाते हैं। जब कि यह सिद्ध हो चुका कि मांसभक्षण तमोगुण का बढ़ाने वाला है तो कुत्ता बिल्ली आदि मांसाहारी प्राणी मांसाहार न करने वालों की अपेक्षा तमोगुणी अवश्य ठहरे और तमोगुण में आंखों का बन्द होना सिद्ध ही है क्योंकि सुश्रुतकार ने भी शारीर स्थान में लिखा है कि—

निद्राहेतुस्तमः प्रोक्तं जागरणे सत्त्वमुच्यते ॥

निद्रा का हेतु तमोगुण और जागरण का कारण सत्त्वगुण है निद्रा में आंखें बन्द रहती ही हैं। इसलिये मार्जार वा कुत्ते आदि के बच्चों के जन्म समय नेत्र न खुलने का कारण उस जाति में मांसभक्षण तथा हिंसा का स्वाभाविक तमोगुण ही है। यदि कोई कहे कि मांसाहारी मनुष्यों के बच्चों के भी जन्म समय नेत्र बन्द क्यों नहीं रहते तो उत्तर यह है कि—एक तो उस मनुष्य का जब तक इतना तमोगुण संचित नहीं होता जिस से नेत्र बन्द वाले हों और अन्त समय इतना तमोगुण हो जाता है तब नीची योनियों में चला जाता है तथा मनुष्य अपने जातीय स्वभाव से कुछ ऐसे भी काम किया करता है जो सत्त्वगुण को उत्तेजना देते रहते हैं। इस कारण यहां इस दोष को अवकाश नहीं है। जैसे नशाबाज़ बैठते उठते ऊंघते हैं और जो नशा नहीं करते उन के नेत्र प्रायः बन्द नहीं होते। इसी प्रकार हिंसा मांसभक्षणादि के तमोगुण की अधिकता से कुत्ते आदि के बच्चों के नेत्र बन्द रहते तथा अन्य प्राणियों के जिन को वैसा वा उतना तमोगुण नहीं है नेत्र बन्द नहीं होते। तमोगुण की अधिकता से ही उन जातियों का नेत्र इन्द्रिय निर्बल वा कम शक्ति वाला स्वभाव से ही होता है इस लिये भी उन के नेत्र बन्द रहते अन्यों के नहीं।

प्रश्न (२)—पञ्जे वाले जन्तु जिह्वा से जल क्यों पीते हैं?।

उत्तर—जातीय स्वभाव से ही पञ्जे वाले जन्तुओं की रसना इन्द्रिय प्रबल

और बड़ी बनी है जिस से वे जिह्वा में पानी लपेट कर पीसकते । और उन का मुख भी अधिक फटा बना है जिस से वे उतना मुख पानी में नहीं घुस सकते जो मुख से पानी पीसकें । जिह्वा के बड़ी वा प्रबल बनने तथा मुख के अधिक फटने का उन जातियों में हिंसा तथा मांसभक्षण का अधिक होना ही कारण है । अर्थात् फलाहारियों की अपेक्षा मांसाहारी मनुष्यों की जिह्वा भी कुछ प्रबल बड़ी और चटोर हो जाती है वे भी जिह्वा से अधिक काम लेने लगते हैं क्योंकि मांस के अधिकांश सार से जिह्वा बनती है । इस कारण मांसभक्षण जिह्वा की उन्नति का कारण है जिन को श्वान आदि के तुल्य जिह्वा की उन्नति करना अभीष्ट हो वे मांस खाना आरम्भ करें ।

प्रश्न (३)—स्वाति के बूंद से सीपी के कीड़े मोती किस प्रकार बनते हैं ?

उत्तर—वर्षा ऋतु की वृष्टि से आकाश में छायी हुई सूक्ष्म धूलि सब नीचे पृथिवी पर आजाती है । इसी से आकाश निर्मल शुद्ध हो जाता है । और आश्विन (क्वार) मास की पौर्णमासी इसी कारण अमृतवर्षिणी मानी जाती है । अर्थात् क्वार की पौर्णमासी को चन्द्रमा के अमृतरूप जैसे उत्तम गुण किरणों द्वारा आकाश के अधिक शुद्ध होने से पृथिवी के पदार्थों पर सम्बन्ध करते वैसे अन्य किसी दिन नहीं । और अमृतवर्षिणी पौर्णमासी के थोड़ा ही आगे वा पीछे ज्योतिष के हिसाबानुसार स्वाति नक्षत्र के सूर्य होते हैं अर्थात् स्वाति नक्षत्र के साथ सूर्य की किरणों का विशेष सम्बन्ध होता उस काल में आकाश का जल जितना शुद्ध वा निर्मल मोती बनने योग्य होता है वैसा अन्य किसी समय नहीं होता । स्वाति नक्षत्र के सूर्य का होना ऋतु, उस काल का वृष्टि जल बीज और सीपीरूप खेत इन तीनों कारणों के संयोग से मोती की उत्पत्ति मानी जाती है क्योंकि अन्यत्र मनुष्यादि प्राणी वा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति भी ऋतु बीज और खेत तीनों कारणों का संयोग मिलने पर ही होती है तीन कारणों में एक के भी अभाव में किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती । कोई न कोई नियत समय प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का हेतु होता है इस कारण कह सकते हैं कि काल ही सृष्टि का कारण है काल के विना कुछ नहीं होता । उस २ काल ही में बीज वा खेत में वैसे २ गुणों का प्रादुर्भाव होता है जिस से मनुष्यादि उत्पन्न होते जाते हैं । अर्थात् अन्य नक्षत्रों के समय अन्तरिक्ष जल ऐसा निर्मल नहीं होता जिस के सम्बन्ध से सीपी में मोती बने इसी कारण पपीहा का सन्तोष भी नहीं होता पपीहा क्या उस सर्वोत्तम जल से सभी का अधिक सन्तोष हो सकता वा होता है । वा यह भी कह सकते हैं कि स्वाति से पहिले सीपीरूप खेत भी ऐसा तयार नहीं हो जाता जिस में वृष्टि जल के सम्बन्ध से मोती बन सकें ॥

प्रश्न–(४) छोटे २ कीड़े मूंगे किस प्रकार बनाते और किस वस्तु से ? ॥

उत्तर—जिन कीड़ों के शरीर में मूंगों के परमाणु होते और प्रकृति के अनुसार वे कीड़े पृथिवी से खोज २ कर ऐसे पदार्थ खाते हैं जिन से मूंगे बन जाते हैं। वा यों कहो कि जिन को आप मूंगा कहते हैं वह कीड़ों का शरीर ही है। जिस पदार्थ वा प्राणी में स्वाभाविक जैसे गुण होते हैं वह अन्य वस्तुओं से अपने अनुकूलगुणों का स्वभाव से ही ग्रहण करता है। जैसे मधुमक्खी पुष्पादि से अपने अनुकूल उस अंश को लेलेती है जिस से मधु (शहद) बन जाता है। और जैसे रेशमके कीड़ों से रेशम बनता है तो उन में स्वाभाविक उपादान कारण से आयी शक्ति माननी पड़ेगी वैसे यहां भी जानो ॥

प्रश्न (५)—सीपी के कीड़े और पपीहा ने स्वाति के बून्द में क्या विशेषता पायी अन्य २ नक्षत्रों के जल से उन की सन्तुष्टता न होने का कारण क्या ? ।

इस का उत्तर तीसरे प्रश्न के उत्तर में आगया ॥

प्रश्न (६)—भूत मन का भ्रम किस प्रकार है इस बात की सिद्धता कैसे ? ॥

उत्तर—अन्य रोगों के तुल्य भ्रम वा भूत भी एक प्रकार की मानस व्याधि है। जैसे शारीरिक रोग शरीर को लगते वैसे मानस रोग मन में लगते हैं। जैसे शारीरिक चिकित्सा से शरीर के रोग छूटते हैं वैसे मानस चिकित्सा से मन के रोग भ्रान्ति वा भूतादि छूट जाते हैं। यदि मानस रोगों की चिकित्सा से भूत भी छूट जाता है तो इसी से भूत का मानस रोग होना सिद्ध होगया। और यह भी सिद्ध ही है अर्थात् सब कोई मानते हैं कि जैसे व्यायामादि शारीरिक उन्नति में तत्पर मनुष्यादि को शारीरिक रोग प्रायः नहीं होते वैसे ही विद्याध्ययन ईश्वरभक्ति सन्ध्योपासनादि उत्तम धर्मकर्मों के द्वारा जो लोग मन वा आत्मा का निरन्तर संस्कार वा संशोधन किया करते हैं उन को भूतादि नहीं सताते किन्तु ऐसे लोगों से भूत डरते हैं। " व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव " यह सुश्रुत का वचन है। जैसे छोटे २ हरिणादि जीवभय से बलवान् सिंह के पास नहीं जाते वैसे ही व्यायामादि द्वारा बलिष्ठ हुए पुरुष से व्याधि अलग रहती हैं पास नहीं खड़ी होतीं। इसी प्रकार आत्मिकोन्नति करने वालों के पास भूत भी नहीं आते। इस से सिद्ध है कि एक प्रकार के मानसरोग का नाम भूत है। जैसे शरीर के रोग भी कोई ऐसे असाध्य होते हैं जो चिकित्सा से भी दूर नहीं होते वैसे ही भूतादि मानस रोग भी किन्हीं के असाध्य हो सकते हैं जो मानसचिकित्सा से भी नहीं जा सकते वहां अविद्या की अधिक प्रबलता माननी पड़ती है। जहां वैद्यकशास्त्र में भूत लगने पर भी शारीरिक ओषधियों का प्रयोग लिखा है वहां मानसभूतरोग को शारीरिक व्याधि को सहकारी कारण मानना इष्ट है कि उस कारणरूप रोग के हटने से मानसभूतरोग भी चला जाना सम्भव है। इसलिये भूतरोग से जो बचना चाहें उन को उचित है कि आत्मसंशोधक वेदादि धर्मशास्त्रों को पढ़ें और तदनुकूल धर्माचरण करें ॥

प्रश्न-७-रसना तो केवल एक मांस का टुकड़ा ही है किन्तु प्रत्येक रस का अलग २ ज्ञान किस प्रकार करती है ? ॥

उत्तर-मांस के टुकड़े का नाम रसना नहीं है किन्तु मांस के टुकड़े का नाम जिह्वा है । और रसना रसग्राहक इन्द्रियशक्ति का नाम है । सुश्रुत के शारीर स्थान में लिखा है कि-

कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ॥

कफ रुधिर और मांस का सार लेकर जिह्वा बनती है । उस जिह्वा में रहने वाली सूक्ष्म अदृश्य शक्ति का नाम रसना इन्द्रिय है । जैसे कर्ण नाम कान का है सुनने की सूक्ष्म शक्तिरूप इन्द्रिय का नाम श्रोत्र है । कान काट लेने पर भी शब्द सुनने की शक्ति बनी रहती और कान देखने में ज्यों का त्यों बना रहे तो भी श्रवणशक्ति श्रोत्रेन्द्रिय के नष्ट होजाने से बधिर मनुष्यादि कुछ नहीं सुनता इसलिये इन्द्रिय गोलक का नाम इन्द्रिय नहीं है किन्तु गोलक में रहने वाली उस २ रूपादि गुण की ग्राहकशक्ति का नाम इन्द्रिय है । इसीलिये कान से सुनता है यह कहना वास्तव में ठीक नहीं किन्तु औपचारिक प्रयोग हो सकता है जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" यहां मञ्चानस्थ पुरुष समझा जाता वैसे यहां भी कर्णस्थ इन्द्रियशक्ति से सुनना माना जायगा । जिस धातु से रसनाशब्द बनता उसी से रसशब्द भी बना है सब प्रकार के रस का ग्रहण करने वाली होने से उस जिह्वास्थ इन्द्रियशक्ति का नाम रसना पड़ा है । कभी किसी की रसना इन्द्रियशक्ति नष्ट हो जाय तो जिह्वा के बने रहने पर भी रस का ज्ञान उस को नहीं हो सकता । जैसे नेत्र में सब प्रकार का रूप देखने की शक्ति श्रोत्र में सब प्रकार के शब्दों को सुनने की शक्ति तथा नासिका में रहने वाली घ्राणेन्द्रिय में सब प्रकार के गन्ध सूंघने की शक्ति उत्पत्ति के साथ ही सृष्टि के आरम्भ से परमेश्वर ने नियत की है वैसे रसनेन्द्रिय में सब प्रकार के रस को ग्रहण करने की शक्ति रक्खी है सो इन्द्रिय के साथ स्वाभाविक है ।

प्रश्न-८-साक्रेतीस का डीमन क्या शय था ? ॥

इस प्रश्न का उत्तर तब तक ठीक नहीं हो सकता जब तक इस का विशेष आशय ज्ञात न हो । और वास्तव में किसी निज (खास) पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले विषय के प्रश्न का विशेष उत्तर कोई दे भी नहीं सकता सामान्य उत्तर से सर्वसाधारण को कुछ लाभ भी नहीं हो सकता ।

प्रश्न-(९)-चन्दन सर्प के गुण को ग्रहण नहीं करता इस से सज्जन पद मिला पर सर्प भी तो चन्दन के गुण का ग्रहण नहीं करता ? ।

उत्तर-चन्दन सर्प के गुण का ग्रहण नहीं करता इस से यह आया कि श्रेष्ठ महात्मा धर्मात्मा शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष दुर्जनों का सङ्ग होने पर भी

उन के निकृष्ट गुणों का ग्रहण नहीं करते यही ठीक है इसी से वे लोग श्रेष्ठ धर्मात्मा बने रहते हैं यही उन का कर्त्तव्य है। और सर्पादि दुष्ट स्वभाव वाले श्रेष्ठ चन्दनादि का संग होने पर भी श्रेष्ठ गुण का ग्रहण नहीं करते इसी से वे दुष्ट बने रहते हैं। जातीय स्वाभाविक भले बुरों की पहचान का यहीं उदाहरण है जो जड़ से ही अच्छे हैं वे संगदोष से भी नहीं बिगड़ते और जो जड़ से ही बुरे हैं वे सत्संग से सुधरते भी नहीं। यही तात्पर्य "मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" का भी है ॥

प्रश्न-(१०)-हंसों की समाज में वक शोभा नहीं पाता पर बकुला की समाज में हंस जाय तो वह भी शोभा न पावेगा इस में विशेषता क्या है ? ।

उत्तर-हंसों की समाज में वक शोभा नहीं पाता इसी से हंसों के तुल्य वक की प्रतिष्ठा नहीं होती यदि वक भी हंसों में शोभा पावे तो प्रतिष्ठा के योग्य हो जाय। वक का शोभा न पाना ही उस के अधम वा नीच होने का चिह्न है। और वक समाज में हंसों का शोभा न पाना ही उन के प्रतिष्ठित पुण्यात्मा वा धर्मात्मा श्रेष्ठ सज्जन होने का कारण है यदि वक समाज में हंस शोभा पाते तो वे भी नीच हो जाते। ये ९। १० दोनों प्रश्न एक ही आशय के हैं इसलिये दोनों का उत्तर दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है ॥

(भाग ७ के पृष्ठ १६ से आगे संस्कार)

भी विद्यमान है इसी प्रकार छोटे २ साधारण कर्माङ्गों में परमेश्वर की प्रार्थना से चित्त में एक प्रकार की प्रसन्नता उत्पन्न होती जाती है वही ग्लानि को मेटने वाली शुद्धिरूप प्रसन्नता प्रार्थना का प्रत्यक्ष फल है।

सन्ध्योपासन में "इन्द्रियस्पर्श" भी एक अङ्ग है। जैसे हम को सुखी रहने के लिये अनेक साधनाङ्गों की आवश्यकता है वैसे वाणी आदि कर्मेन्द्रियों और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का हमारे जीवनपर्यन्त यथावत् रहना भी हमारे सुख का एक बड़ा भाग है। हम को सन्ध्योपासन के समय नित्य २ परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे वाक् आदि इन्द्रिय धर्मानुकूल कार्य देने वाले रहें अर्थात् धर्मविरुद्ध कार्यों में वा विषयों में न फंसें। इन्द्रियस्पर्श के वास्तव में मूल मन्त्र ये हैं-अथर्व० १९। ६७।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्। पुष्येम शरदः शतम्। भूषेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात् ॥

अभिप्राय यह है कि हम चक्षु आदि इन्द्रियों से सौवर्ष तक निर्विघ्न देखना आदि कर्म करते रहें। यद्यपि मन्त्रों में चक्षुरिन्द्रिय को प्रधान मानकर आरम्भ में दर्शनशक्ति की प्रार्थना लिखी है। तथापि ब्राह्मण वा सूत्र ग्रन्थों के धर्मशास्त्रकारों ने वर्णधर्म की प्रधानता के अनुसार वेदादि के पठनपाठन वा धर्मोपदेश [जो ब्राह्मणवर्ण का मुख्य वा प्रधान कर्त्तव्य है] आदि कर्म के साधन वाक्-इन्द्रिय को प्रधान मानकर इन्द्रिय स्पर्श की प्रधानता वाक् इन्द्रिय से आरम्भ की है उसी के अनुसार "ओंवाक् वाक्" इत्यादि प्रकार पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्म की पद्धतियों में लेख किया गया है। (पश्येम शरदः शतम्) कहने से चक्षु इन्द्रिय की प्रार्थना (जीवेम शरदः शतम्) कहने से प्राण के प्रधानस्थान नासिका का स्पर्श और जीवनस्वरूप प्राण की रक्षा की प्रार्थना है। क्योंकि प्राणधारण का ही नाम जीवन है। इसीलिये नासिका के स्पर्श में "प्राणः प्राणः" लिखा गया है। (शृणुयाम शरदः शतम्) कहने से श्रोत्रेन्द्रिय रक्षा की प्रार्थना (प्रब्रवाम शरदः शतम्) कहने से वाक् इन्द्रिय रक्षा की प्रार्थना करनी इष्ट है कि हम सौवर्ष तक सहर्ष वाणी से वेदों का गान करते परमेश्वर वा धर्म का जयजयकार पुकारते रहें क्योंकि प्रवचन अध्यापन वा धर्मोपदेश धर्मप्रचार आदि वाणी से सम्बन्ध रखता है इस से वाक्स्थानी मुख का स्पर्श करे (रोहेम शरदः शतम्) कहने से आरोहण सीधी उंचाई का मुख्य स्थान नाभिरक्षा की प्रार्थना है क्योंकि शरीर को ठीक वा सीधा रखने वाली सब नाड़ी वा नसों का आरोहण वा प्रसार [फैलाव] सब शरीर में नाभि से ही होता है इसीलिये केन्द्रस्थान को नाभि कहते हैं नाभिशक्ति के निर्बल पड़ने से ही वृद्धावस्था में मनुष्य बीच से लच के टेढा हो जाता है। इसलिये नाभि रक्षा की प्रार्थना से नाड़ी नसों के ठीक प्रबल रहने की प्रार्थना अभीष्ट है (बुध्येम शरदः शतम्) कहने से हृदयदेशस्थ बुद्धि-रक्षा की प्रार्थना और हृदय का स्पर्श करना अभीष्ट है। क्योंकि बुद्धि वा बोध का स्थान हृदय ही माना जाता है (पुष्येम शरदः शतम्) कहने से पुष्टि वा बल के प्रधान स्थान बाहुरक्षा की प्रार्थना और बाहु का स्पर्श करना इष्ट है (भूषेम शरदः शतम्) कहने से शिरमात्र के स्पर्श की आज्ञा और शिरोरक्षा की प्रार्थना करना अभीष्ट है और (भूयसीः शरदः शतात्) का सब के साथ सामान्य सम्बन्ध है कि हमारी सौ वर्ष से अधिक भी यथासम्भव देखने आदि की शक्ति बनी रहें। इन मन्त्रों द्वारा प्रार्थना से केवल इतना ही प्रयोजन नहीं है कि हमारे चक्षु आदि इन्द्रिय सौ वर्ष तक बने रहें किन्तु मुख्य प्रयोजन यह है कि हम अन्य के पदार्थ को वा परस्त्री आदि को अनुचित अधर्म दृष्टि से न देखें धर्मानुकूल कल्याण वा सुख के साधनों को सौ वर्ष तक देखें इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों द्वारा भी अन्याय वा कुमार्ग की ओर न झुकें किन्तु धर्मानुकूल कल्याण के मार्गों में चलें। इन्हीं मूल वेद मन्त्रों का आशय लेकर ब्राह्मणादि पुस्तकों में

" ओं वाक् वाक् " आदि मन्त्रों की ऊहा की गयी ऐसा प्रतीत होता है तद्नुसार पद्धतिकारों ने भी लिखा सो उचित ही है ॥

प्रश्न—परमेश्वर की प्रार्थना जो लोग करते हैं उन में से भी अनेकों के जीवन वा इन्द्रियशक्ति बराबर नहीं रहती अर्थात् प्रार्थना करने वाले भी जब अनेक लोग अन्धे वा बधिरादि होते और अनेक लोग नास्तिकादि जीवन भर भी कभी प्रार्थना नहीं करते तौभी उन के सब इन्द्रियों की शक्ति यथावत् बनी रहती है तो इस दशा में इन्द्रियस्पर्शपूर्वक प्रार्थना करना कैसे सफल हो सकता है ? ॥

उत्तर—लोक में भी जैसे प्रत्येक कार्य की सिद्धि के जितने साधन हैं उन के पूर्ण और यथोचित होने पर पूरा काम सिद्ध होता, प्रबल वा मुख्य साधनों के होने पर कार्य सिद्धि में इतनी कम न्यूनता रहती है जिस को न्यूनता न कह कर पूरी कार्य सिद्धि लोग मानते, तथा मध्यम साधनों वा कारणों से मध्यम कार्य सिद्ध होता है, और साधनों वा कारणों के अर्धांश से भी कम होने पर वा निर्बल तथा गौण साधन होने से कार्य इतना कम सिद्ध होता है जिस को लोग कहते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ सब निष्फल हो गया। इसी प्रकार वैदिक प्रार्थनादि कामों की सिद्धि के लिये भी वेद में उपदेश किये अनेक साधन हैं जिन सब में धर्म का आचरण प्रधान है। वेद में मनुष्य के लिये धर्मानुकूल आचरण करना सर्वोपरि प्रधान माना गया है। जैसे लोक में भी देखा जाता है कि सब मांगने वाले भिक्षुकों को बराबर भिक्षा नहीं मिलती वा यों कहो कि अपने २ योग्यताधर्माचरणादि साधन वा परिश्रमादिकर्मों के अनुसार सब को न्यूनाधिक मिलती है। तथा यह भी प्रत्यक्ष दीखता है कि किन्हीं २ मांगने वालों को कुछ भी नहीं मिलता वा इतना कम मिलता है जिस को कुछ न मिला कहते हैं और किन्हीं २ योग्य वा प्रतिष्ठितों को बिना मांगे एकान्त में बैठे रहने पर भी आवश्यकता से भी अधिक भिक्षा प्राप्त होजाती है। जैसे यहां सर्वत्र ही पूर्व संचित वा वर्त्तमान के कर्म भी सम्मिलित हो कर कारण होते हैं वैसे प्रार्थना करने वाले के भी पूर्वसंचित वा वर्त्तमान के अथवा दोनों प्रकार के धर्मानुकूल अच्छे कर्म होने चाहियें तब ऐसे मनुष्यों की सत्यचित्त से श्रद्धा भक्ति के साथ कीई प्रार्थना को परमेश्वर तत्काल सुनता और उस को शीघ्र ही प्रत्यक्ष फल देता है। "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की कुछ आवश्यकता नहीं। जिस पुरुष की धर्मकार्यों में रुचि वा प्रीति हो, प्रायः अच्छे धर्म कार्य करता हो, उस पर कुछ विपत्ति अकस्मात् आजावे वा किसी दुष्ट कर्म के करने की प्रबल वासना मन में उत्पन्न हो वा अन्य किसी प्रकार का विशेष दुःख आपड़े तो यदि वह श्रद्धाभक्ति के साथ बार २ परमेश्वर की प्रार्थना करे तो उस का दुःख अवश्य दूर होगा प्रत्येक फल परमात्मा की कृपा का दीख पड़ेगा। यही अच्छे मनुष्य के

आस्तिक वा धर्मात्मा होने का पूरा चिह्न है कि उस को सब से अधिक परमात्म की सहायता पर विश्वास होना । और ऐसा विश्वास जिस को होगा वह पहिले अधर्मी भी रहा हो तो आगे धर्मात्मा हो जायगा । अथवा यों कहो कि जब तक अधर्मकार्यों में रुचि रहेगी तब तक किसी को ऐसा विश्वास हो ही नहीं सकता । इस से सिद्ध हुआ कि धर्मात्मा की प्रार्थना सफल होती है दुष्टों की नहीं । यही बात मानवधर्मशास्त्र के अ० २ । ९७ में स्पष्ट लिखी है—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

अर्थ—जिस के हृदयमें कुटिलतारूप अधर्म विद्यमान है, किसी प्रकार छल कपटादि से स्वार्थसाधन की वासना जिस के मन में बनी है, ऐसे पुरुष को वेद मन्त्रों के पाठ वा जप द्वारा परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करना, अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमादि वा दर्श पौर्णमासादि यज्ञ करना, मौन होकर एकान्तवास करना वा चान्द्रायणादिव्रतों का अनुष्ठान और तप करना आदि कर्मों के सेवन से कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती वा यों कहो कि ऐसा पुरुष वेदाध्ययनादि धर्मयुक्त कामों को दम्भ के साथ लोगों को अपनी बनावटी धर्मात्मता दिखा कर छल से स्वार्थ साधन के लिये करता है । इस लिये वह भी एक प्रकार का ठग है उस का कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता । यदि वह शुद्ध चित्त से अपना धर्म समझ कर वेदाध्ययनादि करने लगे तो उस के हृदय में विप्रदुष्टभाव नहीं रह सकता इसी लेख के अनुसार यह भी कह सकते हैं कि परमेश्वर कर्मानुकूल फल देता है अर्थात् अच्छे कर्म होने पर ही प्रार्थना का भी फल देता है ।

प्र०—इस दशा में शङ्का यह होती है कि जब कर्मानुकूल फल देता है तो जैसा कर्म हम ने किया है वा करते हैं वैसा ही फल प्रार्थना करें वा न करें दोनों दशा में देगा तो प्रार्थना करनी फिर भी व्यर्थ हुई न ? ।

उ०—इस का उत्तर यह है कि जैसे किसी पुरुष ने बी. ए., एम. ए. आदि नाम से अंगरेज़ी वा संस्कृत में उत्तम प्रकार की योग्यता परिश्रम करके प्राप्त की तो वास्तव में उत्तमाधिकाररूप फल प्राप्ति का भागी वह अवश्य है तो भी वह उच्चाधिकारी न्यायाधीशों [हाकिमों] के समीप जाकर अपनी योग्यता जताने पूर्वक प्रार्थना करता है कि मेरी योग्यतानुसार मुझे कुछ फल दीजिये । तब न्यायाधीश पहिली और वर्त्तमान समय की प्रार्थना सम्बन्धिनी योग्यता को भी मिलाकर उत्तम मध्यम निकृष्ट जैसी योग्यता वा जैसे कर्म आचरणादि देखता है वैसा उत्तमाधिकाररूप फल सौंपता हैं । यदि कहो कि यहां न्यायाधीश सर्वज्ञ नहीं इस से भूल जाना सम्भव मानकर प्रार्थना करनी पड़ती है और परमेश्वर सर्वज्ञ है वह सब को यथोचित जानता है तो इस का उत्तर यह होगा कि न्या-

याधीश जानता हो तो भी प्रार्थना की आवश्यकता है क्योंकि प्रार्थना करने से फलदाता पर भार पड़ता वा उस को शीघ्र उत्तम वा कुछ अधिक फल देने की आवश्यकता प्रतीत होती है । क्योंकि प्रार्थना भी एक वाणी का कर्म है वह पहिले उत्तम संचितकर्म के साथ प्रार्थनारूप उत्तम कर्म मिलकर अच्छा अधिक फल शीघ्र दिवाता है । यदि प्रार्थना न की जाय तो पहिले संचित नियतविपाक कर्म का कुछ फल यथोचित समय प्राप्त हो सकता है किन्तु उतना शीघ्र और वैसा फल प्राप्त नहीं होता । यदि अनियतविपाक संचित शुभकर्म हो तो प्रार्थना के विना उस का फल होना निश्चित नहीं कह सकते । तथा यदि यथोचित प्रार्थना की जाय तो अनियतविपाक भी कर्म प्रार्थनारूप शुभकर्म की सहायता पाकर नियतविपाक बन जाय और शीघ्र शुभफल का हेतु हो यह सभी सम्भव है । इस का दृष्टान्त यह है कि जैसे किसी मनुष्य ने कोई ऐसा कुपथ्य किया जिस से किसी रोग का मूल संचित होगया । अब यदि वह नया कुपथ्य न करे तो वह संचित रोग की जड़ शीघ्र रोग को उत्पन्न नहीं कर सकती कदाचित् सहायता न मिले तो बहुत काल तक रोग न होगा । यदि वह संचित रोगमूल अनियतविपाक हो तो अच्छा पथ्य करने से ही नष्ट भी होजाय और नियतविपाक हो तो भी जब तक नये कुपथ्य की सहायता न मिले तब तक फल नहीं दे सकता । और यदि नया कोई संचित के अनुकूल प्रबल कुपथ्य हो जाय तो आगे जितना होता उस से भी बहुत प्रबल रोग तत्काल आकर दबा लेगा । यह प्रत्यक्ष में लोगों के अनुभव में आरहा है इसी प्रकार यहां परमेश्वर की विशेष आराधना वा भक्ति से संचित शुभकर्म शीघ्र ही प्रबल और उत्तम शुभ फल देने वाला हो जाता है इस प्रकार प्रार्थना और कर्मानुकूल फल होना दोनों सार्थक ठहरते हैं । और शब्द में भी कुछ शक्ति है यह साधारण प्रकार से सब कोई जान सकते हैं । जैसे गाली वा अन्य कोई अत्यन्त कठोर वाक्य किसी से कहे तो वह तीर के समान हृदय में लगता और दुःखदायी होता है । विदुरनीति में लिखा है कि–

वाक्सायका वदनान्निस्सरन्ति, तैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति, तान्पण्डितो नाऽवसृजेत्परेभ्यः ॥

कठोरवाणीरूप बाण मुख से निकलते हैं उन से मारा हुआ पुरुष दिन रात शोच करता है क्योंकि वे कटुवचनरूप बाण दूसरे के मर्मस्थान में लगते हैं इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि ऐसे कटुवचन दूसरों से न बोले । प्रत्यक्ष भी देखने में आता है शब्द के सुनते ही मनुष्य की आकृति बदल जाती है क्रोध वा हर्षरूप एक नया गुण तत्काल उत्पन्न हो जाता है यह शब्द शक्ति का ही प्रभाव है । ऐसे ही अनेक प्रकार के प्रभावोत्पादक वीरादि रस प्रधान शब्दों से अनेक

प्रकार के गुण लोक में प्रत्यक्ष प्रकट होते दीखते हैं। जब यह साधारण लौकिक शब्दों की दशा है तो वेद जो साक्षात् परमेश्वर का वाक्य अत्यन्त पावन शब्दों का समुदाय है उस में कुछ शक्ति न हो यह असम्भव है अर्थात् वेद के शब्दों में बड़ी शक्ति है पर उस को धर्मात्मा पुरुष जिस का वेद पर पूरा विश्वास हो वही जान सकता है उसी को वेद से लाभ होता है। क्योंकि सब कोई सब कामों के अधिकारी होते भी नहीं यह सर्वतंत्रसिद्धान्त है। इस लिये सन्ध्योपासन में इन्द्रियादि की रक्षा की प्रार्थना अवश्य ही हृदय की संशोधक सर्वोपरि लाभकारिणी होने से कर्त्तव्य में गणना करने योग्य है॥

इस से आगे प्राणायाम भी सन्ध्योपासन का एक अङ्ग है। प्राणायाम के विषय में विशेष विचार तो योगशास्त्र से ही सम्बन्ध रखता है। तथापि संक्षेप से कुछ लिखते हैंः—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥ साधनपादे।

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते। महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद्दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथाचोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति। इतिव्यासभाष्यम्॥

भा०—पूर्व २ यमनियमादि अङ्गों का सेवन करने पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी का अज्ञानान्धकार हटता जाता है। सत् असत् के विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाला दुष्टवासनारूप सञ्चित पाप कर्म कहा वा माना है। वही सञ्चित पापकर्म महामोह अत्यन्त अज्ञानान्धकाररूप इन्द्रजाल से प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण को ढांप कर मनुष्यादि प्राणियों को अकार्य में झुकाता है। सो वह प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण का आच्छादन [जैसे मेघ सूर्य के प्रकाश को ढांप लेते] करने तथा संसार में बांधने वाला कर्म प्राणायाम के नित्य २ अभ्यास करने से निर्बल होता और प्रत्येक क्षण में थोड़ा २ धीरे २ नष्ट होता जाता है। इसलिये अन्य किसी शिष्ट प्रमाण की साक्षी भी दिखाते हैं कि "प्राणायाम से परे अन्य कोई आत्मिक संस्कार वा शुद्धि का हेतु तप नहीं है अर्थात् आत्मा मन और इन्द्रियों की सर्वोपरि अध्यात्मशुद्धिकरने वाला प्राणायाम ही है। क्योंकि उस से तमोगुणरूप अज्ञानान्धकार अर्थात् दुर्वासनारूप से सञ्चित पाप की निवृत्ति और ज्ञान का प्रकाश होता है" इसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र में भी लिखा है कि—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥२॥

भा०—यमनियमादि के अनुकूल चित्त को ठीक सावधान करके योगशास्त्र में लिखे अनुसार तीन भी प्राणायाम ठीक२ कर ले तो जानो मुख्य तप किया। जैसे भट्टी के अग्नि में रख कर धोंकनी द्वारा धोंकने से सुवर्णादि धातुओं के मल जल जाते वा छूट जाते और धातु शुद्ध हो जाते हैं वैसे ही प्राणरूप धोंकनी को शरीररूप भट्टी में वार २ चलाने से इन्द्रियों की मलिनता क्षीण वा नष्ट होती अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति शुद्ध होती जाती है। किसी प्राणायाम करने वाले को प्रत्यक्ष फल न दीख पड़े तो जानो कि प्राणायाम से पूर्व के साधनों का उस ने पूरा अभ्यास नहीं किया वा जैसे रात्रि के अन्धकार को खद्योत (जुगनू का प्रकाश अत्यल्प होने से दूर नहीं कर सकता और सूर्य का उदय भी नहीं हो पाता तब से पहिले ही अन्धकार नष्ट होता जाता है। इसी प्रकार प्राणायामादि किसी धर्मकार्य का इतना कम अभ्यास हो जो तमोगुणरूप अज्ञानान्धकार के पर्वत को न गिरा सके तो वह प्राणायामादि का दोष नहीं किन्तु समझने वाले वा सन्देह करने वाले का दोष होगा। इस पूर्वोक्त लेख से सिद्ध हुआ कि प्राणायाम अ-ध्यात्मसंस्कार का प्रधान अङ्ग है। प्राणायाम में दो बातें प्रधान हैं एक तो प्राण ही इन्द्रियों का वाचक है। इसीलिये प्रश्नोपनिषद् में सब प्राण वा इन्द्रियों के साथ मधुकरराज का दृष्टान्त दिया है। मधु-शहद् बनाने वाली मक्खियों में एक मक्खी प्रधान वा राजा मानी जाती है अन्य सब मक्खियां उसी के पीछे रहती हैं जब वह कहीं बैठ जाती हैं तो उस के साथ पीछे से सब शीघ्र बैठ जाती हैं और उस के उड़ने पर सब झट ही उड़ जाती हैं जिधर को वह जाती है उधर ही सब चल देती हैं। उस को संस्कृत में मधुकरराज कहते हैं। अर्थात् मधुनाम शहद बनाने वाली मक्खी मधुकर और उन का राजा मधुकरराज कहाता है। यही ठीक दशा ज्ञानेन्द्रियों वा कर्मेन्द्रियों की है जब तक प्राण चलता है तभी तक सब इन्द्रिय अपने २ विषयों की ओर चलते हैं जब प्राणायाम करने से प्राण ठहर जाता है तब इन्द्रियों की चञ्चलता भी मिट जाती है इन्द्रियों की वृत्ति विषयों की ओर नहीं भागती। और वास्तव में इन्द्रियों की चञ्चलता ही कु-मार्ग में ले जाने वाली है। क्योंकि कठोपनि० में लिखा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥

जब पांचो ज्ञानेन्द्रिय मन के सहित अवस्थित हो जाते उन की लोलुपता छूट जाती वा विषय भोग का लालच शान्त हो जाता और ऐसा होने से बुद्धि भी शान्त हो जाती है विरुद्ध चेष्टा नहीं करती तब जानो मनुष्य परमगति वा मुक्ति के द्वार पर पहुंच जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्राणायाम द्वारा (शेष आगे)

(७वें भाग अङ्क २ से शेष महामोह०)—

जिन २ कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन २ ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम २ पढ़ाये हुए वे ग्रन्थ समझने चाहियें। और पौरुषेयपुस्तक जहां वाच्य हों वहां २ जिस ऋषि आदि के वाचकशब्द से प्रत्ययविधि है उस २ का व्याख्यान किया पुस्तक वा मूल अपौरुषेय से आशय लेकर अपने विचार को सम्मिलित करके वा यों कहो कि मूल के शब्दों के तात्पर्य्य को किन्हीं अपने दूसरे प्रकार के शब्दों में निबद्ध करना, प्रोक्तपद का अर्थ समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही "शौनकादि०" इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पढ़े पाणिनिसूत्रों के उदाहरणों की संगति हो सक्ती है। छन्दों (वेदों) के अपौरुषेय होने से किसी शौनकादि का व्याख्यान मूलवेद वा छन्द है ऐसा पक्ष हमारा वा प्रतिवादी का किसी का भी नहीं है अर्थात् दोनो पक्षवाले अपौषेय मानते हैं। यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेदों के वाच्य होने पर प्रोक्तपद से प्रचारादि तात्पर्य्य मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाच्य होने पर भी वही अर्थ (प्रचारादि) लेवें तौ कौन हटा सक्ता है ? तो उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारित आदि तात्पर्य्य समझना युक्त नहीं क्योंकि "तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१ तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४।३।१०२" इन सूत्रों के भाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि "तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः "जिस से स्पष्ट है कि श्लोक भी प्रोक्त होते हैं और श्लोकों का वेदत्व वा अपौरुषेयत्व सिद्ध करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं। बस जब पौरुषेय श्लोकों को भी भाष्यकार प्रोक्तपद से लेते हैं तौ प्रोक्त शब्द के गौण मुख्य भेद से दो प्रकार के अर्थ सिद्ध ही हैं अर्थात् प्रोक्ताधिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है वे २ ग्रन्थ यदि पौरुषेय हों तौ जिस २ शब्द से प्रत्यय किया है उस २ का व्याख्यान किया ग्रन्थ समझना चाहिये और यदि वह अपौरुषेय हों तौ उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये इस कारण ब्राह्मण और कल्प पुस्तकों के पौरुषेय होने से उन २ के व्याख्यान वा सङ्कलित पुस्तकों का ग्रहण करना स्पष्ट है ॥

और टिप्पणी में जो लिखा है कि व्याकरण में उस (दया०) का अबोध बहुतों ने दिखाया है इत्यादि। सो यह तौ आकाश में थूकने के समान होने से उत्तर देने योग्य नहीं है। समस्त संसार में क्या सहधर्म्मी क्या विधर्म्मी सभी उक्त स्वामी जी के पाण्डित्य को जानते हैं ॥

रामभिश्र शास्त्रि रचित सुबोधव्याकरण का यहां पर नाम लेना कुछ आवश्यक न था परन्तु इस का यहां नाम लेना विवादास्पदविषय के लिये तो निस्सन्देह व्यर्थ है तथापि अपने मित्र के रचे इस व्याकरण का इस रीति से समस्त सनातनधर्मसभाओं में रुचिपूर्वक विज्ञापन (नोटिस) पढ़वा देना बड़ा लाभ दायक समझा गया होगा यही कारण इस लेख का है अन्य कुछ नहीं ॥

(महामो०) यच्चासौ ब्रूते धर्मध्वजी ।

अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनाऽनुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसञ्ज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

इति, तदमुष्य गगननिष्ठीवनायितम् । केन वैदिकेनाभिहितं यत् कात्यायनोभिधत्ते "सहचारोपाधिना ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मता" इति, यच्चायमनालोचितशास्त्रोऽकृतगुरुकुलवासो ब्रूते "अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्" इति, तदप्यस्य हास्यास्पदम् । ब्राह्मणानां वेदभावस्य पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात् । यच्चैष कपटकाषायो ब्रूते—

किञ्च भोः । ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येव ॥

इति, सोऽस्य सर्वशास्त्रविपरीतस्तावदुपसंहारः । ब्राह्मणप्रामाण्यस्य मन्त्राऽविशेषेणाऽसकृत्साधितत्वात् । अत एव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इत्याहस्म वात्स्यायनः । ब्राह्म-

णानां स्वतः प्रामाण्यविरहे कथमिव परकीयप्रामाण्यबोधकता-सम्भवस्तेषाम् । नहि प्रमाणभूमिमनधिरोहन्ति ब्राह्मणान्यलब्ध-पदानि इतिहासपुराणीयप्रामाण्यव्यवस्थापनायेशते । तस्माच्छ्रु-तिवेदशब्दाम्नायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्योपनिषदन्तानां वे-दानां बोधकानीति शास्त्रविदां परामर्शः । अत एव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" इत्यास्तिकजनजीवातुर्भगवान् मनुर्मेने । अत एव तु वेदान्तचतुरध्याय्यां भगवान् व्यासोऽभि-धित्सुरुपनिषदः समादत्तेऽसकृच्छ्रुतिपदशब्दपदानि "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" अ० २पा० १सू० २७ । "परात्तु तच्छ्रुतेः" अ० २पा० ३ सू० ४१ । "भेदश्रुतेः" अ० ३पा० ४सू० १८ । "सूचकश्च हि श्रुतेरा-चक्षते तद्विदः" । अ० ३पा० २सू० ४ । "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः" अ० ३पा० २सू० ७ । "गुणसाधारण्यश्रुतेश्च" अ० ३पा० ३सू० ६४। "वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः" अ० ४ पा० ३ सू० ६ । इत्यादिसूत्रेषु । अत एव च भगवान् कणादो दशाध्याय्या अन्ते "तद्वचनादाम्ना-यस्य प्रामाण्यम्" इत्युपसंजहाराम्नायपदेन वेदप्रामाण्यम् । अत्र हि आम्नायपदं संहितामारभ्योपनिषदन्तनिखिलवेदबोधकम् । स-मानतन्त्रे गौतमीये "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रा-माण्यात्" इति सूत्रे तत्पदोपादेयस्योपनिषत्कवाक्यकलापस्यैव प्रा-माण्याऽवधारणात् । तत्रत्यतच्छब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदबोध-कता च प्रागवधारितैव । मन्वादिस्मृतयोऽप्यस्मिन्नर्थेऽनुकूलाः । त-थाहि षष्ठेऽध्याये मनुः "एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः २९ ॥ अत्र "औपनिषदीः श्रुतीः" इत्युक्त्या उपनिषदां श्रुतिशब्दवाच्यत्वं, श्रुतिशब्दस्य च वेदाम्नायपदपर्य्यायत्वम् । यथाह मनुरेव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" । इति ततश्च यद्युपनिषदः श्रुतय इत्य-भिमेने व्यवजहार च मनुस्तर्हि ब्राह्मणानां वेदभाव आवश्यकः

राममिश्र शास्त्रि रचित सुबोधव्याकरण का यहां पर नाम लेना कुछ आवश्यक न था परन्तु इस का यहां नाम लेना विवादास्पद विषय के लिये तो निस्सन्देह व्यर्थ है तथापि अपने मित्र के रचे इस व्याकरण का इस रीति से समस्त सनातनधर्मसभाओं में रुचिपूर्वक विज्ञापन (नोटिस) पढ़वा देना बड़ा लाभ दायक समझा गया होगा यही कारण इस लेख का है अन्य कुछ नहीं ॥

(महामो०) यच्चासौ ब्रूते धर्मध्वजी ।

अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनाऽनुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसञ्ज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

इति, तदमुष्य गगननिष्ठीवनायितम् । केन वैदिकेनाभिहितं यत् कात्यायनोभिधत्ते "सहचारोपाधिना ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मता" इति, यच्चायमनालोचितशास्त्रोऽकृतगुरुकुलवासो ब्रूते "अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्" इति, तदप्यस्य हास्यास्पदम् । ब्राह्मणानां वेदभावस्य पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात् । यच्चैष कपटकाषायो ब्रूते—

किञ्च भोः । ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येव ॥

इति, सोऽस्य सर्वशास्त्रविपरीतस्तावदुपसंहारः । ब्राह्मणप्रामाण्यस्य मन्त्राऽविशेषेणाऽसकृत्साधितत्वात् । अत एव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इत्याहस्म वात्स्यायनः । ब्राह्म-

णानां स्वतः प्रामाण्यविरहे कथमिव परकीयप्रामाण्यबोधकता-सम्भवस्तेषाम् । नहि प्रमाणभूमिमनधिरोहन्ति ब्राह्मणान्यलब्धपदानि इतिहासपुराणीयप्रामाण्यव्यवस्थापनायेशते । तस्माच्छ्रुतिवेदशब्दाम्नायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्योपनिषदन्तानां वेदानां बोधकानीति शास्त्रविदां परामर्शः । अत एव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" इत्यास्तिकजनजीवातुर्भगवान् मनुर्मेने । अत एव तु वेदान्तचतुरध्याय्यां भगवान् व्यासोऽभिधित्सुरुपनिषदः समादत्तेऽसकृच्छ्रुतिपदशब्दपदानि "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" अ० २ पा० १ सू० २७ । "पत्यातु तच्छ्रुतेः" अ० २ पा० ३ सू० ४१ । "भेदश्रुतेः" अ० ३ पा० ४ सू० १८ । "सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते तद्विदः" । अ० ३ पा० २ सू० ४ । "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः" अ० ३ पा० २ सू० ७ । "गुणसाधारण्यश्रुतेश्च" अ० ३ पा० ३ सू० ६४ । "वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः" अ० ४ पा० ३ सू० ६ । इत्यादिसूत्रेषु । अत एव च भगवान् कणादो दशाध्याय्या अन्ते "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इत्युपसंजहाराम्नायपदेन वेदप्रामाण्यम् । अत्र हि आम्नायपदं संहितामारभ्योपनिषदन्तनिखिलवेदबोधकम् । समानतन्त्रे गौतमीये "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" इति सूत्रे तत्पदोपादेयसोपनिषत्कवाक्यकलापस्यैव प्रामाण्याऽवधारणात् । तत्रत्यतच्छब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदबोधकता च प्रागवधारितैव । मन्वादिस्मृतयोऽप्यस्मिन्नर्थेऽनुकूलाः । तथाहि षष्ठेऽध्याये मनुः "एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः २९ ॥ अत्र "औपनिषदीः श्रुतीः" इत्युक्त्या उपनिषदां श्रुतिशब्दवाच्यत्वं, श्रुतिशब्दस्य च वेदाम्नायपदपर्य्यायत्वम् । यथाह मनुरेव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" । इति ततश्च यद्युपनिषदः श्रुतय इत्यभिमेने व्यवजहार च मनुस्तर्हि ब्राह्मणानां वेदभाव आवश्यकः ।

यतो ब्राह्मणानामेव तु शेषभूता उपनिषदः। अत एव तु ता वेदान्त इत्यभिधीयन्ते। अत एव "दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः। वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः" म० अ० ६ श्लो० ९४। इत्यादिमानवशास्त्रे वेदान्तपदेनोपनिषदां परिग्रहः। नचैकाम् ईशावास्योपनिषदमपहायाऽपराः सर्वा अप्युपनिषदो ब्राह्मणान्तर्गता आर्ष्यो न वेदरूपाः। किन्तु ऋषिभिः प्राणायिषत। ईशावास्योपनिषत्तु शुक्लयजुःसंहितान्तर्गता तदीयाऽध्यायेषु चत्वारिंशत्तमस्वरूपेति तामेवैकां वेदरूपां मन्ये। तत्तात्पर्य्येणैव तु मनोरुपनिषत्सु श्रुतिवेदादिपदव्यवहार इति वाच्यम्। तथा सति "विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इति मानवे बहुवचनाऽसङ्गतेः। तदुपनिषच्छ्रुत्यन्तर्गतबहुत्वतात्पर्य्येण कथञ्चिद् बहुवचनसमर्थनसम्भवेपि "विविधा" इति तद्विशेषणं कथमपि नाऽनुकूलयितुमर्हति, तथा सति "अनेकाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इत्येवोक्तं स्यादिति। एतेन एकामीशावास्योपनिषदमपहायाऽपरा उपनिषदो न वैदिक्यः किन्तु आर्ष्य इति पुण्यजनस्याऽमुष्य कपटकाषायस्य वचः परं हसनीयमेव विदुषाम्। किञ्च। तथा सति व्याससूत्रेषु सर्वत्र विषयवाक्यभूता उपनिषद एवेति तत्तात्पर्य्येण व्यासस्य "श्रुतेः" "शब्दात्" इत्यसकृत्तथाऽभिधानमसङ्गतं स्यादिति पूर्वमवोचामैव "यथा ऋषीणां नामोल्लेखपूर्वका इतिहासा ब्राह्मणेषु वर्तन्ते नैवं संहितासु तस्माद्ब्राह्मणानि न वेदाः" इत्येतद्भ्रमनिराकरणं तु प्रकीर्णके प्रपञ्चयिष्यते इति सर्वं चतुरस्रमवदातं च॥

व्यासोऽथ जैमिनिर्नाम कणादो गोतमस्तथा। वात्स्यायनस्तथापस्तम्बश्च कात्यायनो मुनिः॥ पतञ्जलिः पाणिनिश्चेत्येवमाद्या महर्षयः। प्राहुःस्म ब्राह्मणग्रन्थान्वेदं मन्त्रानिव स्फुटम्॥

इत्यनभिज्ञजनमहामोहविद्रावणे श्रीमोहनलालप्रणीते ब्रा-

ह्मणानां वेदत्वव्यवस्थापनं नाम प्रथमः प्रबोधः ॥ १ ॥

(तुल० श०) इदं प्रायश आर्यसिद्धान्तचतुर्थभागाऽवधि समाहितं यद्—व्याख्यानव्याख्येययोः सहचारसम्बन्धेन कथञ्चित्कात्यायनेनाऽन्येन वा यदि वेदव्याख्यानानां ब्राह्मणानामपि पारिभाषिकं वेदत्वमुक्तं न ह्येतेन तेषां मूलवेदत्वं सिद्ध्यति तेषां व्याख्यानत्वस्यासकृत्साधितत्वात् । ब्राह्मणानां वेदभावे पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात् इतिहेतुस्तु पूर्वोक्तरीतीनां प्रत्याख्याने प्रत्युक्त एव तदत्रालं बहुना पुनरुक्तेन । यच्च " प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते " इत्यादिवात्स्यायनवचसा ब्राह्मणानां स्वतः प्रामाण्यं साध्यते तत्तु अन्यदुक्तमन्यद्दान्तमिवैवाभाति—लोके हि परंपरातः प्रायः प्रामाण्यप्रतीतेः—पूर्वोक्तवात्स्यायनभाष्ये एतावदेव विवक्षितं भवति यत्पुराणेतिहासानां ब्राह्मणमूलकत्वात् परतःप्रामाण्यं मन्तव्यमिति । यथा च पुराणस्य विषयो हि " सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ॥ वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणं " मित्यादिको ब्राह्मणमूलकत्वात्परतः प्रामाण्यमर्हति । तथैव ब्राह्मणानां विषयो यज्ञोऽपि मन्त्रमूलकत्वात्परतःप्रामाण्यमर्हतीति वात्स्यायनाशय ऊह्यः । नहि ब्राह्मणानां सर्वथाऽप्रामाण्यं स्वामिभिः प्रत्यपादि अपितु वेदमूलकत्वाद्वेदानुकूलस्य प्रामाण्यमितरस्याऽप्रामाण्यमित्येव तदीयोक्तीनां सारः । अन्यच्च—पुराणेतिहासप्रतिपादितानां पुरावृत्तानां ब्राह्मणमूलकत्वे स्वीकृते तत्रांशे ब्राह्मणानां पुराणत्वमपि भवदुद्धृतवात्स्यायनवचसैव निष्पन्नं । यद्धि पुराणेतिहाससंज्ञकत्वादितिहेतुमुपन्यस्यद्भिर्दयादिस्वामिभिः पूर्वमभिहितम् । तदित्थं ब्राह्मणानां स्वतःप्रामाण्यसाधनाय प्रवृत्तास्तेषां पुराणत्वमेकांशे स्वीकुर्वन्तः प्रत्युक्ता भवन्ति महा० कर्त्तारः ॥

"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादि तमसूत्रेषु श्रुत्यादिपदै-

रुपनिषदो विवक्षिता इत्यपि नियमो नावगम्यते । सम्भवति यत्-शङ्करप्रभृतयो वेदान्तसूत्रव्याख्यातारो हि श्रुतिपदेनोपनिषज्जिघृक्षावश एवैतस्या भ्रान्तेर्मूलभूता अभूवन्निति । यथाहि "मन्त्रवर्णाच्च" वे० सू० ४४ अ० २ पा० ३ एतद्भाष्ये "तावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि " इति शाङ्करमुदाहरणम् । वस्तुतस्तु " एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । यजुः अ० ३१ मं० ३ " एवं यथार्थः संहितापाठः शक्यत उदाहर्त्तुम्-"अपिच स्मर्यते"। वे० सू० ४५ अ० २ पा० ३ इत्येतद्भाष्येपि शङ्कराचार्येण "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति स्मृतावुदाहर्त्तव्यायां गीतोदाहृता नच गीतायाः स्मृतिषु मन्वादिषु परिगणनं केनापि लोके मन्यते। किञ्च श्रुतिस्मृतिशब्दपदानां सामान्यं यौगिकार्थमादाय श्रवणार्थसामान्येनोपनिषदां, स्मरणार्थसामान्येन च गीताया उदाहरणानि श्रुतिस्मृतिवाक्यत्वेनोपन्यस्तानि। भगवद्गीतायां च-प्रत्यध्यायान्ते "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" इति पाठो दृश्यते किमेतेन कश्चिदप्यप्रमत्तः श्रीमद्भगवद्गीतामुपनिषदं मंस्यते ? न कोपि। किन्तूपनिषदां सारसङ्ग्रहाद्यथा गीताया उपनिषत्त्वं प्रचरितमासील्लोके तथैव वेदार्थव्याख्यानानां ब्राह्मणानामपि श्रुतिशब्दाम्नायादिपदैः प्रचरितो व्यवहारो नहि तेषां वास्तविकं मूलवेदत्वमपौरुषेयत्वं च साधयति। एतेनैव "मन्त्रायुर्वे०" गोत० "तद्वचनादा०" काणादं च सूत्रद्वयमपि न तत्पक्षपोषकमित्यप्यायातम् । तदित्थं व्याससूत्रादौ कथञ्चिच्छ्रुतिशब्दाम्नायादिपदैः सत्यपि उपनिषद्ग्रहणे दुर्जनतोषन्यायेन स्वीकृते, श्रवणसामान्यार्थमादाय तथातथाऽङ्गीकृतत्वेपि न वस्तुतो ब्राह्मणानां मूलवेदत्वम्। "शेषे ब्राह्मणशब्दः मी० २।१।३३ शेषः परार्थत्वात् । मी० अ० ३ पा० १ सू० २"

इत्यादिप्रमाणशतैर्ब्राह्मणानां परार्थत्वात् कोर्थः वेदार्थव्याख्याना-र्थत्वादवेदत्वं वेदव्याख्यानत्वं च सिध्यति ॥

उपसंहारे च—यथा ऋषीणां नामोल्लेखपूर्वका इतिहासा ब्राह्मणेषु वर्त्तन्ते नैवं संहितासु अतो न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञेति दयादिस्वामिकृततर्कस्य तु "प्रकीर्णके प्रपञ्चयिष्यते" इत्यनुत्तर-मेवोत्तरं कृत्वा नाद्यावधि प्रकीर्णकोसौ प्रकाशितः । प्रकाशिते च तस्मिन्नितोऽपि खण्डयिष्यते वेदादिसिद्धान्तविरुद्धोंश इति शम् ।

मन्त्रब्राह्मणभेदो यो दयादिस्वामिदर्शितः ॥
स एव साधितोऽस्त्यत्र, खण्डयित्वा तदुक्तयरीन् ॥ १ ॥

यश्चास्यापरः प्रबोधोबोधरूपः स तु तद्गतविषयस्य वर्णव्यव-स्थापनस्याऽसकृदार्यसिद्धान्ते सुव्यक्तमुक्तत्वात् प्रत्युक्त एवेति न पुनः प्रत्युच्यते—इत्थं प्रत्युक्तोऽयं महामोहविद्रावणः ॥

(महामो० का भाषा संक्षिप्तार्थ—)

और जो यह धर्मध्वजी (दयान०) कहता है कि "कात्यायन ने वेदों का सहचारी होने से सहचारोपाधि मान कर ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा उस कात्यायन ने नहीं कहा और कात्यायन के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने वेदसंज्ञा में ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया इत्यादि" सो यह इस का आकाश में थूकना सा है । किस वैदिक ने कहा है कि सहचारोपाधि मानकर कात्यायन ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी है ? ॥

और जो यह अनालोचितशास्त्र, और जिसने गुरुकुल में वास नहीं किया ऐसा (दया०) कहता है कि "अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया" सो इस की हँसी का स्थान है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से ब्राह्मणों का वेद होना सर्वऋषिसम्मत है । और जो यह कपटकाषाय कहता है कि "क्यों जी ! ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के तुल्य प्रमाण मानना उचित है वा नहीं ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि ब्राह्मण ईश्वरोक्त नहीं हैं इसलिये जहां तक वेदों के अनुकूल हों वहां तक ही परतःप्रमाण इन का भी मानना चाहिये" सो यह बात सर्वशास्त्रविपरीत है । क्योंकि मन्त्रसंहिता के समान ब्राह्मणों का प्रामाणिक होना बारंबार सिद्ध कर चुके हैं । अतएव पुराणों की प्रामाणिकता स्थापन के प्रसङ्ग से वात्स्यायन ने कहा है कि "ब्राह्मणों के प्रामाण्य से इतिहास पुराण भी मानने योग्य हैं" सो यदि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण न होते तो पुराण इतिहास आदि की उन से प्रामा-णिकता कैसे होती ? क्योंकि जो स्वयं प्रामाणिक नहीं वह दूसरे के प्रमाण में

आधार कैसे हो सक्ता है ?। इसलिये श्रुति, वेद, शब्द, आम्नाय, निगम पदों से मन्त्र से लेकर उपनिषत्पर्य्यन्त ग्रन्थों का ग्रहण है ॥

और इसी लिये जहां २ उपनिषद् अभिप्रेत हुईं वहां २ व्यासजी ने वेदान्त के ४ अध्यायों में अनेक स्थलों पर "श्रुति" पद और "शब्द" पद का उच्चारण किया है जैसा कि—"श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्"इत्यादि अनेक सूत्रों में (श्रुति) वा (शब्द) पद कहा है। और इसी लिये कणाद ने दशाध्यायी के अन्त में "तद्वचनादाम्ना०" इस सूत्र में "आम्नाय" पद से वेद की प्रमाणता दिखायी है। यहां आम्नाय पद संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है। और गोतमसूत्र "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च०" में भी "तत्" शब्द से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का बोध होना पूर्व वर्णन कर ही चुके हैं। मन्वादि स्मृति कार भी इस विषय में अनुकूल हैं—मनु अ० ६ श्लोक २९ में "औपनिषदीःश्रुतीः" ऐसा उपनिषदों को श्रुतिपदवाच्य मानते हैं। जब श्रुतिपद से उपनिषद् ली गईं तो ब्राह्मणों का वेद होना आवश्यक है क्योंकि ब्राह्मणों का शेष ही तो उपनिषद् हैं और इसी लिये वह वेदान्त कहाती हैं। मनु अ० ६ श्लोक ९४ में कहते हैं कि "विधिपूर्वक वेदान्त को सुनकर संन्यास लेवे" यहां वेदान्त शब्द से उपनिषदों का ग्रहण है यदि कहो कि यजुर्वेद के ४० वें अध्यायरूप ईशोपनिषद् का ही यहां ग्रहण है सो भी ठीक नहीं क्योंकि वहां "विविधाः" ऐसा बहुवचन है जिस से अनेक प्रकार की उपनिषद्अभिप्रेत हैं—यदि ईशोपनिषद् के अन्तर्गत अनेक श्रुतियां विवक्षित होतीं तो "विविधाः" के स्थान में "अनेकाः" ऐसा पाठ होता और व्यास सूत्रों में अनेक जगह जो "श्रुतेः" "शब्दात्" ऐसे पदों से उपनिषदों का ग्रहण है सो असङ्गत हो जावे यह पूर्व ही कह चुके हैं। "जैसे ऋषियों के नामलेखपूर्वक इतिहास ब्राह्मणों में हैं वैसे संहिताओं में नहीं इस से ब्राह्मण वेद नहीं" इस भ्रम की निवृत्ति प्रकीर्णक में करें गे इत्यादि। यह महामोहविद्रावण का १ प्रबोध समाप्त हुआ ॥ १ ॥

(भाषा में उत्तर) जब कि "सहचारोपाधि मानकर कात्यायन ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी" ऐसा स्वामी जी ने नहीं माना क्योंकि स्वामी जी ने तो इस पक्ष का भी खण्डन किया है और कहा है कि "कात्यायन ने ऐसा नहीं कहा और अन्य ऋषियों ने भी ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया" तो फिर जिस पक्ष को वादी पूर्वपक्ष करके स्वयं खण्डन करता है उस का प्रतिवाद करना व्यर्थ नहीं तो क्या है।

और कि "ब्राह्मणों का वेद होना सर्वऋषिसम्मत है यह पूर्वोक्त रीति से सिद्ध कर चुके हैं" यह कहना इस लिये उत्तर देने के योग्य नहीं कि जैसा आप सिद्ध कर चुके हैं वैसा आर्यसिद्धान्त में पूर्वोक्त रीति से खण्डन कर चुके हैं इस लिये फिर पुनरुक्ति अनावश्यक है ॥

"और ब्राह्मणों का मन्त्र के तुल्य प्रामाणिक होना वारम्बार सिद्ध कर चुके हैं इन का परतः प्रमाण कहना सर्वशास्त्रविरुद्ध है। वात्स्यायनने पुराणों को ब्राह्मण-मूलक होने से प्रमाणता मानी है" इस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण परतः प्रमाण न हो कर स्वतः प्रमाण हैं--क्योंकि उत्पत्ति, प्रलय, वंशावली, मन्वन्तर, वंशावली का चरित्र ये ५ वर्णन पुराण इतिहास में होते हैं सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों से पुराणों में आई हैं इस लिये वात्स्यायन कहते हैं कि "ब्राह्मण के प्रामाणिक होने से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये" तौ इस अंश में ब्राह्मणग्रन्थों का पुराणपन तौ अवश्य सिद्ध हुआ जैसा कि स्वामी जी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है। बस जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशानुचरितादि लिया गया अतः पुराणों को ब्राह्मणाधीन प्रामाण्य रहा। वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया अतः ब्राह्मणों का संहिताधीन प्रामाण्य सिद्ध हुवा। यही स्वामी जी मानते हैं। रहा यह कि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण न होते तो पुराणों की प्रमाणता में आधार कैसे होते ? यह नियम नहीं कि जो स्वतः प्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में आधार हो। हम देखते हैं कि हम किसी वस्तु के प्रमाण के लिये एक तोले भर का बाट बनाते और उस से दूसरी, दूसरी से तीसरी उस से चौथी आदि वस्तु की प्रमाणता परम्परा से आगे २ चलती जा-यगी। परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की प्रमाणता का स्वीकार करते हैं यदि वह अपने आधार से प्रतिकूल हो तौ प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार ब्राह्मणों के विरुद्ध इतिहास जिस प्रकार अमान्य है इसी प्रकार वेद संहिताओं के विरुद्धांश में ब्राह्मण भी अमान्य रहें गे ॥

और आगे जो व्यास सूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए 'श्रुति' 'शब्द' पदों से और वैसे ही मनुस्मृति में आये 'श्रुति' शब्द से भी यह अभिप्राय निकालते हैं कि यहां श्रुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद्वाक्य ही टीकाकारों ने लिखे हैं इस से व्यासादि के मतानुसार ब्राह्मण उपनिषद् पर्य्यन्त सब वेद है। सो प्रथम तौ यह सम्भव है कि--व्यासादि को श्रुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों और शङ्कराचार्य्यादि टीकाकार ही इस भ्रान्ति के कारण हो गये हों कि जैसे उन्होंने--

"मन्त्रवर्णाच्च" इस वेदान्त सूत्र पर "तावानस्य महि०" इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के "एतावानस्य महि०" इत्यादि मन्त्र का उदाहरण दे सक्ते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सक्ते कि व्यासादि को श्रुति आदि पदों से उपनिषद् ही विवक्षित हैं। फिर अगले सूत्र :--

"अपि च स्मर्य्यते" पर भी शङ्कर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि "ममैवांशो जीव०" इत्यादि तौ क्या गीता को कोई मन्वादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सक्ता है वा मानता है ?--अभिप्राय यह है कि श्रुति आदि का योगरूढ़ और मुख्य अर्थ तौ मन्त्रसंहिता ही है परन्तु श्रवणसामान्यार्थ को

लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोगों ने श्रुति कहा—जैसा शङ्कर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्धृत किया। तौ जिस प्रकार गीता मुख्य कर स्मृतिपद का वाच्य नहीं परन्तु स्मरणार्थसामान्य से ली गई इसी शब्दप्रमाणसामान्यान्तर्गत श्रवणार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण प्रकार शङ्कराचार्य्यादि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं—यूं तो गीता के प्रति अध्याय के अन्त में "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है तौ क्या इस से "गीता" उपनिषद् हो जायगी? कदापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का सार ग्रहण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन किया गया है इसलिये गौणभाव से उस में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वेदों का व्याख्यान होने के कारण वा वेदाशय की स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौणभाव से श्रुति पद आदि से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। इसी से गौतमसूत्र के "तत्" शब्द से और कणाद सूत्र के "आम्नाय" शब्द से जो उपनिषदादि का ग्रहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर होगया। और मनु के उपनिषद् सम्बन्धी श्रुति पद का भी उत्तर इसी में आगया। रहा यह कि "उपनिषद् वेद का अन्त भाग ब्राह्मणों का शेष रूप हैं इसीलिये इन को वेदान्त कहते हैं"। यह भी अयुक्त है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तौ तुम्हारे मत में भी तुम्हारे मुख से स्वीकार किये हुवे व्यासरचित सूत्रों को भी तौ वेदान्त कहते हैं क्या वह भी वेद ही समझा जायगा? कह दो कि हां, (अनन्ता वै वेदाः) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद हैं!!! और यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वामी जी का यह मत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है किन्तु दश उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वामी जी भी वेदान्त मानते थे—तब वैसा मानकर लिखना व्यर्थ है। यथार्थ में वेदान्त पद का अर्थ यह है कि (वेद का अन्त्य भाग नहीं) किन्तु वेद का अन्त—अन्तिम—मुख्य तात्पर्य्य ब्रह्मप्रतिपादन है इसी विषय का प्रतिपादन जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त ग्रन्थ कहावेंगे चाहे उपनिषद् हों चाहे सूत्र हों चाहे अन्य कोई वेदानुकूल इस विषय का ग्रन्थ हो। अन्त में जो यह प्रतिज्ञा की है कि "जैसे ऋषियों के इतिहास ब्राह्मणों में हैं वैसे संहिता में नहीं इस लिये संहिता वेद हैं ब्राह्मण नहीं, इस का उत्तर प्रकीर्णक में देंगे" सो अभी प्रकीर्णक नहीं छपा अत एव छपने पर (यदि प्रतिवादी छपायेंगे तौ) हम उस का भी उत्तर देंगे—यह महामोह० के १ प्रथम प्रबोध का खण्डन समाप्त हुवा ॥

द्वितीय प्रबोध वर्णव्यवस्था पर है उस के पृथक् उत्तर की इसलिये आवश्यकता नहीं रही कि प्रथम आर्यसिद्धान्त में इस विषय का पूर्ण आन्दोलन हुवा है जिस से कोई पक्ष इस में उत्तर देने योग्य प्रतीत नहीं होता। इति ॥

१०१ श्री मूलचन्द जी खैरागढ़ २।)
६७९ श्री लक्ष्मणदूला जी किरांची २॥)
८४७ श्री सहदेवप्रसाद जी कानपुर २॥)
८५५ श्री कर्णसिंह हवेली योधपुर २॥)
७६९ पं० आसाराम शर्मा गोतराव घाणेराव पूर्वस्थान पाली योधपुर ॥)॥
१०९४ पं० चन्द्रधर बाजपेयी श्रीहट १।)
१०७ श्री हरिगोविन्द गिरि० बड़ोदा १।)
४११ चौधरी अनूपसिंह जी नहटौर २॥)
१०५९ श्रीचन्दनसिंह लोहाई मथुरा २॥)
७२१ श्री बधावामल जी हांसी २॥≡)
४७० श्रीहनुमानप्रसाद जी लखनऊ १।)
८२४ श्री मेघवर्ण सिंह जी रायबरेली १।)
३०८ श्री गौरीशङ्कर सहाय जी लखनऊ २)
७८ श्रीमन्त्री जी आ० स० लखनऊ २॥)
१०८० श्रीमन्त्री आ०स०सिटी लखनऊ १।)
५४७ डाक्टर इन्द्रमणिजी लखनऊ १॥।)
८९५ श्रीगोकुलप्रसादजी तिवारी धारूर१।)
५०४ श्री नन्दनसिंह उपाध्याय बेरी २॥)
१०९५ बाबू मनमोहनलाल जी रांची १।)
२०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)
२२० श्री सेठ वेल जी लखमसी मुम्बई१।)
२४९ श्री रामचैतन्यब्रह्मचारी मुम्बई १।)
७१० श्री जगन्नाथ शर्मा मुम्बई १।)
७११ श्री प्रयागदत्त जी मुम्बई १।)
७०१ श्री कर्त्ताराम जी करनाल १।)
१०९७ श्री दुलारेराम भदौसी ठठिया १।)
१०९८ प० बद्रीदत्त वैद्य काशगंज =)॥
९९६ श्री गयाप्रसाद जी बिहारीपुर २॥)
९१७ श्री माधवप्रसाद जी खैरीगढ़ १।)
६३८ कन्हैया लाल जी औरैया २॥)
२५६ श्री परमात्मादीन पुरवा उन्नाव २॥)
६४७ श्री पं० लालचन्द्र जी योधपुर २॥)
३२७ श्री [illegible] जी [illegible] ५)

१०९८ पं० बुलाकीराम जी अमृतसर १।)
७५३ बाबू दीवानचन्द जी नाहन १।)
३९८ श्री जातीराम रावलपिण्डी २॥)
६४९ दीक्षित लक्ष्मीनारायण भिण्ड २॥)
७८३ श्री गदाधर सिंह मथुरापुर २॥)
७६४ श्री गणेशप्रसाद पटनहनखेरा २॥)
१०७० श्री पं० रामपदार्थ शर्म्मा सरैया १।)
३५० चौधरी पद्म सिंह इटावा २॥)
४१ श्री मेवालाल जी प्रयाग १)
१८० बा० गिरधारी लाल जी झांसी २॥)
१९३ बा० सनूलाल जी गुप्त अनूपशहर२॥)
४४५ बा० धरणीधर दास जी बरेली ३॥।)
८३६ श्री लालसिंह आ०स०देहरादून १।)
१६२ श्री सूर्यकुमार जी पु० कानपुर २॥)
१७८ श्री प्रतापसिंह जी काठगुदाम २॥)
५१४ डाक्टरबिहारीलाल इन्दौर २॥)
४४१ ठा० जगन्नाथ सिंह जी चित्तौरगढ़ ५)
८० पं० रामनारायण जी रावतपुर २॥)
११५ पं० कमलनयन आ०स०अजमेर २॥)
१२ मुं० पद्मचन्द जी अजमेर २॥)
४०८ बा० गिरधारीलाल जी गढीदोबा३॥।)
१०९९ बा० गिरधारीलाल जी ,, १।)

धर्मार्थप्राप्ति धन्यवादपूर्वकस्वीकृत

बाबू मनमोहन लाल जी रांची मनुस्मृतिभाष्य की सहायता में २०)
बा० राजाराम यमुनाप्रसाद, जी बलसार की भगिनी ललिता ने दिया १)
[illegible] तेवारी कुन्दोली १)

मूल्य घटाया हुआ ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) अवधि ।॥) की बीत गई १) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है। ईश ≡) केन ।) कठ ।॥) प्रश्न ॥=) मुण्डक ।॥) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ।॥) ये ७ उपनिषद् सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक वार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्यसिद्धान्त १२ अङ्क का ३॥।) स्वर्गमेंसब्जेक्टकमेटी ≡) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूलसूत्रपाठ ≡) कुमारी भूषण -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम चौथीवार छपा)॥। द्वितीय पुस्तक -)। तृतीय फिर से छपा ≡) नवरत्नभूषण =) गणितारम्भ -)॥ विदुरनीति मूल =) जीवसान्तविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ पाखण्डमतकुठार =) जीवनयात्रा ≢) किरानीलीला—वेश्यालीला)॥ नीतिसार -)॥ हिन्दीका प्र० पु० -) द्वितीयपुस्तक ≡) शास्त्रार्थखुर्जा -) शास्त्रार्थकिराणा =) भजन पुस्तकें—भजनामृतसरोवर =)॥ सत्यसंगीत)। उपदेशभजनावली)। सदुपदेश)। भजनेन्दु -) वनिताविनोद =) संगीतरत्नाकर =) नारीसुदशाप्रवर्त्तक ४ भाग १) सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग ।॥)

सत्यार्थप्रकाश २) भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्य्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त १) करपल्लवी -) इशारों से वातचीत करने की विधि है। वेश्यानाटक उर्दू =)॥ व्याख्यानसागर ।-) बुद्धिवती (स्त्रियों को) ।) प्रबन्धार्कोदय ।-)

आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार अच्छे कागज़ पर । वा निकृष्ट कागज़ पर =)॥। सैकड़ा १॥।) हज़ार। व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा =), डांक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा ॥

भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ५। ६

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित हो कर
पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

१७ नवम्बर सन् १८९५ ई०

मूल्य प्राप्तिस्वीकार ॥

ता० १२ जुलाई सन् ९५ से १२ अगस्त ९५ तक ॥

८१ पं० हनुमान जी विगहपुर २॥)
१२० बा० अयोध्याप्रसाद जी हरदोई २॥)
१६० ला० ठाकुरदास जी होशियारपुर २॥)
१७५ बा० हीरालाल जी बांदीकुई २॥)
१३२ बा० गण्डामल्ल जी अमृतसर १।)
११४ लाला जी शिवप्रसाद मुम्बई २॥)
२९० श्री द्वारकाप्रसाद जी गाजीपुर १।)
६३७ ला० रामचन्द्र जी होशियारपुर २॥)
७०६ श्री पं० धर्मचन्द जी अमृतसर २॥)
१२१ प० प्रेमनाथ जी शाहपुर पंजाब २॥)
६६३ बा० हरगोविन्दप्रसाद जी राठ हवेली फैजाबाद २॥)
११९ ला० रामशरण जी शिमला २॥)
६६७ श्री मन्नीलाल रघूभाई जी भावनगर २॥)
६६८ श्री मूलजीप्रभूदास भावनगर २॥)
६६७ श्री अभयराजसिंह पकरैला १।)
४४२ श्री कृष्णलाल साह अलमोड़ा २॥)
२० बा० भवानीदीन जी बहरायच २॥)
९४ श्री हरिराम जी बिलाईगढ़ १।)
६८ श्री नानाभाई दयाशंकर व्यास अहमदाबाद २॥)
७४ श्री हकीम रेवतीवल्लभ जी अनूपशहर २॥)
५५ श्री गुलाबचन्दलाल दातापुर २॥)
६० श्री मन्त्री जी आ०स० मिर्जापुर २॥)
३३ प० गिरधारीलाल जी नागपुर २॥)
४२ श्री भगवानदीन वैश्य मंधना २)
१४ श्री सखाराम जी मचान १।॥)
५३ ला० जगन्नाथ जी कामठी २॥)
०४ बा० चिम्मनलाल जी तिलहर २॥)
९२ श्रीयुत मंत्री जी आ०स० मुलतान २॥)
२०७ श्री रामदीन जी वैश्य महेशपुरा १।)
८४२ बा० दुर्गाप्रसाद जी अहार १।)
८२७ श्री हीरालाल म० भरूच १।)
३९५ डा० गोपालदास जी अलवर १।)॥
९२८ श्री कुंदनलाल जी दिल्ली १-)
५८६ बा० हरनामसिंह जी थानो २॥)
१५६ त्रिभुवनदास भूलाभाई तलाजा २॥)
४९० बा० रामचन्द्र जी क्वैटा २॥)
७१६ पं० रामकरण ओझा परौना २॥)
५४ श्री शिवराव मंगेश जी मजेश्वर ।=)
४७९ श्री गणपतिसिंह जी उज्जैन ३॥।)
७५७ श्री गोहरसिंह शालाबाग क्वैटा २॥)
५५८ श्री खूबचन्द जी हैदराबाद सिंध १।)
६०९ बा० कुंजबिहारीलाल अमरावती २॥)
५८५ बा० गुलाबराय जी झांसी ३॥।)
७३९ श्रीमान् राजा बलभद्रसिंह जी झालावाड़ झालरापाटन २॥)
५६६ बा० माधवराव जी छिंदवारा १।)
९३३ श्री महावीरप्रसाद मुजफ्फरपुर १।)
६१७ पं० रामप्रसाद जी गंडोला ॥।)
६११ श्री गोविन्दसिंह जी लिंगसगूर २॥)
९४६ पं० गंगाराम जी डलमऊ २)॥।
११०१ श्री विष्णुदत्त जी कलकत्ता ॥=)
११०३ श्री नारायणदास जी मोहपनी ॥=)
११६ श्री जेठमल जी सोढा अजमेर २॥)
११०२ श्री राजा पाटेश्वरी प्रतापनारायणसिंह जी बस्ती १।)
११०४ पं० गंगासेवक तिवारी कुंदौली १।)
११०५ बा० कृष्णदासहरी मुम्बई १।)
४५१ पं० मुरलीधर अलखधारी चीचली २॥)
५६८ श्री ख्यालीराम जी झुन्झरी १।)
५८९ श्री साईंदास जी लाहौर १॥।=)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ५ । ६

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क ३ । ४ के पृ० ५६ से आगे त्रयीविद्या–

नहीं उन का नाम "अङ्गिरसः, वा–अथर्वाणः" है उन्हीं के व्याख्यान से चौथे वेद का नाम अथर्व हुआ । और जैसे पूर्ण घड़ा का जल नहीं उछलता वैसे जिस में त्रयीविद्या पूर्ण हो वह अचलता वा गम्भीरता का हेतु होता इसी कारण जिस में त्रयीविद्या का समन्वय हुआ वह सन्देहों वा चञ्चलता का निवर्त्तक होने से शब्दार्थ के अनुकूल अथर्वपदवाच्य हुआ । अर्थात् वेद में आने वाले अथर्वपद का वा जो वेद पुस्तक का नाम अथर्व है उस का एक अर्थ अग्नि आदि पदों के समान वेद के सिद्धान्त से ही नियत है और वह सामान्य विशेष रूप से सर्वत्र व्याप्त जानना चाहिये। अर्थात् अथर्वपद का जो कुछ अर्थ पूर्व लिखा गया वा जो वेदाशय के अनुकूल ब्राह्मणादि पुस्तकों में मिल सकता है [जैसे गोपथब्राह्मण के प्रथमप्रपाठक ४ ब्राह्मण में लिखा है कि–"तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम्" किसी परमेश्वरादि पदार्थ को यथावत् जानने वा किसी कार्य को सिद्ध करने अथवा अनेक कार्यों की सिद्धि के लिये जो २ विद्या के प्रकार वा उपाय नियत किये जांय उन सब के होने पर भी किन्हीं वस्तुओं का ज्ञान वा किन्हीं कार्यों की सिद्धि न हो तो उन के लिये कोई भिन्न प्रकार वा उपाय नियत किया जाता है । लोक में भी यही चाल है कि जैसे हिसाब आदि के लिये आय वा व्ययादि की बहुत शोच समझ के अच्छे २ विचारशील कई मध्यें नियत करते हैं तथापि कोई २ आय वा व्यय ऐसा होता है जो उन में से किसी मध्य में नहीं आता और आता भी है तो उस के कई २ भिन्न २ अंश कई मध्यों से सम्बन्ध रखते हैं किसी एक के साथ सर्वांश

सम्बन्ध नहीं लगता इस कारण ऐसे मध्यों के लिये एक फुटकर के नाम से वा अन्य मिश्रितादि यथोचित नाम से एक नया प्रकार नियत करने पड़ता है जिस में उस प्रकार के सभी अंशों का समावेश होजाता है जो नियत विभागों में न आ सकते हों। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक किसी कर्त्तव्य के लिये जितने नियम भिन्न २ नियत किये जा सकते हैं उन से भिन्न एक सामान्य नियम भी अवश्य रखने पड़ता है जो अनेकों से मिश्रित हो और किसी एक में उस का समावेश न हो सके इस कारण उस को सब से अलग भी मानने पड़े। इसी प्रकार वेदाशय के अनुसार प्रायः तीन २ भागों में विभाग किये हुए सब तीन द्रव्य गुण और कर्मों को जानने वा उन के ज्ञान से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का त्याग करने के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वेदनामक विद्या के तीन भाग किये अर्थात् त्रयीविद्या नियत की तीन प्रकार के ज्ञेयविषय उस में नियत किये तब कुछ विषय वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य ऐसे शेष रह गये जो उन में से किसी एक में न आ सके जिन के लिये चौथा वेद बनाया। इसी से गोपथब्राह्मण का यह कथन बनता है कि [त्रयीविद्यासम्बन्धी नियत किये सब प्रकारों में से किसी के द्वारा अर्थ जो ज्ञातव्यविषय न जाना जाय जिस का सम्बन्ध किसी के साथ प्रतीत न हो (एनम्) उस को (अथ) त्रयीविद्या देखने के अनन्तर (अर्वाङ्) उन सब से उलटी ओर उन्हीं हृदयावकाशों वा अन्तरिक्षस्थानदेवताओं की सन्धियों में खोजो। इस प्रकार (अथ-अर्वाङ्) इन दो शब्दों को मिला कर यहां पृषोदरादि के समान अथर्व शब्द को सिद्ध किया है इस से भी पूर्व लेख के अनुसार ही आशय वा अर्थ निकलता है] उस निरतिशयार्थ को परमात्मा का वाचक और परिच्छिन्न वा अल्पव्यापक अर्थ से सृष्टि के यथोचित वाच्य विषयों वा वस्तुओं का ग्रहण होगा। और जो कुछ अथर्वपद का अर्थ होता वा हो सकता है उसी विषयक विद्या के व्याख्यान का नाम अथर्ववेद जानो।

भिन्न नियत किये कितने ही मध्यों में सर्वाभीष्ट की सिद्धि न होने पर एक मिश्रित मध्य नियत करने का जो प्रचार है यह हमारा कथन दृष्टान्त के लिये नहीं है किन्तु वास्तव में इस प्रचार का भी मूलसृष्टि के आरम्भ में अथर्व वेद हुआ कि त्रयीविद्या के भिन्न २ तीन प्रकारों में से किसी में जो विषय न आसका उस को (अर्वाङ्) उन भिन्न २ तीन से उलटी चौथी मिश्रितविद्या में रक्खा क्योंकि तीन से भिन्न चौथी कोई केवल दशा खड़ी नहीं हो सकती और जो हो सकती है उसी का नाम मिश्रित है। और वेद के पश्चात् बनने वाले ग्रन्थों में भी वेद की प्रक्रिया के अनिवार्य स्वाभाविक नियम को लेकर मिश्रित विषय लिखने का प्रचार हुआ। इस से हमारा यह प्रयोजन नहीं कि सब ही ग्रन्थों में वा सभी न्याय-व्याकरणादिविषयों में मिश्रित प्रकरण वा पुस्तक बने ही हैं किन्तु कहीं बने हों वा न हों सर्वत्र ही हो सकते हैं। जहां नहीं है वहां विशेष में सामान्य मिला-

दिया हो वा मिश्रित विषय छूट गया हो। जैसे विद्या के १४ भेद भिन्न २ नि
करें तो एक पन्द्रहवां मिश्रित भेद भी खड़ा होगा। अथवा जैसे सामान्य वि
दो पदार्थ भिन्न २ माने जाते हैं परन्तु सामान्य में विशेष और विशेष में सा
न्य सदा ही मिले रहते अर्थात् सामान्य का व्याख्यान करने वाला एक पद
भी विशेष का त्याग नहीं कर सकता और विशेष का व्याख्याता सामान्य
भी नहीं छोड़ सकता दोनों में दोनों सदा व्यापक ही बने रहते हैं ऐसा हों
पर भी सामान्य विशेष दोनों भिन्न २ माने जाते और कभी एक नहीं हो ज
क्योंकि उन में स्वाभाविक भेद है। विशेष पदार्थ का विशेष व्याख्यान करने वा
होने से छः शास्त्रों में एक वैशेषिक शास्त्र कहाता है वह सामान्य से कदापि अ
नहीं। इसी प्रकार त्रयीविद्या में तीन विशेष वा विद्या के तीन भेद नियत
और अथर्व में सामान्यत्रयीमिश्रित विद्या का विशेष व्याख्यान है तथापि अ
में त्रयीविद्या और त्रयीविद्या में सामान्य अथर्वविद्या सदा ही मिश्रित है क
भिन्न नहीं हो सकती और सामान्य विशेष के तुल्य सदा ही भिन्न है कभी ए
नहीं हो सकती। इस प्रकार सामान्यविद्या का नाम अथर्व है क्योंकि सामा
एक ही होता और विशेष अनेक होते हैं इसी से अथर्व एक और त्रयीवि
के तीन पुस्तक ऋगादिनामक वेद हैं।

अथ सामश्रमिकृत छन्दः पद का व्याख्यान-

(छन्दः) छन्दइत्यपि वेदस्यैवान्यतममतिप्राचीनं नाम
(१) छन्दःशब्देन पुरा खलु ऐशप्रबन्धानामेषां वाय्वादीनां सर्वेषा
मेव बोधो भवतिस्म। तत एवैवमाथर्वणिका आमनन्ति-"त्रीणि
छन्दांसि कवयो०-०आपो वाता ओषधयः (१८। १। २। ७)
इति। तत्र छन्दांसि बन्धनानीत्यर्थः। अत्राप्युपपद्यतएवैतन्नि
रुक्तम्-'छन्दांसि छादनात् (३ भा० ३६८ पृ०)' इति। छादन
नाम बन्धनमेव, बन्धनान्येव हीमाः*सर्वे विषयाः। तदुक्तं हि सा
ङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम्-"विषएवन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेन
रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्, विषयाः पृथिव्यादयः सु
खादयश्चास्मदादीनाम् (५ श्लो० कौ०)" इत्यादि ॥

भाषार्थः-छन्दः यह भी वेद का ही एक अति प्राचीननाम है-सब से प
हिले अतिप्राचीन समय में ईश्वरीयसृष्टि के वायु आदि सभी पदार्थों का बो

* चिन्त्यमिमाइति, विषयविशेषणे पुंस्त्वे इमे इति साधुः।

दः पद से होता था अर्थात् सभी को छन्दः कहते थे । इसी से अथर्व वेद १८। २। ७ में जल वायु और ओषधियों को तीन छन्द करके लिखा है । और छन्दःशब्द का अर्थ बन्धन ही ठीक बनता है। और इस में निरुक्तकार का कथन घट जाता है निरुक्त में छादन नाम बन्धनार्थ से छन्दःपद सिद्ध किया है । सब दृश्यमान विषयबन्धन ही हैं । सो सांख्यतत्त्वकौमुदी ग्रन्थ के ५ वें श्लोक भी कहा है कि "पृथिव्यादि वा सुखादि हम मनुष्यादि प्राणियों को बांधने से होने से विषय कहाते हैं अर्थात् विषयमात्र का नाम छन्दः है ॥

सम्पादकीयविचार—हमारी समझ में सामश्रमी जी का यह परामर्श ठीक नहीं क्योंकि सब ग्रन्थों में अन्य शब्दों के तुल्य छन्दःपद भी वेदाशय के अनुसार ही लेने पड़ेगा । अर्थात् जब संहितामात्र वेद ही थे अन्य कोई ग्रन्थ नहीं थे तब ऋषि लोगों ने जो २ ग्रन्थ बनाये उन में वेदाशय को ही लेकर व्याख्यान किया यह मानने पड़ता है । जैसे किसी ग्राम में एक ही कूपादिजलाशय हो तो वहां के मनुष्य जितना जल लेंगे वह उसी जलाशय से ले सकते हैं। तो वेद में छन्दःपद का क्या अर्थ संघटित हो सकता है यही विचारणीय है। यजुःसंहिता १५ अध्याय के ४ । ५ यजुओं में ४० चालीश वार अनेक शब्दों के साथ छन्दःपद की आवृत्ति की गयी है वहां "काव्यं छन्दः" यह भी वाक्य है उस के मूलाशय और ब्राह्मण ग्रन्थ की सम्मत्यनुसार महीधर ने भी काव्य शब्द से वेदत्रयी रूप शब्द ही लिया है क्या सामश्रमी जी वेदत्रयी को भी बन्धन रूप विषय ही मानें गे ? कदाचित् यह भी स्वीकार करलें तो "मनश्छन्दः" में मन विषयि है विषय नहीं क्योंकि मन से ही सब जाना जाता है । ज्ञेयमात्र का विषय है मन कर्तृ साधन होने से कर्तृ वा ज्ञाता कोटि में गिना जा सकता है कर्माङ्ग वा विषयाङ्ग नहीं हो सकता यदि कोई कहे कि "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" के अनुसार जैसे प्रमाण भी प्रमेय हो जाते, साधन भी साध्य हो जाते, तोलन के साधन वटखरे भी तोलनीय हो जाते, रूप देखने के साधन चक्षु भी रोगादि दशा में साध्य वा दृश्य हो जाते हैं वैसे मन भी विषय हो सकता है तो हम कहें गे कि अब तुम्ही किसी को विषयी वा ज्ञाता बताओ । यदि तुम जीवात्मा वा परमात्मादि को विषयी वा ज्ञाता कहो गे तो क्या वे विषयी से विषय न होंगे ? यदि न हों गे तो फिर मन भी न होगा। और जितने अंश में मन को विषयत्व हो सकता है उस से भी अधिकांश परमेश्वर को विषय माना गया है क्योंकि वह ज्ञेय है "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या" यहां बुद्धि विषयिणी और परमात्मा उस का ज्ञेय विषय है । तो सामश्रमी जी के कथनानुसार परमेश्वर भी एक बन्धन हुआ । यद्यपि विषयों को बन्धन हम भी मानें गे तथापि सब विषय बन्धन नहीं किन्तु इन्द्रियों के गोचर विषय बन्धन हैं । वेद के मूलाशय को ध्यान पूर्वक शोचने से छन्दः शब्द का अर्थ रक्षार्थ प्रतीत होता है ।

जैसे " कृषिश्छन्दः, हिरण्यंछन्दः, गौश्छन्दः " इत्यादि कथन के अनुसार खे
सुवर्ण और गौ आदि, अनेकों की अपेक्षा अधिक रक्षा के हेतु लोक में भी म
जाते हैं। और प्रत्यक्ष में भी कृषि आदि प्राण रक्षा के हेतु हैं। १। ३५
अथर्ववेद में हिरण्य को आयु रक्षक वर्धक स्पष्ट ही लिखा है तदनुकूल आयु
में भी सुवर्ण चूर्ण को मेधायुष्करणीय माना है। इत्यादि कारण छन्दःपद का
रक्षा का हेतु करना ही उत्तम है। इसी के अनुसार व्याकरण के आदि निम
पाणिनि आचार्य ने भी वेद के गूढाशय को समझ कर संवरण और अपवा
दो ही अर्थ छद वा छदि धातु के धातुपाठ में नियत किये हैं संवरण नाम
पना अपवारण विरोधी को हटाना वा दूर करना दोनों रीति से रक्षा हो
है। जैसे वस्त्र से शरीर को ढांपने का यही प्रयोजन है कि अनिष्ट शीत उष्ण
से रक्षित किया जाय। घर बनाने का भी यही प्रयोजन है कि गृहस्थादि
सुख साधन शरीरादि की वा अन्य वस्तुओं की यथोचित रक्षा रहे। इसी आ
को लेकर छान, छप्पर, छत्त और छाता आदि शब्द संवरणार्थ वा अपवारण
छद धातु के ही अपभ्रंश हुए हैं क्योंकि इन सब का भी यही प्रयोजन है कि अ
को हटा कर इष्ट शरीरादि की रक्षा हो " छन्दांसि छादनात् " इस निरुक्त
भी यही प्रयोजन है कि छादन नाम छान आदि के तुल्य अनिष्ट से बचाने व
होने से वेद मन्त्रों का भी छन्द नाम है। अपवारण और संवरण दोनों शब्दों
बन्धन अर्थ वा आशय कदापि नहीं हो सकता किन्तु रक्षार्थ तो स्पष्ट ही है
जैसे शीत उष्ण ओला आंधी आदि के दुःख से बचने के लिये छादन (छप्प
है वैसे कुसंस्कार कुकर्म कुवासना रूप पापों से मन और आत्मा को बचाने
लिये वेदमन्त्र हैं। छप्पर आदि से अध्यात्म दुःखों की कदापि निवृत्ति नहीं
सकती उस के लिये अनन्य साधन एक वेद ही है। जैसे छाये घर में निरन्तर र
वाले घामादि के तापादि जन्य दुःख से बचते हैं वैसे वेदरूप वृक्ष की छाया
निरन्तर बसने वाले ब्राह्मणादि भी अन्य प्रकार से अनिवार्य बड़ी २ आप
और दुःख से सदा ही बचते हैं इस आशय को लेकर वेद का छन्द नाम हु
है। यद्यपि इस अर्थ से अन्य रक्षा हेतु पदार्थों का नाम भी छन्द ठहरता
ठहरता ही क्या किन्तु वेद में खेती, सुवर्ण, गौ आदि को स्पष्ट ही छन्दः पदवा
कहा ही है तथापि रक्षा के हेतु सब पदार्थों में मुख्य वेदमन्त्र ही हैं क्योंकि
और आत्मा की वैसी रक्षा अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती जैसी
शुद्ध वेदाशय के समझ पूर्वक निरन्तर अभ्यास से हो सकती है इस कारण छन
पद का प्रधान अर्थ वेद है तथा अन्य सब वेद की अपेक्षा गौण हैं। इसी
अनुसार अथर्व वेद में कहे "आपः" आदि का नाम भी गौणार्थ से छन्द रहो
बन्धनार्थ नहीं होगा किन्तु जलादि रक्षा के हेतु होने से वेद में छन्द माने
यही सिद्धान्त ठीक रहेगा। और पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्रों में छन्दः

न्देरादेश्च छः” इस सूत्र में चन्द धातु के च् को छ आदेश करके भी सिद्ध किया ।। यहां आनन्द वा सुख के हेतु का नाम छन्द होता है सो भी पूर्वाशय के नुकूल है क्योंकि खेती आदि सुख के हेतु हैं हीं और वेद सर्वोपरि आनन्द का तु होने से भी छन्दः कहाता है। परन्तु बन्धनार्थ छन्दःशब्द न कभी था न सकता है आशा है कि विचारशील ध्यान पूर्वक शोचेंगे ॥

सामश्रमी जी—

(२) तत उत्तरं सर्वेषामपि अक्षरसमाम्नायानामर्थतस्तु स-षां येन केनापि जीवेन कृतानां शब्दानामकारादीनां छन्दः-ब्देन व्यपदेशो भवतिस्म। तत एवैवं तैत्तिरीया आमनन्ति छन्दः पुरुषइति यमवोचाम, अक्षरसमाम्नायएव, तस्यैतस्या-कारो रसः (३।२।३।४)” इति। तत्राप्युपपद्यत एवैतन्निरुक्तम्-छन्दांसि छादनात्, छादनान्येव हि शब्दा अकारादयोऽर्थानाम् ॥

भावार्थः—तदनन्तर सब आर्ष अथवा किसी सामान्य पुरुष के भी बनाये ब्दमात्र का ग्रहण छन्दःशब्द से होता था। क्योंकि तैत्तिरीय लोगों ने अपने न्थ में कहा है कि “छन्द पुरुष है कि जिस को हम अक्षरसमाम्नाय कहते हैं उस ा अकार रस है” इस के साथ भी छादनार्थ से छन्द मानना निरुक्तकार का थन घट जाता है क्योंकि अकारादि वर्ण अर्थों के ढांपने वाले वा बांधने वाले ही उन में अर्थ बद्ध रहता है ॥

सम्पादक—सामश्रमी जी का यह भी भ्रम ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि रक्षार्थ भी सब ग्रन्थों का नाम हमारे कथनानुसार हो सकता है तथापि ऐसा कभी हीं हुआ। कदाचित् तैत्तिरीयशाखा वा आरण्यक बनते समय मूलवेद से भिन्न ेद के ढर्रा के अनुसार मुख्य ब्राह्मणादि बहुत थोड़े पुस्तक बने थे जिन को अब क भी अनेक लोग वेद ही मानते हैं उन्हीं पुस्तकों में सब अक्षर समाम्नाय था वा ा कहो कि वेद भी अकारादि वर्णरूप में ही थे वा हैं इस कारण वेद का भी मूल ान कर तैत्तिरीय लोगों ने अक्षरसमाम्नायरूप वर्णमाला को छन्दः कह कर प्रशंसा ी और वर्णों में भी अकार को प्रधान वा मुख्य बतलाया तो कुछ भी अनुचित हीं है। क्योंकि महाभाष्यकार ने तो इस से भी अधिक प्रशंसा की है। यथा—

सोयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्र-तारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफला-वाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति ॥

अकारादि वर्णों से भिन्न कोई पदवाक्यादि कहीं नहीं है इन्हीं के संनिवेश विशेष से सब वेदादिग्रन्थमात्र बने हैं। अन्तरिक्ष में चन्द्र तारों के समान अकारादि वर्ण ही वेदादिशास्त्रों में सर्वत्र चमक रहे हैं। इस कारण यही अक्षर समाम्नाय वेद का ढेर है इस का ठीक ज्ञान होने में वेद से होने वाला पुण्यफल हो सकता है जैसे बीज का ठीक ज्ञान होना यही है कि वृक्ष के तत्त्व का बोध हो वैसे अकारादि जो वेद के भी मूल हैं उन का ठीक बोध होने पर वेद के तत्त्व का ज्ञान होना सम्भव है इस कारण वेदसम्बन्धी अक्षरसमाम्नाय का तत्त्वज्ञान वेद के तुल्य पुण्यफल का देने वाला है। इसी प्रकार वहां तैत्तिरीय लोगों ने भी अक्षर समाम्नाय की प्रशंसा की सो ठीक है किन्तु जब उन्हों ने यह नहीं लिखा कि अब तक अमुक २ इतने ग्रन्थ बने हैं उन सब का नाम छन्द है तो सामश्रमी जी ने यह क्यों निकाल लिया?। यह वैसा ही है कि जैसे कोई कहे कि "अग्निर्माणवकः" तो कोई प्रमाण दे कि किसी समय अग्निशब्द लड़के का भी वाचक समझा जाता था जैसे अग्नि जलादि किसी न किसी रूप से सर्वत्र सब पदार्थों में व्याप्त हैं तथापि "अग्निमानय" कहने पर पत्थर नहीं लाया जाता। यद्यपि पत्थर में अग्नि है तथापि पत्थर और अग्नि दो हैं पत्थर अग्नि नहीं। इसी प्रकार छद धातु के संवरण वा अपवारण सामान्यार्थ प्रायः सभी पदार्थों वा ग्रन्थों वा अक्षरमात्र में हैं तथापि सब छन्द नहीं होते छन्दः केवल वेद का ही नाम था और है तथा उन का छन्दःपद वाच्य वेद में जिन वस्तुओं को यौगिकार्थ से छन्द कहा है तो सर्वथा मान्य ही है। और अकारादि वर्ण अर्थों के छादन वा छप्पर नहीं हैं किन्तु वेदमूलक वा वेद के मूलरूप होने से अनिष्ट से बचाने और इष्ट के रक्षक हैं इस कारण प्रशंसा बुद्धि से वे भी छन्द माने गये। शब्दार्थ का प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध नैयायिक लोगों ने नहीं माना यदि कोई ऐसा माने तो अग्नि शब्द को मुख से बोलते ही मुख में दाह होना चाहिये सो ऐसा नहीं होता तथा जो अग्नि शब्द के वाच्यार्थ को नहीं जानता उस को सुनने बोलने से अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती इस से वर्णों को अर्थ के छादन कहना भी ठीक नहीं ॥

सामश्रमी जी–

(३) ततः पश्चात् ऋषीणां प्रबन्धेषु ऋगादित्रिविधेषु मन्त्रेष्वपि व्यवहृतं छन्दइति। ततएवैवमप्याथर्वणिका आमनन्त्युच्छिष्टसूक्ते–"अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह। उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधिसमाहिताः (११।४।१।८)" अन्यत्र च "दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन। समि-

न्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन (६ । १२ । ११ । १)" इति । तत्राप्युपपद्यतएतदेव निरुक्तम् "छन्दांसि छादनात्" छादनान्येव हि ते मन्त्रा मनोभावादीनाम्। निरुक्तारम्भेऽपि यद्भाषितम्—"छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः "(२ भा० ७ पृ०)" इत्यादि । तत्रापि मन्त्रेभ्य इत्येव तस्यार्थः तत्र हि निघण्टौ मन्त्रमात्रत एवोद्धृतानां पदानां दर्शनात् । अतएव तस्य वृत्तौ "छन्दांसि=मन्त्राः" इत्येवोक्तं दुर्गाचार्येणापि। श्रूयते चेदं तैत्तिरीयारण्यके "यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः ०—० भूर्भुवश्छन्दश्चोम् (१०।६)" इति। "यः प्रणवः छन्दसां वेदानां मध्ये ऋषभः श्रेष्ठः" इत्यादि च तद्भाष्यं सायणीयम् । तथैव छान्दोग्यब्राह्मणेपि—"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (३ । ४ । २)" इति । शतपथेऽप्येवमेव—"यदेभिरात्मानमाच्छादयन्, देवा मृत्योर्बिभ्यत, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (४ । ५ । १ । १)" इति । निघण्टुश्रुतस्य (१ भा० २०२ पृ०) कान्तिकर्मणोऽपि भवति छन्दइत्येके। तथा च सर्वएव वेदाः काम्यमानाश्चास्माकं सर्वकामपूरकाः कमनीया वा। अर्चतिकर्मण एव (१ भा० ३३४ पृ०) भवति छन्दइति केचित् । तथा च सर्वेषामेव वेदमन्त्राणामर्चायां गतिरिति छन्दस्त्वम् । अर्चनीया वा सर्ववेदा अस्माकं ततोऽपि छन्दो वेदस्त्रयीत्याद्यभिन्नार्थः । तदित्थं पुरा सर्वेषामेव वेदमन्त्राणां साधारणं नाम छन्दइत्यासीदिति तु सर्वसम्मतमेव। अतएव च निघण्टौ स्तोतृनामसु (१ भा० ३४३ पृ०) छन्दः—इति । पाणिनीयसूत्रेषु, कात्यायनीयवार्त्तिकेषु, पतञ्जलेरिष्टिषु, अन्यत्रान्यत्र चैवमादिषु ग्रन्थेषु सर्ववेदपरं छन्दोवचनं सर्ववादिसम्मतं सुप्रसिद्धं चेत्यतएव सर्वएव वैदिकाश्छान्दसाइत्यभिधीयन्तेऽपीति ॥

भावार्थ—तत् पश्चात् ऋषि लोगों के प्रबन्ध ऋगादि तीन प्रकार के मन्त्रों के अर्थ में भी छन्दः पद का व्यवहार हुआ अर्थात् ऋगादि नामक वेदमन्त्रों को भी पीछे छन्द कहने लगे। सो वैसा अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त में कहा भी है कि "अग्न्याधेय दीक्षादि कर्म छन्दोनामक मन्त्रों सहित उच्छिष्ट में ही धरे हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक स्थलों में छन्दः पद से वेदमन्त्रों का ग्रहण इष्ट है। यहां भी छादनार्थ से छन्द मानना निरुक्तकार का विचार संघटित है क्योंकि वेदमन्त्र मन की भावनादि के छादन हैं ही। तथा निरुक्त के आरम्भ में जो लिखा है कि छन्दों से ले २ कर निघण्टु में पदों का संग्रह किया है वहां भी छन्दः पद से मन्त्रों का ही ग्रहण इष्ट है। क्योंकि मन्त्रों से उद्धृत किये पद स्पष्ट ही निघण्टु में दीखते और वैसा ही निघण्टु निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने भी अर्थ किया है। तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि जो प्रणव छन्दोनामक वेदमन्त्रों में श्रेष्ठ है। तथा छान्दोग्य और शतपथ ब्राह्मणों में लिखा है कि "जब देवता लोग मृत्यु से भयभीत हुए तब त्रयीविद्या नामक वेदमन्त्ररूप घर में जा छिपे वेदमन्त्रों को छादन (छत्त वा छप्पर) के समान माना कि यहां मृत्यु न मार सकेगा। उन देवताओं ने जिस कारण वेदत्रयी को छादन बनाया इस कारण उस का छन्द नाम हुआ" निघण्टु २। ६ में छदि धातु की (छन्त्सत्) क्रिया कान्तिकर्मा आयी है जिस के अनुसार कोई लोग छन्दःपद को भी कान्तिकर्म कहते हैं। क्योंकि श्रद्धापूर्वक स्वीकार किये सभी वेद हमारी सब कामनाओं के पूरक हैं। तथा निघण्टु ३। १४ की अर्चतिकर्मा क्रियाओं में छन्दति छदयते क्रिया हैं। तदनुसार अर्चार्थ वाला छदि वा छद धातु से छन्दःपद को कोई लोग मानते हैं सो भी ठीक है क्योंकि सब वेद मन्त्रों का पूजा करने में प्रधान उद्देश है अथवा सब वेद हम को पूज्य वा मान्य हैं इस से भी छन्दः वेद और त्रयी शब्द एकार्थ ही सिद्ध हैं। सो इस प्रकार पूर्वकाल में सभी वेदमन्त्रों का साधारण नाम छन्द था यह सर्वसम्मत ही है। इसी से निघण्टु ३। १६ के स्तोतृ नामों में छन्दःपद पढा गया है। पाणिनि सूत्रों कात्यायन के वार्त्तिकों और भाष्यकार पतञ्जलि की इष्टियों में तथा अन्यान्य इत्यादि ग्रन्थों में सब वेदों का वाचक छन्दःपद सब वादियों के सहमत और अतिप्रसिद्ध है अर्थात् मन्त्रसंहिता ब्राह्मण उपनिषद् शाखा आरण्यकादि सभी का नाम सर्वसम्मत छन्द है इसी कारण सभी वेदभागों के पढने पढाने वाले वैदिक लोग छान्दस कहाते हैं॥

सम्पादक—इस पर विशेष विप्रतिपत्ति न होने से कुछ अधिक लेखनीय नहीं तथापि इतना वक्तव्य है कि ऋगादि वेद मन्त्रों वा गायत्र्यादि पद्यों का छन्द नाम कभी बीच में से नहीं हुआ किन्तु सृष्टि के आरम्भ से वेदमन्त्रों में आये छन्दः पद के अर्थ से छन्द वेदों का नाम चला आता है। जब वेदमन्त्रों में आये छन्दः पद के अर्थ से ही वेदत्रयी का वाचक होना सिद्ध है जैसे "काव्यं छन्दः" हम ऊपर

लिख चुके हैं और इस विचार को सामश्रमी जी भी मानते हैं तथा मानेंगे तो वेद के संसार में प्रकट होने समय से ही छन्दःपद वेदवाचक सिद्ध हुआ । फिर वेद वा जगत् की उत्पत्ति से पहिले ऐसा कौन समय था जब विषयबन्धनों वा पुस्तक मात्र का नाम छन्द माना गया हो । सामश्रमी जी यदि अन्य कल्प की बात कहते हों तो वे ही जानें वेद से पहिले जब किसी पुस्तक का बनना सामश्रमी जी भी नहीं मानते और फिर यह भी कहते हैं "पहिले जिस किसी मनुष्य के बनाये अकारादि वर्णबद्ध सभी पुस्तकों का नाम छन्द हुआ जिस में तैत्तिरीय का प्रमाण है । तदनन्तर वेदमन्त्रों का नाम छन्द हुआ जिस में मूल संहिता का ही प्रमाण है" शोचने का स्थान है कि यह कैसा पूर्वापर विरोध है ! जब सब से पहिले हुए वेद में ही वेदमन्त्रों का वाचक छन्दःपद विद्यमान है तो उस से भी पहिले जिस किसी ने कौन २ ग्रन्थ बनाये थे जिन का नाम छन्द था ? । छान्दोग्य और शतपथ ब्राह्मण के जो प्रमाण सामश्रमी जी ने दिये उस का तात्पर्य यह नहीं है कि वेदों के पश्चात् ब्राह्मण पुस्तक बनते समय वा उस से भी पीछे जब देवताओं ने मृत्युभय से बचने का उपाय वेदमन्त्रों को जाना तब से उन का छन्द नाम हुआ किन्तु हमारे पूर्व लेखानुसार अनिष्ट से बचा के इष्ट की रक्षा करने वाले अर्थ का सूचक छन्दः शब्द परमात्मा ने पहिले ही से वेद में रक्खा था । पीछे धीरे २ देव कोटि के मनुष्यों ने जब अन्य २ दुःखों के हटाने और सुखों को प्राप्त करने के उपाय जान लिये । परन्तु सब अनिष्टों में बड़ा अनिष्ट मृत्यु और सब इष्टों में सर्वोत्तम इष्ट जीवन है उस प्रबल अनिष्ट मृत्युभय से बचने और अत्यन्त इष्ट जीवन की रक्षा का हेतु संसार में कोई वस्तु उन को न मिला फिर अधिक शोच विचार से वेदमन्त्रों को ही मृत्यु से बचाने वाला पाया तो वेदरूप छादन (छप्पर) की आड में जा घुसे और मृत्यु का भय दूर हुआ तब उन देवकोटि के लोगों ने यह निश्चय जान लिया कि वेदों का छन्द नाम इसी लिये सत्य है कि उन की छाया का शरण लेने वाला मृत्यु जैसे प्रबल भय से भी बच सकता है जो काम अन्य किसी उपाय से साध्य हो हो नहीं सकता यही छन्दों का छन्दस्त्व है । हम अपने पाठक महाशयों को विश्वास दिलाते हैं कि आप कहीं इस विचार को साधारण वा असम्भव न समझिये क्योंकि आज कल अविश्वास बढ़ा हुआ है । क्या मृत्यु के पञ्जे से कोई बच सकता है ? नहीं कदापि नहीं शरीर जैसा अनित्य पदार्थ भी कभी किसी प्रकार नित्य हो सके तो फिर अनित्य कौन कहावे गा ? । इस का उत्तर यह है कि यद्यपि यह असम्भव है कि उत्पत्तिधर्मक वस्तु अविनाशी हो तथापि जैसे कहीं २ कभी २ सम्भव असम्भव और असम्भव भी सम्भव हो जाता है वैसे किसी देहधारी के शरीर को मृत्यु न मार सके और यह भी असम्भव सम्भव हो जाय तो भी सब देहधारी नित्य नहीं हो जाते तब "उत्पत्तिधर्मकमनित्यम्" यह नियम

अनित्य शरीरों वा पदार्थों में चरितार्थ रहेगा। वेद की छाया में ठीक २ आ-
जाना वेद को अपना सर्वांश में पूरा रक्षक बना लेना यह कोई सहज काम नहीं
यह साधारण बात नहीं, यह सब किसी का काम नहीं, यह बड़ा कठिन मार्ग है।
वेद की ठीक छाया में आने का उद्योग करने वालों में से भी कभी कोई नि-
र्विघ्न आसकता है उस मार्ग में असंख्य आसुरीमाया विघ्न करने के लिये प्रतिक्षण
विद्यमान हैं। उन से बच के निष्कलंक पार हो जाना सब किसी का काम नहीं
है। इस दशा में कोई २ कभी २ मृत्यु के पञ्जे से बचा भी तो शेष असंख्य
अनित्य बने ही रहे। द्वितीय उत्तर यह है कि मृत्यु का सर्वथा भय छूट जाय
तत्त्वज्ञानपूर्वक जीवन्मुक्तदशा हो जाय तो यथासमय शरीरत्याग होने पर भी
वह मृत्यु से बचा ही माना जायगा वा उस का मृत्यु नहीं हुआ यही कहेंगे
क्योंकि वह भी अपना मृत्यु नहीं मान सकता। हम को पूर्ण विश्वास है कि
जगत् में जो दुःसाध्य है जिस का अन्य कोई साधन नहीं, जो सुख अन्य किसी
प्रकार वा वस्तु से नहीं मिल सकता जो दुःख धनादि सब साधनों के एकत्रित
हो जाने पर भी अन्य किसी प्रकार से नहीं हट सकता वह सभी काम वेदवृक्ष
की छाया का शरण लेने में सिद्ध हो सकता है। इस लिये वेद सर्वोपरि छादन
वा घर अविनाशी है। कान्ति वा पूजार्थ छदिधातु से छन्दःशब्द की सिद्धि मान-
ना यह एकदेशी विचार है क्योंकि निघण्टु का आशय उन आई हुई क्रियाओं
को ही उन अर्थों में सिद्ध करने का प्रतीत होता है किन्तु छन्दःशब्द का नहीं
पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि की सब दृष्टियों में छन्दःपद से ब्राह्मणादि
सहित का ग्रहण इष्ट नहीं क्योंकि (छन्दो ब्राह्मणानि०) सूत्र को सामश्रमी जी
ने भी प्रमाण दिया है कि पाणिनि आचार्य भी ब्राह्मण से भिन्न मन्त्र संहिताओं
को छन्द मानते थे। एक काल में पाणिनि के दो निश्चय वा सिद्धान्त नहीं हो
सकते यदि कदाचित्कहीं ब्राह्मणादि को भी छन्द मानना पाणिनि का आशय
होतो वेद के तुल्य छादनार्थ मान कर गौण छन्दस्त्व ब्राह्मणादि की प्रशंसार्थ
मानना होगा। तथा कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि सूत्रों के व्याख्याकार हैं
उन का सिद्धान्त पाणिनि के अनुकूल ही हो सकता है॥

सामश्रमीजी—

(४) अस्तीहापरमपि ज्ञेयम्—"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे० (अ० सं० ११। ४। २। ४)" इत्याथर्वणे, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत (ऋ० सं० १०। ९)" इत्यृचि च "छन्दांसि" इति पदेन सामवेदी-

पच्छन्दोनामग्रन्थीयमन्त्राणामेव ग्रहणमिष्यते छान्दसैरेकमत्येति सामवेदीयानां हि संहिताग्रन्थो गानम्। छन्दइति च द्विधाभिन्नः। गानं तत्र गेयारण्योहोह्येति चतुर्विधम्। छन्दस्तु योनिरुत्तरेति द्विविधमेव, तयोर्ईयोश्चार्चिकइति च व्यवहारोऽनतिप्राचीनो वैयाकरणतोषकरः। एवं हि यथैव तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् ऋचः–ऋग्वेदीया यजुर्वेदीया अथर्ववेदीयाश्च, यजुः–यजूंषि वृत्तगीतिवर्जितासवाक्यानि यजुर्वेदीयानि सामवेदीयानि अथर्ववेदीयानि च, सामानि–सामवेदीयानि यजुर्वेदीयानि च जज्ञिरे तथैव तस्मात्तएव यज्ञात् छन्दांसि–सामवेदीयगानमूलीभूताश्छन्दोनामकमन्त्राश्च जज्ञिरे इति तदर्थः। यदि च तेषु छन्दस्स्वपि ऋग्लक्षणं विद्यतएवेति पुनश्छन्दोग्रहणमानर्थक्यं भजेतैव, परं तेषां प्राधान्यख्यापनाय ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन पृथग्ग्रहणं च न दोषावहम्। अन्यथा ऋग्वेदोद्धृताएव ते मन्त्राइति तेषामप्राधान्यमेव स्यादिति॥

एतेन ऋग्वेदतएव साममूलीभूतास्ता ऋचस्तत्र संगृहीता इति च मतं दूरोत्सारितमेव। पुनर्विशदयिष्यामश्चैतदिहैवोपरिष्टान्मन्त्रनिरुक्तिप्रकरणे। वस्तुतो यज्ञार्थमेव हौत्रं यज्ञार्थमेवौद्गात्रम्, तत्र होतृकार्यनिर्वाहाय ये मन्त्राश्चितास्ते हि सर्वएव ऋक्संहितायां दृश्यन्ते, औद्गातृकार्यनिर्वाहाय च ये मन्त्राश्चितास्ते सामरूपा ऋग्रूपाश्च तएव च सामसंहितायां दृश्यन्ते। तत्र हि सामसंघातात्मग्रन्थानां सामेत्येव प्रसिद्धिश्चिरन्तनी, इदानीन्तु गानमित्यपि, ऋक्संघातात्मग्रन्थयोस्तु छन्दइत्येवप्रसिद्धिः पुरातनी। आर्चिकइति तु पाणिनीयानामिति विशेषः। इत्थन्त्वत्र पश्यतु तावत्–ऋक्संहितातः सामवेदीयर्गुद्धरणे कोऽवसरः? यदैव यथैव यतएव येनैव ऋक्संहितया ऋचां सङ्ग्रहः सम्पन्नः, तदैव तथैव ततएव तेनैव सामसंहितयाश्छन्दसां च सङ्ग्रहः इत्येतत्ख्यापनायैव "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् इति कृतः पृथगुपन्यासइति॥

भावार्थः—इस प्रसंग में और भी विचारणीय है कि (ऋचः सामानि छन्दांसि०) इस अथर्व मन्त्र में और (छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्०) इत्यादि ऋक् वा यजु में आये मन्त्र में छन्दांसि पद से सब वेदानुयायी लोगों ने एक मत हो कर सामवेद के छन्दोनामक पूर्वार्द्ध के मन्त्रों का ग्रहण किया है। सामवेदीय संहिताग्रन्थ के दो भेद हैं एक छन्द और द्वितीय गान, उस में गेय, आरण्य, ऊह, ऊह्य ये गान के चार भेद हैं। और योनि, उत्तर ये छन्द के दो ही भेद हैं। उन दोनों छन्द और गान भेदों के साथ आर्चिक शब्द के बोलने का व्यवहार (छन्दआर्चिक, उत्तरार्चिक कहने की चाल) अतिप्राचीन नहीं किन्तु आधुनिक वैयाकरण लोगों की इच्छानुसार है। इस प्रकार जैसे (तस्मात्, यज्ञात्) उस यज्ञ से (ऋचः) ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्वसम्बन्धी ऋचा (यजुः) यजुः साम और अथर्व में आने वाले छन्दोगानवर्जित आप्तवाक्य यजु और (सामानि) साम वा यजुर्वेद में आने वाले गान वाक्य (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए वैसे ही उसी यज्ञ से (छन्दांसि) सामवेद-सम्बन्धी गान के मूलरूप छन्दोनामक मन्त्र भी उत्पन्न हुए यह उन मन्त्रों का अर्थ है। यदि उन छन्दोनामक मन्त्रों में भी ऋचाओं का लक्षण विद्यमान ही है तो ऋचाओं की उत्पत्ति कहने में उन की भी उत्पत्ति आजावे फिर (छन्दांसि) पद उन मन्त्रों में पुनरुक्त होने से व्यर्थ ही होजाय पर उन छन्दोनामक मन्त्रों की प्रधानता जताने के लिये पृथक् ग्रहण "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय के अनुसार दोषयुक्त नहीं। यदि पृथक् ग्रहण न करते तो वे छन्दोनामक मन्त्र ऋग्वेद से ही उद्धृत किये हैं इस कारण उन की अप्रधानता होजाती। "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय यह है कि—जैसे किसी ने कहा कि सब ब्राह्मणों को बुलाओ और वसिष्ठ को भी तो सब ब्राह्मणों के बुलाने में वसिष्ठ का भी बुलाना आगया क्योंकि वसिष्ठ भी ब्राह्मण है फिर वसिष्ठ का पृथक् नाम लेना व्यर्थ नहीं किन्तु उन की प्रधानता वा प्रतिष्ठा जताने के लिये है इसी प्रकार यहां भी ऋचः कहने से छन्द भी आगये फिर (छन्दांसि जज्ञिरे) कहना उन छन्दों की प्रधानता दिखाने के लिये है। इस कथन से सामवेद के मूलमन्त्र ऋग्वेद से ही सङ्ग्रह किये गये यह मत खण्डित हो जाता है इस का विशेष विचार आगे मन्त्र शब्द के विचारप्रकरण में करेंगे। वस्तुतः यज्ञ के लिये ही होता और उद्गाता के कर्मों का वा भावों का विभाग है। उस में होता के कार्य निर्वाहार्थ जो मन्त्र छांटे गये वे सब ऋग्वेदसंहिता में दीखते तथा उद्गाता के कार्यनिर्वाहार्थ जो मन्त्र छांटे गये वे सामरूप वा ऋग्रूप सभी सामसंहिता में दीखते हैं। उस में सामसम्बन्धी सब ग्रन्थों का नाम साम ही प्राचीन है पर अब गान भी कहाता है और ऋक्सम्बन्धी ग्रन्थों का प्राचीन नाम छन्द है। और ऋक् को आर्चिक कहना यह पाणिनीय व्याकरण वालों का ही विशेष अभिमत है। इस प्रकार देखो शोचो कि ऋक्संहिता से सामवेदीय ऋचाओं के उद्धृत करने का क्या अवसर था? । अभी जैसे ही जिसी से जैसी करके ऋक्संहिता की

ऋचाओं का संग्रह हुआ तभी वैसे ही उसी से उसी करके सामसंहिता के छन्दों का भी संग्रह हुआ इस बात को जताने के लिये ही "उसी यज्ञ से छन्द भी उत्पन्न हुए" यह पृथक् निर्देश किया गया है ॥

(सम्पादक—आ० मि०) हमारे विचार में सामश्रमी जी के इतने अधिक श्रम से भी कुछ विशेष फल नहीं निकला, अच्छा सन्तोषकारी वेद का गौरव बढ़ाने वाला उत्तम समाधान भी नहीं हुआ। जैसे किसी मूषक (चूहे) को पकड़ने के लिये सेना चढ़े वैसा ही यहां भी हुआ। अस्तु—वेदों में मन्त्रों की पुनरुक्ति का विचार हम यथावसर आगे कहीं विस्तारपूर्वक लिखेंगे। यहां केवल ऋक् यजुः साम तीन वेदों की उत्पत्ति के साथ (छन्दांसि यज्ञिरे तस्मात्) इत्यादि में छन्दःपदवाच्यों की पृथक् उत्पत्ति क्यों दिखाई गई छन्दः शब्द से यहां किस का ग्रहण होना चाहिये। यहां सामश्रमी जी का समाधान ठीक नहीं। बहुत टीकाकार सायणादि एकमत हैं इससे छन्दः करके साम के पूर्वार्द्ध का ग्रहण करना यह कोई प्रमाण कोटि के योग्य मान्य ही हो ऐसा नियम नहीं है। कहीं भेड चाल पर चलने वाले अनेकों का विचार भी निर्मूल अमान्य हो सकता और कहीं एक का भी धर्मानुकूल विचार सर्वमान्य हो सकता है। बहुपक्षानुसार विचार वा निर्णय होने का नियम पूर्ण धर्मात्मा आप्त परीक्षक विद्वानों में होना चाहिये कि जिस में अनेक आप्तों की एक सम्मति हो वह मान्य वा सर्वहित है। और अतत्त्वज्ञ साधारण सहस्रों मनुष्यों की सम्मति से भी एक तत्त्वज्ञ आप्त की सम्मति सर्वहित वा मान्य हो सकती है। सर्वथा एक के पीछे दूसरे के चलने का व्यवहार जब से अधिक प्रचरित हुआ तभी से भारतवर्ष की अवनति और वैदिक धर्म की हानि अधिक हो गयी। वेद का आश्रय सर्वांश में सर्वथा सर्वदा लेना और द्वितीय कक्षा में वेदानुकूल धर्मात्मा आप्त विद्वानों के वाक्य का आश्रय करना यही विद्वान् धर्मात्मा पुरुषों का कर्त्तव्य है। अस्तु, इस विचार को यहीं छोड़ के अपने प्रकृत विषय को देखें—सामश्रमी जी "छन्दांसि" पद को "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय से व्यर्थ न होने के लिये जो समाधान देते हैं वह सत्य भी हो तो छन्दो ग्रहण का दोष मात्र हटाया गया कि "पृथग् ग्रहणं च न दोषावहम्" छन्दः पद का ग्रहण दोषकारी नहीं इस से यह नहीं आया कि छन्दोग्रहण इस विशेष प्रयोजन के लिये है। वेद जैसे महामान्य ईश्वरीय पुस्तक में एक अक्षर भी सामान्य प्रयोजन के लिये नहीं होना चाहिये। मान लीजिये कि उन मन्त्रों में "छन्दांसि" पद न होता तो क्या "सामानि" पद के कहने से सामवेद के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों का ग्रहण न हो जाता ? क्या ऐसे ऋग्वेद में वा यजु में कोई प्रकरण वा मन्त्र नहीं हैं जिन की प्रधानता दिखायी जाय जो अन्य प्रकरणों के मूल माने जायं। हम सिद्ध कर सकते हैं कि ऋगादि सब वेदों में ऐसे मन्त्र और प्रकरण अनेक हैं जो अन्यवेद भागों के मूल वा सर्वो-

परि प्रधान माने जायं । जैसे ब्राह्मणउपनिषद् सूत्र आरण्यक शाखा और मनुस्मृति आदि सब आर्षग्रन्थों की एक सम्मति है कि प्रणव और व्याहृतियों सहित (तत्सवितु०) मन्त्र ऋगादि तीनों वेद वा त्रयीविद्या का सारांश मूल तथा सर्वोपरि प्रधान मान्य है । इतनी प्रतिष्ठा वा प्रधानता सामवेद के छन्दोभाग की किसी प्रमाण से कदापि सिद्ध नहीं हो सकती जितनी कि प्रणव वा व्याहृति सहित सावित्री मन्त्र की की गयी है । तब हम पूछ सकते हैं कि उस की प्रधानता दिखाने के लिये कोई पद उस (छन्दांसि जज्ञिरे) मन्त्र में क्यों नहीं पढ़ा गया? वा छन्दोग्रहण से सामश्रमी जी ने उसी मन्त्र की प्रधानता क्यों न मानली? यदि वे ऐसा भी मान लेते तौभी छन्दोग्रहण विशेषप्रयोजनसाधक नहीं ठहरता । क्योंकि ऋग्यजुः साम तीन ही शब्दों से सब वेदों के प्रधान अप्रधान सभी भागों का निस्सन्देह ग्रहण आजाता है फिर सामश्रमी जी के समाधान से भी छन्दोग्रहण इतना कम कार्यसाधक ठहरता है जिस को निस्सन्देह व्यर्थ मान सकते हैं । तथा सामश्रमी जी के पूर्वापर सब लेख को विचार पूर्वक अवलोकन करने से भी यही ध्वनित होता है कि छन्दोग्रहण व्यर्थ है । अस्तु—अब हमारा समाधान सुनिये :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

इत्यादि सब में वा किसी वेद में आये वेदत्रयी के साथ छन्दों की पृथक् उत्पत्ति दिखाने वाले मन्त्रों में भी ऋगादि तीनों शब्द हमारे पूर्व लेखों के अनुसार त्रयीविद्या के वाचक हैं कि ऋक् नाम स्तुति वा कर्मकाण्ड विषयात्मक प्रथम कक्षा की विद्या, यजुः नाम यज्ञ उपासना विषयात्मक द्वितीयकक्षा की विद्या, तथा साम नाम ज्ञान शान्ति—प्रार्थना—भक्ति विषयात्मक तृतीयकक्षा की विद्या उस परमात्मा से उत्पन्न हुई अर्थात् ऋगादि शब्द विद्यासम्बन्धी प्रधान वा सर्वविद्याओं के मूल तीन विषयों के नाम हैं । ऐसे ही वेदमन्त्रों के आशयों को लेकर ब्राह्मणोपनिषत् तथा मनुस्मृत्यादि आर्षपुस्तकों में ऋगादि तीन ही शब्दों से चारों वेद पुस्तकस्थविद्याओं वा चारों वेदों का ग्रहण ऋषि लोगों ने किया अर्थात् ऋगादि तीन शब्दों से तीन प्रकार की विद्या के ग्रहण का बोध भी पहिले महर्षियों को वेद से ही हुआ क्योंकि वेद ही सब का मूल है । जब ऋगादिशब्द त्रयीविद्या वाचक हुए तो यह सन्देह शेष रहा कि वह त्रयी किस रूप में प्रकट हुई अर्थात् गद्य में वा भिन्न २ पदवाक्यों में वा पद्य में ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कहा गया कि " छन्दांसि " वह ऋग्यजुःसाम नामक त्रयीविद्या गायत्र्यादि छन्दोबद्ध ही परमेश्वर से हुई अर्थात् छन्दोरूप में पदवाक्यों का समावेश भी किसी देहधारी पुरुष विशेष ने नहीं किया पद्यरचना भी परमात्मा से ही प्रकट हुई । इसी लिये "तेन प्रोक्तम्" पाणिनि सूत्र पर महाभाष्यकार का कथन "नहि छन्दांसि क्रियन्ते

नित्यानि छन्दांसि” वेद के गायत्र्यादि छन्द बीच में कभी किसी ने नहीं बनाये किन्तु वे नित्य हैं इत्यादि सत्य सङ्घटित होजाता है । इसी लिये “ अग्निमीडे पुरोहितम् ” यही संहिता पाठ वैदिकवाक्य वा साक्षात् वेद माना जाता और हम इस में थोड़ा भी लौटपौट वा पदच्छेद कर दें तो वह वेद वा वैदिक वाक्य नहीं माना जायगा । जैसे (पुरोहितमग्निमीडे) वा (ईडेऽग्निं पुरोहितम्) वा (अग्निम् । ईडे । पुरोहितम्) इत्यादि वैदिक वाक्य वा वेद नहीं कहाता किन्तु ये लौकिक वाक्य माने जाते हैं । इसी लिये महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में वैदिक शब्दों के उदाहरण छन्दोबद्ध और लौकिक (गौरश्वः पुरुषः) इत्यादि भिन्न २ पद पढ़े हैं । यदि लौटपौट होने पर भी वेद बना रहे तो (आयंगौः०) आदि में आये “गौः” आदि शब्द भी वैदिक हो सकते हैं तब लौकिक वैदिक में भेद मिलना ही दुस्तर है क्योंकि जिन अकारादि वर्णों से वेद समाविष्ट हैं उन्हीं से सब लौकिकपद वाक्य तथा छन्द वा ग्रन्थ बने हुए हैं तो हम जिस को वैदिक कहेंगे वह भी लौकिक और जिस को लौकिक ठहरावेंगे वह भी वैदिक हो जायगा । इस से सिद्ध हुआ कि जैसे२ पूर्वापर अक्षरपदवाक्य संघटित गायत्र्यादि छन्दोबद्ध संहिता पाठरूप वेद सम्प्रति विद्यमान हैं वैसे ही सर्गारम्भ में परमात्मा से हुए किन्तु ब्राह्मसमाजियों के मनमाने विचारों के अनुसार जिन किन्हीं शब्दों में परमेश्वर ने उपदेश नहीं कर दिया । इसी बात को जताने के लिये ऋग्यजुः साम के साथ उक्त मन्त्रों में छन्दों की उत्पत्ति दिखायी गयी । और वेदों के गायत्र्यादि छन्द कब बने किस ने बनाये ? ऐसे बड़े सन्देह का उत्तर भी वेद से मिलना पहिले आवश्यक था और है । इस प्रकार छन्दोग्रहण महत्प्रयोजनीय है किन्तु व्यर्थ नहीं है और ऋगादि शब्दों से त्रयीविद्या का बोध होने पर अथर्व भी उसी में अन्तर्गत है और छन्दःपद के अर्थ में अथर्व के भी छन्दों का समावेश समझ लेना चाहिये ॥

सामश्रमी जी—

पुरैव गायत्र्यादीनामपि छन्दस्त्वं व्यवहृतं मन्त्रेष्वपि । तद्यथा—“छन्दांसि च दधतोऽध्वरेषु (ऋ०स०८।१६।५) इत्यादि । तत्रापि छादनमेव बीजम् । भवति हि शब्दानां छादनं गायत्र्यादिभिः । किञ्च यथा खलु पद्यैर्भवति शब्दानां छादनं तथैव गद्यैर्गानैरपीति सर्वविधरचनानामेव छन्दस्त्वं चिरात्प्रतिष्ठितम् । कालभेदाल्लौकिकव्यवहारो विभिन्नइत्यन्यदेतत् । अतएव “ छन्दांसि छादनात् ” इति व्याख्यानावसरेऽप्युक्तं दुर्गाचार्येण—“ ते

सब महाशयों को विदित हो कि हमारे पास कुछ ऐसे प्रश्न आगये जिन का उत्तर छापना अन्य सर्वसाधारण लोगों के लिये भी उपकारी समझा इस कारण क्रम से प्रश्न लिख २ कर उत्तर लिखते हैं—

यद्यपि वेदानुयायी आस्तिक धर्मात्मा विद्वानों का सिद्धान्त है कि "तर्कोऽप्रतिष्ठः" वा "नैषा तर्केण मतिरापनेया" तर्क स्थिर नहीं तथा तर्क से बुद्धि को चलायमान मत करो। और यह सत्य भी है कि तर्क से कोई बात स्थिर सिद्ध नहीं होती। जब कोई प्रबल तर्क से स्थिर सिद्धान्त ठहरा देता है तो वह तभी तक ठहर सकता है जब तक उस से भी प्रबल तर्क वाला उस पर ध्यान नहीं देता। जैसे पहिले तर्कवाद को उस से प्रबल अगले तार्किक ने हटा दिया वैसे ही आगे २ होने वाले प्रबल तार्किक पिछले २ तर्कवादों को काटते जायंगे इस प्रकार केवल तर्क से निश्चित होने वाले परोक्ष सूक्ष्म धर्मादि विषयों की कभी स्थिर व्यवस्था नहीं हो सकती इस लिये तर्क को अप्रतिष्ठित माना है। और जब तर्क स्वयं ही स्थिर नहीं तो उस का आश्रय करने वाले का बुद्धि वा विचार एक स्थिर होजाय यह असम्भव है। जैसे लगातार घूमने वाले चाक वा निरन्तर चलते हुए वाष्पयान (रेलादि) में बैठा हुआ कोई प्राणि चाहे कि मैं चलायमान न होऊं वा मेरा शरीर किञ्चित् भी न हिले तो यह असम्भव है। इसी प्रकार अस्थिर तर्क पर सवार रहने वालों के बुद्धि विचार सदा ही चलायमान रहेंगे वे किसी सूक्ष्मपरोक्ष विषय का ठीक निश्चय भी नहीं कर सकेंगे तब उन को इष्ट की प्राप्ति वा अनिष्ट की निवृत्ति होना भी दुर्लभ है। इस लिये कहा गया कि तर्क से बुद्धि को चलायमान मत करो तथापि यह विचार केवल पूरे आस्तिक पुरुषों के लिये लिये है। उन आस्तिक पुरुषों में भी दो भेद हैं। एक पूरे वेदादि शास्त्रज्ञ और द्वितीय साधारण विद्वान् वा सर्वथा शास्त्रज्ञान रहित। उन में शास्त्रज्ञ पूर्ण विद्वानों के लिये प्रमाणानुकूल तर्क से धर्मादि विषयों को मानने समझने समझाने वा सिद्ध करने के लिये शास्त्रों की आज्ञा है और साधारण आस्तिक पुरुषों को वेदादि शास्त्रों में लिखे विषयों पर निर्विवाद मान लेने की आज्ञा है और वास्तव में वैसे आस्तिक उन २ विषयों को निर्विवाद स्वयमेव मान ही लेते हैं वे अपने स्वभाव से ही विवाद का प्रसङ्ग नहीं करते ऐसे लोगों के लिये तो केवल वेदादिशास्त्र प्रमाण की ही केवल आवश्यकता है। जैसे यजु० १९। ४७

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

अर्थ—मध्यकोटि के प्राणियों वा चन्द्रलोकस्थ पितृनामक प्राणियों की दो प्रकार की गति होती है। यदि वे उत्तम कर्म करें तो अपने से उत्तम देवयोनि में जन्म

लें और यदि निकृष्ट कर्मों की ओर झुकें तो मनुष्यों में जन्म लेवें । अर्थात् ब्रह्माण्ड भर के सब प्राणी अपने २ कर्मों के अनुसार इन्हीं दो उत्तम निकृष्ट मार्गों से चलते हैं कि जो उत्तम वा निकृष्ट पिता-माता के बीच जन्म लेना है । तथा—

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥१॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधा स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥२॥

यह निरुक्त के तेरहवें अध्याय में कहीं के अतिप्राचीन श्लोक लिखे हैं । ये भी पूर्वोक्त वेदमन्त्र के अनुकूल ही हैं कि—मैं मर के फिर उत्पन्न हुआ उत्पन्न होकर फिर मरा । सहस्रों योनियों वा गर्भाशयों में वास किया भिन्न २ जन्मों में नानाप्रकार के भोजन खाये अनेक स्तनों के दूध जन्म ले २ कर पिये अनेक माता पिता और मित्रों को देखा अनेक वार अनेक माता पिताओं का मैं पुत्र बना इत्यादि सहस्रों प्रमाण वेदादिशास्त्रों में भरे हुए हैं । परन्तु ये प्रश्न केवल प्रमाण पूछने के लिये नहीं किये गये किन्तु जिन में सर्वोपरि आस्तिकता नहीं जिन में दोनों प्रकार के भाव विद्यमान हैं उन्हीं के भाव से प्रश्न किया गया है तथा समयानुसार भी तर्क ही प्रधान है इस कारण अब आगे तर्कानुकूल छान बीन के साथ उत्तर लिखा जाय गा ? । क्योंकि यही संशयात्मा आस्तिकों और परोक्ष विषयों पर विश्वास न रखने वाले दोनों ही के लिये उत्तर अच्छा होगा । इस पूर्व प्रस्ताव के लिखने से हमारा प्रयोजन यही है कि केवल तर्कवाद को हम भी अच्छा नहीं मानते । इस से हमारा वक्ष्यमाण लेख तर्क प्रधान भी पुनर्जन्म रूप वेदोक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये समझिये किन्तु प्रमाण शून्य केवल तर्क नहीं मानना चाहिये ॥

प्रश्न (१)—आवागमन किस प्रकार सिद्ध है । आवागमन सत्य है तो आज तक जितने मनुष्य हुए हैं किसी को इस बात का स्मरण नहीं है कि हम कौन थे वा कौन होंगे ? जैसे कि हम एक चिराग़ जलायें फिर उस को गुल कर दें फिर वही रोशनी जो हो रही थी लौट आवे ?

उत्तर—यह प्रश्न विना जड़ वा नींव की भित्ति के समान है जब तक यह निश्चय न हो कि आवागमन किस का पूछना इष्ट है ? तो क्या उत्तर दिया जाय । यदि मान लें कि जीव, जीवात्मा वा जिस को रूह कहते हैं उसी का आवागमन पूछना है तब प्रश्न होगा कि वह कोई नित्य पदार्थ है वा अनित्य, जैसे घटाकाश मठाकाश के तुल्य आधुनिक वेदान्ती मानते हैं क्या वैसा तोजीव नहीं ? अथवा जैसा डाकृर लोग रुधिर से भिन्न कोई जीव नहीं मानते वैसा तो

नहीं ? अर्थात् जब तक निश्चय न हो कि कोई जीव वा जीवात्मा वास्तव में देह से भिन्न वस्तु है वा नहीं यदि है भी तो वह नित्य है वा अनित्य ? अथवा इन्द्रियों वा मन में से किसी का नाम तो जीवात्मा नहीं ? इत्यादि प्रकार जीवात्मा का निश्चय हो जाने पर उस के आवागमन का विचार चल सकता है इस लिये हम पहिले उन्हीं बातों का विचार क्रम से लिख कर पीछे यथोचित उत्तर दें गे ॥

१-अस्तिनास्तिवाद

अनेक लोग शरीर की प्रत्यक्ष चेतनता को संयोगजन्य गुण मानते हैं कि जैसे अनेक वस्तुओं के संयोग में एक नया गुण वा नयी शक्ति उत्पन्न होती है वैसे ही शरीर के संबन्धी वीर्य रुधिरादि के संयोग से चेतनता शक्ति हो जाती किन्तु शरीर के रुधिरादि धातुओं से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है ॥

इस का उत्तर हम यह देते हैं कि संयोगजन्य गुण वा शक्ति का नाम कोई कुछ और भी माने वा रक्खे तथापि वह बुद्धि वा ज्ञान से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं ठहर सकता । तो यही आशय होगा कि बुद्धि वा ज्ञान संयोगजन्य शक्ति है और उस से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं तब हम पूछते हैं कि वह बुद्धि रूप शक्ति एक ही है वा अनेक वह जन्म से मरण तक एक ही सी बनी रहती वा बदल २ भिन्न २ होती जाती है अर्थात् शरीर के साथ नित्य है वा अनित्य ? यदि नित्य मानो तो जन्म से जाने हुए सब विषयों का सदा ही एक सा स्मरण रहना चाहिये और पहिले ज्ञान वा बुद्धि आगे कभी बदलना नहीं चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता न हो सकता है । इस को कोई सिद्ध भी नहीं कर सकता कि सब विषयों का सदा किसी को स्मरण रहे वा बुद्धि न बदले । सुने जाने अच्छे बुरे विषयों का प्रत्येक समय किसी को स्मरण रहता नहीं दीखता तथा प्रत्यक्ष में सभी की बुद्धि नित्य २ बदलती जाती है तो शरीर के समान बुद्धि भी अनित्य सिद्ध हुई इस दशा में कोई नहीं कह सकता कि हमारी बाल्यावस्था में जो बुद्धि थी वही अब युवावस्था वा वृद्धावस्था में भी बनी है । और बुद्धि से भिन्न नित्य आत्मा कोई उस के मत में है नहीं तो उस के मत में प्रत्यभिज्ञा नहीं बने गी और प्रत्यभिज्ञा होती सब को प्रत्यक्ष में ही है । जैसे जिस प्रकार का सुख वा दुःख किसी इन्द्रियद्वारा विषय के साक्षात् करने से कभी इस मनुष्यादि प्राणि को प्राप्त होता उस का संस्कार इस के आत्मा में हो जाता है जब फिर कभी उसी पूर्वज्ञात विषय के तुल्य वस्तु को देखता वा किसी इन्द्रिय से अनुभव होता है तब पहिले जाने विषय का स्मरण आकर उस के ग्रहण वा त्याग की इच्छा होती है यदि पहिले उस से कभी सुख भोग चुका है तो उसी लोभ से फिर उस को राग होता और दुःख हो चुका है तो द्वेष होता है इस प्रकार सांसारिक सब प्राणियों को पूर्व हुए श्रुतादि के अनुसार ही प्रवृत्ति निवृत्ति होती है अब

यदि बुद्धि अनित्य है और नित्य आत्मा कोई है नहीं तो किसी को पूर्व का स्मरण नहीं रहना चाहिये। जैसे एक राजा मर जाय तो उसी के स्थान में दूसरा गद्दी पर बैठे तब कोई पहिले राजा का मित्र आकर अगले से कहे कि मैं अमुक हूं अमुक समय आप से मिला था अमुक विचार हुआ था तो इन प्रथम राजा के साथ हुए व्यवहारों का स्मरण दूसरे को नहीं हो सकता वैसे ही पूर्व काल के विषयं ज्ञान समय की बुद्धि तभी नष्ट हो गयी उस बुद्धि के ज्ञात विषय का स्मरण यदि अब की नवीन उत्पन्न हुई बुद्धि को हो सकता है तो हमारे जाने हुए विषयों का स्मरण तुम को भी होना चाहिये वा सब के अनुभूतविषयों को सब जान सकते हैं क्योंकि अब यह नियम नहीं रहा कि जिस ने जिस को देखा हो उसी को उस का स्मरण आवे। इस का समाधान अनात्मवादी पर है। यदि कहो कि पूर्वानुभूत के स्मरण से बुद्धि को ही नित्य क्यों न मानलो क्योंकि यदि बुद्धि अनित्य होती तो हम को स्मरण ही क्यों रहता। तो हम कहते हैं कि बुद्धि जो क्षण २ में नई उत्पन्न होती प्रत्यक्ष दीखती है उस का नित्य मान लेना तो ऐसा ही असम्भव है जैसे आज जिस भोजन को तुम बना कर खाते हो उस को सिद्ध करो कि ५०। वा १०० वर्ष पहिले जो भोजन बना था वही यह है अर्थात् जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता उस को भी नित्य ठहराने का उद्योग करना सर्वथा असम्भव है इस कारण स्मरण रहने से ही आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है कि जो विचारपूर्वक शोचने से भी बुद्धि से भिन्न पदार्थान्तर सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि–

यथाऽनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन्, अविशेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयंदृष्टस्य स्मरणं नान्यदृष्टस्येति। एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्ये न स्मरन्तीति। तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति, एवमुपपन्नमस्त्यात्मेति। न्यायशास्त्रे वात्स्यायनभाष्यम् ॥

भावार्थः–जैसे भिन्न २ शरीरों में नियत हैं विषय जिन के, ऐसे बुद्धि के भेदों का प्रतिसन्धान अनात्मवादी के मत में नहीं होता अर्थात् जैसे किसी एक मनुष्य ने किसी वृक्ष के मीठे फल को खा कर जिस बुद्धि से उस फल का स्वाद जाना वह उसी बुद्धि का विषय नियत है उसी वृक्ष के वैसे ही फल को यदि कोई अन्य मनुष्य देखे जिस ने पहिले कभी न देखा न खाया है तो उस को उस के स्वाद का स्मरण कदापि विना खाये नहीं आवेगा कि इस में ऐसा स्वाद होता है क्योंकि वह स्वाद उस मनुष्य की उसी बुद्धि का नियत विषय है जिस

ने उस को खाया है वैसे ही एक शरीर में भी अन्य बुद्धि के अनुभूत नियत विषय को कालान्तर में उत्पन्न हुई अन्य बुद्धि स्मरण कदापि नहीं कर सकती कि यह वही पदार्थ वा फल है जिस का स्वाद मैंने अनुभूत किया था। क्योंकि जैसे देहान्तर में बुद्धि भेद है वैसा ही एक शरीर में अनित्य होने से बुद्धि भिन्न २ है दोनों प्रकार के बुद्धि भेदों में कोई विशेषता नहीं है। सो जैसे अपने देखे का अपने को स्मरण रहता अन्य के देखे का अपने को स्मरण नहीं होता वैसे ही अन्य किन्हीं के देखे का अन्य किसी को स्मरण नहीं होता सो इन दोनों बातों के समाधान का भार अनात्मवादी के शिर है जो समाधान केवल बुद्धि के मानने पर तीन काल में भी नहीं हो सकता इसलिये बुद्धि से भिन्न आत्मा का होना सिद्ध है। यह विषय कठिन है सर्वसाधारण के समझने में यथावत् आना कठिन है इसलिये इस का संक्षेप यह है कि जब तुमने चलते फिरते बैठते उठते आदि प्रत्येक समय क्रम से पहिले एक मनुष्य को देखा तो मनुष्य का ज्ञान हुआ, पीछे एक पशु को देखा तब उस का ज्ञान हुआ, फिर एक पक्षी को देखा तब उस का ज्ञान हुआ, पशु का ज्ञान होते समय मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो गया और पक्षी के ज्ञान होने के समय मनुष्य पशु दोनों का ज्ञान नष्ट हो गया ऐसे ही आगे २ नया २ ज्ञान होता जाता और पिछला २ सब नष्ट होता जाता है ज्ञान और बुद्धि एक ही वस्तु है। तब जो लोग जानने वाले आत्मा को ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न जानने वाला नित्य मानते हैं कि जो मनुष्य पशुपक्षी आदि के ज्ञान के बदल जाने पर भी नहीं बदला उस आत्मा में मनुष्यादि के ज्ञान का संस्कार होता गया इस से आत्मवादी के मत में तो पूर्वानुभूतविषयों का पुनः स्मरणद्वारा आगे प्रवृत्ति निवृत्ति बन सकती है परन्तु ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न जिस के मत में कोई आत्मा नहीं और ज्ञान क्षण २ में नया२ बदलता जाता है तो मनुष्य पशु पक्ष्यादि के ज्ञान समय कोई एक जानने वाला न मानने से अनात्मवादी के मत में किसी पूर्वानुभूत विषय का किसी को स्मरण न होना चाहिये इस का समाधान कोई अनात्म वादी नहीं कर सकता और पूर्वानुभूतविषयों के स्मरण द्वारा ही आगे २ सब प्राणियों का व्यवहार प्रत्यक्ष दीखता है इस कारण बुद्धि वा ज्ञान से भिन्न शरीर के भीतर एक कोई वस्तु अवश्य सिद्ध है जिस का नाम जीव, जीवात्मादि है ॥

आत्मनित्यानित्यविचार

यद्यपि यह मान लिया जाय कि ज्ञान से भिन्न जानने वाला भी कोई शरीर में है तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वर्त्तमान शरीर के उत्पन्न होने से पहिले भी वह कहीं था और देहान्त होने पश्चात् भी वह कहीं रहेगा। ऐसा ही क्यों न मानें कि वह शरीर के साथ ही उत्पन्न होता और शरीर के नाश

के साथ ही वह भी नष्ट हो जाता है । क्योंकि शरीर के उत्पत्ति नाश से आगे पीछे उस का कहीं पता भी नहीं लगता कि वह पहिले कहां था और पीछे कहां गया ? ।

इस का उत्तर यह है कि जिस का पक्ष है कि शरीर के उत्पत्ति नाश के साथ आत्मा के भी उत्पत्ति नाश हैं उसी को सिद्ध करना चाहिये कि जैसे माता पिता के रजवीर्य से शरीर बना तो आत्मा किस वस्तु से बना ? आत्मा का उपादान कारण कौन है ? यदि कहो कि जैसे माता पिता के स्थूल शरीर के अंश से स्थूल शरीर बना और उन के आत्मा चेतन से चेतनांश आकर सन्तान का आत्मा बन गया क्योंकि वेद में भी लिखा है कि "आत्मा वै जायते पुत्रः" हे पुत्र तू मेरा आत्मा है । तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे पितादि के स्थिर रोगादि शारीरिक गुण उपादान कारण से पुत्रादि के शरीर में अवश्य आते हैं इसी से कुष्ठी के सन्तान का कुष्ठी होना सर्वत्र ही माना जाता और लोक में प्रत्यक्ष भी है यदि कोई सन्तान कुष्ठी न हो तो मानने पड़ेगा कि या तो उस रोग के वीर्य में व्यापक होने से पहिले का वह सन्तान है अथवा जिस का माना जाता है उस का नहीं अन्य किसी से उत्पन्न हुआ है । वैसे ही पिता के आत्मा से भी उपादान कारण आत्मगुण के आना चाहियें तब जिस भाषा का विद्वान् पिता हो उसी भाषा में उस का सन्तान विना ही पढ़े पण्डित हो जाया करे वा जैसे २ ज्ञान सम्बन्धी आत्मिक गुण पिता में हों वैसे २ ही पुत्र में विना किसी उद्योग के स्वयमेव आ जाया करें मूर्ख माता पिता के सन्तान सदा मूर्ख ही हुआ करें कोई पढ़ाने पर भी विद्वान् न हो सके पर ऐसा नहीं होता यह सब प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध है । रहा वेद का प्रमाण सो उस का अभिप्राय स्वरूपबोधन में है अर्थात् पिता कहे वा माने कि पुत्र मेरा आत्मा मेरा स्वरूप मेरे शरीर का भाग होने से है । मनु जी ने भी मानवधर्मशास्त्र के चतुर्थाध्याय में कहा है कि—

भार्या पुत्रः स्वका तनूः ।

स्त्री और पुत्र को अपना ही शरीर मानना चाहिये । यह सब आत्मशब्द के अनेकार्थ होने से होता है । जब तुम नहीं बता सकते कि आत्मा किस उपादान से शरीर के साथ उत्पन्न हुआ तो तुम्हारा पक्ष कैसे सिद्ध हो सकता है । यदि कहो कि रजवीर्यादि उपादान के संयोग में एक ऐसी शक्ति वा गुण उत्पन्न हो जाता है जिस का नाम जीव वा आत्मा हो और शरीर का वियोग होते ही वह शक्ति भी वहीं नष्ट हो जाती है तो हम कहेंगे कि उस शक्ति को ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न अन्य कोई वस्तु न ठहरा सकोगे तो वही पूर्वोक्त अनात्मवाद का बखेड़ा तुम पर फिर आवेगा जो ज्ञाता के विना केवल ज्ञान के मानने में पूर्व लिखा गया । यदि कहो कि रजवीर्य के संयोग से आत्मशक्ति हो जाती

फिर उस का गुण वा शक्ति ज्ञान होना तो शक्ति वा गुण किसी शक्तिमान् व
गुणी में से होते और उसी में रहते हैं किन्तु किसी शक्ति वा गुण से शक्ति व
गुण न उत्पन्न होते और न रह सकते हैं इस की सिद्धि के लिये जगत् में तुम को
कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलेगा । जैसे जल से तरङ्ग उत्पन्न होते वा जल में तरङ्
रहते हैं यह व्यवहार होता वैसे तरङ्गों से तरङ्ग होते वा तरङ्गों में तरङ्ग होते यह
नहीं होता अर्थात् तरङ्गों का आधार सदा जल ही रहेगा । कदाचित् कभी यह
व्यवहार भी बन जाय कि तरङ्गों से तरङ्ग होते जाते हैं तब भी शोचने से तर-
ङ्गरूप गुण का उपादान वा आधार सदा जल द्रव्य ही रहेगा और उस व्यवहार
से सजातीय अनेक तरङ्गों का होना सिद्ध होगा और विजातीय वस्त्वन्तर होन
कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । वैसे यहां भी ज्ञान वा बुद्धि के अवान्तर सजा-
तीय भेदों का होना सिद्ध हो सकेगा । कि जिन का नाम बुद्धिवृत्ति है अर्थात्
वृत्ति अनेक होती हैं । अस्तु इन विचारों को छोड़ कर हम तुम्हारे कथन को
मान भी लें कि किसी न किसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा भी उत्पन्न होजात
है तो जो लोग ईश्वरवादी हैं अर्थात् परोक्ष कोई अनादि अनन्त अविनाशी
दयालु न्यायकारी सर्वनियन्ता ईश्वर है ऐसा मानते हैं उन्हीं के लिये अधिकांश
यह लेख है क्योंकि ईश्वर को न मानने वालों के साथ ईश्वर का अस्तित्व ठ-
हराने का व्याख्यान चलाना प्रकरणान्तर है । और ईश्वर को माने विना आत्मा
का नित्यत्व मनवाने का उद्योग करना निष्फलसा है । इस कारण उस विषय को
सर्वथा छोड़ देते हैं और हमारे प्रश्नकर्त्ता भी ईश्वर मानने वाले आस्तिकों में
होंगे । और महुम्मदी तथा ईसाई मतावलम्बी मनुष्य भी ईश्वरवादी ही माने
जाते हैं इस कारण हमारे लेख के पूर्वपक्षी वे सभी लक्ष्य समझने चाहिये । तब
हम पूछ सकते हैं कि इस सब जगत् के उत्पत्ति नाश जन्म मरणादि की व्यवस्था
करने वाला तुम भी परमेश्वर को मानते हो तो बताओ वह न्यायी है वा अ-
न्यायी, यदि न्यायी कहो तो उस ने भिन्न २ प्रकार के सुख दुःख विना कारण
उत्पन्न कर २ सब प्राणियों को क्यों दिये ? कोई राजा विना ही अपराध अनेकों
को भिन्न २ प्रकार का दण्ड नियत कर दे और किन्हीं को अच्छे २ सुख के सामान
देदे तो क्या वह न्यायी कहा जा सकता है ? तब ईश्वर ने किन्हीं को सुख किन्हीं
को दुःख भिन्न २ प्रकार का प्रत्यक्ष दिया दीखता है फिर वह न्यायी कैसे हो सकता
है ? । यदि कहो कि जो उस के भक्त हैं उन को सुख अन्यों को दुःख देता है
तो यह पीछे बन सकता है जब कि समझदार होके भक्ति करने योग्य हों जन्म
से पहिले तो वे कोई भी जीव तुम्हारे मत में थे ही नहीं जो उस की भक्ति
करते फिर जन्म से ही भिन्न २ सुखदुःख क्यों दिये ? । यदि कहो कि हम उस के
काम में दखल नहीं दे सकते उस को सब कुछ अधिकार है जो चाहे कर सकता
है । तब हम कहते हैं कि फिर तुम्हारा यह कथन वा विश्वास कि अमुक

प्रकार से चलने वालों को वह स्वर्ग (बहिश्त) देगा और ऐसा २ न करने वाले सब नरक (दोज़ख़) में भेजे जायं गे। यही परमेश्वर का वाक्य (कलाम अल्लाः) है इत्यादि सभी मानना व्यर्थ होगा क्योंकि उस को अधिकार है वह चाहे अच्छे को भी नरक में और बुरे को भी स्वर्ग में भेजे तो तुम कुछ भी अच्छा बुरा नहीं मान सकते उस की इच्छा पर रहा वह चाहे वैसा करे पर यह भी तुम को स्वीकार नहीं हो सकता क्योंकि सभी लोग भलाई बुराई पाप पुण्य धर्म अधर्म को अच्छा बुरा मानते हैं और मानने पड़ता ही है कि परमेश्वर पापी अधर्मी को बुरा फल देता और न्यायी धर्मात्मा को अच्छा फल देता है ऐसा मानते ही वह न्यायी हो जाता है और न्यायी रह कर वह संसार की व्यवस्था तभी कर सकता है जब जीवात्माओं के जैसे कर्म हों वैसा फल उन को देवे इसदशा में तुम को मानने पड़ेगा कि उस ने सब जीवों को उन २ वैसे २ पाप पुण्यों के अनुसार वैसा २ भिन्न २ सुख दुःख का सामान भोगने के लिये दिया है और वे पाप पुण्य आत्मा को शरीर के साथ उत्पन्न हुआ मानें तो नहीं बन सकते किन्तु पहिले जन्मों में ही पाप पुण्यों का करना बन सकता है इसलिये आत्मा को नित्य मानना चाहिये यही सिद्धान्त ठीक है अनित्य मानने में जो २ आपत्ति वा दोष हैं उन का निराकरण सर्वथा असम्भव है ॥

कृतहानमकृताभ्यागमदोष

तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते सत्त्व उत्पादे तु सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति। तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। वात्स्यायनः ॥

यदि शरीरोत्पत्ति से पहिले कोई नित्य आत्मा न मानें तो मरणान्त समय तक मनुष्य ने जो २ पाप वा पुण्य किये वे सब व्यर्थ हुए जैसे किसी ने बहुत दिनों तक बड़ा परिश्रम करके किन्हीं वृक्षों को तयार किया जब उन में फल लगने का समय आया तभी वह मर गया और एक किसी ने ऐसा धीरे २ बहुत दिनों तक पाप किया जब उस पाप के फल भोगने का समय आया तभी मर गया तो ये सब मनुष्यों के पुण्य पापों का कुछ भी फल न मिलना यह कृतहान कहाता और नये २ उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को नये २ पाप पुण्य के फलों का प्राप्त होना कि जिन फलों के पाने योग्य पहिले कभी कोई काम उन्होंने नहीं किया यह कैसी शोचनीय अनवस्था है? क्या आत्मा के नित्य माने विना ऐसी अनवस्थाओं का कोई और समाधान हो सकता है?। क्या अब जगत् में कोई मनुष्य ऐसा है? जो अपने परिश्रम वा पुण्य धर्म को व्यर्थ जाते देख और विना किये पापों का फल पाकर अनवस्था वा अन्याय न कहै और ऐसे को सुख माने

हमारी समझ में ऐसा मनुष्य होना असम्भव है तब जो लोग आत्मा को अ
नित्य मानते हैं उन को अपने परिश्रम से कमाये अन्न धनादि को कोई छी
ले वा विना अपराध कोई जेलखाना कर दे तो बुरा न मान कर सुख ही म
नना चाहिये । जब शरीर के साथ आत्मा के उत्पत्ति नाश मानें तो विना
कर्मादि कारण के प्राणियों की उत्पत्ति मानना हुआ । फिर मुक्ति आदि के लि
उपाय भी करना व्यर्थ होगा । और जब विना कारण कुछ होता नहीं न इस के लि
कोई दृष्टान्त ही मिल सकता है तो उत्पन्न होते ही बालक को हर्ष भय शोका
क्यों होते हैं ? जिस विषय के ज्ञान का संस्कार जिस के भीतर पहिले से कु
भी नहीं उस वस्तु की प्राप्ति से उस प्राणी को कुछ भी हर्ष शोक नहीं हो
जैसे पशुओं को चांदी वा सुवर्ण की प्राप्ति से कुछ हर्ष नहीं होता तो विना का
उस बालक को जिस ने उत्पन्न होने पश्चात् उन वस्तुओं का कभी कुछ भी अनुभ
नहीं किया उन से हर्ष शोक वा उन की इच्छा क्यों होती है ? इस का भी सम
धान अनित्यात्मवादी पर निर्भर है ॥

यदि कोई कहे कि जैसे कमलादि कभी खिल जाते और कभी कुमला ज
हैं क्या उन्हों ने कभी खिलने कुमलाने का अनुभव किया है क्या उन के भी
ऐसा कोई संस्कार है ? तो इस का उत्तर यह है कि शीत उष्ण वर्षा तथा
चन्द्रमा के उदय अस्त आदि उन कमलादि के प्रबुद्ध वा सम्मीलित होने में का
हैं किन्तु कमलादि का निष्कारण प्रबोध सम्मीलन मानो तो जैसे सूर्योदय
कमल खिलता और चन्द्रोदय में सम्मीलित होता है तब इस से उलटा क्यों न
होता ? विना नियम अकस्मात् जब चाहे तभी प्रबोध सम्मीलन कमलादि में हो
तो निष्कारण कहने का अवसर था । सूर्य चन्द्रादि के होने न होने में ही
होने न होने का नियम उस की सकारणता में बड़ा प्रमाण है । परन्तु बालक
हर्ष शोक में पूर्व जन्मों का संस्कार ही कारण हो सकता है इस से जीव नि
है । तथा बालक को उत्पन्न होते ही माता का स्तन चूसने की अभिलाषा हो
है इस से भी सिद्ध होता है कि इस ने पहिले अनेक २ जन्मों में उत्पन्न हो
समय अनेक माताओं का दूध पिया है उस का सूक्ष्म संस्कार इस के भीतर ब
है इसी कारण मुख के पास स्तन पहुंचते ही झट मुख में देकर उसी विधि
चूसता है जैसे जानो अच्छे प्रकार इस ने यह काम सीख लिया हो । और अ
कोई अन्न दाल भात आदि उस के मुख में देना चाहो तो वैसे प्रसन्न चित्त
सीखे हुए के तुल्य कदापि नहीं खाता क्योंकि ऐसी छोटी अवस्था में सब जन
में उस ने दूध ही पिया है इस से उस अवस्था में वही संस्कार उद्बुद्ध हो
अन्य संस्कार दबे रहते हैं । इस में यदि कोई कहे कि जैसे अयस्कान्त न
चुम्बकपत्थर के पास पहुंचते ही लोहे में क्रिया होती है क्या उसी लोहे
टुकड़े ने पहिले कभी अभ्यास किया है ? जिस संस्कार से वह चुम्बक का सम

ते ही उस में चिपक जाता है। जैसे लोहे के पास चुम्बक के आते ही संस्कार वा भ्यास के विना भी लोहा चुम्बक को झट ही पकड़ता है वैसे ही मान लो कि लक के मुख के पास स्तन किया जाय तो वह उस को पकड़ के चूसने लगता है॥

इस का उत्तर यह है कि यद्यपि लोहे ने पहिले कभी अभ्यास नहीं किया उस के भीतर सञ्चित संस्कार है तथापि लोहे का सरकना निष्कारण नहीं न्तु सकारण अवश्य है। और हमारा पक्ष भी यही है कि निष्कारण कुछ नहीं ता, जो कुछ होता है उस का कुछ न कुछ कारण (सबब) वा हेतु अवश्य होता । यदि चुम्बक के साथ लोहे का सरकना निष्कारण है तो ईंट पत्थर ढेला कुछ चुम्बक के समीप लेजाया जाय सभी क्यों नहीं चुम्बक में लग जाते ? लोहा किसी के पास ले जाया जाय वहां भी सरकने लगे ऐसा क्यों नहीं ता ? इस का उत्तर केवल यही हो सकता है कि चुम्बक में ही लोहे को आ-र्षण करने की शक्ति है अन्य किसी में नहीं तथा चुम्बक में लोहे को ही खैं-ने की शक्ति है अन्य को खैंचने की नहीं। अर्थात् क्रिया का होना जैसे सर्वत्र क्रया के अदृष्ट कारण वा हेतु को सिद्ध करता वैसे क्रिया के नियमका होना ो क्रियानियम के हेतु को सिद्ध करता है। इस से चुम्बक के साथ लोहे की यत क्रिया अकारण नहीं परन्तु बालक जो स्तन का दूध पीने की अभिलाषा रता है उस का कारण पूर्व संस्कार से भिन्न अन्य कोई कदापि ठहर नहीं कता क्योंकि प्रत्यक्ष में जिस वस्तु वा प्राणि को जिस ने कभी नहीं देखा उस ो पहिले २ अकस्मात् देख कर किसी को कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। और त्काल जन्में बालक का पूर्व जन्म न माना जाय तो बाल्य दशा में दूध पीने का स्कार हो ही नहीं सकता। इसलिये उस का पूर्व जन्म मानना आवश्यक हुआ। स आत्मनित्यानित्य विचार में और भी बहुत सा विचार लिख सकते हैं परन्तु धिक बढ़ाना अच्छा नहीं। जैसे एक वर्तमान जन्म से पूर्व जन्म सिद्ध होता वैसे र्व जन्म से और पहिला फिर उस से भी और पहिला। इस प्रकार अनादि काल जन्म मरण सिद्ध होने से आत्मा वा जीवात्मा नित्य अविनाशी ठहरता है॥

इन्द्रियमनसोरात्मभावप्रतिषेधः

कोई कहे कि ज्ञानेन्द्रियों में से किसी को आत्मा के स्थान में क्यों न मान लिया जाय ? जब इन्द्रियां चेतन हैं तो अन्य किसी चेतन आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है ? इस का उत्तर यह है कि "जिस को मैं ने आंख से देखा था उस का त्वचा से स्पर्श करता हूं वा जिस को कान से सुना था उस को अब आंख से देखता हूं" यह व्यवहार नहीं बनेगा क्योंकि यहां इन्द्रियों से भिन्न देखने सुनने वा स्पर्श करने वाला सिद्ध है। जैसे कुल्हाड़ी से काटने वाला और कुल्हाड़ी दोनों अलग २ हैं किन्तु काटने वाला कुल्हाड़ी नहीं है वैसे यहां भी जो इन्द्रियों

से काम लेने वाला है वही आत्मा है। तथा किसी फल को एक समय जि
ने खाया और आंख से भी देखा तो दोनों इन्द्रियों से उस के स्वाद तथा रू
के ज्ञान का संस्कार आत्मा में हो गया। फिर कभी उसी जाति के फल को आं
से देख कर स्वाद का स्मरण आने से जिह्वा में जल छूटने लगता है यदि इ
इन्द्रियों में ही कोई आत्मा होता और इन्द्रियों से भिन्न आत्मा कोई न हो
तो जैसे अन्य के चाखे का अन्य को स्वादज्ञान नहीं होता वैसे चक्षु को रू
का ज्ञान होने से जिह्वा में विकार क्यों होता? जिह्वा में विकार होने से सि
होता है कि देखने और स्वाद लेने वाला चक्षु और रसन इन्द्रिय से कोई भि
ही है और वही आत्मा है॥

और जैसे आंख से देखता घ्राण से सूंघता है वैसे ही मन से मनन कर
वा सुख दुःख का अनुभव करता है। चक्षुरादि इन्द्रिय बाह्य साधन और मन आत
का भीतरी साधन है। जैसे बाह्य साधनों के विना आत्मा के बाहरी कार्य न
होते वैसे मन के विना भीतरी कार्य भी नहीं हो सकते। जैसे बाहिरी साध
को भिन्न मानने पड़ता है वैसे भीतरीसाधन भी आत्मा नहीं हो सकता। जै
आंख से सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं होता तो उस के लिये घ्राणेन्द्रिय भि
मानने पड़ता वैसे ही चक्षु आदि से सुखादि का ज्ञान नहीं होता इसलिये म
आत्मा से भिन्न वस्तु है। कोई कहे कि मन को मानने की आवश्यकता ही क्या है
आत्मा स्वयमेव सुख को जान लेगा तब हम कहेंगे कि फिर चक्षु आदि के वि
रूपादि क्यों नहीं देख सकता तब चक्षु आदि को भी क्यों मानते हो? तथा म
कोई वस्तु आत्मा से भिन्न न हो तो एक काल में सब इन्द्रियों से सब विष
का ज्ञान होने लगे तो निश्चयात्मक ज्ञान कोई भी न हो और एक काल में स
से ज्ञान होता नहीं इस से भी मन का भिन्न होना सिद्ध ही है॥

अभिनिवेश

मृत्यु का भय भी प्राणीमात्र के पीछे ऐसा लगा है जिस से और बड़ा दुः
जगत् में कोई भी नहीं कहा जा सकता। चींटी से लेकर बड़े से बड़े वा विद्वा
से भी अधिक विद्वान् सब प्राणी सब अभीष्टों से अधिक जीवन को चाहते स
से अधिक बुरा मृत्यु को ही समझते हैं किसी से कहा जाय कि तुम संसार
सब सुख मांग लो पर अपना प्राण हम को देदो तो कदाचित् प्राण से प्य
किसी को भी कोई न मानेगा न लेगा। सब प्राणीमात्र यही चाहते हैं कि ऐ
न हो कि हम न रहें कहीं मृत्यु न हो जाय। ऐं! मृत्यु!! मरण!!! क्या ऐ
बड़ा मरणभय पूर्व संस्कार के विना कभी हो सकता है? जो मरणदुःख
नहीं जानता न कभी भोगा उस को भय क्यों हो? जब किसी का कोई
मित्रादि मर जाता है तब जो शोक होता उस का भी प्रधान कारण अपने म

ा भय ही है कि इसी प्रकार हम को भी इस जगत् से चल देना है ऐसे संस्कार उद्बुद्ध हो जाने से मलिनता और उदासीनता छाजाती है। यदि कोई कहे क अन्यों को मरते देख कर भय होता है तो ठीक नहीं क्योंकि तत्काल के उत्पन्न ए प्राणियों को भी वैसा ही भय प्रत्यक्ष होता है यदि कोई ऐसा वस्तु उन के ामने ले जाया जाय जो वास्तव में उन के मृत्यु का हेतु हो वा कोई ऐसा काम कया जाय जिस से उन का मृत्यु हो सकता है और उन को अपने मारक का बोध ो हो जाय तो उन को भी वैसा ही वा और भी अधिक मरणभय होगा कांपने गें गे आकृति मलिन हो जायगी आकृति पर भय छाजायगा। प्रत्यक्ष अनुमान ौर शास्त्र आदि से भी उन तत्काल जन्मे प्राणियों को मरणभय का जब कुछ भी नुभव नहीं हुआ तो भय का होना पूर्वजन्म के अनुभूत मरण दुःख का अवश्य नुमान कराता है इस से भी आत्मा का नित्यत्व और पुनर्जन्म होना दोनों द्ध होते हैं॥

जब यह कहा जाय कि रागद्वेषादिदोष वा अविद्यादि क्लेशों के छूटने पर क्ति होती है तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि दोषों वा क्लेशों के बने रहने पर क्ति नहीं होती किन्तु बार २ जन्ममरण भोगने पड़ते हैं। इस से भी आत्मा का ागे पीछे बार २ जन्म होना सिद्ध है॥

पुनर्जन्म, पुनरुत्पत्ति, प्रेत्यभाव ये सब एकार्थ ही शब्द हैं। प्रेत्य नाम पूर्व रीर को छोड़ कर फिर उत्पन्न होना पहिले ग्रहण किये शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि ादि को छोड़ना मरण और नये शरीरादि को ग्रहण करना जन्म कहाता इसी ा नाम प्रेत्यभाव वा पुनर्जन्म है। इसी कथन से यह भी शङ्का निवृत्त हो जाती कि नित्य आत्मा का जन्ममरण कैसा? वा जो जन्मता मरता है वह नित्य सा? क्योंकि घटादि पदार्थों के तुल्य बनने बिगड़ने का नाम जन्ममरण नहीं न्तु एक शरीर का छोड़ना मरण, द्वितीय का ग्रहण जन्म कहाता है। जैसे ई बिगड़ते नष्ट होते हुए किसी घर को छोड़ कर नये घर में जा बसे तो यहां ों का उत्पत्ति नाश माना जायगा बसने वाले का नहीं इसी प्रकार जन्ममरण ा अर्थ उत्पत्ति नाश भी हो तो वे शरीर के हुए, आत्मा के नहीं इस से आत्मा सम्बन्ध में जन्ममरण बन सकते हैं और आत्मा के लिये यह भी कथन बन ता है कि "न जायते म्रियते वा०" वह आत्मा कभी उत्पन्न वा नष्ट नहीं होता न्तु नित्य है। अनादि काल से अपने किये कर्मों के अनुसार उत्तम मध्यम कृष्ट योनियों में नाना प्रकार के शरीरों को धारण कर २ वैसे २ सुख दुःख नादि काल से भोगता आता है॥

कर्म वा फल का नित्यानित्यत्वविचार ॥

प्रश्न—प्रवृत्तिरूप कर्म अनित्य पदार्थ है। जब इस जन्म का किया कर्म यहीं

नष्ट हो गया फिर उस कारणरूप कर्म के अभाव में जन्मान्तर में सुख दुःख प्राप्ति रूप फल कार्य कैसे हो सकता है ? क्या तेल के न रहने पर कभी दीपक जलना सम्भव है ? और पूर्वजन्म के शेष कर्मों का सुख दुःख फल भोगने के लिये ही पुनर्जन्म तुम मानते हो सो जब अनित्य होने से कर्म ही न रहे तो उन के भोगने को जन्म मानना भी व्यर्थ है ॥

उत्तर—यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना संगृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्त्तयति स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण संनिविशमानः पर्णादिफलं निर्वर्त्तयति । एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत् न च विनष्टात् फलनिष्पत्तिः । तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयतीति ॥ वात्स्यायनभाष्यम् । अ० ४ । १ । ४७ ॥

भाषार्थः–जैसे वृक्षों से होने वाले छायादि फलों का अभिलाषी वृक्ष की जड़ में जल देना खात डालना गोड़ना आदि कर्म करता है उस कर्म के नष्ट हो जाने पर उस कर्म का परिणाम वृक्ष की जड़ों में संचित हो जाता अर्थात् जल सेचनादि कर्म से ही पृथिवी और जल का सारांश एक रूपान्तर में हुआ पृथिवी की भीतरी उष्णता से पका हुआ रसरूप पहिला धातु बनता है वही द्रव्यरूप रस वृक्षाकृति बनने का मूल कारण है वह वृक्ष में प्रविष्ट हुआ एक भिन्न प्रकार से परिपक्व हो कर वृक्षाकृति रूप बनता हुआ पत्ते आदि फलों को उत्पन्न करता है इस प्रकार जल सेचनादि कर्म सार्थक होता है निरर्थक नहीं किन्तु कर्म के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता । इसी प्रकार शुभाशुभकर्मों के सेवन से जो आत्मा के साथ संस्कार होते और काल पाकर उन्हीं का नाम वासना भी पड़ता है वे अच्छे कर्मों से हुई शुभवासना वा संस्कार धर्म और अशुभकर्मों से हुई निकृष्ट वासना वा संस्कार अधर्म कहाते वे दोनों प्रकार के संस्कार आत्मा के साथ संचित हुए संचित पुण्य पाप कहाते हैं मरण समय वे संचित पाप पुण्य आत्मा के साथ ही रहते और उन्हीं पाप पुण्यों के अनुसार उत्तम मध्यम वा निकृष्ट समुदाय में जन्म हो कर संचित कर्मानुकूल ही सुख दुःख के सामान भोगने को मिलते हैं इस प्रकार यद्यपि कर्म अनित्य है तथापि जैसे कि सुपथ्य वा कुपथ्यरूप पदार्थों की भोजनरूप क्रिया खा चुकते ही नष्ट हो जाती है परन्तु खाया हुआ पदार्थ उदर के जाठराग्नि द्वारा पकता और जैसा अच्छा वा बुरा खाया पदार्थ खाद्य

था वैसा ही अच्छा वा बुरा परिणाम रूप रसधातु बनता यदि वह कुपथ्य हुआ
ो रसादि धातुओं को विकारी करता हुआ रोगों को प्रकट करने वाला हो जाता
और यदि सुपथ्य हुआ तो इसी प्रकार धीरे २ धातु पुष्टि द्वारा शरीर में सुख
तु अच्छे फल को उत्पन्न करता है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि कर्म के अनित्य
ोने पर भी उस का शुभ वा अशुभ फल अवश्य भोगने पड़ता है ॥

अब हम को विश्वास है कि पूर्वोक्त इतने लेख से प्रश्न कर्त्ता के "आवागमन किस प्रकार सिद्ध है" इतने प्रश्नांश का उत्तर आगया क्योंकि जीवात्मा का अस्तित्व, नित्यत्व और परमेश्वर की न्यायशीलता ही मुख्य कर जीवात्मा के आवागमन को सिद्ध करते हैं । अब यह विचार शेष रहा कि किसी को स्मरण क्यों नहीं रहता कि हम पूर्वजन्म में कौन थे और आगे कौन होंगे ? इस का उत्तर यह है कि बुद्धि मन वा ज्ञान सब प्राणियों का एक ही प्रकार का नहीं है किन्तु कर्मों के अनुसार प्राणधारियों के असंख्य होने से उन में भिन्न २ असंख्य प्रकार के सुख दुःख और असंख्य ही प्रकार का ज्ञान भी है । अर्थात् स्मरण रहने की शक्ति भी सब में भिन्न २ है सब को एक सा स्मरण जगत् में भी नहीं । ऐसे भी प्राणी प्रत्यक्ष विद्यमान हैं जिन को एक ही शरीर में कल के किये वा भोगे विषय का किञ्चित् भी स्मरण आज न रहे अर्थात् स्मरण दिलाने पर भी न हो सके और आगे चलो तो ऐसे भी मिल सकें गे जिन को तत्काल के देखे जाने का तत्काल ही कुछ भी स्मरण न रहे तथा ऐसे भी प्राणी विद्यमान मिल सकें गे जिन को बाल्यावस्था में २ वा २॥ वा ३ वर्ष की अवस्था में किये देखे जाने विषयों का यथावत् स्मरण हो और उन्हीं के साथी कुछ ऐसे भी मिलें गे जिन को ८ । १० वर्ष की अवस्था के किये देखे जाने विषयों का भी कुछ स्मरण न हो । इसी प्रकार अधिक २ शोचते जाओ तो कुछ आत्मा वा जीव की ऐसी दशा भी मिलती है वा मिले गी जिस को जड़ मानो वा कहो जिस को अपनी वर्त्तमान दशा का भी स्मरण नहीं कि मैं कौन हूं और कहां हूं किस दशा में पड़ा हूं । और ऊपरी कक्षा की ओर ध्यान दो तो तुम को ऐसे भी प्राणी दीख पड़ें गे कि जो ज्ञान और बुद्धि की अधिक तेजी से विना देखे जाने विषयों को भी आंख मीच के हेतुओं द्वारा ठीक शोच कर ऐसा जान लें और तुम को बता दें कि जानो इन ने साक्षात् आंखों से ही देखा हो । इस लेख से हमारा यह प्रयोजन है कि ज्ञान के तारतम्य=न्यूनाधिक भाव की अब सीमा नहीं हो चुकी और प्रत्यक्ष अनुभव करने से जगत् में भी अवधि नहीं दीखती कोई भी मनुष्य प्रतिज्ञा के साथ नहीं कह सकता कि मैंने अब तक जितने वा जैसे ज्ञानवान् देखे हैं उन से अधिक ज्ञानी अब सृष्टि में कोई नहीं है अथवा वर्त्तमान समय में जिस कक्षा तक के ज्ञानवान् विद्यमान हैं उन से अधिक न कभी हुए थे और न आगे हो सकते हैं जब इन में से किसी बात की प्रतिज्ञा कोई नहीं कर सकता

तो फिर यह भी कहना वा मानना नहीं बन सकता कि पूर्वजन्म का किसी को स्मरण नहीं क्या किसी ने सृष्टिभर के प्राणियों की परीक्षा करली? वा कोई ऐसा कभी कर सकता है? हम कहते हैं भूत भविष्य वर्त्तमान तीनों काल में ऐसे मनुष्यादि होने सम्भव हैं जिन को पूर्वजन्म का स्मरण हो कि पूर्वजन्म में हम अमुक थे, पर इस में इतना भेद अवश्य है कि आर्यावर्त्त देश में आत्मज्ञान वा अध्यात्म बोध विषय में जितनी उन्नति पूर्वकाल में हो चुकी है उस की अपेक्षा अब लक्षांश भी नहीं यदि कभी कोई आत्मज्ञान विषय में उन्नति कर सकता है तो भारतवर्ष के पूर्वकालीन ब्रह्मर्षियों से आगे चढ़ के कहीं नहीं जा सकता अर्थात् अध्यात्म विषय में मनुष्य जिस शिखर तक चढ़ सकता है उस प्रथम संख्या (अव्वल नम्बर) की उन्नति तक ये ही पहुंचे इस से आगे फिर मनुष्य की शक्ति नहीं किन्तु आगे फिर परमेश्वर ही है। पहिले काल में जिन अध्यात्म विषयों को साक्षात् करने वाले सैकड़ों थे वैसा अब एक भी नहीं दीखता तभी तो अभाव देख कर यह कहा गया कि किसी को स्मरण नहीं। अध्यात्म विद्या की उन्नति पहिली कक्षा है और अब वर्त्तमान काल में शिल्प वाणिज्य कला कौशल धन दौलत आदि की उन्नति तीसरी वा चौथी कक्षा की है द्वितीय कक्षा में ब्रह्मचर्यादि द्वारा शारीरिक बल की उन्नति हो सकती है उस का भी सम्प्रति अभाव है। सो जैसे दिन रात का विरोध है वैसे ही ऐश्वर्य वा विषयानन्द के भोग और अध्यात्मज्ञान योगाभ्यासादि का विरोध है अध्यात्मविचार योगाभ्यास समाधि में विषय भोगों से वैराग्य और विषयभोग में गोता लगाने वाले परमार्थ ज्ञान से विरक्त हो जाते हैं दोनों में एक साथ कोई नहीं चल सकता जैसे कि एक मनुष्य पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओं को एक काल में नहीं जा सकता। प्रयोजन यह है कि अब स्मरणशक्ति के बढ़ाने का समय नहीं रहा। कागज़ लेखनी कालिमा (श्याही) द्वारा लेख से काम लेने की क्रमशः जो उन्नति हो रही है वह स्मरण द्वारा कार्यों को न कर स्मरण रखने की आवश्यकता नहीं इस उद्देश्य को सिद्ध करती जाती है। पहिले समय में ऐसा नहीं था। अस्तु हमारा आशय यह है कि पूर्वजन्म का स्मरण किसी को आज तक नहीं हुआ यह ठीक नहीं क्योंकि पहिले काल में ऐसे सैकड़ों थे पर अब कोई २ कहीं २ ऐसे होने सम्भव हैं। यदि कहो कि हम ने तो आज तक ऐसा कोई न देखा न सुना तो यह शोचो कि तुम ने वा मैंने वा किसी एक ने जितना देखा सुना है उस से आगे क्या कुछ अधिक नहीं हो सकता? तुम किसी मनुष्य को जब बताओगे कि इस ने जितना देखा जाना है वह सर्वोपरि है तो कदाचित् झट ही दूसरा कोई किन्हीं अंशों में ऐसे मनुष्य को बता सकता है कि इस की अपेक्षा इतने अंशों में वह अधिक जानकार है इस से यह अभिमान रखना सर्वथा भूल है कि जो हम ने देखा सुना नहीं वह नहीं है। यदि कहो कि ऐसा मनुष्य तुम्हीं बताओ कि जिस को पूर्वजन्म का स्मरण हो तो उस

ह है कि जैसे तुम अनेक विषयों को सम्भव वा सत्य समझते हो कि इन का थावत् जानने वाला भी कोई हो सकता है पर तुम ने स्वयं उन को जाना भी हीं और असम्भव प्रतीति न होने वा सन्देह न होने से वैसे मनुष्य की तलाश भी उद्योग नहीं करते वैसे हम को भी पुनर्जन्म में सन्देह नहीं है हम सत्य और सम्भव ही समझते हैं कि पूर्वजन्मों का ज्ञान भी अवश्य हो सकता है इसी लये वैसे मनुष्य को हम खोजते भी नहीं क्योंकि हम को सन्देह कुछ नहीं है। दि कहो कि प्रत्येक विषय के जानकार अनेक२ उपलब्ध होते हैं यदि पूर्वजन्म ा स्मरण रखने वाला कोई होता तो कहीं दीख सुन न पड़ता ?। तो उत्तर यह कि तुम को स्वयं भी छः महीने वा एक वर्ष की अवस्था का कुछ भी स्मरण होगा और ऐसा मनुष्य कभी देखा सुना भी न होगा। तो क्या उस के बुद्धि विचारों का उस काल में अभाव हो सकता है ?। यह निश्चय रक्खो कि अच्छे ा उत्तम सदा ही कम होते हैं सूर्य चन्द्रमा एक ही एक हैं राजा एक होता जा अनेक होती है। जब एक वर्ष के भीतर अत्यन्त बाल्यावस्था का ही मरण रखने वाला मिलना कठिन है कि जब इन्हीं आंख आदि इन्द्रियों से ब देखनादि काम होता था और यही शरीर भी है तो पूर्वजन्म का न शरीर हा न इन्द्रियां रहीं सब साधन बदल गये उस समय का स्मरण रहना कठिन ा दुर्लभ सा हो तो आश्चर्य ही क्या है ?। पूर्वजन्म की जाति का स्मरण कैसे मनुष्य को हो सकता है सो मानवधर्मशास्त्र के अ० ४। १४८। १४९ में लिखा है-

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

अ०-जो शौच और तप आदि नियमों और अहिंसादि योगशास्त्र में कहे यमों ा यथावत् निरन्तर सेवन करने के साथ बहुत काल तक निरन्तर वेद का अभ्यास रता है वह पूर्वजन्म के सब वृत्तान्त को जान लेता उस को पूर्वजन्म का सब मरण हो जाता है। उस पूर्वजन्म के स्मरण से फिर भी वेद का ही अभ्यास करता ाता है उस नियमानुसार निरन्तर जन्मभर किये वेदाभ्यास से मरणानन्तर अनन्त मुक्ति सुख को भोगता है ॥ क्या कोई मनुष्य कह सकता है कि यमनियमों के ठीक २ अनुष्ठान के साथ १०। २० वर्ष भी किसी ने सब काम छोड़ कर एकान्त बैठ जितेन्द्रिय होके केवल वेद का निरन्तर अभ्यास किया हो वा कोई कर सकता हो। जब देखते हैं कि हाईकोर्ट के वकील बारिस्टरादि होने के लिये कितना२ परिश्रम कितना धन खर्च आदि करते हैं तब संसार के छोटे २ कामों

भाग ५ पृष्ठ १४८ से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर ॥

इस के आगे साधुसिंह ने जीवादि को ब्रह्म का अंश ठहराने के लिये यजुर्वेद अ० ३१ । ३ का प्रमाण दिया है कि-

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

अर्थः—तिस परमेश्वर सर्वान्तरयामी की यावत् प्रपंच है सो संपूर्ण महिमा नाम विभूति है भाव यह है परमेश्वर विभूतिमान् है और प्रपंच विभूति है ॥

समीक्षक—विचारशीलों को ध्यान देना चाहिये कि साधुसिंह ने मन्त्र का अर्थ कैसा समझा वा किया है। इन से कोई पूछे कि व्याकरण के अनुसार प्रपञ्च शब्द का क्या अर्थ है तो अभीष्ट के साथ कदापि ये लोग शब्दार्थ की संगति को नहीं मिला सकेंगे। प्रपञ्च शब्द का अर्थ है कि विशेष वा उत्तम फैलाव, क्योंकि प्र उपसर्गपूर्वक "पचि व्यक्तीकरणे" धातु से यह शब्द बनता है। साधुसिंह ने महिमा, विभूति और प्रपंच तीनों शब्दों को एकार्थ कहा है परन्तु इन तीनों के अर्थ में वस्तुतः भेद अधिक है। विशेष व्याख्यान का नाम प्रपञ्च, महत्त्व वा बड़प्पन का नाम महिमा और ऐश्वर्य सम्पत्ति वा सिद्धि का नाम विभूति है। इस प्रकार इन शब्दों का लोकप्रसिद्ध अर्थ सर्वसाधारण के सम्मत कोषादि के अनुसार भिन्न २ है तो तीनों को एकार्थ मानना कितनी बड़ी भूल है ! संस्कृत के शब्दार्थवेत्ता सभी लोग इस को जानते हैं कुछ छिपा नहीं है। उक्त मन्त्र में कोई भी ऐसा पद नहीं है जिस से जीव ब्रह्म में अंशांशिभाव निकल सके यदि होता तो साधुसिंह को अपने पक्ष की पुष्टि के लिये घटा कर दिखाना चाहिये था। और जब "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" ऐसे वैशेषिकादि के प्रमाणानुसार वेद के सब उपदेश वा कथन युक्तियुक्त हैं किन्तु ऊटपटांग नहीं तो यह कैसे हो सकता है कि विभु व्यापक पदार्थ में अंशांशिभाव माना जावे। क्या आकाश विभु पदार्थ है तो उस में परिच्छिन्न वस्तु के तुल्य अंशांशिभाव हो सकता है ?। अर्थात् कदापि कोई पुरुष आकाश के खण्ड वा टुकड़ेरूप अंशों को नहीं दिखा सकता फिर वेद में ऐसी अयुक्त वार्त्ता क्यों कही जाती कि व्यापक परमेश्वर में अंशांशिभाव है यदि कहें कि उपाधिकृत है वास्तविक नहीं तो अंशांशिभाव की कल्पना मिथ्या हुई सो मिथ्या को ठीक मानना अज्ञानियों का काम है किन्तु विचारवानों का नहीं ॥

और मन्त्र का स्पष्ट अर्थ यह है कि (एतावान्, अस्य, महिमा) यह जो कुछ चराचर जगत् दृष्टिगोचर होता है वह सब इस पूर्ण व्यापक परमात्मा का

महिमा नाम महत्त्व है अर्थात् परमेश्वर के सर्वोपरि महान् होने के ज्ञान में प्रत्यक्ष जगत् हम लोगों के लिये हेतु है। जगत् में अनेक प्रकार की चित्रविचित्र आश्चर्यरूप रचना दीख पड़ती है जिस से निश्चित होता है कि इस सब का नियन्ता वा उत्पादक कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है जिस की शक्ति और विद्या अचिन्त्य वा अप्रमेय है। (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) यद्यपि वह व्यापक पुरुष इस सब कार्य जगत् में व्याप्त है तथापि इस सब से अत्यन्त बड़ा है (पादः, अस्य, विश्वा, भूतानि) सब प्राणी अप्राणी रूप जगत् (जिस की रचना की अवधि हम लोगों की बुद्धि से बाहर है वह) एक चतुर्थांश की कल्पना में है और (त्रिपाद्, अस्य, अमृतम्, दिवि) तीन भाग वह अपने प्रकाश स्वरूप में सदा अवस्थित रहता है अर्थात् इस सब ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के करने में अपनी शक्ति के केवल एक भाग को काम में लाता है। इस कथन से परमेश्वर के स्वरूप में किसी प्रकार की अंश कल्पना नहीं आसकती ॥

*आशय यह है कि संसार की रचना से रचने वाले की जितनी शक्ति अनुभव की जा सक्ती है, वास्तव में उस में उतनी ही शक्ति नहीं किन्तु उस से अधिक है जिस को योगी भी नहीं जान सक्ते जिस प्रकार एक चित्र को देख कर चित्र बनाने वाले की समस्त शक्ति विद्या बुद्धि का अनुभव हम को नहीं हो सक्ता किन्तु केवल इतना ही हम समझ सक्ते हैं जितना कि चित्र निर्माण से झलकता है परन्तु यदि विचार की आंख को फैलावें तो यह भी अनुमान से विपरीत नहीं कि चित्र बनाने वाला ही पुरुष वैद्य हो, ज्योतिषी हो, याज्ञिक हो, नैयायिक हो, योगी हो, वेदान्ती हो, इत्यादि जाने कितने ही गुण उस में ऐसे हों, जो चित्र देखने से समझ में नहीं आसक्ते। इसी प्रकार (एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः) इतनी तो उस की महिमा हम में से कोई कठिन से जान सक्ते हैं परन्तु उस का यथार्थ स्वरूप शक्ति और ज्ञान इस हमारी समझ में आये हुवे से अत्यन्त अधिक है ॥

इस से यह तो अवश्य सिद्ध हुवा कि ईश्वर को जितना हम जगत्कर्तृत्वादि गुणों से जान सक्ते हैं इतना उस का चतुर्थांश जानना है परन्तु यह नहीं सिद्ध हुवा कि जीवादि पदार्थ ईश्वर के अंश हैं। जिस प्रकार एक जीवात्मा एक शरीर में अन्तःकरणोपाधि से घिरा हुवा है इसी प्रकार वह ब्रह्म प्रकृत्युपाधि से घिरा हुवा नहीं किन्तु उस का अंशमात्र प्रकृति में व्याप्त है और प्रकृति से चराचर की रचना करता है किन्तु समस्त ब्रह्म इस जगत्कर्तृत्वाद्यनुमेयांश से अत्यन्त अधिक है इसी से उस को " जगत् के भीतर और बाहर भी है " ऐसा कहते हैं। और चित्र ही को चित्र बनाने वाले का अंश मानना बुद्धिमानों और विचारवानों का काम नहीं ॥

* यहां से तुलसीराम स्वामी का लेख आरम्भ हुआ है ॥

आगे साधुसिंह जी पृष्ठ ५३ से निम्नलिखित मैत्र्युपनिषद् के प्रमाण से ब्रह्मादि की मूर्त्ति सिद्ध करने में लिखते हैं कि:--मैत्र्युपनिषद् अ० ५ । का० २ ।

तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत् परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः संप्रास्रवत् । सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः ॥ अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा वोद्भूतः ॥

इस से साधुसिंह जी यह तात्पर्य्य निकालते हैं कि–सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व तम था तमः को परमात्मा ने प्रेरणा की तब वह विषमता को प्राप्त हो कर रजः हुआ उस को भी विषम किया तब सत्व हुआ सत्व से रस=आनन्द हुवा वह आनन्द ही एक अंश है जो चेतनमात्र क्षेत्रज्ञ आदि विशेषणविशिष्ट है उसी के ये पूर्वोक्त सत्वरजस्तमोमय वक्ष्यमाण ब्रह्मा विष्णु आदि देह हैं इत्यादि ॥

परन्तु वे आप ही तो कहते हैं कि प्रथम तमः को परमात्मा ने प्रेरित किया तब उत्तरोत्तर रजः सत्त्व रस आदि की सृष्टि हुई फिर यह कैसा कि यह रस ही चेतनमात्र पुरुष ईश्वर है । "परमात्मा ने तमः को प्रेरित किया" इस से प्रतीत हुवा कि परमात्मा तमः से भिन्न वा अन्य है । अब हम इस मैत्र्युपनिषद् के वाक्य समुदाय का अर्थ लिखकर यथार्थ तात्पर्य पाठकों के सामने रखते हैं जिस से भ्रान्ति दूर हो:–

(अग्रे तदिदं तमः वै एकं परे आसीत्) सृष्टि से प्रथम वह यह जगत् अन्धकारमय निश्चित एक परे=परमात्मारूप आधार में आधेय रूप था (तत् परेणेरितं स्यात् [तदा] विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजोरूपम्) वह तम परमात्मा से प्रेरित हो कर विषमता को प्राप्त होता यही रजः है (रजः खलु ईरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्वस्य रूपम्) वह रजः निश्चित प्रेरित हुआ विषमता को प्राप्त होता यही सत्व का स्वरूप है (तत्सत्वमेव ईरितं रसः सम्प्रास्रवत्) वह सत्व ही ईश्वर से प्रेरित हुवा रस=आनन्द (जिस को

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्याऽयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'

इत्यादि श्लोकों में वर्णन किया है जो जगत् की उत्पत्ति में प्रथम कार्य्य और उत्तरोत्तर होने वाले अन्य कार्य्यों का कारण है) हुवा ॥

(सोंशो यश्चेतामात्रः, प्रतिपुरुषः, क्षेत्रज्ञः, संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः, प्रजापति, विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः) वह अंश जो चेतन, इस सब सत्वादिमय में व्यापक, सर्वज्ञ, अपने सङ्कल्प और विचार से मानने वाला कि मैं इस जगत् का स्रष्टा हूं और यह जगत्कर्तृत्व ही जिस का लिङ्ग=पहिचान है, प्रजा का पति, सब में है, उस चेतनादि विशेषणविशिष्ट की पूर्वोक्त सत्वादिमय सृष्टियां तनुस्थानी हैं। "उस चेतन परमात्मा की यह सत्वादिमय रचना तनु है" इस से भी सिद्ध है कि जिस प्रकार हमारी तनु देह हम जीवात्माओं का अंश नहीं किन्तु स्थान है वैसे ही यह सृष्टि परमात्मा का अंश नहीं किन्तु स्थान है अर्थात् वह इस में रहता है परन्तु पूर्वोक्त यजुर्मन्त्र के अनुसार जितना वह इस जगत् के भीतर है यथार्थ में उतना ही नहीं है उस से बाहर भी है। (हे ब्रह्मचारिणः अथ यो ह खलु वाव अस्य, तामसः, अंशोऽसौ सः, योऽयं रुद्रः) हे ब्रह्मचारियो ! जो प्रसिद्ध निश्चित उस परमात्मा का तमोगुण में व्याप्त अंश है वह रुद्र है (हे ब्रह्मचारिणः अथ यो ह वाव अस्य राजसोंऽशः असौ स : योऽयं ब्रह्मा) और हे ब्रह्मचारियो ! जो उस का रजोगुण में व्याप्त अंश है वह ब्रह्मा है (अथ हे ब्रह्मचारिणः योह खलु वाव अस्य सात्विकोंऽशः असौ सः योयं विष्णुः) और हे ब्रह्मचारियो ! जो उस का सत्वगुण में व्याप्त अंश है सो वह है जो कि विष्णु कहाता है (स वै एषः एकस्त्रिधाभूतः अष्टधा एकादशधा द्वादशधा अपरिमितधा वा उद्भूतः) वही एक परमात्मा ब्रह्मा विष्णु रुद्र तीन प्रकार का है, अष्टवसुओं में रह कर अष्टधा, एकादश रुद्रों में रह कर एकादशधा, द्वादश आदित्यों में रह कर द्वादशधा है ॥

अर्थात् परमात्मा (उस की जात वा स्वरूप) में तो सत्व रजः तमः कोई गुण नहीं अतः वह निर्गुण है परन्तु वह प्रकृति के तीनों गुणों में व्यापक अतः सगुण है । रजोगुण उस शक्ति का नाम है जिस से कोई वस्तु बने और सत्वगुण वह शक्ति है जिस से कोई वस्तु अपने स्वरूप में कुछ काल तक रहे पालित हो और तमोगुण वह शक्ति है जिस से किसी वस्तु का नाश अर्थात् अदृश्यता वा अवयववियोग हो, सो परमात्मा प्रलयकाल में प्रकृति के तमोगुण को लेकर प्रलय करते हैं, अतः रुद्र हैं । सृष्टिकाल में रजोगुण को लेकर सृष्टि रचते हैं अतः ब्रह्मा हैं। और स्थितिकाल में सत्वगुण को लेकर पालन करते हैं अतः विष्णु हैं। जिस प्रकार इन तीन प्रकार के कारणों को लेकर कार्य्य करने

से वे ब्रह्मा विष्णु रुद्र कहाते हैं इसी प्रकार आठ प्रकार के पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, इन के आठों कारणों से अष्टवसुओं को रचकर उन में व्यापक होने से परमात्मा वसु कहाते हैं। और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा इन ग्यारह प्रकार के पदार्थों को लेकर उन में व्यापक होने से वे रुद्र कहाते हैं। और चैत्रादि द्वादश मास रूपी कालविभागों में व्यापक होने से वे द्वादशधा आदित्य कहाते हैं तथा संसार के अन्य अपरिमित प्रकार के कारणों से अपरिमित प्रकार के कार्यों को रच कर उन में व्यापक होने से वे परमात्मा अपरिमितधा कहाते हैं॥ यदि कोई यह शङ्का करे कि जब रजः, सत्व, तमः तीनो गुण प्रकृति में हैं और उन तीनों गुणों से उत्पत्ति स्थिति प्रलय होते हैं तब परमात्मा के जगत्कर्तृत्वादि मानने की क्या आवश्यकता रही ? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार बालू में तेल नहीं और तिलों में तेल है इस लिये कह सक्ते हैं कि तिलों में तैलोत्पादन शक्ति है बालू में नहीं परन्तु तिलों में से तैल पुरुषार्थ करने (पीडन) से निकल सक्ता है और पुरुषार्थी पुरुष तिलों से भिन्न है जो तिलों को पेल (पीडन) कर तैल सम्पादन करता है इसी प्रकार प्रकृति में उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप तीनों प्रकार का सामर्थ्य तिलों में तैलोत्पाद शक्ति के समान रहते भी परमात्मा की प्रेरणा की आवश्यकता है यही बात इस मैत्र्युपनिषद् में (परेण ईरितम्) आदि पदों से दिखलाई गई है ॥

यद्यपि सत्व रजस् तमस् की व्यवस्था जो हम नीचे लिखते हैं कुछ साधु सिंह जी के प्रतिवाद में सम्मिलित नहीं है परन्तु हमारे पाठकों को किसी दूसरे प्रसङ्ग में शङ्का न हो इस लिये कुछ लिखते हैं--मुख्य कर विचार ने से यह ज्ञात होता है कि सत्व और तमस् एक दूसरे से भिन्न दो गुण हैं जिन में से सत्व गुण से उत्पत्ति और तमोगुण से प्रलय, परमात्मा करते हैं सत्वगुण और तमोगुण का मध्यवर्त्ती रजोगुण है। जिस प्रकार उदात्त अनुदात्त दोनों स्वरों के मिला कर एक तीसरा स्वरित---मध्यम स्वर होता है इसी प्रकार सत्व और तमस् के मिलाने से रजोगुण होता है और उत्पत्ति तथा प्रलय का मध्यवर्त्ती स्थिति कार्य्य रजोगुण से परमात्मा करते हैं जब यह सिद्धान्त है तो पूर्वोक्त मैत्र्युपनिषद् में यह सन्देह हो सक्ता है कि यहां रजोगुण से सृष्टि, सत्व गुण से स्थिति, तमोगुण से प्रलय, क्यों माना गया जो उक्त सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ता है इस का उत्तर यह है कि बहुग्रन्थानुकूल होने से सिद्धान्त पक्ष तो वही है और मैत्र्युपनिषद् कर्त्ता ने भी तमोमयी प्रलयावस्था के अनन्तर मध्यवर्ती रजस् के और पश्चात् सत्व की उत्पत्ति लिखने से यही सूचित किया है कि मध्यवर्त्ती रजोगुण है। परन्तु आगे चल कर जो राजस को ब्रह्मा और सात्विक को विष्णु कहा है इस का कारण यह प्रतीत होता है कि सत्व रजस् तमस् इन तीनों

भी प्रत्येक में तीनों कुछ २ बने रहते हैं ऐसा है तब विवक्षाधीन वाक्य होने से कहीं सत्त्व के अन्तर्गत रजोगुण की प्रधानता लेकर ब्रह्मा को सात्त्विक लिखने के बदले राजस लिखना भी बन सकता है । इस विषय को अधिक विशद करें तो लेख बढ़ कर प्रसङ्ग बहुत दूर छूट जायगा अतः यहीं समाप्त करके आगे सत्यार्थविवेक के पृष्ठ ५६ से लेकर जो रुद्र की महिमा साधुसिंह ने लिखी है उस की समीक्षा करेंगे ॥ साधुसिंह जी ने पृष्ठ ५६ से ७२ तक जो लेख लिखा है उस में यह नीचे लिखे संक्षिप्त दोष श्री स्वामी जी वा आर्य्यसमाज के सिद्धान्त पर आरोपित किये हैं । यथा—

१—नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमउगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥ यजुः अ० १६ मं० २४ ॥

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्षआयुधं निधाय कृत्तिं वसानआचर-पिनाकं बिभ्रदागहि ॥ यजुः अ० १६ मं० ५१ ॥

इन मन्त्रों में जो आर्य्य लोग स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के लेखानुसार मानते हैं कि इस अध्याय भर में राजप्रकरण है उस पर साधुसिंह जी का कथन है कि इस में रुद्र जो ईश्वर का अंशावतार है उस का वर्णन है इस की पुष्टि में ये हेतु देते हैं कि—

(क) अथोऽएवंहैतानि रुद्राणां जातानि ॥

शतपथ ९ । १ । १ । १९ ॥ से सिद्ध है कि ये इस अध्याय में कहे शब्द रुद्रों के जात अर्थ में हैं ॥

उत्तर—यथार्थ में इस अध्याय में राजप्रकरण का ही विशेष वर्णन है । यह कहना कि शतपथ के प्रमाण से रुद्रजाती का वर्णन है हमारे सिद्धान्त का

विरोध नहीं करता क्योंकि हमारे सिद्धान्त में इन मन्त्रों में आये रुद्रादि पद मनुष्य जातीय राजादि के वाचक हैं शतपथ के प्रमाण से केवल यही सार निकलता है कि ये अध्यायोक्त रुद्रों के जात हैं अब विचारणीय यह है कि रुद्र क्या वस्तु हैं जिन के ये जात हैं रुद्र नाम ईश्वर का भी है, रुद्र नाम देवताविशेष का भी है जो रौद्र स्वभाव वाले प्राणी अप्राणी रूप जगत् में रुद्रत्व एक गुण है वही रुद्र देवता है वह देवता वायु आदि अन्तरिक्षस्थानी देवतों में भी हो यह सम्भव है तथा द्युस्थानी देवतों में भी हो परन्तु मनुष्यो में भी है जैसा कि शतपथ में इसी प्रकरण में लिखा है:—

देवानां वै विधामनु मनुष्यास्तस्मादु हेमानि मनुष्याणां जातानि ॥ शतपथ । ९ । १ । १ । १९ ॥

अर्थात् रुद्रजात का अर्थ मनुष्य जात है क्योंकि देवतों का प्रकार=आकार मनुष्य का सा है अर्थात् दिव्यगुण युक्त मनुष्य देवता होते हैं जब कि मनुष्य जात ही रुद्रजात हैं ऐसा स्पष्ट लेख है तो फिर सेनापति आदि मनुष्यार्थ ग्रहण करना शतपथ के भी अनुकूल होने से स्वामी जी का किया अर्थ कुछ निज कल्पित ही नहीं किन्तु आर्ष सम्प्रदायानुकूल है । यदि इतने से भी सन्तोष न हो तो उसी शतपथ में नवम काण्ड में यह भी लिखा है कि—

स एष क्षत्रं देवः । तस्मा एतस्मै क्षत्रायेमा विशोऽमुं पुरस्तादुद्धारमुदहरन् इत्यादि ॥ श० ९ । १ । १ । २५ ॥

सो यह रुद्र क्षत्रदेव है सो इस रुद्र क्षत्रिय के लिये ये विशः=प्रजागण उपायन रूप अन्नादि पदार्थ सामने रखते हैं अर्थात् कररूप से देते हैं । इस से और भी स्पष्ट हो गया कि सेनापति आदि देवता हैं इस से सिद्ध हुवा कि मन्त्रार्थ यही ठीक है कि:—

ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो तुम (सभाभ्यः) न्यायादि सभाओं को (नमः) नमस्कार करो (च) और (सभापतिभ्यः) उक्त सभाओं के सभापतियो (वः) तुम को (नमः) नमस्कार है ऐसा कहो (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये (नमः) अन्न (च) और (अश्वपतिभ्यः) घोड़ों के पालने वालो (वः) तुम को (नमः) अन्न तथा (आव्याधिनीभ्यः) शत्रु को वेधन करने वाली सेनाओं तथा (विविध्यन्तीभ्यः) विविध प्रकार से शत्रुसंहारिणी वीराङ्गनाओ (वः) तुम को (नमः) अन्न वा सत्कार (उगणाभ्यः) तार्किक स्त्रियों को (नमः) सत्कार (च) और (तृंहतीभ्यः) युद्ध में मारती हुईयो (वः) तुम को (नमः) अन्नादि सत्कार है ऐसा कहो और करो ॥

(मीढुष्टम) हे अत्यन्त पराक्रम युक्त (शिवतम) कल्याणकारिन्! (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न (शिवः) सुखकारी (भव) हो और (आयुधम्) शस्त्र को (निधाय)

धारण करके (कृत्तिं वसानः) सन्नाह पहरे हुए (पिनाकम्) धनुष् को (बिभ्रत्) धारण किये (आगहि) आइये (परमे वृक्षे) प्रबल छेदनीय शत्रुगण में (आचर) आचरण कीजिये अर्थात् अपने धनुर्बाणादि धारण का काम कीजिये इति ॥

(ख) इस अध्याय में आये चतुर्थ्यन्त पदों से जो नमः पद का सम्बन्ध है उस नमः शब्द को स्वामीदयान० ने अन्न वज्र आदि अनेक अर्थों में लिया है सो अयुक्त है क्योंकि पूजार्थक नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है अन्यार्थ के योग में नहीं इस से नमः शब्द यहां अन्न वज्रादि वाचक नहीं किन्तु पूजार्थ है जो देवता के लिये है ॥

(ख) उत्तर—इस में कोई प्रमाण व्याकरणादि का भी नहीं कि अन्नादि अर्थ वाले नमस् के योग में चतुर्थी नहीं होती तथा यदि व्याख्यान तो विशेष प्रतिपत्ति० परिभाषानुसार ऐसा माने भी तौ शतपथ में इस प्रकरण में अन्नार्थ ग्रहण किया है। यथा—

अथातः शतरुद्रियं जुहोति। श० ९।१।१।१॥ अन्नमस्मै सम्भराम ...... तस्मा एतदन्नथं समभरन्। इत्यादि श० ९।१।१।२॥

अर्थः—अब शतरुद्रिय यज्ञ कहा जाता है और अन्न द्वारा इस रुद्र देवता को उपहार भेंट दें और इस अन्न द्वारा ही उस रुद्र के लिये उपहार दिया। इस से सिद्ध है कि अन्नोपहार रुद्र के लिये लिखा है तब रुद्रत्व गुणधारी स्त्री पुरुषों के प्रति अन्नादि सत्कारार्थ स्वामी जी ने लिया सो शतपथ के अनुकूल ही है। यदि अन्नार्थ नमस् के योग में चतुर्थी विधान इष्ट न हो तौ शतपथ का लेख क्या आप को प्रामाण्य नहीं? वा आप कहीं कोई वेद का ऐसा उदाहरण बता सक्ते हैं जहां नमस् का अन्न वज्रादि अर्थ हो परन्तु उस के योग में चतुर्थी न हो कर द्वितीया विभक्ति हो? कदापि नहीं ॥

(ग) यदि यह प्रकरण राजप्रसङ्ग का है तौ स्वामीदया० ने भी अपने भाष्य में इन मन्त्रों का रुद्र देवता क्यों लिखा सेनापति ही देवता लिखना था क्योंकि—

यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता। आश्वलायनसूत्र॥

जो मन्त्र का द्रष्टा है वह ऋषि और जिस का उस मन्त्र में वर्णन है वह देवता है ॥

(ग) उत्तर—जब कि हमारे लिखे शतपथ के दोनों प्रमाणों से रुद्र शब्द का अर्थ मनुष्य जात वा क्षत्र जात सिद्ध है तौ स्वामीदया० ने अपने भाष्य में इन मन्त्रों का रुद्र देवता लिखा, सेनापति न लिखा इस में क्या दोष आया? जिस प्रकार अभ्र और मेघ शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं इस दशा में कोई मेघ शब्द के स्थान में अभ्र लिखे वा उच्चारण करे तो क्या भेद पड़े? कुछ नहीं।

श्रीमद्दयानन्दविश्वविद्यालयपाठशाला प्रयाग

यह तो सब महाशयों को ज्ञात ही है कि यह पाठशाला बहुत थोड़े खर्च से केवल विद्यार्थियों को भोजनादि के दानमात्र से कई विद्यार्थियों को पण्डित बना कर वैदिकधर्मप्रचार में सहायता करती आई है । यद्यपि जितना बड़ा इस का नाम है वैसा अधिक काम इस से नहीं बना परन्तु चन्दे की सहायता पर ही सब कार्य्य निर्भर है । धनाभाव के कारण कोई अध्यापक भी वैतनिक नहीं है जो अपना सम्पूर्ण समय इस में लगावे इस दशा में पं० भीमसेन शर्म्मा जी ने ही उपनिषद् मनुभाष्य, आर्य्यसिद्धान्तादि का सम्पादन भी किया और समय निकाल कर पाठशाला में पढ़ाया भी तब इतना फल हुवा कि कई विद्यार्थी अच्छे योग्य होगये जिन का वर्णन आ० सि० के भाग ६ अङ्क १२ में प्रकाशित कर दिया है । परन्तु ऐसी दशा में पाठशाला में अधिक छात्र रह कर पढ़ें यह नहीं हो सक्ता और वैदिकधर्मप्रचारक पण्डितों की इतनी अधिक आवश्यकता है जो सब को प्रत्यक्ष है । इस लिये वैदिकधर्म के प्रेमियों से निवेदन है कि यदि आप उद्योग करके चन्दे की अधिक सहायता करें तो एक स्वतन्त्र अध्यापक रक्खा जावे जिस से अधिक विद्यार्थियों के पढ़ाने में सुभीता हो अर्थात् उच्चकक्षा के विद्यार्थियों का ही पढ़ाना पं० भी० श० जी को रहे और नीचे की कक्षाओं से विद्यार्थी तैयार करके पाठशाला का नियत अध्यापक सहायता दिया करें । आशा है कि धर्म्मात्मा सज्जन इस में सहायता करके यश और पुण्य के भागी होंगे । १ । ७ । ९५ से ३१ । १० । ९५ तक निम्नलिखित महाशयों ने पाठशाला को दान देकर सहायता की है अतः उन सब को धन्यवाद देकर ईश्वर से प्रार्थना है कि वह सब को ऐसी ही धर्म में रुचि दे ॥ ह० तुलसीराम स्वामी

१ मुं० मनमोहनलाल जी रांची २०)
२ आर्य्यसमाज रांची ने उत्सव पर पं० भीमसेन शर्म्मा जी को बुलाया तब पाठ शाला को १०)
३ पं० बालकृष्णद्वारा बावन से ५)
४ पं० शालिग्राम रायगढ़ ३)
५ बा० रामचन्द्रलाल जी रायगढ़ २)
६ ला० गङ्गासागर जी चूरू वाले २)
७ बा० जगदम्बाप्रसाद जी मिर्ज़ापुर १)
८ पं० भीमसेन शर्म्मा जी ने मार्च से जुलाई तक के पुस्तक विक्रय से दी॥=)
९ पं० सूर्य्यप्रसाद शर्म्मा औनहा १)
१० सूद पाठशाला के १००) का बाबत जुलाई अगस्त १)
११ बा० जयलाल जी देवली १)
१२ मुं० रामस्वरूप जी परीक्षितगढ़, गौड़ब्राह्मणार्थ छात्रवृत्ति १)
१३ बा० मनऊ लाल जी मुंगेली १)
१४ पं० गंगासेवक तिवारी कुन्दौली ॥।=)
१५ पं० गङ्गासेवक तिवारी कुन्दौली पुनः ॥)
१६ बा० बद्रीलाल [illegible] जी देवली ॥)

विशेषसूचना ॥

१-इस बार मनु और आर्यसिद्धान्त दोनों के निकलने में जो अति काल हुआ उसका कारण एक तो कुछ रोग हो जाना और द्वितीय एक वेद पारायण का होना था आशा है कि आगे ऐसे विशेष कारण के विना अति काल नहीं होगा ॥

२-इस बार आर्यसिद्धान्त में पुनर्जन्म आवागमन विषय पर बड़ा प्रस्ताव छपा है और अभी कुछ छपना शेष भी है इस लिये पुनर्जन्म विषय में जिन २ महाशयों को जो २ सन्देह हों वा पुनर्जन्म न मानने वालों के जो प्रबल तर्क सुने जाने हों वे सब लिख भेजें सब का यथोचित समाधान किया जायगा ।

३—भगवद्गीताभाष्य अब शीघ्र ही पूरा किया जायगा जिन लोगों के पास तीन २ अध्याय पहुंचे हैं उन को सम्हाल कर रक्खें छप के तयार होते ही सब को सूचना दी जायगी ।

४—तीन महीने के लिये कुछ पुस्तकों का मूल्य कम किया जाता है जो लोग ता० १७ नवम्बर ९५ से अन्त फर्वरी ९६ तक नगद दाम से पुस्तक लेंगे उन को कम किये दाम पर दिये जायं गे । बदले में पुस्तक लेने वालों के लिये कम दाम नहीं है । तथा पुस्तक विक्रेताओं के लिये अलग हिसाब होगा । इस लिये जिन लोगों को कम दाम खर्च कर पुस्तक लेने हों वे इस वीच में मंगा लेवें ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव १) से ॥) मनुस्मृति भाष्य की भूमिका १॥) से १) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य और तैत्तिरीय सातों उपनिषद् एक साथ लेने पर ३) से २॥) गणरत्नमहोदधि पाणिनीय गणों की संस्कृतव्याख्या ३३२ पेज पुष्ट रायल है मूल्य १॥) से १) में आर्यसिद्धान्त ६ भाग के ७२ अङ्क ३॥।) से ३) में मिलें गे जिन को लेना हो शीघ्र मगालेवें । ह० भीमसेन शर्म्मा

धन्यवाद ॥

१० । ८ । ९५ ई० से ३१ । १० । ९५ ई० तक

इन महाशयों ने उदारता पूर्वक मनुभाष्यादि कार्य्यों की सहायतार्थ धन दिया है सो सब महाशयों को धन्यवाद देने के साथ स्वीकृत है ॥

श्री सीताराम जी शर्मा मुम्बई	२)	श्री गणेशप्रसाद जी पटनहनखेरा	।)
पं० गंगासेवक जी तिवारी कुंदौली	।)	श्री अभयराज सिंह जी पकरैला	१)
श्री ब्रजभूषण जी पिनाहट	२)	श्री मातादीन जी दिल्ली	५)
श्री जंगासिंह जी व्यावर	२॥।-)	श्री मूलचन्द रामप्रताप जी	१)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयद्वर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्सम्वृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ७। ८

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर
पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ
मार्च सन् १८९६ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १)

...१३ अगस्त सन् ९५ से ३० नवम्बर ९५ ई० तक । मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

...२ मुं० जयन्तीप्रसाद जी—बलिया ३)॥
...०७ पं० रामाधीन जी मिश्र—मुंगेली २॥)
...४५ बा० रामसहाय जी—फीरोजाबाद ५)
...८५ बा० रघुनन्दनप्रसाद—सोनपुर १।)
...२ बा० मिट्ठनलाल जी मन्त्री-कानपुर २।=)
...१०८ श्रीअर्जुनसिंह जी दीनानगर १।)
...२३ पं० भगवानसहाय शर्मा-कासगंज॥=)
...७४ पं० कृपाराम जी शर्मा—देहरादून२॥)
...९३ बा० रघुनाथसहायजी—हिसार २॥)
...०९ बा० रलाराम जी भंडारी—मुरार २॥)
...२९ रामसहाय जी—बान्दीकुई २॥)
...१७ पं० बालगोविन्दजी विगहापुर १।)
...१०६ बा०शीतलप्रसाद जी—आर्काट १।)
...१०९ बा० गंगासहाय पारसौल १।)
...४ पं० शिवराम संगीशजी—भजेश्वर ॥)
...९४ बा० आनन्दस्वरूप जी—कानपुर २)
...१०८ बा० रघुवरदयालु जी—भदरसा २॥)
...२५ बा० भूपनारायण जी-किशनपुर १।)
...८२ श्रीकुमार ज्वालाप्रसाद जी जज मिर्जापुर ३॥।)
...३० ला० मदारीलाल जसवन्तनगर १॥।)
...९९ बा० केवलप्रसाद सिवनीछपारा १।)
...७८ पं० मूलचन्द जी शुक्ल मुड़बाड़ा २॥)
...८४ श्री रावराजा रघुनाथसिंह जी योधपुर २॥)
...०६ श्री सेठ शोभाराम जी चांवर नरसिंहपुर २॥)
...२९ श्री अयोध्याप्रसाद जी एटा ॥=)
...६६ बा० तुलसीराम जी देहरादून २॥)
...३५ पं० मेघराज जी योधपुर १।)
...५५ रामलाल—जोधपुर २॥)
...९६ श्री मन्त्रीआर्य्यसमाज गुजरांवाला २॥)
...६६ श्री भूपनारायण जी कानपुर ३॥।)

...८०८ पं० ... [illegible]
३१८ बा० सीताराम जी लखनऊ १।)
३५२ बा० बालकृष्ण जी बाबन हर्दोई १।)
१११९ बधावासिंह डेराईस्माईलखां २॥)
२४४ श्री लक्ष्मीनारायण खेतरी २॥)
११०७ श्री बाबूराम जी मास्टर लखनऊ १।)
२६९ श्री सूर्य्यप्रसाद जी टेढा २॥)
३१६ पं० शिवनाथ वाजपेयी सातन २॥)
४१७ श्री ज्ञानीराम विद्यार्थी ब्यावर २॥)
४६३ श्री गंगाराम जी ओ० विजनौर २॥)
३४६ श्री पं० कालूराम जी रामगढ़ २॥)
५०४ श्री नन्दनसिंह उपाध्याय बेरी १।)
११०० श्री दुर्गाप्रसाद जी रीवां १)
८१८ श्री रामचन्द्र जी अजीतमल २॥)
२९३ श्री रामप्रसाद विहारी धौलपुर २॥)
२९१ ज्वालाप्रसाद लूणमियानी २॥
२२७ श्री कुंवर योधासिंह जी सुरायां ३॥।)
२३१ पं० किशनलाल जी मथुरा २॥)
८०५ पं० बासुदेव जी हैदराबाद २॥)
२३४ श्री बृन्दावन जी सुकुल कुमिल्ला २॥)
१०३८ श्री मूलचन्द जी मुनीम सागर १।=)
३५४ श्री दयालुचन्द्र जी शर्मा अतरौली२॥)
८२६ श्री मिश्रीलाल जी पटना २॥)
३८० श्री मन्त्री आ०स० सिकन्दराबाद २॥)
७९३ विश्वेश्वरदयालु शर्मा लसवेला १।)
९३९ श्री लक्ष्मण सिंह जी जयपुर २॥)
८०१ श्री जगन्नाथप्रसाद जी कन्नौज २॥)
५६१ बा० गोपाल सहाय जी लश्कर १।)
१११२ शिवमंगल वाजपेयी जौनपुर १।)
३६० ला० किशनलाल नसीराबाद ३।)
३६४ श्री रसैय्यालाल जी सीकर २॥)
२५० श्री पं० जयगोपाल जी तरिगमा २)
३०७ बा० प्रभुदयालु जी चम्बा २॥)
२०३ प० कुंजविहारीलाल कनखल २॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ७ । ८

यत्र॑ ब्र॒ह्म॒विदो॑ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क ५ । ६ के पृ० ९६ से आगे त्रयीविद्या–

मन्त्राश्छन्दोमयाः, नाच्छन्दसि वागुच्चरति" इत्यादि । अतएव गद्यात्मकस्य यजुर्मन्त्रस्यापि छन्दोनिर्णयं कुर्वन्ति वैदिकाः । याजुषीति गायत्र्यादिभेदोऽपि वर्णितः पिङ्गलेन (३ । ३ । ८) तदित्थं निश्छन्दो यजुरिति त्वापेक्षिकमेव, कात्यायनेन यजुर्वेदीयमन्त्राणां सर्वेषामेव छन्दोज्ञानस्य विधानात् (अनुक्रमणिका १ । १) माध्यन्दिनीभाष्यकारेण महीधरेणाप्युक्तम् । तत्र यजुर्वेदमन्त्रेषु कानिचिद्यजूंषि काश्चन ऋचः, 'तत्र ऋचां नियताक्षरपादावसानानामावश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम् । यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन दैव्येकमित्यादिनोक्तं छन्दो बोध्यम्, इति ॥

भाषार्थः–पहिले ही समय में गायत्र्यादि का मन्त्रों में भी छन्दः पद से व्यवहार होता था । जैसे "यज्ञों में छन्दों का धारण करते हुए" इत्यादि । वहां भी छादन अर्थ ही छन्दः पद का मूल है क्योंकि गायत्र्यादि छन्दों से शब्दों का आच्छादन होता ही है । तथा जैसा पद्यों से शब्दों का आच्छादन होता वैसा

ही गद्य और गानों से भी होता है इस कारण सब प्रकार की रचना का ही छन्द नाम चिरकाल से स्थिर हो गया। काल पाकर लौकिक ग्रन्थ रचना में छन्दः पद का व्यवहार नहीं रहा यह और बात है। इसी लिये छादनार्थ से छन्द माने हुए निरुक्त के व्याख्यान में उस के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने कहा है "वे मन्त्र ही छन्दोरूप हैं जो छन्द नहीं उस को वेदवाणी नहीं कहती" इसी लिये गद्यरूप यजुर्वेद के मन्त्रों के भी छन्द वेदानुयायियों ने माने वा निश्चित किये हैं। तथा गायत्र्यादि के याजुषी आदि भेद यजुर्वेद में भी पिङ्गल आचार्य ने दिखाये हैं। इस दशा में "यजु छन्दरहित है" ऐसा कहने मानने वालों का विचार ऋगादि की अपेक्षा निश्छन्द कहना जानो क्योंकि यजुर्वेदीय उपक्रमणिका पुस्तक में कात्यायन ने यजुर्वेदीय सभी मन्त्रों का छन्दोज्ञान होने की आवश्यकता दिखायी है। उस पर यजु के भाष्यकार महीधर ने भी लिखा है कि "यजुर्वेद के मन्त्रों में कोई यजु हैं और कोई ऋचा हैं उस में अक्षर, पाद और अवसान [रुकावट] जिन में नियत है ऐसी ऋचाओं का छन्द कात्यायन ने अवश्य कहा है और एक अक्षर से लेकर एक सौ छः अक्षर तक संख्या वाले यजुर्वेदीय मन्त्रों का छन्द पिङ्गलाचार्य ने (दैव्येकम्) इत्यादि सूत्रों द्वारा अपने छन्दःशास्त्र में कहा है ॥

सम्पादक—हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि छन्दःपद वेद का नाम क्यों हुआ इस का विवेचन हम गताङ्क में लिख चुके हैं कि छप्पर, छत्त वा छाता के तुल्य आपत्तियों से बचा कर सुख पहुंचाने वाला होने से वेद को छन्द कहते हैं इसलिये जो लोग दुःखों से बचने और सुखों को प्राप्त होने की अभिलाषा रखते हैं वे वेदवृक्ष की सघन अविनाशिनी छाया के शरण में आने का विशेष उद्योग करें। यद्यपि छप्पर आदि के तुल्य अनेक आपत्तियों से बचाने वा सुख पहुंचाने वाले अन्य भी ब्राह्मण वा मनु धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ किसी प्रकार हैं तथापि वे वेदमूलक होने से ही कार्यसाधक होते हैं अन्यथा नहीं इस लिये उन में जितना छन्दस्त्व है वह वेद का ही हुआ इस कारण वेद ही मुख्य छन्द है और गौणार्थ से प्रशंसा के लिये वेद के तुल्य मान के यदि कोई वेदानुगामी ग्रन्थों को छन्द कहे वा लिखे तो कुछ दोष नहीं परन्तु जैसे गुरु के सामने पण्डित हुआ भी शिष्य पण्डित नहीं माना जाता वैसे वेदों के साथ अन्य कोई भी ग्रन्थ छन्द नहीं माना जा सकता। इस के अनुसार सामश्रमी जी का यह कथन ठीक नहीं

है कि "जैसा छन्दस्त्व वेदमन्त्रों को है वैसा ही लौकिक पद्यों को भी है" क्योंकि छन्दः पद का वास्तविक अर्थ ही उन को ज्ञात नहीं हुआ। अब एक बात और विचारणीय है कि पिङ्गल नामक छन्दःशास्त्र के अनुसार सब प्रकार की वैदिक लौकिक रचना का नाम छन्द है किन्तु प्रचलित नागरीभाषा में बनाये भजनादि को भी छन्द कहने का जो व्यवहार है इस में भी गौण मुख्य का विचार शास्त्र के अनुकूल अवश्य अपेक्षित है इसी लिये पिङ्गल पुस्तक के द्वितीयाध्याय के आरम्भ में ग्रन्थकार ने "छन्दः" अधिकार किया क्योंकि द्वितीयाध्याय से लेकर चौथे अध्याय के सात सूत्रों तक वेद विषयक छन्दों का ही केवल वर्णन किया है और आगे चल कर पञ्चमाध्याय के आरम्भ में "वृत्तम्" अधिकार किया है सो पिङ्गल के टीकाकार हलायुध के कथनानुसार मान भी लिया जाय कि छन्दः का ग्रन्थ भर में सामान्याधिकार है और पञ्चमाध्याय से छन्दः का विशेषण वृत्त है तथापि वेद के गायत्र्यादि मन्त्रों का निरुपाधिक छन्द नाम और लौकिक पद्यों के जातिछन्दः वृत्तछन्दः सोपाधिक नाम होने से वेद मन्त्रों का ही छन्द नाम मुख्य हुआ। और वास्तव में तो ग्रन्थकार की शैली से प्रतीत होता है कि गायत्र्यादि वेद मन्त्रों के लिये ही छन्दः अधिकार है और लौकिक पद्य भाग का नाम वृत्त आदि है। इसी से वैदिक विचार छोड़ कर केवल लौकिक पद्य रचना की रीति जताने को बनाये ग्रन्थ का नाम "वृत्तरत्नाकर" रक्खा गया। रहा छन्दोमञ्जरी आदि नाम सो प्रशंसार्थ गौण प्रयोग मानने पर सार्थक हो सकता है। और यह भी असम्भव नहीं कि शास्त्र के सिद्धान्त वा मर्यादा से विरुद्ध भी लोक में जो ढर्रा चल जाता है उसी के अनुसार नाम रख लिये जांय क्योंकि विशेष छान बीन करके किसी विषय का तत्त्वालोचन करना सब किसी का काम नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि पिङ्गल में आया छन्दः पद भी मुख्य कर वेद मन्त्रों का वाचक है और गौण रीति से अन्यों का भी प्रशंसार्थ नाम छन्द होने में कुछ चिन्ता नहीं। रहा पाणिनीय व्याकरणादि में छन्दः पद कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों का भी बोधक प्रतीत होता है सो जब भाषा के भजनादि तक में प्रशंसार्थ गौण प्रयोग छन्दः शब्द का होता है तो ब्राह्मण ग्रन्थ जो वेद के अति निकट हैं उन को प्रशंसार्थ छन्द कहना वा मानना क्यों अनुचित हो पर यहां छन्दः पद का यौगिक छादनार्थ ही लिया जायगा किन्तु रचना विशेष का नाम छन्द मानें तो गौण भाव से भी गद्यरूप ब्राह्मण ग्रन्थों को छन्द नहीं मान सकते इस से मुख्य छन्दस्त्व वेद का

और अन्य ग्रन्थों का वेद की अपेक्षा गौण छन्दस्त्व है वा यों सही कि जैसे लोक में ईश्वर नाम राजा का भी है इसी से चक्रवर्त्ती राजाधिराज को भी परमेश्वर कह सकते हैं तथापि असीम (अनहद्द) ऐश्वर्य वाले परमात्मा के प्रसंग में वा साथ में ईश्वर शब्द किसी राजादि का वाचक नहीं होता वैसे तो अपने से अधिक सामर्थ्य वा बुद्धि वालों के सामने अनेक लोग प्रशंसा करते समय हाथ बांधकर कहते हैं कि आप तो ईश्वर हो इस से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता कि आप परब्रह्म परमात्मा हैं। वैसे ही असीम छन्दस्त्व वेद में है वही मुख्य छन्द है उस के सामने वा उस के साथ में कोई ग्रन्थ छन्द नहीं और वेद की अपेक्षा छोड़ कर अन्य ग्रन्थों को प्रशंसा के लिये कहना बन सकता है ॥

सामश्रमी जी—यतः प्रभृति मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्यभूत्सुदृढम्, ततः प्रभृत्येव ब्राह्मणग्रन्थानामपि छन्दःशब्देन च ग्रहणीयता सुतरां सम्पन्ना एवमपि मन्त्रभागानामेव मुख्यं छन्दस्त्वमिति तु न ततोऽपि विलयमुपगतम्। अतएव यास्को मन्त्रार्थ एव छन्दःशब्दं प्रायुङ्क्त (२ भा० ७ पृ०) मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेवाविशेषेण छन्दःशब्दव्यवहारं कृतवता भगवता पाणिनिनापि क्वचित्प्रायोजि मन्त्रेष्वेव च छन्दइति। तथाहि—"छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४ । २ । ६६)" इत्येवमादीनि समालोच्यानि। नहि तत्र छन्दःशब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानां पृथग्ग्रहणमुपपद्यते ॥

ततो वेदाङ्गानामपि वेदत्वातिदेशात् छन्दस्त्वमप्यनिवार्यमेव। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति (१ अ० ५ पा० २ आ०)" इति परं तत्रापि ये केचित् शौनकीयशिक्षादयः, तेषां वेदाङ्गत्वमस्तु नास्तु वा छन्दस्त्वन्तु नास्त्येव। तथा च दर्शितं प्रत्युदाहरणम् "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४ । ३ । १०६) इति सूत्रार्थशेखरे—छन्दसि किम्? शौनकीया शिक्षा—

इति । अपि वा तत्र सूत्रे मुख्यछन्दस्त्वमेवापेक्षितम्, नच तद्वेदाङ्गानामित्येव तथोक्तं नागेशेनेति । प्रातिशाख्यादावपि व्यवहृतएव छन्दःशब्दः पतञ्जलिना—"छन्दःशास्त्रेषु (१ अ० २ पा० १ आ०)" इति प्रातिशाख्यादिष्वेव तदर्थो गम्यते। अपि वा छन्दसां शास्त्रेषु इत्येव तदर्थः ॥

नागेशादिभिस्तु भिक्षुसूत्रनटसूत्रयोरपि छन्दस्त्वं स्वीकृतम्। तथाहि—"तित्तिरि० । इत आरभ्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तेनैकदिगित्येतत्पर्यन्तं छन्दसि वाच्ये इष्यन्ते । शौनकादिभ्यश्छन्दसीत्यतश्छन्दोग्रहणस्य पूर्वमपकर्षादुत्तरत्रानुवृत्तेश्च" इति लघुशब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यम् । तित्तिर्यादिषु तेनैकदिगिति सूत्रतः पूर्वेषां (४ । ३ । १०२–१११) दशानां सूत्राणां नवमएव "भिक्षुनटसूत्रयोः" ग्रहणं दृश्यते । तदेवं क्रमादिदानीमार्षेति प्रसिद्धग्रन्थमात्रस्यैव छन्दस्त्वमुररीकुर्वन्ति विपश्चित इत्यलं छन्दोविचारेणेति ॥

भाषार्थः—जब से "मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है" यह व्यवहार दृढ हुआ तभी से ब्राह्मण ग्रन्थों का भी छन्दः शब्द से ग्रहण होना निरन्तर सिद्ध हो गया । परन्तु मन्त्रभागों का मुख्य छन्द होना ब्राह्मणों के छन्दः कहे जाने से नष्ट नहीं हुआ । इसी लिये निरुक्तकार यास्काचार्य ने मन्त्रार्थ में ही छन्दः शब्द का प्रयोग किया है तथा मन्त्र ब्राह्मण दोनों का सामान्य कर छन्दः पद से व्यवहार करते हुए भगवान् पाणिनि आचार्य ने भी कहीं २ छन्दः शब्द से केवल मन्त्रभाग का ग्रहण किया है जैसे (४ । २ । ६६) सूत्र में छन्दः पद से मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का ग्रहण हो तो ब्राह्मण पद का पृथक् ग्रहण व्यर्थ हो जावे ।

तदनन्तर वेद के अङ्ग भी वेद के तुल्य माने जाने से उन का भी छन्द होना अनिवार्य है सो महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने (१ अ० ४ पा० २ आ०) में कहा है कि "छन्द के तुल्य सूत्र होते हैं" पर उन में भी शौनकीय शिक्षादि

कई ग्रन्थ वेद के अङ्ग हों वा न हों पर वे छन्द नहीं माने जायेंगे । सो (४।३।

(१०६) सूत्र पर शेखरकार ने कहा है कि "शौनकीया शिक्षा, इत्यादि में छन्दोग्रहण से णिनि प्रत्यय नहीं होता । अथवा उक्त सूत्र में मुख्य छन्द का ग्रहण इष्ट है वैसा छन्दस्त्व वेदाङ्गों में नहीं है" यह भी नागेश ने कहा है । तथा पतञ्जलि ने प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में भी छन्दः पद का व्यवहार किया ही है अथवा पतञ्जलि के कथन का आशय यह माना जाय कि छन्दः सम्बन्धी शास्त्रों में—

और नागेशादि ने तो भिक्षुनट सूत्रों को भी छन्द माना है "तित्तिरि० सूत्र से लेकर (तेनैकदिक्) सूत्र पर्यन्त कहे प्रत्यय छन्दवाच्य होने पर होने अभीष्ट हैं क्योंकि (शौनकादिभ्यश्छन्दसि) सूत्र से पूर्व सूत्रों में छन्दोग्रहण के आकर्षण से और अगले सूत्रों में अनुवृत्ति करने से उक्त प्रयोजन सिद्ध है" यह सब लघुशब्देन्दुशेखर में देखना चाहिये । तित्तिरि० सूत्र से लेकर तेनैकदिक् से पूर्व दश सूत्रों में से नवम सूत्र में भिक्षुसूत्र और नटसूत्रों का ग्रहण दीखता है । सो इस क्रम से सम्प्रति आर्ष नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थमात्र का पण्डित लोग छन्दः पद से स्वीकार करते हैं इस लिये छन्द का विचार अब समाप्त करते हैं ।

सम्पादक—अब छन्दः पद का यह अन्तिम विचार है । सामश्रमी जी का अभिप्राय स्पष्ट है कि अति प्राचीन समय से अब तक छन्दः शब्द से मुख्यकर मन्त्र संहितारूप वेदों का ग्रहण होता है । और ब्राह्मणग्रन्थ बनते समय से व्यवहार चल जाने से पण्डित लोग ब्राह्मणादि ग्रन्थों को भी छन्दः कहने वा मानने लगे सो गौण है । हम अपने पाठकों को सूचित करना चाहते हैं कि वेद आदि पदों पर सामश्रमी का अनुवाद कर २ हम ने जो इतना लेख बढ़ाया और बढ़ाते जाते हैं उस को आप व्यर्थ न समझिये क्योंकि हमारा एक तो प्रयोजन यह है कि श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वती जी महाराज ने वेद आदि कई शब्दों पर थोड़ा २ विचार अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखा था तदनन्तर विपक्षियों (महामोहविद्रावणादि) ने अनेक प्रकार के कुतर्क खड़े किये तब आर्यसिद्धान्त के आरम्भ से ही वेद ब्राह्मण के विषय में अनेक प्रकार का लेख लिखा गया । अब उस विषय में अनेक प्रमाणों के संग्रह से तथा साम्प्रतिक सामश्रमी आदि विद्वानों की भी सम्मति से यह विषय "कि वेद आदि शब्द मन्त्र संहिताओं के ही वाचक हैं और जैसे किसी श्रीमान् वा राजादि की प्रशंसा के लिये कोई कहे कि " आप ईश्वर हैं आप सर्वशक्तिमान् हैं" इत्यादि जैसे वह वास्तव में ईश्वर वा सर्वशक्तिमान् नहीं वैसे ब्राह्मणादि ग्रन्थ भी वेद, निगम, आगम,

आम्नाय, स्वाध्याय तथा छन्द आदि पदों के वाच्य वास्तव में नहीं हैं" इतना दृढ़ सिद्ध हुआ और हो जायगा कि जिस में फिर किसी प्रकार की हिल चल शेष न रह जायगी । और द्वितीय प्रयोजन यह है कि हम ने "त्रयीविद्या" शीर्षक दे कर जो लेख चलाया है उस में वेद सम्बन्धी प्रायः सभी सन्देहों की निवृत्ति होने की आशा है और प्रायः वेद के गूढ़ सिद्धान्त वा आशयों को खोलने का उद्योग किया है उस में सब से पहिले यह सिद्ध हो जाना अत्यावश्यक है कि वेद वा छन्द आदि किन २ ग्रन्थ वा पुस्तकों के नाम हैं और उन का क्या अर्थ वा अभिप्राय है । यह जनश्रुति कहावत प्रसिद्ध है कि "सति कुड्ये चित्रं भवति" पहिले भित्ति बन के तयार हो तब उस में चित्रकारी हो सकती है। इसी प्रकार यहां भी पहिले यह सिद्ध हो जावे कि वेद वा छन्द आदि कौन हैं तब उन के सिद्धान्तों का विवेचन हो सकता है ।

अब छन्दः पद के ऊपर इतना और कहना है कि छन्दःशास्त्र जो एक वेदाङ्ग है उस में आने वाला छन्दःपद वेद पर्यायवाचक छन्दः से भिन्न है ? वा दोनों एक ही हैं ? । इस का उत्तर यह है कि दोनों छन्द एक ही हैं वेद के पर्यायवाची छन्दःपद का व्याख्यान करने के लिये ही पिङ्गलाचार्य ने द्वितीयाध्याय में "छन्दः" अधिकार किया है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में मूलमन्त्र समूहरूप जो वेद उत्पन्न हुए थे उन गायत्री आदि नामक मन्त्रों की पद व्यवस्था और अक्षर संख्या जताने के लिये छन्दःशास्त्र नामक वेदाङ्ग बनाया गया । उस में प्रसङ्गवशात् लौकिक रचना का व्याख्यान किया गया वह गौण है । इसी लिये वेदाङ्ग माना गया लोकाङ्ग नहीं ग्रन्थकार पिङ्गलाचार्य को भी छन्दः पद से वेद का ही ग्रहण इष्ट था इसी लिये वैदिक प्रकरण के आरम्भ में "छन्दः" अधिकार बांधा और पञ्चमाध्याय के आरम्भ में "वृत्तम्" दूसरा अधिकार किया जिस से सिद्ध हुआ कि वेद के पद्यों वा मन्त्रों का नाम छन्द माना गया और लौकिक श्लोक रचना का नाम वृत्त माना गया इसी अभिप्राय को लेकर केवल लौकिक पद्यों का व्याख्यान जिस में किसी पण्डित ने किया उस पुस्तक का नाम वृत्तरत्नाकर रक्खा । अब रहे छन्दोमञ्जरी आदि नामक ग्रन्थ सो छन्दःशब्द के अर्थ का तत्त्वालोचन किये विना ही बनाये गये यह अनुमान ठीक ही है । परन्तु इन सब दशाओं में भी छन्द शब्द का छादनार्थ नष्ट नहीं होता दुःखों आपत्तियों से बचाने तथा इष्ट के रक्षा गौणभाव से लौकिक पद्य भी हैं और वेदमन्त्र प्रधानता से धर्म के साधक

इस से उन २ का गौण वा प्रधानभाव से छन्द नाम मानना चाहिये । वास्तव में छन्दःपद का अर्थ पद्य नहीं किन्तु पहिले छादनार्थ से वेदमन्त्रों का नाम छन्द हुआ वे प्रायः सभी मन्त्र किसी न किसी प्रकार की पद्य (श्लोक) रचना में ही बने थे इस कारण छन्दः शब्द का वाच्यार्थ पद्य भाग में ही प्रचार पा गया । यदि पद्यभागमात्र में छन्दःपद की प्रवृत्ति मानें तो गौणभाव से भी ब्राह्मण ग्रन्थों (जो प्रायः गद्यरूप में बने हैं) । को छन्द नहीं कह सकते इसलिये केवल छादनार्थ से ही छन्द मानना मुख्य है । इसी के अनुसार वेदाङ्ग व्याकरण सूत्रादि को भी छन्दोवत् मानना बन सकता है । अर्थात् वेद के प्रायः सभी शब्द सामान्य व्याप्तार्थ के बोधक हैं यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसादि शास्त्रों के अनुकूल होने तथा विशेष ध्यान दे कर शोचने से बहुत ही सत्य निश्चल ठहरता है । छन्दः शब्द भी वैदिक है इस का जिस २ अंश में जितना २ छादनार्थ जहां २ संघटित हो उस को उतने अंश में छन्द मानना चाहिये । अब रहा यह कि किन्हीं को छन्द माना जाय किन्हीं को छन्द होने का निषेध किया जाय यह सब विचार लोकानुसार शास्त्र में भी सापेक्ष माना जाता है । जैसे बहुत अपढ़ मनुष्यों में कुछ थोड़ा पढ़ा भी उन मूर्खों की अपेक्षा से पण्डित मान लिया जाता वा कहाता है फिर वही कुछ पढ़ा मनुष्य उस से अधिक पढ़े वा ज्ञानवान् विद्वानों के समुदाय में मूर्ख माना जाता किन्तु पण्डित पद वाच्य नहीं हो सकता । इसी प्रकार यहां भी साहित्य काव्य आख्यायिका इतिहासादि पुस्तकों की अपेक्षा से वेदाङ्गग्रन्थ भी किसी प्रकार छन्दः पद वाच्य होते वा कहाते हैं । तथा वेदाङ्गों की अपेक्षा से गृह्य श्रौत सूत्र तथा ब्राह्मणादि वेद वा छन्द अथवा आम्नाय आदि पदों के वाच्य होते तथा साक्षात् मूलमन्त्र समूहरूप वेद के सामने ब्राह्मणादि कोई भी पुस्तक वेद आम्नाय वा छन्द कहाने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि ब्राह्मणादि सब पुस्तकों में ससीम छन्दःपन है और मूल ईश्वरीयवाणी रूप वेद में असीमवेदत्व आम्नायत्व तथा छन्दस्त्व आदि है इसलिये वह वेद ही मुख्य छन्द है उसी की छाया का शरण लेने से हमारा ठीक २ कल्याण हो सकता है । अब छन्दःपद का विचार समाप्त किया जाता है ॥

(स्वाध्यायः) स्वाध्यायइति च तस्यैव वेदस्य नामान्तरम् । स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै० आ० २ । १५ । ७) इत्यादिश्रुतिषु "यः

स्वाध्यायमधीतेऽब्दम् (२-१०७)" इत्यादिस्मृतिषु च तथैव व्यवहारात् द्विजातिभिः सम्यगध्येय एष इत्येवासौ स्वाध्याय इति कथ्यते। अतएवाह भगवान् मनुः—योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः (२, १६८) इतीति ॥

भाषार्थः —"स्वा [illegible]

आरण्यक (२।१५।७) में लिखा है कि स्वाध्याय—वेद पढ़ने का ही एक नाम है। तैत्तिरीय ति (२।१०७) में लिखा है कि जो स्वाध्याय नाम वेद को पढ़ता है इत्यादि प्रमाणों में स्वाध्याय पद से वेद के ही पढ़ने का विधान किया गया है। द्विज लोगों को सु नाम सम्यक् पढ़ना चाहिये इस से वेद का नाम स्वाध्याय है। इसी लिये मनु भगवान् ने कहा है कि "जो वेदों को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों के पढ़ने में श्रम करता है वह जीवितदशा में ही अपने कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है" इस से वेद का ही अध्ययन सर्वोपरि प्रयोजनीय है ॥

(आगमः) आगम इति च वेदस्यैव नामान्तरम्। रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्—इति पाणिनीयवार्तिककारकात्यायनाद्युक्तेः, आगमः खल्वपि ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च—इति च तत्र पातञ्जलम्। भट्टकुमारिलेनाप्युक्तं स्वश्लोकवार्तिकभूमिकायामेव—आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि—इति। साङ्ख्यकारिकायामीश्वरकृष्णेनापि यदुक्तम्—तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्—इति तदप्येतदभिप्रायेणैवेति ॥

भाषार्थः—"आगम" यह भी वेद का ही नामान्तर है (रक्षोहागम०) इत्यादि पाणिनीय ग्रन्थ के वार्त्तिककार कात्यायन के कथन पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि "ब्राह्मण को छः अङ्गोंसहित आगम नाम वेद पढ़ना चाहिये" तथा कुमारिलभट्ट ने भी अपने श्लोक वार्त्तिक की भूमिका में कहा है कि "आगम नाम वेद की ओर झुकने वाले मेरी कहीं भूल भी हो तो मुझे लोग कुदृष्टि से न देखें" तथा सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने जो कहा है कि "परोक्ष असिद्ध विषय भी

आप्तोक्त आगम प्रमाण से सिद्ध ही है अर्थात् आगमोक्त नाम वेदोक्त होने से परोक्ष विषय को भी प्रत्यक्ष के तुल्य निर्भ्रान्त मानना चाहिये " यह कथन भी उक्त आशय को सिद्ध करने वाला ही जानो ॥

(निगमः) निगम इति च आगमइति चानर्थान्तरम् । यास्कीयेऽत्र निरुक्ते यावन्ति खलूदाहरणानि दर्शितानि प्रायस्तावतां सर्वेषामेव निगमइत्युपन्यासो दृश्यते । तथाहि—तत्र खलु इत्येतस्य निगमा भवन्ति—इत्यादि (२भा० २८४ पृ०) अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः—कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः क्षेत्रसाधाइति, अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं घृतमिति (२ भा० १५६ पृ०) इति चाह सएव यास्कः । निगमाः—निगमनात् (२ भा० ७ पृ०),,– इति च नैरुक्तमिति ॥

अत्र चेदं तत्त्वम्- आदौ नु निगमइति मन्त्रभागस्यैवाभिधानमासीन्न ब्राह्मणभागस्यापि; निरुक्तग्रन्थे सर्वत्रैव मन्त्राणां मन्त्रांशानाञ्चैव निगमत्वेनोपन्यासात्, तत्प्रदर्शितयोः "दमूनाः" 'क्षेत्रसाधाः,–इत्यनयोः पदयोः मन्त्रभागेएव दृश्यत्वाच्च । मन्त्रभागत उद्धृतानामेव पदानाम्, तदाश्रयग्रन्थानां चास्ति निगमइति व्यवहारः । तथाहि मनुसंहितायाम्—"निगमांश्चैव वैदिकान् (४, १९)"–इति अत्र चोक्तमिदं कुल्लूकेन—"तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान् निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्"–इति । तत उत्तरं कालात् ब्राह्मणेष्वप्युपसङ्क्रान्तं निगमाभिधानम्; ततएव भागवतादौ निगमपदेन मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकस्य वेदस्यैव बोधो भवति तथाहि—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् । पिबत भागवतं रसमालयंमुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः (भा० पु० १।१।३) "–इति निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः

सर्वपुरुषार्थोपायत्वात्; तस्य फलमिदं भागवतं नाम"-इति तत्र श्रीधरस्वामी। "निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठमध्यध्यारूढस्य वेदरूपतरोः"-इति च तत्र क्रमसन्दर्भः। "निगमो वेदः सएव कल्पतरुः"-इत्यादि च तत्रैव विश्वनाथः। वस्तुतो मन्त्रभागस्यैव निगमत्वं चिरादेव व्यवहृतम्। ब्राह्मणभागस्य तथा व्यवहारस्त्वनतिप्राचीनएव निगमव्याख्यानादिपरा ग्रन्था एव ब्राह्मणाख्या ऐतरेयादिनामभिः प्रसिद्धा भाष्याणीत्येवाख्यातुं युज्यन्ते। यदा ह्यतीते बहुतिथे काले मन्त्रार्थोऽतीव दुर्बोधः सम्पन्नः तदैव यज्ञकाले यज्ञानुष्ठानतत्परैः तदानीन्तनैर्ब्राह्मणैः तेषां मन्त्राणां विधानादिव्यवस्थया च सह मन्त्रान्तर्गतदुर्बोधपदानामर्था अपि भाषिताः, अतो ब्राह्मणान्येवादिवेदभाष्याणि भाषा भाष्यमितीमावेकधातुमूलकावेव शब्दौ तेन चैषु ग्रन्थेषु यतस्तत्कालप्रचलितया भाषयैव बोधिता वेदार्था अतएवैषां भाष्यत्वम्-तथाहि श्रूयतेऽसौ ऋङ्मन्त्रः-यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २. ३.२३.४;८.४.१९.६) इति-तद्व्याख्यानपरञ्चैतदैतरेयकं ब्राह्मणम्-यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाइत्युत्तमया परिदधाति***छन्दांसि वै साध्या देवाः तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च (ऐ० ब्रा० १।३।५) इत्यादि एतदेव व्याख्यानं निरुक्ताद् विशदीकृतं च दृश्यते (४ भा० ३२०-३५२ पृ०) तथैव योऽसौ शुक्लकृष्णयोरुभयोरेव यजुषोरारम्भमन्त्रः—इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (१.१.१.) इ

तस्यैतस्य च दुर्गमपदव्याख्यानानि कृतानि दृश्यन्ते शुक्लकृष्ण-योरुभयोरेव ब्राह्मणयोः तथाहि शतपथब्राह्मणे-"वृष्ट्यै तदाह-यदाह इषेत्त्वेति" इति "यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह" इति "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"-इति च (१.७.१.१-५) तैत्ति-रीये तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् इत्यारभ्य श्रेष्ठतमाय कर्म्मणइत्याह यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म्म तस्मादेवमाह इति यावत् (तै० ब्रा० ३.२.१.१-४) द्रष्टव्यो ग्रन्थसन्दर्भः ॥

तथा श्रूयन्ते सामवेदे सर्वसामस्वेव ये स्तोभाः, ते खलु व्याख्याता दृश्यन्तएव तद्ब्राह्मणे-अयं वावलोको हाउकारो वायु-र्हायिकारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः । आदित्य उकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग् विराट् । अनिरुक्तस्त्रयोदश स्तोभः स-ञ्चारो हुम्पकारः (छा० ब्रा० ३।१३।१--३) ,,-इति वज्रले-पायितश्चायमर्थो मीमांसादर्शने तथाह्यस्ति तत्र मन्त्रलिङ्गाधिक-रणे सूत्रम्-" विधिशब्दाच्च (१।२।५३),, इति । विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति,-'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जी-व्यास्मेत्येतदेवाह,-इति ,,-इति तद्भाष्यं शबरस्वामिकृतम् । "मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्द इत्युच्यते,, इति च तत्राह सायणाचार्योऽपि । तत्रैवोदाहृत्य व्याख्यातञ्च तेनापि तथैव ब्राह्मणम् । तथाहि-"सचैवमाम्नायते-'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह,-इति । तत्र 'शतं हिमा (ऋ० स० १।५।८।४।इ०)'-इत्येतद्व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्; अव-शिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम् "इत्यादि । तद्भाष्येऽप्युक्तम्-

'अत्र हिमशब्देन तद्युक्ता हेमन्तर्त्तवोऽभिधीयन्ते, तथा च ब्राह्मणम्'—इत्यादि । भगवता कात्यायनेनापि यजुः प्रातिशाख्ये निगमापरपर्यायस्य मन्त्रभागस्यैव वेदत्वं तद्व्याख्यापरस्य ब्राह्मणभागस्य भाष्यत्वमिति मन्त्रब्राह्मणयोः पार्थक्यं स्फुटं सूचितम् । तथाहि—"ओंकारं वेदेषु (१।१८)। अथकारं भाष्येषु (१।१९)"—इति यदि च तत्र तद्भा[illegible] उव्वटो वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव ग्रहणं स्वीचकार, भाष्यशब्देन च क[illegible]ङ्गानाम् परं तत्रैवानुपदमेव "सप्त । त्रीन् । द्वौ । एकम्"—इति स्वरविधायकेषु सूत्रेषु (१।१२७–१३०) सामस्वर–नैगमस्वर–भाषिकस्वर–यज्ञकर्म्मस्वराणां विधानस्य पर्य्यालोचनयेह श्रुतभाष्यशब्देन ब्राह्मणानामेव बोधने कात्यायनाभिप्रायोऽनुभूयते; "अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कारनियमः"—इत्यारभ्य "तानएवाङ्गोपाङ्गानाम्"—इत्यन्तेन परिशिष्टग्रन्थेन भाषिकादिस्वराणां सुष्ठुपरिचायितत्वात् । ब्राह्मणग्रन्थानां हि भाष्यत्वेनैव तदीयस्वराणां भाषिकत्वसिद्धिः, ब्राह्मणस्वरएव भाषिकस्वरइत्युच्यते इति तु सर्वसम्मतम् । अतएवोक्तम् "एकम्"—इति सूत्रस्योव्वटभाष्यस्य टीप्पन्याम्—"मन्त्रकाण्डपठितानामपि ब्राह्मणभागानामश्वस्तूपरइत्यादीनां त्रैस्वर्यम् (निगमस्वरत्वम्) एव, ब्राह्मणकाण्डपठितानां विश्वेदेवाः शोस्तनमपथे हेत्यादीनां भाषिकस्वर एवेति"—इति । तथा तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायामपि स्पष्टमेवाभिचख्यौ सायणाचार्य्यो ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्याग्रन्थत्वम् । "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः"—इति । तदित्थं निरूपेण सर्वेषां किल मन्त्रग्रन्थाना-

मसाधारणं नाम मन्त्रइति निगमइति च; एवं सर्वेषामेव ब्राह्मणग्रन्थानामसाधारणं नाम ब्राह्मणं भाष्यमिति च, तथा मन्त्रग्रन्थेषु श्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च नैगमत्वम्, ब्राह्मण ग्रन्थश्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च भाषिकत्वमिति। अत एव "प्रोक्षणन्तु हिरवता पाणिना दर्भपिञ्जूलवता वेति भाषिकम् (६.२)" इत्युक्तं सङ्गच्छते [illegible]ेति "अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः***; अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः (२ भा० १५६ पृ०)" इत्यादौ निरुक्ते श्रुतं भाषिकपदं यदि भाषाशब्दमूलकमेव, तथापि न क्षतिः; भाषाभाष्ययोरेकधातुजत्वात्। किञ्च भाषयोपनिबद्धमेव भाष्यं भवति; मूलार्थबोधने एव हि सर्वभाष्यस्य तात्पर्यम्; न च चलितभाषया कथनमन्तरा मूलस्य स्पष्टतया बोधः सञ्जायते। तदेवं वेदस्य दुर्बोधत्वपरिहाराय यदा ब्राह्मणग्रन्था विरचिताः, तदा तादृश्या एव भाषाया व्यवहार आसीत् यादृश्या रचितानि वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानि; एवञ्च तदानीं ब्राह्मणग्रन्थीयानां वाक्यादीनां यथासीद् भाषिकत्वम्, तथैवाद्यतनीयानामस्मद्वाक्यादीनामपीति सममेवेति तन्नैरुक्तञ्च न विरुद्ध्यते। वस्तुतस्तु पुराकल्पे ब्राह्मणग्रन्थरचनाकाले मन्त्राणामेव वैदिकत्वेन ग्रहणमासीद्योग्यम्; ब्राह्मणानान्त्ववश्यं लौकिकत्वेनैव, परमिदानीन्तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव वैदिकत्वेनाभ्यर्च्चनं समानम्; सौत्रिकाणामपि वचनानां वैदिकत्त्वम्; ततः परस्यानामेव लौकिकत्वमिति। शास्त्रकृतां व्यवहारएवात्र निदानम्; तत्रापि कालस्यैव प्राधान्यमित्यभ्युपगन्तव्यमतएव आसूत्रकालात् [illegible]विशेषेण "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति ॥

भावार्थः—निगम और आगम शब्दों का एक ही अर्थ है। इस यास्कप्रणीत निरुक्त में जितने उदाहरण दिखाये हैं प्रायः उन सब में निगमपद का प्रयोग दीखता है। "वहां इस विषय के निगम हैं इत्यादि"। इस में तत्त्व यह है कि आदि में निगम यह शब्द मन्त्रभाग का ही वाचक था किन्तु ब्राह्मणभाग का नहीं। निरुक्त ग्रन्थ में सर्वत्र ही मन्त्रों वा मन्त्रांशों का ही निगम शब्द से ग्रहण किया है। उस निरुक्त में दिखाये दमूनाः और क्षेत्रसाधाः दोनों पद मन्त्रभाग में ही दीखते हैं। ~~मन्त्रभाग से ही~~ लिये पदों वा मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों को निगम कहने का व्यवहार है जैसे मनु संहिता में (निगमांश्चैव०) इस श्लोक पर कुल्लूक भट्ट ने कहा है कि "पर्यायवाचक दो पदों के ग्रहण से वेदार्थ बोधक निगम नामक ग्रन्थों का ग्रहण अभीष्ट है इस के पश्चात् बहुत काल से ब्राह्मणग्रन्थों को भी निगम कहने का प्रचार हुआ। इसी से भागवतादि ग्रन्थों में निगमपद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही बोध होता है। भागवत के (निगमकल्पतरोर्गलितं०) श्लोक पर श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि "निगम नाम वेद ही सब पुरुषार्थों का साधन होने से कल्पवृक्ष है उस वृक्ष का फल यह भागवत है। इत्यादि। वास्तव में मन्त्रभाग को निगम कहने का प्रचार अति ही प्राचीन है किन्तु ब्राह्मणभाग को निगम व्यवहार पीछे थोड़े ही काल से चला है। निगम नाम मन्त्ररूप वेद के व्याख्यानग्रन्थ ही ऐतरेयादि नामों से प्रसिद्ध वेद के भाष्य कहने मानने योग्य हैं। वेद मानने के पश्चात् बहुत काल बीत जाने पर मन्त्रों का अर्थ जानना अत्यन्त कठिन हो गया तभी यज्ञ के समय यज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर उस समय के ब्राह्मण लोगों ने उन मन्त्रों का विधान और व्यवस्था बांधने के साथ मन्त्रों में आने वाले कठिन पदों का जिन ग्रन्थों द्वारा अर्थ भाषण किया इस से वे ब्राह्मणग्रन्थ ही पहिले २ वेदभाष्य हुए। भाषा और भाष्य ये दोनों एक ही धातु से निकले हैं दोनों का अर्थ भी एक ही है। तिस से इन ब्राह्मणग्रन्थों में उस समय की प्रचरित भाषा से ही वेद के अर्थ जताये इस से भाष्य हुए। जैसे ऋग्वेद का मन्त्र (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः० २। ३। २३। ४) इस का व्याख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में यह किया है कि "गायत्र्यादि छन्दों का नाम ही साध्यदेव है वे यज्ञनाम अग्नि से अग्नि की पूजा करते थे वा करते हैं इत्यादि—ऐ० १। ३। ५। यही व्याख्यान इस मन्त्र का निरुक्तादि में स्पष्ट किया दीखता है। जैसे ही जो शुक्ल कृष्ण दोनों यजुर्वेदों

के आरम्भ का मन्त्र (इषे त्वोर्जे त्वा०) है इस के कठिन पदों का व्याख्यान शुक्ल कृष्ण दोनों ब्राह्मणग्रन्थों में किया दीखता है । शुक्ल यजु के शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "इषे नाम वृष्टि के लिये तथा ऊर्जे नाम रस के लिये श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है" इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी जानो ।

सामवेद के स्तोभ नामक गाने योग्य "हाउ, हाइ" आदि अंशों का भी छान्दोग्य ब्राह्मण में स्पष्ट ही व्याख्यान किया है । और इस विषय को कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यानभाष्य हैं मीमांसादर्शन में और भी दृढ कर दिया है । वहां मन्त्रलिङ्गाधिकरण में (विधिशब्दाच्च) सूत्र पढ़ा है उस पर भाष्यकार शवर स्वामी ने कहा है कि "विधि शब्द विवक्षित अर्थ वाले मन्त्रों का ही अनुवाद करते हैं जैसे " शतंहिमाः " सौ वर्ष हम जीवें । तथा "मन्त्र के व्याख्यानरूप ब्राह्मण वाक्य विधि शब्द कहाते" यह सायणाचार्य का मन्तव्य है (शतं हिमाः) ये मूल मन्त्र के पद हैं । तथा यजुः प्रातिशाख्य के निर्माता कात्यायन ने भी निगमपद से मन्त्रभाग का ही ग्रहण किया है और मन्त्र के व्याख्यान परक ब्राह्मणभाग को भाष्य मान कर दोनों का भेद स्पष्ट ही दिखाया है । "ओम् का प्रयोग वेदों में और अथ शब्द का भाष्यों में होता वा होना चाहिये" इस अवसर पर यद्यपि उस प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट ने वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण स्वी किया और भाष्य शब्द से कल्पादि अङ्ग लिये हैं तथापि प्रातिशाख्य के स्वरविधायक प्रायः सभी सूत्रों में—साम, नैगम, भाषिक और यज्ञकर्म सम्बन्धी स्वरों के भिन्न २ पर्यालोचन करने से सूत्रपठित भाष्य शब्द करके ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण जताने में ही कात्यायन का अभिप्राय प्रतीत होता है क्योंकि (अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कारनियमः) यहां से लेकर (तानएवा०) यहां तक के प्रकरण से भाषिकादि स्वर अच्छे प्रकार निर्णीत किये हैं । और ब्राह्मणग्रन्थों के भाष्य मान लेने पर ही उन उन के स्वरों को भाषिक स्वर कह वा मान सकते हैं ब्राह्मण स्वर ही भाषिक स्वर माने वा कहे जाते हैं यह सर्वसम्मत है । तथा तैत्तिरीय संहिता की भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि "यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है तथापि मन्त्र का व्याख्यानरूप ब्राह्मण है इस से पहिले मन्त्ररूप ही वेद उत्पन्न हुए" । सो इस प्रकार सब मन्त्रग्रन्थों का सामान्य कर मन्त्र, निगम वा वेद नाम सिद्ध ही है । और सामान्य कर सब ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण वा भाष्य भी सिद्ध ही है । तथा

गताङ्क पृ० ११२ से आगे पुनर्जन्म विचार ॥

को सिद्ध कर पाते हैं तो एक ऐसे बड़े पारमार्थिक ज्ञान में घर बैठे बातों २ में कोई कृतकार्य हो जाय क्या यह सम्भव है? अर्थात् कदापि नहीं। और यह कहना भी ठीक नहीं कि जलाये दीपक को बुता के फिर वही प्रकाश नहीं लौट कर आसकता वा वही दीपज्योति लौट कर नहीं आसकती। इस का समाधान यद्यपि पूर्वलेख में आगया तथापि उत्तर देते हैं कि हम भी उसी ज्योति वा रोशनी का लौट आना नहीं मानते। जैसे तेल बत्ती आदि के साथ अग्नि के संयोग से जो रोशनी वा ज्योति हो रही थी वह फिर के नहीं आसकती वैसे जिस शरीर इन्द्रिय वा मन आदि के साथ आत्मा का जैसा संयोग था उस से जैसा जीवन चल रहा था वही जीवन फिर नहीं लौट कर आसकता जो मनुष्यादि जैसे रूप वाला जैसी बुद्धि वाला था वैसा ही लौट कर तभी जन्म लेसकता है जब उस का वही शरीर वही २ मन बुद्धि उसी आत्मा को फिर प्राप्त हो ऐसा कभी हो नहीं सकता क्योंकि शरीरादि सब पृथिव्यादि भूतों में मिल जाते हैं। परन्तु जैसे दीप जलने से पहिले भी अग्नि कहीं दीवासलाई आदि में था जो तेल बत्ती के संयोग से ज्योति रूप से जलने लगा और बुत जाने पर भी आकाश पृथिव्यादि में अवश्य कारणरूप से बना रहता है ऐसे ही जीवात्मा भी जीवनरूप संयोगजन्य कार्य का कारण है वह भी आगे पीछे अपने स्वरूपमात्र में रहता है इस से यह दृष्टान्त ठीक नहीं। योगशास्त्र के विभूतिपाद में भी लिखा है कि पूर्वजन्म का स्मरण इस प्रकार हो सकता है कि—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ सूत्र ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपास्ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टा निरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्मास्तेषु संयमः साक्षात्क्रियायै समर्थः। नच देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् ॥

भाषार्थः-इस जन्म मरण प्रवाह में अनादि काल से पड़े हुए आत्मा के साथ दो प्रकार के संस्कार पूर्वजन्मों के शुभाशुभ कर्मों से संचित हुए विद्यमान हैं एक तो स्मरण वा क्लेशों के हेतु वासनारूप संस्कार कहाते उन से किसी बात का स्मरण हो और बुराई का स्मरण आवे तो मन में ही क्लेश हो वा अविद्यादि क्लेशों की पुष्टि के लिये संचित रहें और द्वितीय धर्म अधर्मरूप से संचित संस्कार प्रारब्धरूप फल देते हैं। उन दोनों प्रकार से संचित संस्कारों में संयम नाम धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास करने से साक्षात्संस्कारों का बोध हो जाता है अर्थात् जैसे हमने दश वर्ष पहिले कोई वस्तु देख सुन के जाना था पीछे अन्य व्यापारों में चित्त लगता गया उस को सर्वथा भूल गये फिर कभी उसी प्रकार का स्थान वा वही स्थान कि जिस में देखा था सामने आवे वा वही काल हो और उस पूर्वदृष्ट विषय का स्मारक कोई निमित्त चिन्ह भी प्रत्यक्ष में आजावे तो उस भूले हुए १० वर्ष पहिले देखे विषय का जैसे हम को सब साङ्गोपाङ्ग स्मरण आजाता है वैसे ही पूर्वजन्म का भी सब वृत्तान्त हम प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में अज्ञानान्धकार से आच्छादित तिरोभूत दबा हुआ विस्मृत हो रहा है। जब योगाभ्यास से आत्मशुद्धि क्रमशः की जाती है तब वे सब संस्कार धीरे २ खुलते जाते हैं इस से योगी पुरुष को पूर्व के सैकड़ों जन्मों का पूरा २ साक्षात् ज्ञान हो जाता है यह सब विचार पूर्वजन्म के यथावत् स्मरण पर है अर्थात् यथावत् साक्षात् विशेष स्मरण किसी योगी ज्ञानी ही को पूर्वोक्त साधनों से हो सकता है और वैसे कुछ २ न्यूनाधिक सामान्य स्मरण तो सब को है हमने पूर्वजन्म में मरण दुःख का जो अनुभव किया है उस का सूक्ष्म स्मरण ही तो हम प्रत्येक प्राणी को मरण का नाम भी विशेष भय दिला रहा है। तथा जो लोग प्रारब्ध को प्रबल मानते जिन का सिद्धान्त है कि "कर्म रेख नहि मिटे मिटाई" अर्थात् पूर्वजन्मों में जैसा किया है वैसा ही फल मिले गा इस प्रकार का जिन को विश्वास है वह भी सामान्य प्रकार के स्मरण को जताता है। तथा आस्तिक विद्वानों को साधारण मनुष्यों की अपेक्षा जितना अधिक स्मरण है उतना ही उन को पुनर्जन्म के होने का अधिक निश्चय और विश्वास है। अर्थात् स्मरण अनेक प्रकार का होता है। अनेक विषय हमने इसी जन्म में कभी २ ऐसे देखे जाने सुने हैं जिन का हम को सामान्य सूक्ष्म स्मरण तो है जिस के अनुसार हम उन विषयों को असम्भव नहीं मानते जैसे किसी बालक को अन्नप्राशन से पूर्व ही दीन बार वर्ष की अवस्था

में किसी पुस्तक में लिखे कई विषय कण्ठस्थ बताये जावें और उस समय वह अपनी बोलने की शक्ति के अनुसार कह भी सकता हो फिर खेल आदि में भूल जावे दश वा पन्द्रह वर्ष तक भूला ही रहे जानो उसने वह पुस्तक कभी पढ़ा ही नहीं ऐसा भूल जाय तब १५ वा २० वर्ष की अवस्था में फिर उस को वही पुस्तक पढ़ाया जाय तो पहिले सामान्य स्मरण के अनुसार वह बालक उस पुस्तक को उस अन्य बालक की अपेक्षा शीघ्र कण्ठस्थ कर लेगा जिस को बाल्यावस्था में वह पुस्तक नहीं पढ़ाया गया था। यद्यपि उसे यह स्मरण नहीं है कि मैंने तीन वा चार वर्ष की अवस्था में इसी पुस्तक के वाक्य पढ़े थे परन्तु पढ़ते समय पूर्व संस्कारों ने सहायता अवश्य दी इस से सामान्य सूक्ष्म स्मरण का होना सिद्ध हो गया। वैसे ही जिन किन्हीं बालकों को इस जन्म में कुछ नहीं पढ़ाया गया ऐसे अनेक बालक किसी भाषा को पढ़ाने के लिये एकसाथ बैठाये जावें सब के साथ एक सा ही पढ़ाने आदि में श्रम भी किया जावे तो भी उन में कोई उस भाषा में अति शीघ्र अत्यन्त प्रवीण हो जाते एक बात बताने से दो वा चार बातें उस विषय के सम्बन्ध की स्वयं समझ जाते हैं कोई मध्यम और कोई अतिनिकृष्ट दशा के होते हैं इस में भी जो जितना शीघ्र जिस विषय को पढ़ समझ लेता है उस को उतना ही पूर्वजन्म के पढ़े का सामान्य स्मरण है यदि पूर्व जन्म का सामान्य स्मरण इस का कारण न मानें तो एक साथ एक विषय के पढ़ने वाले सब विद्यार्थी एक से ही प्रवीण होने चाहिये सो नहीं होते। इस से सिद्ध हो गया कि सामान्य स्मरण सब को है, तो पूर्वजन्म का किसी को स्मरण नहीं यह कहने वा मानने का अभिप्राय होगा कि विशेष स्मरण जैसा होना चाहिये वैसा किसी को नहीं है क्योंकि लोक में सर्वत्र विशेषार्थ में शब्दों का व्यवहार होता है सामान्यार्थ में नहीं जैसे १ सेर अन्न का भोजन करने वाला दश वीश दाने अन्न चाब कर भी कहे कि मैंने आज भोजन नहीं किया तो भोजन शब्द विशेषार्थ बोधन पर हो जाने से सामान्य में भोजन का अभाव सत्य मान लिया जाता है यदि उस ने एक भी अन्न का दाना न चाबा हो तो भी सामान्य भोजन का सर्वथा अभाव कभी नहीं हो सकता क्योंकि उस ने श्वास द्वारा वायु का भोजन अवश्य किया उस वायु में अग्नि जल तथा पृथिवी के सूक्ष्म अणु भी उस के भीतर अवश्य गये जो सब मिल कर कुछ काल जीवन के हेतु हुए। इसी प्रकार अन्न का एक दाना देने वाला दाता वा दानशील नहीं कहाता एक दाना किसी का उठालाने वाला चोर

भी नहीं माना जाता क्योंकि दान वा चोरी आदि शब्द विशेष अर्थों में लिये जाते हैं परन्तु जैसे वास्तव में एक दाने का खाना वा देना वा चुराना भोजन दान और चोरी अवश्य है वैसे सूक्ष्म सामान्य स्मरण भी स्मरण अवश्य है लोकव्यवहार में बोला वा माना नहीं जाता यह अन्य वात है। अज्ञानी कौन है? क्या जिस को लोग अज्ञानी कहते मानते हैं उस में कुछ भी ज्ञान नहीं यदि ऐसा हो तः पत्थर अज्ञानी हो सकता है इसी प्रकार जिस को ज्ञानी मानो गे उस में भी कुछ अज्ञान अवश्य रहे गा विशेष ज्ञान के न होने से अज्ञानी तथा होने से ज्ञानी कहाते हैं वैसे यहां भी विशेष स्मरण न होने से कहा वा माना जाता है कि पूर्व जन्म का किसी को स्मरण नहीं है। अब यह पहिले प्रश्न का उत्तर होगया आगे द्वितीय प्रश्न—

प्र०—२—आवागमन की रू से माना कि एक जीव मुर्गी का कबूतर होगा फिर वह जीव अण्डे में आया दैवसंयोग से मर गया अन्दर ही अन्दर हज़ारों कीड़े पड़ गये देखा गया इस का क्या कारण है?।

उत्तर—वह जीव दैवयोग से अण्डे में मर गया यहां तक तो कुछ शङ्का नहीं, प्रश्न केवल यह है कि फिर उस अण्डे में अनेक जीव कहां से आगये?। इस का उत्तर यह है कि सृष्टि भर में असंख्य जीवधारी प्राणी विद्यमान हैं उन में लाखों ही प्रतिदिन वा प्रतिक्षण मरते और लाखों ही जन्म लेते रहते हैं। मरे हुए सब जीवों को अपने २ कर्मानुकूल सुख दुःख भोगने के लिये उन २ योनियों में जन्म मिलता रहता है। जब वह अण्डे वाला जीव मर गया तो उस अण्डे के भीतर का सामान सड़ जाता उस में एक प्रकार की ऊष्मा गर्मी उठती है वह ऊष्मा ही जिन जीवों के देहधारण का कारण है वे जीव उस ऊष्मयुक्त विकृतगर्भाशयरूप कारण में अपने २ कर्मों से प्रेरित परमेश्वर के नियमानुसार सब ओर से आकर शरीरधारण कर लेते हैं। जैसे लोक में प्रत्यक्ष देखलो कि कहीं सदावर्त्त वा भोजन वांटने का प्रबन्ध हुआ तो दूर २ के भिक्षुक अन्नार्थी दीन दुःखी शीघ्र ही चारों ओर से आटूटते हैं। कहीं मधु (शहद्) खुला धरा हो तो चींटी आदि वा मक्खी थोड़े ही काल में सहस्रों आकर उस में फस जाते यदि कोई पशु आदि का शरीर जंगल में मरा पड़ा हो तो गृध्रादिमांसाहारी जिन में से वहां पहिले एक भी नहीं दीखता था थोड़े ही काल में चारों ओर से सैकड़ों एकत्रित हो जाते हैं। यदि वर्षा ऋतु में ... हो जाने

पर खुले अवकाश में दीपक जला दिया जाय तो सहस्रों पतङ्ग जन्तु जाने कहां २ से शीघ्र इकट्ठे हो जाते हैं जिन का दीप जलने से पहिले वहां चिन्ह भी नहीं था। नाच तमाशे गानादि जिन २ प्रकार के जिन २ कामों में जो २ मनुष्यादि आसक्त हैं उन २ प्रकार के अच्छे वा बुरे काम जहां २ होते हैं वहां २ वैसे २ मनुष्यादि अपनी २ संचित वासनाओं से आकर्षित हो कर शीघ्र ही पहुंचते हैं जैसे यह सब अन्तःकरण के संचित वासनारूप कर्मों के अनुसार होता है वैसे ही जहां २ अण्डे आदि में स्वेदज प्राणियों के देहधारण का सामान होता है वहां २ वे अपने २ संचित वासनारूप संस्कारों के अनुसार शीघ्र आकर्षित हो कर पहुंच जाते और शरीरधारण कर लेते हैं। जैसे किसी मेलामें सब प्रकार के मनुष्य सब स्थानों से जावें और वहां सब प्रकार के सामान वा अड्डे भी नियत किये गये हों तो जो कोई पण्डित विद्वान् होगा वह पुस्तकालय में वा विद्वानों की सभा में जाना स्वीकार करेगा क्षत्रिय होगा वह युद्ध सम्बन्धी सामान की ओर झुकेगा वैश्य व्यापार के वस्तु देखना चाहेगा, चर्मकार अपनी गोष्ठी में जायगा और महतर पुरीषालय पाखाने के समीप महतरों की जमाअत में चला जायगा अपने २ संचित संस्काररूप कर्मों के अनुसार सब लोग उस मेले (नुमाइश) में फैल जायंगे इसी प्रकार इस जगत्‌रूप मेले में सब प्रकार के प्राणी अपने २ पूर्वशरीरों को छोड़ २ कर अपने २ पूर्व संचित कर्मों के अनुसार भिन्न जमाअतरूप योनियों वा कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। आशा है कि अब यह सन्देह निवृत्त हो जायगा कि उस अण्डे में भीतर ही भीतर इतने जीव कहां से आगये ?। यदि यह भी विचार हो कि अण्डे में घुसने का अवकाश वा छिद्र नहीं था तो उत्तर यह है कि अण्डे में घुसने का अवकाश वा छिद्र तो अवश्य हैं पर वे इतने सूक्ष्म हैं कि जिन को हम छिद्र नहीं मानते जैसे मनुष्य के शरीरस्थ रोमकूप छिद्र नहीं माने जाते और इन्द्रियों को छिद्र माना है। जीव इतना सूक्ष्म है जो सब प्रकार के वस्तुओं में प्रवेश कर सकता है क्योंकि वह सूक्ष्म अणुओं से भी अधिक सूक्ष्म है। उस के लिये ऐसी शंका नहीं हो सकती ॥

प्रश्न–३--वर्षा काल में नाना प्रकार के जीव जन्तु जैसे मिड़िया गिजाई वगैरह उत्पन्न होते हैं यदि ये जीव आवागमन के हैं तो क्या इन का नम्बर बरसात ही में लगता है ?।

उत्तर–इस प्रश्न का कुछ उत्तर तो पूर्व प्रश्न में आगया। और शेष यह है कि ईश्वर की सृष्टि अनन्त है एक २ ... में असंख्य प्राणी हैं केवल पृथिवी

मात्र सप्त द्वीप में जो सृष्टि प्रत्यक्ष हो सकती है उतनी ही नहीं है पृथिवी के समान सहस्रों लोक हैं जिन के प्राणियों का परिवर्त्तन भी होता रहता है । वर्षाकाल में मिड़िया गिजाई आदि जो जीव एक साथ सहस्रों प्रकट हो जाते हैं उन में जो प्राणी अपनी जाति के अनुसार पूरे २ शरीरों वाले एक साथ दीखने लगते हैं वे तो गर्मी की अधिकता से पहिले से पृथिवी में घर बना कर रहते हैं जैसे पृथिवी में हम मनुष्यादि के घर होते वैसे सभी पार्थिव प्राणियों का पृथिवी और जल जन्तुओं का जल तथा वायव्य प्राणियों का वायु स्थान है । जैसे ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न दुपहर के समय वा अर्द्धरात्रि के समय प्रायः मनुष्यादि प्राणी अपने २ घरों में प्रवेश कर जाते हैं इधर उधर चलते फिरते नहीं दीखते वैसे ही वसन्तादि अन्य ऋतुओं में वर्षाकाल के जीव पृथिवी के भीतर निवास करते हैं । जैसे पशु पक्षी वा मनुष्यादि सभी प्राणियों में वर्ष में एक वार वा किन्हीं में दो वार नवीन सन्तान होते हैं कि जब २ उन २ जातियों में उत्पत्ति के योग्य ऋतु आदि साधनों का अधिकांश संचय होता है । वैसे ही वर्षाकाल में नये २ मण्डूकादि प्राणी भी उत्पन्न होते हैं मण्डूकादि का प्रधान कारण जलतत्त्व है उस की वृद्धि वर्षाकाल में ही होती है । तभी मण्डूक गिजाई आदि के छोटे २ बच्चे भी उत्पन्न हुए चलते फिरते दीख पड़ते हैं । जैसे मनुष्य के बच्चों को देख कर बड़े शरीर वालों के लिये यह अनुमान सत्य होता है कि पूरे शरीरों वाले सभी मनुष्य पहिले २ बच्चे हुए और काल पाकर बढ़ते २ पूरे होगये वैसे ही मिड़िकिया आदि के बहुत छोटे २ बच्चों को देख कर यह मान लेना चाहिये कि जो बड़े २ मण्डूकादि दीखते हैं ये सभी पहिले कभी बच्चे हों गे धीरे २ बढ़े हैं । हम को जो बड़े २ मनुष्य हाथी ऊंट आदि दीखते हैं उन सब को छोटे से बड़े होने तक बराबर खाते पीते चलते फिरते कहीं रहते हमने नहीं देखा तोभी यह सन्देह नहीं होता कि, ये कहां से आगये । किसी समय हम को कहीं अकस्मात् सहस्रों हाथी घोड़े आदि प्राणी दीख पड़ें तो जैसे वे कहीं थे वैसे मण्डूकादि भी कहीं थे । अब रहा नई उत्पत्ति के विषय में विचार कि मिड़िया गिजाई आदि लाखों जीवों का वर्षात में ही उत्पत्ति का नम्बर क्यों आता है तो यह सन्देह अन्य पशु पक्षी आदि में भी हो सकता है जैसे कुत्ते बिल्ली भेड़ बकरी आदि प्रायः सभी प्राणीयों के गर्भ धारण का कोई समय नियत है और उस नियम का कारण यही है कि उन २ प्राणियों के शरीरों का जो उपादान कारण

है उस के सहायक साधन जैसे उस २ समय में मिलते हैं वैसे २ साधन अन्य समय में नहीं मिलते इस लिये वे जीव उन्हीं समयों में अधिक जन्मते हैं । जो २ जीव किसी योनि में जन्म लेते हैं वे सब पहिले किसी योनि के शरीरों को छोड़ कर अवश्य आये हैं इस लिये वे आवागमन के जीव हैं यह ठीक है । जो मनुष्य कहीं मेले सभा वा बाज़ार आदि में आते हैं वे आने से पहिले पृथिवी के किसी भाग में किसी स्थान में किसी घर में रहते थे जहां से आये यह निस्सन्देह मानने पड़ता है किन्तु यह कोई नहीं मानता कि ये कहीं नहीं थे वा इन के रहने का कोई स्थान नहीं था वैसे जो जीव नवीन शरीर धारण करते हैं उस से पहिले वे अन्य किसी योनि के शरीर में अवश्य थे। जैसे अपने २ घरों को छोड़ कहीं जाने के लिये रेलवेस्टेशनों के मुसाफ़िरखानों में टिकट ले २ कर लोग इकट्ठे होते जाते हैं और फाटक खुलने की ओर ध्यान लगाये बैठे वा खड़े रहते हैं फाटक खुलते ही रेल पर चढ़ने के लिये एक साथ भागते हैं वैसे अनेक स्थानों वा योनियों से अपने २ शरीररूप घरों को छोड़ २ शुभाशुभ कर्मों की गठरी बांध कर अपने २ संचित कर्मों के अनुसार अव्वल दोयम इंटर वा थर्डक्लास का टिकट परमेश्वर के नियमानुसार लेकर उन २ मण्डूकादि योनियों में जन्म लेने के लिये सन्नद्ध रहते हैं । वर्षादि उत्पत्ति का फाटक खुलते ही झटपट अपने २ क्लासों में घुस कर शरीर धारण करलेते और फिर उसी शरीररूप रेल पर चढे भागते चले जाते हैं। अर्थात् आवागमन वाले सभी जीवों का भिन्न २ योनियों में जन्मने का किसी २ नियत समय पर ही नम्बर आता है । इस में इतना भेद है कि जैसे सदा ही सभी जातियों में अच्छे सुकर्मी श्रेष्ठ वा प्रतापी प्राणी कम होते और बुरे सदा ही अधिक होते हैं थर्डक्लास की अपेक्षा इंटर में कम बैठते उस से द्वितीय कक्षा में कम और उस से भी कम अव्वलदर्जे में बैठने वाले होते हैं सब से नीची कक्षा में सब से अधिक बैठते हैं इसी के अनुसार मनुष्यादि उत्तम जातियों में कम प्राणी जन्म लेते उन में भी शूद्र की अपेक्षा वैश्यपन वाले कम होते वैश्यपन से क्षत्रिय गुणकर्मों वाले कम होते और ब्राह्मणत्व की योग्यता वाले क्षत्रियों से भी कम होते और ब्राह्मणों से भी कम पितृ देव और ऋषि होते हैं । इस के अनुसार मनुष्यादि की अपेक्षा नीच वा क्षुद्र योनियों में प्राणी बहुत ही अधिक उत्पन्न होते और शीघ्र २ जन्मते मरते हैं । अच्छी योनि में जन्म लेकर अधिक आयु वाला हो ... भी अच्छे कर्म का ... है और ... भी बुरे कर्मों

का फल है । इसी से चींटी गिजाई आदि योनियों में छोटे २ निकृष्ट देहधारी जीव अधिक वा असंख्य दीखते हैं । आशा है कि अब इस प्रश्न का उत्तर भी कुछ सन्तोषजनक होगया होगा । अब इसी प्रसंग में समाधान करने योग्य कई नवीन प्रश्न उपस्थित हो गये हैं उन का संक्षेप से कुछ थोड़ा २ समाधान हम लिख कर तब पूर्व प्रश्न कर्त्ता के शेष प्रश्नों का उत्तर लिखेंगे ।

१-प्रश्न-अंग्रेज़ी डाक्टरी और चरक वाग्भट्टादि ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि सन्तान को कुष्ठ वा गलित कुष्ठादि रोग होते हैं उस का कारण उस के माता पिता का दोष है और वैदिकसिद्धान्त यह है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है तो इस में क्या माना जावे ? जो जीव के पूर्व संचित पाप मानों तो माता पिता का दोष कहना व्यर्थ है और माता पिता का दोष मानो तो सन्तान को अपराध बिना भोगना पड़ता है यह अन्याय है फिर जीव के पूर्व पाप का फल है यह कहना नहीं बनता ॥

उत्तर-यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर स्वतएव संस्कार सम्बन्धी आर्यसिद्धान्त के लेख में आचुका है तथापि हम फिर से स्पष्ट उत्तर देते हैं कि माता पिता का दोष और सन्तान को पूर्व संचित कर्मानुसार फल मिलना ये दोनों बातें सत्य हैं इन में परस्पर विरोध नहीं है पूर्वापर का भेद अवश्य है जिस जीव के पूर्वजन्म के जैसे कर्म हैं वह अपने कर्मों के अनुसार ही फल भोगने के लिये वैसे ही माता पिताओं के यहां आकर परमेश्वर की व्यवस्थानुसार जन्म लेता है कि जिन माता पिताओं से उस के कर्मानुसार उस को सुख दुःख भोगने पड़ें । जिस सन्तान को पिता के शरीर के कुष्ठांश से कुष्ठी हो कर दुःख होना सम्भव था उस का कुष्ठी पिता के यहां जन्म हुआ । परमेश्वर कर्मों के फल संसार में ही एक से दूसरे को दिलाता है किन्तु विना किसी निमित्त के सुख दुःख किसी को मिलते नहीं अब रहा यह कि सन्तान के कर्मानुसार कुष्ठ वा गलित कुष्ठ हुआ तो माता पिता का दोष क्यों कहा वा माना जाता है इस का उत्तर यह है कि हमने कोई कुपथ्य किया वा अनुचित किया तो वह हमारा दोष अवश्य माना जावेगा उस दोष से फल चाहें केवल हम को हो वा हमारे सम्बन्धी अन्यों को भी हो यह दूसरी बात है दोनों दशा में हम दोषी हैं क्योंकि कुपथ्य हमने किया उस से हम को रोग हो गया हम रोगी न होते तो कहीं से कुछ भोजनादि के लिये उपार्जन करके अन्नादि लाते और लड़के वाले खाते सो भूंखे रहे यहां भी

उन लड़के वालों को पूर्वकर्मानुसार हमारा साथ मिला और कुपथ्य के दोष हम अवश्य रहे। यदि पिता वैसे कुपथ्य न करता जिस से उस को और उस के सन्तान को कुष्ठ हुआ तब आप कहेंगे कि सन्तान भी कुष्ठी न होता फिर सन्तान के कर्म मानने व्यर्थ हैं तब हम कहते हैं कि जिन के माता पिता में कुष्ठादि नहीं क्या ऐसे किन्हीं मनुष्यों को नया कुष्ठादि असाध्य रोग नहीं होता? यदि होता है तो सन्तान को कुष्ठ का दुःख मिलना अपने ही कर्मों का फल रहा। संसार में प्रत्यक्ष भी ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल सकेंगे कि जहां अपने किये कर्मों का अन्य के द्वारा फल मिलता है। कोई मनुष्य किसी की सेवा वा नौकरी करता है उस को अपने कर्म का वेतनफल स्वामी के दिये बिना नहीं मिलता वैसे नि कृष्ट कर्मों का फल भी परमेश्वर किसी निमित्त द्वारा दिलाता है। और पिता इस लिये भी दोषी है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने क्रियमाण कर्मों को सुधारने अच्छे कर्म करने, बुरे कर्मों से बचने का शास्त्र में आज्ञा है उस के अनुसार पिता ने क्यों ऐसे कुपथ्यादि किये जिन से स्वयं रोगी हुआ और सन्तान को भी रोगी बनाया। यदि कहो कि पिता कुष्ठी न होता तो भी सन्तान अपने कर्मानुसार नवीन कुष्ठ से दुःख भोगता तो इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक रोगों की जैसे ओषधि बतायी गयी हैं वा यों कहो कि प्रत्येक दुःख के हटाने के उपाय वेद शास्त्र द्वारा बताये हैं तब यदि कोई रोग वा दुःख हो और उस का प्रतीकार करना जो न जाने वा दुःख निवृत्ति का पूरा २ उद्योग न करे तो वही दोषी है पूर्वजन्म के अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्मों से होने वाले दुःखों की निवृत्ति का उपाय भी बाल्यावस्था पर्यन्त करना पिता माता का ही काम है क्योंकि असमर्थ दशा में सन्तान अपने दुःखों को हटाने का कुछ भी उपाय नहीं कर सकता। सन्तान की सब प्रकार ओषधि और रक्षा वा शिक्षा करना माता पिता का ही काम है यदि वे न करें वा न कर जानें तो दोषी हैं इसी लिये बड़ा होकर पिता माता का प्रत्युपकार न करे तो वह सन्तान भी पापी वा दोषी माना जाता है। यदि प्रारब्धानुसार सन्तान का कुष्ठी होना निश्चित भी हो तथापि यदि माता पिता उस को सर्वथा नीरोग रखने के लिये अपने वा सन्तान के खान पान आदि द्वारा पूरा २ रक्षा का उद्योग करें तो सन्तान को प्रारब्धानुसार कुष्ठ होने पर भी इतना कम वा ऐसे प्रकार से कष्ट होगा जिस से दूषित और दुःखी न हो अर्थात् न होने के समान हो माना जावे तो माता पिता का

सन्तान के लिये क्रियमाण और सन्तान का प्रारब्ध दोनों सफल हो गये । जैसे किसी मनुष्य ने कोई ऐसा कुपथ्य किया जिस से उस को असाध्य रोग होने का कारण संचित हो गया फिर उस असाध्य रोग के प्रकट होने से पहिले वही मनुष्य वा उस का सम्बन्धी अन्य कोई सर्वथा नीरोग रहने के लिये अच्छे पथ्य के साथ रोगनाशक आरोग्यवर्द्धक वस्तुओं का सेवन करे तो उस निश्चित प्रारब्धरूप असाध्य रोग की जड़ ऐसे धीरे २ भोग हो कर कट जायगी कि जिस से भोगने वाले को इतना कम दुःख व्यापे जिस को वह दुःख ही न माने और प्रारब्ध भोग भी हो जावे । जैसे प्रत्येक मनुष्य वा प्रत्येक प्राणी के भीतर सदा ही किन्हीं रोगों के कारण संचित होते रहते हैं उन से विरुद्ध होने वाले पथ्यरक्षणादि से किन्हीं २ की निवृत्ति भी होती रहती है । अनेक कारणों से रोग भी बीच २ हो जाते हैं इस लिये प्रत्येक मनुष्य को सदा आरोग्यवर्द्धक और रोगनाशक उपाय करने की आज्ञा सार्थक ठहरती है इसी के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में ज्ञात वा अज्ञात अनेक पाप संचित हैं इसी लिये सदा उस को वेद की आज्ञानुसार कुसंस्काररूप पापों को हटाने और अच्छे संस्काररूप पुण्य का संचय करने के लिये उद्योग करना चाहिये जो ऐसा नहीं करता वह दोषी है अथवा जो यह मानता है कि मैं निष्पाप हूं वा मैं पुण्यात्मा हूं यह भी उसी का दोष है । इस से यह सिद्ध हो गया कि सन्तान को जो कुष्ठादि होते हैं वह उस के दृष्ट वा अदृष्ट कर्मों का फल है । यदि वह कुष्ठादि पिता के वा माता के रोगी होने के कारण हुवा हो तो माता पिता भी दोषी हैं । जहां किसी कार्य के होने में कई शामिल होते हैं तो वे सभी अच्छे वा बुरे फल के भागी माने जाते हैं । चोर के साथ में जो खड़े भी हों वा चोरी को जो सम्मति दें वे भी चोर के तुल्य अपराधी माने जाते हैं । वैसे ही जहां पापी सन्तान हो वे माता पिता भी दूषित पापी होंगे और जहां माता पिता निकृष्ट होंगे वहां पूर्व के पापी सन्तान जन्मेंगे जैसे का तैसे ही से प्रायः मेल होता है । पुण्यात्माओं के अच्छे सन्तान होते हैं ॥

२–प्रश्न–आपण ने गरीब के ऊपर उपकार किया तो क्या माना जावे कारण जीव जैसी क्रिया करता है वैसा फल पाता है जो उस के कर्म का फल उस को मिला तो उपकार करने वाले को [illegible] और उस के ऊपर उपकार हुआ तो उसी गरीब को सिवाय कर्म के फल मिला ॥

उत्तर—किसी ग़रीब पर उपकार करना उपकार ही माना जायगा । उपकार करने वाले को अवश्य पुण्य होगा । किसी मनुष्य ने ऐसा कुपथ्य किया जिस से रोग हो कर अत्यन्तपीड़ित हो रहा हो और स्वयं उस रोग की निवृत्ति का उपाय जानता न हो वा जानता हो तो साधनों के न होने से हटा न सकता हो और कोई धर्मात्मा वैद्य उस को मिल जावे तथा ऐसी औषधि देवे जिस से शीघ्र ही उस का दुःख निवृत्त हो तो जितना ही उस को सुख होगा वैसा ही वैद्य को पुण्य होगा । इस प्रकार के सन्देह जो लोगों को उत्पन्न होते हैं उस का कारण यह प्रतीत होता है कि कर्मों की व्यवस्था का ठीक २ बोध नहीं है अथवा कुछ है तो लोग इतना ही समझे हैं कि जो जैसा करता है उस को उतना ही फल भोग लेना पड़ता है विना भोगे बीच में किसी का कोई दुःख निवृत्त नहीं हो सकता और यदि कुछ दुःख निवृत्त हो सकता है तो जिस ने जैसा किया है वैसा ही सुख दुःख उसे भोगने पड़ेगा यह सिद्धान्त नहीं ठहर सकता । इस का संक्षेप से समाधान यह है कि ये दोनों बातें सत्य हैं । जो जैसा करता सो तैसा फल पाता है इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जो करता है वही भोगता है अन्य के किये का फल अन्य को नहीं होता तथा नियतविपाक कर्मों का फल विना भोगे भी नहीं छूटता अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं एक नियतविपाक जिनका फल अवश्य भोगने पड़ेगा जैसे असाध्यरोग और दूसरे अनियतविपाक हैं जिन के फल होने का नियम नहीं । जैसे कोई बीज तो ऐसे हैं जिन में उगने की प्रबल शक्ति है वे अवश्य उगते हैं तथा कोई ऐसे हैं जो अनुकूल जल पृथिवी आदि के मिलने और प्रतिकूल उगने के विरोधी कारणों के अभाव में किसी प्रकार मर पच के उग जाते और प्रतिकूल कारणों के दबा देने से नहीं उगते बीज शक्ति भी नष्ट हो जाती है । वैसे ही नियतविपाककर्मों का अवश्य फल होता है और अनियतविपाक कर्मों का फल कुछ हुआ तो हुआ और कोई विरोधी औषधादि मिल गया तो कुछ नहीं होता जैसे नियतविपाक असाध्य रोगों की औषधि करने से यद्यपि रोग सर्वथा निर्मूल न हो जावे तो भी जैसा रोगनाशक प्रबल उपाय होगा वैसा ही रोग के निर्बल होने से दुःख कम होता जायगा । असाध्य रोग को दबाने का यहां तक उपाय हो सकता है कि वह इतना निर्बल और कम पड़ जावे कि जिस से वह असाध्यरोग वाला अपने को रोगी भी न माने न अन्य लोग उस को रोगी कहें वा मानें । इसी के अनुसा-

असाध्य कुछ नहीं ठहरता जो जिस की शक्ति से बाहर है जिस उपाय वा काम को जो नहीं कर सकता वही उस के लिये असाध्य है। असाध्य और नियतविपाक प्रारब्ध एक ही बात है इसी से क्रियमाण वा संस्कार प्रबल ठहरता है। आज कल प्रारब्धवाद के लोक में अत्यन्त प्रबल हो जाने के कारण ऐसी ऐसी शंका अधिक उत्पन्न होती हैं। प्रारब्ध को सर्वांशों में सर्वोपरि प्रबल मानें तो कोई मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता किसी गरीब का उपकार होना है वा नहीं इस को तो अलग रहने दो प्रथम तुम्हीं कुछ नहीं कर सकते किसी रोग की ओषधि न करनी चाहिये घर में दीपक जलाना व्यर्थ है किसी से विद्याशिक्षा लेना कोई पुस्तक पढ़ना धर्मोपदेशग्रहण करना तथा वेदादिशास्त्रों का उपदेश कि ऐसा करो ऐसा न करो इत्यादि सभी व्यर्थ है क्योंकि यदि इन सब से कुछ उपकार होता है तो जैसे पहिले कर्म किये वैसा फल मिलना चाहिये यह नहीं रहा और यदि पहिले के अनुसार ही सब होता है तो अब कुछ नहीं करना चाहिये। इसलिये यह सिद्धान्त यों मानना चाहिये कि पूर्वसञ्चित पाप पुण्यों का फल वर्त्तमान के कर्मों को मिला कर होता है जैसे किसी ने कोई कुपथ्य किया उस के संचित रोग कारण को जब तक कोई सहायक अन्य कुपथ्य नहीं मिलता तब तक वह पूर्वसंचित कुपथ्य रोग नहीं करेगा। यदि उस से विरुद्ध पथ्य करने लगे तो वह रोग का संचित कारण धीरे २ नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार पूर्व के सचित कर्मों को जगाने के लिये वैसे ही कर्म वर्त्तमान में हों तो फल होगा विरुद्ध होने से पहिला पड़ा रहेगा परन्तु दोनों में जो प्रबल पड़ जायगा उस का भोग होगा पहिला प्रारब्ध कहीं प्रबल है तो उससे विरुद्ध काम करने पर भी पहिले का ही भोग होगा। पर अधिकांश यही है कि प्रारब्ध और क्रियमाण दोनों को मिला कर भोग होता है। इस से जैसा करता है जैसा किया है और जैसा करेगा वैसा फल मिलेगा यह मानना चाहिये किन्तु यह नहीं कि जैसा किया है वैसा ही मिले। कर्म व्यवस्था को अलौकिक नहीं मानना चाहिये लोक में प्रत्यक्ष जैसे रोगादिक के विषय में फलों के होने की व्यवस्था होती है वैसे ही जन्मान्तरीय कर्मों में भी जानें। जैसे किसी ने परिश्रम से संचित कर के कुछ धन कहीं गाड़ दिया यह उस को शुभ फल मिलने के लिये संचितकर्म है पर यदि उस को [illegible] तो नहीं। ऐसे ही प्रत्येक प्रारब्ध कर्म के साथ इतना लगा लेना चाहिये कि यदि अनियतविपाक कर्म है तब

तो सर्वथा ही दुःख निवृत्ति का उपाय सार्थक है और यदि नियतविपाक कर्म है तो क्रियमाण से भावी दुःख निर्बल वा कम हो जायगा। और किया कर्म भोगना अवश्य पड़ेगा। इस के साथ यों लगा लेना चाहिये कि यदि रोग हटाने को औषध न करेगा वा व्यर्थ के स्नानदर्शनादि से छुड़ाना चाहेगा तो छूटेगा नहीं उस कर्त्ता को भोगने पड़ेगा। संसार में ऐसा कोई सामान्य वा उत्सर्ग नहीं जिस का विशेष अंश में कहीं कोई अपवाद बाधक न हो इस लिये जितने सामान्य नियम हैं उन सब में न कहने पर भी अपवाद का अंश पहिले से छोड़ देना पड़ता है जैसे कोई कहे कि "प्रातःकाल मथुरा को अवश्य जाऊंगा, यदि उसी समय कोई ऐसी रुकावट हो जिस से रुकने ही पड़े तो न जाऊंगा" यह अपवाद है वैसे ही यदि पाप छुड़ाने का कोई विशेष उपाय न किया जाय तो नियतविपाक कर्म का फल भोगने ही पड़ेगा। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" किया हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ेगा इस का स्पष्ट अभिप्राय है कि तुम बुरा कर्म करके दुःख से न बचोगे। यदि प्रायश्चित्तादि उपाय से छुड़ाओगे तो यह भी एक प्रकार का भोग है। किसी गरीब का कोई दुःख छुड़ावे तो छुड़ाने वाले को पुण्य अवश्य हुआ पर जैसा ही उस दीन का दुःख छूटा वैसा उस पर दुःख छुड़ाने वाले का कुछ ऋण भी हो गया उस ऋण को न चुकावे तो ऋणी होने से पापी रहेगा और प्रत्युपकार करके ऋण छुड़ावेगा तो वह भी एक प्रकार का फल भोग है। इस से उपकार वा लाभ होना और कर्त्ता को अपने किये का अवश्य फल मिलना दोनों ही बातें सत्य हैं॥

३–प्रश्न–जो जीव पाप कर्मों का फल दुःख भोगता है तो उस को यह ईश्वर के तरफ़ से शिक्षा सज़ा है फिर आपण ने उस को दुःख से छुड़ाने का उपाय क्यों करना॥

उ०–ईश्वरीय नियमानुसार अपने कर्म का फल भोगता है। ईश्वर ने यह आज्ञा नहीं दी कि अपने कर्म का दुःख फल भोगता हो उस को दुःख से मत बचाओ किन्तु वेद में यह आज्ञा अवश्य दी है कि परोपकार करो दुःख से बचाओ "देहि मे ददामि ते" तुम मुझ को और मैं तुमको सुख हेतु पदार्थ देवें जिस से परस्पर का उपकार हो इस प्रश्न का विशेष उत्तर पूर्व आ चुका।

ये तीन प्रश्न एक महाशय के थे जिन का संक्षेप से उत्तर लिख दिया अब एक महाशय का एक प्रश्न बड़ा लम्बीभूत है उस का भी थोड़ा सा उत्तर लिखते हैं।

प्रश्न-जीव और ईश्वर की सिद्धि निम्नलिखित हेतुओं से नहीं होती इस से पुनर्जन्मविषयक विवाद ही निर्मूल है। यथा-

१-ईश्वर की आवश्यकता पूर्वकृत कर्मों के भोगाने के लिये है। २-जीव की कर्म भोग करने के लिये है। परन्तु जीव कोई संयोगजन्य पदार्थ से अन्य सिद्ध ही नहीं क्योंकि जब हम एक गुलाब, मुनक्का के अनेक खण्ड कर और पृथक् २ लगाते हैं वह सब ही अनेक जीव वृक्ष हो जाते हैं। इस से एक जीव के अंशरूप अनेक जीव कैसे हो गये ईश्वर से अतिरिक्त मनुष्यों ने उस एक वृक्ष के अनेक वृक्ष कैसे कर दिये इस से सिद्ध है कि जीव नाम संयोग से उत्पन्न हुई एक शक्ति का है और वह अपने तारतम्य के कारण अनेक रूप में रहती है जैसे कि मिर्च और मिश्री मिलावे तो उस में एक संयोग से उत्पन्न रस गुण वीर्य विपाक प्रभाव आदि पृथक् २ ही रहेंगे और काल के प्रभाव से न्यूनाधिक भी होते जावेंगे यही दशा जीव की जानो। ईश्वर विषय में तो एक बड़ी हंसी की बात यह कही कि पहले पहिल सृष्टि में कोई एक ईश्वर नाम हुआ था उसने सब वस्तु स्थावर जंगम के बीज मिलाकर स्थूल कर दिया देखो अब उन्हीं वीर्य्य बीजों में गेहूं से गेहूं जौ से जौ मनुष्य से मनुष्य होते जाते हैं और कभी २ गधी घोड़े से खच्चर, जौ को लहसुन के मध्य में कोच कर गाड़ने से दंदूना का वृक्ष, रूमा को तीन बार उलटा के गाड़ने से वेला का वृक्ष आदि आप से आप हो जाते हैं इस से अब ईश्वर की आवश्यकता न रही और ईश्वर सरगया अब है भी नहीं जीव तो माता पिता के रज वीर्य्य के मिलने से उत्पन्न हो जाता है यदि क्षेत्रादि साधन शुद्ध हों जैसे गेहूं आदि के बीज मातारूप पृथिवी में पड़ के जमते हैं यदि भूमि ऊषर आदि गुणवती न हो और बीज भी घुना न हो तो। परन्तु एक आश्चर्य्य है कि वीर्य्य एक ही छोड़ा जाता है खेत में यहां माता पिता दोनों के वीर्य्य पतित होते हैं रति समय तो क्या वह दोनों वीर्य्य और रज मिल कर शरीररूप जीव बनता है यहां दो वीर्यों के गिरने का क्या कारण कभी २ स्वप्न में स्त्री हो का वीर्य्य पात होता वही अपान वायु से खींचा गर्भाशय में मूढ़गर्भ हो जाता है और अनस्थि उत्पन्न होता यहां बीज का भी अनियम हो गया इस प्रकार कभी नियम से कभी अनियम से पदार्थ मिल कर जीव होते हैं [illegible] होता है इस से संयोगजन्य पदार्थ से भिन्न जीव वा ईश्वर कोई नहीं यह एक नास्तिक का सिद्धान्त है।

उत्तर-पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये ईश्वर के सिद्ध करने की ऐसी आवश्यकता नहीं जैसी कि जीवात्मा के सिद्ध होने की आवश्यकता है यदि जीवात्मा कोई अनादि वस्तु न ठहरे तो सब विवाद बिना नींव की भित्ति के समान अवश्य है परन्तु ईश्वर के मानने की आवश्यकता पूर्वकृत कर्म फल भुगाने के लिये ही नहीं है किन्तु परमेश्वर के मुख्यकर तीन काम हैं कि जो "जन्माद्यस्य यतः" इस वेदान्त सूत्र में दिखाये हैं। इस जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय जिस से होते हैं ऐसे बड़े चित्र विचित्र ब्रह्माण्ड को जो बनाता और बना कर बराबर नियमानुसार स्थित रखता और रात्रि के समान नियत समय हरबार होने वाले प्रलय समय में जो सब को अपने कारण में लय करता वह परमेश्वर वा ब्रह्म है। जैसे बड़े ये तीनों काम हैं उन के लिये वैसे ही सर्वशक्तिमान् अनादि अनन्त परमात्मा को मानने की आवश्यकता है। जो ईश्वर को नहीं मानता उस के लिये यदि कोई ऐसा दृष्टान्त मिल सके कि ईक्षण पूर्वक वा किसी प्रकार के नियमों से युक्त पदार्थ जगत् में विना कर्त्ता के कहीं बना सिद्ध हो जावे तो अनीश्वरवादी को कुछ कहने का अवसर मिल सकता है। हम देखते हैं कि बागों में जहां पतवर लगाकर इतना २ बीच देकर आम वा अन्य वृक्ष नियम वा क्रम से खड़े होते हैं वैसा नियम वा क्रम जङ्गलों या वनों में कहीं भी नहीं दीखता। इस सृष्टि में भी सूर्य वा चन्द्रादि की रचना का एक बड़ा नियम वा क्रम प्रत्यक्ष विद्यमान है उस से जो नियन्ता वा कर्त्ता सिद्ध होता है वह विद्वानों में अधिक विद्वान् सब बलिष्ठों से भी बलिष्ठ है उस को अनीश्वरवादी नहीं हटा सकता। पूर्वोक्त संसार के सर्वोपरि बड़े अनन्यसाध्य कामों में मनुष्यादि को पूर्वजन्मकृत कर्मफल भुगाना भी परमेश्वर का काम आजाता है इस विषय पर अधिक विवाद लिखना प्रकरणान्तर है इस लिये ईश्वर की सिद्धि में यहां अधिक नहीं लिखेंगे।

अब जीव विषयक प्रश्न का उत्तर यह है कि संयोगजन्य पदार्थ सब अनित्य नाशवान् होते हैं। जीवात्मा के नित्य होने का विचार हम पहिले लिख चुके हैं और अनेक युक्तियों से सिद्ध हो चुका कि जीवात्मा नित्य पदार्थ है उस का यहां फिर लिखना पिष्टपेषणवत् व्यर्थ होगा। अब रहा गुलाब वा मुनक्का के खण्ड २ कर लगाने से अनेक जीवों का उत्पन्न हो जाना इस का भी उत्तर स्थावर सम्बन्धी जीव विचार विषय में आचुका है वहां सारांश यही लिखा गया है कि

यद्यपि जीव और बीज शब्दों का अति निकट सम्बन्ध है एक अक्षर की लौट फेर होने से बीज का जीव हो जाता है जो शरीर वा वृक्षादि बीज से बनते उन में जीव रहता है जिन में जीव रहता है वे सब बीज से बनते हैं बीज में वह शक्ति है जिस से आत्मा जीवित रहता है जीवन शरीर में होता है जीवन प्राणधारण दोनों का एक ही अर्थ है। शरीर में रहकर प्राणधारण करने से ही आत्मा का जीव नाम है। डिप्टी वा मुंसिफ आदि का काम छोड़ देने पर घर बैठे भी जैसे अनेक लोग डिप्टी वा मुंसिफ आदि नामों से पुकारे जाते हैं वैसे शरीर छोड़ने पर भी आत्मा का नाम जीव वा जीवात्मा बना रहता है। इस प्रकार बीज से जीव का अति निकट मेल है तथापि बीज जीव नहीं किन्तु दोनों भिन्न २ हैं वा यों कहो कि बीज में जीव नहीं है किन्तु बीज बोने के पश्चात् अपने कर्मानुसार जीव उस में प्रवेश करता है इसी लिये सुश्रुत के शारीरस्थान में गर्भाधान होने पश्चात् जीव का प्रवेश लिखा है। जैसे आम निम्ब आदि का एक २ बीज भिन्न २ होता वैसे किन्हीं स्थावरों की लकड़ी वा डाली में बीज शक्ति होती है उन वस्तुओं के प्रत्येक खण्ड वा टुकड़े एक २ बीज है जितने खण्ड उस के बन सकते हैं उतने ही उन गुलाब आदि में बीज हैं किन्तु वे जीव के खण्ड नहीं बीज के हैं जीव और बीज भिन्न २ वस्तु हैं गुलाब आदि के भिन्न २ बीजरूप खण्ड बोने पर उन प्रत्येक में एक २ जीव पीछे से प्रवेश करता है तब वे बीज वृक्षरूप बनते हैं किन्तु जीव वृक्षरूप नहीं बनता जीव वृक्षादि में भी तमोगुण से आच्छादित व्याप्त हो कर अखण्डरूप से रहता है शरीर वा वृक्षादि का भी जीव नाम नहीं है किन्तु शरीर और वृक्षादि में जीव अपने भिन्नरूप से रहता है। गुलाब आदि स्थावरों के खण्डों को जीव के खण्ड मानना भूल है। जैसे ईश्वरीय नियमों के अनुसार प्रत्येक आम आदि के वृक्ष में अनेक फल लगते अनेक बीज होते और वे सब बीज वा फल वृक्ष के अवयव कहे जा सकते हैं वैसे जिन वृक्षों की लकड़ी वा डाली ही बीज रूप है उन के जितने टुकड़े उग सकते हैं वे सब भी ईश्वरीय नियमानुसार उस वृक्ष के बीज हैं मनुष्य ईश्वर के नियमों से विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता जिन ईख आदि की एक गांठ वाली एक पोई काटकर बोने से उगती है उस एक पोई के मनुष्य कई टुकड़े करके बोये जिन एक २ में गांठ किसी में न हो तो वे एक भी टुकड़े न उगेंगे। जिस के जितने बड़े खण्ड में बीज शक्ति है उतना

गताङ्क पृ० १२० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर ॥

रुद्र देवता लिखना उपक्रमणिका के भी अनुकूल है और रुद्र न लिख कर सेनापति लिखते तो सेनापति के अतिरिक्त रौद्र गुण वाली स्त्री, अश्व, अश्वपति आदि भिन्न २ देवता लिखने पड़ते रुद्र कहने से सब का ग्रहण होता है अतः रुद्रदेवता ही लिखना ठीक है अन्य नहीं ॥

(घ)-इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ॥ अषाढाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥ इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायान्नवतेऽषाढायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण आयुधमायोधनात्तस्यैषा परा भवति ॥ निरुक्तदैवतकाण्ड । अ० १० पा० १ खं० ६ ॥

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृढ धनुषधारी आदि विशेषणों वाले रुद्र देवता हैं ।

उत्तर—यह तो हम भी स्वीकार करते हैं कि रौद्र गुणयुक्त स्त्री पुरुष आदि रुद्रदेवतापदवाच्य हैं इस के विरुद्ध आप कुछ सिद्ध करें तो हम को लिखने की आवश्यकता है नहीं तो हमारे पक्ष में तो प्रत्यक्ष धनुषधारी आदि का देवतापन रुद्रपन अभीष्ट है अतएव इस के खण्डन की आवश्यकता नहीं ।

(ङ)-जैसे इन्द्र का वज्रायुध, अर्जुन का गाण्डीव धनुष्, आदि सब मनुष्य वा देवतों के आयुध प्रसिद्ध हैं इस प्रकार पिनाक धनुष् शिव जी का ही प्रसिद्ध है किसी मनुष्य का नहीं ।

उत्तर—इन्द्रादि देवतों के वज्रायुधादि आयुधविशेष होने से हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आता क्योंकि जैसे इन्द्र नाम सूर्य्य का वज्र नाम विजुली शस्त्र है उसी के द्वारा वह वृत्र अर्थात् मेघों को हनन करता है तथा पर्वतो अर्थात् मेघों को तोड़ता फोड़ता है इसी प्रकार अन्य दिव्यगुण युक्त पदार्थों में भी सूर्य्य में विजुली के समान ऐसी शक्ति वा सामर्थ्यरूप आयुध हैं जो उन २ देवताओं के विशेष आयुध प्रसिद्ध हैं । कदाचित् साधुसिंह जी की यह शङ्का हो कि उक्त निरुक्त में भिन्न २ देवतों के भिन्न २ आयुध होने सिद्ध हैं तब चक्रवर्त्ती राजा आदि अर्थ में मनुष्य के आयुध विशेष कैसे संघटित होंगे ? । इस का उत्तर यह है कि उपरोक्त निरुक्त कुछ इसी यजुर्मन्त्र के ऊपर नहीं है किन्तु

सामान्य इन्द्रदेवता आदि के वज्रादि आयुधों का प्रतिपादक है इस से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि रुद्रत्व गुणयुक्त स्त्री वा पुरुष हो तो उस के आयुधों का वह नाम न हो। किन्तु जिस २ पदार्थ वा मनुष्यादि में जितना २ रुद्रत्व है उस २ के आयुध में उतना २ पिनाकत्व है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ॥

(च)-इन्द्राय स्वाहा। शचीपतये स्वाहा। वज्रपाणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशमनाय स्वाहा ॥ यमाय स्वाहा। प्रेताधिपतये स्वाहा। दण्डपाणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशम० ॥ वैश्रवणाय स्वाहा। यक्षाधिपतये स्वाहा। हिरण्यपाणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशम० ॥

इत्यादि षड्विंश ब्राह्मण में उस २ देवता के भिन्न २ आयुध लिखे हैं वैसे ही पिनाक शिव का धनुष् है मनुष्य का नहीं ॥

उत्तर—ऊपर लिखे षड्विंश ब्राह्मण में भी जो भिन्न २ देवतों के साथ भिन्न २ आयुधों का वर्णन है इस का भी वही उत्तर है कि वे २ देवता जिस २ मनुष्य आदि में वास करते हों अर्थात् जो २ मनुष्यादि उस २ प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त हो उस २ मनुष्यादि का भी वह २ आयुध समझना चाहिये इसी लिये कुछ विशेष उत्तर लिखने की आवश्यकता नहीं ॥

(छ)-इन्द्र ज्येष्ठन्न आभर ओजिष्ठं पपुरिश्रवः। यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥ सामवेद आरण्यसंहिता मं० १॥

इस में इन्द्र को वज्रहस्त स्पष्ट लिखा है अतएव सिद्ध हुआ कि भिन्न २ देवतों के भिन्न २ आयुध हैं और पिनाक धनुष् किसी क्षत्रिय विशेष का प्रसिद्ध नहीं अतएव सेनापति का अर्थ करना ठीक नहीं ॥

उत्तर—इस साम आरण्यक में भी जो इन्द्र को वज्रायुध लिखा है इस पर हमारी ओर से वही समाधान है कि स्वामी जी ने भी किसी क्षत्रिय विशेष का नाम रुद्र नहीं माना, न वेद में कहीं किसी विशेष ब्राह्मण क्षत्रिय के नाम हैं किन्तु सामान्य यौगिकार्थ से जिस २ क्षत्रियादि में रुद्रत्वादि गुण हों उस २ के आयुध का नाम पिनाकादि जानना चाहिये। स्वामी जी ने युधिष्ठिरादि किसी विशेष क्षत्रियपरक अर्थ तो नहीं किया जो इस के पिनाकादि आयुध विशेष

प्रसिद्ध न होने से शङ्का होती । सामान्यार्थ में लोक प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं होती ॥

(ज)-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् । महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १ ॥

इस भाष्य के अनुसार व्याख्यान से विशेष निश्चय करने से नमः शब्द जिस का ग्रहण—

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २ । ३ । १६

इस पाणिनीय सूत्र में किया है और जिस के योग में चतुर्थी विभक्ति का विधान इष्ट है वह नमः शब्द पूजार्थ है, अन्न वज्र आदि णम् धातु से लाक्षणिक बनाये गये नमस् शब्द के अर्थ हैं इस लिये-

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ।

महाभाष्य । अ० १ पा०१ । सूत्र १५ आ० ५॥ के अनुसार प्रतिपदोक्त-पूजार्थ नमः शब्द के योग में ही पूर्व सूत्र से चतुर्थी होती है अन्नादि लाक्षणिकार्थ वाले नमः के योग में नहीं ॥

उत्तर—इस से पूर्व हम प्रश्न (ख) के उत्तर में सिद्ध कर चुके हैं कि यदि पूजार्थक नमः शब्द के योग में ही चतुर्थी विभक्ति का विधान होता तौ—

अन्नमस्मै संभराम । इत्यादि । शतपथ ९ । १ । १ । २

के अनुसार जब अन्नार्थ लेना सिद्ध है तौ क्या शतपथ कार को यह ज्ञान न था कि अन्नार्थक नमः पद के योग में चतुर्थी नहीं होती और मूल मन्त्रों में चतुर्थ्यन्त पद हैं तौ हम नमः पद को अन्न वाचक क्यों लिखें ? यथार्थ में-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्-इस परिभाषा के अनुसार कभी कहीं भी महाभाष्यादि कृत ऐसा व्याख्यान नहीं है कि पूजार्थक के अतिरिक्त अन्यार्थ वाचक नमः पद के योग में चतुर्थी न हो और यदि आप के कहने से विना किसी आर्षग्रन्थ के प्रमाण के भी हम यह मानलें कि पूजार्थक नमः पद के ही योग में चतुर्थी विभक्ति का विधान है अन्य अर्थवाले नमः पद के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती । तो भी हमारी कोई हानि नहीं क्योंकि अन्न से भी तौ पूजा सत्कार ही होता है तब तौ यह कहावत हुई " भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" लहसुन खा कर धर्मभ्रष्ट भी हुवे और रोग भी न गया अर्थात्

व्याकरण विरुद्ध यह कल्पना भी खड़ी की कि पूजार्थक के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थवाले नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती और हम विपक्षियों ने इस कपोलकल्पना को दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया तथापि अन्नार्थ में पूजार्थ बना रहने से साधु सिंह जी की साधुता न चल सकी ॥

(ऋ)—"देवान् नमस्यति" इस प्रयोग पर भाष्य में शंका की है कि यहां नमस् के योग में देवेभ्यः ऐसा चतुर्थ्यन्त प्रयोग होना चाहिये देवान् ऐसा द्वितीयान्त नहीं–इस का समाधान यह किया है कि–

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ३ । १ । १९

इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है कि--"नमसः पूजायाम्–" नमस् शब्द से पूजार्थ में क्यच् हो—इस से यद्यपि पूजार्थक नमः शब्द से क्यच् विधान है और पूजार्थ नमः शब्द के योग में उपपद विभक्ति चतुर्थी होती परन्तु—"उपपद विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस नियमानुसार द्वितीया हो जाती है तथा जहां दो सूत्र प्राप्त होते हैं, वहां पर कार्य होता है इस से भी पर होने से चतुर्थी प्राप्त है परन्तु नमस्यति क्रिया में जहत्स्वार्थावृत्ति पक्ष लेकर नमस् शब्द सार्थक स्वतन्त्र नहीं किन्तु नमस् इतना प्रकृति भाग है और क्यच् तिप् (यति) प्रत्यय भाग है अतएव नमस्यति इतना एक शब्द होने से नमस् शब्द स्वतन्त्र पूजार्थ नहीं इसलिये "देवान् नमस्यति" में द्वितीया होती है चतुर्थी नहीं ॥

उत्तर—नमस्यति और नमः पदों में यथार्थ में बड़ा भेद है। नमस्यति क्रियापद में जो " नमस् " है वह यथार्थ में स्वतन्त्र कोई पद नहीं किन्तु नमस्यति क्रियापद का प्रकृतिभाग नमस्=यति इतना प्रत्यय भाग है इस दशा में चाहे पूजार्थक नमस्यति हो वा अन्यार्थ परन्तु उस के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं हो सकती क्योंकि नमस् यह कोई पद नहीं किन्तु पद का अर्थ प्रकृति भाग है तब–न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नच केवलःप्रत्ययः–इस परिभाषानुसार प्रकृति प्रत्यय दोनों मिलकर अर्थ देते हैं एकली प्रकृति वा एकले प्रत्यय में पूजा अन्न वज्र आदि कुछ भी अर्थ नहीं निकल सकता तो निरर्थक नमस् के योग में यथार्थ में चतुर्थी विभक्ति कैसे होता किन्तु जैसा भाष्यकार ने कारक विभक्ति होने से " नमस्यति " के कर्मकारक " देवान् " पद में द्वितीया होनी सिद्ध की है सो तो ठीक है परन्तु इस से पूजार्थक अपूजार्थक नमः पद का विवाद कुछ सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि मन्त्र में नमः पद और उस के योग

में चतुर्थी पठित है। न तो मन्त्र में नमस्यति क्रिया है न उस के कर्मकारक में "देवान्" यह पद है तब इस प्रकरण पर यह विवाद लिखना ही वृथा पाण्डित्य बरबाद करना है॥

(ञ)-"वाहगुरु" शब्द का अर्थ यह है।

वाहयन्ति जगत्कार्य्यमुत्पत्तिपालनासंहाररूपमिति वाहा ब्रह्मादयस्तेषां गुरुरुपदेष्टा परमेश्वरो वाहगुरुः॥

अर्थात् जगत् उत्पत्ति स्थिति प्रलय के वाहक ब्रह्मादिकों का गुरु होने से वह परमेश्वर "वाहगुरु" है॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्।

योगसूत्र २६ पा० १॥ इस सूत्र से भी परमेश्वर को पूर्वों का गुरु कहा है। वादी का यह तर्क कि-

वाहयन्ति भारमिति वाहाः पश्वादयस्तेषां गुरुः वाहगुरुः।

खण्डित है क्योंकि स्वा० दया० ने-

वेवेष्टि चराचरं जगत्स विष्णुः।

ऐसी व्युत्पत्ति कर के विष्णुशब्द ईश्वर वाचक सिद्ध किया है तौ हम पूंछते हैं कि क्या "वेवेष्टि सर्वेषु प्राणिषु स विष्णुः कामादिः। सब प्राणियों में व्याप्त होने से काम क्रोधादि की विष्णु संज्ञा क्यों नहीं हो जाती इस का उत्तर यही दोगे कि "व्याख्यानतो विशेषप्रति०" अर्थात् व्याख्यान से परमेश्वर का बोध होगा तौ हम कहते हैं कि इसी प्रकार व्याख्यान से वाहगुरु भी ईश्वरवाचक है भारवाहगुरु वाचक नहीं॥

उत्तर—हम को इस प्रश्न का उत्तर देते हंसी आती है क्योंकि आज कल के पण्डितों की पण्डिताई हिन्दू शब्द को संस्कृत ठहराने तथा वाहगुरु की व्युत्पत्ति करने में ही पूर्णता को पहुंचती दिखाई देती है हम पूंछते हैं कि क्या किसी संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ में वाहगुरु शब्द आया है? जिस का आप अर्थ संस्कृत में करते हैं विष्णु शब्द तौ वेदादि सभी सच्छास्त्रों में ईश्वरादि वाचक सदा से प्रसिद्ध है। दूसरा प्रश्न यह है कि आप सत्यार्थविवेक पुस्तक तौ सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में [illegible] आप के सना-

निन्दितार्थ स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने कहीं भी सत्यार्थप्रकाश में नहीं लिखा तब वृथा पक्ष खड़ा करना भी निष्फल है वा नहीं ? । तीसरी बात यह भी विचारणीय है "वाहगुरु" वाक्य यथार्थ में अधूरा सिद्ध किया पूर्ण वाक्य सिक्ख लोगों में प्रसिद्ध है कि "वाहगुरु दी फ़तह" यथार्थ में यह वाक्य संस्कृत भी नहीं किन्तु स्पष्ट पंजाबी भाषा का है क्योंकि गुरुनानक जी पंजाब में हुवे और उन का मत विशेष कर पंजाब में प्रचलित हुआ इस कारण अपनी पंजाबी भाषा में सिक्खों का यह वाक्य है कि "वाहगुरु दी फ़तेह" और सिक्खों के निवास स्थान पंजाब देश का यवन देश से सीमा सम्बन्ध है इस कारण वहां की भाषा में फ़ारसी शब्द भी अधिक सम्मिलित हो गये हैं इसी से इस वाक्य में "फ़तह" शब्द विजय का वाचक फ़ारसी शब्द है। यदि ऐसी ही पण्डिताई उमंडती थी तो पूर्णवाक्य "वाह गुरु दा खालसा, वाह गुरु दी फतह" को संस्कृत सिद्ध करना था सोभी न कर सके। सिक्खों से यदि पूंछा जाय कि "वाह गुरु दी फ़तह" का क्या अर्थ आप लोग समझते हैं तो आबालवृद्ध यही उत्तर मिलेगा कि "धन्य गुरु का विजय" यह तात्पर्य है इस दशा में सिक्खों के अभिप्राय से भी आप का अर्थ विरुद्ध है॥

सत्यार्थविवेक पृ० ७३

अथ बादी का मतान्तर प्रवेश तथा निरुक्त मन्त्र प्रमाण कर के देवता प्रभाव तथा निरूपितार्थानुवाद और ऋग्वेद मन्त्रादि कर के शंकर मत को वैदिकत्व निरूपण पूर्वक वादि मत को अवैदिकत्व निरूपण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—क्या दयानन्द ऐसा अव्युत्पन्न तो न था जो नमः शब्द के विवेचन को भी न जानता क्योंकि दयानन्द ने तो व्यवहार में भी परस्पर बड़े छोटे में नमस्ते शब्द का प्रयोग कराया है और नमस्ते शब्द का अर्थ तो महाभाष्यकार पतंजलि जी के मत से यह होता है जो मैं तेरे से निकृष्ट नाम नीचा हूं तो क्या दयानन्द के अनुयायी सम्पूर्ण अपने मुख से नीच बनते हैं क्योंकि अन्न आदि अर्थ तो नमस्ते शब्द में हो नहीं सक्ता क्योंकि चतुर्थी विभक्ति नमः शब्द के नति अर्थ का बोधक देखी जाती है ॥ उत्तर—है तो वार्त्ता अवचनीय परन्तु प्रश्न का उत्तर तो लिखना चाहिये दयानन्द जब किसी के जाल में फंस गया तब उस ने कहा जो तुम हमारे मत का प्रचार करो तब दयानन्द ने कहा जो मैं स्पष्ट होकर तुम्हारे मत का प्रचार करूंगा तो सम्पूर्ण लोक एक संग छैंक कर मेरे

उपदेश में से प्रच्युत हो जायंगे धीरे २ होगा तब उसने कहा तो हम कैसे जानेंगे जो हमारा मत तूं प्रचार करेगा तो दयानन्द उस मतान्तर वाले पुरुष से पूछा जो तुम अपना आशय कहो तुम्हारे मत में जैसे प्रविष्ट हो जायें तो उस मतान्तरवर्ती पुरुष ने कहा जो हम यह चाहते हैं जो इन का तीर्थ देवता श्राद्ध तर्पण आदि से चित्त उत्थान हो जाय तब दयानन्द ने कहा जो तीर्थ आदि से उत्थान करा दूंगा क्योंकि जब अपने मुख से हो नीचता का अनुसन्धान करेंगे तो कहां तक नहीं छोड़ेंगे इस वास्ते सर्व छोटे बड़े यवनादि तक नमस्ते प्रयोग कराया यह वार्ता मैंने अनुमान से ऊहा करी है क्योंकि दयानन्द के मुख से सुना है जो यह कहता था—गंगातीरं न त्यजामि और शिवः कैलाशे तिष्ठति और नमस्ते भी उस समय में न था पीछे पांच शरीर का पास रेल की सवारी वास्ते हो गया सो भी मैंने देखा और वेद पुस्तक देख कर भी देवताओं का निषेध करा क्योंकि वेद मन्त्रों में अनन्त देवता प्रतीत होते हैं सो पूर्व दिखलाय दिये और एक मन्त्र और भी दिखलाता हूं जिस से देवता स्पष्ट प्रतीत हों ॥

उत्तर—यह ऊहा करना कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने दूसरे ईसाई आदिमत के प्रचारार्थ तीर्थ देवता आदि का खण्डन करना स्वीकार किया निरी निर्मूल है क्योंकि ईसाई वा मुसलमान आदि मतों का सत्यार्थप्रकाश में जिस प्रबलता से खण्डन किया है वह किसी से छिपा नहीं। रही यह बात कि नमस्ते का अर्थ यह है कि "मैं तुम से नीच हूं" प्रथम तौ वेद में स्पष्ट कहा है कि—

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च—इत्यादि

यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र ३० अर्थ—नमस्कार छोटे के लिये और नमस्कार बड़े के लिये—इत्यादि तब छोटे बड़े सब एक दूसरे को नमस्ते करें तौ यह व्यवहार वेदानुकूल है द्वितीय संस्कारविधि में स्वामी जी ने आचार्य्य के प्रति शिष्य को "अभिवादयेऽमुकशर्माऽहं भोः" इत्यादि वाक्यों द्वारा अभिवादन भी लिखा ही है परन्तु नमस्ते वाक्य को सामान्य दशा में समानधर्मावलम्बी होने से सब सब को करें किन्तु आचार्य्य माता पिता शिष्य पुत्र पुत्री आदि को अभिवादन आशीर्वाद आदि करें ऐसा विधान स्वामी जी कृत ग्रन्थों से स्पष्ट सिद्ध है। और "मैं तुम से नीच हूं" यह अर्थ "नमस्ते" इन पदों से किसी रीति से निकल भी नहीं सक्ता किन्तु "ते" आप के लिये "नमः" नमस्कार यह सत्कार सूचक वाक्य

हुआ तथापि यदि "वादीभद्रं न पश्यति" के अनुसार साधुसिंह जी कहें कि हमें अक्षरार्थ से क्या काम इस कारण यदि उन का लिखा अर्थ ही मान लिया जावे कि "मैं तुम से नीच हूं" तौ भी एक प्रकार से यह वाक्य एक के प्रति दूसरे के अभिमान को दूर कराके परस्पर प्रेम तथा भ्रातृभाव का उत्पादक है जिस की मनुष्यमात्र को बड़ी आवश्यकता है जिस प्रेम और भ्रातृभाव के अभाव से आज संसार में कटाकटी मची है उस की कितनी आवश्यकता है और अभिमान पिशाच के दूर करने की भी कितनी अधिक आवश्यकता है यह बात निरभिमान लोकोपकारी सज्जन ही जान सकते हैं. दुरभिमान दग्धहृदय इस के रस को क्या जाने । स्वामी जी ने देवतों का खण्डन नहीं किया किन्तु अदेव में देवबुद्धिरूप अविद्या का निवारण अवश्य किया है । इस विषय में कोई प्रमाण नहीं कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी मोक्षदायक समझ कर "गंगातीरं न त्यजामि" ऐसा कहते हों "शिवः कैलाशे तिष्ठति" ऐसा उक्त स्वामी जी ने कहीं कभी कहा वा लिखा नहीं झूंठ बात जो चाहे उड़ासकता है न उन के पास ५ शरीरों का रेल का पास था ॥

सत्यार्थविवेक पृ० ९४

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मघवा बोभवीतीत्यपि निगमो भवति ॥ निरुक्त । अ० १० पा० २ । खं० ४। अथ निरुक्तभाष्यं । यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । अस्त्येतदैश्वर्य्यं देवताया यद्यदिच्छति रूपं तत्तत् करोति निगमोऽपि हि भवत्यैश्वर्य्यप्रख्यापकः रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् । त्रिर्यद्दिव परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ऋ० । सं० । मं० ३ । अ० ४ । सू० ५३ । मं० ८। इति विश्वामित्रस्यार्षम् । यावन्ति कानि चिद्रूपाणि मघवा इन्द्रो भवितुमिच्छति तानि सर्वाण्यप्रतिबन्धेन बोभवीति पुनः पुनर्भवतीति । कथम् मायाः कृण्वानः इदम्भवामीदम्भवामीत्येवम् तथ्वं परिस्वां तनुं [illegible] विकुर्वा-

[illegible] अलीगढ़ १।)

१०६६ श्री बेंचेलाल शर्मा घुरसेन =)

१०६० बा० गोपालदास जी योधपुर १।)

९१४ बा० दूलहासिंह जी योधपुर १।)

७८८ बा० हनुमानप्रसाद जी
विजय राघव गढ़ २॥)

२२४ मुं० रामअनुग्रहलाल कुरंटाडीह २॥)

१०१५ बा० भगवानदास जी बनारस १।)

१०३ प० ज्वालादत्त जी अमरपुरा १।)

१११३ श्री देवीप्रसाद जी शर्मा रायपुर १।)

७३५ बा० गुदड़ीलाल जी पिनाहट १।)

२२६ मुं० अवधविहारीलाल गाजीपुर २॥)

२२१ बा० रामप्रसाद जी मन्त्री हर्दोई २॥)

१११४ पं० टीकाराम शर्मा स्योंडारा १।=)

१११७ गंगासागर लोहिया कलकत्ता १।)

९३७ श्री हनुमानप्रसाद जी मुंगेली १।)

५१ बा० बालकृष्ण सहाय जी रांची १।)

१११८ श्री रामभरोसे शुक्ल सरवन १।)

२८७ महतारतनशंकरभाईशंकरमांड़वी २॥)

६८ श्री चौबे केशवदेव जी मथुरा १॥=)

१०३८ श्री मूलचन्द जी मुनीम सागर ॥)

१११६ श्री साधुसिंह जी भानपुर १।)

२१४ श्री मगनसिंह जी धोकड़ी २॥)

९५ श्री रंगोपन्तजी जबलपुर १।)

३१२ पं० भैरवलाल जी इन्दौर १।)

७३० रामसिंह बनारस ।≡)

६२१ बा० सतीप्रसाद जी सैवसू १॥=)।

५४० पं० डालचन्द्र मिश्र दालागंज १॥।)

९६ बा० गिरधारीलाल जबलपुर १।)

९९२ पं० ब्रह्मदत्त शर्मा जबलपुर १)

१०३८ श्री मूल चन्द जी मुनीम सागर)॥

८०० श्री गोविन्दप्रसाद मुरादाबाद ३॥।)

५०१ श्री वृजनाथ जी मेरठ १।)

३८९ बा० सूर्य्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद १।)

३२९ बा० गोविन्दसिंह जी खराड़ २।

६१६ श्री गणेशसिंह जी कटनीमुड़वाड़ा २

२१३ बा० रुस्तमसिंह जी पटियाली २॥

१८५ श्री चन्द्रदत्त जी अलवर १।

१२५ रुद्रप्रसाद जी एटा ३॥≡)

४२ बा० बद्रीदास बांकेलाल आगरा १।

१०७८ बा० रामलग्नसिंह जी सिहोरा १।

१५० बा० लक्ष्मणप्रसाद जी फतहगढ़ २।

१२२ पं० गोवर्द्धनलाल शर्मा देहरादून २॥

१००८ डा० रसिकलाल जी सांजीपढा १।

७९५ कुंवर श्यामलालसिंह सिहोर २॥

११३ लाला द्वारिकाप्रसाद मिर्जापुर १॥।

२१९ गोवर्द्धनदास नगीनदास मुम्बई १।

१३५ डा० मोरेश्वर जी मुम्बई २॥

९३६ बा० सेवकलाल जी मुम्बई २॥

१३८ श्री प्राणजीवन दास कहानदास २॥

१४३ श्रीरामजी भगवान सोनी मुम्बई २

१४६ श्रीहरिश्चन्द्र श्यामरावजी मुम्बई २॥

१५१ श्रीजीवनलाल जी मुम्बई २॥

१६० शास्त्री रणछोरजी चढ्ढवजी मुम्बई।

१५७ श्री सेठ गोमाजी रताजी मुम्बई १।

७५३ श्री दीवानचन्द्र जी नाहन १।

३०१ बा० सुन्दरलाल गणेशीलाल जी
मुम्बई १।

४५६ जयदेव भवानीदत्त जी नैनीताल १।

२९ पं० रमादत्त जी नयनीताल १।

९०८ श्री जयमंगल जी गोंडा १

११२ श्री बद्रीप्रसाद जी लहरा २॥

३२३ बा० गणेशीलाल जी चन्दोसी १।

१२८ बा० देवीदयालु जी टोंक १।

७५५ बा० नारायणप्रसाद चरखारी १।

१००९ बा० गंगाराम जी वज़ीराबाद २॥

३६८ पं० पुत्तूलाल जी मैनपुरी १।

४०८ बा० मथुरासिंह जी मैनपुरी १।

२५८ श्री राजा फतहसिंह जी पुवायां २॥

ओ३म् ॥ विदित हो कि २१ । २ । ९६ से पं० भीमसेन शर्मा, सरस्वतीयन्त्रालय और श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला प्रयाग छोड़ कर नगर इटावा (पश्चिमोत्तर देश) में चले आये हैं इस लिये उक्त पं० जी वा यन्त्रालय वा पाठशाला के सम्बन्ध में जो महाशय पत्र व्यवहार करें वे सब स्मरण रख कर प्रयाग न लिखा करें किन्तु इटावा (पश्चिमोत्तरदेश) … लिखा करें। और यह भी प्रार्थना है कि श्रीमद्द० विश्ववि० … पाठशाला को अब अधिक उन्नत करना चाहते हैं विशेषकर … एक अध्यापक नियत करने की बड़ी आवश्यकता है। इटावा … आकर इस पाठशाला के लिये मासिक चन्दे का रजिस्टर … भी खोला गया है किन्हीं महाशयों ने मासिक चन्दा नियत … कर दिया है और आशा है कि आगे और भी चन्दा बढ़ … जायगा । बाहर के धर्म हितैषी सज्जनों से भी प्रार्थना है कि … वह लोग इस पाठशाला की ओर पूर्व की अपेक्षा अब अधिक … कृपादृष्टि करें तो चारों ओर से जो पण्डितों तथा उपदेशकों की … मांग है और पण्डितों के अभाव वा न्यूनता के कारण जो वै- … दिक धर्म की उन्नति में बाधा है वह शनैः२ पाठशाला द्वारा … पण्डित उपदेशक अध्यापक तैयार होने से निवृत्त होकर … धर्म के प्रचार में सहायता होगी अब तक इस पाठशाला … में जो छात्र रहते हैं उन को भोजनादि देनेमात्र की सहा … यता धन की न्यूनता के कारण होती रही है कोई वेतन … पाने वाला अध्यापक नहींरहा केवल पं० भीमसेन शर्मा … ही अपने कार्यों में से समय निकाल कर विद्यार्थियों को … भी पढ़ाते रहे आप जानते हैं कि उन के आरम्भ किये … कार्य भी समयाभाव तथा अस्वास्थ्य के कारण यथासमय नहीं … हुये अतः एक अध्यापक के लिये चन्दे की आवश्यकता है आशा है कि इस ओर ध्यान दीजियेगा ।

तुलसीराम स्वामी

पं० भीमसेन शर्मा सरस्वतीयन्त्रालय और पाठशाला का सब को

पता प्रयाग न लिखा करें किन्तु "इटावा" लिखा करें ।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ९। १०

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

३० मई सन् १८९६ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

३० नवम्बर से २९ फर्वरी ९६तक

५४८ श्री रामप्रसाद जी जगाधरी १।)

११२० मन्त्री आर्य्यसमाज मवाना १।।)

७९७ श्री विनायक नारायण मारटो हुशंगाबाद २।।)

५९५ माधोराम जी दुबे अजमेर २।।)

१०५२ पं० कृष्णविहारी वाजपेयी प्रयाग १)

५१५ बाबा सन्तदास जी बुगावाई किरांचीबन्दर २।।)

७८९ महतायादवनाथ आगरा-फोर्ट २।।)

११२३ श्री वासुदेव वाजपेयी पुराबलो १।)

३६५ श्री मोतीलाल जी लालगंज १।)

७९२ श्री सुखरामदास झंग २।।)

११२१ श्री सतीचरण राय जी कलकत्ता १।)

११२२ श्री जयकृष्णलाल कलकत्ता १।)

०४४ श्री जगमोहनलाल वस्ती १।)

२७ श्री सीताराम जी किरांची १।)

न्त्री आर्य्यसमाज-किरांची १।)

२६६ श्री प्राणजीवण नारायणदास राजकोट १।)

०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)

११ सेठ तुलसीराम मंछाराम-सूरत १।)

बा० आनन्दीप्रसाद जी बान्दीकुई =)

११९ श्री श्यामसुन्दरलाल उज्जैन १।)

१२७ श्री कालीचरण जी मुहम्मदी १।)

०७६ नारायणदास वैष्णव ब्राह्मणबाला १।)

७७ नामदेवतुकाराम शर्म्मा यवला १।)

१२६ टेकचन्द आर्य्य बनारस १।)

= पं० रतीराम पांडे पुराना कानपुर २।।)

२३ छन्नूलाल जी गुप्त अनूपशहर १।)

११२९ श्री दामोदरदास जी आगरा १।)

११३० श्री म शेष भट्ट जी मंजेश्वर १।)

५३० प० वालकृष्ण जी एरण्डोल १।)

११३१ राव रोशनसिंह जी रईस बगरा १।)

४३१ सुलतानी राम जी जन्दियाला ।।।-)

११२८ पं० रामनारायण शर्मा जलेसर १।)

४८५ श्री रामनाथ जी योधपुर १।)

१८० श्री गिरधारी लाल जी झांसी १।)

१०७० श्री पं० रामपदार्थ शर्मा सरैया २।।)

१००१ श्री मूलचन्द राव जी खैरागढ़ २)

११३२ श्री बलदेवसहाय जी लहरापुर १।)

१४७ श्री चिरञ्जीवलाल जी मुम्बई २।।=)

८६१ श्री लक्ष्मणदास जी जफराबाद १।)

६७६ रघुनाथदास जी मलानी नागौर २।।)

२०५ रा०बा०दुर्गाप्रसादजी फर्रुखाबाद १।)

४० प्रसिद्धनारायण जी कादिराबाद ।।।=)

४५४ गुरुदत्तामल जी अजमेर १।)

११३४ श्री चन्द्रवली जी मुम्बई १।)

६७८ श्री अम्बालाल जी सागवाड़ा १।)

११३७ मुक्ताप्रसादजी वाजपेयी शिमला १।)

११३३ श्री लच्छीराम जी रोपड़ १।)

७७३ श्री दत्त शर्मा जी तालणी १।)

२९६ श्री काशीराम जी वकील मुलतान १।)

११३५ श्री चिम्मन सिंह जी ब्यावर १।)

१३५ श्री मोरेश्वर देशमुख मुम्बई २।।)

११३६ श्री रामभरोसे जी लाहौर १।)

१०८४ श्री शम्भुनाथ जी तीतरों १=)

१०४७ श्री चेतसिंह वर्मा आगरा १।)

२६२ श्री उजागर सिंह जी फैजाबाद १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ९। १०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ७। ८ पृ० १३६ से आगे त्रयीविद्या ।

मन्त्रग्रन्थों में आनेवाले पदों वाक्यों और स्वरों का नाम नैगम है। तथा ब्राह्म ग्रन्थस्थ पद वाक्य वा स्वरों का भाषिक नाम भी प्रसिद्ध है। इसी से "प्रोक्ष यन्तु०-भाषिकम्" यहां ब्राह्मणग्रन्थों के पदों को जो साङ्खायन गृह्यसूत्रकार भाषिक कहा वह ठीक बन सकता है। (अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा इत्यादि निरुक्त में आया भाषिकपद यद्यपि भाषाशब्द से बना माना जाय थापि कुछ हानि नहीं क्योंकि भाषा और भाष्य दोनों पद एक ही धातु बने हैं। और भाषा से ही बनाया भाष्य कहाता है क्योंकि मूल के अर्थ जत में ही सब भाष्यों का तात्पर्य होता और प्रचलित भाषा में व्याख्यान किये बि मूल का स्पष्ट बोध किसी को होता नहीं। सो इस प्रकार मूल वेद की कठिन मिटाने के लिये जब भाष्यरूप ब्राह्मणग्रन्थ बनाये गये तब वैसी ही भाषा बोलने का लोक में व्यवहार था जैसी भाषा में वेद के भाष्यरूप ब्राह्मणग्र अब विद्यमान हैं। इस प्रकार उस काल में ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यादि जैसे भ षिक थे वैसे इस समय के हमारे वाक्यादि भी निरुक्तार्थनुसार भाष्य वा भाषि हैं। वास्तव में पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों की रचना के समय मन्त्रों का ही वैदिकश से ग्रहण करना योग्य था और ब्राह्मण तो लौकिक ही थे। पर अब तो म ब्राह्मण दोनों ही का वैदिक पद से समान ही आदर है। अब सूत्र वाक्यों

भी वेदत्व है उन से भिन्न सब लौकिक हैं शास्त्रकारों का व्यवहार ही इस का हेतु है। इस में भी काल ही प्रबल वा प्रधान है इसी कारण सूत्र बनने के समय से मन्त्र ब्राह्मण दोनों का वेद नाम सिद्ध है॥

सम्पादक–यह सब निगम पद का व्याख्यान है। इस पर भी हम को कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। सामश्रमी जी का आशय गुप्त नहीं है पाठक लोग समझ ही लेंगे। तथापि इतना अवश्य कहना है कि जैसे कोई मनुष्य किसी काम को करते समय किसी के भय से हिचकिचाता जाता है वैसे अनेक प्रसङ्गों में सामश्रमी जी ठीक २ कहते लिखते भी हिचकिचाते गये हैं वा गोल माल करते गये हैं तथापि आशय खुल ही जाता है। भागवत के (निगमकल्पतरोः०) श्लोक में आये निगम पद से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण मूल वा टीका में किसी ने स्पष्ट नहीं लिखा किन्तु प्रचार चल जाने से आधुनिक भागवताध्यायी निगम पद से दोनों को मानते हैं उन की प्रसन्नता के लिये ऐसा लिखना प्रतीत होता है। ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के भाष्य वा व्याख्यान होना तो अनेक युक्ति प्रमाण और प्रत्यक्ष उन की लेख शैली से भी सिद्ध ही है इस पर विशेष कथन की आवश्यकता नहीं। मन्त्रों का व्याख्यानरूप ब्राह्मणान्तर्गत वाक्य विधि शब्द हैं इस सायण के वचनानुसार ही सामश्रमी जी भी मानते हैं सो ठीक नहीं। "विधिर्विधायकः" इस न्यायसूत्र के अनुसार "यद्वाक्यं विधायकं चोदकं प्रेरकं स विधिः" जो वाक्य विधायक है कि ऐसा करो वा ऐसा न करो वे सब विधिवाक्य होंगे सो क्या मन्त्रों में ऐसे वाक्य नहीं हैं यदि कोई कहे कि नहीं हैं तो ठीक नहीं हम सैकड़ों ऐसे वाक्य दिखा सकते हैं जो विधायक हों जैसे "समिधाग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन"॥ इसी गायत्री मन्त्र में तीनों विधिवाक्य हैं कि हे मनुष्यो! तुम समिधाओं से अग्नि का सेवन करो, अतिथिरूप अग्नि को घृतों से सचेत प्रज्वलित करो, तथा इस अग्नि में होमने योग्य वस्तु छोड़ो, तथा "यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ० १०। १४। २)" राजा यम का हविष्य से सेवन कर। तथा "यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः (ऋ०१०। १४। १३)" इत्यादि सहस्रों मन्त्रों में स्पष्ट ही विधिवाक्य विद्यमान हैं तब यह नियम कहां से आया कि ब्राह्मणग्रन्थों के विधिवाक्य माने जावें और साक्षात् वेद के न माने जावें? विशेष विचार करने से यही प्रतीत होता है कि जब वेद के पठन पाठन और जानने का अभ्यास ज्यों २ छूटता गया त्यों २ वेद और ब्राह्मण के भेद का भी

विचार न रहा इसी से दोनों को एकसा वेद मान के मूल की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों को सुगम देख उन्हीं को विधिवाक्य मान लिया ।

अब सायणाचार्यादि के अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र संहितारूप मूल वेद के व्याख्यान वा भाष्य हैं इस विषय को सामश्रमी जी ने अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिया कि जब पूर्व काल में वेदार्थ जानना कठिन हुआ तब उस समय के वेद वेत्ता ब्राह्मण लोगों ने वेदों का जो भाष्य बनाया उस का नाम ब्राह्मण हुआ । हम को आशा है कि बनारस आदि के पण्डित अब हठ दुराग्रह छोड़ कर ठीक सिद्धान्त को मान लेंगे । और यह सत्य ही है कि जिस मूल का आश्रय लेकर जो ग्रन्थ उस समय की प्रचरित भाषा में बने वही व्याख्यान वा भाष्य कहाता है इस के अनुसार मूल वेद की अपेक्षा ब्राह्मण तथा श्रौत गृह्यसूत्रादि वा व्याकरण सूत्रादि सभी भाष्य वा व्याख्यान हैं और महाभाष्यादि की अपेक्षा व्याकरण सूत्रादि मूल भी माने जावें तो कोई दोष नहीं है । क्योंकि मूल और भाष्य वा टीका अब भी सापेक्ष ही माने जाते हैं । कैयट कृत भाष्यप्रदीप की अपेक्षा महाभाष्य भी मूल कहाता और विवरण की अपेक्षा कैयट भी मूल वा व्याख्येय होता है। पर वेद ही सब का मूल है उस का मूल अन्य कोई ग्रन्थ नहीं किन्तु वेद का मूल वेद ही है । इति ॥

(मन्त्रः) तत्र,तयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरादौ तावत् मन्त्रस्य लक्षणमनुसन्धेयम् ,-किन्नाम मन्त्रत्वम् ?। इति, लक्षणस्योपयोगो हि पूर्वाचार्यैः प्रदर्शित-एव"ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः"-इति । ततोऽनुसन्धीयमानश्च दृश्यते-उक्तं खलु भगवता यास्केनैव"मन्त्राः मननात् (३ भा० ३६७ पृ०)" इति मन्त्रनिर्वचनम्; ततएव सिद्धश्च मन्त्रलक्षणम्-'मननहेतुर्मन्त्रः' इति । तथा च तत्र वृत्तिः-"तेभ्यः मन्त्रेभ्यः हि अध्यात्माधिदैवाधि यज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम् "-इति । दूषितश्चैतत् सायणेन ...

णेऽतिव्याप्तिः,–इत्युक्त्वा; परं न च तत्रोदाहृतं तादृशं ब्राह्मणवाक्यमेकमपि । तथाचावगम्यते—"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (जै०-सू० २.१-३२)"–इति सूत्रानुगतम् "अभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्"–इति विवक्षया,–'विहितार्थाभिधायको मन्त्रः'–इत्यस्य पूर्वाचार्यविहितस्य,असिपदान्तादीनां पञ्चदशानाञ्च मीमांसावृत्तिकृदुदाहृतानां, मन्त्रलक्षणानां मीमांसाभाष्यकारकृतखण्डनेभ्यः सोदाहरणेभ्यः कतिचिदुद्धृत्य दिदर्शयिषया चोद्विग्नचित्तस्तत्रैवैकाग्रमना यास्कोक्ते विचारावसरं नालभत स इति । प्रतिपादितमस्माभिर्मीमांसाकारस्य खलु जैमिनेः यास्काग्रजत्वम् (चू०पृ०) तथाच जागरितेपि हि तादृशे लक्षणे यदुक्तं यास्केन मननान्मन्त्रः–इति ततः सम्भाव्यमेवैतल्लक्षणमदुष्टमिति । अपि च सायणतः प्राचीनेन उद्धृतासिनापि हि शबरस्वामिना तत्सूत्रस्य भाष्ये विहितार्थाभिधायकत्वादीनि मन्त्रलक्षणानि खण्डखण्डीकृतानि, परं न तस्मिन्निहवेऽस्य यास्कीयलक्षणस्यावतरणमपीष्टं तेन, इतश्च ज्ञायते नैतल्लक्षणं दुष्टमिति । अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (जै० सू० १. २. ४०) इति सूत्रस्य, विधिशब्दाच्च (जै० सू० १. २. ५३) इति सूत्रस्य च व्याख्यानावसरे मन्त्राणां मननसाधनत्वं स च स्वयं व्यनक्ति–तु–शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति०-० तस्मान्मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्–इति" तस्माद्विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः–इति च । मन्त्राणां मननहेतुत्वलक्षणमनुलक्ष्यैवोक्तिरेषा भगवतो यास्कस्य–यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमि-

च्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (३ भा० २८५पृ०) इति। तदेवं मननहेतुर्मन्त्रः, इति, मन्त्रोऽयमित्यभियुक्तोपदिष्टो-मन्त्रः" इति च द्वेएव मन्त्रलक्षणे निर्दुष्टेइति गम्यते, तद् यस्मै-यद्रोचेत, तदेव स गृह्णात्वित्यलमिह नीरसविवादेनेति ॥

अथवाऽत्रैतत्सुष्ठुसमाधानम्-जैमिनिकृतं मन्त्रलक्षणं ग्रन्थ-परम्, यास्ककृतं लक्षणं तु वाक्यपरमिति। तथा च जैमिनि-नये वैदिकसमाख्यासिद्धानां मन्त्रेति प्रसिद्धानां संहिताग्रन्थाना-मेव मन्त्रग्रन्थत्वम्; न त्वन्येषां ताण्ड्यादीनाम्; यास्कमते तु ग्रन्थानां तथा लक्षणेऽपि न क्षतिः; परं ताण्ड्यब्राह्मणाद्याध्या-यगतानां महन्मे वोचः,-इत्यादीनाम् छान्दोग्यब्राह्मणाध्याय-द्वयगतानाञ्च (देव सवितः प्रसुव) -इत्यादीनाम्, तथातैत्तिरी-याराण्यकादिपठितानाञ्चोद्धृतासीत्यादीनां वाक्यानां मन्त्रत्वसि-द्धये खल्विदमवश्यं वक्तव्यम्--मननहेतुर्मन्त्रः-, इति। तदेवमु-भयलक्षणयोर्विषयभेदात् नैवास्ति विवादविषयइत्यस्माकमिति

"आनन्दपुरवास्तव्य-वज्रटाख्यस्य सूनुना। मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति"-इत्युक्त्या स्वपरिचयमुक्तवताखिल-मन्त्रभाष्यं कृतवता उव्वटेन तत्रैव भूमिकायां प्रदर्शिताश्चैते मन्त्रभेदाः;-,,न्यायविदः पठन्ति—

"विध्यर्थवादयाच्ञाशीःस्तुतिप्रैषप्रवह्लिकाः ।
प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम् ॥
अवधारणं चोपनिषत् वाक्यार्थास्तु त्रयोदश ॥
मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृश्रुतिचोदिताः-इति ।

अथ तेषामुदाहरणानि । तत्र,-मरमेष्ठ्यभिहितः"- अश्व-स्तूपरो गोमृगस्त (या० वा० स० २४. १)-इति। अर्थवादः -,,देव

यज्ञमतन्वत (य० वा० स० १९. १२.)"–इत्यनुवाकः। याच्ञा "तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि (य० वा० स० ३. १७.)"–इति। आशीः–"आ वो देवास ईमहे (य० वा० स० ४.५.)" इति। स्तुतिः–"अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् (य०वा०स०३,१२)" इति। प्रैषः–"होता यक्षत् समिधाग्निम् (य० वा० स० २१. २९)"–इति। प्रवल्हिका–"इन्द्राग्नीअपादियम् (य० वा०स० ३३ ९३)"–इति। प्रश्नः–"कः स्विदेकाकी चरति (य० वा० स० २३. ९ इ०)"–इति। व्याकरणम्–"सूर्यएकाकी चरति य० वा० स० ३३. १० इ०)"–इति। तर्कः–",मा गृधः कस्यस्विद्धनम् (य० वा० स० ४०. १)"–इति। पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम्–"ओषधयः समवदन्त (य० वा० स० १२. ९६)"–इति। अवधारणम्–"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वे० उ० ६ १५) इति। उपनिषत्–"ईशावास्यमिदं सर्वम् (य० वा० स० ४०. १)"—इति।" शबरभाष्येऽपि आशीरादयस्त्रयोदशैव मन्त्रभेदाः प्रदर्शिताः, परं तत्त्वन्यथैव; द्रष्टव्याश्च ते तत्रैव (जै० सू० २, १, ३२ भा०)। ऋग्भाष्यभूमिकायाञ्च सायणेन तत एव कतिचिदुद्धृत्यप्रदर्शिताः। उव्वटेन ह्येतानि सर्वाण्येव यजुरेवाधिकृत्योदाहृतानि; निरुक्तकारेण भगवता यास्केन त्वेवमृग्वेदेऽपि दर्शितानि बहून्युदाहरणानि। तथाहि—"तास्त्रिविधाः ऋचः,—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च" इत्युपक्रम्य, परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः"—इत्युक्त्वा, "अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः***; अथाप्याशीरेव न स्तुतिः; तदेतद्बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु" इति

प्रदर्श्य, उदाहृतानीमानि—"अथापि शपथाभिशापौ०—०अ-
थापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा०—०, अथापि परिदेवन
कस्माच्चिद् भावात्०—०; एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृ-
ष्टयो भवन्ति" इति, "अक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च
(३ भा० ३१६ पृ०)"—इत्येवमादीनि ॥

(मन्त्र) अब मन्त्रब्राह्मण दोनों में से प्रथम मन्त्र पद का व्याख्यान करते हैं। मन्त्रत्व क्या है ? इस अपेक्षा में मन्त्र का लक्षण कहना चाहिये क्योंकि पूर्वाचार्यों ने सामान्य कर लक्षण का उपयोग दिखाया ही है कि पदों के अर्थों का अन्त ऋषि लोग भी पृथक् २ करके नहीं जान सकते किन्तु सभी विद्वान् लोग लक्षण से सिद्ध हुए पदार्थों का अन्त पा सकते हैं। इस के अनुसार मन्त्र शब्द का लक्षण भी अपने निरुक्त पुस्तक में यास्क ने किया है कि मनन से मन्त्र कहाते हैं। इस से सिद्ध हो गया कि मनन का हेतु मन्त्र है। तथा निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी वहीं लिखा है कि अध्यात्म, अधिदेव और अधियज्ञ के मानने वाले मन्त्रों से ही विचार किये बिषयों को मानते हैं इसी से वे मन्त्र कहाते हैं। यद्यपि ऋग्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने लिखा है कि मनन हेतु ब्राह्मण भी हो सकता है इस से मन्त्र के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है तथापि सायण ने ब्राह्मणग्रन्थ का ऐसा एक भी वाक्य उदाहरण में नहीं दिखाया कि इस प्रकार इस वाक्य में दोष आवेगा इस कारण सायण का कथन ग्राह्य नहीं है। मीमांसादर्शन में मन्त्र के जो २ लक्षण "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" आदि किये हैं उन में से कई को दिखाने की इच्छा से उद्विग्नचित्त उसी में एकाग्र मन सायण को यास्क के कथन पर विचार का अवसर नहीं मिला। हम (सत्यव्र०) ने पूर्व (चु० पृ०) में सिद्ध कर दिया है कि मीमांसाकार जैमिनि यास्क से पहिले हुए। तब जैमिनिकृत मन्त्र लक्षण के विद्यमान होने पर भी जो यास्क ने कहा कि मनन से मन्त्र कहाते हैं इस से सम्भव मानना चाहिये कि यास्क का लक्षण ठीक ही है। और सायण से प्राचीन शबर स्वामी ने उस सूत्र के भाष्य में "विहितार्थ को कहने वाले मन्त्र कहाते" इत्यादि मन्त्र के लक्षणों का खण्ड २ कर खण्डन किया है पर उस शास्त्रार्थ में इस यास्ककृत मन्त्रलक्षण का शबर स्वामी ने नाम भी नहीं लिया इस से सिद्ध है कि यास्क का लक्षण दुष्ट नहीं है

और (अवशिष्टस्तु वाक्यार्थः) तथा (विधिशब्दाश्च) इन जैमिनि सूत्रों के व्याख्यान में शवर स्वामी ने स्वयं प्रकट किया है कि मनन के साधन मन्त्र हैं। और तु शब्द से अदृष्ट परोक्ष प्रयोजन के लिये ही यज्ञ में मन्त्र बोले जाते इस का निषेध किया है किन्तु उस २ कर्म विषयक फलादि अर्थ का प्रकाश होना मन्त्रोच्चारण का प्रत्यक्ष ही फल है इस से यज्ञादि करने के समय जिन का अर्थ कहना अभीष्ट है ऐसे मन्त्र स्वार्थ प्रकाशन के लिये ही उच्चारण करने चाहिये। और मन्त्रों के मनन हेतु होने रूप लक्षण को विचार में रख के ही भगवान् यास्क मुनि का यह कथन है कि "जिस कामना वाला ऋषि जिस देवता से कार्यसिद्धि चाहता हुआ स्तुति करता है उसी देवता वाला वह मन्त्र होता है"। सो इस प्रकार एक तो मनन हेतु मन्त्र और द्वितीय यह मन्त्र है ऐसे नियत उपदेश किया मन्त्र कहाता ये दोनों मन्त्र के निर्दोष लक्षण हैं इस में जिस को जो अच्छा लगे सो माने इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है॥

अथवा यहां यह अच्छा समाधान है कि जैमिनिकृत मन्त्र लक्षण ग्रन्थ परक और निरुक्तकार यास्क का लक्षण वाक्यपरक है। और जैमिनि के मत में वैदिक नाम से सिद्ध मन्त्र कर के प्रसिद्ध संहिता ग्रन्थ ही मन्त्र पद वाच्य हैं किन्तु अन्यताण्डय ब्राह्मणादि के गद्य वा पद्य भाग मन्त्र नहीं हैं। तथा यास्क के मत में संहिता ग्रन्थों को मन्त्र मानने पर भी कुछ हानि नहीं। परताण्डय ब्राह्मण के प्रथमाध्याय में कहे (महन्मे वोचः०) इत्यादि तथा छान्दोग्य ब्राह्मण के दो अध्यायों में कहे (देव सवितः०) इत्यादि और तैत्तिरीयारण्यकादि में पढ़े (उद्धुतासि०) आदि वाक्यों को मन्त्रत्व ठहराने के लिये यह अवश्य कहना चाहिये कि "मनन का हेतु मन्त्र है" सो इन दोनों लक्षणों का विषय भिन्न २ होने से विवाद का प्रसङ्ग कुछ नहीं यह हमारा (सत्यव्रतका) विचार वा आशय है।

आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उव्वट ने राजा भोज के समय में वाजसनेयी संहिता यजुर्वेद पर भाष्य बनाया, इस प्रकार अपना परिचय देते हुए उव्वट ने वेदभाष्यभूमिका में निम्नलिखित मन्त्रों के तेरह भेद दिखाये हैं। जैसे—१ विधि—ऐसा करो वा मानो जानो इत्यादि। २—अर्थवाद—जैसे देवताओं ने यज्ञ किया यह यज्ञ का प्रशंसारूप अर्थवाद है। ३—प्रार्थना वा याचना—जैसे हे अग्ने तुम शरीररक्षक हो मेरे शरीर की रक्षा करो। ४—आशिष्—जैसे हे देवो

हम आप को चाहते हैं । ५-स्तुति-जैसे अग्नि स्वर्ग का शिर है । ६-प्रैष आज्ञा देना-जैसे-होता यज्ञ करे । ७-प्रवह्लिका जैसे-इस ने इन्द्र और अग्नि की रक्षा की । ८ प्रश्न-जैसे अकेला कौन विचरता है ? । ९-व्याकरण-जैसे सूर्य अकेला विचरता है । १०-तर्क---जैसे विशेष तृष्णा मतकर, किस का धन है ? । ११-पूर्ववृत्त का कीर्तन---जैसे ओषधियों ने संवाद किया । १२---अवधारण निश्चय जैसे उसी पुरुष परमेश्वर के ज्ञान से मुक्ति हो सकती है । अन्यथा नहीं १३-उपनिषत्--जैसे यह सब जगत् ईश्वर से आच्छादित है वह सर्वोपरि है । इत्यादि मीमांसा के शबर भाष्य में भी तेरह ही मन्त्र भेद दिखाये हैं पर वे इन से भिन्न ही प्रकार से वर्णित हैं सो वहीं देखना चाहिये । ऋग्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने भी वहीं से लेकर कई मन्त्रों के प्रकारों का वर्णन किया है । उ-व्वट ने मन्त्र के सब भेदों में यजुर्वेद के ही उदाहरण दिये हैं । परन्तु निरुक्त-कार यास्क भगवान् ने ऋग्वेद के भी बहुत उदाहरण दिखाये हैं । "वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं एक परोक्ष विषय प्रतिपादक द्वितीय प्रत्यक्ष विषय प्रतिपा-दक और तीसरे अध्यात्म विषयक, इन में परोक्ष विषयक और प्रत्यक्ष विषयक मन्त्र बहुत हैं किन्तु अध्यात्म विषयक मन्त्र बहुत थोड़े हैं। ऐसा कह कर कहीं स्तुति ही है प्रार्थना याचना नहीं कहीं याचना ही है स्तुति नहीं । सो यह प्रायः यजुर्वेद के यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में है" ऐसा दिखा कर उदाहरण दिये हैं कि कहीं "शपथ---प्रतिज्ञा, अभिशाप, कहीं किसी भाव को कहने की इच्छा, कहीं किसी भाव से दुःख मानना, अक्षसूक्त में जुआ की निन्दा और खेती की प्रशंसा है इस प्रकार अच्छे बुरे वा ऊंचे नीचे छोटे बड़े अभिप्रायों से ऋषियों को मन्त्र दृष्टि होती हैं" यह सब निरुक्त (३ भा० ३९६ पृ०) में लेख है ॥

स चैष एव मन्त्रभागः संहितेत्युच्यते । तल्लक्षणं चोक्तं पुरस्तात् समासतः (ठ० पृ०) । सा चादौ द्विविधा,-निर्भुजसंहिता, प्रतृण्ण-संहिता चेति । "अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० स० १.१.१.१)"-इत्यादयः पाठा एव निर्भुजसंहिताया उदाहरणानि । यैव निर्भु-जसंहिता, सैव आर्षी संहितेत्यप्युच्यते । प्रतृण्णसंहितापि द्विवि-धा;-पदसंहिता, क्रमसंहिता चेति नाम । तत्र, "अग्निम्, ईळे,

पुरःऽहितम्”—इत्येवं पठ्यते पदसंहिता, “अग्निम्, ईडे, ईडे, अग्निम्, पुरोहितम्; पुरोहितमिति पुरःऽहितम्,,—इत्येवं क्रमसंहितेत्युच्यते। इमामेव क्रमसंहितामवलम्ब्य जटाद्या अष्टविधाश्च विकृतयः पठ्यन्ते । तदुक्तं विकृतवल्ल्याम्—जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः (१.५.)”-इति ततो जटादीनामपि क्रमात्मकत्वेन प्रतृण्णसंहितात्वमेव। तदेवमेकैकमन्त्रस्य एकादशप्रकाराः संहितापाठा भवन्ति । तत्त्वतस्तु पाठप्रकारभेदात् बहुग्रन्थापि सार्षी संहिता प्रतिवेदमेकैवेति ॥ तासाञ्च सर्वासामेव संहितानां बहुप्राचीनत्वात् कालभेददेशभेदव्यक्तिभेदादिभिरध्ययनाध्यापनयोरुच्चारणादिभेदाः पाठभेदाश्च सम्पन्नाः, पाठन्यूनातिरिक्तता च किञ्चित्* सञ्जाता, आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् स्वस्वदेशकालाद्यनुरोधाच्च, अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्च सम्पन्नाः; अतएवैकैकापि सा बहुशाखात्वमापन्ना। तदेवोदाहृतञ्च प्राचीनभाषितं चरणषट्कं षड्गुरुशिष्येण—एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः । सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ॥ नवाध्वाथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्—इति। अध्वा देवता गतिः शाखाइति पर्यायवाचकाः—इति च तत्रोक्तं तेनैव । अत्र च कासाञ्चित् शाखात्वम् कासाञ्चिदनुशाखात्वं निर्णीतं चरणव्यूहकारादिभिस्तत्तत्रतत्रैव द्रष्टव्यम् । इत्थं बहुशाखत्वेऽप्येकैकस्य वेदस्य कस्या अप्येकस्याः शाखाया अध्ययनेनैव भवेदेवाधीत एकैको वेदः सर्वास्वेव शाखासु संहितायाः प्रायोऽभेदात् । किञ्चित् पाठन्यूनातिरिक्तेन किञ्चिदुच्चा-

* किञ्चिदिति चिन्त्य विपश्चिद्भिः ॥

रणभेदेन किञ्चिदनुष्ठानपद्धतिपार्थक्येन च नह्येव भवेत् संहितायाः स्वरूपतो विभिन्नत्वम्। जागर्त्त्येव ह्येष न्यायः "एकदेशविकृतमनन्यवत् (पा० सु० १. १. ७२ भा०)-इति भवत्येव हि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारो लोके। अतएव सायणाचार्यादिभिरेकैकामेव शाखामवलम्ब्य कृतैर्भाष्यैरेवाबाप्ता तत्रकृतकृत्यतेति। अतएव च "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः (२. १६५) "-इति "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम् (३. १.) ,,-इति "वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् (३ २)" इति च मनुवचनानि सङ्गच्छन्ते; मूलतः प्रकृतपार्थक्ये हि तासां कथं सम्भवेन्नामाध्ययनं द्वादशस्वेवाब्देषु सहस्रशाखस्य सामवेदस्येति तादृशस्मृतिवचनानामुन्मत्तप्रलपितत्वमेव प्रसज्येतेति। अतोऽत्र त्वेवमेवावधार्यम्,-एषखलु वेदशाखाभेदो न मन्वाद्यध्यायभेदतुल्यः, प्रत्युत भिन्नकाललिखितानां भिन्नदेशीयानामेकग्रन्थीयानामपि बहुतरादर्शपुस्तकानां यथा भवत्येव पाठादिभेदः, तथैवेति। अथाप्यत्र संशयश्चेत् कस्याप्येकस्यवेदस्यकयोरपि शाखयोराद्यन्तपाठसन्दर्शनेनैव तद्दूरोत्सारणं सुकरमेवेति भवेन्निवृत्तः कोलाहलः। परन्त्वेवमपि यजुषस्तु कतिपयशाखाभिः कतिपयशाखानामेवमस्ति भेदः, यत्तयोरुभयोरेव शाखासमूहयोर्मिथः शुक्लकृष्णत्वममंसत प्राचीनाः। तथा च माध्यन्दिनीप्रभृतीनां यजुःशाखानां शुक्लयजुरिति ख्यातिः, तैत्तिरीयादीनान्तु यजुःशाखानां कृष्णयजुरिति समाख्या चेति। ईदृशासदृशभेदकारणादिकन्तु वैदिकग्रन्थसमूहतः स्वस्वधिषणापरिचालनतश्च यथानुभवमेव [illegible] कति शाखाः किन्ना-

मन्त्राश्च कृष्णयजुषोऽपि कति शाखाः किन्नामकाश्चेति चरणव्यूहादिभ्यएवावगन्तव्यमिति ॥

भाषार्थः—सो यह मन्त्रभाग ही संहिता कहाता है उस का लक्षण हम ने संक्षेप से (८० पृ०) में कह दिया है। सो संहिता पहिले दो प्रकार की मानी जाती है। एक निर्भुजसंहिता और दूसरी प्रतृण्णसंहिता उस में "अग्निमीळे पुरोहितम्" इत्यादि प्रकार का यथावस्थित पाठ निर्भुजसंहिता के उदाहरण हैं। जो निर्भुजसंहिता है वही आर्षीसंहिता भी कहाती है। और प्रतृण्णसंहिता भी दो प्रकार की है। एक पदसंहिता और दूसरी क्रमसंहिता उस में "अग्निम्, ईळे, पुरःऽहितम्" इत्यादि प्रकार पदसंहिता कहाती तथा "अग्निम्, ईळे, ईळे, अग्निम्, पुरोहितम्, पुरोहितमिति पुरःऽहितम्" इत्यादि प्रकार क्रमसंहिता कहाती है। इसी क्रमसंहिता का आश्रय लेकर जटादि आठ प्रकार की विकृति पढ़ी हैं सो विकृतवल्ली में कहा है "जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजः, दण्डः, रथः, घनः, यह क्रम जिन के साथ लगा हो ऐसी आठ विकृति विद्वानों ने कहीं हैं (१, ५)" इस कारण जटादि को भी क्रमरूप होने से प्रतृण्णसंहितापन है। सो इस प्रकार एक २ मन्त्र के ग्यारह प्रकार के संहिता पाठ होते हैं। वास्तव में तो पाठ के अनेक प्रकार होने से बहुत ग्रन्थों वाली भी वह आर्षीसंहिता प्रत्येक वेद में एक ही एक है। उन सब संहिताओं के अतिप्राचीन होने से कालभेद, देशभेद, और व्यक्तिभेदादि के साथ पढ़ने पढ़ाने के उच्चारणादि भेद और पाठ भेद हो गये और पाठों की न्यूनाधिकता भी कुछ २ हो गई, आचार्यों के स्वभाव की विषमता से और अपने २ देश कालादि के अनुरोध से वेदसंहिता में अनुष्ठान के योग्य कार्यों के भेद और प्रयोग भेद भी हो गये इसी कारण एक २ वेद की एक २ संहिता की भी बहुत शाखा हो गयीं सो प्राचीन भाषिसूत्रगणषट् अर्थात् षड्गुरु शिष्य ने पुराने विद्वानों का कहा डेढ़ श्लोक छः पाद कहे हैं "ऋग्वेद की २१ सामवेद की १००० यजुर्वेद की १०० तथा अथर्ववेद की नव वा किन्हीं के मत में १५ शाखा हैं" इन में से कोई शाखा और कोई अनुशाखा कहाती हैं सो चरणव्यूहग्रन्थ की कारिकाओं से वहीं निर्णय किया देखो। इस प्रकार एक २ वेद की बहुत शाखा होने पर भी किसी एक शाखा के पढ़ने से ही एक २ वेद का पढ़ लेना हो जाता है क्योंकि सब शाखाओं में संहिता का ... अभेद है।

कुछ २ पाठ के न्यूनाधिक होने और कुछ २ उच्चारण के भेद से और कुछ २ अनुष्ठान की परिपाटी के पृथक् होने से संहिता की स्वरूप से विभिन्नता नहीं हो सकती क्योंकि यह न्याय जागृत वा विद्यमान ही है कि "जिस का अंग कम वा अधिक हो जाय वह अन्य नहीं हो जाता। कुत्ते की पूंछ कट जाने पर भी कुत्ता ही बना रहता है" इसी कारण सायणाचार्यादि लोगों ने एक २ शाखा का आश्रय लेकर किये भाष्यों से उस २ पूरे वेद के वे भाष्यकार कहाये। और इसी से "सम्पूर्ण वेद पढ़ना जानना चाहिये, गुरु के पास ब्रह्मचर्य से रह कर छत्तीश वर्ष पर्यन्त तीनों वेद का अध्ययनरूप व्रत करे, और तीनों दो वा एक वेद को पढ़े" ये मनु जी के वचन संगत होते हैं। यदि उन संहितारूप शाखाओं की मूल से ही प्रक्रिया भिन्न २ हो तो उन एक सामवेद की हज़ार शाखाओं का अध्ययन ही बारह वर्षों में भी नहीं हो सकता तो स्मृति के वचन भी उन्मत्त दशा का सा व्यर्थ बकवाद हो जावें इस कारण यहां पूर्वोक्त प्रकार से ही निश्चित सिद्धान्त जानो। और यह वेद की शाखाओं का भेद मनु आदि के अध्यायों के तुल्य नहीं है किन्तु एक ही पुस्तक भिन्न २ काल में लिखा जाने से लेखक भेद ऐसा ही हुआ है जैसे भिन्न २ देश वाले एक ग्रन्थ की भिन्न २ कापी लिखें तो उस में पाठादि भेद हो वैसा ही वेदसंहिताओं का पाठादि भेद होकर एक वेद की अनेक शाखा हो गईं। यदि इस विषय में किसी को संशय हो तो वह किसी वेद की किन्हीं दो शाखाओं के आदि अन्त का पाठ मिला कर देखने से ही अपने सन्देह को सहज में निवृत्त कर सकता है। और इसी से शाखा विषयक सब झगड़ा शान्त हो सकता है। परन्तु ऐसा होने पर भी यजुर्वेद की कई शाखाओं का कई शाखाओं के साथ वास्तविक भेद है और उन दो प्रकार के शाखासमूहों को प्राचीन लोगों ने शुक्ल कृष्ण शब्दों से माना है। सो माध्यन्दिनी आदि यजुर्वेद की शाखाओं का नाम शुक्ल यजुर्वेद और तैत्तिरीयादि यजुः शाखाओं का नाम कृष्णयजु है। ऐसे असमान भेद के कारणादि को अनेक वैदिकग्रन्थों के देखने और अपनी बुद्धि के चलाने से जैसा जिस की समझ में आवे वह वैसा जाने माने हम इस पर कुछ नहीं कहते। और शुक्ल वा कृष्ण यजुर्वेदों की किस २ नाम की कितनी २ शाखा हैं यह बात चरणव्यूहादिग्रन्थों से ही जाननी माननी चाहिये॥

सम्पादक—इस प्रकरण में पहिले मन्त्र शब्द के ऊपर सामश्रमी जी ने जो विचार किया है ... लोकनार्थ ऊपर लिखा ही गया परन्तु

इस विषय पर हम भी कुछ अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं। यद्यपि सर्व-साधारण विद्वानों के समान सामश्रमी जी ने भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा वेदों को अधिक प्रतिष्ठित माना और वेद के विषयों पर विचार भी इतना अधिक लिखा है जितना प्रायः किसी आधुनिक विद्वान् का लेख वेद विषय पर नहीं देखा सुना गया तथापि वेद मतानुयायी आस्तिक विद्वानों के चित्त में वेद का जितना गौरव और महत्त्व होना चाहिये वैसा सामश्रमी जी के चित्त में भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक विषय में सब विद्या वा कर्त्तव्यों के मूल वेद का प्रमाण शिरोमणि मानना चाहिये वेद ही एक स्वतः सिद्ध प्रमाण है जिस के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं। सो छन्द आदि वेद के नामों की समालोचना करते समय वेद का प्रमाण न खोज कर इधर उधर भागना यह वेद का पूरा गौरव न मानने में त्रुटि दिखलाता है। अस्तु अब विचारणीय यह है कि मन्त्र शब्द वेद में कैसे अर्थ वा प्रसङ्ग में आता है ?

"विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः, स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥ ऋ० ६ । ५० । १४ ।

भा०—मन्त्र के इस उत्तरार्द्ध भाग में मन्त्र शब्द के साथ पांच विशेषण हैं (ऋतावृधः) ऋत नाम यथार्थ कर्त्तव्य वा मन्तव्यों के बढ़ाने वाले (हुवानाः) मनुष्यों ने अपनी इष्ट सिद्धि के लिये ग्रहण किये (विश्वेदेवाः) सब देवता सम्बन्धी विचार का आश्रय ऐसे (कविशस्ताः) कवि नाम सर्वदर्शी सर्वज्ञ परमात्मा ने उपदेश किये वा जगत् के कल्याणार्थ प्रकाशित किये (स्तुताः) प्रशंसनीय (मन्त्राः) छन्दोरूप वेदवाक्य हमारी (अवन्तु) रक्षा करें। वास्तव में वेदका ही पठन पाठन जो लोग अपना कर्त्तव्य धर्म समझ के सदा करते हैं उन के मन और आत्मा में जैसी सत्य की वृद्धि होती है वैसा अन्यों के भीतर सत्य का प्रभाव नहीं ठहर सकता इस कारण वेद के मन्त्र ऋतवर्धक हैं। अविद्या अन्धकार पक्षपात अज्ञान से सर्वथा रहित होने के कारण जैसा वेद से मनुष्य का हित सिद्ध हो सकता वैसा अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं इस लिये 'हुवानाः, विशेषण है। और मन्त्र ही सब देवता हैं देवताओं से जो कार्य सिद्धि मानी जाती है वह मन्त्रों के विना नहीं हो सकती पूर्वमीमांसाकार जैमिनिने इसी अभिप्राय से मन्त्रों को ही देवता माना है। जो कवि नाम परमेश्वर ने कहे वे ही मन्त्र हैं किन्तु मनुष्य निर्मितछन्द वा पद्यादि वास्तव में वेद के समान मन्त्र नहीं हैं। इसी से ब्राह्मणादि किसी

ग्रन्थ में अतिव्याप्ति दोष नहीं आसकता क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रन्थ कविशस्त नहीं हैं। यदि सामश्रमी जी के अनुसार "मन्त्रा मननात्" केवल इतना ही मन्त्रशब्द जी का अर्थ मान लिया जाय तो अतिव्याप्ति दोष कैसे हट सके गा?। सामश्रमी जी ने इस अतिव्याप्ति का कुछ समाधान नहीं किया और करते हो कहां से जब मूल वेद अपने पदों का स्वयमेव व्याख्यान दिखाता है उस का आश्रय नहीं लिया। अर्थात् ईश्वरोक्त छन्द मनन हेतु होने से मन्त्र हैं ऐसा मानने से ही अतिव्याप्ति दोष का समाधान हो जाता है।

कवि शब्द परमेश्वर का वाचक है इसी से "कविना निर्मितं काव्यम्" कवि नाम परमेश्वर ने निर्माण वा प्रकाशित किया काव्य वेद का नाम है। सो काव्य शब्द "काव्यं छन्दः" इत्यादि प्रकार वेद में वेद का नाम काव्य आया है और वेद का काव्य नाम महीधरादि के भी सहमत है यह हम छन्दः पद के व्याख्यान में पूर्व लिख चुके हैं। स्तुति के योग्य भी वेद के तुल्य अन्य कोई नहीं इस कारण स्तुताः विशेषण भी सार्थक है। द्वितीय—

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ॥ ऋ० ७।३२।

भा०—हे मनुष्यो! (यज्ञियेषु) परमेश्वर की पूजा उपासनादि उत्तम कामों में (अखर्वम्) बड़ी प्रतिष्ठा के योग्य महत्कार्यसाधक (सुधितम्) जगत् का अच्छा धारण वा पोषण करने वाले (सुपेशसम्) अच्छे रूप से उच्चारण किये (मन्त्रम्) वेदवाक्य को (आदधात) प्रयुक्त करो। इत्यादि वेद के अनेक स्थलों में मन्त्र शब्द आता है जिस की विशेषणों द्वारा व्याख्या देखने से सब प्रकार के अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति दोष दूर हो जाते हैं। हमारा आशय यह नहीं है कि निरुक्त में किया मन्त्र शब्द का निर्वचन किसी प्रकार दूषित है। किन्तु तात्पर्य यह है कि वेद में आये मन्त्रपद के व्याख्यान को जानते हुए वा मानते हुए निरुक्तकार ने शब्द का निर्वचन किया है सो ठीक है निरुक्त का आशय यह नहीं है कि मननार्थ मात्र से ही मन्त्र मानो किन्तु कविशस्त वेद के छन्द मनन के हेतु होने से मन्त्र कहाते हैं यह निरुक्त का अभिप्राय है तब ब्राह्मणादि में अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। अब रहा यह कि प्रायः विद्वान् लोग भी उपनिषत् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के छन्दों को भी मन्त्र कहते हैं सो छन्द आदि पदों के समान मन्त्रों के तुल्य कार्य साधक मानकर गौण रीति से कहने वा लिखने का प्रचार चलगया है। प्रशंसार्थ उपनिषदादि के छन्दों को मन्त्र कहना कुछ

बुरा भी नहीं परन्तु वेद के सामने वा कविप्रोक्त मान कर उन को मन्त्र कहना मानना ठीक नहीं है। और ताण्ड्य महाब्राह्मण वा तैत्तिरीयादि ग्रन्थों में आने वाले छन्दों को मन्त्र ठहराने का उद्योग करना यह सामश्रमी जी की घरू बात है किन्तु निरुक्त का अभिप्राय यह नहीं है कि कविशस्त ईश्वरोक्त से भिन्नों को भी मन्त्र मानो। और उन ब्राह्मणादि ग्रन्थों में " देव सवितः प्रसुव० " इत्यादि वेद के ही मन्त्र जो २ नकल हुये हैं उन को ईश्वरोक्त होने से ही मन्त्रत्व स्वतः सिद्ध है क्योंकि "प्रकृतिवदनुकरणं भवति" प्रकृति मूल के तुल्य ही नकल होती है इस कारण ब्राह्मणादि में नकल करने पर भी वे पद्य ईश्वरोक्त मन्त्र बने रहेंगे। और ब्राह्मणोपनिषदादि के निज पद्य गौण भाव से प्रशंसार्थ अन्य ग्रन्थस्थ पद्यों की अपेक्षा मन्त्र कहे जा सकते हैं। तथा निरुक्तकार और जैमिनि के दो प्रकार के मन्त्र लक्षणों पर विवाद वा शङ्का समाधान लिखना व्यर्थ है क्योंकि जब मान लिया गया कि मूल वेद में आये मन्त्र शब्द के लक्षण की अपेक्षा रख के निरुक्तकार वा जैमिनि ने विशेष एकांश का लक्षण किया है तो विवाद स्वयमेव मिट गया अब रहे विपर्ययवादादि मन्त्रों के भेद उन में कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है ॥

अब द्वितीय विचार संहिता शब्द के ऊपर है क्योंकि मन्त्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है। उस में अनेक लोगों की सम्मति ले कर सामश्रमी जी ने पद पाठ, क्रम पाठ और क्रम से होने वाले जटा आदि आठ विकारों को भी एक प्रकार की संहिता माना है हमारी समझ में यह ठीक नहीं है क्योंकि वर्त्तमान काल में संहिता शब्द का जो अर्थ व्याकरण कोषादि में प्रसिद्ध है वह वेद के अनुकूल है "सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा० यजु० अ० ३। २२। " इस मन्त्र में महीधर ने भी संहिता शब्द का अर्थ संयुक्ता किया है। और वास्तव में ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में संहिता शब्द का संयुक्तार्थ वाची माना जाना वेद मूलक होना ही चाहिये। वेद से ही प्रत्येक शब्दों के अर्थ पहिले २ व्याकरणादि लौकिक ग्रन्थों में लिये गये जैसे अर्थ में जो शब्द वेद में आया प्रतीत हुआ वैसे ही अर्थवाले सामान्य वा विशेष पदार्थों का नाम ऋषि लोगों ने रक्खा यह सिद्धान्त बहुत ठीक है। दधि+अत्र इन दो शब्दों को मिलाकर बोलना चाहें तो यही संहिता कहाती है और संहिता पक्ष में इक के स्थान में यण् हो कर दध्यत्र बोला जाता है। किसी श्लोक के पदच्छेद कर डाले तो वहां संहिता

गताङ्क पृ० १५२ से आगे पुनर्जन्म विचार ॥

ही काट कर बोने से उगना यही ईश्वरीय नियम है। मिर्च मिश्री आदि में जीव वा जीवन का कोई अंश नहीं। उन के खाने से जीवन को सहायता मिले यह और बात है। ऐसे तो सभी जड़ पदार्थों में कुछ न कुछ शक्ति है वह सब ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही काम देती है। संयोग से उत्पन्न होने वाले गुण भी ईश्वरीय नियमों से विरुद्ध नहीं होते जिन वस्तुओं के संयोग से ईश्वरीय नियमानुसार जैसा गुण प्रकट हो सकता है उस से विपरीत मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। गधी घोड़े के मेल से जो खच्चर होता उस की आकृति कुछ गर्दभ जाति और कुछ अश्व जाति दोनों से मिलती है। दो के मेल से तीसरा वस्तु उन दोनों से कुछ विलक्षण होना यह भी ईश्वरीय नियम है घोड़े और गधी के मेल से ऊंट वा बिल्ली उत्पन्न क्यों नहीं होती? इस का कारण तुम क्या बता सकते हो यदि कारण का नियम कहोगे तो उस के लिये भी नियन्ता की आवश्यकता है। यदि यह आशय हो कि विना नियम के काम दीखते हैं तो यह भूल है क्योंकि किन्हीं वस्तुओं में किसी अंश का नियम न होना भी एक नियम है। जैसे किसी वस्तु का किसी के साथ मेल होने से कई प्रकार के वस्तु बन जाते हैं तो वहां एक नहीं बनना अनेक बनना भी एक नियम है। और सब नियमों का नियन्ता भी मानना ही पड़ता है जैसे कोई कर्म कर्त्ता के विना नहीं होता वैसे नियम का होना भी नियन्ता को सिद्ध करता है।

जो मरता जीता है उस का नाम ईश्वर नहीं और जो ईश्वर है वह कभी मरता जीता नहीं। जो जन्मते हैं वे ही मरते हैं ईश्वर का जन्म लेना ही पहिले सिद्ध नहीं है कोई नहीं सिद्ध कर सकता कि ईश्वर के माता पिता अमुक थे तब जिस का जन्म नहीं उस का मरण मानलेना वा कहदेना केवल लड़कपन है। क्षेत्रादि साधनों के ठीक २ होने से गेंहूं आदि का उगना और साधनों के यथावत् न होने से न उगना यह भी ईश्वरीय सृष्टि के नियम को जतलाता है कि सृष्टि के आरम्भ में भी ठीक २ साधनों के होने पर ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई वैसे ही सदा सृष्टि होती है॥

सृष्टि के आरम्भ में जैसे प्रकृति में स्त्री पुरुष दोनों की शक्तियों को प्रकट कर परमेश्वर ने उन दोनों के संयोग से ... इस का विशेष

वर्णन मनु के प्रथमाध्याय में और रयि प्राण आदि शब्दों से प्रश्नोपनिषद् में वर्णन है। जैसे सर्गारम्भ में स्त्री पुरुष दोनों शक्तियों के संयोग से संसार की उत्पत्ति हुई वैसे अब भी कहीं प्रकट कहीं गुप्त दोनों शक्तियों का वा स्थूल स्त्री पुरुषों का मेल हो कर सृष्टि होती है और आगे होगी दोनों के संयोग हुए विना न कभी कोई पदार्थ जगत् में उत्पन्न हुआ न हो सकता है। अर्थात् संयोगजन्य कोई भी वस्तु उन २ कारण पदार्थों का संयोग हुए विना कदापि उत्पन्न नहीं होता बहुत से सूत मिला कर कपड़ा बनता है वह कभी एक सूत से नहीं बन सकता। ऐसे ही पृथिवी में जो बीज बोया जाता है वहां बीज पुरुषरूप वा सूर्य की किरणों द्वारा प्राणशक्ति जो पृथिवी में प्रवेश करती है जिस के विना कोई बीज नहीं उग सकता वह पुरुष रूप और पृथिवी वास्तव में स्त्री है उन दोनों के संयोग से गेंहूं जौ आदि ओषधियां वा वनस्पति वृक्षादि होते हैं। एक बीज मात्र से कभी नहीं ओषधि वृक्षादि हो सकते। इस में कोई यह कह सकता है कि कभी २ पृथिवी में बोये विना ही टोकरे आदि वर्त्तन में धरा २ चनादि अन्न केवल ही जमने लगता है। तो इस का उत्तर यह है कि यहां जो जल का संयोग बीज के साथ होता है वह जल स्त्री शक्ति प्रधान और पुरुष शक्ति प्रधान बीज दोनों का संयोग ही उगने का कारण है वह जल चाहे मनुष्य ने मिलाया हो वा स्वयं पड़ गया हो वा ईश्वरीय नियमानुसार वर्षा काल में सभी पदार्थों में स्वयमेव विशेष कर जल प्रवेश करता है तभी प्रायः पृथिवी में बोये विना भी बीज उगने लग जाता है। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ वैशाख में वर्षादि हुए विना बीज नहीं उगता। इस से सिद्ध होगया कि केवल बीज से गेहूं जौ आदि नहीं उगते। प्रायः सजीव स्थावर तथा जंगम सभी प्राणियों की उत्पत्ति के चार कारण प्रधान कर सुश्रुतकार ने माने हैं कि—सुश्रुत शारीरस्थाने—

ध्रुवं चतुर्णां सामर्थ्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरोयथा ॥ १ ॥

भा०—जैसे ऋतु—समय, खेत, जल और बीज इन चारों के एकत्र होने से अवश्य गेंहू आदि उगते हैं वैसे ही मनुष्यादि की उत्पत्ति में स्त्री का रजोधर्म होना रूप ऋतु—समय, स्त्री का गर्भाशयरूप खेत, गर्भाधान के पश्चात् दूध वा जल का पीना जल अथवा पुंसवनसंस्कार के नाम से दूध में पकायी ओषधि का रस नासिका द्वारा जो पिलाया जाता है वह जल और पुरुष का वीर्य इन

चारों का यथावत् निर्दोष संयोग होने पर विधि पूर्वक ठीक २ गर्भस्थिति हो जाती है। सामान्य कर सभी पार्थिव मनुष्यादि पदार्थों की उत्पत्ति में मुख्य कर सूर्य पिता और पृथिवी माता है वा सूर्य पुरुष और पृथिवी स्त्री है वेद में भी स्पष्ट लिखा है कि "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" तथा "द्यौष्पिता पृथिवीमाता" मनुष्य की उत्पत्ति में प्राणशक्ति प्रधान होने से पुरुष सूर्यरूप और अपानशक्ति प्रधान स्त्री पृथिवीरूप है तथा सूर्य और पृथिवी की साक्षात् भी बाहिरी सहायता मिलने से मनुष्य उत्पन्न होते हैं। तथा वृक्ष बनस्पत्यादि में सूर्य से वर्षा हो कर पृथिवी में सब स्थावर उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि स्त्री पुरुष दोनों का संयोग हुए विना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होता। इस से भिन्न एक वार्त्ता यह भी है कि जब जगत् में मनुष्यादि के शरीरादि सभी स्त्री पुरुष दोनों के संयोग से बनते हैं तो स्त्री या पुरुष तथा पृथिवी वा सूर्यादि सभी में स्त्री पुरुष दोनों का भाग मिला है। पुरुष के शरीर में मांस रुधिरादि कोमल भाग स्त्रीरूप माता का और हड्डी आदि कठोरांश पुरुषरूप पिता के शरीर का भाग है इसी प्रकार स्त्री वा कन्या के शरीर में भी दोनों का भाग जानो। भेद केवल यह है कि स्त्री के शरीर में पुरुष का अंश कम वा गौण है और पुरुष में स्त्री का अंश कम वा गौण है अपना २ अंश दोनों में प्रधान है इसी प्रधानता के कारण स्त्री पुरुष के भेद का व्यवहार बनता इसी से स्त्री सुहृङ्गी कहाती है ऐसी दशा में यदि कहीं बीज वा खेत किसी एक से भी किसी वस्तु की उत्पत्ति हो जावे तो भी स्त्री पुरुष दोनों के संयोग से उत्पत्ति होने का नियम ठीक ही माना जायगा क्योंकि बीज में खेत और खेत में बीज दोनों दोनों में व्याप्त हैं तथापि जिस की जिस में प्रधानता होती है वह अपनी प्रधानता से प्रायः गौण को इतना वा ऐसा दबाये रहता है कि जानो द्वितीय इस में नहीं है इसी से स्त्री वा पुरुष किसी एक से सन्तान नहीं होते। और स्त्री स्वप्न में मैथुन करे तो वास्तव में गर्भ नहीं होता किन्तु भ्रान्तिमात्र हो जाती है। हमारे पास एक प्रश्न आया था कि दक्षिण में एक स्त्री गर्भवती थी प्रतिमास उस का गर्भ धीरे २ बढ़ता गया। वह जिस ग्राम में रहती थी वहां से बाज़ार दूर पर था इस कारण नववां मास जब आरम्भ हुआ और उस के पतिने प्रसूति का समय निकट समझा तो उस का पति बाजार से सब औषधि आदि ले आया कि जो प्रसव के समय स्त्री की रक्षा के लिये काम पड़ती है। नववां महीना पूरा होने में जब थो

दिन शेष रहे तो एक दिन अकस्मात् कान में से सर्राहट के साथ वायु निकल गया पेट खाली हो गया गर्भ का पता भी न लगा कि कहां गया । इस आश्चर्य का कारण मुझ से पत्र द्वारा पूछा गया तो यही उत्तर मैंने दिया था कि—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् ।
आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥ १ ॥
मासिमासि विवर्द्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ २ ॥

भा०—रजोदर्शन के बाद स्त्री स्नान कर शुद्ध हो पुरुष की चाहना रखती हो और पति देशान्तर जानेआदि कारण से न मिल सके तभी यदि स्त्री को सोते समय मैथुन का स्वप्न हो तो उदरस्थ वायु आर्त्तव रुधिर को लेकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर गर्भ रूप से बढ़ता है वायु की गांठ बंध जाती है । अन्त में जब प्रसव का समय आता है तब वह वायु की गांठ खुल जाती है और किसी मार्ग से बाहर निकल जाती है । रहा आर्त्तव रुधिर का जमजाना सो पीछे पिघल २ कट २ निकल जाता है इस कारण स्वप्न के गर्भ से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जब दो स्त्री मिल कर मैथुन करें और गर्भ रह जाय तो हड्डी रहित सर्पादि के तुल्य विलक्षण कोई जन्तु हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि बीज के विना कोई उत्पन्न नहीं होता जहां कुछ होता है वहां वैसी बीजशक्ति खेत वा स्त्री में ही व्याप्त है । पूरी वा प्रधान न होने से ठीक सन्तान भी नहीं होते इस से बीज खेत दोनों का नियम सर्वत्र सिद्ध है । सब काम नियम से होते विना नियम कुछ नहीं होता यह सब सिद्ध हो गया अब इस पर लिखना समाप्त है ॥

प्रश्न (४) अन्य योनियों में भी क्या पाप वा पुण्य का विचार है ? क्योंकि उन में बुद्धि नहीं होती ।

उत्तर—जैसे सब संसार में पाप पुण्य की व्यवस्था भिन्न २ प्राणियों में न्यूनाधिक भाव से चढ़ती उतरती दीखती है किन्तु सब को एक से ही पापपुण्य नहीं लगते । सो यह बात भिन्न २ जातियों के लिये ही अलग २ हो सो नहीं किन्तु एक २ जाति में भी देशकाल और अवस्थादि के भेद से वा मुख्य कर ज्ञान के न्यूनाधिक भेद से पाप पुण्य न्यून वा अधिक लगते हैं । मनुष्य जाति में बाल्यावस्था में ... नहीं ... अंग्रेजी राज में

भी दश वर्ष तक का बालक कुछ अपराध करे तो उस के लिये कुछ भी दण्ड नियत नहीं किया। अठारह वर्ष से पहिले रियासत वा गद्दी का अधिकारी नहीं होता इतनी अवस्था तक किसी विषय में प्रतिज्ञा पत्र (इकरारनामा) लिखे तो वह ठीक (जाइज़) नहीं माना जाता। इसी प्रकार आर्यों के धर्मशास्त्र में भी दशवर्ष के भीतर की अवस्था वाले को कोई प्रायश्चित्त नहीं लगता, १०—१५ तक आधा प्रायश्चित्त लगता है। सो यह बात युक्ति से भी ठीक है कि कोई प्राणी अच्छे वा बुरे जो कुछ काम करता है उस से जो मन में अच्छे बुरे संस्कार (ख़यालात) उत्पन्न होते हैं उन्ही का नाम संचित पाप पुण्य है उन का लगना न लगना यही है कि स्मरण बना रहे। सो छोटे बालकों को वा उन्ही के तुल्य दशा वाले अत्यन्त मूढ मनुष्यों को अपने किये भले बुरे कामों का कुछ भी स्मरण नहीं रहता यही पाप न लगने का चिह्न है। इसी प्रकार अन्य पश्वादि योनियों में भी प्रायः अत्यन्त मूढ़ दशा बालकादि के समान ही है। जैसे अत्यन्त मूढ़ को विशेष सुख दुःख वा हर्ष शोक नहीं व्याप्त होते वैसे उच्च कक्षा के ज्ञानी परमार्थी तत्त्वज्ञ पुरुषों को भी निन्दा स्तुति मानापमानादि से सुख दुःख हर्ष शोक नहीं लगते उन के हृदय वा मन में बाह्य विषयों की छाया वा प्रतिबिम्ब चिरस्थायी नहीं पड़ता इस से उन को पाप पुण्य विशेष नहीं लगते। और ज्ञानी वा योगी पुरुषों का पाप कर्मों में भी चित्त लगे तो वे ज्ञानी वा योगी कहने मानने योग्य नहीं हो सकते तात्पर्य यह कि पाप कर्म वे करते ही नहीं और जो कुछ स्वाभाविक देखना सुननादि करते हैं उन से कुछ विशेष दोष उन को नहीं लगता। इस लेख का तात्पर्य यह हुआ कि पश्वादि मनुष्य से नीची योनियों में पाप पुण्यों का विशेष संचय नहीं होता यदि किन्हीं कामों से कुछ २ कभी २ होता भी है तो वह इतना कम होता है कि जिस की गणना न हो सकने से यही कहा वा माना जाय कि पाप पुण्य नहीं लगते। और पश्वादि योनि में बुद्धि नहीं यह कहना कम बुद्धि होने के कारण माना जाय तो ठीक है। जैसे प्रत्येक मनुष्य में बुद्धि कुछ न कुछ अवश्य होती है पर जिन में बहुत कम होती है उन्हीं को निर्बुद्धि वा बुद्धि हीन (बेअकल) मूर्ख आदि शब्दवाच्य कहते हैं तात्पर्य यह कि पश्वादि में भी बुद्धि तो अवश्य है जिस के अनुसार वे अनेक काम निश्चयात्मक विचार से करते हैं उस निश्चयात्मक विचार का नाम ही बुद्धि है॥

प्रश्न—२ अहिंसा यदि धर्म है तो अश्वमेध गोमेध करना क्यों लिखा है ?

उ०-प्रश्नकर्त्ता की लिखने में भूल है अभिप्राय उन का यही मालूम होता है कि हिंसा यदि० इत्यादि तात्पर्य ही ठीक है। इस का उत्तर यह है कि अहिंसा तो पाप नहीं परन्तु हिंसा अवश्य पाप है। परन्तु वेद में अश्वमेध गोमेध जो लिखे हैं उन का अभिप्राय यह नहीं था न है कि घोड़ा वा गौ को मार कर यज्ञ में चढ़ाये जायँ। वेद में लोगों को जब भ्रान्ति हुई और वेद का गूढ़ाशय नहीं समझा तब यह सीधा अर्थ समझ लिया कि घोड़ा गौ आदि को मार कर होम करना चाहिये तभी से यह विरोध लोगों को प्रतीत होने लगा कि वेद का सिद्धान्त इधर हिंसा को पाप मानना और इधर गोमेधादि में हिंसा भी कराना यह परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त क्यों है?।

इस विषय पर पहिले से श्रीमत्स्वामि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में समाधान लिखा है सो तो सब महाशयों को ज्ञात ही होगा। तदनन्तर मैं भी आर्यसिद्धान्त में यथावसर भिन्न २ प्रसङ्गों में समाधान लिख चुका हूं। इस कारण पिष्टपेषणवद्दोष देख कर विशेष वा वही समाधान वार २ लिखना तो आवश्यक नहीं तथापि यहां संक्षेप से कुछ समाधान लिखते हैं। वेद में प्राकृत नियमों से यज्ञ का वर्णन अनेक स्थलों में स्पष्ट ही आता है उस में कोई सामान्य और कोई विशेष हैं। जहां सामान्य यज्ञ का वर्णन है वहां सृष्टि के सब प्रधान भाग यज्ञसम्बन्धी भिन्न २ कार्य करने वाले वा यज्ञ के साधनों में वर्णन किये जाते हैं। जैसे कल्पना करो कि यह सब ब्रह्माण्ड एक यज्ञस्थल है। उस में यह पृथिवी सब वेदी यज्ञकुण्ड है "इयं वेदिः परो अन्तः-पृथिव्याः (यजु० २३। ६२) प्राकृत महान् यज्ञ के लिये यह पृथिवी ही वेदि-यज्ञ-कुण्ड है। अग्निर्होता कविक्रतुः" अग्नि सब पदार्थों को भस्म करने वाला है पार्थिव मनुष्यादि जड़ चेतन सभी को पृथिवी रूप वेदी में होम कर २ अग्नि भस्म कर रहा है। सब नक्षत्र और चन्द्रमा सहित नीलवर्ण अन्तरिक्ष मण्डल इस यज्ञ का मण्डप है जिस से रात्रि के समय पृथिवीरूप वेदि शोभित विभूषित होती है। वायु इस यज्ञ का अध्वर्यु है सब वस्तुओं को चेष्टा कर्म द्वारा संचय कर २ होम के लिये यथोचित स्थानों में धरता पहुंचाता है। सूर्य इस यज्ञ के होम्य पदार्थों को भस्म करने वाला अग्नि है। इत्यादि प्रकार जगत् के सब पदार्थ इस प्राकृत यज्ञ के साधन हो जाते हैं। तथा

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ यजु० अ० ३१।१५

अग्नि वायु आदि देवता स्वाभाविक यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुष नाम विराट् जगत् रूप शरीर को पशु नाम यज्ञ के लिये दुग्धादि के तुल्य हविष्य बनाने के लिये बांधते हैं अर्थात् जैसे होम्य वस्तुओं में प्रधान वस्तु घृत पशु से ही निकलता है वैसे नैसर्गिक यज्ञ के होमनीय मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्षादि सब पदार्थों को दुहने वा उत्पन्न करने के लिये देवतों ने विराट् जगत् रूप एक पुरुष पशु नियत किया है कि इस विराट् पशु से मनुष्यादि उत्पन्न हो कर पृथिवीरूप वेदि में होम (लय) होने के लिये नित्य २ सामग्री तयार होती रहे। इस सामान्य यज्ञ की सात परिधि अर्थात् मेखला हैं। गायत्र्यादि सात छन्द इस की परिधि हैं। अथवा सप्तव्याहृति नामक सप्तविध लोक इस यज्ञकुण्ड की मेखला हैं। तथा बारह महिने छः ऋतु तथा भूत भविष्य वर्त्तमान ये तीन काल के भेद ये २१ इक्कीश समिधा इस महान् यज्ञ के लिये नियत की गई हैं। जैसे समिधारूप ईंधन से यज्ञकुण्ड में पड़ने वाला सब सामान भस्म होता जाता है वैसे इन काल विभागों के चक्र से सब मनुष्यादि प्राणी वा स्थावर वृक्षादि जीर्ण वृद्ध हो २ पृथिवीरूप यज्ञकुण्ड में समाते जाते हैं इस लिये यह स्वाभाविक यज्ञ ईश्वर की सृष्टि में स्वयमेव नियमानुसार प्रतिक्षण हो रहा है। यह यज्ञ कल्पभर होता और ब्राह्मरात्रिरूप प्रलय में यज्ञानुष्ठाताओं को विश्राम मिलने के लिये बन्द रहता है। इस प्राकृतयज्ञ के वर्णन विषय में वस्तुतः विशेष लिखने की अपेक्षा है सो यथावसर फिर कभी लिखेंगे। यहां प्रयोजन यह था कि जैसे प्राकृत सामान्य यज्ञ का वर्णन है वैसे विशेष भी प्राकृत यज्ञ वेद में दिखाये हैं जिन में अग्नि आदि एक २ देवता से ही विशेष सम्बन्ध दिखाया है। "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त" अग्नि को पशु नियत किया उस से यज्ञ हुआ। जैसे पशुजन्य घृतादि से होम होता वैसे आग्नेय पदार्थ जहां होम की सामग्री हो वहां अग्निसाध्य यज्ञ होगा। "अग्निर्वा अश्वः" अग्नि का ही नाम अश्व है। वेद में जैसे सभी शब्द यौगिक सामान्यार्थ बोधक हैं वैसे अश्व शब्द भी वेद का ही है। अश्व शब्द का अर्थ आशु नाम शीघ्र चलने वा उड़ने वाला वा चलाने वाला है। इस सामान्यार्थ से जितने २ अंश में जो २ वस्तु आशुगामी हों उन सब का नाम अश्व होगा। लोक में घोड़े का अश्व नाम भी अन्य वृषभादि पशुओं की अपेक्षा शीघ्रगामी होने से हुआ है। परन्तु अग्नि में जो विद्युत् शक्ति है उस के समान आशुगामी अन्य पदार्थ नहीं हैं। आकाश से विद्युत् किसी पार्थिव वृक्षादि पर

पड़ती है तो वह इतने सूक्ष्म काल में अपना काम कर जाती है कि जिस को ध्यान में लाना भी कठिन है । साम्प्रतिक अंग्रेज़ी राज्य में तो तडित्समाचारादि अति शीघ्र होने योग्य सभी काम विद्युत् के आधीन रक्खे गये हैं वेद में भी अग्नि के तुल्य शीघ्रगामी अन्य कोई वस्तु नहीं इसी लिये इस को सब देवताओं का दूत वेद में माना है । यह अग्नि ही होम किये वस्तुओं को लाखों क्रोड़ों कोश तक सब देवताओं के पास अति शीघ्र पहुंचा देता है । इत्यादि कारण अग्नि का ही नाम मुख्य कर अश्व है । उस अश्व नामक अग्नि के सम्बन्धी अतिप्रशस्त गुणों की अपने शरीर मन आत्मा पुत्र इष्ट मित्र कलत्रादि में उन्नति के लिये जो मेध नाम यज्ञ है उस का नाम अश्वमेध जानना चाहिये । इस यज्ञ में अग्नि का ही मुख्य उद्देश है इस से इस को अग्निमेध कहना भी विरुद्ध नहीं । इस लेख से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि वेद के सिद्धान्तानुसार अश्वमेध का केवल यही तात्पर्य है अन्य कुछ नहीं । किन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि यदि अन्य भी कुछ अधिक आशय हो तो इस लेख के अनुकूल अवश्य होगा किन्तु विरुद्ध नहीं होगा ।

इसी प्रकार गौनाम पृथिवी का है भूमि सम्बन्धी प्रशस्त गुणों की वृद्धि के लिये जो भूमि देवता के उद्देश से पार्थिव पदार्थों का ही विशेष होम किया जाय उस का नाम गोमेध यज्ञ है । पृथिवी का गौ नाम बहुत प्रसिद्ध है । इस कारण इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं ।

प्रश्न (६) ईश्वर और मुक्ति पाये हुए जीव में क्या अन्तर है ? ॥

उत्तर-(प्रश्नः) कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि, सन्ति च बहवः केवलिनः ? (उत्तरम्) ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः—ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ॥ तथा—यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य, स सर्वज्ञः सच पुरुषविशेषइति । योगभाष्यसमाधिपादे सू० २४ । २५ ॥

भाषार्थः—योगभाष्य में भीय ही प्रश्न किया गया है कि जो हमारे मित्र ताल ग्राम निवासी ने किया है कि—यदि अविद्यादि क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों के फल भोग से जो अलग है उस का नाम ईश्वर है तो ऐसे मुक्ति को प्राप्त जीव भी अनेक हैं जो अविद्यादि क्लेशों और शुभाशुभ कर्मों के फल भोगों से निवृत्त होकर

ही मुक्त हुए हैं उनको भी ईश्वर क्यों न मान लिया जावे ? वे भी ईश्वर हो जांय तो अनेक ईश्वर मानने पड़ें गे और उन में लड़ाई बखेड़ा होना भी सम्भव है।

इस प्रश्न का उत्तर वहां यह दिया गया है कि जैसे केवली पुरुष तीन प्रकार के बन्धनों को काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं वैसे ईश्वर को न कभी कोई बन्धन हुआ न होगा, तथा जैसे मुक्तपुरुष मुक्ति होने से पहिले जन्म मरण के प्रवाह में पड़ा महादुःख भोगता रहा वैसे ईश्वर कभी जन्म मरण में नहीं पड़ता। तथा ईश्वर सर्वज्ञ है जीव फिर भी ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञ ही है ईश्वर में असीम ज्ञान, असीम विद्या, असीम शक्ति है उस की विद्या वा शक्ति के तुल्य वा उस से अधिक विद्वान् शक्तिमान् बलवान् अन्य कोई है ही नहीं तो मुक्त जीव उस की बराबरी कैसे कर सकें गे। चाहे यों कहो और मानो कि जिस के तुल्य वा जिस से अधिक शुद्ध निष्पाप निर्लेप मुक्त स्वभाव तेजोमय ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप अनादि अनन्त, अनन्तशक्ति न कोई कभी हुआ न कोई है और न हो सकता है उसी का नाम ईश्वर है। इस दशा में शोचने से जान लोगे कि मुक्त जीवों तथा ईश्वर में कितना वा क्या अन्तर है।

प्रश्न (७) वेद ईश्वरकृत किस प्रकार है ?। अन्य कोई ग्रन्थ क्यों नहीं उन चार ऋषियों पर ही वेद क्यों नाज़िल हुए ? ॥

उत्तर—वेद ईश्वरकृत हैं इस का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रत्येक कल्प के आरम्भ में परमेश्वर इस सब जगत् को प्रकट करता वैसे ही अपनी अनादि विद्या वेद को भी किन्हीं योग्य पुरुषों के द्वारा प्रकट कर देता है यही वेद का ईश्वरकृत होना है। वास्तव में तो वेद नित्य अनादि है उस की नवीन उत्पत्ति कभी नहीं होती। केवल संसार की रचना के साथ वेद का आविर्भाव होना ही वेद की उत्पत्ति है इसी से वेद ईश्वरकृत कहाता है। जगत् में सभी पदार्थ जो मनुष्य की विद्या बुद्धि परिश्रम से बन सकते हैं उन को बनाने के लिये ईश्वरस्रष्टा मानने की आवश्यकता नहीं होती किसी के उत्तम घर को बनाने वाला परमेश्वर है वा परमेश्वर के विना ऐसा घर आदि कोई नहीं बना सकता ऐसा कोई नहीं मानता किन्तु सूर्य चन्द्र तारागणादि की विचित्र रचना देख कर बड़े २ विद्वान् मनुष्यों की भी बुद्धि चकराती है कोई नहीं मानता वा मान सकता कि सूर्य चन्द्रादि जगत् को कोई मनुष्य बना सकता है। इसी प्रकार विद्या सम्बन्धी जो २ पुस्तक मनुष्यों के बनाये हैं उन को देखने विचारने से यह भी प्रतीत होता है कि यह किसी मनुष्य ने किसी निज देश और काल में बनाया है। मनुष्यकृत सभी पुस्तकों में देशकाल और वस्तु का परि-

च्छेद स्पष्ट ही पाया जाता है कि यह किसी खास देश और किसी खास काल में किसी खास पुरुष ने बनाया है क्योंकि उस देश वा काल के अनुसार उस पुरुष के अनुभव उस पुस्तक में लिखे होते हैं विद्या सम्बन्धी विषयों पर भी मनुष्यकृत व्याख्यान किसी देशकाल के अनुभव से शून्य नहीं होते । तथा वह पुस्तकनिर्माता मनुष्य किसी निज जाति वा समुदाय में उत्पन्न हुआ वहीं पालन पोषण को प्राप्त हो समर्थ हुआ उस के विचार प्रायः अपनी जाति की ओर अवश्य झुके होते हैं । चाहे यों कहो कि मनुष्यकृत विचार वा पुस्तक सर्वथा पक्षपात से शून्य नहीं होता । और देश काल तथा वस्तु का परिच्छेद ही पक्षपात होने का कारण है । अन्य मनुष्यों की अपेक्षा किसी में अत्यन्त कम पक्षपात होना ही मनुष्य का निष्पक्ष होना है । इसी कारण सर्वथा निष्पक्ष एक ईश्वर ही सदा से है और मुक्ति में मनुष्य भी सर्वथा निष्पक्ष हो जाता है । इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार जिस पुस्तक को कोई मनुष्य नहीं बना सकता उस का बनाने वाला सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही हो सकता है । वेद में किसी देश काल और निज पुरुष का परिच्छेद नहीं है वेद के विषय किसी निज देश काल वा वस्तु से सम्बन्ध नहीं रखते, सब देशों सब कालों और सब प्राणीमात्र के लिये वेद संबन्धी विचार हैं । वेद किसी एक जाति वा समुदाय का घरू पदार्थ नहीं है । जैसे मनुष्य के सब विचार सावधिक ससीम होते हैं । ईश्वर के सब काम उन के परिणाम तथा उस की शक्ति असीम है । मनुष्य के विचार से बना पुस्तक जैसे सर्वव्याप्त बातों से भरा नहीं होता क्योंकि मनुष्य के बुद्धि आदि सब साधन ससीम हैं मनुष्य अल्पशक्ति अल्पज्ञ है उस के विचार व्याप्त नहीं हो सकते वैसे ही ईश्वरीय सब साधन असीम वह सर्वज्ञ सर्वशक्ति है उस के विचार वा काम व्याप्त होते हैं । आकाश में सब रहते चलते फिरते हैं किन्तु किसी निज के अधिकार में आकाश नहीं है वायु में सभी प्राणी श्वास ले २ कर जीवित रहते हैं । अग्नि जल और पृथिवी भी सब प्राणियों के लिये हैं । जैसे ये पृथिव्यादि ईश्वरकृत होने से सब के साथ एकसा सम्बन्ध रखते हैं । वैसे वेद भी सब के साथ एकसा है इसी से वह ईश्वरकृत है । वेद को ईश्वरकृत ठहराने के लिये किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण वा युक्ति देने की विशेष आवश्यकता इस लिये नहीं है कि वेद स्वतःप्रमाण है वेद के विषयों को कोई ठीक २ समझ ले तो उस का मन वा आत्मा संतुष्ट हो कर स्वयमेव निस्सन्देह मान लेगा कि वास्तव में ऐसे अव्याहत व्याप्त सर्वविद्या सम्बन्धी विषयों का इतने संक्षेप से वर्णन करना अल्पज्ञ मनुष्य का काम नहीं है जिस का बनाया वेद है वह वास्तव में सर्वज्ञ

ईश्वर है। जैसे वेद में एक वर्णव्यवस्था का विषय है इस को शोचो तो मालूम होगा कि वर्णव्यवस्था सब चराचर जगत् में व्याप्त है। इस जगत् में अग्नि ब्राह्मण वा शिर है क्योंकि।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। मुखादग्निरजायत। अग्निं यक्ष्क आ-स्यम्। इत्यादि वेदवाक्य और "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"

इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों से अग्नि का ब्राह्मणाङ्ग से पूरा सम्बन्ध है तथा (ब्राह्मणोऽस्य०) इस वेद वाक्य में सब ब्रह्माण्डरूप विराट् शरीर 'अस्य' पद से लिया जाय तो सूर्यरूप महान् कारणाग्नि उस देह का शिर वा मुख ठहरता है। तब यह आशय होगा कि इस विराट् देह का मुख ब्राह्मणांश सूर्याग्नि है। मुख का एक काम खाना भक्षण है सो सूर्याग्नि काल विभाग द्वारा सब पदार्थों को जीर्ण करता हुआ भक्षण करता है। जैसे मुख से पिया जल भीतर जाकर प्रस्राव हो के नीचे को निकलता है वैसे सूर्याग्नि सृष्टि के सब पदार्थों से जलखींच २ कर फिर नीचे मेघ द्वारा छोड़ा करता है।

वायु क्षत्रिय है बल सम्बन्धी सब क्रिया वायु से ही सिद्ध होती हैं। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का प्रधान काम है वायु के समान सब प्राणियों का रक्षक कोई नहीं है। द्युलोक वा स्वर्लोक ब्रह्माण्डरूप देह का शिर वा मुख है उस में सूर्य नेत्र के तुल्य है। स्वर्लोक और अन्तरिक्ष लोक की सन्धि विराट् पुरुष का कन्धा वा बाहू है यही क्षत्रिय प्रधान लोक है। पृथिवी और अन्तरिक्ष की सन्धि में विराट् पुरुष की जङ्घा नाभि से नीचे और घोंटू से ऊपर का वैश्य भाग है अर्थात् जल तत्त्व का नाम मुख्य कर वैश्य है। वैश्य के सभी काम मुख्य कर जलतत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं। रूक्षता रूखापन वायु का प्रधान गुण है यही गुण क्षत्रिय है कोमलता जल का प्रधान गुण है वैश्य वर्ण में भी कोमलता तथा संयोजकपन प्रधान है सामाजिक उन्नति भी मुख्यकर वैश्य वर्ण से सम्बन्ध रखती है उस में भी परस्पर संयोग वा मेल प्रधान है और जलतत्त्व के बिना भी संयोगजन्य घटपटादि कोई पदार्थ नहीं बनता। आत्मिक उन्नति ब्राह्मणपन है। मन बुद्धि ज्ञान आदि नामक आग्नेय सूक्ष्म गुण हैं तभी यह कथन सङ्घटित होता है कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।
मानसोऽग्निः शरीरेषु जीवइत्यभिधीयते॥

ये दो महाभारत के श्लोकार्द्ध हैं। ज्ञानरूप अग्नि सब दुष्कर्मों को भस्म कर डालता है। मन सम्बन्धी अग्नि शरीरों में मुख्य कर जीवन का हेतु है। शारीरिक उन्नति क्षत्रियपन है वायु के ठीक अनुकूल हुए बिना शारीरिक बल नहीं होता।

पृथिवीतत्त्व विराट् पुरुष का पाद है इसी का नाम शूद्र है। सुश्रुत में पार्थिव प्रकृति मनुष्य अत्यन्त स्थूल बुद्धि माना गया है उस में जड़ता अधिक और चेतनता कम होती है। इस प्रकार सब जगत् में व्याप्त सर्वरूप बने हुए ये तत्त्व ही ब्राह्मणादि चारों वर्ण हैं। सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण, सत्त्वगुण रजोगुण के मेल में क्षत्रिय, रजोगुण तमोगुण के मेल में वैश्य और तमोगुण प्रधान शूद्र है। ये सत्त्वादि गुण सब जड़ चेतन चराचर जगत् में व्याप्त हैं वैसे ब्राह्मणादि वर्ण भी सर्वव्याप्त जानो पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्ष वनस्पत्यादि सभी में चार कक्षा (दर्जे) हैं उन्हीं का नाम चार वर्ण है। बिल्व और पलाशादि वृक्ष ब्राह्मण, बट और खैर आदि क्षत्रिय तथा पीपल और गूलर आदि वैश्य वृक्ष हैं इस का व्याख्यान मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में यथास्थान मिलेगा। जैसे प्रत्येक मनुष्य के शरीर में शिर, भुजा, जङ्घा, पग ये चार भाग मिले हुए हैं इन में से एक २ भाग के विना शरीर के सब काम नहीं चल सकते वैसे चारों वर्ण मिलकर यथोचित धर्म कर्म का वर्त्ताव करने वाले हों तो सृष्टि की ठीक २ स्थिति वा सुखपूर्वक निर्वाह चल सकता है। पर इस में यह भी विवेक अवश्य करने पड़ता है कि जो जैसा प्रधान वा श्रेष्ठ भाग है उस के विगड़ने बनने में वैसा ही न्यूनाधिक जगत् में विगाड़ बनाव होता है। जैसे शिर वा मुख शरीर भर में सब से अत्यन्त उत्तम भाग है। और शिर बनने में जैसा उत्तम कारण लगाया गया है वैसा अन्य बाहु आदि के बनाने में नहीं बुद्धिपूर्वक बड़े २ गम्भीर विषयों को सोचने जानने का मुख्य स्थान शिर ही है किसी मनुष्य की विशेषता (खासियत) हाथ पांव आदि अन्य किसी अङ्ग से नहीं समझी जाती यदि किसी का हाथ वा पांव काट कर कोई जानना चाहे कि यह कौन मनुष्य है तो जानना भी कठिन है परन्तु एक शिर से प्रत्येक मनुष्य की ठीक पहचान हो सकती है कि यह अमुक मनुष्य है। इसी कारण शिर की तस्वीर प्रायः उतारने की चाल है शरीर के अन्य किसी एक अंश की प्रतिकृति नहीं उतारी जाती तात्पर्य यह है कि जैसे शिर में किसी प्रकार का रोग होने वा शिर की अधोगति से सब शरीर को जैसी हानि वा दुःख पहुंचता है वैसे ही जगत् में ब्राह्मण वर्ण की अधोगति वा अवनति होने से संसार की हानि होती इसी प्रकार क्षत्रियादि के बाहू आदि भागों की उन्नति अवनति में देह वा जगत् की उन्नति अवनति जानो। जैसे शूद्र एक निकृष्ट भाग है इसी कारण घोंटू से नीचे का भाग कट जाने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है पर लुंझ तो अवश्य हो जाता है। इसी प्रकार वर्णव्यवस्था का विविध [illegible] से वेद में है।

और ऐसे ही विद्या के प्राकृत अंशों को साथ लिये सब धर्मसम्बन्धी अंशों का वेद में वर्णन है ऐसा पुस्तक आज तक किसी मनुष्य ने न बना पाया न कोई बना सकता है। इस कारण वेद ईश्वरकृत है इस पर अधिक व्याख्यान लिखें तो वेद के अगाध विषयों की समाप्ति होना ही दुस्तर है इसी व्याख्यान में यह भी आगया कि वेद से भिन्न कोई ग्रन्थ ईश्वरकृत नहीं हो सकता। अब रहा यह कि वेद उन चार ही ऋषियों द्वारा परमेश्वर ने प्रकट क्यों किये अर्थात् अन्यों द्वारा क्यों नहीं किये। इस का एक तो उत्तर यही है कि जिन ऋषियों के द्वारा और जितनों के द्वारा वेद का प्रकट होना तुम ठीक समझते हो हम थोड़ी देर को वैसा ही मानलें कि उन उतने ही ऋषियों द्वारा ईश्वर वेद को प्रकट करता तो क्या तुम्हारे समान हम शङ्का नहीं कर सकते कि उन उतने ही ऋषियों द्वारा वेद क्यों प्रकट हुआ ?। फिर इन से भिन्न अन्यों के द्वारा वेद प्रकट होता तोभी वही शङ्का होती। जैसे बहुत से कहार कहीं इकट्ठे हो रहे हों उन में से अपनी आवश्यकता के अनुसार कोई मनुष्य किन्हीं चार कहारों को ले आवे तब दूसरा कोई प्रश्न करे कि इन्हीं चार को तुम ने क्यों लिया तो अन्य किन्हीं चार वा छः को लेने पर भी यही प्रश्न हो सकता है तो वास्तव में ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है।

और द्वितीय उत्तर यह है कि जैसे किसी नगर में से एक मनुष्य को कलक्टर का अधिकार किसी ने दिया और कोई प्रश्न करे कि उसी को यह अधिकार वा काम क्यों सौंपा गया तो मेरी समझ में सब लोग यही उत्तर ठीक समझेंगे कि उस काम वा अधिकार के योग्य उस से अधिक अच्छा अन्य कोई नहीं समझा गया तो यही उत्तर वहां भी ठीक समझो कि उन ऋषियों के तुल्य अन्य कोई अधिकारी नहीं समझा गया ॥

प्रश्न (८) स्वर्ग और नरक की निस्बत क्या ठीक राय है ? ॥

उत्तर—स्वर्ग और नरक के विषय में वेद के सिद्धान्तानुसार जो कुछ हमारी समझ में अब तक आया है वैसी ही ठीक सम्मति यहां संक्षेप से लिखेंगे—जैसे प्रत्येक विषय में वैदिक शब्दों के वाच्यार्थ किसी देश वा काल में बंधे नहीं हैं किन्तु सामान्य देश काल से यथा योग्य एक सा सम्बन्ध रखने वाले हैं। जैसे सब देश कालस्थ सब प्राणियों का उत्तमाङ्ग शिर ब्राह्मण और शिर से होने वाले अच्छे काम ब्राह्मणपन के प्रकाशक हैं। उन सब में उत्तम मध्यम निकृष्ट भेद होने से ब्राह्मणपन के अनेक अवान्तर भेद होंगे पर वे सभी ब्राह्मण सम्बन्धी

कार्यों में प्रधान क्षत्रियादि की अपेक्षा ब्राह्मण ही कहावें गे । इस प्रकार जैसे सामान्य कर ब्राह्मणपन सर्वत्र व्याप्त है वैसे ही वेद के सिद्धान्तानुसार स्वर्ग नरक भी सब देशों सब स्थानों सब कालों और सब वस्तुओं से सामान्य कर सम्बन्ध रखते हैं । जैसे प्रधानांश को लेकर सर्वत्र व्यवहार होता अर्थात् जहां पृथिवी है वहां सर्वत्र ही जल भी व्याप्त है पर रूखे सूखे काष्ठादि पार्थिव पदार्थों में पृथिवी प्रधान है इस से उन को जल नहीं कहते और नदी कूप आदि में जहां जल प्रधान है और पृथिवी गौण है वहां जल का ही व्यवहार होता है वैसे ही स्वर्ग नरक सर्वत्र होने पर भी जहां जिस की प्रधानता है वह २ स्वर्ग वा नरक कहाता है । विशेष कर स्वर् शब्द वेद में आता है और वह आदित्य तथा द्यौ का नाम है । यह वही स्वर् शब्द है जो " भूर्भुवः स्वः " इन तीनों व्याहृतियों में है । व्याहृतियों के भी अध्यात्मादि विषय में अनेक अर्थ हैं । अध्यात्म विषय में प्राण का नाम भूर् अपान का नाम भुवर् और व्यान का नाम स्वर् है "व्यानः सर्वशरीरगः" सब शरीर में रहने वाले प्राण का नाम स्वर् है वैसे स्वर् वा स्वर्ग भी सब ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । आधिदैविक विषय में अग्नि का नाम भूर् वायु का नाम भुवर् और आदित्य का नाम स्वर् है । आदित्य एक कारणाग्नि का नाम है जिस से दिन रात्रि आदि काल विभाग होते हैं वह आदित्यरूप तत्त्व सामान्य कर सर्वत्र व्याप्त है उस का भी नाम वेद में स्वर् वा स्वर्ग है इस से स्वर्ग सर्वत्र ही सामान्यता से है और विशेष कर आदित्य का स्थान द्यु लोक है उस का नाम स्वर्ग है आधिभौतिक विषय में पृथिवी का नाम भूर् अन्तरिक्ष का नाम भुवर् और द्यौः का नाम स्वर् है। वास्तव में शुद्ध निर्मल सत्त्वगुणी कारण प्रकाश का नाम स्वर् वा स्वर्ग है उस में चित्त वा मन को ग्लानि वा तमोगुण नहीं घेरता । और तमोगुण की प्रधानता विशेष अन्धकार का नाम नरक है । जैसे प्रधानता से आदित्य वा द्युलोक का नाम स्वर् है । वैसे पृथिवी के भी अनेक स्थलों में जहां शुद्ध सत्त्वगुणी प्रकाश और सुख के साधनों की अधिकता है वे २ स्थान विशेष उन से निकृष्ट स्थानों की अपेक्षा स्वर्ग हो सकते हैं तात्पर्य यह हुआ कि आदित्य तथा द्यौ का स्वर नाम होने पर भी पृथिवी में स्वर्ग होने का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि कोई नियम नहीं है कि अन्यत्र ही स्वर्ग हो और पृथिवी पर न हो अब इस विषय पर विशेष लिखने पर भी यही सिद्धान्त होगा इस लिये व्याख्यान बढ़ाना आवश्यक नहीं । यहां तक तालग्राम वाले सब प्रश्नों के उत्तर समाप्त होगये इति ॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य—

हमारे पाठक सब महाशयों को विदित हो कि इस नाम का एक लेख लिखने की जो काङ्क्षा प्रकट हुई उस का कारण यह है कि जब से आर्यसमाज की नींव पड़ी वा जन्म हुआ तभी से क्रमशः बालक के समान दिन २ इस की वृद्धि होती आई और अब भी होती जाती है। इस वर्त्तमान काल में सब से अधिक भूमण्डल के सुधार के लिये आर्यसमाज ने ही बीड़ा उठाया है इस कारण भविष्यत् में भी इस समाज से जगत् के सुधार की कुछ आशा हो सकती है। इसी लिये हम ने इस समाज का भावीकर्त्तव्य लिखना आरम्भ किया किन्तु अन्य सर्वसाधारण के लिये यह लेख निषिद्ध नहीं है। भावी कर्त्तव्य लिखने का प्रयोजन यह है कि भूतकाल का कर्त्तव्य होना था सो हो चुका वर्त्तमान क्षण में जो हो रहा है वह आगामी भविष्यत् क्षण में त्याज्य हो सकता है इस कारण मनुष्य के सुधार के लिये जो कुछ उपाय हो वह सब भविष्यत् से सम्बन्ध रखता है।

यद्यपि आर्य और समाज दोनों ही शब्द अति प्राचीन वा अनादि हैं इन का सम्बन्ध भी नया नहीं क्योंकि अच्छे सज्जन पुरुष पहिले भी मिल कर अनेक अच्छे २ काम किया करते थे तब २ उस २ श्रेष्ठ लोगों के समुदाय को कोई आर्यसमाज कहते वा कह सकते थे यह सम्भव है। तथापि अब आर्यसमाज का वाच्यार्थ कृत्रिम वा रूढ समझा जाता है किन्तु यौगिक नहीं इस रूढि आर्यसमाज का जन्म वा आविर्भाव श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वती जी ने किया वे इस समाज के प्रधान आचार्य वा उपदेशक गुरु हुए। इस प्रसङ्ग में सब से पहिले हमें यह लिख कर प्रकट करना अच्छा प्रतीत होता है कि इस समाज के मूल आचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने किस विचार वा किस अभिप्राय से आर्यसमाज का आरम्भ किया था वह अभिप्राय कैसा था अब आर्यसमाज उस का पालन कहां तक करता है। जो कल्याण का मार्ग तपस्वी महात्मा ने बतलाया था क्या उसी मार्ग पर ठीक २ आर्यसमाज चला जाता है वा इस में कुछ हिल चल हुई है इत्यादि विचार प्रथम करना है।

इस में किञ्चित् भी सन्देह नहीं हमारा मन वा आत्मा निर्विकल्प स्वीकार करता है कि स्वामी जी महाराज का विचार वा अभिप्राय निष्पक्ष शुद्ध निस्स्वार्थ जगत् के कल्याणार्थ ही था उन्हों ने आर्यसमाज का आरम्भ मनुष्यों को ऐहिक

तथा पारमार्थिक सुख मिलने के लिये ही किया था । आर्यसिद्धान्त वैदिकसिद्धान्त वेदोक्तधर्म ये सब एक ही आशय के शब्द हैं. स्वामी जी वैदिकधर्मरूप सूर्य के प्रकाश से ही अधर्मान्धकार की निवृत्ति तथा सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होना समझते थे सो उन का विचार बहुत शुद्ध था । धर्म से ही संसार की स्थिति है धर्म ही सब प्रकार की उन्नति का प्रधान कारण है । वेदोक्त कर्म ही वास्तव में संसार का ठीक धारक होने से धर्म पदवाच्य है । यदि अन्य पुस्तक मन्वादि में कहा भी धर्म है तो वह वेद को मूल मान कर कहा जाने से धर्म है । वेद से विरुद्ध को कोई धर्म माने तो वह धर्माभास होगा यह हमारा पूर्ण निश्चय है । स्वामी जी का यह अभिप्राय नहीं था कि हम वेद को टट्टी बनावें और उस की आड़ में रह कर राजनैतिकादि विषय का उपदेश करें जो लोग ऐसा मानते वा समझते हैं अवश्य उन पर ईशाइयों की छाया पड़ी मालूम होती है क्योंकि ईशाई लोग अपने निर्मूल मत को टट्टीमात्र मान कर प्रचार करते हैं और राजनैतिक विचारों से वास्तविक अपने देश तथा जाति की उन्नति मानते हैं सो उन लोगों का मानना किसी अंश में ठीक वा सत्य इस लिये है कि वास्तव में उन का धर्म वा मत निर्मूल है । स्वामी जी महाराज वास्तव में वेद को निर्भ्रान्त सत्य ईश्वर की अनादि विद्या मानते थे उसी से संसार का कल्याण हो सकता है ।

वे लोग बड़ी भारी भूल में हैं जो वेदोक्तधर्म वा वेद विद्या के प्रचार को सब प्रकार की उन्नति और सब सुखों का कारण नहीं मानते । हमारी समझ में वे लोग ग्रीष्म काल की छाया को छोड़ ग्रीष्मऋतु के अनन्त घाम की ओर भागे जाते हैं । यद्यपि आर्यसमाज वैदिकमार्ग की ओर ही कुछ २ झुका और उसी को अपनी उन्नति का कारण मानता यथाशक्ति वेदोक्तधर्म की उन्नति के लिये कुछ २ उपाय भी करता है जिस को कुछ न करने वालों की अपेक्षा बहुत किया वा करता है यह कह सकते हैं परन्तु जब हमारा ध्यान इस नियम की ओर जाता है कि " वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" जिस उत्साह से हम पर भार डालने के लिये महात्मा ने यह नियम बनाया था उसी प्रकार के वा उस से भी अधिक उत्साह के साथ मनु जी ने अनेक वाक्य अपने धर्मशास्त्र में कहे हैं यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ।
वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥

मनु में इत्यादि बहुत वचन हैं। सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है अर्थात् मनु जी ने अखिल शब्द से यह जताया है कि जैसे तिल वा सरसों के प्रत्येक अंश में तैल भरा होता है वैसे वेद के प्रत्येक वाक्य मन्त्र पद वा अक्षर २ में धर्म भरा है। अन्य ऐसा कोई पुस्तक नहीं जिस में धर्म व्याप्त हो। विचारशील ब्राह्मणादि द्विज परम तप करना चाहें तो नित्य नियम से श्रद्धा के साथ वेद का अभ्यास करे वेदाभ्यास से बड़ा अन्य कोई तप नहीं है। सर्वथा हिंसा अर्थात् किसी प्राणी के साथ द्रोह बुद्धि को छोड़ योगशास्त्र में कहे यम नियमों सहित नित्य नियम से वेद का अभ्यास अधिक काल तक करने से पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है। अन्य धर्मसम्बन्धी कर्म श्रेयस्कर कल्याणकारी हैं। और साक्षात् वेदोक्त कर्म अत्यन्त कल्याणकारी है। तथा—

श्रेष्ठतमाय कर्मणे आप्यायध्वम् । यजु०

कर्म के चार भेद किये जायेंगे १—प्रशस्य, २—श्रेष्ठ, ३—श्रेष्ठतर, ४—श्रेष्ठतम इन में वेदोक्त कर्म श्रेष्ठतम है उस के लिये मनुष्यों को उत्साह बढ़ाना चाहिये वेदोक्त कर्म में अन्यशास्त्रोक्त वा लौकिक सब अच्छे काम अन्तर्गत हो जाते हैं जैसे चार संख्या के अन्तर्गत तीन दो एक सब रहती हैं वैसे वेदोक्त सर्वोत्तम धर्म में छोटे २ सब धर्म अन्तर्गत हैं। तथा—

बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ १ ॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥२॥

मनुस्मृति के भिन्न २ स्थलों में ऐसे अनेक श्लोक हैं कि वेदरूप सनातन शास्त्र सब प्राणियों का धारण कर रहा है। वेद से ही संसार की स्थिति है जैसे अन्

जलादि के विना किसी का जीवन वा प्राणिमात्र की स्थिति नहीं रह सकती वैसे वेदोक्त सामान्य वा विशेष नियम जो सृष्टि के आरम्भ से ही जगत् में अनेकरूप से प्रचरित हो गये हैं उन्हीं से संसार चल रहा है और जितना ही वेदोक्त विषयों का कम प्रचार है उतनी ही अवनति वा पाप दोष दुःख बढ़ रहे हैं। इस से मनुष्य के परम कल्याण का साधन वेद ही है इस से मैं (मनु वा भृगु) इस वेदको परमोत्तम मानता हूं। सेनापति होना दण्ड (सजा) नियत करना राजा वा चक्रवर्त्ती राजा होना यह सब वेद शास्त्रज्ञ होना चाहिये वा यों कहो कि सेनापति आदि के काम को वेदज्ञ जैसा कर सकता है वैसा अन्य नहीं कर सकता। हम आशा करते हैं कि इन पूर्वोक्त मनु के वचनों पर हमारे पाठक ध्यान देंगे तो स्पष्ट ही जान लेंगे कि वेद का कितना बड़ा गौरव मनु जी के मन में था क्या हम आधुनिक आर्य वा आर्यसमाजस्थ लोगों के हृदय में स्वा० दया० जी तथा मनु जी की अपेक्षा वेद का सहस्रांश भी गौरव है?। वेद का गौरव वास्तव में हमारे भीतर नहीं है यदि कुछ है भी तो इतना कम है कि जिस का होना न होने के समान है।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति ॥

जो जिस के बड़े २ उत्तम गुणों को नहीं जानता वह उस को कुछ बड़ा नहीं मानता वा उस में दोषारोपण करता है। हम लोग सहस्रों वर्ष से वेद की ओर से विमुख होते आये। वेद नित्य २ हम से दूर छूटता गया वेद को पीठ दिये हम बहुत दूर चलते २ पहुंच गये। जैसे कोई प्यासा मनुष्य जलाशय कूपादि को पीठ पीछे छोड़ आगे २ जल पीने के लिये भागता जावे वैसी दशा हमारी होगई थी। ऐसे अवसर में एक महात्मा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को बोध हुआ कि ये आर्यसन्तान सब के सब मार्ग भूल गये सब दुःख के मार्ग को सुख का मार्ग समझ कर भागे जाते हैं इन को सुख मिलना दुर्लभ है चलो इन को मार्ग बतलावें। उन महात्माने वेद को कल्याण का मार्ग बतलाया वेद की ओर हमारा मुख फेरा और कहा कि इधर को चलो। पर हम ऐसे मन्दभाग्य निकले कि आज तक भी कटिबद्ध हो कर वेद की ओर न चले। जैसे कोई समुदाय सर्वथा सो रहा हो और उन सब के सुख साधन धनादि का नाश हो रहा हो उन को प्रबल उपाय से कोई जगावे तो भी वे न जागें वा कुछ २ जागें भी तो बैठे २ ऊंघते रहें यही दशा आज हमारी है। हम नित्य नियम से वेद का पढ़ना

पढ़ाना सुनना सुनाना यदि अपना अल्प धर्म भी मानते तो कहीं २ वेद का प-ठन पाठन नियमानुसार अवश्य दीख पड़ता। आर्यसमाज के आरम्भ को १९। २० वर्ष हो गये इस भारतवर्ष में कई सौ आर्यसमाज हो गये और होते जाते हैं पर साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने पढ़ाने के लिये आज तक कहीं एक भी पाठशाला नहीं दीखती। यदि हम विद्या की उन्नति के लिये कुछ उत्साह दिखाते चन्दा इकट्ठा करते हैं तो उस से अंगरेजी की उन्नति करते हैं सो ठीक यही है कि उस भाषा के गुणों को हम कुछ जानते हैं इसी कारण उधर को चलने में उत्साह होता है अंगरेजी के लिये जो हम बड़े २ उपायों से फल सिद्ध करते हैं। उस से सहस्रों गुणा वर्त्तमान गवर्नमेण्ट राज्य के साधारण प्रबन्धों द्वारा हो रहा है। तथापि यदि हमें अंगरेजी के प्रचार की आवश्यकता है तो कुछ वेद प्रचार की आवश्यकता भी होनी चाहिये। हम अंगरेजी भाषा के विरोधी नहीं हैं हमारी सम्मति में भी सामयिक राजविद्या राजभाषा से लोगों को अभिज्ञ होना चाहिये। परन्तु यह काम आर्यसमाज के कर्त्तव्य में परिगणित नहीं होना चाहिये हमारे किसी नियम वा उद्देश्यों में नहीं लिखा कि "सामयिक राजभाषा वा अंग्रेजी विद्या का पढ़ना पढ़ाना भी आर्यों का परमधर्म है वा अल्प धर्म है" राजविद्या का जानना यह प्रत्येक हितकारी काम है किन्तु सर्वोपकारी सामाजिक काम नहीं है। हमारी समझ में प्रायः सभी मनुष्य अर्थ नाम धनसंचय वा कामभोग में आसक्त हैं। और उस की विशेष सिद्धि राजकीय विद्या से सम्बन्ध रखती है और मनुजी ने लिखा है कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

धनलाभ और कामभोग में जो लोग आसक्त लिप्त नहीं उन के लिये धर्म जानने का उपदेश है जो लोग धन वा काम को ही सर्वोपरि इष्ट समझते हैं वे धर्म का मर्म नहीं जान सकते। धर्म का मर्म जानना वेद के पठन पाठन को सर्वोपरि इष्ट समझना ये दोनों एक ही बातें हैं। प्रत्यक्ष देखलो कि जो लोग विलायत में वैरिष्टरी आदि पास करने जाते हैं उन का उद्देश विशेष धनसंचय का ही होता है। अन्य देशी वकीलों की अपेक्षा उन की फीस अधिक होती है। अपनी जाति वा कुटम्ब के आचार विचारों से उन को घृणा हो जाती है सब बातें विलायती अच्छी लगती हैं सामाजिक उपकार की उन से कुछ आशा

शेष नहीं रहती । इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि द्वीपान्तरगमन बुरा है वा वैरिष्टरी आदि उच्चाधिकार प्राप्त करना अच्छा नहीं । यदि धर्म को न भूलो तो यह सभी अच्छा है करना भी चाहिये । धर्म को मत छोड़ो । हमें बड़ा दुःख यह है कि उच्च कक्षाओं तक सौ मनुष्य अंगरेजी पढ़ के तयार होते हैं उन में एक भी वेदपारग नहीं होता जो वैदिक धर्म की जड़तक पहुंचता इस से अनुमान होता है कि शतांश भी वेद का गौरव नहीं है तब हम अपने दुःख को कैसे शान्त करें । अरे भाई! थोड़ा तो इधर को ध्यान दो यदि आप लोगों को कुछ भी विश्वास है कि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का वाक्य है तो क्या उस से अधिक गौरव के योग्य अन्य कोई वाक्य हो सकते हैं । अब ही सही कुछ तो इधर को चलो जैसे ही बहुत काल से वेद को पीठ देकर तुम दूर चले गये हो वैसे ही अब वेद की ओर मुख करके चलोगे तो बहुत काल में पहुंचोगे । ज्यों २ वेद की ओर चलते जाओगे त्यों २ वेद के शुद्ध निर्मल अतिपवित्र गुणों का गन्ध लगता जायगा जिस से आगे २ रुचि बढ़ती जायगी । तात्पर्य यह है कि अब तक भूल में रहे तो रहे अब एक केवल बड़ी वैदिक पाठशाला सब आर्यसमाजों की ओर से होनी चाहिये जिस में अन्य सहकारी ग्रन्थों के सहित वेद पढ़ाये जाया करें जिन में बहुत से मनुष्य पढ़ाये जायगे तो कोई न कोई वेद का सूर्य भी निकल सकता है जो सब भारतवर्ष के अज्ञानान्धकार को ध्वस्त कर के प्रकाश फैलावे भविष्यत् में आर्यसमाज यदि अपने मूल को चिरस्थायी करना चाहता है तो उस के लिये परम कर्त्तव्य यही है कि वेद के पठन पाठन का प्रारम्भ करे । वेद के पठनपाठन से हमारा प्रयोजन यह है कि जब तक पाणिनीय व्याकरण नहीं बना था तब तक जैसा चारो वेद पढ़ने के लिये ४८ अड़तालीश वर्ष [प्रत्येक वेद के पढ़ने को १२ । १२ वर्ष] समय लगाने की आवश्यकता थी वैसे समय की आवश्यकता व्याकरण बनने पश्चात् अब नहीं रही । अब यदि कोई मनुष्य व्याकरणादि वेद के अङ्गों में चार पांच वर्ष परिश्रम कर के बोध करले तो प्रत्येक वेद को एक २ वर्ष भी पढ़ लेना थोड़ा नहीं है इन चार वर्षों में भी वेद के विषयों का इतना ज्ञान हो सकता है कि वह कुछ भी बुद्धि रखता होगा तो बाकी वेद की भी व्यवस्था लगा सकता है । और एक वर्ष मीमांसाशास्त्र में श्रम कर लेवे तो १० वा ११ वर्षों में परिश्रम करलेने से वेद का ऐसा विद्वान् हो सकता है जैसा सम्प्रति कोई भी वेदज्ञ मिलना दुस्तर है । वास्तव

में संस्कृत पढ़ने का मार्ग ऐसा ही बिगड़ा है जैसा अंगरेजी फारसी पढ़े हुए लोग प्रायः समझते हैं कि संस्कृत के पढ़ने वाले कोई भी लोग आज कल सभ्य वा बुद्धि पूर्वक कार्य चलाने वाले नहीं होते किन्तु पढ़ के भी एक प्रकार के असभ्य वा मूर्ख ही रहते हैं संस्कृत बहुत कुछ लिखते बोलते हैं यदि प्रचरित नागरी भाषा में कोई विषय कहलाना चाहो वा लिखाना चाहो तो वे लोग युक्तियुक्त सभ्यतापूर्वक कदापि न कह सकते न लिख सकते हैं विद्या ग्रन्थ पढ़ कर विद्वान् होना चाहिये पर वे एक प्रकार के मूर्ख ही बने रहते हैं जैसे बुद्धि पूर्वक कार्य करने से मनुष्य में मनुष्यपन आता पशुपन दूर होता है वैसी दशा संस्कृत पढ़ने वालों की अब नहीं दीखती। बनारस आदि के संस्कृत पढ़े पण्डितों की आज कल यही दशा है। ऐसी दशा में जो मूर्ख वा निर्बुद्धि बनना वा रहना चाहे वह संस्कृत पढ़े ऐसे विचारों से प्रायः लोगों ने संस्कृत वेदादि शास्त्र पढ़ना व्यर्थ मान रक्खा है।

इस का समाधान हम यह देते हैं कि वास्तव में यह दोष संस्कृत पढ़ने की परिपाटी बिगड़ जाने का है जैसे सब काल में शरीर वस्त्रादि का संशोधन होते रहना आवश्यक है बहुत काल तक स्नान न किया जाय तो शरीर अतिमलिन हो जाता है वैसे ही पठन पाठनादि का संशोधन भी समय२ पर होना आवश्यक है। बहुत काल से धीरे २ पठन पाठन का मार्ग बिगड़ता आया अब इस के सुधार का उपाय किया जाय तो धीरे २ कुछ काल में सुधरना सम्भव है। तथा संस्कृत की शिक्षाप्रणाली के बिगड़ने का प्रधान हेतु नित्य २ नये २ अनेक पुस्तकों का बनते जाना और उन्हीं का पठन पाठन दिन २ विशेष प्रचरित होते जाने से मूल वेद तथा वेदानुयायी आर्ष पुस्तकों के पठन पाठन की चाल छूटती गयी। जैसे गङ्गा नामक नदी हिमालय से निकली है उस का जल जैसा शुद्ध वा नीरोग निर्जन पर्वतीय प्रदेश में है वैसा शुद्ध आगे २ जनपदों में नहीं रहा जैसे २ ग्राम नगरादि के समीप हो कर गङ्गा पूर्व को बहती गयी वैसा २ उन ग्रामादि के मनुष्यादि प्राणियों का मल मूत्रादि वा मुर्दा शरीरादि उस में पड़ते आगे २ जल बिगड़ता गया। तथा अन्य नदियों का जल उस में मिलता गया उस के साथ अन्यों के दोष भी उस में मिलते २ समुद्र में मिलने से पूर्व गङ्गा का जल इतना विकृत हो गया कि जिस को गङ्गा जल कहने मानने में भी संकोच होना अनुचित नहीं है इसी से आर्य लोग अब गङ्गा को पूर्ववत् प्रशं-

नहीं मानते। सो प्रायः यह सामान्य नियम ही है कि जो प्रवाह अधिक दूर देश तक अधिक काल तक भिन्न २ प्रकार के अनेक मनुष्यादि के सम्बन्ध से बुराई भलाई अपने साथ लेता हुआ चलता है वह वैसा कदापि नहीं रह सकता कि जब जहां से चला था तब जैसा शुद्ध था वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से वेदविद्यारूप प्रवाह चला वह आगे २ ज्यों २ बढ़ता आया त्यों २ उस में काम क्रोध लोभादि ग्रस्त मनुष्यों के कुसंस्कार अनेक व्याख्यानों द्वारा मिलते गये। जैसे नदी के प्रवाह का स्थान पृथिवी है वैसे वेदविद्या के प्रवाह के चलने का स्थान मनुष्यों का हृदय है। जैसे नदी के प्रवाह का संशोधन किया जाय अधिक मलिनता डालने से रुकावट हो तो देश काल भेद से कुछ बिगड़ने पर भी ऐसा अधिक नहीं बिगड़ सकता जो अधिकांश बिगड़े में गिना जाय वैसे ही वेदविद्या के प्रवाह का संशोधन होता गया होता तो आज इतना नहीं बिगड़ जाता कि वेदादि शास्त्र पढ़ना ही जिस से व्यर्थ माने जाते। पहिले जब तक वेद का ही आश्रय लेकर ब्रह्मर्षि आदि लोगों ने कुछ २ ब्राह्मणादि पुस्तक बनाये तब तक इतना दोष वेद को नहीं लगा था जिस से वेद के महत्त्व में बाधा होती पीछे जब से मनुष्यकृत ग्रन्थों का आश्रय छे२ कर लोगों ने ग्रन्थों पर ग्रन्थ बनाना आरम्भ किया तब से वेद दूर छूटता गया मनुष्यकृत ग्रन्थों में मनुष्यों के कुसंस्कार मिलते २ अत्यन्त बिगड़ गये। वेदमतानुयायियों का राज्य न रहना राजाओं का वेदज्ञ न होना इस का प्रधान कारण है। अनधिकारियों को अधिकार मिल गया जिन को ग्रन्थ बनाने की योग्यता कुछ भी नहीं थी वेभी मनमुखी कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाने लगे। अब से सौ दो सौ वर्ष पहिले जैसे मनुष्यों को कुछ संकोच भी था सो भी ब्रिटिश राज्य में धर्मविषयक अधिक स्वतन्त्रता मिलने से मिट गया अब कोई नहीं पूछता कौन किस काम के योग्य है। अविद्वानों ने सैकड़ों सहस्रों पुस्तक मन माने बनाडाले वा बनाते जाते हैं। गुण कर्मों के विना वर्णाश्रम व्यवस्था तथा पुस्तक बना छपा देने आदि की भरमार लूट हो रही है अनेक मूर्ख लोग वैद्य बन बैठे तथा बनते जाते हैं उन में प्रत्येक अपने को धन्वन्तरि का दादा ही ठहराने को तयार है। मूर्ख लोग धन वा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये प्रायः पुस्तक बनाते वा उस २ विषय का विद्वान् होने का दावा करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अनधिकारी अयोग्यों के बनाये सहस्रों पुस्तक वेद के शुद्ध विषयों में भ्रान्ति कराने वा उन को कलङ्कित करने वाले हो गये उन्हीं नवीन

पुस्तकों में से न्याय व्याकरण कोष काव्यादि के अनेक पुस्तक पठन पाठन के लिये नियत किये गये वेद पढ़ने का नाम भी छूट गया कहीं २ मूर्खों में पाठमात्र पढ़ने का प्रचार भी रहा वह कुछ अधिक कार्यसाधक इस से भी नहीं हुआ कि उन का पाठमात्र पढ़ना धर्मार्थ निष्कारण नहीं था किन्तु जीविकादि स्वार्थ साधन के लिये पढ़ते आये । तथा जिन लोगों ने कुछ अर्थ पर भी ध्यान दिया वा वेद पर भाष्य किया उन को भी सामयिक बिगड़ी दशा के ग्रन्थों से जैसा बोध वा संस्कार हुआ वैसे भाष्य किये वैसा ही वेद को माना । चाहे यों कहो कि बहुत काल से संस्कृत के पण्डितों में स्वतन्त्रता न रही । नवीन ग्रन्थों का आश्रय छोड़ ईश्वरीय विद्या वेद का यथार्थ गौरव जानने वा प्रचार करने के लिये सर्वथा उद्योग ही छोड़ दिया गया इस से वेद का गूढाशय न रहने के तुल्य लुप्त होगया । सूर्य के अस्त होते ही जैसे अन्धेरा सब ओर से घेर आता है वैसे वेदरूप सूर्य के आच्छादित होने से वेदोक्त शुद्ध धर्म पर अन्धकार छा गया । ऐसे अवसर में स्वामी दयानन्दसरस्वती जी हुए उन को अपने पूर्वजन्मों के शुद्ध संस्कारों से बोध हुआ वे जागे तो वेद की ओर से सब को सोते देख कर जगाना आरम्भ किया इस पर कोई २ लोग सर्वथा सोते हुओं की अपेक्षा कुछ २ जागे पर ऐसे अभी तक नहीं जागे कि जिस को जागना कहा वा माना जावे । आर्यसमाज में जो लोग सम्मिलित हुए उन सबने वेद के शुद्ध पतित पावन सिद्धान्तों का यथार्थ प्रचार वा प्रकाश करने का भार अपने ऊपर लिया । जो कोई जिस काम का भार लेता है वह उस को न करे तो अयोग्य (नालायक) माना जाता है । इस लिये आर्यसमाजस्थ भारवाह् पुरुषों को अब सचेत होना चाहिये भूल प्रमाद में पड़े रहने का अब समय नहीं है । अत्यन्त पावन वेदसिद्धान्त का मर्म जब तक आप लोग स्वयं न जानेंगे तब तक वेद में ठीक प्रीति न होगी इसी से आप लोग उस के प्रचार वा प्रकाश करने में भी असमर्थ रहोगे ।

यदि आप में से अनेकों वा किन्हीं २ महाशय का यह निश्चय हो कि वेद का जितना सिद्धान्त हम को जानना था उतना स्वामी जी महाराज सत्यार्थप्रकाश, भूमिका वा वेदभाष्यादि पुस्तकों तथा उपदेशों द्वारा हम को समझा गये अब वेद पढ़ के हमें कुछ अधिक जानना आवश्यक नहीं रहा वा स्वा० जी वेद का सारांश खोल गये तो इस पर हमारा परामर्श यह है कि किसी एक ग्रं

को लेकर आप का यह मन्तव्य ठीक है और मैं भी उस अंश में ठीक मानता वा कहता हूं। जैसे किसी अत्यन्त भुक्खड़ मनुष्य को कभी नियत समय पेट भर भूख भर भोजन नहीं मिलता प्रत्येक समय भोजन की चिन्ता में भूखा २ पुकारता है उस को यदि नियत समय सामान्य प्रकार का भूख भर भोजन मिलने लगे और वह मानले कि मुझे तो सब कुछ मिल गया अब मुझे कुछ अधिक मिलने की आवश्यकता नहीं तो उस दशा की अपेक्षा उस का मानना यह ठीक है कि मुझे सब कुछ मिल गया जब अन्न मिलने का कुछ भी ठिकाना नहीं था तब से सब मिल जाना भी ठीक है पर यदि अत्युत्तम भोजन तथा धनादि ऐश्वर्य जो बड़े २ श्रीमानों को प्राप्त होते हैं उन की अपेक्षा उस को कुछ भी प्राप्त नहीं मुझे सब कुछ मिल गया यह उस का कहना मानना भी व्यर्थ सा है। जैसे अत्यन्त मूर्खों में किन्हीं दो चार मनुष्यों को विद्या सम्बन्धी किसी विषय का लेशमात्र बोध हो जाय तो वे अपने को सर्वोपरि विद्वान् मानने लगें वा कृतकृत्य हो जावें परन्तु विद्या सम्बन्धी अनेक अनन्त गूढ़ाशयों की अपेक्षा वे मूर्ख ही हैं वैसे थोड़े से काल में यथासम्भव स्वामी जी महाराज ने वैदिकसिद्धान्त का बहुत कुछ प्रकाश किया जिस को पहिले की अपेक्षा वेद सूर्य का उदय होगया ऐसा कहें वा मानें तो मिथ्या नहीं परन्तु अनन्त शक्तिमान् परमात्मा की विद्या वेद के अथाह गूढ़ाशयों की ओर ध्यान दिया जाय तो स्वामी जी महाराज का लेख वा उपदेश समुद्र में एक बिन्दु के समान भी नहीं ठहरता। इस लेख वा कथन से स्वामी जी के महत्त्व की कुछ हानि नहीं है किन्तु परमात्मा की सर्वज्ञता वा सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा वा स्थिति है। स्वामी जी की प्रशंसा वा उन का महत्त्व हमारी अपेक्षा है हम अपनी अल्पज्ञता के सामने स्वामी जी वा अन्य मनु आदि महर्षियों को सर्वदर्शी सर्वज्ञ कहें मानें तो कुछ अत्युक्ति नहीं है। वैसे परमेश्वर की अपेक्षा कैसा ही उन को अल्पशक्ति कहें वह सब ठीक है। इस प्रसंग में यह भी वक्तव्य है कि इस आर्यावर्त्त में जब से अविद्या का अधिक वास हुआ तभी से गुरु परम्परा भी बिगड़ी, जिस प्रकार से गुरु परम्परा माननी चाहिये वैसी नहीं चली। अनेक मूर्खमण्डली ने तो गुरु को ही ईश्वर मान लिया। तब गुरु से भिन्न किसी को ईश्वर मानना भूल गये यही अवतार मानने का कारण हुआ। गुरु की प्रशंसा इतनी अधिक की गयी कि अनेक ग्रन्थ गुरुगीतादि बन गये। इसी अति के कारण कुछ मनुष्य समझदार हुए उन्हों ने उतने

धन्यवाद ॥

पं० केदारनाथ जी मैनपुरी १२) एक वर्ष के प्रति मास १) के हिसाब से । मन्त्री आर्यसमाज सीखड ॥।=) लाला मथुरादास जी मवाना २) गौड़ ब्राह्मणार्थ । बा० धरणीधरदास जी बरेली १) आर्यसमाज बरेली २) श्री प्यारेमोहन जी खत्री झांसी १) श्री दत्तात्रेय शर्मा असिस्टेन्ट स्टेशनमास्टर लालगी अनेकों से चन्दा संग्रहकर भेजा १०।=) सुकुल सरयूप्रसाद जी मिर्जापुर वाले वि० भोजनार्थ १) पाठशाला के रुपयों का सूद ३॥=) सितंबर ९५ से १५ फरवरी ९६ तक । बा० बलदेवप्रसाद जी इंजिनियर मास फरवरी का २) रेलगाड़ी में कालीमिर्च पड़ी मिली उन को बेंच कर जमा किये ।-) हरदयालु महाजन तीतरों ॥) राजाराम वर्मा ग्वालियर उपनयनसंस्कार में १) धनीराम ठेकेदार इटावा १) श्री लक्ष्मी-नारायण जी जेलदरोगा रायबरेली ५) दुर्गाप्रसाद जी सनौता पुत्र के विवाहोत्सव में २) चौ० पद्मसिंह जी इटावा मार्च अप्रेल के २) डाक्टर प्रभुलाल जी अप्रेल के चन्दे में १) तुलसीराम स्वामी मार्च का चन्दा ।-) यह सब धन ५०) मार्च नौम्बर ९५ से मार्च ९६ तक ५ महिने का आय है और इन पांच महिनों में ८१ ।=)॥ सब व्यय हुआ । अब हमारे सहायक लोग ध्यान देंगे तो निश्चय होगा कि संस्कृतविद्या की उन्नति में लोगों की कैसी रुचि है । तथापि हम अपने स-हायकों को धन्यवाद देते हैं कि जो इस पाठशाला की सहायता का कुछ तो ध्यान वा स्मरण रखते हैं । और परमेश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि वह जगत् के कल्याण और वेदादि शास्त्रों का प्रकाश होने के लिये लोगों को रुचि करावे कि जिस से अन्य लोग भी इधर को दृष्टि करें ॥

सूचना ॥

१—"यमयमीसूक्त" नया पुस्तक छपा है वेद का गूढ़ाशय जहां तक बुद्धि चली अच्छे प्रकार खोला गया । इस सूक्त का भाष्य भावी वेद भाष्य का उदाहरण (नमूना) होगा जो पाठक महाशय इस सूक्त के भाष्य को ध्यान देकर विचार पूर्वक पढ़ेंगे उन के मन में वेद का गौरव अवश्य हो जायगा । हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस सूक्त के द्वारा हमारे प्रतिपक्षियों को वेद पर आक्षेप करने का जैसा अवसर मिला था वैसा अन्य द्वारा नहीं मिला सो आक्षेप रसातल को गया इस पुस्तक का नाम "यमयमीसूक्त" ही है मूल्य प्रति पुस्तक =) है । "आयुर्वेदशब्दार्णव" कोष इस में संस्कृत से नागरी भाषा वा उर्दू में अकारादि क्रम से शब्दों का अर्थ लिखा है । इस का मूल्य पहिले १) था अब सर्वसाधारण की सुगमता के लिये घटा कर ॥=) कर दिया है ।

२-हम अपने पाठकों को यह भी जताना चाहते हैं कि आर्यसिद्धान्त वा मानवधर्मशास्त्र के निकलने में जो ढील हुआ करती है इस से आप ह्रास न करें किन्तु आर्यसिद्धान्त आगे २ वेद के गूढ़ सिद्धान्तों का पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होगा ऐसी आशा है इस बात को सुन समझ कर आप लोगों को उत्साह होना चाहिये आशा है कि विघ्न सदा नहीं रहैंगे। आगे शीघ्र निकलने की भी सम्भावना है क्योंकि सम्पादक का उत्साह कम नहीं हुआ किन्तु वृद्धि पर है॥ आप का भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त-इटावा

पुस्तकों की सूची

यमयमीसूक्तम् =) प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य्यधर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है॥ आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है॥ ईश उपनि० भाषा व संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ॥।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ॥।) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥) इन ७ उपनिषद् पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्यसिद्धान्त ६ भाग ७२ अङ्क का ३॥।) प्रति भाग ॥।) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ तथा द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद (जीवब्रह्म पर) -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्मनतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡) कुमारीभूषण (स्त्रियों का पढ़ाना) -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पु० चौथीवार छपा)॥। द्वितीय तीसरी वार छपा-)। तृतीय फिर से छपा =)॥। भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ सत्यार्थप्रकाश २) वेदभाष्यभूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त१) इत्यादि आर्यधर्मसम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूची मँगाकर देखिये॥

पता-भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस-इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ११ । १२

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ
१२ जुलाई सन् १८९६ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

१ मार्च से ३० जून ९६ तक

७९ श्री लक्ष्मण दुला जी किरांची १॥)
१३८ श्री महेशप्रसाद जी कुराड़ा १।)
१४० रणधीरसिंह जी स्यालकोट १।)
१६ पं० गणेशदत्त जी डिबाई १)
२३ श्री मूलचन्द्र जी अलीगढ़ २)
६५ मुकुन्दीलाल जी काजिमाबाद १।)
६७ अमरावसिंह जी लुधियाना १।)
०४५ गंगाप्रसाद शर्मा गोहाटी १।)
४९ पं० लक्ष्मीनारायण जी भिंड ॥)
८३ टीकाराम जी कासगंज २॥)
१४४ कुंजविहारीजांजगिरबिलासपुर १।)
९ खूबचन्द जी बुधौलिया कौड़िया १।)
१८ यमुनादास जी बलसार १॥।≡)
७९ जगन्नाथप्रसाद जी हौस कोटा १।)
०९ कुंजविहारीसिंह जी अमरावती ॥।)
९९ गणपतिराव जी निम्बाहेड़ा २॥)
१४३ सो० वा० तलपदे मुम्बई १।)
१४२ सरदार विशनसिंह भागूवाला १।)
९ पं० रमादत्त जी त्रिपाठी नैनीताल १।)
८७ डा० मक्खनलाल जी साडौन १।)
१४५ प० शङ्करदत्त जी शर्मा भैंसा १।)
१४६ बा० गुलाबसिंह जी जबलपुर १।)
७७ बा० शिवशरणलाल जी पाटन १।)

गोकुलचन्द्र सुनार बुलन्दशहर १।)
११४७ मुंशीराम जी मुकेरियां १।)
९०० स्वा० रामपुरी नदौली १।)
१४ श्री रामचन्द्र जी गंछा २॥)
६५७ प० गोवर्धनलाल शर्मा जयपुर १।)
१०५४ पं० मिश्रीलाल शर्मा जी आवर १)
११४९ बा० हरिजीराम फीरोजपुर १।)
३०५ ला० द्वारिकाप्रसाद जी दिल्ली २)
५७ बिहारीलाल बुकसेलर बुलन्दशहर २॥)
११५० श्री शङ्करलाल जी जबलपुर ॥)=
११५३ पं० रामगोपाल जी सिलहट १।)
१०५५ बा० बनवारीलाल जी इटावा १।)
११४८ प० चिरंजीलाल शिकोहाबाद १।)
११५१ डा० अयोध्याप्रसाद जयपुर १।)
७५६ बा० गंगाप्रसाद जी कसूर २॥)
१६९ बा० रामभरोसेलाल गाज़ीपुर २≡)
३८८ पं० तिलोकचन्द्र शर्मा सोरहा ३॥)
७९ श्री रामचरण दीक्षित घाटमपुर २॥)
१४० सेठ सुन्दरदास धर्मसी मुम्बई २॥)
११५२ बा० विष्णु राजाराम गर्वादे १।)
२९८ बा० बलदेवप्रसाद जी राजापुर २॥)
११५५ बा० गोकुलचन्द्र जी कलकत्ता १।)
११५४ श्री महराज शम्भूसिंह जी
सुठालिया १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११।१२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ९।१० के पृ० १७६ से आगे त्रयीविद्या—

नहीं कहाती न संहिता का कोई काम होता है किन्तु उस का नाम विग्रह माना जाता है । इस कारण सामश्रमी जी ने पदपाठ और क्रमपाठ को जो संहिता माना यह ठीक नहीं । हम यह मानलें कि अन्य लोगों ने माना वैसा ही इन्हों ने मान लिया तो भी ये अन्धपरम्परा दोष से मुक्त नहीं हो सकते ।

अब तृतीय विचार यह है कि वेद की शाखाओं का भेद क्यों हुआ ? इस विषय पर हम पहिले अङ्कों में कुछ लिख चुके हैं । हमारे पाठकों को स्मरण होगा । वेद की अनेक शाखा होने का कारण देश काल भेदादि से उच्चारण वा पाठादि का भेद मानलें यह सम्भव है हमे कोई द्वेष नहीं कि सामश्रमी जी के सब अंशों का हम खण्डन ही करें परन्तु हमारी समझ में यह नहीं आता कि शाखा नाम क्यों पड़ा और शाखा शब्द यौगिक है वा रूढि अन्वर्थ है वा अनर्थक इस का आन्दोलन पूर्वक यदि सामश्रमी जी निर्णय कर देते तो कदाचित् कोई सन्देह शेष न रहता । यदि पाठ भेदादि के कारण ही शाखाओं का होना ठहर जावे तब हमारे सिद्धान्त में कुछ बाधा नहीं इसी से हमारा आग्रह कुछ नहीं है । परन्तु शाखा शब्द मूल वेद में भी किसी मूल से निकले मूल को प्रकाशित करने वाले भेदों का नाम है । दश शाखा शब्द से वेद में दश अङ्गुलियां ली गयी हैं । जैसे शरीर का मूल शिर मदरा पिण्डी उस में दो हाथ दो

गोड़े मिल के चार स्कन्ध गुट्टे वा काण्ड हैं और हाथ पगों के नुक्कडों पर दश अ-ङ्गुलीरूप शाखा हैं वैसे एक वेदमूल है उस के ऋगादि नामक तीन विषय काण्ड वा गुट्टे हैं उन काण्डों में निकलने वाली शाखा होनी चाहिये जैसे आम्र वा निम्ब की पहिचान जैसी शीघ्र वा सहज में शाखाओं द्वारा होती है वैसी मूल से नहीं होती इस कारण शाखा मूल की व्याख्या वा प्रकाशक माननी चाहिये। और पुस्तकों के सम्बन्ध में व्याख्यान वा भाष्य टीका से भिन्न कोई शाखा मूल की प्रकाशक नहीं हो सकतीं केवल व्याख्यान वा भाष्यरूप ग्रन्थ ही शाखा हो सकते हैं। और ब्राह्मण वा निरुक्तादि ग्रन्थों का नाम शाखा नहीं पड़ा यह लौकिक व्यवहार है इसी से वेद के सम्बन्ध में शाखा पद योगरूढ मानने पड़ेगा पर वेद में आने वाले शाखा शब्द का केवल यौगिकार्थ यही होगा कि जो मूल से सम्बन्ध रखने के साथ मूल की प्रकाशक हों वे शाखा उस २ मूल पदार्थ की होंगी। यह सामान्यार्थ वृक्ष, शरीर तथा वेदादि सब के साथ घट जायगा। तथा व्याख्यान वा भाष्य अनेक प्रकार के होते हैं किन्हीं २ पदों को बदल कर उन के पर्यायवाचक पद रख देना वैसे ही छन्द भी बने रहैं य[illegible] भी एक प्रकार का व्याख्यान है। कहीं २ पद्य बद्ध ही किसी मूल का व्याख्यान होता है। हमारा अनुमान है कि पहिले जब तक जगत् में वेदों से भिन्न कोई पुस्तक नहीं बने थे तब तक वेदपाठी ऋषि लोगों का सिद्धान्त भी यही था कि बड़े २ व्याख्यान ग्रन्थ न बनावें जहां तक सम्भव था उस समय कठिन समझे जाने वाले पदों का संक्षेप से अर्थ कर दिया शेष पद वेद मन्त्रों के वैसे ही रक्खे जिन वेद पुस्तकों में ऐसा किया गया वे पीछे वेद की शाखा कहायीं और मूल वेद पृथक् बने रहे। सो यह संक्षेप से ग्रन्थ बनाने की चाल पाणिनीयव्याकरण बनने के समय तक भी चली आयी। इस का मुख्य प्रयोजन यही था कि बहुत बड़े २ व्याख्यान ग्रन्थों के देखने पढ़ने में मनुष्य का बहुत समय नष्ट न हो बहुत जगज्जाल में बुद्धि भ्रान्त हो जाती है सारांश शीघ्र समझ लेना सर्वसाधारण का काम नहीं है। जैसे किसी को शारीरिक बल सम्बन्धी बहुत काम करने पड़ें तो उस का बल सब कामों में बंट जाता किसी एक काम को ठीक २ अच्छा नहीं कर सकता इसी प्रकार जब अनेक वाद विवाद के ग्रन्थों में बुद्धि फैल गयी तो अवश्य ज्ञातव्य वेद के पढ़ने [illegible] नहीं हो सकती। अथवा अन्य ग्रन्थों से अव-काश न मिलने वा उन में फस जाने से वेद को कुछ भी पढ़ वा जान नहीं सकता

जैसी कि आज कल काशी आदि के पण्डितों की दशा शोचनीय हो गयी है कि जो सिद्धान्तकौमुदी शेखर मनोरमादि व्याकरण और मुक्तावली गदाधरी जागदीशी व्युत्पत्तिवादादि आधुनिक न्याय इत्यादि वाद ग्रन्थो में ही जन्म भर शिरपच्ची किया करते उसी से अपने को बड़ा पण्डित मान अहङ्कार की मूर्त्ति बन बैठते हैं और वैदिकसिद्धान्त के ज्ञान से सर्वथा ही शून्य होते हैं। ऐसी दशा होने से वेद का गूढ़ाशय जो ब्राह्मणादि आर्य जाति की उन्नति का मूल कारण था धीरे२ लुप्त होता गया जिस से आर्य लोग महाअधोगति को प्राप्त हो गये। इसी लिये पूर्वज महर्षि लोग वेद पर अति संक्षिप्त पुस्तक बनाते थे जिस से वेद पढ़ने का ब्राह्मणादि को ठीक समय मिलता था उन्हीं संक्षिप्त वेद के व्याख्यानों का नाम शाखा हुआ यह प्रतीत होता है।

और " षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यम्० " इन मनु आदि के वचनों में वेद शब्द से सब शाखाओं का ग्रहण करना कुछ आवश्यक नहीं मूल के जानने में शाखा वा व्याख्यान साथ ही जान लिये जाते हैं वा मूल के ठीक समझ लेने पर व्याख्यान स्वयं बना सकते हैं। जैसे अब व्याकरणादि के प्रत्येक ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़े विना ही उन २ विषयों के प्रधान ग्रन्थ पढ़कर प्रक्रिया का ठीक बोध हो जाने से उस विषय का पूरा पण्डित माना जाता है। महाभाष्य नवाह्निक मात्र ठीक पढ़ समझ लेने से पूरा भाष्यान्त वैयाकरण हो जाता वा माना जाता है वैसे ही वेद की शैली वा प्रक्रिया का सिद्धान्त सहित ठीक बोध हो जाने से सब वेद पढ़ा माना जायगा। प्रत्येक वेद की सब शाखा गुरुमुख से पढ़नी आवश्यक ही नहीं तो मनु के विचार में कोई दोष भी नहीं आसकता।

नयाविचार

हम अपने आर्यसिद्धान्त के पाठक वा ग्राहक महाशयों को सूचित करते हैं कि सामश्रमी के वेद विषयक लेख का अनुवाद अब से हम इस लिये बन्द करते हैं कि वह अभी बहुत शेष है बहुत काल लगना सम्भव है ग्राहक महाशय भी घबराते होंगे। और त्रयीविद्या विषय में जो २ विषय लिखना हम आवश्यक समझते हैं जिस से वेद का सूक्ष्म गूढ़ाशय वा परमेश्वर की सर्वज्ञता प्रतीत होगी उस का समय दूर पड़ता जाता है। इस लिये उन का संस्कृत तथा भाषानुवाद छोड़ करके उन के विरुद्ध लेख पर अपनी सम्मतिमात्र लिख कर समाप्त करेंगे। जिस से व्यर्थ समय जाता प्रतीत न हो॥

आगे सामश्रमी जी ने द्वीपान्तरीय लोगों के इस " कोई वेद पहिले बना कोई पीछे तथा ऋग्वेद में कोई मण्डल पहिले कोई बहुत काल पीछे बनाया गया है " विचार का प्रतिवाद करते हुए बहुत कुछ लिखा है सिद्धान्त सब का यह है कि वेद मन्त्र पहिले सम्बद्ध (सिलसिलेवार) ऋगादि संहिता रूप नहीं थे किन्तु जहां तहां फैले हुए थे उन का किसी एक समय ऋगादि नाम वा रूप से संग्रह किया गया किन्तु भिन्न २ काल में ऋगादि संहिता नहीं बनायी गयीं ।

इस पर हमारी सम्मति यह है कि यद्यपि सामश्रमी का वेद विषय में यह सिद्धान्त नहीं कि वेद अनादि सर्वज्ञ परमात्मा की नित्य विद्या है वेद का आदि कोई नहीं वाक्यावली के पौर्वापर्य क्रम का ही नाम वेद है वह अपौरुषेय है तथापि बनारस आदि के बड़े२ नामधारी पण्डितों को जिन बातों का स्वप्न में भी ध्यान नहीं ऐसे अनेक वेद सम्बन्धी गूढ़ विषयों पर सामश्रमी ने अच्छा वा अधिक आन्दोलन किया है इस लिये हम उन को हृदय से धन्यवाद देते हैं । ऋगादि वेद जिस रूप में अब विद्यमान हैं वैसे ही क्रम सहित अनादि नित्य अपौरुषेय हैं केवल उन का कल्पारम्भ में प्रादुर्भाव और प्रलय काल में तिरोभाव मात्र होता है । उन वेदों की गणना पूर्वापरीभाव विषय क्रमानुसार है । ऋच् आदि शब्द भी विषय बोधक हैं जैसे कर्म, उपासना, ज्ञान वेद के तीन काण्ड या तीन सीढ़ी हैं इस लिये उन की प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ गणना क्रमानुसार हुई है किन्तु आगे पीछे बनने के कारण नहीं इस अंश पर हम पहिले लिख भी चुके हैं उस का सारांश यही था कि ऋच् नाम स्तुति वा कर्मकाण्डरूप पहिली कक्षा है कि जिस में पदार्थों के गुणों का श्रवण कर वा वाणी द्वारा अभ्यास करके जानना जैसे गुरु मुख से पढ़ना यह प्रथम कोटि वा पहिला कर्त्तव्य है । द्वितीय जो कुछ श्रवण द्वारा सुनकर वा अभ्यास करके जाना है उसी को करके देखना लिखे अनुसार अनुभव कर २ निश्चय करना (आजमाइश) द्वितीय कोटि उपासनारूप यजुर्वेद है । तृतीय सामनाम शान्ति सन्तोष ज्ञान वा आनन्द का है यही वेदत्रयी है । इसी से प्रथम द्वितीयादि गणना है ।

आगे " ब्राह्मण " शब्द का हेडिंग देकर सामश्रमी ने बहुत कुछ लिखा है जिस का सारांश यह है कि—" कर्मचोदना वा विधायक वाक्य ब्राह्मण हैं "

हमारी समझ में सामश्रमी का यह विचार ठीक नहीं क्योंकि कर्मचोदनारूप
विधि वाक्य जब मन्त्रों में भी स्पष्ट ही विद्यमान हैं तो इस लक्षण में अति
व्याप्ति दोष अनिवार्य है। विधिवाक्य मूल वेद मन्त्रों में विद्यमान हैं इस के
उदाहरण भी हम आर्यसिद्धान्त भा० ७ अङ्क ९।१० पृष्ठ १६२ में दे चुके हैं इस लिये-

"ब्रह्मणो वेदस्य मन्त्रसंहितात्मकस्येमानि व्याख्यानानि
ब्राह्मणानीति शैषिकोऽण् प्रत्ययः"

ब्रह्म नाम मन्त्रसंहितारूप वेद के व्याख्यान ब्राह्मण हैं यही शाब्दिक अर्थ
ठीक है। रहा आपस्तम्बादि का लक्षण सो वह इस शब्दार्थ का अवयवरूप
माना जाय तो कोई दोष नहीं न अतिव्याप्ति दोष ही आ सकता है। ऐसा ही
सामश्रमी जी भी मान लें तो अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं और ऐसा
न मान कर अधिक विवाद लिखने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

आगे सामश्रमी जी ने जो गोपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है (इमे स
वेदा निर्मिताः सकल्पाः० " इत्यादि) सो यहां वेद शब्द जब स्पष्ट ही पढ़ा है
तो उस से केवल ब्राह्मणों वा मन्त्र ब्राह्मण दोनों का ग्रहण करना बड़ी भारी
भूल है। क्योंकि पीछे सामश्रमी जी स्वयमेव सिद्ध कर चुके हैं कि ब्राह्मण पु
स्तक बनने के समय तक वेद शब्द के अर्थ में ब्राह्मण पुस्तक नहीं लिये जा
थे किन्तु सूत्र ग्रन्थ जो ब्राह्मणों के पश्चात् बने हैं तब से ब्राह्मण ग्रन्थों को वे
कहने मानने की चाल चल गयी सो यह ठीक है तब ब्राह्मणग्रन्थों के लेख
ही ब्राह्मणों को अब वेद क्यों मानने लगे ? यदि नहीं मानने लगे तो गोप
का प्रमाण लिखना सर्वथा व्यर्थ है। गोपथ में जो कल्पादि के सहित वेद बन
का व्याख्यान किया सो ठीक है। वहां कल्प और ब्राह्मणादि शब्द किसी पुस्त
के वाचक नहीं हैं किन्तु विषय वाचक हैं क्योंकि उन २ कल्पादि नामक ग्र
बनने से पूर्व भी कल्पादि शब्द विद्यमान थे जैसे अब भी किसी बालकादि क
नाम वा पुस्तक का नाम रखते हैं तो वे शब्द पहिले से ही विद्यमान रहते
वैसे वे कल्पादि शब्द भी विद्यमान थे और उन कल्पादि का वाच्यार्थ विषय मू
वेद मन्त्र संहिताओं में सृष्टि के आरम्भ से वा पूर्वकल्पों से ही चला आता
इसी से साङ्ग वेद नित्य है यह मानना वा कहना सत्य ठहरता है। व्याकरण अ
ष्टाध्यायी बनने से पूर्व भी ... ही मूलरूप

विद्यमान था । इसी विचार के अनुसार व्याकरणादि वेदमूलक ठहरते हैं । महाभाष्यकारने वेद के कई मन्त्र पस्पशाह्निक में उदाहरण के लिये लिखे हैं जिन में व्याकरण विषय स्पष्ट ही है । इसी प्रकार कल्पादि भी जानो सो कल्पादि विषयों के सहित सगारम्भ में वेद बने वा प्रकट किये यह गोपथ ब्राह्मण का प्रयोजन है । ब्राह्मण नाम वेद का व्याख्यान भी वेद में है कोई मन्त्र वा प्रकरण मूल हैं कोई उस के व्याख्यान हैं । केवल भेद इतना ही है कि जैसे ब्राह्मण निरुक्तादि वेद के भाष्य होने पर भी वेद के अन्य भाष्य की आवश्यकता है वा जैसे अष्टाध्यायी व्याकरण पर महाभाष्यरूप व्याख्यान होने पर भी काशिकादि की आवश्यकता अल्पबुद्धि वा अल्पाभ्यासियों के लिये है वैसे वेद में ही वेद का व्याख्यान होने पर भी ब्राह्मणादि ग्रन्थरूप व्याख्यानों की आवश्यकता जानो । तात्पर्य यह कि गोपथ का प्रमाण ग्रन्थ के लक्षण विषय में लिखना सामश्रमी की सरासर प्रत्यक्ष भूल है ।

आगे सामश्रमी ने निरुक्तादि को अर्थवाद कहा और मन्त्र, ब्राह्मण, अर्थवाद, इन को वेदत्रय वा त्रयीविद्या कहा माना सो भूल है । यदि कोई उक्त महाशय से पूछे कि जब तक निरुक्तादि पुस्तक नहीं बने थे तब तक अर्थवाद पदवाच्य कौन पुस्तक थे वा अर्थवाद शब्द ही न था । जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों को बीच से लोगों ने वेद मान लिया वैसे निरुक्तादि को अब तक भी कोई वेद नहीं मानता तो वेदत्रय में निरुक्तादि का परिगणन प्रामादिक अवश्य है । मन्त्र नाम निज वेद का है । अर्थवाद वा ब्राह्मण विषय यद्यपि वेद में हैं तथापि वेद नहीं । जैसे किसी घर में अनेक वस्तु हैं पर उन एक २ वा सब वस्तुओं का नाम घर नहीं वैसे यहां भी स्तुति प्रार्थनादि वेद प्रतिपाद्य विषय वेद वा उस के भाग नहीं कहे वा माने जा सकते । और निरुक्तादि का अर्थवाद नाम कहीं प्रसिद्ध भी नहीं है । जैसे वेद ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों में अर्थवाद है वैसे निरुक्तादि सभी ग्रन्थों में स्तुति निन्दादि रूप अर्थवाद है । भाष्य वा व्याख्यान पुस्तक मूल के भाग नहीं हुआ करते न उन का कोई स्वतन्त्र विषय होता है किन्तु मूल के पीछे चलने वाले होते हैं इस लिये ब्राह्मणादि को वेद का भाग कहना वा मानना भी भूल है किन्तु मण्डलादि को वा ऋगादि को वेद का भाग कहना वा मानना अवश्य बन सकता है ।

इस से आगे आरण्य तथा उपनिषद् शब्दों पर सामश्रमी जी ने प्रतिपक्षि
के प्रतिवाद में लिखा है उस पर हमें कुछ वक्तव्य नहीं है । आरण्यक ग्रन्थों
यद्यपि ब्राह्मण लक्षण कहीं २ वा बहुधा मिल सके तथापि वे ब्राह्मणों से भि
शाखान्तर्गत पुस्तक हैं यह प्रतीत होता है और आरण्यक उन का विशेष नाम है
उपनिषद् ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र नहीं था किन्तु गीतादि के समान ब्राह्मण वा शाखा
के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी भागों का नाम उपनिषद् रक्खा गया था । पीछे तत्तु
ग्रन्थ भी स्वतन्त्र लोगों ने बना लिये । अब सामश्रमी जी के विचारणीय विषय
में एक अन्तिम बड़ा उपयोगी विषय यह है कि वेद कब उत्पन्न हुए इस
समय का निर्णय हो सकता है वा नहीं ? इस में सिद्धान्त यह किया है कि
वेदोत्पत्ति का समय निर्णीत नहीं हो सकता । हमारी समझ में यह प्रस्ताव ठी
इस लिये नहीं कि वेद के निर्माता का पहिले निर्णय करना आवश्यक था । य
वेद ईश्वरीय रचना का एक अंश है तब तो जैसे पृथिवी जल वायु आदि प
दार्थों का काल निर्णय आज तक किसी ऐतिहासिक वा फिलासफर ने नह
किया न कोई कभी कर सकता है कि अमुक संवत् में पृथिवी बनी । वैसे ह
वेद का भी काल निर्णय नहीं हो सकता और करना व्यर्थ भी है । सृष्टि
स्थिति प्रवाह चलते हुए भिन्न २ मनुष्यों द्वारा जो २ काम होते वा पुस्तक ब
नते जाते हैं उन २ का आगे २ कालनिर्णय हुआ करता है । आगे लि
अनुसार सामश्रमी का जब ऐसा विश्वास है कि वेद मनुष्य कृत है तो काल
निर्णय हो सकता है । ऐसी दशा में कालनिर्णय न कर सकना निर्बलता है
पर वेद के ईश्वरीय मानने पर एक ऐसा कालनिर्णीत हो सकता है जैसा
ईश्वर के सृष्ट पदार्थों के लिये होना उचित है अर्थात् अमुक वर्ष मास पक्ष ति
वार के इतने बजे अमुक काम हुआ ऐसा समय का निर्णय ईश्वर रचित पदा
विषय में हम नहीं कर सकते परन्तु यह कह सकते हैं कि ब्राह्मदिन की
वर्षसंख्या है उस में से सर्गारम्भ का सन्ध्यांश समय घटा कर सौ पचाश व
के भीतर ही वेद को ईश्वर ने प्रकट किया । इस से वेद किस युग वा मन्वन्त
में बने यह शङ्का नहीं हो सकती तो एक प्रकार कालनिर्णय हो भी गया "स
धर्म ग्रन्थों के विषय में कोई न कोई अलौकिक कहावत प्रसिद्ध है" इस ले
से सामश्रमी का अभिप्राय यह है कि बाइबल कुरान आदि को इस अंश
तुल्यता है । सो यह बड़ी भूल है क्योंकि बाइबल वा कुरान के मानने वाले

जब अपने २ धर्मपुस्तक को अनादि नित्य नहीं मानते किन्तु ईसामसीह और महुम्मद साहब के समय से मानते हैं उन का समय प्रसिद्ध ही परिगणित है तब हमारे सामश्रमी जी न जाने क्यों बाइबल कुरान के साथ में वेद को घसीटने का श्रम करते हैं ? । वेद अपौरुषेय है किसी पुरुष का बनाया नहीं यह मीमांसा का और वेद ईश्वरकृत है यह वेदान्त का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि अपौरुषेय कहने का आशय यह है कि किसी पुरुष ने वा ईश्वर ने अन्य ग्रन्थों के तुल्य पदवाक्य जोड़ कर कभी वेद को नहीं बनाया । तथा ईश्वरकृत मानने का प्रयोजन यह है कि सर्गारम्भ में परमेश्वर ने प्रकट किया ।

तथाचास्मत्पूर्वपुरुषैः ऋषिभिरेव कृत एष वेदमन्त्रभागोऽपीति सुस्थिरम् ।०००० ततः पुरा तु बहुकालमभिव्याप्य बहुभिर्ऋषिभिर्बहुभिरेवोच्चावचैरभिप्रायैः प्रणीता बहवो वेदमन्त्राः । तदेवं बहुयुगपूर्वमेवारब्धा वेदमन्त्ररचनाः । तत्कथङ्कारमद्यतनैः वक्तव्यो निर्णेतुं तत्कालः ।

भा० पूर्वोक्त प्रकार हमारे पूर्वज ऋषि लोगोंने ही मन्त्र भागरूप वेद भी बनाया यह दृढ निश्चय है । जगत् के सब ग्रन्थ बनने से पहिले अब से अनेक युग पूर्व अनेक ऋषियों ने अनेक ऊंचे नीचे अभिप्रायों के साथ बहुत से वेद-मन्त्र पहिले बनाये । सो इस प्रकार अब से अनेक युग पूर्व मन्त्र रचना का आरम्भ किया गया । सो अब के मनुष्य उस के बनने के समय का निर्णय कैसे कर सकते हैं । यह सामश्रमी का सिद्धान्त है । इस से पूर्व प्राचीन लोगों का सिद्धान्त दिखाते समय सामश्रमी जी लिखते हैं कि "आम्नानकृतयोर्विभिन्नार्थत्वात्" ऋषियों ने वेद का आम्नान अभ्यास पठन पाठन प्रचार किया किन्तु वेद ऋषिकृत—ऋषिप्रणीत अर्थात् ऋषियों का बनाया नहीं । इस लेख का सामश्रमी जी ने कुछ समाधान किये विना ही उस से विरुद्ध दूसरा सिद्धान्त ठहरा दिया । तथा द्वीपान्तर निवासी प्रतिपक्षियों के उत्तर में बहुत वाद विवाद कर के सामश्रमी जी ने सिद्धान्त किया है कि सब वेद एक ही काल में बने अब यहां प्रतीत कराते हैं कि भिन्न २ ऋषियों ने भिन्न २ कालों में वेद मन्त्र बनाये । पाठक लोग विचारें कि यह कैसा पूर्वापर विरोध है । इस से तो यही ठीक है कि वेद विषय

में अंगरेज़ लोगों का सिद्धान्त मान लेते। तथापि हम अपने सामश्रमी जी को अच्छा इस लिये समझते हैं कि उन्हों ने अपने भीतर का सत्य अभिप्राय प्रकट कर दिया। प्रायः आधुनिक पण्डितों [जिन को कुछ लेशमात्र बुद्धि हुई जिस के कारण वे अपने को बड़ा पण्डित समझते हैं] का ऐसा ही विश्वास है परन्तु प्रकट नहीं करते यह और भी बुरा है। अस्तु अब हमारा विचार यह है कि वेद अनादि अपौरुषेय है कभी किसी ने नहीं बनाया और यदि वेद को किसी का निर्मित भी माना जाय तो वह ईश्वरकृत ही मानना पड़ेगा। रहा यह कि ईश्वर ने निराकार रह कर कैसे बनाया तो उत्तर यही है कि जैसे जगत् को, यह जगत् कार्यरूप है सब कार्य वस्तु सकर्तृक होते हैं। वास्तव में परमेश्वर में यही परमेश्वरता है कि वह " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता " अपने स्वाभाविक शक्ति वा नियमों से विना साकार साधनों के भी ठीक २ अपना काम कर सकता है इसी से वह सर्वशक्तिमान् है। वेदों के मनुष्यकृत ऋषिप्रणीत होने की जो शङ्का हुई वा अब होती है उस का मूल कारण यही है कि वेद ऋषियों के द्वारा प्रकट हुए। जैसे मनुस्मृति वा ब्रह्मस्मृति पुस्तक जो अब विद्यमान है जिस के अध्यायों की समाप्ति में भृगुप्रोक्ता विशेषण दिया है उस को शोचा जाय तो प्रतीत होता है कि पहिले कभी मनु जी ने वाणी द्वारा वेदाशय का लोगों को उपदेश किया हो वा सूत्रादि द्वारा कुछ वाक्यावली बनायी हो उसी आशय को लेकर भृगु ने यह पुस्तक बनाया पर मनुस्मृति ही नाम बना रहा भृगुस्मृति नहीं रक्खा गया। ऐसे ही परमेश्वर की प्रेरणा वा स्वाभाविक इच्छा से ऋषियों के हृदय में वेद भी भासित हुआ उन्हों ने प्रकाशित किया पठन पाठन द्वारा वेद का प्रचार किया साकार से होने योग्य काम साकार से ही होते हैं। वाणी द्वारा वेद का प्रकाशित होना साकार साध्य है सो मनुष्यों द्वारा परमेश्वर ने कराया। जिन ऋषि महर्षि लोगों ने वेद को अनादि नित्य अपौरुषेय माना वा ईश्वरकृत माना था और अपने मीमांसादि ग्रन्थों में लिख गये उन्हों ने वेद के सिद्धान्त का मर्म वास्तव में जान लिया था वेदरूप अगाध समुद्र में उन लोगों की बुद्धि प्रविष्ट हुई यह निश्चय होता है। अब जिन लोगों को वेद के ईश्वरीय होने में सन्देह होता वा बना रहता है उन की बुद्धि वेद के गूढाशयों तक नहीं पहुंचती और वेद का तत्त्व न समझ पाने का एक बड़ा कारण यह है कि वेद विषय में पीछे २ अनेक ग्रन्थ बन गये उन में देश कालानुसार लोगों ने अपने २ अनुभव प्रकाशित किये। अनेक पुस्तक ऐसे लोगों ने भी बना डाले जिनका वेद में ठीक प्रवेश नहीं हुआ था। ऐसे पुस्तक ऋषियों के नाम से भी बने हैं। इन पुस्तकों द्वारा ही अब कोई २ लोग वेद की ओर झुकते हैं उन को वेदका मर्म ठीक कभी ज्ञात नहीं होता न हो सकता है इस लिये जो लोग वेद

के तत्त्व को जानना चाहें उन को केवल व्याकरणादि छः अङ्गों का सहारा लेकर सीधा मूल वेद का अभ्यास बहुत काल तक करना चाहिये । जैसे हम कार्य जगत् की दशा दूर तक शोच कर निश्चय करते हैं कि इस का स्रष्टा सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है वैसे ही जब हम को वेद का महत्त्व प्रतीत हो तो जान सकते हैं कि ऐसा पुस्तक कोई मनुष्य नहीं बना सकता यह सर्वज्ञ का काम है। जगत् में सब अनर्थों का मूल अविद्या को मानना सर्वथा सत्य ही है । इसी अविद्या से वेद विषय में अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान प्रचलित हो गया ।

वसिष्ठादि नाम जो वेद में आते हैं इस विषय में बड़ा अज्ञान चल गया। वास्तव में जब वेद का ईश्वरीय होना अनेक युक्ति प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुका तो वसिष्ठादि ऋषियों की उत्पत्ति से पूर्व ही वसिष्ठादि नाम वेद में विद्यमान थे यह ठीक है । जैसे प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति से पहिले उस २ का नाम अब के तुल्य सदा ही पहिले विद्यमान रहता है जब केवल वेद ही शब्दों का भण्डार था तब जो २ मनुष्यादि उत्पन्न हुए उन २ के नाम वेद से लेकर रक्खे गये । इस प्रकार वसिष्ठादि नाम वेद से लेकर उन २ ऋषि सन्तानों के रक्खे गये किन्तु वसिष्ठादि ऋषियों का नाम वेद में उन के होने पश्चात् नहीं लिखा गया । वेद में वसिष्ठ नाम अग्नि का है । वर्णों में अग्नि ब्राह्मण वर्ण है इस कारण वशिष्ठ नाम मनुष्यों में सामान्य ब्राह्मण का हो सकता है जिस में ब्राह्मणपन की अति प्रबलता हो वह वशिष्ठ है इस वेद के अर्थांश को लेकर ऋषि का नाम वशिष्ठ हुआ । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, मनो वै विश्वामित्रऋषिः" चक्षु का नाम जमदग्नि और मन का नाम विश्वामित्र ऋषि है । इत्यादि प्रकार सिद्ध है कि किसी व्यक्ति विशेष का नाम वेद में नहीं और इसी कारण उन नामों से वेद की नवीनता सिद्ध नहीं हो सकती । जैसे कोई मनुष्य अपने पुत्र का नाम " विपश्चित् " वा "कवि" रख लेवे और वह बड़ा प्रतापशाली हो तो कालान्तर में वेद में विपश्चित् शब्द को देख कर कोई कहे कि अमुक विपश्चित् नामी पुरुष का चरित्र वेद में है और उस पुरुष ने वेद में मेधावी वाचक समझ के जो अपने सन्तान का नाम रक्खा हो उस का विचार सर्वथा छोड़ देवे तो जैसे यहां विपश्चित् वा कवि नाम से वेद में कोई दोष नहीं आता वैसे वशिष्ठादि नामों के विषय में भी जानो । अब सामश्रमी जी के सम्बन्ध में यहां तक लेख समाप्त हुआ आगे त्रयीविद्या पर अपना विचार लिखेंगे ॥

[आ० सि० भाग ६ अङ्क ९।१० के पृ० १५२ से आगे मांसभोजन ३ खण्ड का उत्तर]

चलाना नहीं होता वहां अन्त्य में पूरी तुक लिख देते हैं । इस नवम काण्ड के अगले चतुर्थ सूक्त में भी यही बात है । मूल अथर्व के पुस्तक को जो लोग लौट पौट कर देखेंगे उन को यह नियम ठीक मालूम हो जायगा । छठे काण्ड के इक्कीशवें प्रपाठक के इस तृतीय सूक्त में केवल नव मन्त्र हैं उन सब का यथार्थ पाठ हम यहां पाठकों के अवलोकनार्थ लिख देते हैं जिस से अनुवृत्ति का नियम ज्ञात होगा ।

इष्टं च वा एष पूर्त्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३१॥ पयश्च वा एष रसं च० ॥ ३२ ॥ ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥३३॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ३४॥ कीर्त्तिं च वा एष यशश्च ॥३५॥ श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३६॥ एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् ॥३७॥ अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम् ॥३८॥ एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ३९ ॥

अब पाठक लोग ध्यान देकर शोचें कि सूक्त के प्रथम ३१ मन्त्रस्थ (गृहाणा० ति) वाक्य की अनुवृत्ति ३६ वें मन्त्र तक लाई गई इसी लिये छत्तीशवें मन्त्र

में फिर से पूरा वाक्य लिखा गया। और इन छः मन्त्रों में नियम वा उचित से विरुद्ध अतिथि से पहिले भोजन करने वाले का निन्दारूप अर्थवाद दिखाया है। और " अतिथि से पहिले भोजन न करना चाहिये वा अतिथि को खिला कर खाना चाहिये" यह विधि वाक्य है। और वेद शास्त्र का यथावत् पढ़ने जानने वाला शुभाचरणसम्पन्न अतिथि हो सकता है उस से पहिले भोजन गृहस्थ न करे यह सैंतीसवें मन्त्र से दिखाया इस से सिद्ध हुआ कि अतिथि वेषधारी मूर्ख से पहिले भोजन करने में दोष नहीं। अड़तीशवें मन्त्र से यह दिखाया कि अतिथियज्ञ की अनुकूलता और उस में विच्छेद वा विघ्न होने के लिये अतिथि के भोजन कर लेने पर गृहस्थ पुरुष भोजन करे यही व्रत वा नियम है। यदि गृहस्थ पुरुष स्वयं भोजन कर के विद्वान् अतिथि को भोजन कराया चाहे तो अश्रद्धा देख वा अपना अपमान समझ के न करे यह सम्भव है इस दशा में अतिथियज्ञ का विच्छेद होगा। अब रहा उनतालीशवां मन्त्र उस में गृहस्थ तथा अतिथि के भक्ष्याभक्ष्य का नियम किया है वा यों कहो कि भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य के निषेधार्थ यह मन्त्र है जिस का अ..रार्थ स्पष्ट लिखते हैं।

अ०--(यदधिगवम्) गवि सम्भवमधिगवमिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (क्षीरं वा) क्षीरमिवान्यदपि मधुरप्रायं हिंसादिदोषशून्यं च वस्तु भक्ष्यमात्रम् (एतद्वाउस्वादीयः) एतदेव स्वादिष्ठं शास्त्रानुकूल्येन भोक्तुमिष्टमतोऽतिथिरश्नीयात् गृहस्थश्चाशयेदिति (मांसं वा) मांसमिव हिंसाद्यधर्मसम्पाद्यमभक्ष्यं वस्तु (तदेव,नाश्नीयात्) अतिथिर्न भुञ्जीत गृहस्थश्च नाशयेदिति।

भा०--अत्र मन्त्रे वाक्यद्वयं बोध्यम्। उत्तरवाक्ये निषेधपाठात्पूर्ववाक्ये प्रतिप्रसवत्वेन विधिक्रियाया अध्याहारः। विकल्पानवक्लृप्त्युपमानद्वन्द्वसमुच्चयेषु वाशब्दइति गणरत्नमहोदधिः। क्षीरमिति भक्ष्यमात्रस्योपलक्षकं मांसं चाभक्ष्यमात्रस्य तेन भक्ष्यविधिरभक्ष्यप्रतिषेधश्चोभयमनेन प्रतिपाद्यते। ये चात्र सप्तत्रिंशन्मन्त्रात्पूर्वो नाश्नीयादित्यनुवर्त्तयन्ति ते तावदिदं प्रष्टव्याः किंच

भोः ! अष्टत्रिंशत्तमं मन्त्रमुल्लङ्घ्य कथमप्रासङ्गिकमनुवर्त्तनम् ? पूर्वस्मादेव नाश्नीयादित्यस्यानुवर्त्तनं मन्त्रकारस्याभीष्टं चेत् किमर्थं नाश्नीयादित्यस्य पुनः पाठः ? तथा च दधिदुग्धनवनीतघृतमांसानि भवत्परिगणितानि मधुपर्कीयवस्तून्यतिथेः पूर्वं नाश्नीयादिति भवदभिमतं तदा गोधूमशष्कुल्यपूपादीनि त्वतिथेः पूर्वमपि किमश्नीयात् ? न चेयमर्थापत्तिराचार्य्याचार्य्येणापि वारयितुं शक्या । अप्रासङ्गिकपदानुवर्त्तनमपि वेदस्यानर्थस्तस्येदं दूषणं फलम्बोध्यम् । नचास्मदर्थे किमपि दूषणमस्ति तस्मादाचार्यकृतोऽर्थो रक्तमांसादिवदेव विज्ञैर्हेय इति किं बह्वालापेनेति ॥

भाषार्थः-(यदधिगवम्) जो यह गौ के शरीर में उत्पन्न होने वाला (क्षीरंवा) दूध, उस के तुल्य मधुरप्राय हिंसादि दोष रहित अन्य भी भोज्य वस्तु जिस को खाने की धर्मशास्त्र में आज्ञा है (एतद्वा उ स्वादीयः) यही सब शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल स्वादिष्ठ खाने को अभीष्ट है इस कारण ऐसे भक्ष्य पदार्थ को अतिथि खावे और गृहस्थ खवावे (मांसंवा) और जो मांस के तुल्य हिंसादि अधर्म से प्राप्त होने योग्य अभक्ष्य वस्तु हो (तदेव नाश्नीयात्) उसी को अतिथि न खावे और न गृहस्थ उस को खवावे ।

भा०-इस मन्त्र में दो वाक्य हैं पिछले वाक्य में निषेध वाचक नकार का पाठ होने से प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध का निषेध कि मांसादि अभक्ष्य को जैसे न खावे वैसे दुग्धादि भक्ष्य को भी न खावे सो नहीं किन्तु दुग्धादि को अवश्य खावे इस प्रकार पहिले वाक्य में विधान की क्रिया का उचित अध्याहार किया गया । इस अतिथियज्ञ के प्रकरण में भक्ष्याभक्ष्य का विधि निषेध कहीं अन्य मन्त्र में दिखाया भी नहीं गया जिस का सूक्तान्त में दिखाना अत्यन्त उचित है । जिन लोगों के मत में मांसादि सभी कुछ भक्ष्य है अभक्ष्य कुछ नहीं उन को भक्ष्याभक्ष्य के विधिनिषेध की आवश्यकता भले ही न हो पर धर्माधर्म का विवेक मानने वालों के लिये वेद से ऐसे उपदेश के मिलने की आवश्यकता अवश्य है । वाशब्द उपमा वाचक गणरत्नमहोदधि में लिखा है । इस मन्त्र में क्षीर शब्द सब भक्ष्यमात्र वस्तु के उपलक्षणार्थ और मांस शब्द अभक्ष्यमात्र के

सूचनार्थ है इस कारण भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य का निषेध दोनों प्रकार की आज्ञा इस मन्त्र में है। जो लोग सैंतीशवें मन्त्र से इस मन्त्र में (पूर्वोनाश्नीयात्) इन पदों की अनुवृत्ति लाते हैं। इस पर उन लोगों से हम यह पूछते हैं कि क्योंजी? बताइये तो सही कि अड़तीशवें मन्त्र को बीच में छोड़कर असंबद्ध अनुवृत्ति कैसे कूद पड़ी? तथा पूर्व से ही जब (नाश्नीयात्) की अनुवृत्ति लाना मन्त्रकार को भी अभीष्ट था तो फिर (नाश्नीयात्) ये दोनों पद इस ३९ वें मन्त्र में क्यों पढ़े? यहां आचार्य की बुद्धि को लोभने ऐसा दबाया कि कुछ भी न सूझ पड़ा कि हम से कोई पूछेगा तो क्या उत्तर देंगे! जब एक नाश्नीयात् पहिले से लाये एक इस मन्त्र में पड़ा था तो दो हो गये तो क्या अर्थ करो गे कि दूध दही घी मांस अतिथि से पहिले न खावे सो नहीं किन्तु अवश्य खावे?। हम अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि इस का उत्तर पं० ठाकुरप्रसाद जी से अवश्य मागें। तथा एक दोष यह भी है कि दूध दही घी मांस इन मधुपर्क योग्य वस्तुओं को अतिथि से पहिले न खावे यह मांस भोजन विचार के तृतीय खण्ड में लिखा है। तो क्या गेहूं आदि के पूरी पुआ आदि अतिथि से पहिले भी गृहस्थ खालेवे न? क्या आचार्य को इतना ही वेदार्थ समझने की शक्ति है? इस अर्थापत्ति से आने वाले दोष को आचार्य के आचार्य भी निवृत्त नहीं कर सकेंगे। अयुक्त असंबद्ध पदों की अनुवृत्ति मूल के अभिप्राय से विरुद्ध करना भी वेद का अनर्थ करना है उसी का यह फल हुआ कि इन का अर्थ अनेक दोषों से दूषित हो गया। और हमारे अर्थ में कोई दोष नहीं है इस लिये विचारशीलों को चाहिये कि रुधिर मांसादि के ही तुल्य आचार्य के किये अर्थ को त्याग दें॥

अब इस से आगे एक मन्त्र १८ वें सूक्त का ४३ वां है सब से अधिक विवाद इसी मन्त्र पर है। सब से बड़ा प्रमाण मांसाहारियों का यही है। पर हम सब महाशयों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि आप लोग हठदुराग्रह को छोड़ कर न्यायदृष्टि से पहिले वेद के सिद्धान्त को शोचें कि वेद में हिंसा को कहीं कर्त्तव्य माना वा ठहराया है वा नहीं किसी ग्रन्थ में परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त नहीं हो सकते यदि वेद अहिंसा को धर्म मानेगा तो हिंसा को धर्म नहीं मान सकता। हमारा विचार यह तो दृढ़ और व्याकरण तथा मीमांसादि शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है कि वेद के शब्द सामान्यार्थपरक हैं विशेषार्थ वा

रूढि अर्थ के वाचक नहीं हैं इसी के अनुसार मांसशब्द के अर्थ पर यहां अन्तिम विचार लिखते हैं-मांस शब्द सृष्टि के आरम्भ से ही वेद में था तब कोई निरुक्तादि पुस्तक भी नहीं बना था निरुक्त व्याकरण वा धर्मशास्त्रादि वेद से भिन्न ग्रन्थों में वेद में आने वाले मांसपद का अभिप्राय देख कर प्रकृति प्रत्यय वा निर्वचन द्वारा ऋषि लोगों ने अर्थ की कल्पना प्रकाशित की यह विचार निश्चित ही समझिये। मांसपद का सामान्यार्थ भक्ष्य पदार्थ का तृतीय परिणाम है उसी को तीसरा धातु भी कह सकते हैं। किसी वस्तु को खाने वाले चर वा अचर प्राणी वृक्षादि स्थावर प्रथम उस २ पदार्थ का भक्षण वा भोजन करते हैं वह आहार परिपक्व हो कर उस से जो पहिला परिणाम अवस्थान्तर (एक अन्य हालत) बनती है उस का नाम रस होता, उस रस के परिपक्व होने पर जो द्वितीय परिणाम वा विकार उत्पन्न होता है उस का नाम रक्त वा रुधिर धातु है। जिस के विषय में सुश्रुत में लिखा है कि-

तेजसा रञ्जितास्त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अव्यापन्नाः शरीरेण रक्तमित्यभिधीयते ॥

वह पहिला रसनामक धातु शरीरस्थ पित्तनामक अग्नि से रंगा जाता है और जब तक वह जमकर शरीर के साथ मांसरूप से न जुड़जावे तब तक उस का नाम रक्त है। संस्कृत में रंगे हुए पदार्थ का नाम रक्त है और रंगा हुआ रुधिर प्रायः लाल होता है इस कारण लाल वस्त्रादि को भी रक्त कहते हैं। इसी लिये रुधिरादि कई शब्दों में रंगा वा लाल अर्थ न होने पर भी वे उसी वस्तु के वाचक माने जाते हैं। वही रुधिर जब काल पाकर शरीर में जम जाता और शरीरके जमे हुए धातुओं के साथ जुड़ जाता है तब उस तृतीय परिणाम वा अवस्थारूप विकार का नाम मांस होता है। सो इस प्रकार वृक्ष वनस्पत्यादि के भी तृतीय परिणाम का नाम मांस है। इसी लिये सुश्रुत ग्रन्थ के शारीरस्थान में स्पष्ट लिखा है कि-

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाभिर्भूता उपलभ्यन्ते ॥

अर्थात् आम्रादि के कच्चे फल में नसें हड्डी और मज्जा चरबी प्रतीत नहीं होती किन्तु पक जाने पर गठली के ऊपर जो रोम से निकलते हैं वे नसें

गुठली का कठोर भाग हड्डी तथा उस में चिकना अंश मज्जा होती है अर्थात् जैसे कच्चे फल वा अति छोटे वृक्षादि में सब धातु होते हैं पर जिस का आविर्भाव नहीं होता वह प्रसिद्ध में नहीं दीखता वैसे पुत्र वा कन्या के शरीरों में भी वीर्य तथा आर्त्तव रुधिर होता है पर वह सूक्ष्म दशा में रहने से प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म में स्थावरों में सब सातों धातुओं का होना स्पष्ट ही लिखा है तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा लेख अनेक स्थलों में खोजने से मिलेगा। वह सब वेद के सामान्य अर्थांश को लेकर लिखा गया है। सुश्रुत के प्रमाण में मांस शब्द इस लिये नहीं आया कि कच्चे और पके दोनों प्रकार के फलों में गूदारूप मांस तो विद्यमान ही है। वास्तव में गूदा का नाम मांस है। जैसे स्थावरों के फलादि में गूदा होता वैसे ही मनुष्य पशु पक्षी आदि के शरीरों में भी जो गूदा है उसी का नाम मांस है। लोक में वा लौकिक ग्रन्थों में फलादि का गूदा मांस नहीं कहाता यह लौकिक बात है अर्थात् किन्हीं कारणों से मनुष्यादि के शरीरों में रसादि धातु प्रधान माने गये और स्थावरों में गौण हो गये तो गौण और मुख्य में से मुख्य वा प्रधान को लेकर व्यवहार होता है। पर यह व्यवहार अधिक कर लोक में ही घटता है वेद में नहीं। वेद के शब्द सामान्यार्थ बोधक हैं तथापि प्रधान का प्रधानता से और गौण का गौण रीति से विधि वा निषेध माना जायगा। और उत्सर्गापवाद लोक के समान वेद में भी हैं क्योंकि लौकिक ग्रन्थकारों ने वेद से ही सब नियम सीखे वेद ही सब का आदि कारण है। अब वेद में दो प्रकार का लेख मांसभक्षण विषय में मिलता है। एक तो विधि दूसरा निषेध और हिंसा करने का निषेध भी वेद में स्पष्ट ही है "ओषधे त्रायस्व मैनꣳ हिꣳसीः" इत्यादि। हिंसा शब्द की प्रवृत्ति भी मुख्य कर चर प्राणियों के मारने में होती है। यद्यपि स्थावरों के काटने तोड़ने में भी उन को कुछ दुःख पहुंचता है तथापि वह मनुष्यादि चर प्राणियों की अपेक्षा इतना कम है जिस को न होने के समान ही मान सकते हैं यह पहिले स्थावर विचार में अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। तात्पर्य यह निकला कि जहां मांसभक्षण का निषेध है वहां हिंसारूप अधर्म के भय से चर प्राणियों के मांस का निषेध मानना चाहिये और जहां मांस के भक्षण का वेद में विधान है वहां अचर वा स्थावरों के गूदारूप मांस की विधि है। इस प्रकार वेद के दोनों विधि निषेध अपने भिन्न २ अंशों में चरि-

तार्थ हो जाते संगति ठीक लग जाती है कोई दोष नहीं आता। और जो लोग जङ्गम प्राणियों के ही तृतीय परिणाम का ग्रहण करते हैं उन के मत में यह बड़ा दोष आवेगा कि वेद में जहां २ मांस का निषेध आवे वहां २ उसी का निषेध और जहां २ विधि आवे वहां २ उसी मांस का विधान मानें ये दोनों मन्तव्य परस्पर विरुद्ध पड़ेंगे इस का समाधान अन्य प्रकार से होना दुर्लभ है। और निरुक्त का प्रमाण कि—

"माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा"

यह सर्वत्र चराचर दोनों के तृतीय परिणाम में घट जाता है। क्योंकि स्थावरों में भीतर २ मननशक्ति चेतनता विद्यमान ही है जिस को भाग ६ में अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अठारहवें सूक्त के चौथे मन्त्र का संक्षेप से अर्थ लिखा जाता है—

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥ अथर्व० ९। ६। ४३ ॥

अ०-सोऽतिथियज्ञस्य मर्मज्ञः पूर्वोक्तरीत्या कर्त्तुं श्रद्दधानो गृहस्थो विद्वान् पुरुषः (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) अतिथेः पूर्वमभुक्त्वा मांसं फलादेस्तृतीयं परिणामं सम्यक् सम्पाद्य पक्त्वा वाऽतिथये समर्पयति तस्य सुसमृद्धेन सम्यक्साङ्गोपाङ्गसाधनयुक्तेन द्वादशाहनामकयज्ञेन यावदनिष्टं दुःखमवरुन्धेऽवरुध्यते तावदनिष्टमनेनातिथियज्ञसेवनेनावरुन्धेऽवरुध्यते ॥

भा०—अस्मिन्नेवातिथियज्ञप्रसङ्गे पूर्वं मांसभक्षणं प्रतिषिद्धं तत्र हिंसाधिक्याज्जङ्गमप्राणिमांसस्य निषेधोऽत्र तु कन्दमूलफलादिस्थस्य तृतीयपरिणामस्य भक्षणविधिरिति सर्वमवदातम् ॥

भाषार्थः—(स यो विद्वान्) अतियज्ञ का मर्म जानने वाला सो जो गृहस्थ विद्वान् पुरुष (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) इस पूर्वोक्त प्रकार अतिथि से पूर्व

स्वयं न खाकर मांस नाम फलादि के तीसरे परिणामरूप गूदा को अच्छा यथायोग्य काट बना वा पका कर अतिथि के लिये समर्पण करता है उस का (यावत्) जितना अनिष्ट दुःख (सुसमृद्धेन) अच्छी सम्हाली हुई साङ्गोपाङ्ग सामग्री से युक्त (द्वादशाहेन) बारह दिन में होने वाले द्वादशाह नामी यज्ञ से (अवरुन्धे) निवृत्त होता (तावदेनेनावरुन्धे) उतना अनिष्ट दुःख इस अतिथियज्ञ से रुकता वा निवृत्त हो जाता है । इस लिये अतिथियज्ञ अवश्य करना चाहिये ॥

भा०—इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में विधि और उत्तरार्द्ध में अर्थवाद है । इस अठारहवें सूक्त में दूध, घी, मीठामात्र वा मधु (शहद) मांस और जल ये पांच वस्तु अतिथि सत्कार के लिये गिनाये हैं इस का अभिप्राय यह नहीं है कि इन से भिन्न अन्य कोई पदार्थ का भोजन अतिथि को न करावे किन्तु इन का ग्रहण उपलक्षणार्थ है। यदि अन्य भोज्य पदार्थ प्राप्त न हों तो इन में से जो अपने पास हो उसी से अतिथि पूजन करे सब के अन्त में उदक इस लिये पढ़ा है कि और कोई पदार्थ न मिले तो केवल जल से भी अतिथि की सेवा करे । मनुस्मृति में लिखा है कि—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

जो कोई अतिथि गृहस्थ के घर आवे तो ठहरने को स्थान आसन, हाथ पांव धोने तथा पीने को जल और प्रिय कोमल वाणी यह चार प्रकार का आये हुए का सत्कार अच्छे सज्जन लोगों के घर में कभी दूर नहीं होता अर्थात् अन्य भोजन वस्त्रादि से सत्कार नहीं भी बने तो भी उक्त चार वस्तुओं से सत्कार अवश्य करे । इसी अतिथियज्ञ के प्रकरण में पूर्व मांसभक्षण का निषेध १७ वें सूक्त के अन्त में किया है वहां हिंसारूप अधर्म की अधिकता से चर प्राणियों के मांस का निषेध है और कन्द घुइयादि मूली आदि जड़ और अमरूद आम आदि फलों के तृतीय परिणामरूप मांस नाम गूदा के खाने का यहां विधान है । इस प्रकार सब प्रकरण का निर्दोष अर्थ लग जाता है ॥

हम उन महाशयों से पूछते हैं कि जो मांसभक्षण निषेध तो वेद में मानते नहीं किन्तु विधान मात्र सामान्य कर मानते हैं तो उन के मत में सभी का मांसभक्ष्य ठहरता है क्या ये लोग गौ वा मनुष्यादि प्राणियों का भी मांसभक्ष्य मानते हैं ? । अब मांसभक्षण विषय में यह अन्तिम सिद्धान्त हो चुका इस में

किसी प्रकार का सन्देह अब शेष नहीं रहा अब इस सिद्धान्त में केवल उ
लोगों को सन्देह रहे तो सम्भव है कि जो वेद के सामान्यार्थपरक होने को
समझें तथा वेद के सिद्धान्तरूप मूलाशय में जिन की बुद्धि न चले उन
सन्देह रह सकता है । और जो मनुष्य पक्षपाती वा हठी दुराग्रही हैं उन
तो सभी सन्देह है उन के लिये कहना ही क्या ॥

अब इस से आगे मांसभोजन विचार तृतीयखण्ड ८६ पृष्ठ में एक मन
"अजमनज्मि पयसा घृतेन०" इत्यादि लिखा है जिस का भावार्थ आचार्यजी
किया है कि "मैं जल से और घी से उत्तम गुण वाले अच्छे पार्श्व वाले पुष्टि
कारक खाने को बड़े को बकरा को पाकद्वारा व्यक्त करता हूं" क्या मैं शब्द
व्याकरणाचार्य जी स्वयमेव पाचक बनते हैं ? अच्छी बात है आप बकरे को
पकाइये । हमारे पाठक इन के भावार्थ को देखें कैसा ऊटपटांग वा असंबद्ध
इसी से हमने अनुवाद लिख दिया है कि जिस से लोग जान लें कि वेदा
करने की ऐसी योग्यता हमारे आचार्यजी को है ! इस अर्थ में "पाकद्वारा
यह पद ऊपर से जोड़ा है अर्थात् मन्त्र में कोई ऐसा पद नहीं जिस का पकान
अर्थ हो । यदि इन से कोई पूछे कि "पाकद्वारा" इस में कहां से आया कि
प्रमाण वा युक्ति से ऐसा अर्थ किया तो आकाश की ओर देखने विना और क्य
कहें गे ? यदि कोई कहे कि घोड़ा ला तो क्या घोड़े का मांस कोई लावे गा
यहां बकरा कहने से बकरे का मांस कैसे ले लिया गया ? यदि कोई कहे कि "मैं
जल वा दूध पिला घी खिला कर बकरे को प्रकट करता अर्थात् पुष्ट कमनी
दर्शनीय बनाता हूं" तो इस अर्थ को मिथ्या कहने के लिये उन के पास क्या
प्रमाण है ? यदि इस को मिथ्या ठहराने के लिये कोई प्रमाण हो सकता है तो
उसी प्रमाण से उन का अर्थ भी मिथ्या अवश्य ठहर जायगा । और वह प्र
माण यह है कि-

**अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता
ब्रह्मणे देयमाहुः । अजस्तमांस्यपहन्ति दूर-
मस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ अथर्व०९।५।७॥**

अर्थ-इस वर्त्तमान शरीर में रह कर जो श्रद्धा पूर्वक अग्नि को रखता
[दत्तः, यह पद … है] … नैमित्तिक नियम

अग्निहोत्रादि करता है उस के तमोगुण सम्बन्धी कुसंस्कारों को वह अग्नि नष्ट वा दूर कर देता है। इसी अर्थ के कारण अग्नि का नाम अज है तथा इसी अभिप्राय से सूर्यादि ज्योतियों को भी अज कहते हैं। व्याकरण में (अज गतिक्षेपणयोः) धातु का क्षेपण नाम अन्धकार को दूर करना अर्थ भी इसी वेद के मन्त्र से लिया गया है। अग्नि और सूर्यादि प्रसिद्ध में भी रात्रि आदि के अन्धकार को दूर करते हैं। प्रकाश गुण अग्नि का है वही सूर्यादि अनेकरूप हो कर अन्धकार का नाश करता है। निघण्टु अ० १ खण्ड १५ में अजाः शब्द आया है वहां भी " अजन्ति सर्वतस्तमः क्षिपन्ति ते अजाः पूषवाहाः सूर्यरश्मयइति यावत् " यह निर्वचन निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा ने किया है अर्थात् अन्धकार को दूर करने के कारण सूर्य की किरणों का नाम अज माना है जिस को सन्देह हो वह निघण्टु में देख लेवे। इस के उदाहरण में देवराज यज्वाने "अहेडमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व। ऋ० सं० २। २। २। ४ " यह मन्त्र ऋग्वेद का लिखा है इस में (अजाश्व) शब्द सम्बोधन है जिस का अर्थ यह है कि अज नाम अन्धकार को दूर करने वाले अश्व नाम शीघ्रगामी जिस के किरण हैं ऐसे पूषा का नाम अजाश्व है। इसी मन्त्र को हमारे व्याकरणाचार्य जी बकरा के प्रमाण में लिखा है और अजाश्व के स्थान में अजाश्व ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा है। पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि कितना अन्धकार है। जो प्रमाण इन के पक्ष को काटने वाला था उसी को अज्ञान से अपना पोषक समझा। ऐसे ही अविद्याग्रस्त लोग अनिष्ट को इष्ट मान कर महा विपत्ति भोगते हैं। अब इसी अथर्ववेद के प्रमाण से तथा शब्दार्थ और निघण्टु की साक्षिता से सिद्ध हो गया कि अज नाम वेद में अग्नि का है बकरे का नहीं और आचार्य का किया अर्थ सर्वथा प्रमाण शून्य है अर्थात् अज शब्द से बकरे का ग्रहण करने के लिये आचार्य जी ने कोई प्रमाण भी नहीं दिया। लोक का प्रमाण वेद में इस से नहीं लग सकता कि वेद में अज शब्द पहिले ही था पीछे लोक में अज नाम बकरे का रक्खा गया। पिता के जन्म की साक्षी पुत्र नहीं हो सकता। जब अज नाम अग्नि का वेद में सिद्ध है तब इस के अनुसार उक्त मन्त्र का अर्थ यह होगा कि—

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्। तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं

स्वरारोहन्तो अभिनाकमुत्तमम् ॥ अथर्व० ४।१४।६ ॥

अ० -अहं पयसा रात्र्या सायंकालेन घृतेन [घृ क्षरणदीप्त्योः] दीप्तेन प्रकाशितेन दिनेन प्रातःकालेन चाजं तमसः क्षेप्तारं दिव्यं दिवि द्युलोके भवं सुपर्णं शोभनपतनं पयसं जलवर्षकं बृहन्तं महान्तं सूर्यरूपेणावस्थितमग्निं सूर्योज्योतिरित्यादिमन्त्रैरग्निर्ज्योतिरित्यादिभिश्च पार्थिवमग्निमनज्मि प्रकटीकरोमि प्रज्वालयामि वा। तेन नित्यनैमित्तिकेनानुष्ठितेन होमकर्मणोत्तमं नाकमभि-उत्तमलोकस्याभिमुखं स्वरारोहन्तः स्वः सुखविशेषं प्रादुर्भावयन्तो वयं सुकृतस्य पुण्यकर्मणो लोकं लोक्यं फलं गेष्म गच्छेम ॥

पयइति रात्रिनामनिघण्टौ १।७। तत्सहचारेण यौगिकार्थेन च घृतपदेन दिवसस्य ग्रहणं बोध्यम्। यथा चाग्निना सिञ्चतीत्ययुक्तं वाक्यमेवं पयसोदकेन दुग्धेन वाग्निं प्रज्वालयतीत्ययुक्तमेव स्यात्, तेन चाग्नेर्निर्वाणसम्भवस्तस्मादयमेवार्थः साधुः। दिव्यमिति [द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्] इति सूत्रेण भवार्थे शैषिको यत् प्रत्ययः। उत्तमगुणयुतमिति प्रमाणशून्योऽनर्थएव सुपर्ण-इतिपदं सूर्यस्य चन्द्रमसो वा कुत्रचिद्विशेषणं सर्वत्र वेदेऽस्ति तत्सम्बन्धेन सूर्यकिरणानां वा ग्रहणं नान्यस्य कस्यापि। यः कोऽपि प्रतिजानीतास्त्यन्यस्य विशेषणं स निघण्टौ निरुक्ते च दर्शयेदेतदिति। दिव्यं सुपर्णमिति पदद्वयं न कथमपि वर्करस्य विशेषणं भवितुमर्हति। तस्मादाचार्यकृतोऽर्थः सर्वथाऽज्ञानान्धकारग्रस्तएव ॥

भाषार्थः-मैं (पयसा, घृतेन) अन्धकारमय रात्रि और प्रकाशरूप दिन के आरम्भ में सायं प्रातःकाल (दिव्यम्) द्युलोक में होने वाले प्रकाश स्वरूप

अवस्थित तथा (सुपर्णम्) अच्छे प्रकार अपनी परिधि में घूमने वा चलने अथवा होम किये यज्ञपदार्थों को लेकर शीघ्र उड़ने वा सर्वत्र पहुंचाने वाले (पयस्वम्) जल वर्षा के हेतु (बृहन्तम्) बड़े महत्परिमाण से युक्त सर्वत्र व्याप्त सूर्यरूप से अवस्थित अग्नि को [सूर्योज्योति०] इत्यादि मन्त्रों से और पार्थिव अग्नि को [अग्निर्ज्योति०] इत्यादि मन्त्रों से (अनज्मि) होम द्वारा संस्कृत वा प्रज्वलित करता हूं (तेन) उस सेवन किये नित्य नैमित्तिक होम कर्म से (उत्तमंनाकमभि) उत्तम दुःख रहित स्थान की ओर चलें और (स्वरारोहन्तः) उत्तम सुख को प्रकट करते हुए हम लोग (सुकृतस्य, लोकम्, गेष्म) सुकृत पुण्य कर्म के दर्शनीय उत्तम फल को प्राप्त होवें। इसी अभिप्राय को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि "अग्निहोत्रंजुहुयात्स्वर्गकामः" स्वर्ग चाहने वाला पुरुष साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र यज्ञ नित्य नियम से किया करे॥

निघण्टु में पयः नाम रात्रि का है उसी के सम्बन्ध से वा यौगिकार्थ के कारण घृतपद से दिन का ग्रहण किया गया। जैसे अग्नि से सींचता है यह वाक्य अयुक्त है वैसे पय नाम दूध वा जल से अग्नि को प्रज्वलित वा प्रकट करना कहा जाय तो यह भी अयुक्त है क्योंकि दूध वा जल से अग्नि का बुत जाना सम्भव है जलना सम्भव नहीं इस कारण पयः शब्द का रात्रि अर्थ करना ही ठीक है। दिव्य शब्द (द्युप्रागपा०) सूत्र से भव अर्थ में शैषिक यत् प्रत्यय हो कर बना है किन्तु उत्तम गुण वाले यह अर्थ सर्वथा प्रमाणशून्य होने से व्यर्थ है। सुपर्ण शब्द वेद में सूर्य तथा कहीं चन्द्रमा का वाचक है सूर्य के सम्बन्ध से सूर्य की किरणों का नाम भी सुपर्ण है किन्तु अन्य किसी का विशेषण सुपर्ण नहीं हो सकता यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि अन्य का विशेषण भी हो सकता है तो वह निघण्टु और निरुक्त में अन्य अर्थ दिखावे। दिव्य और सुपर्ण ये दोनों पद बकरा के विशेषण कदापि नहीं हो सकते इस से आचार्य का किया अर्थ सर्वथा अज्ञानान्धकार से भरा है॥

इस पूर्वोक्त मन्त्र से आगे (पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलीभिः०) इत्यादि दो मन्त्र मांसभोजनविचार तृतीयखण्ड के पृष्ठ ९० से ९९ तक लिखे हैं जिन का अर्थ आचार्यने किया है कि "मांस घी और जल से सिद्ध पञ्चविध विभक्त भात को करछी से निकाल। इस भात को पांच अंगुलियों से पांच प्रकार से विभक्त कर। बकरा का पूर्व दिशा में शिर अर्थात् जो भात शिर के मांसादि सहित पकाया

है वह धरो । दक्षिण दिशा में दहिने पार्श्व के मांसादि से पकाये भात को धरो । इस बकरे के जघनमांससिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो । उत्तर दिशा में दक्षिण से दूसरे भाग के मांस से पकाये भात को और पार्श्व अर्थात् उत्तर कुक्षिस्थ मांस से पकाये भात को । उर्ध्व दिशा में बकरे के वंकी वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को धरो । ध्रुव वा भूमि जो पादतलस्था है अर्थात् अपने पाद के इधर उधर स्थित यद्वा नीचस्थान जो उत्तमों के बैठने का अपेक्षा से है उस तर्फ में बल के लिये जो अङ्ग उन के मांस से पकाये भात को धरो । बीच से मध्य भाग के मांस से पकाये भात को आकाश में धरो " यह दो मन्त्रों का अर्थ जैसा संगत है सो तो पाठक लोग जान ही लेंगे । तो भी संदेह यह है कि ऐसा कौन करे कब करे क्या जब २ मांसाहारी लोग मांस खाने को बनावें तब २ ऐसी कवायद किया करे ? फिर कोई पूछे कि ऐसा क्यों करे ? ऐसा करने से क्या प्रयोजन है ? तो क्या उत्तर दोगे ? आचार्य लिखते हैं शिर के मांसादि सहित, सो पाठकगण शोचिये तो सही शिर में कहीं मांस होता है शिर में से कोई मांस निकालता है ? तथा शिर के मांसादि यहां आदि शब्द से क्या चरबी हड्डियों का ग्रहण करो गे ? । मुझे निश्चय है कि कसाई लोग भी शिर में से कुछ खाने को नहीं निकालते । पूर्वदिशा में मांस मिला भात क्यों धरे ? मांस समेत भात ऐसा अर्थ मन्त्र के किस पद से लिया गया ? । ऊर्ध्व दिशा और अन्तरिक्ष में मांस युक्त भात को कैसे लटकावे ? कौन लटकावे क्यों लटकावे ? यदि छीं के आदि पर लटकावे तो वह आकाश में न हुआ उस का आधार छींका होगा । वैसे तो कहीं धरो सभी अवकाश में होगा । इस प्रकार इन का अर्थ रोम २ संदेहों से भरा है जिस का समाधान जन्मान्तर में भी होना दुस्तर है । हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि अज नाम अग्नि का है वह अग्नि अनेकरूप से ब्रह्माण्डभर में व्याप्त है " अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपरूपं प्रतिरूपो बभूव" यहां ब्रह्माण्ड जगत् भर को अग्नि का साकार पशुरूप मान कर अवयवों को कल्पना समझने के लिये वेद में लिखी है जिस के लिये अथर्ववेद के ही हम दो मन्त्र प्रमाण में लिखते हैं ॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योरइयमभवद् द्यौः पृष्ठम् । अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥

ऋतं च सत्यं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः । एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ अथर्व० ९।५।२०।२१

अ०–(अग्ने) सृष्टि के आरम्भ में ही अन्धकार को दूर करने वाला अग्नि सर्वत्र फैला वा व्याप्त हुआ यह पृथिवी उस अग्नि का उरः स्थल पेट हुई द्युलोक उस अग्नि का भाग ऊपरी पीठरूप हुआ, अन्तरिक्ष उस के उदर का मध्यभाग हुआ, सब दिशा उस की पार्श्व पसलियें के स्थान में हुईं समुद्र कुक्षि स्थानी, मन के अनुकूल वाणी से व्यवहार सत्य और शास्त्र की आज्ञा के अनुसार काम करना ऋत दो आंखें हैं आकाशरूप निर्मल शुद्ध होने से उस के सभी अङ्ग सत्य-स्थानी हैं मिथ्या कुछ नहीं श्रद्धारूप उस का प्राण और प्रकाशमान अन्धकार तमोगुणरहित सूर्य उस का शिर है। अपरिमित जिस का परिमाण वा नाप नहीं हो सकता ऐसा यह यज्ञरूप अग्नि एक पशु के आकार तुल्य है। जैसे यज्ञ में पांच प्रकार का ओदन अर्थात् आर्द्र पदार्थ अग्नि के जलाने को होता अर्थात् घी मिष्ट, पुष्ट, सुगन्धित और रोगनाशक ये पांच प्रकार के ओदन नाम जलाने योग्य वस्तु होते हैं वैसे ही जगत् भर में मुख्य दो पदार्थ हैं एक भक्ष्य द्वितीय भक्षक वा इन्हीं दो का नाम भोग्य भोक्ता है जिन में सर्वत्र अग्नि भक्षक वा भोक्ता तथा शुष्क छेदक है और भक्ष्य सर्वत्र जल सम्बद्ध आर्द्र होने से ओदन तथा छेद्य है। वह पांच प्रकार का भक्ष्य ओदन अग्नि का भक्ष्य है। इस ओदन का विशेष व्याख्यान इस अथर्व के ११ काण्ड के द्वितीयानुवाक में विस्तार पूर्वक है उस की महिमा यहां लिखने लगें तो दो चार फारमां भर वही लेख चला जाय प्रकरण छूट जाय इस से यथावसर ओदन का व्याख्यान फिर कभी लिखेंगे। इस प्रकार वेद में अज नामक अग्नि के अवयवों की कल्पना सुगम बोधार्थ दिखायी है इसी के अनुसार उक्त दो मन्त्रों का अर्थ जानो यथा–

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्। प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७॥

आर्यसि० भा०७ अं०३।४ के पृ० ७१ से आगे संस्कार ॥

इन्द्रियों के चञ्चलतादि दोषों की निवृत्ति हो कर वे निर्दोष शुद्ध शान्त स्वस्थ हो जाते हैं। अर्थात् प्राणायाम से बड़ी भारी मलिनता इन्द्रियों की दूर हो जाती है जिस मलिनता को सब पापों का मूल कहें तो ठीक है और उस की निवृत्ति वा शुद्धि को सब पुण्यों का मूल कहना भी अनुचित नहीं है इस प्रकार प्राणायाम से बड़ी अधिक दोषों की शुद्धि वा संस्कार होता है॥

अब सन्ध्योपासन में अघमर्षण भी एक कर्माङ्ग माना जाता है। वास्तव में अघमर्षण किसी कर्म वा क्रिया का नाम नहीं है किन्तु यह शब्द कर्तृवाचक है। व्याकरण में " नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्यचः " सूत्र से नन्द्यादि गण में यह शब्द बनता है। "अघस्य पापस्य मालिन्यास्याज्ञानस्य तमसो मर्षणो नाशको निवारयिताऽघमर्षणः " यद्यपि इस अघमर्षण शब्द का मुख्य वा प्रधान निरपेक्ष वाच्यार्थ केवल एक परमेश्वर ही हो सकता है क्योंकि उस के समान निष्पाप निर्दोष निष्कलङ्क अन्य कोई वस्तु वा मनुष्यादि नहीं हो सकता वा यों कहो कि जो सर्वोपरि निर्दोष निष्पाप है वही परमेश्वर है। इसी लिये उस का नाम निरञ्जन है। अञ्जन नाम कालेपन अज्ञानान्धकार तमोगुण वा पापरूप मलिनता का है उस से जो सर्वथा रहित हो वह निरञ्जन कहाता है तथापि गौणांश में मनुष्य का भी नाम हो सकता है उस सर्वदोष रहित परमेश्वर के सूक्त का नाम ही अघमर्षण सूक्त है। और इस अघमर्षण सूक्त में जैसा परमेश्वर का वर्णन है वैसा ही यथार्थरूप से स्मरण करता तथा सूक्त का पाठ करता हुआ जो हाथ में जल लेकर सूक्तपाठ के अन्त में वांयीओर जल छोड़देना रूपक्रिया करता है उस का भी अघ नाम पाप नष्ट अवश्य होता है। इस लिये परमेश्वर के स्मरणपूर्वक सन्ध्योपासन में क्रिया विशेष का नाम अघमर्षण कर्म है। शब्द प्रयोग का नियम मनुष्यों के व्यवहाराधीन है इसी लिये कर्तृवाचक अघमर्षण शब्द एक कर्म का नाम पड़गया है। और जब अघ नाम पापदोषों को हटाने तथा अपने साथ जो बुराई करे उस को सहने वाला क्षमाशील रहे क्रोध में भरकर आपे से बाहर न हो वह भी अघमर्षण कहा वा माना जायगा परन्तु मनुष्य में ऐसा गुण मुख्यकर अघमर्षण सूक्तद्वारा परमेश्वर के स्मरण से होता जैसे परमेश्वर सर्वोपरि क्षमाशील है वैसे ईश्वर का उपा-

सक भी क्षमाशील होगा । वह क्रोध रहित शान्तस्वरूप है उस का भक्त भी क्रोध रहित शान्त होगा । परमेश्वर नास्तिकादि अपने निन्दकादि के सहस्रों अपराधों का सहने वाला है उस की ओर झुकने वाला मनुष्य भी विरोधियों के अपराधों को सह सकेगा । ईश्वर ज्ञानप्रकाशस्वरूप है उस के सामने अज्ञानान्धकार लेशमात्र भी नहीं ठहर सकता । जैसे सूर्य का उदय होते ही रात्रि का सब अन्धकार नष्ट हो जाता वा दीपक जलते ही उस स्थान का अन्धकार तत्काल दूर हो जाता है । लोहा यद्यपि काला होता है तथापि प्रकाशरूप अग्नि का उस में प्रवेश होते ही प्रकाशमय हो जाता कालापन उस में से दूर हो जाता है वैसे प्रकाशमय सूर्य वा अग्नि के तुल्य परमेश्वर का संग उपासना मेल वा समीपता प्राप्त होते ही मनुष्य के हृदय का अज्ञानान्धकार सब नष्ट भ्रष्ट हो जाता उस के हृदय में ज्ञान के कपाट खुल जाते हैं । परन्तु जितने मनुष्य ईश्वर के उपासक होंगे उन में न्यूनाधिक भेद अवश्य रहेगा । अर्थात् उत्तम मध्यम निकृष्ट जैसी जिस की उपासना होगी वैसी कक्षा का वह मनुष्य अधमर्षण हो सकेगा । फिर उत्तमादि के भी तीन २ भेद होंगे उत्तम में उत्तम, उत्तम में मध्यम और उत्तम में निकृष्ट इत्यादि । तात्पर्य यह कि परमात्मा के संग मेल वा उपासना से जैसी मनुष्य की शुद्धि वा संस्कार हो सकता है वैसा अन्य प्रकार से नहीं हो सकता सत्संग शुद्धोपासना इन का एक ही अभिप्राय है ।

अग्नि के पास जाने वाले का शीत और जल में प्रवेश करने वाले की गर्मी जैसे शीघ्र ही मिट जाते हैं जैसे का संग करो वैसा गुण प्रत्येक चराचर प्राणि आदि में आता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । वैसे ज्ञानस्वरूप निर्दोष निष्पाप शुद्ध शान्त क्रोध रहित क्षमाशील पाप नाशक परमेश्वर का उपासक भी वैसे गुणों वाला होता है । ऐसे ईश्वर विषयक अघमर्षणादि का व्याख्यान लिखते हुए जैसे हमारे मन और आत्मा में शुद्धि पवित्रता वा आनन्द स्थान पाते और कुसंस्कार मलिनता वा दुःखों को धक्का देते हैं इसी से हम को कुछ आनन्द का लेश प्रकट हो कर ऐसे कर्त्तव्य की ओर उत्साह को बढ़ाता है वैसे हमारे पाठक लोग जो एकाग्र चित्त हो मन लगा कर इस लेख को पढ़ेंगे उन को भी कुछ आनन्द प्रतीत होगा उस समय उन के हृदय से मलिनता वा ग्लानि कुछ हटेगी इसी से ऐसा व्याख्यान देखने पढ़ने में कुछ रुचि वा उत्साह बढ़ेगा यह भी अघ नाम पाप दोषों के दूर होने का मार्ग है [illegible] सकते हैं ।

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर विषयक चर्चा के लिखने पढ़ने आदि में मन लगन भी अघमर्षण है। अब आशा है कि हमारे पाठक लोग इतने ही लेख से अघमर्षण का ठीक अभिप्राय समझ लेंगे।

अब इस प्रसंग में हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ तथा अघमर्षण की सार्थकता दिखाने के लिये अघमर्षण सूक्त का संक्षेप से व्याख्यान करना उचित व आवश्यक समझते हैं। ऋग्वेद के अन्त में मण्डल १० का १९० सूक्त (ऋतं च सत्य चा०) तीन मन्त्र का है। इस की उपक्रमणिका में इस सूक्त का अघमर्षण ऋषि लिखा है। और अघमर्षण इस का ऋषि है इसी से इस सूक्त का नाम अघमर्षण सूक्त हुआ। हम यहां प्रसंगानुसार ऋषि शब्द पर कुछ लिख कर सूक्त का अर्थ लिखेंगे।

मन्त्रों वा वेदसूक्तों के साथ जो ऋषि लिखे जाते हैं इस विषय में प्रायः सभी वेदानुयायी वा वेदभाष्यकारों का एक मत है कि चतुर्युगी वा मन्वन्तरादि के बदलने के समय जब २ अवान्तरप्रलय होते हैं तदनन्तर फिर से जब मनुष्य सृष्टि का प्रवाह चलता है तब जो २ पूर्वज ऋषि जिन २ सूक्तों वा मन्त्रों को अपने हृदय में ज्ञानचक्षु से देखता और पूर्व सृष्टि में जैसे २ वे मन्त्र वा सूक्त थे वैसे ज्यों के त्यों प्रचार पठन पाठनादि द्वारा करता है वह २ उन २ सूक्त मन्त्रादि का ऋषि वेद में लिखा गया है परन्तु इस सिद्धान्त को हम ऐसा नहीं मानते। हम पहिले भी लिख चुके हैं कि अवान्तर प्रलयों में सर्वथा मनुष्य सृष्टि का अभाव नहीं होता कुछ पुण्यात्मा तपस्वी ऋषि लोग अवान्तरप्रलय सम्बन्धी आपत्तियों से बच जाते हैं उन के द्वारा कुछ सृष्टि प्रवाह पुत्र पौत्रादि भी होते जाते हैं उन में वेदों का पठनपाठन चला रहता है पीछे उन्हीं से फिर सृष्टि बढ़ जाती है इस कारण एक ब्राह्म कल्प के बीच में वेदों के पठनपाठनादि का सर्वथा उच्छेद वा नाश कभी नहीं होता सो यह हमारा मन्तव्य कुछ मनगढ़त का नहीं किन्तु पूर्वज ऋषि लोगों ने भी ऐसा ही माना है। न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में लिखा है कि—

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् ॥

अ० २ आ० १ सूत्र ६७॥

अर्थ-एक कल्प में जो २ मन्वन्तर युगान्तर हो चुके वा जो २ आगे आने वाले हैं उन २ में वेद की पठनपाठन परम्परा का विच्छेद नाम नाश न होना भी वेदों का नित्यत्व है और पूर्व काल से ही आप्त सत्यवादी धर्मात्मा महर्षि लोगों ने प्रमाण माना इस से वेद का प्रमाण है। इस से सिद्ध हो गया कि अवान्तरप्रलयों में वेद के प्रचार का सर्वथा अभाव नहीं होता। यदि कोई कहे कि अवान्तरप्रलयों में थोड़े अच्छे ही विद्वान् क्यों बचते हैं निकृष्ट क्यों नहीं बच जाते ? तो उत्तर यह है कि धर्मात्मा विद्वान् लोगों को छोटे २ प्रलयों से विद्या ज्ञान वा धर्म बचाता है। सदा ही नीच अधर्मियों पर आपत्ति अधिक आती हैं प्रलय भी एक अन्धकार तमोगुण में अधिक काल तक पड़ा रहना अधर्म अज्ञान वा अविद्या का ही फल है। महाभारत युद्ध भी द्वापर युगान्त में एक छोटा सा अवान्तरप्रलय हुआ उस में बड़े २ अधर्मियों का ही पहिले २ नाश हुआ पाण्डव और श्रीकृष्ण आदि कई धर्मात्मा बच गये। और परमेश्वर सर्वोपरि विद्वान् धर्मात्मा शुद्ध ज्ञानी है उस की बराबर वा उस से अधिक शुद्ध विद्वान् आदि कोई कभी न हुआ न हो सकता है इसी कारण महाप्रलय में भी उस का प्रलय कभी नहीं होता वह एक ही सब प्रलयों से बच जाता इसी से उस का नाम वेद में उच्छिष्ट वा शेष है। इस से सिद्ध हुआ कि जिस की धर्म विद्या वा ज्ञान सम्बन्धी जैसी वा जितनी आंखें खुल गयीं वह वैसे ही प्रलयादि आपत्ति सम्बन्धी अन्धकूप में नहीं गिरता प्रलयादि से बच जाता है इस से अवान्तरप्रलयों में अच्छे ही बचते हैं बुरे नहीं और कुछ बचने पर भी (प्रलय हो गया सर्व नाश हो गया) इत्यादि कथन में बिगाड़ की अधिकता दिखाने के लिये व्यवहार की शैली है। किसी के घर में चोरी हो जाय वा आग लग जाय और बहुत पदार्थों में कुछ बच भी जाय तो भी यही कहा जाता है कि सर्वनाश हो गया वा सब लेगये कुछ नहीं छोड़ा वैसे ही यहां भी जानो। इस से सिद्ध हो गया कि अवान्तरप्रलयों में वेदप्रचार का अभाव ही नहीं होता तो फिर मन्त्र वा सूक्तों का उन २ ऋषियों को अनुभव (इलहाम) होना भी नहीं मान सकते तो वेदमन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम इस प्रयोजन से नहीं हैं। और यदि यह मानें कि सृष्टि के आरम्भ से ही लाखों करोड़ों अरबों वर्ष तक कभी जब २ जिसने वेद के उन२ मन्त्र सूक्तादि का आशय जान कर प्रचार किया तब से उस २ ऋषि का नाम उन २ मन्त्रादि के साथ लिखा गया तो यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि

ऐसा मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा वा मनु आदि ने भी वेद के सब मन्त्र वा सूक्तादि का अर्थ नहीं जाना सो भी अनि है। मनुस्मृति के आरम्भ में लिखा है कि—

त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभोः ! ॥

इस श्लोक का निर्विवाद सर्वसम्मत अर्थ भी यही है कि हे मनुजी ! आप इस सब अचिन्त्य वेद के मर्मों तक जानने वाले हो इस से सिद्ध है कि सर्गा रम्भ में हुए ब्रह्मा आदि अनेक लोगों ने सर्वांश वेद को जाना था तो कभी किसी २ ने कुछ २ वेद जाना पर नहीं कह वा मान सकते। और ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्तों पर जो २ ऋषि लिखे हैं कि—ऋ० मण्डल १० सू० १० के १। ३ ५–७। ११। १३ मन्त्रों का यमी ऋषि है। २। ४। ८–१०। १२। १४ मन्त्रों का यम ऋषि है। और यमयमी करके यहां दिन रात लिये गये हैं। ऋ० १ । १३ सूक्त का विवस्वान् आदित्य ऋषि लिखा है सो सूर्य का नाम है। ऋ० १०। १४० सूक्त का पावक अग्नि ऋषि है। ऋ० १०। १५१ सूक्त का श्रद्धा ही ऋषि और श्रद्धा ही देवता है। ऋ० १०। १५८ सूक्त का सूर्य का अपत्य चक्षु ऋषि है वास्तव में चक्षु इन्द्रिय का उपादानकारण सूर्य है "सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु०" यहां मन्त्रान्तर में चक्षु कार्य का अपने कारण सूर्य में लय दिखाया है इस प्रकार सैकड़ों सूक्तों में ऐसे ऋषि भी लिखे हैं जिन को वेद का पूर्वापर आशय समझने से देहधारी मानना नहीं बन सकता। तो अब विचारणीय यह है कि वेदमन्त्रों के साथ जो ऋषि लिखे हैं वे कौन हैं वा क्या हैं ?। इस का उत्तर वा समाधान यह है कि—वेदमन्त्रों के साथ जो ऋषि देवता छन्द लिखे जाते हैं वे कोई भी किसी मनुष्यादि निज व्यक्ति के नाम नहीं हैं किन्तु कहीं वे मनुष्यों के नाम भी हैं तो उस शब्द के यौगिक वाच्यार्थ सामान्य मनुष्य के नाम हैं किसी निज के नहीं। ऋग्वेद मण्डल १० के सूक्त १० के आरम्भ में सायणाचार्य ने लिखा है कि—

यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवतेति न्यायात्।

जिस का वाक्य हो वह ऋषि और जो विषय वा वस्तु वा मनुष्यादि वाक्यरूप मन्त्र से कहा जाय वह देवता कहाता है। यह संस्कृत सायणाचार्य

यद्यपि है तथापि "इतिन्यायात्" लिखने से प्रतीत होता है कि किसी उपक्रमणिकादि आर्ष ग्रन्थ का आशय लेकर सायणाचार्य ने यह लिखा है जिस का वाक्य हो इस कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि उस का बनाया वह सूक्त वा मन्त्र माना जाय किन्तु जो सामान्य वा विशेष उस को कहने की योग्यता रखता हो जिस को वैसा वाच्यार्थ कहना चाहिये वा जो कहता है वह जड़ वा चेतन कोई वस्तु हो उस सूक्त वा मन्त्र का ऋषि माना जायगा। जैसे यमी नाम रात्रि की ओर से जहां यम के प्रति कथन है वहां यमी ऋषि और जहां यम की ओर से यमी के प्रति कथन है वहां यम नामक दिन ऋषि है। यहां यदि यमयमी शब्दों से मनुष्य जातीय सामान्य स्त्री पुरुषों का ग्रहण हो तो वे ही ऋषि होंगे। प्रार्थना करने में प्रार्थना करने वाला ऋषि और प्रार्थनीय पदार्थ देवता, स्तुति करने में स्तोता ऋषि और परमेश्वरादि स्तोतव्य पदार्थ देवता है, वर्णन करने में जो वर्णन करे वह ऋषि और जिस बात का वर्णन हो वह देवता है। इस प्रकार जैसे देवता नित्यपदार्थ है वैसे ऋषि भी कोई न कोई नित्य वस्तु है अर्थात् किसी निज २ देहधारी का नाम ऋषि हो तो वह अनित्य हो सकता है। जहां जड़ पदार्थ दिन आदि ऋषि हैं वहां किसी चेतन पर ढाल कर जड़ में कथन का आरोपण मात्र जानो वा उन जड़ वस्तुओं के सृष्टिक्रमानुसार स्वाभाविक वैसे २ गुण कर्मों को प्रकाशित करने के लिये उन २ की ओर से वैसा २ वर्णन वेद में है। चाहे यों कहो कि वेद की शैली ही ऐसी है। इस विषय पर बहुत व्याख्यान लिखने की आवश्यकता है सो यथावसर फिर लिखें गे यह विषय विचार मात्र के लिये लिखा है। इस विचार के अनुसार विश्वामित्र वशिष्ठ भरद्वाजादि जिन २ सूक्त मन्त्रों के ऋषि लिखे हैं वहां २ यौगिक सामान्यार्थ वाचक वे २ शब्द माने जायंगे। जैसे (तत्सवितुर्वरेण्यम्) मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि अर्थात् सब संसार जिस का मित्र हो किसी के साथ जिस की शत्रुता न हो ऐसा अहिंसादि धर्म में तत्पर मनुष्य इस का ऋषि है अर्थात् ऐसा मनुष्य इस मन्त्र द्वारा स्तुति प्रार्थना उपासना करने का अधिकारी है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अघमर्षण सूक्त का अघमर्षण ऋषि वह है जो स्वयमेव पापदोष बुराइयों के छोड़ने हटाने में प्रवृत्त हो और इस (ऋतं च सत्यं चा०) सूक्त द्वारा भी परमेश्वर के स्मरण से निर्दोष बनने की चेष्टा करे वही अघमर्षण है वही इस सूक्त को पढ़े और सोचे समझे। जो अपने

दोषों को छुड़ाने के लिये स्वयं प्रवृत्त नहीं जो पापों से बचने की स्वयं इच्छा वा चेष्टा नहीं करता वह इसी सूक्त से अघमर्षण क्रिया करे तो व्यर्थ ही जानो वह इसी से अघमर्षण ऋषि नहीं हो सकता। अब अघमर्षण सूक्त का अर्थ लिखते हैं—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

अ०—(अभीद्धात्) अभितस्तेजसा ज्ञानप्रकाशेन जाज्वल्यमानात् (तपसः) ज्ञानमयात्परमेश्वरात्। यस्य ज्ञानमयं तप इति ब्राह्मणम्। यदासावीश्वरो जगत् स्रष्टुमीहते पर्यालोचयति तदा तपः करोतीति शास्त्रेषु गद्यते। "तपश्चात्र स्रष्टव्यपर्यालोचनलक्षणमिति सायणः" तादृशात्तपसः (अधि) ऊर्ध्वं सर्गपर्यालोचनरूपप्रादुर्भावानन्तरम् (ऋतं, च, सत्यं, च) ऋतमिति वेदप्रतिपाद्यं याथार्थ्यं मानसं शुद्धसंकल्पनं वा सत्यमिति वाचा यथार्थभाषणम्। चकारद्वयेनान्यदपि सर्वं धर्मकृत्यम् (अजायत) प्रादुर्बभूव (ततो, रात्र्यजायत) ततस्तस्मात्सत्यादेव रात्रिः प्रकाशहीना पृथिवी याऽऽधारभूता सती रमयति प्राणिनः सा रात्रिः। रात्रिरिति पृथिवीस्थानदेवतासु (निघण्टौ ५। ३) पठितम्। देवतापदेनात्र रमणहेतुकं पार्थिवं प्रधानं तत्त्वं ग्राह्यम् (ततः समुद्रो अर्णवः) ततस्तस्मात्पार्थिवसर्गादूर्ध्वमनन्तरमर्णांस्युदकानि विद्यन्तेऽस्मिन्सोऽर्णवः समुद्रोऽन्तरिक्षमजायत। समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु (निघण्टौ १। ३) पठितम्॥

भा०—सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्। सत्यमेव धर्मस्य मूलं सर्वधर्मलक्षणेषु व्याप्तम्। प्राधान्यादुपलक्षणार्थमेतत्। तेन सर्वो धर्मः प्रकृत्या ह्रस्व पुष्टिहेतुश्च गुरुत्व गुणाद्देवोऽयनिर्यायया यथ

मृदएव घटउत्पादयितुं शक्यते नचोदकादेवं शुद्धो धर्मः शुद्धादेवेश्वरादुत्पद्यते । तयोर्धर्मेश्वरयोरुपासकोऽपि शुद्धएवाघमर्षणो भवति । सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौरित्यत्र मन्त्रान्तरे पृथिव्याः स्वस्य सत्ये कारणे स्थितिरुक्ता सर्वं वस्तु स्वस्य-स्वस्य कारणएव स्थातुमर्हति कारणादन्यत्र स्थितिरसम्भवा । यथा पार्थिवानि मनुष्यादिशरीराणि पृथिव्यामेव स्थितिं लभन्ते नान्यत्र तेन सिद्धं सत्यमेव पृथिव्याः कारणम् । अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योर्मध्यं तच्च पृथिवीसर्गानन्तरमेव व्यवस्थापयितुं शक्यते । यस्मिन्सति यत्सम्भवत्यसति च न सम्भवति तत्तस्य कारणं कार्यमितरदिति सत्यामेव पृथिव्यामन्तरिक्षं सम्भवति तस्मादन्तरिक्षस्य पृथिवीकारणम् । रात्रिपदेनात्र तमःप्रधानाः पापदोषाः पृथिव्यां मनुष्यादिषु सूचितास्तएवाघपदवाच्यास्तेषां मर्षणं निवृत्तिर्धर्मेश्वरयोरुपासनया कार्येत्याशयः ॥ १ ॥

भाषार्थः-(अभीद्धात्तपसः) ज्ञानरूप प्रकाश से जाज्वल्यमान ज्ञानस्वरूप परमेश्वर से [जब सृष्टि के आरम्भ में जगत् रचने के लिये परमेश्वर अपने स्वाभाविक ज्ञान में आलोचन करता है कि अमुक २ वस्तु इस २ प्रयोजन के लिये ऐसा २ बनाना चाहिये उसी को शास्त्रों में तप करना कहते हैं सायणाचार्य ने भी लिखा है कि "रचने योग्य पदार्थों का पर्यालोचनरूप यहां तप लेना है"] (अधि) पश्चात् (ऋतं च सत्यं च) वेदोक्त सत्य धर्म वा मन का शुद्ध संकल्प ऋत, मन तथा आत्मा में जैसा हो वैसा वाणी से बोलना सत्य कहाता तथा दो चकारों से अन्य भी धर्मसम्बन्धी व्यवहार (अजायत) प्रकट हुए (ततो रात्र्यजायत) उसी सत्य से प्रकाश हीन आधाररूप हो कर सब प्राणियों को अपने ऊपर रमण कराने वाली रात्रि नामक पृथिवीस्थ देवता प्रकट वा उत्पन्न हुई । रात्रि यह पृथिवी स्थान देवता का नाम निघण्टु में है । देवता कहने से पृथिवी तत्त्व का प्रधानांश यहां लेना है (ततः समुद्रो अर्णवः) उस पृथिवी सृष्टि के अनन्तर सूक्ष्म धूमरूप से जिस में जल विद्यमान हैं ऐसा समुद्र नाम अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ । समुद्र नाम निघण्टु में अन्तरिक्ष का है ॥

गत अं० ९।१० के पृ० २०० से आगे आर्यस० का भावीकर्त्तव्य ॥

बढ़े हुए गुरु माहात्म्य को जगत् की अवनति का कारण समझ कर खण्डन किया सो ठीक ही है "सर्वमत्यन्तगर्हितम्" सब बातों की अति बुरी होती है। गुरु के अतिमाहात्म्य ने परमेश्वर से विमुख किया। ईश्वरीय विद्या वेद से शून्य रह कर अज्ञानी होगये अविद्या छागयी। और गुरु की प्रतिष्ठा भक्ति यथोचित करनी भी आवश्यक है सो मिथ्या भक्ति बढ़ जाने से उस को बुरा समझने वालों ने यथोचित भक्ति वा प्रतिष्ठा भी छोड़ दी इस से दोनों प्रकार के मनुष्य इष्ट प्राप्ति से वञ्चित रहे—इस आर्यसमाज के भावीकर्त्तव्य के व्याख्यान में गुरु विषय पर लिखने से हमारा प्रयोजन यह है कि श्रीमत्स्वामि दयानन्दसरस्वती जी महाराज हम आर्यसमाजस्थों के गुरु हैं क्योंकि उन्हों ने सच्चा वेद का मार्ग हम सब को बतलाया वास्तव में सत्यमार्ग का जताने वाला ही गुरु होता है। सब मनुष्यों को सत्यासत्य के विवेचन की शक्ति नहीं होती जो प्रबल विद्वान् सत्यवादी सत्यप्रिय धर्मज्ञ धर्मात्मा हो वह गुरु होने योग्य होता है उस को अपने कल्याण के लिये गुरु मानना हमारा काम है। अब हम को भी उचित है कि सार्थक यथोचित गुरु परम्परा को मानते हुए हम श्रीस्वामी जी के बताये सत्य वेदमार्ग में चलें वेद के पठन पाठन को अपना परमधर्म समझें वेद में लिखे सिद्धान्त को निर्भ्रान्त मानें। स्वामी जी महाराज का नाम लेते उन को गुरु कहते मानते हुए भी हम अन्य भाषाओं का ही केवल पठन पाठन करें वा कोई भाषा भी पढ़ें न अपना कुछ धर्म कर्म सुधारें तो कहिये हम ने क्या गुरु को माना का केवल नाम लेकर भक्ति की तो हमारा क्या सुधार होगा। स्वामी जी के लेख वा पुस्तकों को वेद से अधिक वा वेद की बराबर कदापि नहीं मानना चाहिये। किन्तु उन के लेख वा पुस्तकादि को वेद की ओर चलने के लिये साधन मानें कि इन में लिखे प्रकारों से हम वेद को पढ़ें जानें तो हमारा कल्याण अवश्य हो सकता है। तात्पर्य सब का यह है कि यदि हम केवल गुरुभक्ति करें और गुरु के कहे अनुसार वेद के पढ़ने पढ़ाने समझने में श्रम न करें तो उसी बिगड़ी गुरु परम्परा के अनुसार हम भी चले तो हमारा सुधार कुछ न होगा। द्वितीय यदि गुरुकृत उपदेश वा ग्रन्थों को अन्य लोगों के समान वेद से भी बढ़ कर मान बैठें वेद के पठन पाठन की कुछ आवश्यकता न समझें तो इस कारण वेद से विमुख

पहिले से हुए और हमारी अत्यन्त अधोगति हो गयी वही दोष अब भी बना रहे तो हम कदापि नहीं सुधर सकते। इस कारण बिगड़ी गुरुपरम्परा को ठीक २ सुधारना भी हमारा (आर्यसमाज का) एक प्रधान भावीकर्त्तव्य है।

इसी प्रसंग में हम को एक बात यह भी वक्तव्य है कि जैसे बिना नींव की भीत चठायी जाय तो अधिक काल तक नहीं ठहर सकती प्रत्येक समय उस के गिर जाने की सम्भावना बनी ही रहती है जैसे बिना मूल वा जड़ का वृक्ष लगाया जाय तो हराभरा हो कर खड़ा नहीं रह सकता वैसे ही इस संसार में निर्मूल कोई बात वा कोई वस्तु चिरस्थायी रह कर कार्यसाधक नहीं हो सकता। जगत् में जो सच्ची बातें फैलती हैं वे समूल होने से चिरस्थायिनी होतीं जो मिथ्या निर्मूल बातें उड़ जाती हैं वे अधिक काल तक नहीं चलतीं। इसी के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से अब तक संसार में विद्या और धर्म के नाम से सैकड़ों वा सहस्रों मत मतान्तर उत्पन्न हुए बीच २ नष्ट होते गये सैकड़ों वा सहस्रों ही निर्मूल वा ऐसे निर्बल अल्प मूल [जड़] वाले ग्रन्थ बने और नष्ट होते गये। इस का अनुमान हमारे पाठक लोग इस रीति पर कर सकेंगे कि अब से दश वर्ष पहिले साधारण मनुष्यों ने कौन २ पुस्तक बनाये थे कौन २ कैसे २ समाचारपत्र निकलने आरम्भ हुए थे उन में से अब कितने विद्यमान हैं ?। इस का पता लगाया जाय तो आधे भी पुस्तक वा समाचारपत्र दश वर्ष से पहिले के अब न होंगे। बीश वर्ष से पूर्व के चतुर्थांश भी मिलने दुस्तर हैं। और कोई पुस्तक सैकड़ों सहस्रों वर्ष के बराबर चले आते मिलें गे। इस से यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो ग्रन्थ वा जो मत वा सिद्धान्त जितने कम वा अधिक काल तक जैसी दृढ़ता से और जैसी प्रतिष्ठा वा रुचि के साथ जगत् में ठहरता है वैसा ही वह समूल वा निर्मूल है वा यों कहो कि वैसा ही न्यून वा अधिक उस में सत्य है जो समूल है वह सत्य और निर्मूल है वह असत्य है। इसी अंश पर मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥२॥ अ० १२

जो २ वेद से विरुद्ध पुस्तक वा उपदेशादि बीच २ संसार में नये २ बनते वा प्रचरित होते हैं वे निर्मूल वा असत्य होने से जल में उठने वाले बलबूलों के समान थोड़े काल में नष्ट होते जाते हैं । इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि जैसे इस समय भी सैकड़ों मतमतान्तर निर्मूल असत्य होने से वेदविरुद्ध कहने योग्य चल गये हैं जिन का पर्य्यालोचन करो तो शीघ्र ही उन की निर्मूलता वा मिथ्यापन प्रसिद्ध होता जाता है अच्छे २ विचारशील पुरुषों में उन का कुछ भी गौरव नहीं जमता दिन प्रतिदिन खण्डन होता जाता है । वैसे आर्य्यधर्म वा आर्य्यसमाज का सिद्धान्त वेदविरुद्ध नहीं इसी से वह समूल वा सत्य कहने मानने योग्य अवश्य है परन्तु इस आर्य्यसमाज में अबतक जो २ भिन्न २ स्वभावों के भिन्न २ विचारों के भिन्न २ प्रदेशों के जितने मनुष्य प्रविष्ट हुए हैं उन में से अधिकांश मनुष्यों का वर्त्तमान काल में जैसा प्रवाह दीखता है उस से यह अनुमान अवश्य होता है कि आर्य्यसमाज की दशा हिलचल होती जाती है । सो प्रत्यक्ष आप देख लीजिये कि वृक्ष की डालियों पर जो पक्षी आदि बैठते हैं वे थोड़े वायु से भी डालियों के साथ डमाडोल होते रहते हैं उन का दृढ़तापूर्वक स्थिर रह सकना दुर्लभ है । यदि कोई मनुष्यादि वृक्ष के दृढ़मूल को पकड़े हो तो बड़ी प्रबल आंधी के चलने में भी कदापि न हिलेगा । वैसे ही आर्य्यसमाज का उद्देश यही था और है कि जिस की जड़ परमेश्वर है जो सब मूलों का मूल सब सत्यों का सत्य है जिस के स्वरूप में महाप्रलय के समय भी किंचित् भी हिलचल नहीं होती उस की अनादि विद्या वेदरूप मूलवृक्ष को पकड़ें, जिस की जड़ें पाताल से भी आगे अनन्त व्यापक परमेश्वर में विद्यमान हैं जिस वेदवृक्ष को जड़ से उखाड़ने के लिये आज तक सैकड़ों वार नास्तिकादि असुर दलों की बड़ी २ भयङ्कर आंधी चली पर किसी की शक्ति न हुई कि वेदरूप मूल को किंचित् भी हिला सकता उसी वेदवृक्ष की सघन छाया का आश्रय लेना आर्य्यसमाज का मुख्य उद्देश्य था और है उसी की ओर मुख कराना उसी सच्चे दृढ़ मार्ग पर लाने के लिये हमारे गुरु श्रीमद्दयानन्द स्वामी का उद्योग वा परिश्रम था । यदि आर्य्यसमाज के अधिकांश मनुष्य वा प्रधान २ प्रबल बुद्धिमान् विचारशील लोग एक चित्त हो कर वेद को पकड़ें और आगे २ लोगों को वैसे ही वेद की ओर झुकाते चलें तो निश्चय है कि आर्य्यसमाज की हिलचल दशा मिट जाय। आर्य्यसमाज यदि वेद की ओर यथावत् नहीं झुका

तो बहुत काल पीछे यह भी मत अन्य मतों के समान निर्मूल हो कर अस्त सा हो जाय तो आश्चर्य नहीं । इस लिये आर्यसमाजस्थ महाशयों से हम सविनय निवेदन करते हैं कि आप सचेत हों वेद की ओर मुख फेरें आर्यसमाज के वेदमूलक उद्देश को सफल करें । और उस की रीति यह है कि आप लोगों के हजारों सन्तान १० । १० । १५ । १५ वर्ष अन्य भाषाओं के पढ़ने में परिश्रम करते हैं उन में से दशांश वा शतांश ही लोगों को वेद वेदाङ्ग पढ़ाइये अधिकांश लोगों की सम्मति वा सहायता से एक केवल वैदिक पाठशाला खोलिये जिस में कम से कम ५००) मासिक व्यय का प्रबन्ध कीजिये । और उस के साथ एंग्लो की पूंछ न लगाइये । निश्चय मानिये कि जहां अंगरेजी संस्कृत दोनों को मिला कर रक्खेंगे वहां अंगरेजी का पठनपाठन शिक्षा अतिप्रबल पड़ कर शीघ्र ही संस्कृत को दबा लेगी । अंगरेजी इस समय महारानी बड़ा प्रबल राजा है राजा के सामने प्रजा सदा ही दब जाती है वा यों सही कि एक ही स्थान में दो प्रकार के उत्तम २ सामान विषयासक्ति और वैराग्य वा ज्ञान धर्म के एकत्र किये जायं तो वहां जाने वाले प्रायः सभी लोग अतिप्रिय रोचक विषयभोग के साधनों पर गिरेंगे । और ज्ञान वैराग्य वा धर्म के रूखे सूखे फीके साधनों को कदाचित् कोई विरला ही पुरुष ग्रहण करे यह सम्भव है । वैसे ही अंगरेजी को संस्कृत के साथ करना ऐसा है जैसे किसी को ब्रह्मचारी बनाना अभीष्ट हो उस के साथ एक सुन्दरी युवति कन्या करदी जाय तो जैसे उस का ब्रह्मचर्य यथावत् रह सकना कठिन वा दुस्तर है वैसे अंगरेजी के साथ होने पर कोई पुरुष वेद वेदाङ्ग पढ़कर कृतकार्य हो जाय यह दुर्लभ है । वेद की महती पाठशाला सब आर्यसमाजों की ओर से कहीं मध्यस्थान में एक हो इस की अत्यन्त ही आवश्यकता है ।

आर्यसमाज का द्वितीय कर्त्तव्य परमावश्यक यह है कि सब प्रान्तों के विशेष परिगणित पुरुषों की एक उपसभा नियत की जाय उस में अधिकांश वेही लोग सम्मिलित किये जावें जो आर्यसमाजों में दीर्घदर्शी, गम्भीर, धर्मानुरागी, वेद के पूर्ण विश्वासी, वैदिक धर्म के सूक्ष्मांशों के शोचने में जिन की बुद्धि कुछ वा अधिक चलती हो ऐसे मनुष्य भले हों अधिक न मिलें दश हों पांच हों वा चार हों छः हों। तो कोई चिन्ता नहीं क्योंकि बहुतों से अच्छा विचार वा निर्णय नहीं होता और अच्छे बहुत होते भी नहीं । इस अंश में मनु का यह सिद्धान्त ठीक है कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद के अगाध सिद्धान्त में जिस की बुद्धि तरती हो डूब न जाती ऐसा वेदज्ञ एक भी पुरुष जिस धर्म का निर्णय करे उस को सर्वोत्तम धर्म लना चाहिये । और अज्ञानी लोग लाखों मिल कर भी बहुसम्मत्यनुसार निर्णय करें वह कुछ निर्णय नहीं मानना चाहिये न वह धर्म हो सकता इस लिये थोड़े मनुष्यों की सभा होना अनुचित नहीं किन्तु उचित ही यह सभा सब आर्यों वा आर्यसमाजों की ओर से नियत होनी चाहिये । को सब आर्य वा आर्यसमाज अपना नेता मानें । यह सभा धर्मादि जिन षयों का जैसा निश्चय करदे वैसा ही सब आर्यसमाजों में प्रचार किया जा यह सभा जिन किन्हीं धर्मादि विषयों को विचारसाध्य जितने काल तक र तब तक कोई आर्य वा आर्यसमाज उन विषयों का कुछ भी प्रचार न करे । सभा का अधिवेशन कम से कम छः मास में हुआ करे । वार्षिक अधिवेश में सदा ही आर्यधर्मोपदेशकों की परीक्षा इसी सभा में हुआ करे योग्यतानुस उपदेशकों को प्रशंसा पत्र तथा उपाधि देना सभा का ही काम रहे । सभा अन्य नियम वा कर्त्तव्य सभा के लोग मिल कर स्वयमेव निर्णय करलें । ऐ सार्वदेशिक सभा जो आर्य वा आर्यसमाज मात्र की अधिष्ठात्री मानी जाय जि के होने से आर्यसमाज विना सेनापति की सेना न रहे अवश्य होनी चाहिये

आर्यसमाज का तीसरा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि अपने लिये अनेक शों में साध्य कोटि को प्रधान मानें सिद्ध कोटि में प्रविष्ट हो जाने वालों आगे २ उन्नति नहीं होती । अर्थात् यह मानना चाहिये कि जिन सामान्य वि षयों में सिद्धान्त निर्णय वा पक्का हो चुका है कि—एक अनादि निराकार प मेश्वर की उपासनाभक्ति करना, वेद को ईश्वरीय विद्या मानना उस में लि आज्ञाओं का स्वीकार इत्यादि सिद्धान्त निश्चित हो चुके इन में कुछ विक नहीं रखना चाहिये । और ईश्वर की भक्ति उपासना कैसे २ करनी चाहि हमारे मन में परमेश्वर का दृढ़ विश्वास कैसे जमे, हमारा पूरा प्रेम पूरा ईश्वर के कैसे होवे वेद में किन २ मन्त्रों का किन २ रीति से व्याख्यान है, वेद के ईश्वरीय विद्या होने में हम को पूरा दृढ़ निश्चय कैसे हो

फिर किसी प्रकार का विकल्प शेष न रहे इत्यादि बातें सदा ही मनुष्यों को चार साध्य माननी चाहिये और सदा ही उन के सूक्ष्मांश को जानने के लिये द का पठनपाठन वा सत्सङ्गादि उद्योग करना चाहिये ।

चौथा कर्त्तव्य यह है कि वेद को स्वतः प्रमाण मानने का प्रयोजन यह माना चाहिये कि जिन २ विषयों में वेद के निर्विवाद प्रकरणानुकूल अक्षरार्थ से जो सिद्धान्त सूचित होता है उस का निर्णय वेद से जैसा हो वैसा ही मानें और जैसा वेद का आशय प्रतीत हो उस में युक्ति भी खोजें किन्तु हम को जो बातें युक्ति से ठीक प्रतीत होती हों उन के पीछे वेद को चलाने का उद्योग न करें अर्थात् अपनी राय में वेद की राय न मिलावें किन्तु वेद की राय में अपनी राय मिलाने का सदा उद्योग करें तभी वेद का स्वतःप्रमाण मानना ठीक बन सकता है । और यदि अपने विचार के पीछे हम वेद को चलावें तो हमारा विचार स्वतःप्रमाण हुआ और वेद परतःप्रमाण हो जायगा । वेद को जब हम ईश्वरीय विद्या मान लिया तो उस में कोई बात हमारी समझ से भिन्न वा विरुद्ध भी प्रतीत हो तो हम को यह मानना चाहिये कि हमारी बुद्धि थोड़ी है वहां तक न पहुंची होगी कालान्तर तक सोचें विचारें विद्वानों के द्वारा निश्चय करते हैं । यदि वास्तव में वेद ईश्वरीय है तो उस में लिखी कोई बात किसी काल में मिथ्या नहीं हो सकती और हम को जो अपनी बुद्धि वा युक्ति के अनुसार ठीक प्रतीत हो वह भी मिथ्या हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और हम अल्पज्ञ हैं । तात्पर्य यह है कि हम अब तक जो कुछ अच्छा समझ चुके हैं उस को वेद से मिलाने का उद्योग करें वेद का पर्यालोडन करते हुए अनेक वार वेद को आद्योपान्त देख २ विचार २ अपने मन्तव्यों को वेद से मिला कर पक्का दृढ़ करें यदि हमारा समझा हुआ कोई विषय वेद से विरुद्ध निकले तो हम उसे छोड़ दें और वेद के सिद्धान्तानुसार सत्य का ग्रहण करें । और जिन को अब तक हम बुरा समझ चुके हैं उन को भी वेद के सूक्ष्मसिद्धान्तों से मिलान करें यदि उन में कोई बात ऐसी निकले जिस को सत्य वेदानुकूल मानना चाहिये तो हम को अपने नियमों के अनुसार अत्यन्त उचित है कि उस को ठीक मानने लगें । ऐसा होने से ही हमारा यह नियम सत्य ठहर सकता है कि "सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना [illegible] मानने पर ही आर्यसमाज पूर्ण आस्तिक लोगों की मण्डली कहा वा माना जा सकता है ।

इस में कोई यह प्रश्न करे कि पाषाणादि मूर्त्तियों की पूजा, शैव वैष्णवादि मता-
वन के कण्ठी तिलकादि का धारण इत्यादि बातों में से कोई वेद में वा वेद के
सिद्धान्त के अनुकूल ठहरें तो क्या आर्यसमाज ऐसी बातों को मानने लगेगा ?
और ऐसा मानने पर क्या आर्यसमाज कहा जा सकेगा ? वा हिन्दूसमाज हो
जायगा ? ।

इस का उत्तर वा समाधान हम यह देते हैं कि वास्तव में हिन्दुसमाज की
दशा बहुत बिगड़ गयी है हिन्दुसमाज के अधिकांश मनुष्यों का किसी मन्तव्य
धर्मादि विषय पर पूर्ण विश्वास नहीं है। इसी के अनुसार आज कल के पढ़े
लिखे वा संस्कृत के पण्डित लोग वेद को पूर्वज ब्राह्मण ऋषियों का बनाया मा-
नते हैं। उन्हीं हिन्दुओं में से कुछ लोग छट कर आर्य बने हैं उन में से हि-
न्दुपन अभी गया नहीं और न ठीक आर्यपन अभी आया है इस के लिये कुछ
समय चाहिये सो भी यदि मार्ग न भूलें आर्यत्वाभास को आर्यत्व मान कर न
चलने लगें वेदरूप नौका पर सवार होने का पूरा उद्योग करते जावें तो कुछ
काल में आर्य बन सकते और हिन्दुपन छूट सकता है। वेद पर जैसा सत्य २
विश्वास होना चाहिये वेद की ओर जैसा झुकना चाहिये वेद का जैसा
पठन पाठन वा प्रचार करना कराना चाहिये वैसा होने लगे तो ऐसी शङ्का
स्वप्न में भी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी लिये मैंने पूर्व लिखा है कि
हम आर्यसमाजी लोग यदि इस समाज को चिरस्थायी करना चाहते हैं तो अपने
उद्देशों के अनुसार वेद के पठन पाठन का शीघ्र ही प्रारम्भ करें। अदृष्टमार्ग में
सब सन्देह हुआ करते हैं जो मार्ग देखा होता है उस के सामान्य वस्तुओं का
बोध होने से विशेष बातों का विशेष निर्णय न होने पर भी ऐसे सन्देह नहीं
रहते। यदि किसी मूर्ख मनुष्य से कोई कह दे कि पाणिनि ऋषि की बनायी
अष्टाध्यायी में लिखा है कि वेद मन्त्रों से सन्ध्या करना अच्छा नहीं किन्तु सायं
प्रातःकाल किसी पीसने की चक्की को हाथ जोड़ ले तो बड़ा पुण्य होगा। तो
सम्भव है कि मूर्ख मनुष्य को ऐसा सुन कर सन्देह होजाय परन्तु जिस को यह
ज्ञात है कि प्रकृति प्रत्यय की कल्पना द्वारा शब्दों की सिद्धि दिखाना अष्टा-
ध्यायी व्याकरण का विषय है उस में ऐसी बात कब लिखी जा सकती है उस
को ऐसी बात सुन कर भी कुछ सन्देह नहीं हो सकता। वैसे ही वेद का वि-
षय जिस को कुछ भी ज्ञात नहीं उस को जो कुछ सन्देह हो सो ही थोड़ा है।

मान लो कि कोई वैष्णव पुरुष ऐसा प्रश्न करता है कि वेद में मूर्त्तिपूजा लिखी हुई कहीं कभी निकल आवे तब तुम मान लोगे ? क्योंकि तुम ने तो सब वेद देखा नहीं है। तो हम भी उस वैष्णव से प्रश्न करें गे कि विष्णु की मूर्त्ति बनाकर पूजना कण्ठी तिलक और छाप लगाने को वेद में पाप लिखा कहीं कभी निकल आवे तो तुम मान लोगे तब यदि वह कहे कि ऐसी बातें वेद में होनी असम्भव हैं तो फिर मूर्त्तिपूजा का होना हम भी असम्भव कहते हैं। जब वेद ईश्वरीय विद्या है तो उस में ईश्वरता से विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता और यदि हो सकता है तो वेद ईश्वरीय नहीं ठहराया जा सकता इस लिये ऐसे प्रश्नों को अवकाश नहीं है। वेद के सामान्य विषयों को भी जब हम जान लें तो ऐसे सन्देह न हों और वेद को पठन पाठन किये विना जान नहीं सकते। जब वेद को कुछ जानें तब सन्देह मिटें बुद्धि निश्चयात्मक हो सङ्कल्प विकल्प दूर हों। "बुद्धेः फलमनाग्रहः" बुद्धि होने का फल यह है कि हठ दुराग्रह छूट जाय। ऐसी दशा में वेद में लिखा हो कि अमुक २ काल में तुम प्राण दे दो तो प्राण दे देना भी हमारा परम कर्त्तव्य है तब आर्यपन हम में आवे तो सन्देह भी स्वतएव दूर हो जावें जैसे प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं ठहर सकता वैसे वेद के सिद्धान्त का बोध होने पर सब सन्देह भी दूर भाग जाते हैं।

वेद के सम्बन्ध में हमारा पञ्चम कर्त्तव्य यह है कि हम विधि पूर्वक नियमानुसार वेद के पठन पाठन को अपना परमधर्म अवश्य मानें। मानवधर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में लिखा है कि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१॥

अर्थः—जो ब्राह्मणादि द्विज पुरुष विधि के साथ अर्थात् एकान्त शुद्ध देश में जा शौच स्नानादि कर इन्द्रियों को वशीभूत करके परमेश्वर की भक्ति में ध्यान लगा सब कामों से मन और आत्मा को हटाकर मार्जन आचमन प्राणायामादि नित्यक्रिया करके एक वर्ष तक भी बराबर नियत समय वेद का पाठ उसी ओर मन लगा कर करता है उस के धर्मार्थ काम मोक्ष सभी चारो फल सिद्ध हो जाते हैं। यहां पय दधि घृत मधु इन चार शब्दों से धर्मार्थ काम मोक्ष का ग्रहण अन्य टीकाकारों ने किया है सो अनुचित नहीं किन्तु यह

धन्यवाद ॥

।॥) पं० गंगाप्रसाद शर्मा गोहाटी, २) बा० बलदेवप्रसाद जी इटावा, १) पं० दुर्गीलाल जी इटावा, ।) मास्टर गुन्दीलाल जी इटावा, २) बा० बलदेवप्रसाद जी इटावा, ५) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर धर्मार्थ, १) दाऊ प्यारेलाल जी इटावा, ५॥) भीमसेन शर्मा इटावा, =) भगवद्दत्त इटावा, =) निरञ्जनदेव इटावा, २) बा० शिवप्रसाद जी इटावा, ५) बा० द्वारकाप्रसाद रजिष्ट्रार कानूनगो गाजीपुर, १) चौ० जंगसिंह जी गढ़िया जि० मैनपुरी, १) पं० दुर्गीलाल जी इटावा ।) बा० प्यारेलाल जी रेंजर इटावा, २) पं० जगन्नाथ सुकुल ने पुत्र के चूड़ाकरण में दिये, १) पं० लेखराम ओवरसियर इटावा, २) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर, १) लल्लू मिस्त्री इटावा १) चौ० पद्मसिंह जी, १-) पुस्तकों के, १) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा, २) बा० युगलविहारीलाल जी इटावा, १) पं० मातादीन जी वकील इटावा, १) मास्टर गुन्दीलाल के भतीजे ने दिया, १॥=) जगमोहनलाल वर्मा बस्ती ने विवाहोत्सव में दिया—

यह सब ४१।॥≡) धन अप्रेल मई दो महिनों में पाठशाला सम्बन्ध में धर्मार्थ आया। उक्त महाशयों को धन्यवाद है परमेश्वर उन का अभीष्ट सिद्ध करे। और आशा है कि अन्य लोग भी यथाशक्ति कुछ २ सहायता करते रहेंगे। और इन दो महिनों में ५२।≡)। सब खर्च हुआ। इस में १२)॥ पाठशाला के छप्पर आदि मकान के ठीक करने में और ६-)॥ एक विद्यार्थी का यज्ञोपवीत कर ब्रह्मचारी बनाने में व्यय हुए तो शेष ३४।-)। दो मास में ५ विद्यार्थियों के भोजनादि में व्यय हुए।

सूचना ॥

हम अपने प्रियपाठक महाशयों को सविनय सूचित करते हैं कि आर्यसिद्धान्त में वेद सम्बन्धी विषयों के नये २ लेख अब छपते और आगे २ वेद सम्बन्धी विचार ही अधिकांश छपा करेंगे। आपलोग विशेष ध्यान दे २ कर उन लेखों को लौट २ पढ़ा करेंगे तो कोई सन्देह भी किसी अंश में होगा वह उस को विचारपूर्वक पढ़ने से स्वयमेव निवृत्त हो जायगा। यदि इतने पर भी सन्देह निवृत्त न हो तो मनमाने संकल्प विकल्प न उठा कर उस का उत्तर पत्र द्वारा मुझे पूछा करें आशा है कि ठीक २ समाधान हो जाया करेगा। मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय में ब्राह्मणादि वर्णों के लिये गायत्र्यादि मन्त्र मैंने भिन्न २ लिखे वा दिखाये हैं। सो इस विषय में कई महाशयों को कुछ २ सन्देह हुए हैं। ब्राह्मणादि वर्णों के लिये दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत, वस्त्र आदि प्राय

जैसा किन्हीं का भेद मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में लिखा है उस पर कोई सन्देह किसी को नहीं हुआ न होता है केवल मन्त्रभेद में सन्देह होने का कारण यह प्रतीत होता है कि--कुछ काल पहिले से किन्हीं ब्राह्मणों ने यह प्रचार चला-दिया था कि (तत्सवितुर्व०) इस गायत्रीमन्त्र का क्षत्रिय वैश्यों को अधिकार नहीं । इसी दूध के जले मट्ठे को भी फूंक २ पीने लगे । महाशयो ! ये सब झगड़े गुण कर्म स्वभावों का मिलान छोड़ कर केवल जातिमात्र से ब्राह्मणादि वर्णों का मानना चल गया तब से उत्पन्न हुए थे । मेरा लेख लौकिक विचार वा व्यवहार परक नहीं है किन्तु मैं शास्त्रों का सिद्धान्त लिखता हूं । वेदादि शास्त्रों में गुण कर्म स्वभावानुसार ब्राह्मणादि वर्ण माने जाते हैं जिस में ब्राह्मण-पने के गुण कर्म स्वभाव अधिक वा प्रबल हैं वह चाहें क्षत्रिय वैश्यादि के किसी समुदाय में उत्पन्न क्यों न हो वही ब्राह्मण है उस को ब्राह्मणपन की वृद्धि वा उन्नति के लिये जो उचित है वैसी प्रार्थनोपासना करनी चाहिये । जो स्वभाव से ही क्षत्रियपन के गुण कर्मों का धारण वा चाहना रखता है वह वैश्य शूद्रादि किसी जाति में उत्पन्न हो शास्त्रानुसार क्षत्रिय कहा वा माना जायगा उस को क्षत्रि-यपन की उपासना प्रार्थना करनी चाहिये, जब भिन्न २ कामना चाहना गुण कर्मादि से ब्राह्मणादि वर्ण भिन्न २ नियत होते हैं तब चाहना वैश्यपन की हो और ब्राह्मणपन मांगा जाय क्या यह उलटा वा व्यर्थ न होगा ? इसी दोष को मि-टाने के लिये वेद में ही मन्त्रभेद लिखा है । यजुर्वेद अ० १० । मन्त्र १० । ११ । १२ ।

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु० ब्रह्म द्रविणम् । त्रिष्टुप्त्वावतु०-क्षत्रं द्रविणम् । जगती त्वाऽवतु० विड् द्रविणम् ।

यहां तीन वर्ण के लिये तीन गायत्री आदि छन्द भिन्न २ कहे हैं । यदि कोई कहे कि इस का यह अर्थ नहीं तो वसन्त में ब्राह्मण के , ग्रीष्म में क्ष-त्रिय के, वर्षा में वैश्य के यज्ञोपवीत का जो कालभेद सूत्रादि में लिखा है उस के लिये भी ये मन्त्र प्रमाण वा मूल न हो सकें गे । इसी के अनुसार शतप-थब्राह्मण में भी लिखा है कि “गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यम् । ” इस प्रकार प्रमाण और युक्ति दोनों के अनुकूल है । गुण कर्म स्व-भावानुसार वर्णव्यवस्था मानने पर पक्षपात का भी लेश नहीं फिर ऐसे निर्दोष विचार को न मानना वा दोष देना ठीक नहीं है । जब वेद पढ़ने का क्षत्रिय वैश्यों को अधिकार है तो गायत्री का अधिकार भी स्वतएव आगया । जैसे ब्र-ह्मचारी हो कर धन पुत्रादि मांगना विरुद्ध है । वैसे क्षत्रियपन वा वैश्यपन की चाहना रखने वाला ब्राह्मणपन को ? ।। यह भी विरुद्ध है मन्त्रभेद न होने पर यह दोष आवेगा । इति शम्—

भीमसेन शर्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १। २

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ
४ अक्टूबर सन् १८९६ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

१ जुलाई से ३१ अगस्त तक ९६

७४४ बा० रघुनाथ जी—छपरा	१।)	९०२ बा० मतवालाराम जी—झंग	२॥)
५६ जेठीराम जीणाभाई देलवाड़ा	१।)	५४ शिवराव संगीश संजश्वेर	१।)
९५ बा० गोपालदास जी अलवर	२)	१०२५ रामलाल जी बजाज खुर्जा	२॥)
८७ बा० हेमराज पारूलम हैदराबाद	२॥)	६८० गोपालसहाय सिकन्दपुर	२॥)
८२ बा० घनश्यामदास कलकत्ता	१॥।)	८९२ बा० हरदयालुसिंह जी गोंड़ा	२॥)
०५ बा० बहादुरसिंह जी नाहन	२।)	५९३ लछमणदास पुजारी नाहन	२॥)
७१ लीलापति तुलसीराम आगरा	३॥।)	३८७ बा० रमादत्त जी चकराता	२॥)
५९ मंगुलाल पदमसिंह पारावठी	१।)	४८८ बा० कुन्दनलाल जी व्यावर	२॥)
७० परमेश्वरदीन शुक्ल भगवन्तनगर	२॥)	४६२ श्री० वालासिंह जी उज्जैनि	२॥)
६४ बा० दीवानचन्द जी शिमला	१।)	८५८ बा० भगवानचन्द नालागढ़	२॥)
६० बा० चूड़ासिंह जी रावलपिण्डी	१।)	१८८ बा० भण्डारीलाल शिमला	२॥)
७७ बोदोमल पुल्लूमल हैदराबाद	२॥)	४४९ ला० नाथूराम जी अलीगढ़	२॥)
११९ बा० भोलानाथ जी झांसी	२॥)	९१ ला० रामसिंह सौ० अमृतसर	२॥)
०४ श्री० कृष्णराव रेगे हर्दा	२॥)	१०३४ कर्मचन्द जालाण कलकत्ता	१।)
१२९ श्रीरामनारायण जी जलसेर	१।)	७५ ला० जीवनदास जी लाहौर	२॥)
०१ श्रीजयराम जी शर्म्मा मेरठ	२॥)	९७८ राधाकृष्ण वैश्य समसाबाद	२॥)
७४० श्रीगंगादीन जी जबलपुर	२॥)	८३३ पं० शङ्करनाथ जी कलकत्ता	२॥)
३१८ बा० लक्ष्मणप्रसाद जबलपुर	॥)	१२३ पं० वंशीधर जी कोंच	२॥)
५७३ दिवाकरदत्त जी शर्म्मा हिसार	२॥)	११४३ श्रीसोभातलपदे मुम्बई	१।)
९४३ श्रीनन्दकिशोर जी जयपुर	२॥)	१४७ चिरंजीवलाल दुलीचन्द मुम्बई	१।)
५३८ बा० टाँकनलाल जी—कोटा	२॥)	४७० बा० हनुमानप्रसाद लखनऊ	१।)
८७१ पं० विश्वनाथ फीरोजपुर	२॥)	१०७८ डा० रामलगनसिंह सिहोरा	१।)
९१६ राना दुर्गासिंह रियासत—भज्जी	२॥)	८९४ भानुशंकर रणछोर पालीताणा	२॥)
८७६ प्यारेलाल जी सोनी पिनहट	२॥)	२३५ मन्त्री आर्यसमाज फीरोजपुर	२॥)
९९९ बा० मुकुन्दलाल जी आरा	२॥)	२९० मोतीलाल कुबेरदास मेराई	२॥)
९४२ बा० भैरवप्रसाद जी जयपुर	२॥)	४३० बा० खुशीराम जी शिमला	२॥)
७५१ बा० [illegible] मोतीहारी	२॥)	४७३ भगवानदीन शिवशंकर मुम्बई	२॥)
३७० श्री० मानसिंह जी एबटाबाद	२॥)	४४३ शिवलाल [illegible]	२॥)
		४६४ बा० बिहारीलाल कामठी	२॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १ । २

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

मन्त्रभेदविचार ॥

हम अपने पाठक महाशयों को प्रथम यह जताना चाहते हैं कि इस मन्त्रभेद विषय को यहां लिखने की क्या आवश्यकता हुई ? तो निवेदन यह है कि हम ने मनुभाष्य के द्वितीयाध्याय में प्रकरणानुसार मन्त्रभेद का कुछ प्रस्ताव संक्षेप से लिखा है उस पर जैसे कई आर्य लोगों को कुछ २ शङ्का हुईं वैसे अन्य लोगों को भी सन्देह न हों तथा जो कुछ सन्देह हुए हों वे शीघ्र निवृत्त होजावें इस लिये हम यहां इस विषय पर कुछ संक्षेप से लिखना आवश्यक समझते हैं। यद्यपि ऐसे सब विषयों पर क्रमानुसार त्रयीविद्या के व्याख्यान में आन्दोलन स्वयमेव आजाता तथापि सन्देहों का अधिक काल तक ठहरना अच्छा न समझ कर यह लिखने की शीघ्रता की गयी आशा है कि सन्देह अवश्य दूर होंगे।

प्रश्न–क्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये गुरुमन्त्र आप भी अन्य लोगों के समान भिन्न २ मानते हैं ? यदि यह सत्य है तो आर्यसमाज में भी वही पोप लीला फिर चल जायगी जिस को श्री स्वामी जी महाराज ने छुड़ाया था और ब्राह्मणों के जाल से बचाया।

उ०–इस बात का उत्तर लिखने से पहिले हम यह लिखते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों को लौकिक व्यवहार की बोल चाल में तो हम भी लोकप्रवाह के अनुसार व्यवहार करते हैं परन्तु ग्रन्थों का भाष्य करने वा पुस्तकादि में ले-

लिखने के समय हम वेद के सिद्धान्त को निःशङ्क हो कर लिखना प्रकाशित करना अपना परमधर्म समझते हैं उस समय लौकिक प्रवाह का कुछ भी ध्यान रखना हम अच्छा नहीं समझते और न ऐसा किसी विचारशील धर्मज्ञ को करना उचित है। लोक में ब्राह्मणादि समुदाय जातिमात्र के विचार से माने जाते हैं किन्तु यह विचार नहीं रक्खा जाता कि जिस २ को हम ब्राह्मणादि कहते मानते हैं वह २ वेदादि शास्त्र के सिद्धान्तानुसार वास्तव में भी ब्राह्मणादि हैं वा नहीं और वेद का सिद्धान्त यह है कि जिस में ब्राह्मणपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह ब्राह्मण जिस में क्षत्रियपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह क्षत्रिय और जिस में वैश्यपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह वैश्य है। शास्त्रीय विचार वा सिद्धान्त को एक ओर छोड़ कर मेरे लेख को भी वे लोग लोकप्रवाह में घसिटी हुई अपनी बुद्धि से मिलाना चाहते हैं जब वह लेख उन की बुद्धि से नहीं मिलता तो उस को विरुद्ध समझते हैं यदि वे लोकप्रवाह की तरङ्गों में बहती हुई बुद्धि को उस प्रवाह से निकाल स्वस्थ कर वेद के सिद्धान्त में लगा कर उस लेख वा प्रस्ताव को देखें तो निश्चय है कि लेशमात्र भी सन्देह न रहे। वेद के सिद्धान्तानुसार मैं मानता हूं कि सृष्टि भर जड़ चेतन स्थावर जङ्गम सब में वर्ण व्यवस्था व्याप्त है। सब संसार में चार ही वर्ण हैं प्राणिमात्र का विचार छोड़ कर केवल मनुष्य जाति में चार ही वर्ण हैं पांचवां वर्णसंकर भी सभी समुदायों सभी देशों और सभी कालों में है। परमेश्वर जैसे किसी निज [खास] देश काल वा समुदाय से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु सब देशों सब कालों और सब समुदायों सब जातियों में एकरस व्याप्त रहता है वैसे उस देशकालाद्यनवच्छिन्न अनन्त सनातन परमात्मा की अतिपवित्र अनादि वेद विद्या के सब सिद्धान्त सब मन्तव्य विषय भी सब देशों सब कालों और सब समुदायों जातियों में एकरस सदा रहते हैं। लोकप्रवाह के अनुसार प्रायः लोग आर्यावर्त्त [हिन्दुस्तान] में ही ब्राह्मणादि वर्ण मानते हैं पर वेद के सिद्धान्तानुसार सब द्वीपों के मनुष्यों में सब वर्ण मानने चाहिये। अंगरेज़ मुसलमान आदि संसार भर की सब जातियों में वेदमतानुसार चारो ही वर्ण हैं।

यद्यपि वेद के साथ साक्षात्सम्बन्ध छूट जाने से अन्य द्वीपों में रहने वाली मनुष्यजातियों की अपेक्षा आर्यावर्त्त में वैदिक धर्म कर्मों का साक्षात् वा अधिक प्रचार प्राचीन काल से चले आने के कारण आर्यावर्त्त में ब्राह्मणादि

उत्तम मनुष्य अधिक हैं वा उन द्वीपान्तरवासी ब्राह्मणादि की अपेक्षा यह
के ब्राह्मणादि अनेक अंशों में अच्छे श्रेष्ठ हैं तथापि इतने से अन्य द्वीपों में
ब्राह्मणादि नहीं यह हम नहीं मान सकते क्योंकि मुख का काम पठन पाठ
ईश्वर की स्तुति प्रार्थना वा धर्मोपदेशादि काम करने में जो प्रधान हो उस
काम को करने में स्वभाव से ही अधिक तत्पर रहता हो वह ब्राह्मण है य
ब्राह्म सामान्य लक्षण शास्त्रों में किया गया तो उस में यदि कोई यह अड़ं
लगावे कि आर्यावर्त्त का निवासी ब्राह्मण कहाने वाला हो जो ऐसा काम मु
से करे उसी को ब्राह्मण मानें यह पक्षपात होगा। तथा सत्य भाषण की परी
क्षा में जो सब से उत्तम कक्षा में उत्तीर्ण (पास) हो वह सब से उत्तम ब्राह्म
है इत्यादि ब्राह्मणपन के लक्षणों वाले पुरुष किसी निज देश में ही हों किसी
सर्वथा ही नहीं यह नहीं हो सकता किन्तु यह माना जा सकता है किसी देश में वै
पुरुष अधिक हों कहीं न्यून हों। इसी प्रकार जो बलवानों से निर्बलों की रक्षा कर
में स्वभाव से ही तत्पर हो तथा धर्मानुकूल युद्ध करने से कभी न हटे शरीर जा
का भय जिस को स्वप्न में भी न रहता हो वह किसी देश का निवासी क्यों न हो कि
नाम से क्यों न बोला जाता हो अर्थात् चर्मकार महतर भंगी डोम वा मुसलमान, अंग
रेज नाम कोई कहाता हो पर वेद के सिद्धान्तानुसार वह क्षत्रिय है। इसी प्रकार स्व
भाव से ही जो व्यापारादि में तत्पर हो वह वैश्य है। अब शोचने का स्थान है कि ज
हम वेद के सिद्धान्तानुसार संसार भर के मनुष्यों में चारो वर्ण मानते हैं औ
हमारे भाई हिन्दु लोग ऐसा नहीं मानते किन्तु अंगरेज मुसलमान आदि जा
तियों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सभी हैं यह मानना तो दूर रहा किन्तु वैश
शूद्रादि नाम से प्रसिद्धों में भी वे लोग ब्राह्मण क्षत्रियादि मानने से बहुत डर
वा घबराते हैं। और इन्हीं हिन्दुओं में से अपने को कुछ कर्मों के कार
भिन्न मान कर आर्य कहाने लगे हैं। इन आर्यों में भी अबतक प्रायः लोग ऐ
छोटे विचार के हैं कि लोकप्रवाह के अनुसार जो जिस जाति में कहाता है व
शास्त्रीय सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले गुण कर्म स्वभावों की अपेक्षा को छो
ड़कर अपनी सब जाति को वा अपने को केवल ब्राह्मणादि नाम से बड़ा बनान
चाहता है वा किसी उत्तम वर्ण के नाम से श्रेष्ठ बनने का उद्योग कर रहा
सो उत्तम बनने का उद्योग तो वास्तव में अच्छा है परन्तु यदि गुण कर्म स्व
भावों को सम्हालते हुए किया जाय तो, किन्तु मनमाना करना वेद विरुद्ध है

अब हम फिर भी यही कहते हैं कि पाठक महाशयो ! ध्यान दीजिये शोचिये ! वेदानुकूल हमारा सिद्धान्त है कि नीच से नीच जाति में भी उत्पन्न हुआ पुरुष यदि ब्राह्मणपन के ही प्रधान गुण कर्म स्वभाव धारण करने वाला वास्तव में है तो हम प्रसिद्ध डंका बजाकर उस को ब्राह्मण मानने को तत्पर हैं और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए शूद्र वा अतिशूद्र के गुण कर्म स्वभाव वास्तव में धारण करने वाले को शूद्र वा अतिशूद्र मानते हैं तो इस सिद्धान्त के अनुसार लोकप्रवाह बुद्धि से चलने वालों के माने हुए चर्मकार महतर मुसलमान अंगरेज आदि नाम से प्रसिद्ध सभी को हमने (तत्सवितुर्वरेण्यं०) सावित्री गायत्री मन्त्र का अधिकार दिया वा माना और हमारे पौराणिक अनेक पण्डित लोग ब्राह्मण जाति से अतिनिकट क्षत्रिय जाति को भी अधिकार (तत्सवितु०) मन्त्र का नहीं बताते तो हमारा उन का मन्तव्य कहां मिला ? । जब हम मनुष्य सृष्टि भर को वेद के पढ़ने पढ़ाने मानने और वेदानुकूल चलने का अधिकार मानते हैं तो फिर यह शङ्का किस मनुष्य को हो सकती है कि आर्यसिद्धान्त के सम्पादक (तत्सवितु०) गायत्री का अधिकार क्षत्रिय वैश्यों को नहीं बताते । शोचिये तो सही जिस को ऐसा सन्देह हो वह कितनी और कैसी बुद्धि रखता है जैसे सामान्यरूप मनुष्यपन सब में एकसा है वैसे गायत्री भी एक छन्द की जाति है । जिस में प्रायः २४ अक्षर और अष्टाक्षर वाले तीन पाद हों वह गायत्री छन्द कहाता है सो ऐसे गायत्री छन्द वेदों में हजारों ही हैं ।

अग्निमीडे पुरोहितम्० । २—अग्न आयाहि वीतये० । ३—शन्नो देवीरभिष्टये० । विश्वानिदेव सवितर्०

जैसे इत्यादि मन्त्र सब गायत्री कहाते वैसे ही (तत्सवितुर्वरेण्यं०) यह भी एक गायत्री है । जो लोग वेद के ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं वे प्रायः आर्यसमाजस्थ भी गायत्री शब्द से केवल (तत्सवितु०) इसी मन्त्र का ग्रहण समझते हैं यह समझना ऐसा ही है जैसे मनुष्य कहने से किसी एक देहधारी को समझें । अब शोचिये तो सही कि जहां वेद के ऐसे स्थूल विषयों में तो जगत् में इतना अन्धेर है कि अतिप्रसिद्ध गायत्री शब्द के वाच्यार्थ को भी नहीं समझते तो किसी गम्भीर सूक्ष्म वेद विषयक लेख में जितनी और जैसी शङ्का हों वे सभी सम्भव हैं । और हम तो (विश्वानि देव सवितर्०) इत्यादि गायत्रियों के समान ही (तत्सवितु०) इस गायत्री को भी मानते हैं । अर्थात् जैसे मनुष्यत्व सामान्य में सब मनुष्य

एक से हैं वैसे सामान्य गायत्रीपन में सब गायत्री एकसी ही हैं। जिस को (अग्निमीडे पुरोहितं०) इस गायत्री के पढ़ने पढ़ाने बोलने जपने का अधिकार है उस को वैसा ही अधिकार (तत्सवितु०) मन्त्र का भी है पुराने बिगड़े ढर्रे के अनुसार जो लोग (तत्सवितु०) मन्त्र को प्रसिद्ध बोलने में संकोच करते हैं यह भी भूल है मैं सब गायत्रीमन्त्रों का एकसा ही प्रसिद्ध व्यवहार करना अच्छा समझता हूं। अब हमे अनुमान है कि हमारे पाठक लोग इस पूर्वोक्त लेख से यह अवश्य समझ गये होंगे कि अन्य पौराणिक पण्डितों के समान ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये हम गुरुमन्त्र भिन्न २ नहीं मानते किन्तु हम यह मानते हैं कि जिस को वेद पढ़ने का अधिकार है वह वेद के सभी मन्त्रों को पढ़े पढ़ावे जप होम करे उस के लिये कुछ रुकावट नहीं न कोई बुराई है। पौराणिक लोग जो मन्त्र को भिन्न २ चलाते वा मानते और अनेकोंने क्षत्रियादि के लिये मनमाने श्लोक बना रक्खे हैं गुरुमन्त्र के उपदेश के समय उस का ही उपदेश क्षत्रियादि को दे देते हैं यह वास्तव में उन लोगों का बड़ा दोष वा अपराध है। यदि गुण कर्म स्वभावों के विगड़ जाने से क्षत्रिय वैश्यों को वेदमन्त्रों के उपदेश का अधिकार नहीं ऐसा कोई माने तो ब्राह्मण कहाने वालों को भी वेद का अधिकार न होना चाहिये क्योंकि उन के गुण कर्म स्वभाव और भी अधिक बिगड़ गये हैं। और पौराणिकों में जो लोग क्षत्रिय वैश्यों को वेदमन्त्रों का उपदेश देना स्वीकार भी करते हैं वे त्रिष्टुप् जगती से भिन्न (तत्सवितु०) गायत्रीमन्त्र का एक अक्षर भी क्षत्रियादि को बताना बुरा वा पाप समझते हैं। हमारा विचार ऐसा नहीं हम सब मन्त्रों को एक ही समान प्रसिद्ध विना संकोच पढ़ाना बताना अच्छा मानते हैं इस कारण हमारा मन्तव्य उन लोगों से सर्वथा विरुद्ध है।

अब हम संक्षेप से यह लिखना उचित समझते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के मन्त्र भिन्न २ होने किस लिये आवश्यक हैं और किस २ अंश वा प्रसंग में मन्त्रादि का भेद माना जाय तथा कहां २ सब की एकता रहे। हम आर्यसमाज वा वेदमतानुयायिमात्र का तथा उसी में अपना परमकर्त्तव्य वा परमसिद्धान्त यह मानते हैं कि—

शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ॥

यद्यपि यह व्याकरण महाभाष्य का लेख है तथापि सब आस्तिक विद्वानों का इस में एक मत होने से सर्वतन्त्र सिद्धान्त के अनुसार यह मन्तव्य है कि हम सब वेद मतानुयायी शब्द प्रमाण को सब प्रमाणों की अपेक्षा शिरोमणि मानने वाले हैं हम वेद के पिछलगा हैं वेद के शब्द जो कुछ कहते हैं वेद के शब्दों तथा वाक्यों का पूर्वापर संगति मिलाकर जो कुछ आशय निकलता है वही हमारा मन्तव्य वा सिद्धान्त है। तभी को हम सब वेद मतानुयायी आस्तिक लोग निर्भ्रम मानें इस के अनुसार वेद मन्त्रों में प्रायः तीन और कहीं २ चार पांच कक्षा तक स्पष्ट दिखायी हैं। जब वेद में है तो इसी लिये वह हमारा मन्तव्य है। वेद में जो विषय वा मन्तव्य हैं उन को युक्ति वा तर्क से पुष्ट करना उन को महाप्रयोजनीय ठहराने का उद्योग करना यह हमारा काम है और होना भी यही चाहिये किन्तु वेद के अनेक स्थलों की ध्वनि से वा जिस का वेद में साक्षात् प्रतिपादन नहीं ऐसे किसी मनुष्य कल्पित सिद्धान्त को पुष्ट करने का उद्योग करना हमारा काम नहीं है। अब हम मन्त्रभेद विषय में वेद के थोड़े से उदाहरण प्रमाणार्थ देकर सारांश लिखें।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि॥ यजुर्वेद वाजसनेयि संहितायां अ० १। मन्त्र २७॥

यहां गायत्री आदि शब्दों से स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है तभी छन्द के विशेषण गायत्रादि शब्द हो सकते हैं। अथवा गायत्री से सम्बन्ध रखने वाला गायत्र नाम ब्राह्मण का है तब शैषिक अण् प्रत्यय होगा। इस दशा में छन्द विशेषण और गायत्र विशेष्य होगा। ताप वा कष्टों से बचाने वाले गायत्री सम्बन्धी ब्राह्मणपन के साथ तुझ को मैं ग्रहण करता हूं। इसी प्रकार त्रैष्टुभेन छन्दसा और जागतेन छन्दसा का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। यहां कौन किस को किस लिये ग्रहण करता है ऐसा विशेषार्थ वा भावार्थ लिखने से बहुत व्याख्यान बढ़ेगा इस लिये केवल अक्षरार्थ लिखेंगे। और हमारा प्रयोजन भी छन्द जातिवाचक नामों की तीन कक्षा और उन का क्रम दिखाने से है॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा । अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा । पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा । ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि० यजु० अ० २।२५

यहां नीची तृतीय कक्षा की ओर से प्रथम ऊंची कक्षा की ओर परिगणन है । जैसे भूर्लोक प्रथम सुवर् नाम अन्तरिक्ष लोक द्वितीय तथा स्वर्नाम द्यु लोक तीसरी कक्षा है वैसे गायत्री प्रथम त्रिष्टुप् द्वितीय और जगती तृतीय ब्राह्मण प्रथम क्षत्रिय द्वितीय वैश्य तृतीय कक्षा वर्णों की है ।

एष ते गायत्रो भागः। एष ते त्रैष्टुभो भागः। एष ते जागतो भागः। यजु० अ० ४।२४॥

सोम नाम तृतीय कक्षा के उत्तम देवतापन से युक्त वैश्य में गायत्र नाम ब्राह्मण सम्बन्धी भाग त्रैष्टुभ क्षत्रिय सम्बन्धी और जागत वैश्य सम्बन्धी होना चाहिये अर्थात् जिस में ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन भी मिश्रित हों जो ब्राह्म-णपन क्षत्रियपन के भी गुण कर्म स्वभाव धारण करता हो और वैश्यपन के गुण कर्म जिस में प्रधान हों वह उत्तम कक्षा का वैश्य होगा । जिस में ब्राह्मणपन क्षत्रियपन कुछ न दीखता हो केवल वैश्यपन ही हो वह वैसा उत्तम वैश्य नहीं हो सकता ॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि । जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ यजु० अ० ५ । २ ॥

अनेक विपत्तिरूप दुःखों से बचाने और सुखों की निर्विघ्न रक्षा करने वाले गायत्री छन्द सम्बन्धी ब्राह्मणपन, से त्रिष्टुप् छन्द सम्बन्धी क्षत्रियपन से तथा जगती छन्दसम्बन्धी वैश्यपन से अग्नि का मन्थन होना चाहिये अर्थात् तीनों ब्राह्मणादि वर्ण अपने २ गुण कर्म स्वभावों से युक्त वा तीनों के मिश्रित गुण

कर्म स्वभावों से युक्त एक २ ब्राह्मणादि वर्ण अग्निहोत्रादि नित्य नैमित्तिक यज्ञ करने के लिये अग्नि को प्रकट करें किसी सत्त्वगुणयुक्त लकड़ी आदि को मन्थन कर निकालें किन्तु शूद्रपन के गुण कर्म स्वभावों वाला पुरुष ऐसा न करे वा अपने स्वभावानुसार हो वह यज्ञ करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता यदि होगा भी तो उस से ठीक २ यज्ञ हो सकना दुस्तर है इसी से उस को अधिकार नहीं यह अर्थापत्ति से निकलता है ॥

बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् । इन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषम् । विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ यजु०—अ० ९ । ३२ । ३३ ॥

वेद के अनेक प्रमाणों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि वेद में आने वाले बृहस्पति वशिष्ठ इन्द्र सोम विश्वेदेवादि देवता वाचक शब्द प्रायः तीन ही कोटियों में बांटे जायंगे । उन को चाहे प्रथम द्वितीय तृतीय कक्षा कहो चाहे उत्तम मध्यम निकृष्ट कहो वा उन्हीं को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहो यह सभी संघटित है । वे ही तीन देवता हैं जिन के नाम क्रम से अग्नि, वायु, आदित्य वा अग्नि, इन्द्र, सोम हैं । इसी लिये निरुक्त में स्पष्ट ही लिखा है कि—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो वायुरन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति। दैवतकाण्ड अ० १ ॥

तीन ही प्रधान देवता वा तीन ही कोटि में वेदोक्त सब देवता हैं और उन के क्रम से तीन लोक ही प्रधान स्थान हैं ॥ देवता नाम उत्तम कोटि का है ब्राह्मणपन की उत्तम कोटि में अग्नि देवता प्रधान है । क्षत्रियपन की उत्तम कोटि में वायु वा इन्द्र देवता प्रधान है तथा वैश्यपन की उत्तम कोटि में विश्वेदेव वा सोम देवता की प्रधानता है । पिङ्गलसूत्र नामक छन्दःशास्त्र वेदाङ्ग में गायत्री आदि सात छन्दों के सात देवता सामान्य कर गिनाये हैं जिन में

गायत्री का अग्नि त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती छन्द के विश्वेदेव देवता हैं। और शतपथब्राह्मण के अनेक स्थलों में लिखा है कि अग्नि नाम ब्रह्म का व ब्रह्मनाम अग्नि का तथा ब्राह्मण आग्नेय है "गायत्रो वै ब्राह्मणस्त्रैष्टुभो राजन्यो जागतो वैश्यः" अर्थात् वेद में कहीं २ गायत्रशब्द ब्राह्मण का त्रैष्टुभ क्षत्रिय का और जागत वैश्य का नाम है क्योंकि गायत्री छन्दजाति ब्राह्मण से त्रिष्टुप् छन्द-जाति क्षत्रिय से और जगती वैश्यवर्ण से सम्बन्ध रखती है। अर्थात् तीन २ वर्ण, छन्द, लोक, वेद आदि का जहां २ वर्णन है वहां २ उन २ का यथासंख्य क्रम से सम्बन्ध भी दिखाया है। ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द एकार्थ वा एक ही कोटि के साथ सम्बन्ध रखते हैं। बृहस्पति ब्राह्मण और इन्द्र क्षत्रिय वाचक है। अ-थर्ववेद में स्पष्ट भी लिखा है—

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्र क्षत्रम् ॥५॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौ-रेवेन्द्रः ॥६॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्माऽसावादि त्यः क्षत्रम् ॥७॥ ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥८॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥९॥ ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति॥१०॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥११॥ अथर्व० काण्ड १५। सूक्त १०॥

इस का अर्थ बहुत स्पष्ट है कि बृहती नाम वाणी वा सरस्वती विद्या का है। बृहती नाम सब से उत्कृष्ट अतिपवित्र वेद वाणी की यथोचित विधिपूर्वक पठन पाठनादि द्वारा रक्षा करने वाला पुरुष बृहस्पति है उस में ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन प्रविष्ट होता है इसी से वह बृहस्पति होता वा कहाता है। और जब वह बृहस्पति होता वा होना चाहता है तभी उस में ब्राह्मणपन आता है चाहे यों कहो कि जो बृहस्पति है वह ब्राह्मण और जो ब्राह्मण है वही बृह-

स्पति हो सकता है । तथा इन्द्र का नाम क्षत्र वा क्षत्रिय है इन्द्र में क्षत्रियपन प्रवेश करता अर्थात् जिस में इन्द्रपन है वहां क्षत्रियपन आता तथा जिस में क्षत्रियपन आता है वही इन्द्र है ॥ पृथिवी लोक प्रथम कक्षा का है उस के साथ बृहस्पति का और द्युलोक के साथ इन्द्र का सम्बन्ध है । क्योंकि लोकों में भी ब्राह्मणत्वादि भिन्न २ गुण प्रधान है । द्युलोकस्थ सब तत्वों में क्षत्रियपन प्रधान है ॥ यह प्रत्यक्ष अग्नि ब्रह्मनाम ब्राह्मण पृथिवी लोक निवासी और यह आदित्य नाम सूर्य क्षत् नाम बड़े २ दुःखों से प्रजा का त्राण पालन करने वाला होने से क्षत्र नाम क्षत्रिय है । जो पृथिवी को बृहस्पति और अग्नि को ब्रह्म जानता ठीक २ समझता है कि पृथिवी से बृहस्पति का और अग्नि से ब्राह्मणपन का कितना गहरा सम्बन्ध है वा इन चारों के सूक्ष्म सम्बन्ध को जो ठीक २ जानता है उस में ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन आता है इसी से वह ब्राह्मवर्चसी नाम ब्रह्म णपन के तेज से युक्त होता है ॥ और आदित्य से क्षत्रियपन तथा द्युलोक से इन्द्र का वा परस्पर इन सब का कितना सूक्ष्म सम्बन्ध है यह जो जानता है उस में अच्छी इन्द्रियशक्ति आती इसी से वह प्रबल इन्द्रियों का धारक जितेन्द्रिय होता है और जितेन्द्रिय होने से ही वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय राजा होता है ॥

अब आशा है कि हमारे पाठक महाशय इस लेख से बृहस्पति से ब्राह्मण और इन्द्र से क्षत्रिय समझ जायेंगे । तथा विश्वेदेव से वैश्य के ग्रहण में भी वेद का प्रमाण अवश्य मिल सकेगा । इस के अनुसार यजु० के अ० ९ । ३२ । ३३ पूर्वलिखित मन्त्रों का यह अर्थ होगा कि बृहस्पति नाम ब्राह्मणपन की ऊंची कक्षा का पुरुष आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन कर के अष्टाक्षर पाद से युक्त गायत्री छन्द के जप तपादि से उन्नत होता है वैसे मैं भी उन्नति करूं । इन्द्रनाम ऊंची कक्षा का क्षत्रिय ग्यारह अक्षर के पाद से युक्त त्रिष्टुप् छन्दद्वारा ग्यारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीतसंस्कार समय से ही जप तप आदि करके उन्नति को प्राप्त होता तथा विश्वेदेव नाम वैश्य बारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत धारण कर बारह अक्षर के पाद से युक्त जगती छन्दद्वारा जप उपासनादि करके उन्नतिशाली होता है वैसे मैं भी उन्नत होऊं ॥

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥१०॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम प-
ञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपथं साम
सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥
यजु० अ० १० । १०-१२ ॥

यहां पूर्वदिशा, गायत्रीछन्द, सामरथन्तर, त्रिवृतस्तोम वसन्त ऋतु औ ब्राह्मण शरीर ये एक कोटि में गिनाये हैं इन का परस्पर विशेष सम्बन्ध है "प्राचीदिगग्निरधिपति०" इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्रों में पूर्वदिशा के साथ अग्नि का सम्बन्ध है और अग्नि ब्राह्मणपन है। इन मन्त्रों में प्राची आदि शब्द दिशादि अमूर्त्तनाम सूक्ष्म पदार्थों के वाचक हैं अथवा एक प्रकार के आधार व गुण हैं इसी लिये ब्रह्म, क्षत्र और विट् नाम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वाचक शब्दों के साथ द्रविण शब्द स्थूल शरीर के बोधनार्थ पढ़ा है। वसन्त ऋतु का ब्राह्मण के साथ सम्बन्ध ग्रीष्म का क्षत्रिय के साथ और वर्षा का वैश्य के साथ सम्बन्ध है इसी मूल के आश्रय से गृह्यसूत्रकारों ने लिखा है कि "वसन्ते ब्राह्मणमुपन-येत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम् ।" यद्यपि यहां वर्षा के साथ वैश्य का सम्बन्ध दिखाया है तथापि सूत्रकार के लिखने से प्रतीत होता है कि मूलवेद में भी कहीं शरद् के साथ सम्बन्ध होगा। क्योंकि कहीं २ एक २ विषय में दो प्रकार का विकल्पित कथन वेद में है और वह दोनों प्रामाणिक मान्य हैं इसी लिये मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय में लिखा है कि "श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ" जिस एक अंश में दो प्रकार का कथन श्रुति में हो वहां दोनों धर्मानुकूल हैं दो में से जिस को जो अच्छा लगे वैसे समय में कार्य करे इस के अनुसार वैश्य का संस्कार वर्षा वा शरद् ऋतु में से किसी में होना-उचित है। जैसे ब्राह्मणादि के संस्कारों के समयविभाग के ये ही वा ऐसे ही अन्य मन्त्र मूल हैं वैसे मन्त्रभेद के भी वेद के ये मन्त्र वा ऐसे ही अन्यमन्त्र मूल हैं। मन्त्रों के सब पदों का व्याख्यान इसलिये नहीं करते कि लेख बहुत बढ़ जावेगा।

गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्०० त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्०० । जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ यजु० अ० ११ । ९ । १० ॥

यहां भी गायत्री आदि तीन ही छन्दों का क्रम से उपयोग स्पष्ट ही दिखाया है । यद्यपि इन प्रमाणों में से कई में चौथी कक्षा में अनुष्टुप्छन्द का भी ग्रहण किया गया है तथापि चौथी कक्षा के विषय इस प्रसंग में हमें कुछ वक्तव्य नहीं क्योंकि यहां ब्राह्मणादि तीन वर्णों के छन्द भेद पर लिखना अभीष्ट है। चौथी कक्षा के विषय में यथावसर कभी फिर लिखेंगे ॥

वसवस्त्वा कृणवन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि । रुद्रास्त्वा कृणवन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि । आदित्यास्त्वा कृणवन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि ॥ यजु० ११ । ५८ ॥

यहां भी वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का ग्रहण है । सब जगत् को धर्म के विशेष प्रचार द्वारा अच्छी दशा में बसाने वाले होने से ब्राह्मण वसु, डाकू चौरादि दुष्टों को ताड़ना देकर रुलाने वाले रुद्र नामक क्षत्रिय, व्यापार द्वारा धनादि का विशेष आदान वा ग्रहण करने वाले आदित्य नाम वैश्य का है । इस के लिये वेद में भी प्रमाण मिल सकते हैं कि वसु आदि शब्दों से ब्राह्मणादि का ग्रहण हो सकता है । इन का सामान्यार्थ यह होगा कि वसु आदि तुझ को अङ्गिरस् के तुल्य गायत्री आदि छन्द से यथोचित यथा क्रम युक्त करें जिस से उस २ तुझ में भी वसु आदिपन वा ब्राह्मणादिपन आवे ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् । रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छ-

न्दसाङ्गिरस्वत् । आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ यजु० अ० ११।६०

यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन कक्षाओं का विचार है ।

वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा० । रुद्रास्त्वा च्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा० । आदित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा० ।
यजु० अ० ११ । ६५ ॥

यहां भी वैसा ही तीन कक्षा का क्रम वर्णन किया है ॥

गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनुविक्रमस्व । त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनुविक्रमस्व । जागतं छन्द आरोह दिवमनुविक्रमस्व ॥ यजु० अ० १२ । ५ ॥

यहां गायत्री छन्द के साथ पृथिवी का क्रम है पृथिवी से अग्नि का मुख्य सम्बन्ध और अग्नि ब्रह्म वा ब्राह्मण है । इसी प्रकार त्रिष्टुप् छन्द के साथ अन्तरिक्ष स्थान देवताओं में प्रधान वायु का मेल है उसी के भेद एकादश रुद्र हैं यही क्षत्रिय कोटि है । जगती छन्द के साथ दिव् लोक का सम्बन्ध क्रम है और आदित्य स्थान देवता हैं यही वैश्य कोटि है ।

गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि । त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ य० १२ । ५३ ॥

गायत्री छन्द के साथ तुझ ब्राह्मण को त्रिष्टुप् छन्द के साथ तुझ क्षत्रिय को और जगती छन्द के साथ तुझ वैश्य को स्थापित करता हूं। वा इसी को यों कहो कि गायत्रीछन्द के साथ तुझ को प्रथम कक्षा में स्थित करता हूं जिस से तू प्रथम कक्षा के योग्य है और हो। चाहे यों कहो कि जो प्रथम कक्षा के योग्य हो उस को गायत्री छन्द से युक्त करना चाहिये। तथा पाठक महाशय यह भी ध्यान रक्खें कि वेद के शब्द रूढि नहीं किन्तु यौगिक वा योगरूढ हैं। इस के अनुसार गायत्री शब्द, शब्द अर्थ वाले गै धातु से बना है और गाना वाणी का काम है। प्रथम कक्षा के ब्राह्मण का मुख्य काम वाणी का है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, वेदोक्त यज्ञ करना कराना तथा वेदोक्त धर्म का उपदेश प्रचार करना यह सब वाणी का ही प्रधान काम है। तथा सब छन्दों की अपेक्षा गायत्री छन्द का उच्चारण गान भी अच्छा होता और अच्छा लगता है। इस प्रकार शब्दार्थ प्रधान होने से गायत्री प्रथम कक्षा है और उस का प्रथम कक्षा के साथ मुख्य सम्बन्ध है। वा इसी बात को यों कहो कि जो मनुष्य अपनी स्वाभाविक रुचि वा प्रवृत्ति के अनुसार वेद पढ़ने पढ़ाने वा वैदिकधर्मोपदेश करने में ही सब कामों की अपेक्षा अधिक तत्पर रहता वा रहना स्वीकार करता प्रसन्न करता है वह वाचिकधर्मप्रधान मनुष्य किसी जाति वा किसी देश में क्यों न हो वही ब्राह्मण है। वही गायत्री शब्द के अर्थ वाचिक धर्म से विशेष सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिये। हमारे पाठक लोग इस उक्त लेख को ध्यान देकर ठीक २ समझलेंगे तो इस विषय के सब सन्देह सहस्रों कोश भाग जांयगें ऐसी पूर्ण आशा है। अर्थात् वेद की शैली के अनुसार गायत्री शब्द का सामान्य व्याप्तार्थ यह हुआ कि वाचिक मानस और कायिक तीन प्रकार के कर्त्तव्य धर्म कर्म में से वाचिक वाणी सम्बन्धी वेद के पठन पाठन तथा वेदोक्त धर्म के उपदेश के साथ ब्राह्मणपन का अधिक सम्बन्ध है। भिन्न २ मन्त्रों में प्रकरणानुसार वाचिकधर्म के अवान्तर भेदों का वर्णन जानो।

इसी प्रकार द्वितीय त्रिष्टुप् छन्द वाचक शब्द है यह भी यौगिक वा योगरूढ मानना चाहिये। व्याकरण में स्तुभ धातु स्तम्भ अर्थ का वाचक है। स्तम्भ शब्द का अपभ्रंश लोक में थांभना वा थंभना हुआ है। त्रिष्टुप्छन्द चार पाद का होता है उस का उच्चारण करते समय बीच २ में तीन जगह थंभने पड़ता है वा थंभना चाहिये अर्थात् पहिले दूसरे तीसरे पादों के अन्त में थंभ २ कर अगले पाद

का उच्चारण करना उचित है । यद्यपि ऐसे चतुष्पाद् छन्द वेद में अन्य भी जिन के उच्चारण में तीनवार बीच २ में थंभना पड़े पर उन में अन्य किसी प्रका की विलक्षणता मन्तव्य होगी जो त्रिष्टुप् में न हो। त्रिष्टुप् छन्द का पाद ग्यार अक्षर का होता ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय बालक का यज्ञोपवीत कहा है । ग्यार रुद्र हैं रुद्र शब्द का अर्थ क्षत्रिय प्रधान है जैसे कोई बलवान् प्राणी निर्बल क दुःख देने के लिये भागा जाता है तो उस को थांभ लेना पकड़ लेना क्षत्रिय क काम है वा जो निर्बल को कष्ट देने वाले बलिष्ठ को थांभता वा थांभ सकता वह क्षत्रिय है। वैसे जो सब को अपने २ कर्त्तव्य में लगा के सब की रक्षा करत हुआ भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालों में वा उत्तम मध्यम निकृष्ट तीनों दश में सब प्राणियों को ठीक मर्यादा में थांभे हुए संसार को ठीक २ स्थित दशा रखता है वह त्रिष्टुभ् शब्द के अर्थ से पूरा सम्बन्ध रखने वाला क्षत्रिय है । इस प्रकार गम धातु से जगत् शब्द बनता और जगत् से स्त्रीलिङ्ग में जगती होत है । विश धातु से विट् वा वैश्य शब्द बनते हैं जिन का अर्थ प्रवेश कर वाला है विना गमन किये प्रवेश होता नहीं । प्रवेश नाम किसी वस्तु वा किस स्थानादि वा देश नगर ग्रामादि में घुसना इस के साथ में गमन अवश्य लग है । जो व्यापारादि कार्यों में प्रवेश के लिये गमन करता है वह जगती शब्द अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला वैश्य है ।

अयं पुरोभुवस्तस्य प्राणो भौवायनः । वस न्तः प्राणायनः । गायत्री वासन्ती०००० वसिष्ट ऋषिः । ०० ॥ ५४ ॥ अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणम् । ग्रीष्मो मानसः त्रिष्टुब् ग्रैष्मी । ०००० जमदग्निर्ऋषिः । ० ॥ ५५ । अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचस म् । वर्षाश्चाक्षुष्यः । जगती वार्षी । ००० जमदग्निर्ऋषिः ॥५६॥ यजु० अ० १३।५४—५६ ।

अर्थः—यह पूर्वदिशा में विशेष प्रकट होने वाला [अग्नि का मुख्य लक्षण प्रकाश तथा दाह गुण है वह सदा ही सूर्योदय के साथ प्रकाश और दाह पूर्वदिशा में आरम्भ होता तथा अग्नि के सम्बन्ध से ही आग्नेयी दिशा अग्निकोण कहाता है] जिस से सब कुछ उत्पन्न होता ऐसा अग्नि है । उस अग्नि से उत्पन्न हुआ, तथा भुवनामक अग्नि का अपत्य कार्यरूप प्राण भौवायन कहाता है [प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि " प्राणाग्नय एवास्मिन् पुरे जाग्रति " जब इस शरीररूप नगर में सब इन्द्रियादि प्रजा सोजाते अर्थात् निद्रारूप तमोगुण समुद्र में डूब जाते हैं तब केवल प्राणरूप अग्नि ही जागते रहते हैं और पहरेदार के तुल्य चालते हुए प्राणाग्नि चोर वा भक्षक वृकादि को जताते हैं कि यह जीवित है प्राणाग्नि के चलते रहने की स्वप्नदशा में भी उसी की रक्षा होती है । तात्पर्य यह है कि सत्वगुण की अधिकता में जागना और तमोगुण की अधिकता में निद्रा आलस्यादि हैं । अग्नि सत्वगुण प्रधान है इसी से उस का कार्य प्राण मनुष्य की स्वप्नदशा में भी जगा करता है । ऋग्वेद में भी लिखा है कि "अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते । " अग्नि ही सर्वत्र जागता है जिस को निद्रालस्य प्रमादादि अधिक नहीं दबाते वहां अग्नितत्व प्रधान है इसी कारण वह मनुष्य सत्वगुणी होने से प्रथम कक्षा में गणना के योग्य ब्राह्मण होता है] शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अग्निर्वै पुरस्तात्० अग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदं सर्वं भवति प्राणो ह्यग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ०" तथा—"वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत—गायत्रीं छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत (८ । १ । १ । ५) " वसन्त ऋतु को प्राण से बनाया क्योंकि उत्तरायण के बीच में प्राणशक्ति की प्रबलता स्वभाव से ही सृष्टि में होती और प्राणशक्ति के प्रबल होने का समय ही वसन्त ऋतु है इसी से प्राणायन नाम प्राण का अपत्य वसन्त है । और वसन्त ऋतु का अपत्य गायत्रीछन्द है । क्योंकि वसन्त ऋतु में ब्राह्मण ब्रह्मचारी को गायत्रीछन्द का उपदेश होता यज्ञोपवीत संस्कार वसन्त में ब्राह्मण का होना इसी कारण माना गया है कि अग्नि प्राण वसन्त और गायत्री ये सब प्रथम कक्षा के हैं और ब्राह्मण के साथ इन का मुख्य सम्बन्ध है । तथा—"प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनोएव वसिष्ठइति " प्राण का नाम वसिष्ठ ऋषि है क्योंकि जिस कारण वह सब इन्द्रियों में अति श्रेष्ठ है [देखो प्रश्नोपनिषद् का प्राणस्तुतिप्रकरण] अथवा सब शरीर में व्याप्त हो कर वसता है जब तक प्राण

शरीर में बसता है तब तक मनुष्य संसार में बसता है इस से प्राण को वसिष्ठ कहते हैं (अयं दक्षिणा विश्वकर्मा) यह दक्षिणदिशा के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाला संसारभर में होने वाले सब कर्म जिस से होते ऐसा वायु है। सब प्रकार की क्रिया चेष्टा सब शरीरादि में वायु से होती है (मनो वैश्वकर्मणम्) विश्वकर्मा वायु से उत्पन्न होने वाला मन है इसी कारण मन की अति शीघ्र गति है। मन से ग्रीष्म होता और वैसे ही ग्रीष्म के साथ त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध है।

"अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते। एष हीदथं सर्वं करोति। ०० मनो वै भरद्वाजऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति ॥ शतपथ० (८। १। ९)"

सब कर्म करता वा कराता है इस से यह प्रत्यक्ष चलने वाला वायु ही विश्वकर्मा है। तथा भरद्वाज ऋषि मन वा कराता है। क्योंकि अन्न का नाम वाज है जो मन को धारण करता वह अन्न नाम वाज को भरता इस से भरद्वाज कहाता है। यहां दक्षिणदिशा, वायु, मन ग्रीष्म ऋतु और भरद्वाज ऋषि यह सब द्वितीय कक्षा के क्षत्रियपन की सामग्री है। छाती की अधिक पुष्टता होने से क्षत्रिय का मन अधिक पुष्ट होता है इसी से वह संग्रामादि में पूर्ण साहस वा निर्भयता रखता है। वाज नाम अन्न से प्रजा का विशेष भरण पोषण करना भी क्षत्रिय का काम है इस कारण भरद्वाज पद का क्षत्रियपन के साथ विशेष सम्बन्ध है। तथा (अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम्०) यह पूर्व में उदित हो कर पश्चिम में अस्त होने वाला आदित्य सूर्य विश्व नाम सब जगत् को प्रकाश पहुंचा कर निद्रादि से वञ्चित करता है। और सूर्य से उत्पन्न होने के कारण चक्षु सूर्य का सन्तान है। चक्षु का वर्षा ऋतु से और वर्षा का जगती छन्द से विशेष सम्बन्ध है। चक्षु का नाम जमदग्नि ऋषि है क्योंकि इस चक्षु से ही सब कोई देखता और जानता है इसी से चक्षु का नाम जमदग्नि है। शतपथ का प्रमाण यहां भी पूर्ववत् जानो। यहां पश्चिमदिशा, आदित्य सूर्य, चक्षु, वर्षा ऋतु और जगती छन्द यह सब तृतीय कक्षा की सामग्री को तृतीय कक्षास्थ वैश्य वर्ण के साथ प्रधान वा मुख्य सम्बन्ध है।

ये सब प्रमाण दिग्दर्शन उदाहरण मात्र लिखे हैं वेदों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण हैं जिन का परिगणन करते जावें तो लेख का अन्त होना कठिन है इस लिये प्रमाणों का लेख समाप्त करके संक्षेप से एक और आशय लिखते हैं।

ऊपर लिखे प्रमाणों का अर्थ यद्यपि वेद के पूर्वापर आशय को यथासम्भव समझ कर लिखा गया है इस कारण अर्थ में किसी प्रकार की भूल निकलने की सम्भावना नहीं है तथापि मनुष्य के अल्पज्ञ होने से कहीं कभी किसी अंश में भेद भी निकले तो भी जिस अंश को लेकर प्रमाण लिखे हैं कि वेद में सब वर्णों और उन ब्राह्मणादि वर्णों के धर्मों को मुख्य कर तीन कक्षा [दरजा] नियत की हैं और उन का यथासंख्य सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष ही मूल में दिखाया है। इस में किसी प्रकार का सन्देह त्रिकाल में भी नहीं उठ सकता और इस व्याख्यान में यही हमारा साध्य पक्ष था सो प्रमाण तथा युक्ति दोनों से सिद्ध है।

अब एक प्रश्न यह और उपस्थित होता है कि जब मूल वेद से तथा युक्ति से दोनों प्रकार ब्राह्मणादि वर्णों के गायत्र्यादि छन्द भिन्न २ हैं तो मनु जैसे वेद के तत्त्वज्ञानी पुरुषने अपने धर्मशास्त्र में अन्य चिह्नों के भेद के साथ मन्त्रों का भेद क्यों नहीं रक्खा ? तीनों वर्णों के लिये एक ही सावित्री मन्त्र मनु ने क्यों लिखा ? । क्या तुम मनुजी से भी अधिक विद्वान् हो ? मनु जैसे धर्मशास्त्र ने नहीं लिखा इस से अनुमान होता है कि तीनों वर्ण के लिये एक ही मन्त्र होना चाहिये । इत्यादि ।

इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति भी लौकिक पुस्तक है किन्तु साक्षात् वेद नहीं है किन्तु अधिकांश विचार वेद का आशय लेकर लिखा गया है। कहीं २ लौकिक परिपाटी को देखकर भी लोकव्यवहार की व्यवस्था बांधने के लिये अनेक प्रकार का विषय लिखा गया है। और यह भी कोई विशेष प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकता कि मनुजी ने मन्त्रभेद अवश्य ही नहीं लिखा क्योंकि मनुजी ने कभी बहुत प्राचीन समय में मानवधर्म सूत्र नामक ग्रन्थ बनाया था कि जो कालचक्र के परिवर्त्तन से लुप्त हो गया जिस का अब नाममात्र कहीं २ सुन पड़ता है कदाचित् उस में मन्त्रभेद लिखा हो और भृगुजी ने इस विद्यमान मनुस्मृति पुस्तक को बनाते समय विशेष उपयोगी न समझ कर इस पुस्तक में न रक्खा हो । और कदाचित् मनुजी ने भी न लिखा हो तो भी कोई दोष नहीं क्योंकि वेद में लिखे किसी विषय को न लिखने वा अधिक लिखने से वेद के

साथ कोई विरोध नहीं आता। वेद विरुद्ध उस का नाम है जो वेद में लिखे से सर्वथा उलटा लिखे वा वेद में लिखे अंश का खण्डन कर देना इन दो दशा में वेद के साथ विरोध कहा वा माना जा सकता है। अनुमान यह होता है कि भृगुजी ने जिस काल में मनुस्मृति पुस्तक बनाया तब भी लौकिक प्रवाह के अनुसार ब्राह्मणादि जातियों के समुदाय जन्म से ही माने जाते थे परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहाने वाली जातियों में अपने २ धर्म कर्मों के करने का बहुत अधिक प्रचार था क्योंकि वेदोक्त धर्म के अनुयायी राजा सब को अपने २ वर्ण के कर्म करने में प्रबल शासन करते थे इस से गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था माननी चाहिये इस विषय के आन्दोलन की विशेष आवश्यकता भी उस समय नहीं थी और उस समय ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों को (तत्सवितु०) इसी एक सावित्री मन्त्र का उपदेश संस्कार के समय होता था सब तीनों वर्ण इसी एक मन्त्र का जप करते थे सो वह प्रचार कुछ बुरा वा वेदविरुद्ध भी नहीं था और न अब कोई दोष है अर्थात् (तत्सवितुर्वरेण्यं०) मन्त्र का तीनों वर्ण को उपदेश हो तीनों इसी का यदि जप करें तो कभी किसी काल में कोई भी दोष नहीं है क्योंकि वेद में भी सब मन्त्र सब के लिये भी आते हैं क्योंकि तीनों वा चारो वर्ण के मनुष्यों में तीनों वा चारो वर्ण मिले रहते हैं चारो वर्ण के अङ्ग मिला कर प्रत्येक मनुष्यादि का शरीर बना है। प्रत्येक शरीर में शिर भाग ब्राह्मण, मदरा क्षत्रिय, नाभि से नीचे घोंटू तक का भाग वैश्य और घोंटू से नीचे पगों तक शूद्र का भाग है। जब सृष्टिभर के प्रत्येक प्राणी में चारो वर्ण मिश्रित हैं तो जिस में शिर वा मुख सम्बन्धी वेद का पठन पाठन वा धर्मोपदेशादि प्रधान हो और अङ्गों के काम गौण हों वह ब्राह्मण, जिस में बाहु वा छाती सम्बन्धी बल पराक्रम साहस शूरवीरतादि अधिक प्रबल हों तथा वैसे ही काम करने में अधिक तत्पर रहे अन्य ब्राह्मणादि के काम जिस में गौण हों वह क्षत्रिय, ऐसे ही जिस में वैश्यपन तथा शूद्रपन के कामों में जिस २ की स्वाभाविक विशेष तत्परता हो तथा अन्य वर्ण सम्बन्धी काम जिस में गौण हों वह २ वैश्य तथा शूद्र कहा जाय वा मानना उचित है यह वेद का सिद्धान्त है। जैसे इस सिद्धान्त के अनुसार सब में सब वर्ण व्याप्त रहते हैं वैसे ही सब मन्त्र सब छन्द सब के लिये हैं सब के पढने पाठ करने जपने का सब को अधिकार है यह सामान्य वा उत्सर्गरूप सिद्धान्त है उस में यह विशेष वा अप-

वादरूप है कि गायत्री शब्द का अर्थ वाणी कर्म प्रधान होने तथा प्रथम कक्षा में गिनाने के कारण प्रथम कक्षा वाले ब्राह्मण के साथ गायत्री का विशेष सम्बन्ध है। ऐसे ही त्रिष्टुप् और जगती छन्दों का क्षत्रिय वैश्यों के साथ विशेष सम्बन्ध है। वा यों कहो कि ब्राह्मणपन के साथ गायत्री का क्षत्रियपन के साथ त्रिष्टुप् छन्द का और वैश्यपन के साथ जगती छन्द का विशेष सम्बन्ध है। जैसे सर्वत्र ही उत्सर्ग का सर्वांश में बाधक अपवाद नहीं होता किन्तु सामान्यांश में उत्सर्ग सदा ही चरितार्थ रहता है वैसे गायत्री आदि सब छन्दों का अधिकार भी सामान्य दशा में वैश्यादि को अवश्य ही मन्तव्य है। और वेद में यह स्पष्ट दीखता है कि गायत्री छन्द का सामान्य कर अग्नि देवता पिङ्गल सूत्र में लिखा है पर विशेष कर सैकड़ों गायत्रियों के सविता, इन्द्र, सोम आदि देवता लिखे हैं। ऋग्वेद के पावमानी सूक्तों में सैकड़ों गायत्रियों का सोम देवता है। अग्नि प्रथम कक्षा, इन्द्र द्वितीय कक्षा, और सोम तृतीय कक्षा का देवता है। यदि सामान्य नियम न होता तो सोम देवता गायत्री का न होता केवल अग्नि ही देवता होता इस से सिद्ध हो गया कि सामान्य दशा में सब छन्दों का सब को अधिकार है परन्तु यह भी ध्यान रहे कि विशेष दशा में जो प्रथम द्वितीय तृतीय कक्षाओं के साथ गायत्री आदि का विशेष सम्बन्ध है उस का खण्डन भी न हीं हो सकता प्रयोजन यह कि हमारा पहिले से भी यह अभिप्राय कभी स्वप्न में भी न था न है कि गायत्री का अधिकार क्षत्रिय वैश्यों को पौराणिक लोगों के मन्तव्यानुसार नहीं है किन्तु हम शूद्र तक को पूर्व लेखानुसार अधिकार मानते हैं परन्तु ब्राह्मणादि कक्षाओं के लिये छन्द भी भिन्न २ अवश्य हैं सो भी पूर्व यथावत् लिख दिया।

अब उपसंहार में सब लेख का सारांश यह निकला कि—हम अन्य पौराणिक लोगों के समान क्षत्रिय वैश्यों के लिये (तत्सवितुर्वरेण्य०) इस गायत्री का अनधिकार नहीं मानते किन्तु सब क्षत्रिय वैश्यादि मनुष्यमात्र के लिये सामान्य कर वेद के सब मन्त्रों को पढ़ने समझने जप पाठादि करने का जैसे अधिकार है वैसे ही इस मन्त्र के भी जपने आदि का अधिकार है। परन्तु विशेष कर अधिकार अनधिकार का यह अभिप्राय है कि जो जिस काम को ठीक २ साङ्गोपाङ्ग कर सकता [illegible] है उस कर्त्तव्य का उस को अधिकार है और जिस काम का जिस को अधिकार है वही उस को

ठीक २ कर भी सकता है अब इसी को यों कहो कि ब्राह्मण ही यौगिक अर्थ वाले गायत्री शब्द के वाच्यार्थ वाचिक धर्म को ठीक २ कर सकता है इस से उसी को अधिकार है अथवा जो वाचिक धर्म का मर्मज्ञ है तथा स्वाभाविक रुचि से वाणी सम्बन्धी वैदिकधर्म के अनुष्ठान में तत्पर है वही ब्राह्मण है। हमारे पाठक महाशय ध्यान देकर शोचें इस लेख में लेशमात्र भी किसी का पक्ष नहीं है और वास्तव में जो वेदानुकूल विचार वा लेख होगा वह सदा ही निष्पक्ष रहेगा वा जो सर्वथा पक्षपात रहित होगा वही वेदानुकूल होगा। हमारे इस लेख के अनुसार ब्राह्मणादि किसी जाति में उत्पन्न हो जिस में जैसी शक्ति वा योग्यता हो वह वैसे काम कर सकता है उन कामों का वह अधिकारी है और कर्मानुसार उस का वर्ण माना जायगा यही वेद का सिद्धान्त है। और जो जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उस को उसी वर्ण के नाम से वैसे गुण कर्म स्वभाव न होने पर भी पुकारना यह लोक परम्परा है।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रभेद का विचार मनुभाष्यादि किसी पुस्तक में हम ने लिखा वा लिखें सर्वत्र यही अभिप्राय था, है और रहेगा कि वेद में सब विषयों की तीन कक्षा और उन का यथासंख्य सम्बन्ध भी स्पष्ट दिखाया है तदनुसार ब्राह्मणादिपन के साथ गायत्री आदि छन्दों की भी कक्षा हैं और गायत्री आदि शब्द जातिवाचक हैं जिस को जिस अंश में जिस कारण (विश्वानि देव सवितर्०) आदि गायत्री मन्त्रों का जैसा न्यायानुकूल अधिकार है उस को उस अंश में उसी कारण (तत्सवितुर्०) इस गायत्री का भी वैसा ही अधिकार है। जैसे अन्य मन्त्र हैं वैसे यह भी है। वेद में लिखा होने के कारण उस का तत्त्वार्थ खोलने के लिये हम ने मन्त्र भेद पहिले और अब लिखा है किन्तु क्षत्रिय वैश्यादि को अनधिकार जताने के लिये नहीं। अब हम इस लेख को समाप्त करते हैं क्योंकि बढ़ाने का अन्त नहीं दीखता किन्हीं महाशयों को अब भी सन्देह रहे तो मुझ को कृपया पत्र द्वारा लिखें। इति—

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य भाग ७। अंक ११। १२। से आगे

भी उचित ही हो सकता है। प्रयोजन यह है कि वेद ईश्वर वाक्य है इसी कारण उस से अधिक पावन मनुष्य के लिये और कुछ नहीं। जब वेद के पठन पाठन से मनुष्य को धर्मादि सभी फल प्राप्त हो सकते हैं तो बड़ी भारी इष्टसिद्धि को छोड़ इधर उधर भागना हमारी मूर्खता नहीं तो और क्या है?। जब हम पर कोई संकट वा विपत्ति आकर पड़ती है तो हम इधर उधर को भागते अनेक अल्पज्ञ मनुष्यों की विन्ती करते हैं सैकड़ों रुपये डाकृर आदि को भेंट कर देते हैं पर यह कभी नहीं होता कि शुद्ध एकान्त में बैठ स्वयं शुद्ध हो कर वेदमन्त्रों द्वारा भक्ति के साथ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् से अपने दुःख का निवेदन करें वेद का जप पाठ होम करें करावें तो उस परमात्मा की साधारण कृपादृष्टि हमारे लिये पूरा कार्य सिद्ध कर सकती है जैसे किसी लक्षाधीश को एक कौड़ी किसी भिक्षुक को देना कुछ दिये के समान प्रतीत नहीं होती वैसे सर्व ब्रह्माण्ड के स्वामी के लिये हमारे बड़े २ कार्यों की सिद्धि भी एक तृण के समान भी नहीं है। तब हम अनन्तवरत्वधीश अपने स्वामी को भूल कर यदि साधारण अल्पज्ञ मनुष्यों के पास जा २ कर अपने दुःखों की निवृत्ति के लिये खुशामद करें तो क्या यह मूर्खता नहीं है? विचार कर देखें तो यही ज्ञात होता है कि हम को विश्वास नहीं है।

इस पर कोई सन्देह कर सकता है कि यदि कोई दृढ़ निश्चय करा देवे कि तुम्हारी विपत्ति अवश्य दूर हो जायगी तो हम वेद के जप पाठ होमादि द्वारा ईश्वर का ही आराधन करें अन्य औषध्यादि उपाय न करें। तो इस का उत्तर यह है कि क्या औषध्यादि उपाय से रोगादि विपत्तियों के दूर हो जाने का दृढ़ निश्चय तुम को हो गया है? क्या तुम किसी को निश्चय करा सकते हो कि अमुक औषध्यादि उपाय से रोगादि आपत्ति अवश्य दूर हो जायगी। क्या तुम प्रतिज्ञा के साथ किसी उपाय से कोई आपत्ति अवश्य हटा सकते हो? यदि ऐसा हो तो किसी का अतिप्रिय इष्ट मित्रादि क्यों मरे? और ईश्वराराधन से तो औषध्यादि उपाय का कुछ विरोध भी नहीं कोई औषधि आदि करता रहे तो और भी अच्छा ही है। रहा यह कि कहीं अच्छा काम करने पर भी रोगादि विपत्ति दूर नहीं होती ईश्वर भक्ति जप पाठ होमादि द्वारा करते २

भी मनुष्यों का मृत्यु हो जाता वा महाकष्ट से वे नहीं बचते वहां जैसे रोग के अधिक प्रबल होने पर ओषधि का थोड़ा बल रोग को नहीं दबा सकता वा स्वयं रोग के बल से दबजाता है और कहीं वैद्य के अज्ञान से ओषधि ही उलटी हो जाती है अर्थात् वैद्यने जो रोग समझा वह रोग ही नहीं तो उस की ओषधि वहां काम ही नहीं देती वा रोग को और भी अधिक बढ़ा देती है वैसे ही जहां पूर्वजन्म वा इस जन्म के वा दोनों के प्रबल बहुत बड़े २ पाप संचित होते हैं जिन का फलरूप बड़ी विपत्ति मनुष्य पर आती हैं उन को हटाने के लिये इतना प्रबल वा अधिक लगातार जप तप पाठ होमादि द्वारा ईश्वराराधन किया जाय कि जिस का बल इतना अधिक बढ़ जाय जो उस संचित दुष्कृत को दबा सके तो विपत्ति वा दुःख अवश्य दूर हो सकता है। इस विषय में न्यायशास्त्र वालों का सामान्य कर यह सिद्धान्त है।

कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥

यह गौतम ऋषि के न्यायदर्शन का सूत्र है इस पर वात्स्यायन ऋषि ने बहुत सा विचार लिखा है उस का आशय यही है कि वेद में पुत्रेष्टि आदि अनेक यज्ञादि ऐसे लिखे हैं जिन का प्रत्यक्ष फल माना जाता है जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ करने से किसी निर्वंश पुरुष के घर में सन्तान उत्पन्न हो तो उस को वेद के परोक्ष में होने वाले बड़े २ फलों पर भी विश्वास हो सकता है कि वेद में लिखा सब विषय सत्य है यही "स्थालीपुलाक" न्याय कहाता है कि बटलोई में रंधते हुए चावलों में से एक दो चावल टोने से गल गये प्रतीत होने पर शेष बटलोई भर चावल का गल जाना निश्चित सिद्ध हो जाता है उस मनुष्य को ठीक विश्वास हो जाता, लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता तथा यदि एक दो न गले निकलें तो यह भी निश्चय हो जाता है कि अभी सब ही नहीं गले इसी के अनुसार यदि वेद का पुत्रेष्टि आदि विषय कोई मिथ्या निकले अर्थात् पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी किसी के पुत्र न हो तो क्या वेद को मिथ्या मान लेना चाहिये ? इसी सन्देह के उत्तर में पूर्वोक्त (कर्मकर्तृ०) यह सूत्र लिखा है कि यज्ञ करने वा गर्भाधान क्रिया में कर्म कर्त्ता वा साधनों के दोष से जो काम नहीं होता उस का दोष मनुष्य अपनी मूर्खता से वेद पर लगाता है वेद का दोष नहीं वेद का एक २ अक्षर सत्य है। कर्म नाम क्रिया जिस प्रयोजन के लिये की गयी वह

विपरीत हो वा इतनी कम हो जिस से फलसिद्ध न हो सके यह क्रिया नाम कर्म का दोष, अज्ञानी मूर्ख दुराचारी अधर्मनिष्ठ पुरुष पुत्रेष्टि आदि यज्ञ कराने वाला हो यह कर्त्ता सम्बन्धी दोष तथा होम की सामग्री शुद्ध न की गयी हो मन्त्रों का ठीक उच्चारण न हो लकड़ी समिधादि ठीक न हों इत्यादि साधनगत दोष होते हैं। इन तीनों के वा दो के अथवा तीनों में से किसी एक के दोष जिस कार्य में प्रबल पड़ जाते हैं वह सफल नहीं होता वा इतना कम सफल होता है जो सफल हुआ नहीं माना जाता इस में मनुष्य की एक यह भी मूर्खता है कि अपने दोषों से जब कोई काम नहीं होता तो वह अपने दोष को वेदादि शास्त्र पर फोंकता है। क्योंकि साधन वा क्रिया में भी जो कुछ दोष होते हैं वे भी वास्तव में कर्त्ता के ही दोष हैं क्रिया तथा साधनों को चेतन कर्त्ता स्वतन्त्र होने से सम्हाल सकता—निर्दोष कर सकता है। पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्रोत्पत्ति हो सकती है इस का अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री पुरुषों में कोई एक वा दोनों असाध्य रोगी हों तो भी पुत्रोत्पत्ति हो जाय वा दोनों का संयोग हुए विना हो जाय किन्तु कुछ ऐसे कारण रुकावट के होते हैं जिन की निवृत्ति हो सकती है और वास्तव में असाध्यरोग कोई नहीं है किन्तु दो आना रोज की नौकरी करने वाले को जैसे लाख रुपये का काम कर लेना असाध्य है पर यदि वह किसी बड़े धनी वा राजा को अपने किये किसी प्रबल काम से इतना संतुष्ट करले जिस से शीघ्र उस को लक्ष रुपया मिल जाय तो वही काम उसी मनुष्य के लिये साध्य हो जाता है इस दशा में जो काम जिस से न बन सके जिस को जो न कर पावे वही उस के लिये असाध्य है। अर्थात् कहीं असाध्यरोग होने पर भी यजमान और यज्ञ कराने वाला आचार्य दोनों धर्मनिष्ठ हों और पुत्रेष्टि यज्ञादि ऐसा प्रबल उपाय लगातार तन मन धन लगा कर निरन्तर करें तो वहां क्रियमाण कर्म इतना प्रबल हो सकता है जो असाध्य रोगादि को दबा दे और शीघ्र ही अपना फल दिखा देवे। कर्त्ता कर्म और साधन तीनों में अधिकांश वा मुख्यांश के सुधार से कार्य की सफलता होती और वैसे ही तीनों के अधिकांश वा मुख्यांश के विगाड़ से कार्य बिगड़ता—निष्फल हो जाता है। जैसे लोक में तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि जिस काम को कोई शीघ्र सिद्ध करना चाहता है उस के लिये अत्यन्तवेग से दिन रात विशेष लाग के साथ लगातार उपाय करता है तो वहां पूर्व कृत कर्मों से

होने वाला प्रारब्ध भी एक कोने में अलग धरा रहता है और शीघ्र ही उस के शुभ कर्मों का फल मिल जाता है। परन्तु प्रारब्ध के प्रबल पक्ष में यह कह सकते हैं कि उस की बुद्धि पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार होती है और जैसी बुद्धि होती है वैसे ही कार्यों का आरम्भ भी उस से हो सकता है। जिन की बुद्धि प्रारब्धानुसार दूसरी ओर झुकी है जिस से वे गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं तो कैसा ही तो प्रयत्न के साथ चिल्ला २ के अतिपावन वैदिकधर्म उन को सुनावें वेद पठन पाठनार्थ हम कितने ही बड़े २ लेख लिखें पर उन लोगों का जागना कठिन है। परन्तु हमारा चिल्लाना भी निष्फल नहीं है क्योंकि कोई २ कुछ २ तो अवश्य ही जागेगा तथा जो न जागेगा उस की निद्रा में विघ्न तो भी होगा और यदि हमारा चिल्लाना अतीव [बेहद्द] बढ़ जाय तो अनेकों का जाग उठना भी सम्भव है इस से निरर्थक नहीं इस लिये महाशयो ! ध्यान दीजिये कि यदि हमारा प्रारब्ध अधिक भी बिगड़ा हो तो भी हम पुण्यस्वरूप वेद कल्पवृक्ष की सघन छाया का आश्रय लेवें और वेदद्वारा परमात्मा का आराधन करें तो हमारा कल्याण अवश्य निस्सन्देह हो सकता है। योगभाष्य में व्यासदेव ने लिखा है कि–

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति। एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्। तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिव अपवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वः सुसूक्ष्मविषयोऽप्यापवर्गाच्छ्रद्धीयते ॥ ३५ ॥

अभिप्राय यह है कि यद्यपि उन २ वेदादि शास्त्र, शुद्ध हृदय के लोगों के अनुमान तथा आचार्य लोगों के उपदेश से जाना वह २ विषय सत्य ही होता है क्योंकि वेदादि शास्त्र अनुमान तथा आचार्योपदेशों में यथार्थ सत्य २ कहने का सामर्थ्य है। इस से ठीक निश्चित सिद्धान्त में कुछ भी सन्देह नहीं अर्थात्

जैसे सब वेदमतानुयायी वेद को यद्यपि सत्य निर्भ्रान्त मानते हैं तथापि जब तक उस शास्त्र में कहे किसी एक अंश को भी प्रत्यक्ष करके अपने इन्द्रियों से न देख लिया जाय कि जिस कर्त्तव्य का फल हम थोड़े काल में देख सकते हैं तब तक आगे को चलने के लिये अर्थात् मुक्ति आदि सूक्ष्म विषयों में बुद्धि को दृढ विश्वास नहीं होता कि यह ऐसा ही होगा इसी से मनुष्य अपने सुख की उन्नति और दुःखों की निवृत्ति ठीक २ नहीं कर पाता इस लिये वेदादि शास्त्र वा गुरु के उपदेशों पर विश्वास रखने वाले आर्य लोगों को अत्यन्त उचित है कि वेद-शास्त्रादि में कहे विषयों में से किन्हीं प्रत्यक्ष फल देने वाले कर्त्तव्यों का यथोचित मन वचन शरीर से विधिपूर्वक अनुष्ठान कर २ के प्रत्यक्ष फल प्राप्त करें जिस से आगे को श्रद्धा विश्वास बढ़ें दुःखों से हम बचें इष्ट की सिद्धि हो। इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि यद्यपि हम सब लोग मानते हैं कि वेद में जो कुछ लिखा वा कहा है वह सब सत्य निर्भ्रान्त है परन्तु शोच कर देखें तो इतने मात्र मानने से हमारा कुछ कल्याण नहीं होता यह केवल वेद का सामान्य मानना है और वेद का विशेष मानना यह है कि वेद में किन २ विषयों का किस २ प्रकार से वर्णन है हम अपनी आवश्यकताओं को वेद से किस २ प्रकार पूरा कर सकते हैं। हम किन २ अनिष्ट दुःखों से बचने के लिये सहस्त्रों उपाय करते रहते हैं तो भी विपत्तियों से छूटते नहीं, हम किन २ इष्ट सिद्धियों के लिये उपाय करते २ मरजाते हैं और प्राप्त नहीं कर पाते उन २ कर्त्तव्याकर्त्तव्यों की सिद्धि वेद से किस प्रकार हो सकती है। हम को निश्चय है कि जो काम सहस्त्रों वर्ष में भी किसी से सफल नहीं हो सकते वे सब वेद का आश्रय लेने वेदानुकूल अनुष्ठान करने से सहज में हो सकते हैं यही वेद की ओर विशेष झुकना है। सो इस लिये वेद को पठन पाठनादि द्वारा जानना उस में कुछ अपना प्रवेश करना यह प्रथम कर्त्तव्य है इसी लिये हमारे नियमों में वेद के पढ़ने पढ़ाने को परमधर्म माना है।

यदि कोई कहे कि वेदोक्त कोई यज्ञ हम करें जिस का प्रत्यक्ष फल दीख पड़े तो वह अवश्य सफल हो कदापि निष्फल न हो इस के लिये क्या उपाय है ? इस का उत्तर यह है कि जिस कर्त्तव्य को कोई करना चाहे उस को प्रथम दो विभागों में बांटे एक अनुकूल द्वितीय प्रतिकूल। अनुकूल की प्राप्ति में सर्वत्र

तथा सदा ही कुछ रुकावटें विरुद्ध रहती हैं उन की निवृत्ति की जाय । प्रत्येक विषय के कोई न कोई विरोधी होते ही हैं । कुछ उपाय इष्ट की प्राप्ति के लिये और कुछ इष्टविरोधियों को हटाने के लिये ऐसी लाग से हर वार उस में चित्त लगा कर लगातार निरन्तर किये जावें और जब तक कर्त्तव्य का प्रत्यक्ष फल न हो तब तक कर्त्ता ही जावे । तो निश्चय है कि वह कार्य अवश्य ही सिद्ध हो जायगा । संसार में सर्वत्र यही नियम है कि जिस का जैसा शीघ्र प्रत्यक्ष फल देखना चाहो उस को वैसी ही अधिक लाग से करो । इस के सैकड़ों दृष्टान्त लोक में मिल सकते हैं कहीं सौ कोश चलने के मार्ग को कोई अत्यन्त कम चलने और बीच २ में विशेष ठहरने वाला कदाचित् तीन वा छः महिने में पहुंचे, कोई दश दिन में तथा कोई पांच दिन में जा सकता और कोई रेल की डाकमें जाने वाला पांच छः घण्टों में जा सकता तथा इस से भी शीघ्र पहुंचने का साधन हो तो तीन चार घण्टे में भी कोई जा सकता है और कोई पहुंचने के साधन उद्योग वा इच्छा न करे तो जन्म भर में भी नहीं पहुंच सकता । इसी के अनुसार हम जैसे साधनों का सञ्चय कर सकें जैसी हमारी लाग वा योग्यता हो वैसा ही शीघ्र वा देर में वह कार्य सफल हो सकता है यदि साधन लाग और योग्यता अति निर्बल हो तो सफलता नहीं भी हो सकती । इस अंश पर योग भाष्य में लिखा है कि--

तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षि महानुभावानामाराधनाद्वा यःपरिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशयः । १२ । १२ ।

अर्थः--अन्य कामों से अत्यन्त विरक्त हो कर प्रतिक्षण उसी काम में ध्यान लगाकर अत्यन्त वेग से लगातार किये मन्त्रों के जप पाठ, तप और समाधि से सिद्ध हुआ अथवा ईश्वर देवता महर्षि तथा महानुभाव पुरुषों की आराधना वा विशेष भक्ति से जो सिद्ध हुआ वह पुण्य कर्म का वासना रूप संचय शीघ्र ही फल देने वाला हो जाता है । ऐसे प्रबल कर्म का शीघ्र ही प्रत्यक्ष फल देखने में आजाता है । इसी योग भाष्य के सिद्धान्तानुसार संस्कृत में एक श्लोक भी प्रचरित है--

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥

जिन पुण्य पापों को धीरे २ करने से सैकड़ों वर्ष में उनका फल प्राप्त हो सकता है उनको तेज़ी के साथ सेवन करने से तीन वर्ष में तीन महिने में तीन पाखों में वा तीनदिनों में अथवा इस से भी शीघ्र जैसा छोटा बड़ा काम हो तथा उस में जैसी लाग हो वैसा ही शीघ्र प्रत्यक्ष फल प्राप्त होसकता है । यह वन युक्तिप्रमाण दोनों से सिद्ध है । इसलिये हम को वेदोक्त कर्मों का प्रत्यक्ष फल देखने के लिये विशेष उद्योग अवश्य करना चाहिये जिस से आगे २ हमारी श्रद्धा बढ़ती जाय और हम मुक्ति पर्यन्त कल्याण के भागी हों । इस पञ्चम कर्त्तव्य का मुख्य सिद्धान्त यह हुआ कि भिन्न २ उद्देशों से हम यथोचित वेद के अनुष्ठान रें नाना प्रकार के यज्ञ करें उन सब को वेद के पठन पाठन के साथ में लगा के पना परम धर्म मानें । वास्तव में विचार पूर्वक शोचने से प्रतीत होता है कि जिसका परम धर्म है अर्थात् विशेष कर अवश्य धारण करने योग्य है उसी उसका परम कल्याण होसकता है और जिस कर्त्तव्य से जिसका सर्वोपरि ल्याण हो सक्ता है वही उसका परम धर्म है इसलिये वेद से अधिक हमारा ल्याणकारी कोई नहीं इसी से वेद का धारण करना हमारा परम धर्म है ।

वेद विषय में हम सब आर्यों का एक यह भी कर्त्तव्य है कि हम उसको ाधारण दृष्टि से कदापि न देखें यह कदापि न मानें कि जैसे अन्य पुस्तक हैं से वेद के भी पुस्तक हैं । वास्तव में वेद साक्षात् परमेश्वर की वाणी है इस लेशमात्र भी सन्देह नहीं रखना चाहिये । हम लोगों में अभीतक यह बड़ी ूनता है कि हम वेद को ज्यों का त्यों नहीं समझते इसी से हमारी अधोगति ो है । हमारे पूर्वज ब्रह्मर्षि राजर्षि लोग तो वास्तव में वेद को यथोचित नते समझते थे यह ठीक ही है परन्तु इस घोर आपत्काल में जब कि वेदों । लोप सा ही हो चुका था श्रीमत्परमहंस स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज भी वेद का तत्त्व अवश्य समझा तभी उन्होंने वेद के पढ़ने पढ़ाने आदि की र पूर्ण बल दिया । इस प्रसङ्ग में मनु जी के कई श्लोक हम लिखते हैं—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥१॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२॥

एकाग्र चित्त हो शुद्धि कर शुद्ध एकान्त स्थान में जाके अपनी शक्ति के अनुसार नियत किये समय तक प्रतिदिन जो पुरुष धर्म बुद्धि से श्रद्धा विश्वास के साथ वेद का अभ्यास करता पञ्चमहायज्ञों का नित्य सेवन तथा क्षमा शान्ति को धारण करता है उस के सब बड़े २ पातकों को भी उक्त काम शीघ्र नष्ट कर देते हैं। परन्तु वेदपाठी वेद का आशय वेदपाठ करते समय समझने की शक्ति रखता हो यह भी अत्यावश्यक है। क्योंकि बुरे नीच कर्मों के सेवन से जो हृदय में कुसंस्काररूप निकृष्ट वासना उत्पन्न होती हैं उन्हीं का नाम संचित पाप है उन का दूर होना ही पापों का नाश है। जिस घर में दीपक जलाया जायगा वहीं का अन्धकार दूर होगा। अतिपवित्र स्वरूप वेद के आशयों का जिस के हृदय में प्रचार होता है उस के भीतरी कपाट खुल जाते हैं हृदय के कुसंस्कार अन्धकाररूप पाप वेद का दीपक हृदय में जलते ही दूर हो जाते हैं। तथा जैसे तेज से प्रज्वलित हुआ अग्नि अपने समीप प्राप्त हुए ईंधन को बहुत थोड़े काल में भस्म कर डालता है वैसे ही वेद को जानने वाला वेद के ज्ञानरूप अग्नि से हृदय के अज्ञानरूप सब पाप को भस्म कर देता है ॥२॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वन्तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥३॥

जगत् में जिस के पार पहुंचना दुस्तर है जिस अगाध समुद्र के पार किसी अन्य उपाय से नहीं पहुंच सकते जिस को किसी उपाय से प्राप्त नहीं कर सकते जिस स्थान में अन्य किसी मार्ग से नहीं पहुंच सकते अन्य मार्ग से चलें तो हिंसक जन्तु बीच में ही मारडालें तथा जिस इष्ट कर्म को अन्य किसी प्रकार पूर्ण उपयोगी सिद्ध नहीं कर सकते वह सभी काम वा अभीष्ट तप से सिद्ध हो सकता है क्योंकि तप से होने वाले प्रबल फल में कोई विघ्न नहीं चल सकता सब विघ्न दब जाते हैं। सूर्य के प्रबल तेज के फैलते ही अन्धकार को भागते ही पड़ता है फिर अन्धकार को सूर्य के रोकने वा दबाने का सामर्थ्य नहीं रहता। यहां मनु जी ने तप की सर्वोपरि महिमा की है और पूर्व द्वितीयाध्याय

में लिखा है कि " वेदाभ्यासोऽहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते । " ब्राह्मण के लिये नियम पूर्वक वेद का अभ्यास करना ही सर्वोत्तम तप है । तो इस से सिद्ध हुआ कि यह सब तप की प्रशंसा भी वेद के अभ्यास की ही प्रशंसा है तो वेद के अभ्यास का मनु जी ने कितना बड़ा गौरव माना है जिस से बड़ा अन्य कोई कर्त्तव्य प्रशस्त माना ही नहीं । वास्तव में वेद की यह प्रशंसा अत्युक्ति में कदापि नहीं माननी चाहिये । क्योंकि जब वेद ईश्वर का वाक्य है तो उस की प्रशंसा इस से भी कितनी ही अधिक कीजाय वह सभी सत्य होगी । सारांश यह है कि किसी वस्तु का समीप होनामात्र उस के लिये विशेष उपकारी नहीं होता क्योंकि यह नियम है कि—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

जिस का जिस के साथ अर्थ सम्बन्ध लगा है वह दूर देश में रहने पर भी उसी का होता वा रहता और जिस का जिस के साथ अर्थ सम्बन्ध नहीं वह समीप रहने पर भी सुख वा दुःख का कारण नहीं होता । जिस स्त्री पुत्र धन ऐश्वर्य मित्र वस्तु आदि के साथ प्राणियों का अनुराग सम्बन्ध लगा है उन के स्मरण मात्र से सुख उपजता और पत्रादि द्वारा उन का दुःख जान कर दुःख होता है। तथा मेला हाट बाज़ार आदि में सैकड़ों मनुष्य शरीर से शरीर मिलाते हुए भी निकलते रहते हैं पर किसी से किसी को कुछ भी दुःख वा सुख नहीं होता । इसी प्रकार वेद पुस्तक हमारे पास रहते हों वा नाम कहनेमात्र हम वेद को मानते हों तो इतने से हमारा विशेष कोई उपकार नहीं हो सकता वेद विषय में अर्थ सम्बन्ध यही है कि हम उस के वास्तविक सिद्धान्त वा आशय को जानते हों तो उस से हमारा यथायोग्य उपकार हो सकता है । इस लिये हम को अत्यन्त उचित है कि वेद के पठन पाठन के लिये हम सब आर्य लोग कटिबद्ध हो कर एक बुद्धि एक सम्मति से उद्योग करें तो कुछ काल में वेदोक्त धर्म का अच्छा उदय होने की सम्भावना है ।

इसी प्रसंग में हम सब महाशयों को यह भी जतादेना उचित समझते हैं कि वेद पर हमारा विश्वास ऐसा कदापि न है न होना चाहिये कि परमेश्वर के कर्त्तव्य वा उस की विद्या में मनुष्य अपनी बुद्धि से तर्क वितर्क कुछ नहीं

कर सकता अर्थात् आन्दोलन के साथ निर्णय करने का काम मनुष्य का नहीं कि वह ईश्वरीय विद्या में तर्क वितर्क करके कुछ सार निकाले। ऐसा आज कल के अनेक मतवादियों का विश्वास है कि जिस को हम ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं उस में जो कुछ लिखा हो उस को हम निर्विवाद मानलें हम को अयुक्त भी प्रतीत हो तो भी हम विश्वास करलें कि यह आसमानी किताब है इस में तर्क करना हमारा काम नहीं। महाशयो ! यह हमारा मन्तव्य नहीं इस सिद्धान्त को हम कदापि ठीक न समझें। ऐसा सिद्धान्त मानना इस कारण प्रचरित हुआ है कि जिन लोगों ने इस सिद्धान्त को पहिले २ प्रचरित किया उन का माना पुस्तक वास्तव में ईश्वरीय धर्म पुस्तक नहीं एक साधारण जानकार मनुष्य ने बना लिया और उन सब को अपनी इच्छानुसार चलाने के लिये ईश्वरीय पुस्तक होने का बहाना कर दिया। वास्तव में प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा युक्ति से उन पुस्तकों को सत्य ठहराना वा समझना चाहें तो तीन काल में भी वे सत्य नहीं ठहरा सकते क्योंकि वस्तुतः वे पुस्तक ईश्वरीय नहीं हैं। उन्हीं से सीख कर वेदमतानुयायी भी अनेक लोग वेद को वैसा मानने लगे परन्तु ऐसा मानने वालों ने वास्तव में वेद के तत्व अभिप्राय को नहीं समझा यही प्रतीत होता है। क्योंकि संस्कृत का पठन पाठन रहते भी बहुत प्राचीन समय से लोगों को वेद में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी ऐसा अनुमान है तभी से वेद में लोगों के इतिहास भी समझने लगे। तथा जिन लोगों ने वेद को कुछ समझा जाना उन के वचन वा विचार भी वेद के लिये पुष्टि दिखाने वाले मिलते हैं जैसे कणादसूत्र—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक निश्चित निर्विकल्प विचार पूर्वक सत्य २ की गयी है तथा वेदान्त सूत्र—

शास्त्रयोनित्वात् ॥

सर्वविद्याओं के भण्डार महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का योनि नाम कारण होने से ब्रह्मपरमात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है। इत्यादि प्रकार जिन लोगों ने वेदों का कुछ तत्व जाना वे ऐसे अनेक वचन लिख गये हैं जिन से अब तक भी वेद का गौरव चला जाता है। हमारा प्रयोजन इस लेख से यह है कि हम अपने पाठकों को वेद की ओर झुकाना चाहते वेद की ओर उन का ध्यान क-

राना चाहते हैं वेद का विश्वास कराने के लिये हम बल देते हैं कि आप लोग अवश्य विश्वास करें कि वेद से अधिक हमारा कल्याणकारी अन्य कोई नहीं है। बड़ी २ महाघोर विपत्तियों से बचाने वाला वेद से भिन्न कोई नहीं यदि बड़े २ दुःसह क्लेशों से बचना चाहते हो यदि अनेक प्रकार के अभीष्टों की सिद्धि बड़े २ दुर्लभ सुखों का भोग चाहते हो तो वेद की ओर मुख फेरो हमारे कथन पर कुछ विश्वास करो प्रत्येक आनेवाली वा विद्यमान विपत्ति को दूर करने वा छेदन करने के लिये बड़ा भारी तीक्ष्ण शस्त्र वेद को मानो, जिन २ सुखों को प्राप्त होना तुम दुर्लभ समझते हो उन की प्राप्ति के लिये भी वेद का शरण लो वास्तव में ऐसा मानने पर हम कह सकते हैं कि वेद का पढना पढाना हमारा परमधर्म है क्योंकि जो जिस का परमधर्म है उसी को वह सर्वोपरि मानता उस से उस के अभीष्टों की सिद्धि होती अथवा यों कहो कि जिस कर्त्तव्य से जिस के मुख्य अभीष्टों की सिद्धि होती तथा जो जिस को सर्वोपरि मानता है वही उस का परमधर्म है जब तक हम वेद के पठन पाठन को सर्वोपरि अपना इष्टसाधक मान के वेदाध्ययन का विशेष उद्योग से आरम्भ नहीं करते तब तक वेदाध्ययन हम आर्य लोगों का परमधर्म नहीं है इत्यादि लेख से हमारे पाठक महाशय यह न समझें कि हम महुम्मदी वा ईसाई लोगों के समान आप को वेद पर विश्वास दिलाना चाहते हों क्योंकि वेद को हम स्वयं भी वैसा अन्य साधारण लौकिक लोगों के समान नहीं मानते किन्तु हमारा विश्वास तथा ठीक निश्चय है कि वेद सर्वथा युक्तियुक्त है वेद में कोई भी बात ऐसी निर्बल वा पोच नहीं जिस को सुन कर कोई चूं भी कर सके किन्हीं असंख्य तर्क वितर्कों से भी वेद का किञ्चित् भी खण्डन नहीं हो सकता। यद्यपि समस्त वेद को हमने अभी यथावत् नहीं जान लिया इसी कारण यदि वेद विषयक हमारे किसी लेख में आप लोगों को अयुक्त सी वा पक्षपात लिये कोई बात प्रतीत हो तो वहां आप लोग वेद का किञ्चित् भी दोष न मान लें किन्तु उस में हमारी अल्पज्ञता ही कारण समझें तथापि हम को स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल को टोकर सब के गल जाने का निश्चय हो जाने के समान) से हम को ठीक निश्चय तथा विश्वास हो गया है कि वास्तव में वेद सत्य है और निःसन्देह ईश्वर की वाणी है। जगत् में यह प्रसिद्ध है कि जैसे ऊंचे दरजे का मनुष्य होता उस का कथन वा लेख भी वैसा ही गौरवयुक्त अतर्कणीय होता जिस में किसी को तर्क

[भाग ७ अङ्क ७ । ८ पृ० १६० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर]

एः त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् दिवः परि दिवः अधि द्युलोकात्। मुहूर्त मुहूर्तकालं प्रति यत् यः त्रिः आगात् आगच्छति स्वैर्मन्त्रैः हूयमानो वा स्तूयमानो वा युगपद्यजमानानां यज्ञेषु अनृतुपाः अनियतसोमपानकालः सर्वदा यागोत्पत्तेः ऋतावा ऋतवान् यज्ञवान् येनासावेवमात्मानं विकरोत्येवं च दिवो मुहूर्त त्रिरागच्छति तेनासावचिन्त्यप्रभावत्वाच्छक्नोति तत्तद्रूपमावेष्टुम्।

भावार्थ—निरुक्त तथा तिस के भाष्यकार कहते हैं देवता जिस २ रूप के धारण करने की इच्छा करता है सो सो होता है। और इस में। ऋ० मं० । ३ अ ४ । सू ५३ । मं० ८ । मन्त्र भी प्रमाण है इन्द्र देवता जिस २ रूप की कामना करता है तिस २ रूप को प्रतिबन्धरहित धारण करता है। और पुनः रूपको प्रादुर्भाव करता है। क्योंकि माया नाम अपने संकल्प को करता हुआ अपने तनु नाम शरीराकृति को अनेक प्रकार से प्रगट करता है और देखना चाहिये तिस इन्द्रदेवता का प्रभाव एक मुहूर्त काल परिमाण में तीन वार स्वर्ग से अपने मन्त्रों करके हूयमान तथा स्तूयमान हुआ आता है और यजमानो के यज्ञों में सर्वदा काल नियम विना ही सोमपान करता है ऋतावा नाम ऋतवान् अर्थात यज्ञवान् है जब ऐसे अचिन्त्य प्रभाव युक्त है इस से तिस २ रूप के धारण करने में समर्थ है इस स्थान में यह वार्त्ता निश्चित होगयी जो कि मन्त्रों करके स्तूयमान देवता अपने भक्तजन के समीप पूजा के आधार यज्ञकुण्ड वा मृण्मयादि मूर्ति में अवश्य आते हैं॥ इसी वास्ते महाभाष्यकार पतंजलि ऋषिने पूजा का वाचक "नमस्यति देवान्" ऐसा कहकर द्वितीयादि विभक्ति होने वास्ते विचार करा है। क्योंकि भाष्यकार जानते हैं जो मन्त्रों से आवाहन करके देव पूजा होती है इस से नमस्यति देवान् यह शब्द प्रयोग करते हैं।

यहां यह प्रकरण पूर्व था जो परमात्मा के अंश ब्रह्मादि हैं उस में रुद्रविभूति निर्णय में दयानन्द की शंका निरास वास्ते नमः शब्द का विचार प्रसंग प्राप्त होगया॥ और जगत् की पूर्व अवस्था परमेश्वर के आधीन है यह निर्णय करा। यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा की उपनिषद् से और परमेश्वर के आश्रित विचित्र शक्ति तमःशब्दप्रतिपाद्य जगत् रचना कराने में हेतुरूप का भी स्वतन्त्र जड़ प्रकृति कारण वाद के निरास वास्ते निर्णय करा क्योंकि परमेश्वर में अंश

अंशी भाव का निर्वाहक विचित्रशक्ति ही है और वास्तव तो अद्वैत है अर्थात् जीव परमात्मा का अभेद है और औपाधिक द्वैत है व्यावहारिक कर्म उपासना में उपयोगी यह भी निर्णय होगया श्रुतिसूत्र से ।

उत्तर—ऊपर लिखे निरुक्त का यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर स्वयं भिन्न २ रूपों को धारण करता है और न यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा वा इन्द्र देवता उस के अंश हैं यदि ऐसा हो तो परमात्मा एक रस भी न रहा तथा उस को एक रस, निर्विकार, निराकार प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों और उपनिषदों का क्या अर्थ करोगे ? यथार्थ निरुक्त के उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ यह है । यथा—

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मघवा बोभवीति इत्यपि निगमो भवति । निरु० अ० १० पा० २ ख० । ४ ।

अर्थ—जिस २ रूप की परमात्मा बनाने की इच्छा करते हैं वह वह देवता होता है अर्थात् परमात्मा जिस २ देवता को जिस २ रूप में बनाना चाहते हैं बनाते हैं उन की कामनामात्र से यह विचित्र सृष्टि सूर्य्यादि ३३ देवतों से युक्त बनी है। इस विषय में निरुक्तकार नीचे लिखे ऋग्वेद के मन्त्र का प्रमाण देते हैं । यथा—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् । त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ऋ० मं० ३ अ० ४ सू० ५३ मं० ८ ॥

पदानि—रूपम् । रूपम् । मघवा । बोभवीति । मायाः । कृण्वानः । तन्वम् । परि । स्वाम् । त्रिः । यत् । दिवः । परि । मुहूर्त्तम् । आ । अगात् । स्वैः । मन्त्रैः । अनृतुपाः । ऋतावा ॥

अन्वयः—यत् अनृतुपा ऋतावा स्वां तन्वं परि मायाः कृण्वानः सन् मघवा स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्त्तं त्रिर्दिवः पर्य्यागात् रूपंरूपं बोभवीति ॥

(यत्) जो कि (अनृतुपाः) किसी विशेष ऋतु में ही नहीं किन्तु सदा सोमादि ओषधियों का पीने वाला (ऋतावा) ऋत नाम उदक वा जल वाला [सोमादि ओषधियों का रस रूप जल जिस के किरणों में पृथिवी से उड़ कर जाता है । ऋतम्=उदकम् निघं० १ । १२] (स्वां तन्वं परि) अपने पिण्ड देह के चारों ओर को (मायाः कृण्वानः) बुद्धियों को करता हुआ [प्रकाश से तमः

निवृत्त हो कर बोध बुद्धि वा जागरण होता है, रात्रि में अन्धकाररूप तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है, निद्रा में बुद्धि तिरोभूत हो जाती है, सूर्य्य अपने उदय से फिर बुद्धियों को प्रादुर्भूत करता है। माया=प्रज्ञा, (बुद्धिः) निघं० ३। १०] (मघवा) इन्द्र=सूर्य्य (स्वैर्मन्त्रैः) इन्द्रदेवता वाले मन्त्रों से (दिवः) सूर्य्य लोक और जहां तक उस का प्रकाश जाता है वहां से (मुहूर्त्तम्) क्षण मात्र में (त्रिः) प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन और सायंसवन यज्ञ के तीनों सवनों में तीनों वार (परि आ अगात्) व्याप्त होता है (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप को (बोभवीति) अति-शयता से हुवाता है अर्थात् बनाता है [सूर्य्य आग्नेय है अग्नि की तन्मात्रा रूप है इसलिये प्रत्येक रूप सूर्य से उद्भूत होता सूर्य्य के विना रूपोत्पत्ति नहीं हो सक्ती, आंख से रूप देखते हैं आंख का भी इन्द्र देवता है तथा इन्द्र की सहायता से ही आंख देख सक्ती हैं इन्द्र उस देवता का नाम है जो सूर्य्य अग्नि दीपकादि समस्त चमक वाले पदार्थों में चमक है] आशय यह है कि परमात्मा अपनी इच्छा से इन्द्र देवता अर्थात् चमक को बनाते हैं वह चमक मुख्य कर अधिकता से सूर्य्य में रहती है अतः सूर्य्य को भी विशेष कर इन्द्र कहते हैं वही इन्द्र हर एक रूपवान् पदार्थ में रूप का कारण है उस के विना कोई रूप नहीं हो सक्ता इसलिये वही सब रूपों को बनाता है यह कहा गया। अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इस से किसी देवता का सुवर्णमयादि मूर्त्ति में ही आना सिद्ध नहीं होता किन्तु मूर्त्ति ही क्या सभी रूपवान् पदार्थों में इन्द्र देवता जिस का नाम चमक है विराजमान है परन्तु ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेदभाष्यभूमिका में इन्द्रादि ३३ देवता अवश्य माने हैं परन्तु वे परमात्मा के तुल्य वा कुछ न्यून भी उपास्यदेव नहीं हो सकते क्योंकि जड़ हैं। कोई साधु-सिंह जी से पूंछे कि महात्मा जी! इस से शुद्ध अद्वैत और व्यावहारिक द्वैत क्या सिद्ध हुआ कुछ भी नहीं ॥

फिर पृष्ठ ७६ से ८० पर्य्यन्त साधुसिंह लिखते हैं कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ब्रह्म जीव प्रकृति को अनादि मानते हैं सो ठीक नहीं। क्योंकि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य

शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० १

इस मन्त्र से सिद्ध है कि जब सत्व रजः तमः ये तीनों गुण न थे तो प्रकृति का अनादित्व नहीं रहा, " कस्य शर्मन् " का तात्पर्य यह है कि किस का सुख या किसी का नहीं अर्थात् सुखादि का भोक्ता जीव भी नहीं था किन्तु केवल ब्रह्म ही जगत् की पूर्वावस्था में था अन्य कुछ नहीं इस लिये तीन पदार्थ अनादि नहीं ॥

उत्तर–यद्यपि साधुसिंह जी के किये अर्थ में रजः शब्द से तीनों गुणों का अभाव मानना आदि प्रमाणशून्यता भी है परन्तु थोड़ी देर के लिये हम उन के अर्थ को अक्षरशः स्वीकार भी कर लें तब भी उन का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता क्योंकि सत्व रजः तमः इन तीनों को अनादि नित्य न तो स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने लिखा न आर्य्यसमाज मानता है किन्तु इन तीनों गुणों की साम्यावस्था जिस में कि ये तीनों गुण लय को प्राप्त हो जाते हैं जिस का नाम अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति वा उपादानकारण है उस प्रकृति को हम अनादि मानते हैं। तीनों गुण उस प्रकृति का कार्य्य हैं कार्य जब अपने कारण में लीन हो जावे तब कौन कह सकता है कि यह नित्य है इस लिये कारण ही नित्य माना जाता है और स्वामी जी ने भी माना है तथा आप भी स्वयं पृष्ठ ७८ पं० १२ में मानते हैं कि " कोई अव्यक्त अवस्था होती भयी" ठीक है, भूत वही जो सिरचढ़ बोले, इस कहावत के अनुसार साधुसिंह जी स्वयं बकार उठे। महात्मन् ! अव्यक्त को तो आप लिखते ही हैं, अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति एकार्थ हैं तब तो आप ही ने प्रकृति की नित्यता लिखदी, रही यह बात कि रजः शब्द से आप आप के किये अर्थ के अनुसार " तीनों गुण न थे " इस से प्रकृति न थी यह तो ऐसी ही बात है जैसे कोई कहे कि घड़ा न था तो मिट्टी का भी अभाव ही था !!! देखिये वैशेषिकदर्शन में कणाद ऋषि क्या लिखते हैं–

कारणाभावात्कार्य्याभावः ॥ नतु कार्य्याभावात्कारणाभावः ॥

कारण के अभाव से कार्य का अभाव है न कि कार्य के अभाव से कारण का अभाव। जैसे मृत्तिका के अभाव से घट का भाव नहीं हो सकता परन्तु घट के अभाव से भी मृत्तिका का भाव हो सकता है। साङ्ख्याचार्य कपिल जी स्पष्ट जगत् की प्रथमावस्था प्रकृति को नित्य मानते हुवे लिखते हैं कि–

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतो हङ्कार० इत्यादि॥

यदि प्रकृति नित्य नहीं तौ क्या साधुसिंह जी बता सकते हैं कि कपिलदेव जी ने प्रकृति का भी कोई अन्य कारण क्यों नहीं लिखा अथवा आप सांख्य-शास्त्र को नहीं मानते जैसा कि अद्वैतवादी प्रायः नहीं माना करते और पांचों दर्शनों का खण्डन करते हैं और अपने कल्पित अर्थों के अनुसार केवल वेदान्त दर्शन को ही मानते हैं !!

दूसरी बात आप यह लिखते हैं कि महाप्रलय में भोक्तृत्व भी नहीं था, इस से जीवात्मा की नित्यता नहीं है । इस का उत्तर यह है कि—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ न्यायसूत्र ११

चेष्टा इन्द्रिय अर्थ इन का आश्रय शरीर कहाता है महाप्रलय में इन्द्रियां न थीं अतएव शरीर न थे जब शरीर न थे तौ भोग भी न था क्योंकि—

भोगायतनं शरीरम् ॥

भोग का स्थान शरीर है । जब भोग न था तौ यह ठीक है कि भोक्तृत्व नहीं था परन्तु इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि जीवात्मा की सत्ता ही न थी । फिर वही बात आती है कि जीवात्मा एक द्रव्य है देहसंग से भोग उस का काम है । जैसे देवदत्त भोजन करता है तौ क्या जिस काल में भोजन नहीं करता उस कालमें देवदत्त भी नहीं रहता ? यथार्थ में दर्शन शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग हैं उन का सिद्धान्त विना जाने वेद का सिद्धान्त जानना साधुसिंह जी को दुःसाध्य ही है । तात्पर्य्य यह है कि महाप्रलय काल में भोगायतन शरीरों के अभाव से जीवात्मा कर्मफलभोग नहीं करते परन्तु जीवात्मसत्ता अवश्य रहती है । जीवात्मसत्ता भी नहीं थी यह बात आप के किये अर्थ से भी नहीं निकलती अतएव श्रीस्वामी दया० जी का सिद्धान्त ब्रह्म जीव प्रकृति इन तीनों को नित्य मानना वेद शास्त्रों के अनुकूल ठीक है ।

पृष्ठ ८० में साधु सिंह जी लिखते हैं कि " जो कहीं प्रकृति को अनादि कहा है सो ब्रह्म आश्रित प्रकृति को अनादित्व कहा है "

उत्तर—क्या श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी वा आर्य्यसमाजें प्रकृति को ब्रह्माश्रित नहीं मानते ? अवश्य मानते हैं क्योंकि ब्रह्म चेतन सर्वशक्तियुक्त है औ

प्रकृति जड़ तथा जीवात्मा अल्पशक्तियुक्त हैं, इस दशा में जड़ चेतनाश्रित होता है तथा अल्पशक्तियुक्त जीवात्मा भी सर्वशक्तियुक्त परमात्मा के आधार वा आश्रय में ही रहते हैं। तब तो आप साधुसिंह जी मानो स्वयं सत्य सिद्धान्त को अपने मुख से ही पुष्ट करते हैं क्योंकि नवीन वेदान्ती तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता को प्रलय काल में ही क्या वर्त्तमान सृष्टि काल में भी नहीं मानते सब को अपनी मिथ्याबुद्धि से मिथ्या समझते हैं ॥

फिर ८० पृष्ठ की पङ्क्ति ५ से आगे—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० २ ॥

इस मन्त्र से सिद्ध करते हैं कि उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न था अर्थात् जीव प्रकृति अनादि नहीं हैं ॥

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ यह है कि—(तर्हि न मृत्युरासीत् न अमृतम्) तब न मौत होती न जिन्दगी, अर्थात् न तो संसार के प्राणिवर्ग मृत अवस्था में रहते न अमृत अवस्था में किन्तु सर्वतःसुप्त सी विलक्षण दशा में रहते हैं (न रात्र्याः अह्नः प्रकेत आसीत्) न रात्रि वा दिन का चिह्न, रात्रि के चिह्न चन्द्र तारादि कुछ नहीं रहते तथा दिन के चिह्न सूर्य्यादि कुछ नहीं रहते, किन्तु (तत् एकम् अवातं स्वधया [सहितम्] आनीत्) वह एक निश्चल स्वधासहित जीवित रहता है। स्वधा शब्द का हम भी वही अर्थ स्वीकार करते हैं जो साधुसिंह जी ने पृष्ठ ८१ पं० २ में किया है कि—स्वमात्मानं परमेश्वरे धारयतीति स्वधा अर्थात् अपने आप को परमेश्वर के आधार में रखने वाले प्रकृति और जीवात्मा स्वधा हैं। उनसहित एक ब्रह्म रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि अपने आधार आप तो एक ब्रह्म ही है किन्तु ब्रह्म के आधार में (अपने आधार में नहीं) जीवात्मा और प्रकृति भी रहते हैं (तस्मात् ह परः अन्यत् किञ्चन न आस) उस पूर्वोक्त स्वधासहित ब्रह्म से परे अन्य कुछ नहीं रहता। इस से अगला मन्त्र इस बात को और भी स्पष्ट करता है। यथा—

तमआसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् । तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तमसस्तन्महिनाऽजायतैकम् । ऋ० मं० १० अ० ११ सू १२९ मं० ३ ॥

(अग्रे तमः आसीत्) प्रलयकाल में अंधियारा रहता और (इदं सर्वमप्रकेतं सलिलम् आ तमसा गूढम्) यह सब, चिह्नरहित अदृश्य जल सा अंधियारे से आच्छादित रहता है । जैसे जल वाष्परूप हो कर फिर आकाश में अदृश्य अप्रकेत हो जाता है वैसे जगत् भी अव्यक्त भाव में होता है (यत् आभू तुच्छेन अपिहितमासीत्) जो जगत् तुच्छ अर्थात् सूक्ष्म अव्यक्तभावापन्न तम से आच्छादित होता है (तत् एकम् तमसः महिना अजायत) वह एक अन्धकारावृत अवस्था के पश्चात् महत्तत्त्वरूप से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति सब से प्रथम हुवा करती है जैसा कि ऊपर सांख्य सूत्र से हम सिद्ध कर आये हैं । इस मन्त्र में यह कहा है कि प्रथम प्रकृति रहती है उस से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । अब इस से अगले मन्त्र में यह कहा जाता है कि महत्तत्त्व से काम अर्थात् अहङ्कार की उत्पत्ति होती है । यथा—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा । सू० १२९ मं० ४

(तदग्रे कामः समवर्त्तत) उस महत्तत्त्व के पश्चात् काम अहङ्कार उत्पन्न होता है उसी को मन भी कहते हैं (मनसोरेतः प्रथमम् यत् आसीत्) उस मन का बीज पूर्व था । (पूर्व कल्प में किये प्राणियों के कर्मों से अभिप्राय है) अर्थात् जगदुत्पत्ति का बीज कारण पूर्व कल्प के कर्म होते हैं उन्हीं के भोगवाने के लिये परमात्मा सृष्टि रचते हैं । उत्तरार्द्ध मन्त्र में यही स्पष्ट करते हैं (कवयो मनीषा मनीषया हृदि प्रतीष्य असति सतो बन्धुं निरविन्दन्) विद्वान् लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके असत्=अप्रतीयमान अवस्था में, सत्=प्रतीयमान जगत्

के बन्धु=सहायक कर्म को जानते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्वकल्पकृत कर्म सहायक वा कारण बनते हैं निष्प्रयोजन जगद्रचना नहीं होती है। इस सब से यह सिद्ध हुवा कि ब्रह्म, प्रकृति, जीव और जीवों के कर्मों का प्रवाह अनादि है ॥

हम आज अपने पाठकों के अवलोकनार्थ यहां एक शास्त्रार्थ लिखते हैं। प्रश्न यह है कि यदि बुद्धि वा ज्ञान जीवात्मा का गुण है और जीवात्मा प्रकृतिजन्य पदार्थ नहीं तो बुद्धि भी प्रकृतिजन्य पदार्थ नहीं परन्तु उपरोक्त मन्त्रों और सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त से यह प्रतीत होता है कि प्रकृति से महत् और महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है अहङ्कार की [(मन्वानो मनो भवति) १—मानता हुआ मन (बोधयन्बुद्धिः) २—बोध वा समझता हुआ बुद्धि (चेतयंश्चित्तम्) ३—सोचता हुआ चित्त और (अहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारः) ४—मैं मेरा आदि प्रतीत करता हुआ अहङ्कार] ये चार अवस्था हैं तो बुद्धि भी अहङ्कार की अवस्थाविशेष होने से एक ही है तो यह संशय होता है कि यथार्थ बात क्या है अर्थात् बुद्धि प्रकृतिजन्य है वा आत्मा का गुण है।

उत्तर—यद्यपि आत्मा में मानना समझना सोचना और मैं मेरा आदि प्रतीति का सामर्थ्य है इस कारण ये सब आत्मा के गुण हैं तथापि महत् अहङ्कारादि प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थों की सहायता विना संसार में वे गुण अभिव्यक्त वा प्रकट नहीं होते। जैसे आत्मा में देखने का सामर्थ्य है परन्तु आंख जो प्रकृति से बनी है उस की सहायता विना कोई जीव किसी प्राकृत द्रव्य को नहीं देख सकता और यद्यपि आत्मा में श्रवण शक्ति है क्योंकि जब आत्मा का देह से वियोग हो जाता है तब "कारणाभावात् कार्य्याभावः" के अनुसार सुनना आदि व्यवहारों का अभाव हो जाता है तथापि कोई जीव किसी शब्द को श्रवणेन्द्रिय की सहायता विना जो प्रकृति से बनी है नहीं सुनसक्ता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों पर समझो।

जैसे यद्यपि आत्मा में देखने सुनने सूंघने चखने छूने का ज्ञान है तब भी वह प्राकृत पदार्थों के अनुभव करने में प्राकृत इन्द्रियों की सहायता विना असमर्थ है, वैसे ही बुद्धि आदि निज गुणों के रहते भी आत्मा को प्राकृत पदार्थों के जानने समझने सोचने ममता करने में प्राकृत अहङ्कार की सहायता भी आवश्यक है।

(शेष आगे—ह० तुलसीराम स्वामी)

२०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)	९२६ बा० रामलाल जी झंग २॥
११६६ बा० राजाराम जी अगसौली १।)	८८४ श्री० महाराजसिंह सराय प्रयाग २॥
८८१ बा० घनश्यामदास जी कानपुर १।)	९८६ बा० लक्ष्मणस्वरूप जी मैनपुरी २॥
४४३ पं० महावीरप्रसाद जी दुबे धर्मपुर २॥)	७९९ ला० देशराज जी शाहपुर २॥
६४५ पं० जेठमल शर्मा हैदराबाद २॥)	८६२ श्री० निवासराय जी धाराशिव २॥
८२५ श्री० बूलचन्द फतहचन्द हैदराबाद-सिन्ध २॥)	१००३ श्री० कन्हैयालाल बिलहा २॥
३२९ पं० रघुवरदयालु जी गुसिरापूर २॥)	८३० पं० सेवाराम शर्मा किला विहार २॥
४७८ बा० छेदालाल जी नगलिया उदयभान २॥)	३१३ पं० मक्खनलाल पचरावां ३॥
४३८ ला० नन्दकिशोर जी भूपाल २॥)	८३५ पं० भगवन्त शर्म्मा नवाबगंज २॥
४९४ बा० रामजीमल भार्गी मुजफ्फरपुर २॥)	७७६ ला० रामप्रसाद जी बान्दा २॥
१०२६ श्री० भगवानदास जी टांडा २॥)	८७९ पं० हरिशंकर जी नगीना २॥
१०२१ बा० रंगूराम जी सीवी २॥)	३८२ बेनीप्रसाद शिवरीनारायण २॥
८४९ ला० हीरानन्द जी भेरा २॥)	१७८ प्रतापसिंह राणा काठगोदाम २॥
४९५ पं० कालीचरण जी शाहाबाद २॥)	१०७४ बा० वसन्तलाल जी पटना १।
१०३७ पं० जगन्नाथ जी सीवी २॥)	९६९ बा० भद्रसेन वर्म्मा मुढ़ी २॥
	६३३ कृष्णसिंह नौवतराय " २॥
	८८९ श्री० लालचन्द्र जी विष्णुपुर २॥
	८८६ कामताप्रसाद हैदराबाद सिन्ध २॥

धन्यवाद ॥

बा० चण्डीप्रसाद जी इटावा ४) पं० दक्षीलाल जी इटावा ४) मास्टर गुन्दीलाल जी इटावा ११) पं० जगन्नाथ जी सुकुल इटावा वर्ष भर के ३) श्री जंगसिंह जी जमीदार गढ़िया छिनकौरा दो बार में ३) मुं० माधवराम जी कानूनगो बदायूं २) जीरामजी सुनार सौजणी २) ला० लक्ष्मीनारायण जी सेक्रेटरी कायस्थ सभा बदायूं पुत्र के विवाहोत्सव में दान २) चौधरी साहब पद्मसिंह जी सुन्दरपुर इटावा ९॥) कुंवर तुकमानसिंह जी डिपटी कलेक्टर इटावा ४) बा० हीरालाल जी इटावा ५) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा २) पं० तुलसीराम जी स्वामी इटावा ११) पं० बनवारीलाल जी तहसील इटावा ॥) भीमसेन शर्मा इटावा ९॥=) डाक्टर प्रभुलाल जी इटावा ४) श्री फूलसिंह जी छावनी मियामीर १=) [illegible] १) पं० रामजीमल जी इटावा २) बा० शिवचरणलाल जी वकील इटावा ११) पं० स्वामी-

राम जी चतुर्वेदी इटावा १) श्री गणेशीलाल जी वैश्य इटावा ४) बा० कालिकाप्रसाद सिंह जी मुंसिफ इटावा १) मुंशी गंगासहाय जी इटावा ३) बा० बलदेवप्रसाद जी सुपरवाईजर बांदा मई जून जुलाई के ६) नन्दकिशोर जी घड़ीसाज इटावा १) पं० रामनारायण शर्मा जलेसर १०) पं० मातादीन जी वकील इटावा १) श्री नन्दकिशोर विद्यार्थी जमुई १०) श्रीयुत घनश्याम दास जी कलकत्ता १०) पं० शिवराव मंगीश शर्मा मंजेश्वर १॥=)॥ पं० डालचन्द जी मिश्र दातागंज १) बा० हनुमानप्रसाद जी लखनऊ १) पं० लेखराज जी ओवरसियर इटावा ३) बा० घनश्यामदास जी कानपुर ४।) श्री दुर्गाप्रसाद जी अहार १०) बा० रामप्रसाद जी मुंसरम इटावा =)। बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा २) श्री सत्यनारायणदास जी पटना ।) बा० वसन्तराय जी वैश्य पटना ।) चौ० गदाधर सिंह जी भारौल ३) टीकाराम विद्यार्थी नदौली १) मुं० गयाप्रसाद, केदारनाथ तथा रेवतीराम जी आदि ने ब्रह्मा से चन्दा कर भेजे १८॥) स्वा० सुन्दरानन्द स्वर्गवासी मरते समय कलकत्ते में दे गये थे १॥) पं० रामकिशोर जी कलकत्ता १) रामप्रताप वंशीधर जी फर्रुखाबाद ५) बा० गणेशप्रसाद जी मुहर्रिर उन्नाव २) बा० पूर्णसिंह जी इटावा ॥) यह सब १६७)॥। जून जुलाई अगस्त सितंबर इन ४ मास में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुवा परमात्मा सहायता करने वालों को अभ्युदय और श्रद्धा देवें। उक्त ४ मास में १८२॥।)॥। इस प्रकार व्यय हुवा—८६।=)॥। पं० श्यामलाल शर्मा अध्यापक को ४ मास और १० दिन मई का वेतन २॥) सुन्दरलाल द्वि० को हिसाब पढ़ाई का प्रतिमास १) दिया जाता है तन्मध्ये. कहार को प्रतिमास एक १) दिया जाता है तन्मध्ये ४) चिट्ठी पत्र कागज तैलादि फुटकर मध्ये ३॥-)॥। शेष ७०॥।)। पांच विद्यार्थियों के भोजनादि में व्यय हुवा परन्तु सितंबर मास में २ विद्यार्थी कुछ दिन ५ के अतिरिक्त रहे उन का व्यय अनुमान ५॥) भी इसी में है ॥

सूचना ॥

सब पाठक महाशयों को विदित हो कि आर्यसिद्धान्त में जो आर्यसमाज का भावीकर्त्तव्य के नाम से लेख छापा जाता है उस का अभिप्राय किन्ही स्वार्थी लोगों ने यह प्रकट करना चाहा है कि पं० भी० श० भी आर्यसमाज के सिद्धान्त को अनिश्चित मानते हैं सो यह मिथ्या है मेरा विचार यह कदापि नहीं कि मांसभक्षणादि विषय विचारसाध्य है किन्तु मैं वेद के सिद्धान्त को जो स्वा० द० जी ने माने हैं उन को निर्विकल्प मानता हूं लेख का आशय विशेष कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलानामात्र है।

भीमसेन शर्मा

सरस्वतीप्रेस—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ३ । ४

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ
४ जनवरी सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

१ सितम्बर से ४ नवम्बर ९६ तक)

७ बालगोविन्दसिंह खचरियाबास २॥)
२ पं० जगन्नाथशर्म्मा–सीघान २॥)
३० प्रभुलाल जी जयपुर २॥)
श्री सालेतुरबैंकटराव मंजेश्वर २॥)
७ श्री सिद्धेश्वरप्रसाद उमरिया २॥)
७ श्री रावराजातेजसिंह जोधपुर ३।।।)
८६ लैसनायकसाहिबा जालन्धर १।)
२ शिवबकसशर्म्मा कानपुर ॥)
४ विष्णुचरणलाल जी भर्थना २)
१५ बा० भगवानदासरावत बरेली १।)
९ मन्त्रीआर्य्यसमाज नरसिंहपुर २॥)
८ बा० सीतारामजी लखनऊ १।)
३ बा० पैडालाल जी लाहौर २॥)
११ राजीवलोचनजी भगवन्तनगर १।)
५ बा० नीलाम्बरप्रसादजी मुरादपुर २॥)
८ श्री रामचन्द्र जी औरइया १)
४ मुं० शिवप्रसाद रैसलपुर ३।।।)
३६ उमरावसिंह जी लुधियाना २॥)
६ त्रिभुवनदासभूलाभाई जी गडढा १।)
६ रामभरोसे सूबेदार बिरौली १।)
१ बैजनाथ जी नजीबाबाद १।)
२९ पं० अयोध्याप्रसाद शकरौली ।।=)
६ अवधबिहारीलाल गाजीपुर १।)
३ बा० हुकुमसिंह जी आंगई २॥)
९ श्री बलभद्रसिंह झालावाड़ १।)
२० बा० अयोध्याप्रसादजी हर्दोई १।)
६४ बा० रमय्या[illegible] जी अ[illegible] १।)
२९ श्री महाराजाधिराज शाहपुरा ५)

६८८ बा० अयोध्याप्रसाद अम्बाला १।)
५९९ श्री मेलारामजी जम्बू १।।।=)
११७० मन्नूलालदुर्गाचरण कालपी १।)
११५३ पं० रामगोपालशर्म्मा सिलहट १।)
१०५ सुकुलसरयूप्रसादजी मिर्जापुर १।।।≡)
६७१ बा० मनीरामजी देहरादून २॥)
३०७ बा० प्रभुदयालजी चम्बा १।)
१०४ पं० बद्रीदीन जी अकबरपुर २॥)
१११२ पं० शिवमंगलजी जौनपुर १॥)
४२ ला० बद्रीदासबांकेलाल आगरा १।)
१०७५ पं काशीरामजी सुहागपुर २॥)
९५५ बा० ज्वालाप्रसाद जी जबलपुर २॥)
८१३ पं० रमादत्तजी नयनीताल १।)
७८६ मुं० प्रभुदयाल जी सांट २॥)
२४१ बा० गोवर्द्धनसिंहजी धीरपुरा २॥)
२०८ मन्त्रीआ०समाज झांसी २॥)
४०६ ला० नियादरमल नजीबाबाद २॥)
९२७ बा० चतुर्बिहारीलाल उज्जैन २॥)
५६९ पं० नारायणप्रसाद ठठिया २॥)
७४९ मन्त्रीआर्य्यसमाज शाहपुरा २॥)
६६८ ला० रूड़ामलचेनामल जालन्धर २॥)
७४ मुं० रामशरणदासजी बुलन्दशहर २॥)
८२७ बा० हीरालालजी धुलिया १।)
११८२ पं० राजपतिशर्म्मा कानपुर १।)
८७ मा० दुनीचन्दजी मेरठ २॥)
११८० देसाईगुलाबराय दलेवाड़ा १।)
७७ पं० शुकदेवप्रसाद मुरादाबाद २॥)
६६६ मुं० राजा[illegible] १)
११८३ ब्रजलालवर्म्मा मुलतान ॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क३.४

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्रह्मा॑ मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे॥

आर्यसमाज का भावीक र्त्तव्य भाग ८ अं० १।२ पृ० ३२ से आगे

करने का प्रायः अवसर नहीं मिलता वा यों मानो कि उस पुरुष का लेख वा कथन वा विचार ऐसा गौरव युक्त होता है इसी से वह वैसी उच्चकक्षा का मनुष्य माना जाता है । ये दोनों ही प्रकार प्रायः सभी सज्जन महाशयों को ज्ञात हैं । यही दृष्टान्त ठीक २ वेद विषय में घट जाता है कि जिस के एक २ अक्षर वा मात्रा में सत्य और धर्म व्याप्त है जिस में एक बिन्दु मात्र भी निष्प्रयोजन नहीं जिस से अधिक सत्य और कोई नहीं होसकता जिस में कभी किसी को किसी प्रकार कैसा भी तर्क करने का अवसर नहीं मिल सकता जिस में अज्ञान वा भ्रान्ति कहीं लेश मात्र भी नहीं ऐसा वेद रूप जिस का ज्ञान वा कथन है वह ऐसे वेद का उत्पादक होने से ही परमेश्वर कहाता वा माना जाता है ईश्वरों का भी परमईश्वर परमेश्वर है । वा परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है इस से उस का बनाया वेद सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त है ये दोनों बातें एकहीं हैं । तात्पर्य यह हुआ कि वेद सर्वथा निरपेक्ष सत्य है इसी लिये वह परमेश्वर का बनाया है क्योंकि मनुष्यों के सब कारणसापेक्ष सत्य रहते हैं तो अनन्तशक्ति वाले निरपेक्ष निरतिशय ज्ञानी का ही ज्ञान निरपेक्ष सत्य होसकता है । इस लिये वेद के विषय में जो कुछ लिखा गया तथा जो कुछ आगे लिखें उस में कोई भूल वा

पक्षपात प्रतीत हो वा तुच्छता जान पड़े तो वह वेद को कदापि न मानना । और यह भी न मानना कि सम्पादक आर्यसिद्धान्त ने वेद पर केवल विश्वास ही कर लिया है वैसा ही सर्व साधारण को विश्वास दिलाना चाहते हैं किन्तु कहीं युक्ति ठीक २ न लिखी गयी हो तो लेखकी न्यूनता हो सकती है । तथा यह भी हो सकता है कि वह लेख सर्वथा निष्पक्षपात भी हो युक्ति युक्त भी हो सर्वथा ग्राह्य भी हो पर कोई अल्पाशय अपनी अज्ञानता के कारण उस के अभिप्राय को ठीक न समझपावें और वे सम्पादक आर्यसिद्धान्त का दोष ठहरावें तो इस में हमारा क्या अपराध है !। सब दशा में हमारा दोष हो वा पाठकों का हो वा दोनों का हो वा दोनों का न हो पर वेद सर्वथा शुद्ध निष्कलङ्क है ।

हमारे पाठक लोग ध्यान रक्खें कि वेद विषय में आगे २ हम बहुत कुछ लिखना चाहते हैं वा यों सही कि वेद के गूढ़ाशयों को प्रकाशित करने के लिये ही आर्यसिद्धान्त का जन्म हुआ है सो अभी तक तो कम लिखा जाताथा अब आगे २ वेद विषय के ही प्रायः विचार लिखने का संकल्प रहेगा इस लिये यह लिख दिया कि जिस से पाठक महाशयों को स्मरण रहे । और यह भी आवश्यक है कि जो किन्ही महाशयों को सन्देह उत्पन्न हो तो प्रथम तो स्वयमेव उस विषय को लौट पौट शोचविचार कर देखें यदि इतने से सन्देह दूर न हो तो अपने किसी विचार शील मित्रादि से पूछें यदि पूछने से भी सन्देह दूर न हो तो पत्र द्वारा मुझ को सूचित करें सम्भव है कि मेरे उत्तर से सन्देह अवश्य निवृत्त हो जायगा । किन्तु कोई महाशय मेरे लेख में पक्षपातादि होने का शीघ्र ही अनुमान न कर बैठें क्योंकि यह अति क्षुद्र पुरुषों का काम है कि धर्मानुकूल विचार वा लेख के लिये उद्यत हो कर भी अपनी जाति वा कुलादि का पक्ष करना यद्यपि यह असम्भव नहीं कि मुझ में पक्षपातादि कोई दोष किसी अंश में भी न निकलें पर यह कदापि सम्भव भी नहीं कि मैं जान बूझ कर किसी विषय को पक्षपात से सिद्ध करूं । क्योंकि मेरा हृदय अब ऐसा संकुचित नहीं है किन्तु अज्ञान से मनुष्य की स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारण मेरे लेख में कोई २ भूल वा दोष निकलें तो यह सम्भव है । पर उस में यह भी सम्भव है कि दोष मानने वाले की समझ का दोष हो इस लिये किन्हीं महाशयों को ऐसा न चाहिये कि दोष प्रतीत होते ही यह हल्ला करने लगें कि अमुक पुरुष का विचार तो बदलगया । यह मैंने इस लिये भी लिखा है कि मन्त्रभेदविचार में कई मनुष्यों

ने अधिक सन्देह बढ़ाया उस विषय पर इन अङ्कों में पुनर्वार भी लेख लिख गया है उस को विचार पूर्वक देखिये ।

भेदाभेदविचार ॥

हे परम कृपालो करुणानिधान परमात्मन् ! आप अग्नि वायु आदि के समान संसार के सब स्थूल सूक्ष्म पदार्थों में व्याप्त हैं जगत् में कोई वस्तु ऐसा नहीं जिस के साथ आप न हों वा जो वस्तु आप में न हो इस कारण एक तृण भी आप से भिन्न कभी नहीं हो सकता आपका सब पदार्थों के साथ सनातन काल से अभेद चला आता है । और हे सर्वरक्षक सर्वधारक ! ईश्वर आप सब में व्याप्त रहने पर भी सदा सब से भिन्न रहते हो आप सब पदार्थ नहीं हो जाते इस कारण सब के साथ आप का भेद भी सनातन है । हे भगवन् ! यद्यपि भेद अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि भिन्न २ अंशों वा अभिप्रायों से आप में दोनों चरितार्थ होते हैं । और आप का दोनों के साथ विरोध नहीं आता । जगत् के पदार्थ अशुद्ध अपवित्र हैं आप नित्य पवित्र हैं । मनुष्यादि प्राणि बद्ध आप सदा मुक्त, हम सब अल्पज्ञ अज्ञानी हैं आप अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ हैं इस से हमारे साथ आप का बड़ा भेद है । हे दयासागर हम लोगों को भी आप ऐसी बुद्धि देवें कि हम भी आप को तथा आप की वेद विद्या को भिन्न अभिप्राय यथावत् यथोचित देखें सुनें मानें विचारें शोचें । आप समुद्रादि अथाहों से भी अधिक गम्भीर हैं हम को भी कृपाकटाक्ष से मनुष्यों में गम्भीर होने की शक्ति आप दीजिये जिस से छोटी २ बातों से हमें क्लेश न व्यापे हम दुःखी न हों हम स्वार्थी न बनें धर्म की ओर हमारी सदा निष्ठा बनी रहे । आप सदा सब को समदृष्टि से देखते सदा ही पक्षपात शून्य हैं हम को भी पक्षपात से सदा बचाइये, आप सदा शान्तशील हैं हमें भी शान्ति दीजिये । हम अपनी मूर्खता के कारण किसी की बात वा लेखादि का तत्त्व न समझ कर क्रोधित न हों तत्त्व शोचने की ओर हमारी बुद्धि झुके । तथा हे निर्विकार करुणागार हमारे साथ कोई अज्ञान से ईर्ष्याद्वेष क्रोधादि करे उस पर हम क्रोध न करें सदा चित्त में शान्ति रहे क्योंकि शान्ति भी धर्म का प्रधानरूप है । इस से हमें शान्ति दीजिये यही प्रार्थना विशेष है ॥

हम सर्वशक्तिमान् परमात्मा से प्रार्थना करने पश्चात् अपने पाठकों से निवेदन करते हैं कि यह "भेदाभेदविचार" कोई नया लेख नहीं किन्तु आर्यसमा

के भावी कर्त्तव्य के अन्तर्गत यह भी लेख है । हम इस लेख में प्रथम प्रश्नोत्तर रूप से कुछ विचार लिखेंगे और पीछे से सब का सारांश सिद्धान्त भी लिख देंगे । आशा है कि विचारशील महाशय निष्पक्ष हो कर इस लेख का सत्य २ आशय समझ कर कृतकृत्य करेंगे ।

प्रश्न–भेद और अभेद क्या है ?

उत्तर–भेद यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटपतङ्गादि जाति, मनुष्यों में स्त्री पुरुष बालक, युवा, वृद्ध, गुरु, शिष्य, पिता पुत्रादि तथा प्रत्येक देहधारी का विचार, शक्ति बल पराक्रम कर्म, तथा सुख दुःखादि भिन्न ही भिन्न दीखता है । और पर सामान्य जिस को सत्तासामान्य कहते हैं वह सर्वोपरि सब का अभेद है । जड़ चेतन सब हैं, ईश्वर है इत्यादि प्रकार (है) इस क्रिया का सब के साथ अन्वय होता यही सत्तासामान्य है और यही बड़ा अभेद है । तथा मनुष्य पशु पक्षी आदि सब का प्राणधारी होना मृत्यु से सब का डरना इत्यादि चर प्राणियों में अभेद है । मनुष्यों में ब्राह्मण क्षत्रियादि के भिन्न २ होने पर वेदाध्ययनादि अनेक कामों वा गुणों में उन का अभेद है इसी को अभेद कहते वा कहना चाहिये ।

प्रश्न–हमारा यह प्रयोजन नहीं था कि आप संसार भर के भेद और अभेद कहो । हम केवल मनुष्य जाति के भेदाभेद जानना चाहते हैं ।

उत्तर–मनुष्य जाति में भी भेद अभेद दोनों ही विद्यमान हैं ।

प्रश्न–हमारा प्रयोजन यह है कि ब्राह्मणादि वर्णों वा जातियों का भेद आज कल जैसा अच्छे २ समझदार तथा श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज के लेखानुसार आर्यसमाजस्थ लोग मानते हैं वैसा विचार आप का नहीं मालूम होता आप जन्म से भी ब्राह्मणादि वर्ण मानते हो न ? ।

उ०–यह तो हम नहीं कह सकते कि आज कल जैसा सब लोग जातिभेद मानते हैं उस से हमारा मन्तव्य सर्वांश में मिल जायगा और हमारा ही नहीं किन्तु किन्हीं दो मनुष्यों का मन्तव्य सर्वांशों में नहीं मिल सकता क्योंकि कर्म भेद के साथ प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि भेद स्वाभाविक है तथापि अधिकांश विचार मिलने से वा प्रधानांशों के मेल से वे दोनों वा बहुत लोग एक माने जाते हैं उन का आपस में भेद नहीं माना जाता वैसे हमारे विचार से भी अधिकांश में अनेक लोग सहमत अवश्य होंगे । परन्तु यह अवश्य ध्यान रहे कि शास्त्रीय सिद्धान्तों के बुद्धि पूर्वक मन्तव्यों में यदि निष्पक्ष बुद्धिमानों में से अधिक लोग

हमारे विचार वा लेख को अधिकांश में अच्छा समझें तो वास्तव में वह विचा
अच्छा और बुद्धिमान् धर्मिष्ठ निष्पक्ष लोगों में से बहुत थोड़े जिस विचार को
अच्छा, समझें और अज्ञ लोग सहस्त्रों भी जिस को अच्छा समझें वह वैसा अच्छा
नहीं हो सकता। द्वितीय श्रीस्वामी जी महाराज के प्रत्येक लेख से हमारा लेख
वा विचार मिलता ही रहे यह जैसे हमारे लिये सम्भव नहीं वैसे सर्वांश में
किसी का भी लेख वा विचार स्वामी जी के सब लेखों से मिल नहीं सकता
हम स्वामी जी महाराज के स्वमन्तव्यामन्तव्यादि नामक मूलसिद्धान्त को ही प्र-
धान मन्तव्य समझते हैं उस से विरुद्ध हमारा कोई लेख वा विचार स्वप्न में भी
नहीं है यदि हो तो उस को हम अपनी भूल मानेंगे। और वह स्वामी जी का
सिद्धान्त वेद के सर्वथा अनुकूल है इस से उस को निर्भ्रान्त मानते हैं। यदि
स्वामी जी महाराज के लेखानुसार आर्यसमाजस्थ लोग जातिभेद मानते हैं तो
वैसा ही हम भी मानते हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म होने से ही ब्राह्मण हो जात
है यह हम भी नहीं मानते किन्तु बुद्धि विद्या धर्मादि विषय में जो सब से चढ़
बढ़ा हो वह ब्राह्मण है ऐसी उच्चश्रेणी का मनुष्य एक साथ कोई नहीं हो स-
कता किन्तु पूर्व जन्मकृत कर्मों के शुद्ध संस्कार वा प्रबल प्रारब्ध से ऐसे लोगों का
पहिले जन्म में जब मरण होता है तब अपने कर्मों के अनुसार गर्भ से ही उन
की चेष्टा आकृति बुद्धि अच्छी होती है इसी से वे शीघ्र अच्छे तीव्र बुद्धि के
विद्वान् हो जाते हैं और उन से भी अधिक परिश्रमी कोई लोग वैसे शिक्षित
नहीं हो पाते। तथा अच्छे संस्कारियों को माता पिता भी अपने कर्मानुसार
अच्छे ही मिलते हैं। इस से वर्त्तमान जन्म में जो कोई लोग विद्या धर्म परो-
पकारादि की अधिकता से शास्त्र की आज्ञानुसार ब्राह्मण कहाने योग्य हैं उन
का पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुसार पूर्व से ही उन में कुछ २ ब्राह्मणपन होता
है। यदि कोई क्षत्रिय वैश्य, शूद्र कुलों में अच्छा शुद्ध संस्कारी प्रतापी पुरुष
ब्राह्मणपन की योग्यता का उत्पन्न हो तो उस को भी पूर्व के कर्मानुसार जन्म
और जन्म से सम्बन्ध रखने वाला उस का ब्राह्मणपन माना जायगा। ऐसे ही
क्षत्रियादि में भी जानो। जिस में पूर्व जन्मों के अच्छे शुद्ध संस्कार नहीं होते
वह एक साथ उच्च कोटि का मनुष्य एक जन्म में नहीं बन सकता। यदि कोई
शूद्रादि निकृष्ट वा धर्म कर्म हीन मूर्ख समुदाय में उत्पन्न हो और जन्म से उस
में कुछ चमत्कारी न हो और बड़ा होने पर कई प्रकार की ऐसी उन्नति करे

जिस से वह उच्च कक्षा का मनुष्य समझा जावे तो भी यह मानना चाहिये कि पूर्व जन्म के प्रारब्ध का पीछे काल पा कर उदय हुआ । पर उस का संचित सूक्ष्म संस्कार प्रथम से मानना वहां भी होगा । अब कहो क्या स्वामी जी महाराज पूर्व जन्म के कर्मानुसार बुद्धि विद्या चमत्कार भोग नहीं मानते थे वा आर्यसमाजस्थ लोग नहीं मानते ? मेरी समझ में स्वामी जी तथा आर्य लोग सभी कर्मानुसार फल मानते हैं । जब जातिभेद कर्मानुसार सनातन काल से नियत होता चला आता है वैसा ही सब शास्त्रकार मानते हैं वैसा ही मेरा विचार है मेरा कुछ भी विरुद्ध विचार नहीं । जैसे स्वामी जी महाराज का लेख है कि गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था माननी चाहिये । उसी को मैं भी पुष्ट करता वा मानता हूं तथा इतना उस में विशेष आशय निकालता हूं कि वे गुण कर्म स्वभाव तत्काल में भी हों और पूर्वजन्म से भी आये हों वा यों कहो कि तत्काल में ठीक २ परीक्षा करने से गुण कर्म जिस वर्ण की योग्यता के जिस प्रकार के उस मनुष्य में दृढ़ प्रतीत हों वेही उस में जन्म से वा जन्मान्तर के कर्मों से भी आये मानने चाहिये । यदि कोई मनुष्य यह कहे कि वर्त्तमान समय में अत्यन्त अच्छी वा निकृष्ट योग्यता के मनुष्य दीखते हैं उन को वैसी दशा बुद्धि विद्यादि पूर्वजन्म के कर्मानुसार प्राप्त हुई है । तो इस में प्रायः पुनर्जन्म के मानने वाले कोई भी सन्देह न करें परन्तु यदि इसी पूर्वोक्त वाक्य के स्थान में कोई यह कहे कि "ब्राह्मणादि पन की अच्छी योग्यता पूर्वजन्मानुसार प्राप्त होती है क्योंकि मनुष्य के भीतर स्वभाव वा प्राकृत गुण उस के गर्भ से ही उस में आता है तो ब्राह्मणादि शब्दों का नाम आते ही जो सन्देह अनेक लोगों को होने लगता है । उस का कारण यही प्रतीत होता है कि समय विगड़ा है वर्णव्यवस्था सब नष्ट भ्रष्ट हो रही है । शास्त्रीयसिद्धान्तों का ज्ञान नहीं रहा इस से जो सन्देह उत्पन्न हों सो ही थोड़े हैं । यदि हम यह मानते कि क्षत्रिय वैश्य शूद्र नामधारियो में उत्पन्न हुआ कोई भी ब्राह्मण नहीं हो सकता वा ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ कोई क्षत्रिय वैश्य शूद्र नहीं हो सकता तो वास्तव में हमारा लेख स्वामी जी और आर्यसमाजों के विरुद्ध होता पर हम ऐसा नहीं मानते किन्तु हम दृढतापूर्वक कहते हैं कि किसी चर्मकार और चाण्डाल तक को हम ब्राह्मण मान सकते हैं यदि उस में ब्राह्मणपन के वेदाध्ययनादि गुण कर्म यथोचित हों और ब्राह्मणादि वर्णों का नीच हो जाना तो कर्मानुसार सभी मानते हैं । जैसे कोई ब्राह्मण चर्मकारों

का काम करने लगे और उन्हीं में मिल जावे तो उस को लौकिक वा पौरा-
णिक तथा आर्य लोग सभी वर्मकार कहैं मानें गे उस में कोई प्रकार का विचार
भेद है ही नहीं । इस से सिद्ध हो गया कि हमारा जाति भेद मानना सब
शास्त्र और विचारशीलों के अनुकूल है विरोध कुछ नहीं । साधारण मनुष्यों
की समझ का ही केवल भेद है ।

प्रश्न–आप के लिखने से को अधिक शोचने से प्रतीत तो यही होता है कि
विरोध नहीं है स्वामी जी के अनुकूल ही आप का लेख है । परन्तु आप का लेख
ऐसा कुछ गोलमाल वा लपेट का होता है जिस से सन्देह उठ सकता है किन्तु
साफ २ लेख नहीं होता इस लिये थोड़े शब्दों में स्पष्ट ही क्यों न लिखा करो ?।

उत्तर–हम अपने विचार से स्पष्ट भी यथासम्भव लिखते हैं परन्तु उस २
विषय में शास्त्र के गूढ़ वा सूक्ष्म अभिप्रायों को खोलने का विचार जो सदा
हमारे चित्त में रहता है इस लिये उस विषय से मेल रखने वाले अनेक अंशों
का व्याख्यान भी आता है तथा जो २ दोष उस विषय में आसकते हैं उन २
की निवृत्ति करना भी उसी लेख वा व्याख्यान में करना हम अपना कर्त्तव्य
समझते हैं । इत्यादि कारणों से हमारा लेख अनेक लोगों को लपेटदार प्रतीत
होता है सो यह दोष हमारी समझ में नहीं है इसी से छूट भी नहीं सकेगा ।
और अधिक स्पष्ट यह है कि ब्राह्मणादि के कुलों में उत्पन्न होने से हम ब्रा-
ह्मणादि नहीं मानते किन्तु जिस में ब्राह्मणादि पन के गुण कर्म स्वभाव हैं उसी
को हम भी ब्राह्मणादि मानते हैं केवल इतना और कहते हैं कि स्वभाव उस
का नाम है जो पूर्वजन्म के कर्मानुसार गर्भाधान समय में उस २ के शरीर में
बनता है बीच में स्वभाव नहीं बनता । सो यह भी शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है ।

प्रश्न–अस्तु–इस को तो रहने दो पर मन्त्र भेद विषय पर तुम्हारा क्या
विचार है ? ।

उ०–मन्त्र भेद के स्थान में छन्दोभेद कहना चाहिये । क्योंकि वेद से छन्द
भेद मात्र दिखलाया गया है मन्त्र भेद नहीं ।

प्रश्न–मन्त्र और छन्द में क्या भेद है ? ।

उ०–छन्द जातिवाचक शब्द है गायत्री आदि एक २ छन्दोजाति में मन्त्र
बहुत हैं । गायत्री आदि छन्दजाति में जाति एक है व्यक्ति अनेक भिन्न २ हैं ।

प्रश्न–क्या क्षत्रिय वैश्य शूद्रों को गायत्री के जपने का अधिकार नहीं है ? ।

उ०--शूद्रों से नीचे अतिशूद्र वा अन्त्यजों तक को गायत्री के जपने का अधिकार जब हम मानते हैं तो फिर क्षत्रिय वैश्यों को न हो यह कैसा ?

प्रश्न-फिर यह क्यों लिखा कि गायत्री ब्राह्मण को त्रिष्टुप् क्षत्रिय को और जगती वैश्य के लिये है ।

उ०-यह इसलिये लिखा है कि ब्राह्मणपन क्षत्रियपन वैश्यपन और शूद्रपन सब प्राणियों में व्याप्त है तो गायत्री का सम्बन्ध उन २ क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि में भी ब्राह्मणपन के साथ है और ऐसे ही ब्राह्मणादि सब में त्रिष्टुप् का सम्बन्ध क्षत्रियपन के साथ तथा ब्राह्मणादि नामक सब व्यक्तियों में जो वैश्यपन है उस के साथ जगती का सम्बन्ध है । यह वेद का आशय लिखा है । मेरा नहीं है ।

प्रश्न-यह बताओ कि ब्राह्मणादि लोगों की प्रार्थनोपासना भिन्न २ मन्त्रों से होनी चाहिये वा एक ही मन्त्र से ।

उ०-जिस २ प्रकार की चाहना जो २ रखता हो वह २ उस २ प्रकार की प्रार्थनोपासना जिन २ मन्त्रों में हो उन २ से प्रार्थनोपासना करे यदि सब लोग एक ही प्रकार की चाहना रखते हों तो एक ही मन्त्र से करें ।

प्रश्न-यदि (तत्सवितुर्वरेण्यम्) इस गायत्री मन्त्र को सब क्षत्रिय वैश्य जपें तो कोई दोष है क्या ? ।

उ०—कोई दोष नहीं जो चाहे सो जपे तथा हम इतना और अधिक कहते वा मानते हैं कि अन्त्यज चाण्डालादि तक भी जपें तो कुछ दोष नहीं ।

प्रश्न-फिर मनुस्मृति में जहां गुरुमन्त्र का भेद भी नहीं दिखाया गया एक ही मन्त्र तीनों वर्णों के लिये लिखा है वहां तुमने इतनी खैंचाखैंची करके हल्ला क्यों मचवाया ।

उ०-मनु के भाष्य में हमने कहीं नहीं लिखा कि क्षत्रियादि को (तत्सवितु०) गायत्री के जपने में कोई पाप लगता है । किन्तु छन्दभेद जो अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मिलता है उस से मनु का लेख विरुद्ध न हो वा मनु जी की राय किसी कारण उस विषय में एक ही मन्त्र की हो इस लिये हम ने उस विषय का प्रसङ्ग वहां लिख दिया है ।

प्रश्न—मनु में जब छन्दभेद का नाम ही न था तथा अन्य कोई विशेष प्रयोजन न था तो यह झगड़ा छेड़ा ही क्यों गया ! ।

उ०-वेदादि शास्त्रों में जिन २ विषयों का वर्णन है और यदि उन विषयों को प्रक्षिप्त भी हम नहीं मानते तथा उन में कुछ खैंचा खैंची कर अर्थ करना बुरा

समझते हैं तो उन विषयों का यथावसर वर्णन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। और उस का विशेष अभिप्राय ऐसा निकालने का सदा उद्योग करते हैं कि जो निष्पक्ष युक्तियुक्त तथा शास्त्र के गौरव का कारण हो बस यही हमारा प्रयोजन छन्दभेद दिखाने से है ॥

प्रश्न–किन २ ग्रन्थों में छन्द भेद का वर्णन है ? ॥

उ०–वेदों और ब्राह्मणों में, जिन मन्त्रों में वेद में छन्दों की तीन वा चार कक्षा दिखायी हैं उन्हीं के व्याख्यानों के प्रकरण में शतपथब्राह्मण में "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्त्रिष्टुभाराजन्यं जगत्या वैश्यम्" इत्यादि लेख मिलता है।

प्रश्न–तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि वेद और ब्राह्मण का यही आशय है कि ब्राह्मणादि के गायत्री छन्द भिन्न २ हैं।

उ०–मनु में छन्द भेद नहीं इसका प्रमाण यही है कि वहां त्रिष्टुभादि छन्द क्षत्रियादि के सम्बन्ध में नहीं लिखे वैसे ब्राह्मणादि में लिखा होना क्या प्रमाण नहीं है। अक्षरार्थ सीधा है केवल उस का भावार्थ निकालने में कुछ भेद हो तो हम भी भावार्थ की इयत्ता नहीं करते हम केवल इतना स्थिर वेद का सिद्धान्त मानते हैं कि जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्णों की चार कक्षा वा मनुष्य मात्र के चार प्रधान भेद यौगिकार्थ प्रधान वेदमें हैं वैसे छन्दों की चार कक्षा वेद के अनेक मन्त्रों में हैं जैसे–गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् तथा कहीं २ जगती पर्यन्त तीन ही कक्षा हैं। और जैसे प्राची आदि दिशा तथा वसन्तादि ऋतुओं का यथासंख्य सम्बन्ध ब्राह्मणादि के साथ लगाना उचित समझा जाता है वैसे ही गायत्री आदि का सम्बन्ध ब्राह्मणादि के साथ है। अब रहा यह कि यह सम्बन्ध किसी विचार से हो इस का कुछ अभिप्राय हो इस पर हमारा कोई भी हठ नहीं है। हम ने अब तक जो समझा है उस से विपरीत कोई आन्दोलन पूर्वक अच्छा वेद के सिद्धान्तानुकूल वेद के गौरव का रक्षक अभिप्राय निकाल देवे वा हमें स्वयं कोई अच्छा अभिप्राय इस से विपरीत प्रतीत हो तो हम अवश्य उसी को ठीक मानेंगे।

प्रश्न—जब तीन वर्णों के लिये छन्द भेद दिखाया गया तो क्या शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं मानते ?।

उ०–थोड़ा शोचो तो सही हम अभी कह चुके हैं कि शूद्र से भी नीचे अन्त्यज तक को वेद पढ़ने का अधिकार है। परन्तु यह अवश्य है कि योग्यको अधिक

माना जाता है। जो पुरुष लोकचाल से शूद्र कहाता पर वेद के पढ़ने समझने की शक्ति रखता है तो वह लौकिक रूढि से भले ही शूद्र कहावे पर शास्त्रीय विचार के अनुसार वह अवश्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में यथायोग्य कोई माना जायगा। और वेद में भी अनेकत्र चार कक्षाओं का वर्णन आता है। चौथी कक्षा में अनुष्टुप् छन्द स्पष्ट लिखा है इस से स्पष्ट सिद्ध है कि शूद्र कहाने वाले के लिये भी वेद का पूर्ण अधिकार अवश्य है।

प्रश्न—जब तुम गायत्री आदि का अधिकार सब मनुष्य मात्र के लिये समान ही कहते हो फिर इस छन्द भेद के झगड़े से क्या प्रयोजन निकला ?!

उ०—हम मनुष्य मात्र नहीं किन्तु प्राणिमात्र के साथ ब्राह्मणादिपन की व्याप्ति भी मानते हैं चाहे यों कहो कि जिस २ प्राणी में जिस २ कक्षा तक का ब्राह्मणादिपन विद्यमान है उतने २ अंश में सब को ही हम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र मानते अर्थात् ब्राह्मण को भी शूद्र और शूद्र को भी ब्राह्मण मानते हैं और यही गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मणादि भेद मानने का अभिप्राय है। लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये केवल इतना और मानते हैं कि जिस २ स्थावर वा जङ्गम देह धारी में क्षत्रियादिपन की अपेक्षा से ब्राह्मणादिपन प्रधान है वह लोक वा शास्त्र में व्यवहार व्यवस्था के लिये ब्राह्मणादि माना जावे। और तुम लोग ब्राह्मणादि शब्दों के लोक प्रसिद्ध रूढि अर्थ बुद्धि में रख कर शास्त्र के सिद्धान्त गर्भित लेखों को देख कर भ्रम में पड़ जाते हो। जैसे मनुष्यादि के शरीरों में पृथिव्यादि पांचो तत्त्व हैं और इसी कारण बाहिरी पांचों तत्त्वों की सहायता इस के लिये प्रतिक्षण आवश्यक है। इस से अन्नादि जो २ पदार्थ शरीर रक्षा के लिये खाता उस में भी पञ्चतत्त्व रहते हैं। अन्न के साथ बाहिरी तत्त्वों का स्वाभाविक आकर्षण रहता है इस से अन्न के उस २ तत्त्वांश से शरीर का वही २ अंश पुष्ट होता वा यों कहो कि उस २ अंश के साथ उस २ शरीर तत्त्व का सम्बन्ध है वा यों कहो कि शरीर के उस २ भाग का अपने २ सम्बन्धी अन्नांश को ग्रहण करने का अधिकार है वैसे ही प्रत्येक शरीरों में ब्राह्मणांश के साथ गायत्री के वाच्यार्थ का आकर्षण सम्बन्ध है। वेद के आशय से यह भी प्रकट होता है कि गायत्री आदि शब्दों से केवल छन्दोरचना ही अर्थ नहीं लिया जायगा किन्तु उन २ शब्दों का सामान्य यौगिकार्थ ऐसा लिया जायगा कि जिस

में गायत्री आदि छन्द भी अन्तर्गत होजावें । जैसे अष्टाक्षर पाद वाला गायत्री छन्द आठवें वर्ष में ब्राह्मणत्व प्रधान बालक का उपनयन, ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुप् का पाद ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय प्रधान बालक का उपनयन, द्वादशाक्षर जगती का पाद बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन कहा गया है । चौवीस अक्षर की गायत्री चौवीश संख्या का ब्राह्मणपन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध हो । इत्यादि विशेष विचारसाध्य है ।

प्रश्न–तुम्हारे इस लेख से एक प्रकार का विद्या सम्बन्धी व्याख्यान प्रतीत होता है किन्तु गायत्री का उपदेश किसी खास मनुष्य को किया जाय किसी को नहीं यह नहीं निकलता तो तुमने यह क्यों लिखा था कि जैसे अन्य दण्ड मेखलादि चिन्हों के भेद ब्राह्मणादि के लिये हैं वैसे ही मन्त्र भेद भी है ।

उत्तर–चिन्हों का भेद छन्द का भेद तथा संस्कार और ब्राह्मणादि वर्ण भेद इत्यादि सभी को हम विद्या सम्बन्धी वर्णन मानते हैं किन्तु विद्या से भिन्न ऊट पटांग वेद का कोई भी विषय नहीं है । और ब्राह्मणादि भेद भी वास्तव में विद्या और धर्म दोनों ही से पूरा २ सम्बन्ध रखने वाले हैं गायत्री आदि शब्दों का वाच्यार्थ भी वैसा ही व्याप्त होने से सब के साथ सम्बन्ध रखता है जैसे कि ब्राह्मणादिपन सब के साथ सम्बन्ध रखता है मनुष्यादि व्यक्तियों में जैसे गौण प्रधान का केवल भेद है कहीं ब्राह्मणपन प्रधान है किसी व्यक्ति में क्षत्रियपन किसी में वैश्यपन किसी में शूद्रपन वा किसी व्यक्ति में अतिशूद्रत्व वा किसी में वर्णसंकरता प्रधान है इसी प्रकार वसन्त में ब्राह्मणपन के सहायक गुणों की प्रधानता ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रियपन के सहायक गुणों की प्रधानता तथा वर्षा वा शरद् ऋतु में वैश्यपन के सहायक गुणों की प्रधानता स्वाभाविक ईश्वरीय सृष्टि नियमों के अनुसार होती है। जिस २ व्यक्ति में विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुणों की प्रधानता होती है तब २ किये यज्ञोपवीतादि कर्म उस २ व्यक्ति के ब्राह्मणादिपन के शोधक वर्धक प्रसाधक होते हैं । इसी अभिप्राय से ब्राह्मण का वसन्त में क्षत्रिय का ग्रीष्म में वैश्य का प्रधान संस्कार वर्षा या शरद् में वेद का आशय लेकर ऋषि मुनियों ने कहा है । तथा दण्ड मेखलादि का धारण भी विद्या और धर्म ही के अनुसार है । जैसे बिल्व और पलाश नामक ढाक में ब्राह्मणपन का सहायक गुण प्रधान है, वट और खदिर में क्षत्रिपन का सहायक तथा पिप्पल ... और गूलर में वैश्यपन का सहायक गुण प्रधान है

कारण उस २ वृक्ष का दण्ड धारण उस २ वर्ण के ब्रह्मचारी के लिये धर्मशास्त्र में लिखा गया है जैसे यह सब चिह्नों का भेद विद्या के अनुकूल है वैसे ही गायत्री शब्द के वाच्यार्थ के साथ ब्राह्मणपन का विशेष सम्बन्ध है तथा त्रिष्टुप् शब्द वाच्य के साथ क्षत्रियपन का और जगती शब्द के वाच्यार्थ के साथ वैश्यपन का विशेष सम्बन्ध है । इस प्रकार यह सभी विचार विद्यानुकूल है । वेद का सिद्धान्त यही है कि जिस का जिस के साथ स्वाभाविक प्राकृत सम्बन्ध है वा प्राकृत नियमों के अनुसार जिस को जिस काम का करना विशेष लाभ दायक है वही उस का धर्म है वैसा ही सम्बन्ध वा वही काम उस को करना चाहिये यही आशय यमयमीसूक्त में वर्णन किया गया है] इसी के अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण भेद और उन के चिन्हादि का भेद शास्त्रों में कहा गया है इस से सर्वथा ही यह सब विषय वा कथन पदार्थ विद्या (साइंस) के अनुकूल है ।

प्रश्न—जब मन्त्रादि चिन्हों का भेद ऐसा विद्यानुकूल था तो मनु जैसे प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र में क्यों नहीं लिखा गया ? ।

उ०—मनु धर्मशास्त्र में संसार भर का सब विषय नहीं लिखा है उस समय लिखने वाले के विचार में जो २ विचार लिखने योग्य प्रतीत हुआ सो लिखा गया । यदि यह नियम कहो कि मनुस्मृति में जो नहीं लिखा वह सब त्याज्य है तो यह ठीक नहीं क्योंकि वसन्तादि ऋतुओं का भेद ही मनुजीने नहीं लिखा पर गृह्यसूत्रादि के लेखानुसार हम सब आर्य लोग मानते ही हैं । ऐसे अन्य भी विशेष उपयोगी अनेक विषय हम को शोचने से ज्ञात होंगे कि जो मानवधर्मशास्त्र में न लिखे गये हों तथा अन्य शास्त्रों से हम उनको जानें मानें । तथा मनु धर्मशास्त्र में अपने ग्रन्थ से भी सहस्रों गुणी प्रशंसा वेद की इसी लिये अधिक लिखी गयी है कि वेद सब विद्याओं का समुद्र है समुद्र के सब जल को कोई कितने ही बड़े पात्र में भी नहीं भर सकता । मानवधर्मशास्त्र की प्रशंसा अन्य लौकिक ग्रन्थों की अपेक्षा से अधिक धर्म विषय में है किन्तु वेद के सामने मनुस्मृति की प्रशंसा नहीं है । इस से जो मनुस्मृतिमें न लिखा हो उस को हम न मानें यह कोई नियम नहीं है ।

प्रश्न—सावित्री शब्द का क्या अर्थ है ?

उ०—सविता देवता वाली ऋचा का नाम सामान्य सावित्री है किसी विशेष मन्त्र का नहीं ।

प्रश्न—सावित्री गायत्री शब्दों से प्रायः पण्डित लोग भी (तत्सवितुर्व० इसी मन्त्र को समझते मानते हैं सब को नहीं सो क्यों ? ।

उ०—सामान्यार्थ वाचक शब्द से भी ग्रन्थों में कहीं २ विशेष [खास] अ लेने की लौकिक ग्रन्थों में चाल चल गयी है। जैसे द्विज शब्द सामान्य कर तीन वर्ण का वाचक है पर मनुस्मृत्यादि में कहीं २ उन २ ग्रन्थकारों ने ही विशेषा में प्रयोग किया है सो उस २ ग्रन्थ के प्रकरणानुसार वहां २ वैसा ही सामान वा विशेष अर्थ लेना करना चाहिये ।

प्रश्न—(तत्सवितुर्वरेण्यं०) यह गायत्री मन्त्र अन्य (समिधाग्निं दुवस्यत आदि गायत्रियों के समान है वा इस में कुछ विशेषता है । यदि विशेषता नह तो इसी मन्त्र की सब से अधिक प्रतिष्ठा क्यों मानी गयी ? ।

उ०—जैसे मनुष्यपन में सब मनुष्य एकसे हैं परन्तु गुण कर्मों के अनुस उन में ब्राह्मणादि भेद उत्तम मध्यम माने जाते हैं और फिर प्रत्येक व्यक्ति सुख दुःख विचार बुद्धि आदि के भेद हैं इस प्रकार मनुष्य जाति में अभेद ब्र ह्मणादि वर्ण का सामान्य जाति में भेद और ब्राह्मणादि सामान्य अभेद में प्र तिव्यक्ति का भेद और प्रतिव्यक्ति के सामान्य अभेद में शिर आदि अङ्गों भेद तथा शिर आदि में भी फिर चक्षुः श्रोत्रादि का भेद विद्यमान है । जै सामान्य विशेष वा भेदाभेद दोनों एक ही में सदा रहते हैं वैसे ही छन्द जाति सामान्य में वेद के सब मन्त्र एकसे हैं उन में गायत्री आदि अवान जाति भेद हैं । फिर उन में प्रत्येक गायत्री मन्त्र में भेद है सब से सब विलक्ष हैं (तत्सवितु०) यह गायत्री मन्त्र वास्तव में अन्य गायत्री मन्त्रों की अपे उत्तम इस लिये माना गया है कि यह मूल मन्त्र है और भाष्य की अपेक्षा मू की प्रशंसा सदा ही अधिक होती और मानी जाती है । इस मन्त्र के ती पादों में तीनों वेद का प्रधान विषय कहा गया है इस से यह अन्य गायत्री मन की अपेक्षा वास्तव में श्रेष्ठ है । परन्तु इस से भी अधिक (भूः भुवः, स्वः) इ तीन व्याहृतियों की अधिक प्रशंसा इस लिये है कि त्रयीविद्यारूप सब वेदों वाच्यार्थ तीन ही प्रधान देवता हैं । वेदों में कहे अन्य सब देवता इन्हीं ती देवताओं के अन्तर्गत भेद माने जाते हैं । तैत्तिरीय में लिखा है कि (भूरित्यग्नि भुवरिति वायुः, स्वरित्यादित्यः) इसी के अनुसार देवताकाण्ड के आरम्भ में नि

रुक्तकार ने लिखा है कि—" तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुरन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानइति ॥

इस कारण तीन व्याहृति (तत्सवितु०) इस मन्त्र से भी श्रेष्ठ कोटि में हैं क्योंकि यहां चार ही अक्षरों में वेद का पूर्ण विषय कहा गया है । और व्याहृतियों से भी अधिक श्रेष्ठ दैवी गायत्री एक अक्षर वाली है क्योंकि दैवी गायत्री के एक ही अक्षर में सब वेदों का विषय और मूल कहा गया है । वह दैवी एकाक्षर गायत्री (ओ३म्) है । इसीलिये मनु जी ने "अकारं चाप्युकारंच० " इत्यादि कथन से सब वेदों का मूल प्रथम ओ३म् को कहा द्वितीय कक्षा में तीन व्याहृतियों तथा तृतीय कक्षा में (तत्सवितु०) इस आर्षी गायत्री को कहा है । इसी के अनुसार सम्प्रति सब का मूल (ओ३म्) प्रथम बोला जाता तदनन्तर व्याहृति और तदनन्तर आर्षी गायत्री (तत्सवितु०) यह बोली वा जपी जाती है । इस से सिद्ध हो गया कि सब का मूल होने से ओ३म् प्रथम कक्षा में उत्तमोत्तम तदनन्तर द्वितीय कक्षा में तीन व्याहृति उत्तम में मध्यम और तृतीय कक्षा में (तत्सवितु०) मन्त्र उत्तमों में निकृष्ट है परन्तु अन्य वेद मन्त्रों की अपेक्षा अवश्य उत्तम है ।

प्रश्न—जब अन्य मन्त्रों से उत्तम है तो तुम ने प्रथम आर्यसिद्धान्त में अन्य गायत्रियों के समान क्यों लिखा था ? ।

उ०—हमने गायत्रीपन में अभेद वा सामान्यता दिखायी थी सो अब भी कहते हैं कि गायत्रीपन में सब गायत्री एकसी हैं व्यक्ति भेद का हम ने खण्डन नहीं किया था ।

प्रश्न—जब (तत्सवितु०) यह मन्त्र सब अन्य वेद मन्त्रों से श्रेष्ठ है तो श्रेष्ठ का ग्रहण क्या किसी को निषिद्ध हो सकता है ! क्या मिश्री भी किसी को कड़ुई लगती है ।

उ० यह ठीक है कि श्रेष्ठ सब के लिये समान हितकारी हो सकता है धर्म सब के लिये उपकारी हो सकता है पर जो नहीं कर सकता वा धर्म से उलटा परिणाम निकाल कर अपनी वा जगत् की हानि करले उस का वह अधिकारी नहीं हो सकता । इसी विचार से यह कहा गया है कि—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥

मूर्ख जो स्वयं समझने की शक्ति नहीं रखता अन्य के बताये मार्ग को अपने दुरभिमान से मानता नहीं वास्तव में उसी को अधिकार नहीं वह चाहे ब्राह्मण ही कहाता हो भले ही सामान्य बुद्धि वाले लोगों को अपने भाण्डपन के साथ कथन वा लेखादि से प्रसन्न भी कर सकता हो। हम इसी के अनुसार सर्वथा शठ मूर्ख दुरभिमानी को शूद्र कहते हैं वह चाहें किसी जाति में अपने को मानता हो वा वेद के उच्च सिद्धान्तोंकी ओर न पहुंचे मनुष्य उसको किसी श्रेष्ठ जातिके नाम से भले ही कहते हों ऐसे ही को शूद्र मान कर वेद का अनधिकार अनेक ग्रन्थकारों ने कहा है। और स्वामी जी महाराज ने शूद्र को भी वेदाधिकार लिखा है उस का अभिप्राय यह है कि लोक परम्परा से वा जाति के नाम से कोई शूद्र भी कहाता हो पर वह अच्छा संस्कारी शुद्धाचारी विद्याधर्मानुरागी तीव्र बुद्धि हो तो अवश्य उस को वेद पढ़ाया जाय। यदि वह श्रेष्ठ वस्तु से ठीक उपयोग ले सकता है तो वह उस का अनधिकारी नहीं। बालक हाथ में चक्कू लगाले इस कारण चक्कू से लेखनी बनाने का अधिकारी वह बालक नहीं इसी के अनुसार मनुष्योंमें अधिकारानधिकार भेद अवश्य रहेगा यही वेद शास्त्रों का सिद्धान्त है।

प्रश्न—कोई वैश्य मनुष्य है और वह समझने की योग्यता भी रखता है तो क्या उस को गायत्री के जपने का अधिकार नहीं ?।

उ०—यदि वेद को समझने की योग्यता रखता है विद्या धर्मादि में अधिक रत है व्यापारादि को प्रधान नहीं मानता वही तो ब्राह्मण है हम उस को वैश्य मानते ही नहीं। और ब्राह्मण जाति में प्रसिद्ध होने पर भी जिस से धन लेना अभीष्ट समझा उसी के गीत गा दिये वा जिस की नौकरी की उस की इच्छानुसार लेख लिख दिया उस के मत में (टकाधर्मष्टकाकर्म) है वह वैश्य वा शूद्र है उस को पूरा अधिकार नहीं किन्तु योग्यता के अनुसार ही अधिकार माना जायगा ॥

प्रश्न—स्वामी जी महाराज तो सब मनुष्यों को सब अंशों में एक सा ही अधिकार मानते थे और वैसा ही आर्यसमाज मानता है तुम भेदवाद पर बल देते हो यह आर्यसमाज के सिद्धान्त से विरुद्ध है। ऐसा करोगे तो हम तुम्हारा खण्डन छपा देंगे वा अनेक मनुष्यों को प्रकट कर देंगे कि भीमसेन शर्मा स्वामी जी से वा आर्यसमाज के सिद्धान्त से विरुद्ध हैं जो तुम्हारी निन्दा वा बड़ी

हानि होगी । इस लिये सीधा २ लिखा करो अभिमानी मत बनो कि हमी पण्डित हैं ।

उ० स्वामी जी महाराज वा आर्य समाज सभी मनुष्य भेद वाद को मानते थे और मानते हैं जगत् भर में कभी कोई ऐसा मनुष्य न हुआ और न हो सकता है जो अग्नि और जल में भेद न माने किन्तु ईश्वरीय सृष्टि का भेद वा वेद के सिद्धान्त से सिद्ध होने वाला भेद सब देशों सब कालों और सब प्राणियों में विद्यमान सदा ही रहता है उस को कोई न माने तो उस का मानना ऐसा ही होगा कि देखना सुनना आदि काम भिन्न २ इन्द्रियों से करता हुआ भी कहे वा माने कि मैं तो एक ही इन्द्रिय से सब करता हूं अन्न खाता जल पीता हुआ भी कहे कि मैं तो दोनों को ही पीता वा खाता हूं । इसी प्रकार मनुष्यों में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट वा अति निकृष्ट भेद अवश्य ही सब को मानने पड़ते हैं और उत्तम के साथ उत्तम कामों का मध्यम के साथ मध्यमों का तथा निकृष्टों के साथ निकृष्ट कर्मों का योग सभी ठीक मानते हैं । वा उत्तम मध्यम नीच कर्मों से ही सब तीनों प्रकार के मनुष्यादि भिन्न २ माने जाते हैं वा इसी बात को यों कहो कि जिस २ में उत्तम कर्म कर सकने की योग्यता प्रतीत हो वा परीक्षा द्वारा निश्चित की जाय उस को ही उत्तम कक्षा के कर्त्तव्य सौंपने चाहिये वा स्वयमेव अपने स्वभावानुसार वह उत्तम कर्म करने की ओर झुकता है इसी प्रकार मध्यम निकृष्ट के विषय में जानो । क्या आर्यसमाज वा पृथिवी भर पर कोई थोड़ी बुद्धि रखने वाला भी यह कह सकता है कि उत्तम मध्यम निकृष्ट कुछ नहीं है सब को सब सब काम करना चाहिये । क्या तुम जिन कामों को अति निकृष्ट समझते हो उन को भी कर सकते हो ? । राजा महाराजा सब मनुष्य क्यों नहीं बन जाते ? । इस से सिद्ध हुआ कि भेदवाद को सब मानते सब को यथोचित भेद अवश्य ही मानने पड़ता है इसी के अनुसार स्वामी जी महाराज मानते तथा आर्यसमाज भी मानता था और मानता है । जिन से तुमने वा एतद्देशीय अनेक लोगों ने भेदवाद का खण्डन सीखा है जिन को तुम परमर्षि वा परम गुरु मानते हो वा जिन से सीखे हो उन के साथ कृतघ्न होकर उन से भी द्वेष करते और उन्हीं की शिक्षानुसार चलते हुए भी उन को नहीं मानते पर सब दशाओं में जिन से तुम ने सीखा है वे ही लोग सर्वांश में पूरा २ भेद वाद मानते हैं और उसी भेदवाद के अनुसार सब काम करते हैं इसी से उन

की उन्नति है। यथोचित भेद के अनुसार न चलने से ही हमारी अवनति है। यथोचित भेद का नाम ही वैदिकधर्म्म वा वेद का सिद्धान्त है।

प्रश्न—इस प्रकार का भेदवाद तो सभी मानते और हम भी मानते हैं। पर तुम तो जाति से ही ब्राह्मणादि का भेद उन को मन्त्र का भेद आदि मानते हो ब्राह्मणों को सब से उत्तम ठहराने का उद्योग किया करते हो।

उ०—वास्तव में समय के हेर फेर से कुछ ऐसी दशा हो गयी वा वायु में सर्वत्र गन्ध फैल गया है कि यदि ब्राह्मणादि नाम लेकर भेद दिखाया जाय और उन के साथ कर्मों का भेद कहा जाय तो तुम्ही क्या प्रायः सभी लोग चौंक उठते हैं। और यदि केवल इतना ही कहा जाय कि उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन प्रकार के मनुष्यादि होते वा हो सकते हैं उन २ को वैसे २ ही उत्तम मध्यम निकृष्ट काम उन २ की योग्यतानुसार सौंपने चाहिये। और इसी आशय का विदुर का कहा यह श्लोक है कि—

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥

तथा इसी आशय का आर्य्य समाज का नियम कह देवे कि—"सब के साथ यथायोग्य धर्मानुसार वर्त्तना चाहिये" तो किसी को कुछ भी सन्देह वा उद्वेग न होगा। पर शोच कर देखा जाय तो दोनों का अभिप्राय एक ही है। वेद की शैली में जिन को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहते हैं उन्हीं का लोक में उत्तमादि शब्दों से व्यवहार होता है तो यह आया कि अन्य शब्दों से वा अन्य प्रकार से उसी बात को अच्छा मानें और ब्राह्मणादि शब्दों से भेद देखकर चौंक पड़ें इस का यही कारण है कि ब्राह्मणादि नामों से और उन के कर्मों से रखने वाले भेदवाद को हम बुरा समझने लगे वा यों कहो कि वेद का नाम तो हम में से अनेक लोग किसी कारण अच्छी दृष्टि से लेने लगे वा सुनने लगे पर वेद के मुख्य सिद्धान्त वर्णाश्रम धर्म के साथ हमारी प्रीति अभीतक अज्ञान की प्रबलता से नहीं हुई। हमारे विचार में स्वामी जी महाराज का यह अभिप्राय था कि ब्राह्मणादि वर्ण सब बिगड़ गये वा अधिकांश वर्णसंकर हो गये केवल नाममात्र से प्रसिद्ध जातियों में जन्म होने मात्र से ब्राह्मणादि कहाने लगे वेद शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार गुण कर्म स्वभावों के ठीक होने पर ब्राह्मणादि वर्णों का भेद मानना लुप्तप्राय हो गया

इस के लिये आर्यसमाज एक सभा उन्हों ने नियत की कि इस सभा के द्वारा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होगा। फिर से शास्त्र के सिद्धान्तानुसार वर्णव्यवस्था चलेगी। जो २ जिस २ वर्ण में कहाते हैं वे प्रथम अपने २ गुण कर्म स्वभावों का संशोधन करेंगे पीछे अन्यों को सुधार सकेंगे। परन्तु महात्मा का वह उद्योग अभी तक तो इस कक्षा तक आर्यों ने नहीं सुधारा कि जिस को सुधरा कहा जाय जो कुछ सुधार हुआ है वह इस प्रकार का है जिस को कुछ न होने की अपेक्षा से कुछ कह सकते हैं। पर ठीक सुधार की ओर ध्यान दिया जाय तो समुद्र में विन्दु के समान भी नहीं हुआ। और आर्यसमाज की वर्त्तमान दशा भी यह प्रतीत नहीं कराती कि इस प्रवाह से शीघ्र वा अच्छा स्थायी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा।

प्रश्न–तुम ने तो दूसरा ही व्याख्यान चला दिया तुम्हारे इन अनेक दृष्टान्तों से जाति भेद वा मन्त्र भेद का क्या उत्तर आया।

उ०—जाति भेद का यह उत्तर आया कि सुपरीक्षित उत्तम कोटि के मनुष्य जो धर्म में प्रधान हैं वह ब्राह्मण जाति है। जाति, कोटि, समुदाय आदि एकार्थ हैं। अच्छे उत्तम २ धर्म कर्म करने वाले वा उत्तम २ कर्मों की योग्यता रखने वाले एक जाति के हैं इसी से कर्म जाति है। उन को वाचिक मानस कायिक कर्म भी योग्यतानुसार सौंपने चाहिये। वाचिक कर्मों के भेद में मन्त्रभेद प्रधान है। वे २ मनुष्य अपनी २ अभिलाषाओं के अनुसार प्रार्थनोपासना करें।

प्रश्न—यदि वैश्यपन की योग्यता का मनुष्य जो धन व्यापार की सर्वोपरि वृद्धि चाहता हो वह सायं प्रातःकाल ईश्वर भक्ति के लिये तथा धीनामक धारणावती बुद्धि की प्राप्ति के लिये (तत्सवितु०) मन्त्र का जप करे तो कोई पाप दोष वा अनुचित है ?।

उ०—पाप दोष वा अनुचित कुछ नहीं तीनों वर्णों को ईश्वर की भक्ति तथा बुद्धि की वृद्धि के लिये जप तप आदि अवश्य करना चाहिये। पर तुम ध्यान देकर सोचो तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक प्राणी में एक प्रकार की कोई अभिलाषा प्रधान होती है। शेष अभिलाषायें उसी एक की पिछलगी अवयव रूप हो जाती हैं। और मुख्य अभिलाषा वा मुख्य गुण कर्मों से ही वर्ण व्यवस्था बनती है वैसे तो सब वर्णों के गुणकर्म सब प्राणियों में हैं और मुख्य अभिलाषा के अनुसार प्रायः वह चलता और काम करता है इस के अनुसार मान लो कि

कोई ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ भी वैश्यपन में प्रधान है जो धन के लाभ
हो सर्वोपरि समझता है और वह मानस वाचिक कायिक कर्म भी प्रायः धन
लाभार्थ करता है और वह सायं प्रातः (तत्सवितु०) मन्त्र का जप वा पाठ
ईश्वर भक्त्यर्थ करे तो केवल दिखाने के लिये लोक लज्जा से करेगा वा दम्भ
करेगा वा केवल लीक पीटता हुआ करेगा किन्तु जो संसार के धनैश्वर्यादि भो
को सर्वोपरि मानता है वह यथोचित ईश्वरभक्त हो जाय वा उस को विद्याध
सम्बन्धिनी धीनामक उच्चकक्षा की बुद्धि हो जाय यह असम्भव है इस कारण उ
का जपादि व्यर्थ होगा यही केवल दोष है । सो प्रायः हम सभी लोग जपा
को व्यर्थ दिखावे का सा ही कर रहे हैं । यदि हम अपनी योग्यता और अभि
लाषा के अनुसार जपादि भी करें तो कुछ सफलता दीखे तभी वेद पर श्रद्धा
होवे । जब हम मन से कुछ चाहते और वाणी से कुछ कहते वा मांगते हैं
सर्वव्याप्त परमात्मा भी हमें झूठा वा पागल जानता है । यदि धी का अर्थ
ठीक समझें और धी के लिये ही वस्तुतः प्रार्थना वा उद्योग भी करने लगें
हमारी प्रार्थना भी सिद्ध हो सकती है । सो धी के तत्त्व को जानने वाले औ
वैसी उच्च कक्षा की आत्मोन्नति प्रधान बुद्धि के चाहने वाले हम में प्रायः मनु
सम्प्रति नहीं हैं इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहाने वाले प्रायः सभी अन
धिकारी हैं किन्तु क्षत्रिय वैश्य कहाने वाले ही अनधिकारी हैं यह मेरा सिद्धा
वा कहना नहीं है किन्तु मैं यह कहता हूं कि मनु के द्वितीयाध्याय में कहे अ
नुसार (तत्सवितु०) नामक सावित्री का विधिपूर्वक तत्त्व जानकर जो को
क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि जप परायण होगा वह ब्राह्मण ही माना जायगा वा होगा
मेरी समझ में मन्त्रभेद वा जाति भेद विषयक तुम्हारे सन्देह पूरे होगये होंगे

प्रश्न—जी हां पूरे होगये और सन्तोष भी होगया ।

उ०—अस्तु ईश्वर की कृपा है जो सन्तोष होगया । पर इस बात का उत्त
और सुन लो जो तुमने कहा था कि “हम प्रकट करदेंगे वा छपादेंगे कि भी०श
आर्यसमाज के विरोधी हैं तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी इत्यादि” इस का उत्त
यह है कि जिस का धर्म पर वेद पर वा ईश्वर पर कुछ भी विश्वास नह
वह तुम्हारे ऐसे वाक्यों से डर सकता है । मेरा तो यह विचार वा विश्वास दृ
दृढ़तर वा दृढ़तम है कि यदि मेरा विचार धर्मानुकूल निष्पक्ष वेदानुकू
ईश्वर [illegible] लाखों भी मेरी रोममा

हानि वा मुझे दुःख नहीं पहुंचा सकते किन्तु धर्मविरुद्ध चल के तुम स्वयं अपनी हानि भले ही करो वा दुःख उठाओ। और यदि मेरा लेख वा विचार अज्ञान पक्षपातग्रस्त तथा ईश्वर वेद की आज्ञा से विरुद्ध हो तो तुम्हारे जैसे कोड़ों मनुष्य भी मित्र बन कर मुझे नहीं बचासकेंगे मेरी अधोगति स्वतः सिद्ध होगी। और रहा अभिमानी बनना सो वास्तव में अनुचित मिथ्याभिमान त्याज्य कोटि में मानाजाता है। यदि कोई अपनी योग्यतानुसार मानता हो कि मैं अमुक प्रकार का हूं तो मिथ्या नहीं। कोई कहे वा माने कि मैं मनुष्य हूं पशु नहीं तो मनुष्य का ऐसा मानना दुरभिमान नहीं। जो सर्वथा अभिमान को छोड़ता है वह मनुष्य संसार में कुछ नहीं कर सकता केवल ज्ञानी परमार्थी हो जाता है यदि मुझ में दुरभिमान हो तो वास्तव में बुरा है।

प्रश्न—अब इतना और पूछना है कि—इस छन्दोभेद के वा मन्त्रभेद के लेख से पौराणिक लोग जो पहिले से मानते थे और स्वामी जी महाराजने नहीं माना था इस कारण पौराणिक लोगों को आर्यों पर आक्षेप करने का अवसर मिल गया इस का प्रतीकार क्या करें। सो बताओ।

उ०—पौराणिक लोगों ने क्षत्रियादि के लिये वेद से भिन्न श्लोक बना रक्खे हैं वेद मन्त्रों का वे उपदेश भी नहीं करना चाहते। और त्रिष्टुप्पद वाच्य का क्षत्रियं से वा जगती पद वाच्य का वैश्यपन से स्वतःसिद्ध वा स्वाभाविक सम्बन्ध है ऐसा सिद्धान्त न कोई पौराणिक मानता न प्रचार करता है। इसी उन के मन्तव्य का खण्डन स्वामीजीने किया है और हम भी उस का खण्डन करना ठीक ही समझते मानते हैं। तथा त्रिष्टुभादि के भेद को स्वामी जी महाराज ने बुरा भला दोनों ही नहीं कहा। और हम यह कहते वा मानते और न लिखते हैं कि लोक व्यवहारानुसार क्षत्रिय वैश्य कहाने वालों को यज्ञोपवीत के समय त्रिष्टुप् जगती मन्त्रों का ही उपदेश किया जाय गायत्री का न किया जाय। किन्तु हम तो यह मानते हैं कि गायत्री का उपदेश करने और जपने में भी कोई दोष नहीं। हां गायत्री पद के वाच्यार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध क्षत्रियादि में रहने वाले ब्राह्मणपन के साथ होगा। इस कारण पौराणिकों को आक्षेप करना और आर्यों को आक्षेप मानना दोनों ही अनुचित हैं।

प्रश्न—लेख तो आप का अच्छा गम्भीर उच्च कक्षा का मालूम होता है प-

रन्तु आर्य समाज की अभी ऐसी दशा नहीं सुधरी जो ऐसे लेखों का तत्त्व जान सके। इस कारण अभी ऐसे लेख न लिखने चाहिये।

उ०—क्या कोई कह सकता है कि—आर्यसमाज की दशा इतने दिनों में सुधर जायगी तब ऐसे लेख सह सकेगा वर्त्तमान दशा को देखने से बहुत न्यून आशा आर्यसमाज के शीघ्र सुधरने की होती है। और यदि शीघ्र सुधरना ही मानलें तथापि क्या यह उचित है कि कोई मनुष्य विद्या धर्म सम्बन्धी विचारों को इस विचार से छिपाता रहे कि इस के समझने वाले न्यून हैं लोग हल्ला करेंगे। सब विचारशील जान सकते हैं कि किसी का जीवन जगत् में नित्य नहीं है। यदि कोई अपने लोकोपकारी वा विद्यासम्बन्धी विचारों को प्रकट करने का समय देखता २ मर जावे तो वे विचार उस के साथ ही समाप्त हो जायंगे। और अच्छे विचार प्रकट हो जाय तो थोड़े समझने वाले भी होने पर उन से अच्छा ही परिणाम होगा। कदाचित् समझने वालों का तत्काल में अभाव भी हो तो भविष्यत् के लिये उस के विचार अवश्य उपकारी होंगे। तथा परीक्षक दशा की ओर चलने वालों का यह सिद्धान्त जब से चल गया कि जिस से साधारण लोग हमारी निन्दा करें जो मन्तव्य वा विचार उन के विरुद्ध हो उस को हम प्रकट न करें। वैसा न लिखें वा न कहें इसी विचार के अनुसार अनेक बातों को ऊटपटांग समझने वाले और वैदिक सिद्धान्त की अनेक बातों को सत्य धर्म मानने वाले मनुष्यों के होते भी किसी मनुष्य का साहस लोक वा जिन २ समुदायों में रहते प्रतिष्ठा पाये हुए थे उन से विरुद्ध कहने का नहीं हुआ इसी से वेदमत वा वेद का सत्यसिद्धान्त धीरे २ लुप्त होता गया, पौराणिक मिथ्या विचार फैल गये। इस के लिये केवल एक महावीर पुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती जीने कमर बांधी लोकापवाद के भय को दूर फैंक दिया विद्वानों का यही काम है मनु जी ने यही तो लिखा है कि—

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिये कि शास्त्र वा धर्म से विरुद्ध साधारण लोगों के पीछे जीविका वा प्रतिष्ठा की इच्छा से न चले। सुख देखी बातों वा वर्त्तावों की अधिकता संसार में सदा ही चला करती है। ऐसे मनुष्य सदा ही न्यून होते हैं जो लोकापवाद का सर्वथा भय छोड़ कर धर्म को वा वेद को सब से बड़ा मान के उसी के पीछे चलना अपना परम कर्त्तव्य दृढ़ कर लेते हैं। वास्तव

ध्यान देकर शोचो विचारो तो इस आर्यावर्त्त की अधोगति का प्रधान कारण भेड़ियाधसान वा लिकपिटई है जो मनुष्य जिस समुदाय में कुछ प्रतिष्ठा वा जीविका प्राप्त करता है वह जब तब अपने समुदाय को प्रसन्न रखना वा उसी समुदाय के पीछे सर्वथा हो लेना अपना परम कर्त्तव्य समझ लेता है तो उस समुदाय को प्रसन्न रखने का जो २ उपाय धर्मानुकूल वा धर्म विरुद्ध देखता है सभी करता है धर्म की प्रधानता पर उस की दृष्टि नहीं जमती जैसे कोई स्त्री पुत्रादि से परम स्नेह रखने वाला उन के पालन पोषणार्थ धर्म से विरुद्ध उपायों को भी कर्त्तव्य ही माना करता है। वैसे यहां भी जानो तथा एक काल में दो कर्त्तव्यों को कोई भी मुख्य नहीं मान सकता इस लिये धर्म को ही सर्वोपरि प्रधान माने अन्य सब विचारों को धर्म के पीछे गौण रक्खे यही परम कूटस्थ अत्यन्त दृढ़ सिद्धान्त अच्छे लोगों का है इसी सिद्धान्त को श्रीस्वामी दयानन्द जी महाराज ने भी सर्वोपरि प्रबल ठहराया है—

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

अन्त में हम यह भी कहते हैं कि किसी मनुष्य का किसी विषय में अज्ञान भी हो जिस को वह न जानता हो और वह अपने भीतरी विचार से शुद्ध सत्य कहता बोलता लिखता हो तो भी मन में आये विचार के अनुसार उस का कहना धर्मानुकूल ही माना जायगा। इन के अनुसार मेरे छन्दोभेदविषयक विचार में वा अन्य किसी विचार में कुछ भ्रान्ति भी निकले तो भी यह ऊपर लिखा सिद्धान्त दृढ़ ही रहेगा। यह सब लेख विचारशीलों के शोचने को लिखा है किसी पर आक्षेप करने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।

प्रश्न—यह तो सब ठीक मालूम होता है पर अब यह बताइये कि आर्यसमाज में आप सब से अधिक न्यूनता वा इस के उद्देशों की पूर्त्ति में बाधक क्या समझते हो?।

उ०—आर्यसमाजों में साङ्ग वेद के पठन पाठन का कहीं भी प्रचार नहीं जैसा कि श्री स्वामी जी महाराज का अभीष्ट था जो उन का सङ्ग करने वाले जानते हैं और उन के लेखों से भी स्पष्ट है।

२—ईश्वरभक्ति वेद के द्वारा उस प्रकार की नहीं जैसी होनी चाहिये। जैसे अभी महाराणी विक्टोरिया के पौत्र... [illegible] ...आराधना से

सन्तुष्ट करले तो महाराणी वा उन के प्रतिनिधि गवर्नरजनरल (वायसराय) उस पुरुष के अभीष्ट ऐसे २ फल वा कार्य थोड़ी ही कृपादृष्टि से सिद्ध करदे सकते हैं जिन को वह अपने परिश्रम से आयु भर में भी नहीं कर सकता । इसी प्रकार परमेश्वर बड़ा अनन्तशक्ति वा ऐश्वर्य वाला है महाराणी तथा बड़े २ चक्रवर्त्ती राजा महाराजा जो अब तक होगये वा होंगे वे सब उस के सामने तृणमात्र भी शक्ति नहीं रखते जिस के सामने संसार भर को भस्म कर देने की शक्ति वाला अग्नि एक तृण को भी नहीं जला सकता, जिस के भय से अग्नि सूर्यादि सब अपना २ काम नियम से दे रहे हैं क्या उस अनन्तशक्ति परमात्मा की हम को कुछ भी हृदय से भक्ति हो उस की हम पर थोड़ी भी कृपादृष्टि हो तो हमारा ऐसा बड़ा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है जिस को हम सहस्त्रों जन्मों में भी अपने उपायों द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते । स्वामी जी महाराज में अवश्य ईश्वरभक्ति थी उन एकले ही जितना सुधार किया उतना अब सैकड़ों उपदेशकों तथा आर्यसमाज के नायकों से नहीं होता प्रायः मनुष्यों को अपने अनिष्टों से बच जाने वा इष्टों की सिद्धि का ईश्वरभक्ति से बड़ा विश्वास नहीं है। धर्म के उपदेशक लोग यदि अपने को स्वामी जी के स्थानापन्न समझ कर अपना २ ईश्वरभक्ति आदि धर्मांशों द्वारा जितना २ अधिक सुधार करें उतना ही अधिक उन के उपदेश का प्रभाव जगत में फैल सकता है। सो उपदेशक जब स्वयं नहीं सुधरे तो दूसरों को क्या सुधारेंगे?।

नहि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥

यह मनु जी का कथन बहुत ही सत्य है कि लोहू में सने वा लिसे हाथ लोहू से ही धोये जांय तो शुद्ध नहीं हो सकते । जिस के पास स्वयं ही धन नहीं है वह अन्य भिक्षार्थी को कहां से देगा? । इसी प्रकार जिन उपदेशकों वा अध्यापकों के भीतर धर्मने स्थान ही नहीं पाया धर्म का मर्म जिन्हों ने कभी स्वप्न में भी नहीं जाना केवल कुछ बोलना सीख लिया वे दूसरों को धर्म का उपदेश कहां से करेंगे?

सम्प्रति इस भारत देश में जितनी जाति वा समुदाय माने जाते हैं उन सब से अधिक मानस दोष ब्राह्मण कहाने वाले मनुष्यों में शोचने से निस्सन्देह अधिक मालूम होते हैं फूट सब से अधिक इसी जाति में है दुरभिमान इसी जाति में सर्वोपरि प्रधान है । लोभ क्रोध भी इन में अधिक है विश्वासघात कृतघ्नता दोष की भी इस जातिने अच्छी उन्नति की है । यदि इन में से कोई वा कई दोष भारतवर्ष की अन्य जातियों वा समुदायों में अधिक भी हों तो

वे इतने अधिक विगड़े नहीं माने जावेंगे क्योंकि वे जातीय वा स्वाभाविक ही निकृष्ट थे। जैसे एक जो दश सीढ़ियों पर चढ़ चुका था वह पांचवीं चौथी वा तीसरी सीढ़ी तक उतर आवे वा गिर जावे तो उस की अपेक्षा अधिक गिरा माना जायगा जो तीसरी वा चौथी से प्रथम वा दूसरी सीढ़ी पर आगया हो। क्योंकि यद्यपि दशवीं से तीसरी पर आया दूसरी वाले से कुछ ऊपर रहा तो भी चौथी से दूसरी पर आया दो कक्षा वा दो अंश पतित हुआ तो दश वाला आठगुणा उस से अधिक पतित अवश्य होगया। इसी प्रकार ब्राह्मण जाति अधिक पतित अवश्य होगयी है। इसी कारण पोप आदि नामों से स्वामी जी महाराज ने भी इसी जाति का अधिक खण्डन किया सो ठीक ही था। प्रायः सब वेदविरुद्ध मतों की प्रवृत्ति में अग्रगन्ता ब्राह्मण जाति के ही मनुष्य हुए और हैं। अब आर्यसमाज में भी अधिकांश उपदेशक अध्यापक और सम्पादक इसी जाति वालों में से हैं। और वे प्रायः सुधरे नहीं हैं यदि इन में से एक भी हृदय से सच्चा देशहितैषी सच्चा धर्मनिष्ठ हो तो वह छिप नहीं सकता यह भी कदापि सम्भव नहीं कि धर्म और विद्या सम्बन्धी प्रताप वा प्रकाश को कोई रोक वा छिपा सके। सूर्य के उदय होते ही बद्दल आदि के होने पर भी रात्रि तो अवश्य ही दूर हो जाती है। वसिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषि लोग कोई राजा वा श्रीमान् नहीं थे तथा वे लोग रजोगुणी भी नहीं थे जो अपनी प्रतिष्ठा प्रशंसा को बढ़ाने और किसी से लिखाकर छपाने आदि द्वारा फैलाने का उद्योग करते रहे हों किन्तु वे अपने अच्छे कर्त्तव्यों को सर्वथा ही प्रकाशित भी नहीं करते वा करना चाहते थे तो भी लाखों वर्ष से आज तक कैसी प्रतिष्ठा और गौरव के साथ उन लोगों का नाम लिया जाता है यह केवल धर्म रूप सूर्य का प्रताप है जो कदापि छिपाया नहीं जा सकता। अब उन्हीं वसिष्ठादि महर्षियों के वंशों में हम भी एक कुलपांसन उत्पन्न होते और अपनी प्रशंसा प्रतिष्ठा बढ़ाने का अपने गौरव की रक्षा का प्रतिक्षण ध्यान ही लगाये रहते हैं प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ाने के लिये शक्तिभर उद्योग भी करते हैं जब किन्हीं की अपेक्षा से अपनी प्रतिष्ठा अधिक सुनते हैं तब बड़ा हर्ष मानते हैं और अपने से किसी का गौरव अधिक देखते हैं तो शोक होता है। पर हम जैसे धर्मलेशहीन मनुष्यों का मरण होने पश्चात् कहीं नाम वा चिह्न भी नहीं रहता किन्हीं कथा वा इतिहासों में नाम भी नहीं लिया जाता जल बुद्बुदों के समान हमारे विचार हमारे लेख

[भाग ८ अङ्क ३ । ४ पृ० ५० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर]

तात्पर्य्य यह हुआ कि चेतन आत्मा में बुद्धि आदि गुण हैं परन्तु प्रकृतिजन्य द्रव्यों के अनुभवार्थ आत्मा के गुणों के सहायक बुद्धि आदि जड़ तत्व पृथक् प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। दूसरा दृष्टान्त बहुत स्थूल यह है कि यद्यपि हमारी आंख में देखने का सामर्थ्य है परन्तु दूरवीक्षण शीशे के विना उतने दूर के पदार्थों को आंख नहीं देख सकती अर्थात् आत्मा देखता है मन अन्तःकरण दिखाता है मन देखता है आंख दिखाती है आंख देखती है दूरवीक्षण शीशा दिखाता है उत्तरोत्तर पदार्थ पूर्व पूर्व के सहायक हैं और उन २ से भिन्न हैं इसी प्रकार प्रकृतिजन्य मन बुद्धि चित्त अहङ्कार, आत्मा के इन्हीं गुणों के सहायक हैं इन्हीं की उत्पत्ति उक्त मन्त्रों और सांख्यशास्त्र में कही है आत्मा के तत्तद् गुणों की नहीं ॥ ह० तु० रा०

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त में कुछ काल से सत्यार्थ विवेक (साधुसिंह लिखित) का उत्तर पं० तुलसीराम स्वामी की ओर से लिखा जाता था। अब उक्त स्वामी किन्हीं कारणों से मेरे समीप नहीं रहे इस से मैं (भी०श०) फिर से लिखना आरम्भ करता हूं।

अब पहिले से आरम्भ किये सब कामों की शीघ्र समाप्ति करने के उद्देश के साथ सत्यार्थ विवेकादि का उत्तर भी शीघ्र समाप्त करने का दृढ़ संकल्प हो गया है। आशा है कि परमात्मा पूर्ण करेगा। आर्यसिद्धान्त में स्वामी दया० जी महाराज के कहे वेदोक्त सिद्धान्तों के प्रतिपक्षियों का खण्डन करना कुछ दिनों से इस कारण शिथिल किया था कि प्रथम से अब तक बहुत खण्डन छप चुके अब लोग शान्त हो जांयगे तथा अन्य विद्यासम्बन्धी विचारों के करने में कुछ बाधा पड़ती है परन्तु विपक्षी शान्त नहीं हुए और बड़े २ पुस्तक प्रतिपक्ष में बनाने लगे इस लिये तथा कई मित्रों के अनुरोध से हम ने फिर संकल्प किया है कि हम कुछ २ लिखते रहा करेंगे जो वैदिक सिद्धान्त के शत्रुओं को खण्डन करने के लिये एक शस्त्र सिद्ध होता जायगा।

सत्यार्थ विवेक का उत्तर—

साधुसिंह पृष्ठ ८६ में लिखते हैं कि (सत्यार्थ प्रकाश समु० ११ पृ० २९० देखो) दयानन्द का जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्यात्व में प्रलाप है। जो

यह शंकराचार्य का मत अपना है तो इच्छा नहीं और जैन मत खण्डन वास्ते स्वीकृत है तो कुछ इच्छा है। तो दयानन्द से यह प्रष्टव्य है--जो शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और गोविन्दाचार्य के गुरु गौडपादाचार्य की माण्डूक्य कारिकाओं में किस मत के वास्ते अद्वैत मत का प्रतिपादन करा है। और व्यास भगवान् ने अपने सूत्रों में परमेश्वर की लीला सृष्टि कही है और दयानन्द को तो जैसा मिथ्यात्व अद्वैत में विवक्षित है तिस का बोध ही नहीं तो खण्डन करना केवल अज्ञान है।

उत्तर—स्वामीदयानन्द जी का प्रलाप है तो आप का विलाप होगा। जब साधुसिंह दूसरे के अनुवाद की भाषा को भी अशुद्ध कर देते हैं तो अपनी भाषा-शुद्ध लिख सकें यह कैसे सम्भव है फिर ऐसे लोग वेद के मन्त्रों पर व्यवस्था देना चाहते हैं क्या यह आश्चर्य नहीं है ?। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और उन के गुरु गौड़पादाचार्य और उन के भी किसी गुरु अवश्य ही कोई होंगे उन्हों ने भी भले ही अद्वैत प्रतिपादन किया हो इस से हमारे सिद्धान्त की कोई हानि नहीं। जब स्वामी जी ने यह नहीं लिखा कि शंकराचार्य से पहिले किसी ने भी अद्वैत का प्रस्ताव नहीं किया तो साधुसिंह का यह आक्षेप कब संघटित होता है ? यदि कहें कि स्वामी जी के कहने का अभिप्राय यही है कि शङ्कराचार्य ही इस नवीन वेदान्तरूप अद्वैत मत के प्रवर्त्तक हैं तो यह सत्य है कि शंकर-स्वामी का वेदान्त विषय में जितना नाम है जैसे उन्होंने अनेक ग्रन्थ बनाये शास्त्रार्थ उपदेश जैसा किया वैसा उन के गुरुओं ने नहीं किया इसी से उन का नाम भी वैसा नहीं हुआ। विशेष प्रवर्त्तक का ही नाम प्रधानता के कारण प्रवर्त्तक माना जाता है। आर्यसमाज के सिद्धान्त के मूल विषय वेद के साथ होने से यद्यपि सनातन हैं और स्वामी द० जी के गुरु विरजानन्द स्वामी ने भी आर्ष प्राचीन प्रणाली का प्रचार करना प्रारम्भ किया था पर वह इस दशा का वा इतना न्यून था जिस से उन का नाम न चला और स्वामीदयानन्दस० जी ही प्रधान होने से आर्यसमाज के प्रवर्त्तक माने जाते हैं वैसे अद्वैत वेदान्त के प्रधान प्रवर्त्तक वास्तव में शंकराचार्य हुए यही स्वामी जी का विचार वा आशय था गौणप्रवर्त्तक उन से पहिले कोई नहीं हुआ इस बात का खण्डन वा निषेध भी स्वामी जी ने नहीं किया। तथा जैसे एक ही पीढ़ी के तीन चार पुरुष (पिता, पुत्र पौत्र, प्रपौत्र) तक एक काल में ही विद्यमान कार्यकर्त्ता भी हो

सकते वा होते हैं वैसे यदि गौड़पादाचार्य ने भी उसी काल में माण्डूक्य पर कारिका बनाई हों जब शंकराचार्य जी भी विद्यमान थे तो क्या यह असम्भव हो सकता है ? । इत्यादि विचार के अनुसार साधुसिंह का आक्षेप निर्मूल ठहर जाता है । रहा व्यास सूत्रों का प्रमाण देना सो जहां अद्वैत सिद्धि के लिये कोई सूत्र ये लिखेंगे वहां हम उत्तर देंगे । आगे पृ० ८६ में (तिरश्चीनो विततो० ऋ० १०। १२९ । ५) मन्त्र लिख कर सिद्धान्त किया है कि परमेश्वर ही इस सृष्टि का उपादानकारण है और प्रकृति को सृष्टि का उपादान कहना मानना दयानन्द का मन्त्रार्थानभिज्ञता का बोधक है ॥

७०—हमने साधुसिंह का पूरा अनुवाद इसलिये नहीं लिखा कि अर्थ वा आशय बहुत लम्बा है लेख बहुत बढ़ता और लिखने की शक्ति न होने से अर्थ वा अभिप्राय ऐसा गोलमाल भी लिखा गया है कि सब की समझ में नहीं आता । मन्त्रार्थ लिखने से पहिले हम पूछते हैं कि—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

अर्थ—पृथिव्यादि विकारों और इन्द्रियादि गुणकार्यों को हे अर्जुन ! तु प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो । प्रकृति जगत् का उपादान है ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वेताश्वतरोपनि० अ० ४ मं० ५ ।

अर्थः—लाल काले श्वेतरूपादि गुणों वाली अजा नाम अनादि एक जड़ प्रकृति अपने जैसे गुणों वाले स्थावर जङ्गम नाना प्रकार के संसार को उपादान कारणरूप से रचती है [यहां सरूप कहने से कार्यकारणयोः सारूप्यम् । कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः । कारण नाम उपादान के समानरूप गुणों वाला कार्य होता है । जो गुण कारण में होते वे ही कार्य में आते हैं । इसी कारण लोहे से सुवर्ण का आभूषण बनजाना सर्वथा असम्भव है] कोई जीवात्मा इस प्रकृति जन

संसारी भोगों को सेवन करता हुआ इसी प्राकृत जगत् में लिप्त वा बद्ध रहता और कोई इस प्रकृति को भोग कर छोड़ देता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। क्या इन प्रमाणों के अर्थ में लेशमात्र भी कोई पक्ष है ? किन्तु इन का जो सर्वसम्मत अर्थ अक्षरों से प्रकट होता है वही हमने लिख दिया है तो क्या इन से प्रकृति का उपादान होना स्पष्ट सिद्ध नहीं है ? ऐसे सहस्रों प्रमाण श्रेष्ठ प्राचीन पुस्तकों में भरे पड़े हैं जिन के अर्थ करने में अद्वैतवादी नवीन वेदान्तियों को खैंच खांच करनी पड़ती है। तब प्रकृति को उपादान कहने में यदि स्वा० दया० जी की भूल कहोगे तो गीता वा श्वेताश्वतर उपनिषदादि ग्रन्थकारों को भी क्या वेद से अनभिज्ञ मानोगे ?।

अब हम वेद के उस मन्त्र का अर्थ अपने पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं–

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्। रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ १ ॥ ऋ० १० । १२९ । ५ ॥

अर्थः–(एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिः) यहां आसीत् क्रिया की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लानी चाहिये। तब यह अर्थ होगा कि इन पूर्वोक्त कवि ज्ञानी योगी लोगों के भीतर तिरोभूत शुद्ध पूजित फैला हुआ विस्तृत परमेश्वर का शुद्ध प्रकाश विद्यमान रहता है। अर्थात् परमात्मा ज्ञानी योगी विद्वानों के शुद्ध अन्तःकरण में सुलभ है और (अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्) इस जगत् में परमात्मा हम से कहीं नीचे वा ऊपर दूर है ? हमारे समीप होता तो उपलब्ध क्यों न होता ? यह साधारण लोगों के लिये विचारणीय है। यहां (उपरिस्विदासीदिति च) इस पाणिनीय सूत्र से विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत होना जताया गया है सृष्टि के आरम्भ में (रेतोधा आसन् महिमान आसन्) बीज शक्तिप्रधान पुरुष जीवात्मा रहते और क्षेत्रशक्ति प्रधान [इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहे गहन गभीर अम्भस् पद वाच्य] सर्वत्र भरी हुई सर्वाच्छादिका महती स्त्रीरूप प्रकृति भी विद्यमान होती है इन दोनों के संयोग से परमेश्वर

संसार को बनाता है (स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्) इन दोनों में स्वधा अन्नादि नामक भोग्य प्रकृति स्त्री को अवस्तात्–पुरुषापेक्षा निकृष्ट मानना और प्रयत्न उद्योग करने में विशेष समर्थ होने से पुरुष नाम भोक्तृशक्ति को पर नाम उत्कृष्ट मानना चाहिये वा सदा ही दोनों ऊंच नीच माने जावे हैं ॥

भा०—इस मन्त्र में जो तिरश्चीन पद है उस में दो शब्द हैं एक तिरस् अन्तर्हित भीतर गुप्तार्थ बोधक द्वितीय चीन अञ्चु धातु का प्रयोग जिस का अर्थ सर्वोपरि पूजित शुद्ध श्रेष्ठतम है। यद्यपि सब जड़ चेतन में ईश्वर व्याप्त है तथापि शुद्ध दर्पण में अपना ठीक रूप दीख पड़ने के समान योगी ज्ञानी लोगों के शुद्ध हृदय में ही उपलब्ध हो सकता है मलिनान्तःकरणों में प्राप्त नहीं होता। और मन्त्र का गूढ़ाशय यह है कि सब पदार्थ प्रकाश रहित अन्धकार वा अज्ञान से छिपे रहते वा दीख नहीं पड़ते वा जाने नहीं जाते यह प्रत्यक्ष सिद्ध है प्रकाश में सब दृश्य दीखता वा यों कहो कि ज्ञानी कवि लोगों को सब ज्ञात होजाता है। तिरोभूत कुछ नहीं रहता। इस प्रकार यहां तिरस् पद से छिपने के आश्रय आधार जड़ प्रकृति और एषां पद से शुद्ध चेतन जीवात्मा दिखाये हैं। और प्रकृति में अधिक लिप्त होने से ही साधारण प्राणियों को अज्ञानान्धकार बढ़ जाता है इसी से परमेश्वर नहीं दीखता। परन्तु परमेश्वर जड़ में तिरोहित रहता भी वह अपने स्वरूप से शुद्ध पूजित ही बना रहता वह निर्लिप्त है यह तिरस् के अनन्तर पढ़े चीन शब्द से जताया है। इसी कारण अज्ञानी लोगों को सदा सन्देह ही बना रहता है कि वह कहीं नीचे पृथिव्यादि में घुसा है वा कहीं ऊपर दूर है जो हम को नहीं मिलता वा दीखता। इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ईश्वर जीव प्रकृति तीनों को सृष्टि के सम्बन्ध में अनादि दिखा कर उत्तरार्द्ध में भोग्य भोक्ता वा प्रकृति पुरुष की सकारण उत्तमता निकृष्टता वा प्रबलता निर्बलता सनातन दिखाती है। वास्तव में मन्त्र के उत्तरार्द्ध में परमेश्वर ने दो बातें स्पष्ट सर्वसन्देह निवृत्ति के लिये दिखायी हैं। एक तो जीवात्मरूप पुरुष और प्रकृति की विद्यमानता वा इन दोनों का अनादि होना कि रेतस् नाम बीज को धारण करने वाले जीवात्मा थे, हैं और रहेंगे तथा महदादि नामक प्रकृति के भी सब प्रकार भेद थे, हैं और रहेंगे क्योंकि वेद में लङ्लकार का प्रयोग पाणिनीयव्याकरण के (छन्दसि लुङ्लङ्लिटः) सूत्र से तीनों काल में होना स्पष्ट

दिखाया है । इसी अर्थ से वेद सार्वकालिक और ईश्वरीय वाक्य ठहरता है । जो कोई आसीत् वा आसन् क्रियाओं का भूतकालमात्र का अर्थ करे वह वास्तव में बड़ा अज्ञानी वेदसम्प्रदाय के ज्ञान से शून्य माना जायगा । और द्वितीय यह जताया है कि निघण्टु में स्वधा नाम अन्न और जलों का है विचारदृष्टि से देखें तो अन्न जलादि तत्व भोग्य हैं अग्नि भोक्ता है । हमारे पेटों में भी खाये हुए अन्न जलादि को जाठराग्नि ही पकाता है । सर्वत्र शोच कर देखो तो भोग्य होने से ही वह २ पदार्थ निकृष्ट वा निर्बल माना जाता है । राजा भोक्ता होने से प्रबल वा प्रबल होनेसे भोक्ता है और प्रजा निर्बल होने से भोग्य है । स्वधा अन्नादि नामक प्रकृति भोग्य होने से अवस्तात् नीच वा नीचे रहती प्रयति नाम प्रयत्न उद्योग परिश्रम करने वाला होने से पुरुष उत्तम वा ऊपर माना जाता है । यह बात लोक में भी वेद से ही प्रचरित हुई ज्ञात होती है कि पुरुष धनादि के उपार्जन में प्रधान वा प्रबल होने से बड़ा वा प्रबल माना जाता है और स्त्री-जाति में मन्त्रोक्त प्रयतिपन की विशेषता न होने तथा स्वधा नाम भोग्यरूप से पु-रुषाधीन होने से स्त्रीजाति अबला निर्बल मानी जाती है । इस प्रकार जब इस मन्त्र के निर्विकल्प अक्षरार्थ से तथा अभिप्राय से ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों का अनादि होना तथा (रेतोधा आसन् महिमान आसन्) इस कथनसे बलपूर्वक कह दिया गया कि जीवात्मा और प्रकृति तीनों काल में विद्यमान रहते हैं तो साधुसिंहादि कोई भी भेडियाधसान में चलता लीक पीटता हुआ पुरुष कहे कि एक ईश्वर ही था वही जगत् का उपादानकारण था जीव और प्रकृति प्रथम कोई नहीं था यह कैसे माना जायगा । वेद वास्तव में सब से बड़ा प्रामाणिक इसी लिये है कि वेद की सब बातें निर्भ्रान्त सत्य हैं । इस से सिद्ध हुआ कि स्वामीजी महाराज का विचार सर्वथा वेदानुकूल है और साधु० का अज्ञान है ॥

इस से आगे साधुसिंह ने इसी पूर्वोक्त ऋग्वेद सूक्त के दो मन्त्र लिखकर सिद्ध किया है कि यह सृष्टि किस से किस प्रकार उत्पन्न हुई इस का उपादान कौन है यह कोई नहीं जानता वा जान सकता । यदि परमेश्वर जानता है वा नहीं जानता इस से सृष्टि विचित्र मायामय है इत्यादि ।

उ०—हम पूछते हैं कि सृष्टि को मायिकत्व वा मायामय आदि विशेषण लगाने से इन लोगों का क्या अभिप्राय है ? । यदि वेदान्त के प्रामाणिक ग्रन्थों में जो माया शब्द का अर्थ लिया गया है वही इन का अभिप्राय हो कि—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ श्वेताश्वत० ।

माया नाम प्रकृति का है जो इस जगत् का जड़ उपादान कारण है और प्रकृति के अधिष्ठाता स्वामी महेश्वर परमात्मा का नाम मायी है क्योंकि वह प्रकृति नामक माया उसी के अधिकार में स्वामी का स्व होकर सदा रहती है। यदि सृष्टि को मायामय कहने से यही अभिप्राय है तो हमारा पक्ष साधुसिंह ने भी मान लिया और उन के कपोल कल्पित मत का खण्डन हो गया। यदि यह अर्थ उन को अभीष्ट नहीं तो और क्या है? वास्तव में इन लोगों का मत सर्वथा कल्पित है। ये लोग माया शब्दका ऐसा विलक्षण अर्थ करते हैं जिस के लिये न किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रमाण मिला न मिल सकता है जहां कुछ न हो और कुछ दीख पड़े इस में वाजीगर के तमाशे का दृष्टान्त देते हैं। सो यह इन का विचार महा मिथ्या है जहां कुछ वास्तव में नहीं वहां दीख भी नहीं सकता। वाजीगरों के निकट वास्तव में वे सब पदार्थ रहते वा होते हैं जिन को वे चालाकी से दिखा देते हैं। अब तक क्या ये वेदान्त पढने मानने वाले ऐसे अज्ञानी रहे जिन ने यह भी न जान पाया कि वाजीगरों के पास सब पदार्थ रहते हैं और जो पदार्थ उन के पास न हों उन को कोई देखना चाहे तो तीन काल में भी नहीं दिखा सकते यह सब हमने निश्चय भी कर लिया है इस से वाजीगर का दृष्टान्त सर्वथा निरर्थक है। मृगतृष्णादि भी जो २ दीख पड़ते हैं वे भी कुछ अवश्य हैं और को और देख लेना वा जान लेना यह मनुष्य का अज्ञान है। इस से सिद्ध है कि माया शब्दार्थ इन लोगों का सर्वथा प्रमाण शून्य कल्पित है यदि ये लोग किन्हीं श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थों का कोई स्पष्ट प्रमाण देवें कि माया शब्द का जो अर्थ हम करते हैं वह इस २ प्रमाण के अनुकूल है तो हम उस का भी यथोचित उत्तर देंगे। निघण्टु जो वेद का कोष है उस में माया नाम प्रज्ञा बुद्धि का है। यदि कहें कि अमरकोष में माया नाम इन्द्रजाल का है तो उत्तर यह है कि प्रथम निघण्टु और उपनिषदों जैसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ प्रमाणों के सामने अमरकोश का प्रमाण ही क्या? द्वितीय तुम लोगों ने माया शब्द का जो अर्थ चलाया उसी को देखकर अमरसिंह ने भी लिखा तो तुम्हारे तुल्य अमरकोश का लेख भी साध्य कोटि में है। अब हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ उन के प्रश्नों का सार्थ लिखते हैं—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आ-
जाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य
विसर्जनेनाथा वेद यत आबभूव ॥६॥ इयं वि-
सृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग ! वेद
यदि वा न वेद ॥७॥ ऋ० १० । १२९ । ६ । ७॥

अ०-(कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः) कस्मादुपादानान्निमित्ताच्चेयं विविधा सृष्टिराजाता कीदृशं तत्कारणं (को अद्धा वेद) अद्धा सम्यक्तया प्रत्यक्षीकृतं विषयमिम को वेद कोहि ज्ञातुमर्हति (कइह प्रवोचत्) इह जगति देहधारिषु सम्यगज्ञातविषयं को वा विशेषेण प्रवक्तुं व्याख्यातुमर्हति । यदि कोऽपि ब्रूयाज्जगत्युच्चकक्षास्था ऋषिदेवादिपदवाच्याः प्राणिनो विद्याधर्मादिजन्यसंस्कारप्राबल्यात्सर्वं वक्तुमर्हन्ति तदर्थमुत्तरम् (अस्य विसर्जनेन देवा अर्वाक्) अस्य दृश्यस्य जगतो विसर्जनेन विविधाकाशादिसर्गानन्तरमुत्पन्ना देवा नहि ते स्वोत्पत्तितःपूर्वं जातां सृष्टिं सकारणां साक्षाज् ज्ञातुमर्हन्ति नहि कोऽपि पुत्रः पितुर्जन्मकालीनं वृत्तं साक्षाज् ज्ञातुमर्हति । यतो निमित्तकारणादुपादानाच्चेयं विविधा सृष्टिराबभूव सएव यदि दधदिमां धारयति यदि वा न धारयति नान्यस्तदतिरिक्तो धारयिता सम्भवति । नहि कस्यापि सामर्थ्यं विद्यते योऽनन्तपरिमाणं जगद्धारयेत् । यः परमानन्ताकाशवद्व्याप्तोऽस्याध्यक्षोऽस्ति हे अङ्ग स इदं वेद यदि वा न वेद नान्यस्ततो वेत्ता धर्त्ता वा तत्तुल्यस्ततोऽधिको वा कश्चनास्तीति ॥

भा०—विकल्पदर्शनान्नेदमर्थादापत्तव्यं यत्स ईश्वरोऽपि नैव धरति नवा जानाति। स दाधार पृथिवीमुत द्यामित्यन्यत्रोक्त्वा-त् स तु सर्वं धरति सर्वं च याथात्म्येन जानाति। एवं मन्त्र-द्वयेनात्र तत्समस्य ततोऽधिकस्य च धर्तृत्वज्ञातृत्ववारणेन स-र्वांशे परमात्मनो निरतिशयत्वमेव द्योत्यते। कोऽपि देही न कि-मपि सर्गविषये ज्ञातुमर्हति नच केनापि ज्ञानायोद्योगः कार्य इ-त्यपि मन्त्राशयो नावसेयः। यदि मनुष्यैः सम्यक्सर्गो ज्ञातुमश-क्योऽतस्तैर्न ज्ञातव्यइति मन्त्रकारस्य भगवत इष्टं चेत्स्यात्तदा नासदासीन्नोसदासीदित्याद्यपि न ब्रूयात्। अपितु सृष्टिविषये एतन्मन्त्रद्वयमेवोपदिशेत्। कोऽपि वेदपारगोऽलौकिको योगी सृ-ष्टिवृत्तं सम्यग्जानीयाच्चेत्तदा तेन विशेषेण सामान्यकथनमिदं न व्याहन्यते ब्रह्मापेक्षया तस्य ज्ञानमप्यज्ञानवदेव। योहि मन्त्र-द्वयेन सृष्टेर्दुर्विज्ञेयत्वमूरीकृत्य सृष्टेर्मायामयत्वं जीवब्रह्मणोरैक्यं च वदति। स तावत्प्रष्टव्यो विपश्चिद्भिः कथमयमाशयो निस्सा-रयितुं शक्यते त्वया? नहि क्वापि मथ्यमानोदकादाज्यमुद्भवति। यदा चेश्वरस्य ज्ञातृत्वधर्तृत्वनिषेधस्त्वयापि नाङ्गीक्रियते तदा त्वन्नयेऽपि मनुष्यैः सम्यगज्ञेयत्वमागतमेव पुनः शङ्करस्वामिना त्वया त्वादृशैस्त्वदनुगैर्वा कथमेतज्ज्ञातुं वक्तुं वा शक्यते? यद् ब्रह्मैवास्य सर्गस्योपादानमिति ये देवादिपदवाच्यैः सृष्टिर्ज्ञातुं न शक्यते ते ब्रह्मतः सर्वं ज्ञातुं शक्ताद् भिन्ना मन्त्राशयेनैव स्पष्टी-भवन्ति त्वयाप्येतन्मन्तव्यमेव भविष्यति पुनः कथमुच्यते जीव-ब्रह्मणोरैक्यमिति। पश्यन्तु चक्षुष्मन्तएषामाधुनिकवेदान्तिना-मनभिज्ञतां वदतोव्याघातं चेति॥

भावार्थः-(कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः) किस उपादान वा किस निमित्त कारण से यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई (को अद्धा वेद) यह प्रत्यक्ष किये विषय के समान कौन जान सकता है ? (क इह प्रवोचत्) इस जगत् के देहधारियों में से कौन अज्ञात विषय का विशेष कर व्याख्यान कर सकता है । जब कि मनुष्य अपनी अल्पज्ञता के कारण देखे सुने विषयों को ही ठीक २ नहीं जान पाता और इसी से उस विषय को पूर्णरीति से किसी को नहीं समझा सकता तो बिना देखे सुने को कौन जाने और कहे ? यदि कोई कहे कि जगत् में उच्चकक्षा के ऋषि देवादि नामक प्राणी [जो ईश्वरापेक्षा अल्पज्ञ रहने पर भी हम साधारणों की अपेक्षा सर्वज्ञ कहाते हैं] विद्या और धर्मसम्बन्धी संस्कारों की प्रबलता से सब कुछ जान सकते हैं तो उत्तर यह है कि (अस्य विसर्जनेन देवा अर्वाक्) इस पृथिव्यादि पाञ्चभौतिक सृष्टि के उत्पन्न होने पश्चात् इधर मनुष्यादिनामक सब प्राणी उत्पन्न होते हैं [उन में पूर्वकल्प के उत्तम संचित पुण्य संस्कारों से जन्म से ही विद्या धर्मादि में प्रबल होते वे सिद्ध देव और जो वर्त्तमान जन्म में शुभकर्मानुष्ठान से सिद्धि को प्राप्त होते वे साध्य देवता हैं] इस कारण वे अपनी उत्पत्ति से पहिले हुई सृष्टि का कैसे साक्षात् अनुभव कर सकते हैं ? कि सृष्टि का उपादान ऐसा था वा निमित्तकारण ऐसा था इस २ क्रम से रचना हुई । कोई पुत्र अपने पिता के जन्म का हाल ठीक २ नहीं जान सकता (अथ को वेद यत आबभूव) और जिस से यह सब उत्पन्न हुआ है वह स्रष्टा अवश्य जानता है। (इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न) जिस निमित्त वा उपादान कारण से यह विविध रचना हुई वही कारणद्वय इस का धारण करता है वा नहीं अर्थात् जब धारण करने की आवश्यकता होती वा रहती है तब वही कारण इस को धारण करता और प्रलय के समय वही इस को धारण नहीं करता तभी सब का लय हो जाता है । धारण और प्रलय दोनों में ही उसका कोई सहायक वा साथी नहीं होता । उस एक निमित्त से भिन्न किसी की शक्ति नहीं जो धारण कर सके किसी का सामर्थ्य नहीं है जो इस पृथिव्यादि के अनन्तभार को धारण करे [धारण दो प्रकार का होता है एक तो उस २ पदार्थ को उस २ नियत अवकाश वा देश में अवस्थित रखना और उस से नियत कार्य वा प्रयोजन सिद्ध करना द्वितीय उस पदार्थ का अपने स्वरूप से च्युत न होना । इस में पहिला धारण निमित्त का-

रण परमेश्वर से और द्वितीय धारण उपादान से सम्बन्ध रखता है । जिस उपादान से जो बनता है उस के विना कभी कार्य की स्थिति नहीं रहती परन्तु धारण कहने से पृथिव्यादिलोकों का अपनी २ नियत कक्षा में ठहरना ही विवक्षित है और यह भी निमित्तकारण ईश्वर के आधीन है जब वह धारण करना चाहता है उसी का नाम स्थिति दशा और जब धारण करना नहीं चाहता उसी का नाम प्रलयदशा है उस के धारण करने वा न करने संसाररूप वाजार के लगाने समेटने में कोई प्रेरक वा साक्षी नहीं है (यः परमे व्योमन्नस्याध्यक्षः सो अङ्ग ! वेद यदि वा न वेद) जो परम अनन्ताकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त है हे मित्र ! वह इस जगत् की उत्पत्ति की दशा ठीक जानता है वा नहीं जानता । अर्थात् जानता है तो वही जानता है किन्तु उससे भिन्न कोई मनुष्यादि उस के समान जानने वा धारण करने वाला नहीं है ॥

भा०—विकल्प दीख पड़ने से यह अर्थापत्ति नहीं निकालनी चाहिये कि जो वह ईश्वर भी धारण नहीं करता वा नहीं जानता । क्योंकि (स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्०) इत्यादि मन्त्रों में वही सब पृथिव्यादि का धर्त्ता वा ज्ञाता माना गया है । इस प्रकार इन दो मन्त्रों से उस के तुल्य वा उससे अधिक सब किसी के धारण करने वा जानने का निषेध करके सर्वांश में परमेश्वर की ज्ञान धारणादि शक्ति की असीमता दिखायी गयी है । और कोई शरीरधारी सृष्टि विषय में कुछ नहीं जानता वा जान सकता वा न किसी को जानने का उद्योग करना चाहिये यह भी मन्त्र का अभिप्राय नहीं मानना चाहिये। यदि मनुष्य लोग सृष्टि को ठीक २ नहीं जान सकते इस कारण उन को कुछ जानने की आवश्यकता नहीं यह अभिप्राय यदि मन्त्रकार ईश्वर का हो वा माना जाय तो (नासदासीत्०) इत्यादि मन्त्रों को भी न कहता जब सृष्टि का हाल कोई कुछ जान ही नहीं सकता मनुष्यों के लिये सृष्टिविषयक मन्त्र कहना व्यर्थ होता है तो सृष्टि विषय में केवल इन्हीं दो मन्त्रों का उपदेश कर देता [यदि कोई वेदपारग अलौकिक योगी पुरुष सृष्टि के वृत्तान्त को यथार्थ भी जान सके तो भी इस अपवादरूप विशेष से सामान्य उत्सर्ग नियम की बाधा नहीं होती और परमेश्वर की अपेक्षा उस का जानना भी न जानने के ही समान माना जायगा] जो [साधुसिंहादि] पुरुष इन दो मन्त्रों में कहे अनुसार सृष्टि के उपादानादि का जानना

दुर्घट मान कर सृष्टि का मायामय होना और जीव ब्रह्म की एकता कहते

उनपुरुषों को प्रथम तो विचारशील यही पूछें कि तुम यह अभिप्राय किस रीति वा युक्ति से निकाल सकते हो ? । यह कहीं होते नहीं दीखता कि जल के मथने से कहीं घी निकलता हो। जब कि ईश्वर के धर्त्ता और ज्ञाता होने का निषेध तुम भी स्वीकार नहीं करते तब तुम्हारे मत में भी मनुष्यों का ठीक न जान सकना सिद्ध हो गया फिर शङ्कर स्वामी तुम तथा तुम्हारे अनुयायियों ने यह कैसे जान लिया वा कैसे जान सकते और कह सकते हो ? कि ब्रह्महीइस का उपादान है। क्या तुम लोग मनुष्य नहीं हो ? । यदि कहो कि हम ब्रह्म ही हैं इस से जानते हैं तब तुम्हारे मत में ब्रह्म से भिन्न जानने वाला जीव कोई न होने से (को अद्धा वेद०) इत्यादि कहना ही व्यर्थ है।

कहीं तुम्हारे वा शङ्कर स्वामी के पास ईश्वरने कोई रजिष्टरी पत्र तो नहीं भेजा कि मैं ही इस जगत् का उपादान कारण हूं। जब वेद का प्रमाण देकर इधर कहते हैं कि कोई न जानता न जान सकता है कि किस कारण से सृष्टि रची गयी किन्तु वह संसार भर का स्वामी परमेश्वर ही यथार्थ जानता है फिर कहते हैं कि परमेश्वर संसार का उपादान है यह हम जानते हैं क्या यह उन्माद रोग-कासा प्रलाप नहीं है ? कि तत्काल ही परस्पर विरुद्ध दो बातें कहते हो। जो देवादिपद वाच्य पीछे होने वाले सृष्टि को ठीक २ नहीं जान सकते वे सर्वज्ञ परमेश्वर से भिन्न हैं यह तुम को भी अवश्य ही मानने पड़ेगा फिर तुम्हारे कथनानुसार भी जीव ब्रह्म की एकता कहां रही ? तब एकता क्यों कहते हो ? इन आधुनिक वेदान्तियों का अज्ञान और अपने कहे को आपही काटनारूप विरोध विचारशीलों को शोचने योग्य है ॥

आगे साधुसिंह ने अद्वैतमत की सिद्धि के लिये (हंसःशुचिषद्०) मन्त्र और उस के अर्थ की पुष्टि में छान्दोग्य तथा यजु० अ० ४० का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि इस मन्त्र से स्पष्टही अद्वैतमत सिद्ध होता है। और सब के अन्त में लिखा है कि इस मन्त्र से तो "अद्रिजा" परमात्मा को कहने से यावत् पर्वत से जन्य शालग्राम शिलामूर्त्ति नर्मदेश्वर आदि परमात्मा का रूप हैं तथा गंगा यमुनादि नदी भी परमात्मा रूप हैं यथेष्ट शालग्राम आदि मूर्त्तिपूजा परमात्मा की पूजा है। तथा अतिथिरूप परमात्मा का बोधन करने से अतिथि पूजन भी परमात्मा का पूजन है। इस से शालग्राम नर्मदेश्वर तथा राम कृष्णादि मूर्त्तिपूजननिन्दक पन्थ वालों की वेदार्थानभिज्ञता सिद्ध होगयी ॥

उ०—यहां मन्त्रार्थ लिखने से पहिले हम मन्त्रार्थ में लिखे दो प्रमाणों की थोड़ी व्यवस्था लिखेंगे-पहिला छान्दोग्य का पाठ (प्र० १ खं०६) में है—

यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम सएषसर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः॥

साधुसिंहकृत अर्थ—"आदित्य मण्डल के अन्तर जो यह हिरण्मय पुरुष उपासक जनों को प्रतीत होता है हिरण्य वर्ण तुल्य श्मश्रु वाला तथा हिरण्य वर्ण केश वाला नख से लेकर शिखा तक सर्व ही सुवर्णवत् प्रकाशमान है तिस देव के अत्यन्त तेजस्वी कमलवत् नेत्र हैं और तिस देव का उद् यह नाम है और यह देव सर्व पापों से रहित है" इस साधुसिंह के अर्थ को सब पाठक लोग देख समझ ही लेंगे। अब हम छान्दोग्य के प्रमाण पर अपनी सम्मति लिखते हैं—

अ०—अस्य छान्दोग्योपनिषद आरम्भे प्रथमप्रपाठक उद्गीथपदवाच्यओमिति पदवाच्यस्योपासनमुपक्रान्तमोमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्यादिना। साधुसिंहार्थेन प्रत्येष्यन्ति विज्ञा यत्सूर्यमण्डलमध्ये पुरुषः कोऽपि तादृशो दृश्यत उपासकेन स च केवलसुवर्णधातुनिर्मितसर्वदेहइति। न चायमर्थः शंकरस्वामिनाप्यभिमतोऽपित्वेतद्भाष्य उक्तं तेन "नहि सौवर्णेऽचेतने पाप्मादिप्राप्तिरस्ति येन प्रतिषिध्येत चाक्षुषे चाग्रहणात्। अतो लुप्तोपमएव हिरण्मयशब्दो ज्योतिर्मयइत्यर्थः" तेन निमीलितचक्षुषा पुरुषेण समाधिस्थदशायां स्वात्मस्वरूपं ज्ञानप्रकाशमयं ज्ञानप्रकाशस्य वैशद्ये वा ब्रह्मज्ञानपूर्वरूपं कल्पनामात्रं हृदि दृश्यतइत्येतदत्र वर्णनं प्रत्येतव्यम्। तथाचायमर्थो बोध्यः—अथ-दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः समाधिर्यदा दृढस्थितिकः सम्पद्यते तदनन्तरमन्तरन्तःकरण आदित्ये सर्वविषयसंस्काराणामादानशीले आप्रणखादानखाग्रात्सर्वः सुवर्णः सुष्ठु दर्शनीयान-

न्दप्रदवर्णः सर्वथैव मालिन्यरहितः तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी वानरस्य गुदभागस्थवर्णइव कमलाकारे चक्षुषी हिरण्यश्मश्रुर्ज्योतिर्मयमुखस्थरोमा हिरण्यकेशो ज्योतिर्मयशिरस्थकेश एवं हिरण्मयो ज्योतिर्मयः पुरुषः पुंस्त्वशक्तिप्रधानो ज्ञान प्रकाशो [तैजसस्य पुंस्त्वं भोक्तृत्वं च सौम्यस्य च स्त्रीत्वं भोग्यत्वसप्रकाशमयत्वं च वेदाशयेन प्रश्नोपनिषदादिषु स्पष्टमुक्तमेव] दृश्यते साक्षात् क्रियत एवोपासकेन सएषपुंस्त्वशक्तिप्रधानो ज्ञानप्रकाशः सर्वपाप्मभ्य उदितः पृथग्भूतः सर्वथैव तमोगुणादिजन्यमालिन्याद्दूरंगतोऽस्ति तस्मादेव तस्योदिति नामास्ति । सौर्यश्च भौतिकः प्रकाशः स तु चक्षुर्भ्यामेव दृश्यतेऽत्र त्वात्मिकाभौतिकः प्रकाशोऽपेक्षितः । एतदेव च "नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनामित्यादिप्रकारेण श्वेताश्वतरउक्तम्-एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे । तेनेदमुक्तं भवति–उपासकः पुरुषो यदा चिरकालावधि सर्वेन्द्रियाणि वशीकृत्य योगाभ्यासरीत्योपासनां करोति तदा तस्य हृदि परमहर्षप्रद उत्साहवर्धकः प्रत्यक्षफलदर्शकः परोक्षविषयेषु विश्वासव्यवस्थापकः सत्त्वप्रकाशो ब्रह्मज्ञानपूर्वरूपः साक्षात्स्वात्मन्यवभासते तेन च स कृतकृत्यमात्मानं मन्यते तस्मिन्नेव च कर्त्तव्ये दृढतया प्रवर्त्तते। एवमीश्वरोपासनस्य प्रत्यक्षफलदर्शने उक्तप्रमाणस्याशयो नतु साधुसिंहाद्युक्ताद्वैतसिद्ध्यर्थं तत् ॥

भाभार्थः–इस छान्दोग्य उपनिषद् के आरम्भ से प्रथम प्रपाठक में उद्गीथ नामक ओम्–कार की उपासना कही गयी है (ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत०) इत्यादि प्रकार से । और साधुसिंह के पूर्व लिखे छान्दोग्य के भावार्थ से "सूर्य मण्डल के बीच कोई वैसा पुरुष जो ठीक सर्वांश में सुवर्ण के तुल्य शरीर वाला

हो उपासक को दीखता है” यह आशय विचारशीलों को स्पष्ट प्रतीत होगा। परन्तु उस प्रमाण का यह अभिप्राय साधुसिंह के परम गुरु शंकरस्वामी ने भी नहीं माना इसी लिये स्वामी शंकराचार्य जी ने अपने भाष्य में लिखा है कि “सुवर्ण धातु से बने जड़ शरीर मूर्त्ति आदि में पापादि की जब प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो सब पापों से उस का पृथक् कहना भी नहीं बन सकता फिर पाप रहित होना रूप निषेध व्यर्थ हो जावे और यदि वास्तव में सूर्य के भीतर कोई सुवर्ण के शरीर वाला पुरुष होता तो आंखों से सब को दीखता इस से यह मानना चाहिये कि सुवर्ण के तुल्य शुद्ध स्वच्छ ज्योतिःस्वरूप प्रकाश पुरुष रूप योगी को ध्यानावस्था में दीखता है” इस से सिद्ध हुआ कि आंखें बन्द करके बैठे पुरुष को समाधि दशा में ज्ञान प्रकाशमय अपने आत्मा का स्वरूप अथवा ज्ञानप्रकाश की ठीक स्वच्छता होने पर अपने हृदय में ब्रह्मज्ञान का पूर्वरूप पुरुषाकार प्रकाश कल्पनामात्र दीखता है इसी अभिप्राय का वर्णन छान्दोग्य के उक्त प्रमाण में किया गया है। तब यह अर्थ होगा कि–(अथ) बहुत काल तक निरन्तर श्रद्धा पूर्वक सेवन किया समाधि जब दृढता से स्थिर अचल होजाता तदनन्तर (अन्तरादित्ये) सब विषयों की छाया–प्रतिबिम्ब का आदान करने वाले अन्तःकरण में (आप्रणखात्सर्वएवसुवर्णः) पग के नख से लेकर शिखा चोटी पर्यन्त जिस का वर्ण दर्शनीय अच्छा आनन्द देने वाला सर्वथा ही मलिनता रहित (तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी) वन्दर के गुद भाग के समीपस्थ वर्ण के तुल्य जिस के रक्त नेत्र (हिरण्यश्मश्रुः) जिस के किरणज्योति के तुल्य मुखस्थ रोम (हिरण्यकेशः) जिस के शिर के केश भी ज्योतिः प्रकाश रूप हों ऐसा (य एष हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते) जो यह ज्योतिः प्रकाशमय पुंस्त्व शक्ति प्रधान प्रकाश उपासक को साक्षात् प्रतीत होता है [तैजस प्रकाश ही वास्तव में स्वाधीन प्रबल है तथा सौम्य प्रकाश पराधीन रहता सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है। सूर्य का तैजस प्रकाश पुरुष प्रधान और चन्द्रमा का सौम्य प्रकाश गौण पराधीन है इस प्रकार तैजस पुरुष भोक्ता और सौम्य स्त्री भोग्य वा अप्रकाश रूप है यह वेदानुकूल आशय प्रश्नोपनिषदादि में स्पष्ट कहा गया है] (सएष सर्वपाप्मभ्यउदितः) सो यह पुंस्त्व शक्ति प्रधान ज्ञान प्रकाश सब प्रकार के पापों से पृथक् है अर्थात् सर्वथा ही तमोगुणादि जन्य मलिनता से रहित है इसी लिये (तस्योदिति नाम) उस प्रकाश का नाम उद् है

क्योंकि ध्यान समाधि में उस का उदय होता यही उद्गीथ शब्द के प्रथम अवयव उद् का अभिप्राय है । जैसे ओम् शब्द का अ, उ, म्. रूप तीन अवयवों से व्याख्यान होता है वैसे ही यहां छान्दोग्य में त्रयी विद्या के मूल उद्गीथ शब्द के उद्, गी, और थ इन तीन भागों में बड़े विस्तार से व्याख्यान किया है जिस का विशेष व्याख्यान छान्दोग्य के भावीभाष्य में मिलेगा । सूर्य का प्रकाश वास्तव में भौतिक होने से नेत्रों से ही दीखता आंख मीच लेने पर दिन में भी कुछ नहीं दीखता इसी लिये यहां अभौतिक ज्ञान प्रकाश लेना अपेक्षित है। यही विषय (नीहारधूमा०) इत्यादि प्रमाण से श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सूर्य अग्नि विद्युत् आदि कासा प्रकाश जिस योगी पुरुष को ध्यानावस्था में साक्षात् दीखने लगे तो जानो कि उस को ब्रह्म ज्ञान होने वाला है। इस से यह अभिप्राय निकलता है कि उपासक पुरुष जब सब इन्द्रियों को वशीभूत करके बहुत काल पर्यन्त योगाभ्यास रीति से निरन्तर उपासना करता है तब उस के हृदय में परमहर्ष दायक उत्साह वर्धक प्रत्यक्ष फल दर्शक परोक्ष विषयों में विश्वास स्थापक सत्वगुणी प्रकाश ब्रह्म ज्ञान का पूर्वरूप साक्षात् प्रतीत होने लगता है उस के होने से वह अपने को कृतकृत्य मानने लगता और उसी कर्त्तव्य योगाभ्यासादि में आगे को दृढता से प्रवृत्ति बढ़ाता है । इस प्रकार ईश्वरोपासना का प्रत्यक्ष फल दिखाने में उक्त छान्दोग्य के प्रमाण का अभिप्राय है किन्तु साधुसिंह के कहे अद्वैत प्रतिपादन से उस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं । न उस में कोई ऐसा शब्द है जिस से अद्वैत का कुछ भी वर्णन हो । पर उपासना उपास्य तथा उपासकादि भेद के स्पष्ट होने से द्वैत सिद्धान्त तो स्पष्ट ही प्रकट है जिस से अद्वैत का खण्डन भी सिद्ध हो ही जाता है ॥

द्वितीय " योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् " इस यजु अ० ४० के प्रमाण को साधुसिंह ने इस विचार से लिखा है कि "जो यह आदित्य मण्डल में वर्त्तमान पुरुष नाम पूर्व वर्णित पुरुषाकार देव है सो देव अहमस्मि मैं हूं ऐसे अहंग्रहरूप से उपास्य है वो देव ॥ "

उत्तर०–यह कौन कहता है कि जो सूर्यमण्डल में पुरुष है वह मैं हूं । यदि कहो कि जो उपासना करे वही ऐसा माने तो प्रश्न होगा कि वास्तव में यह सत्य है क्या ? कि वह उपासक से भिन्न उपास्य नहीं वा उपास्य से भिन्न उपासक नहीं

धन्यवाद ॥

९॥)॥। पाठशाला सम्बन्धी विवाहव्यवस्थादि पु० विक्रय से १) हीरलाल जी धुलिया ५) बा० हीरालाल जी इटावा ४) पं० दंगीलाल जी इटावा ५) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर १) चौ० इन्द्रजित् इटावा २) भक्त रामस्वरूप जी इटावा ॥।) मा० गुन्दीलाल जी इटावा ५०) गुप्तदान दाता स्वयं प्रकाशित होना नहीं चाहता ४) पं० बुद्धसेन जी इटावा १॥) छेदीलाल जी बजाज इटावा ≡)॥। मुं० रामप्रसाद जी इटावा ४।=) पं० ब्रजनन्दन जी घरसुहिया जि० वस्ती ६) बा० गङ्गासहाय जी ओवरसियर इटावा २) पं० रामगोपाल जी सिलहट ४) डा० प्रभुलाल जी इटावा १) पं० रामजीमल जी इटावा १॥) शिवमङ्गल बाजपेयी जी जोनपुर १) वद्रीदास वांकेलाला जी आगरा २) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा १।) बा० नन्दकिशोर जी घड़ीसाज इटावा २) पं० मातादीन जी वकील इटावा २) जंगसिंह जी जमीदार गढ़िया १॥) पं० वनवारीलाल जी इटावा ५) सेठ जयकृष्णदास जी इटावा २) खमानसिंह जी औरंगावाद १०) पं० ख्यालीराम जी नैनीताल १) बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा ॥) बा० पूर्णसिंह जी मनेजर सरस्वती प्रेस इटावा ।-) पं० भैरवदत्त जी इन्द्रावखी १) कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण इटावा ४) ठा० तुकमानसिंह जी डिप्टीकलक्टर इटावा ४) ला० गणेशीलाल जी इटावा १) चौवे ख्यालीराम जी इटावा २।) पं० भीमसेन जी शर्म्मा इटावा २) लल्लू जी मिस्त्री इटावा १) भगवानूदास जी बरेली ४) पं० लेखराज जी ओवसियर इटावा यह सब १४९॥≡)॥ अक्टूवर नवम्बर दिसम्बर इन ३ मास में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुआ जगदीश्वर दाताओं को कल्याण युक्त और अधिकतर धर्म में श्रद्धालु करे । उक्त ३ मास में ११५।)॥ इस प्रकार व्यय हुआ ६०) पं० श्यामलाल शर्म्मा अध्यापक को ३ मास का वेतन २॥) सुन्दरलाल द्वि० को हिसाब पढ़ाई का प्रतिमास १) दिया जाता है तन्मध्ये । कहार को १) प्रतिमास चौका वर्त्तन तथा नवम्बर से १) मासिक चन्दा उघाने में दिया जाता है तन्मध्ये ४) पत्र पत्रोत्तर तैल वस्त्र रस्सी आदि फुट कर में ६।) शेष ३८॥)॥ विद्यार्थियों के भोजन में व्यय हुआ चन्द्रदत्त विद्यार्थी को घर जाने के लिये ४) दिये गये । अक्टूवर मास के आरम्भ में थोड़े दिन ५ छात्र पाठशाला से भोजन पाते थे पश्चात् उसी मास में ३ रह गये ॥

ह०—श्यामलाल शर्मा—कोषाध्यक्ष पाठशाला प्रबन्धकर्तृसभा इटावा—

सूचना

हम अपने ग्राहकों की सेवा में निवेदन करते हैं कि आर्यसिद्धान्त के निकलने का कोई समय वा तिथि बहुतकाल से नियत नहीं रही है यह सब महाशयों को अच्छे प्रकार विदित है। और आगे भी इस के समय को नियत करने की कुछ आवश्यकता हम को प्रतीत नहीं होती। जब कि इस के निकलने का कोई समय नियत नहीं तो भी इस पत्र का गौरव और प्रतिष्ठा तथा ग्राहक संख्या सदा बढ़ती ही रहती है इस से भी सिद्ध है कि यह पत्र अपने उद्देश को पूरा करने के लिये आगे २ पग बढ़ा रहा है। इसलिये १२ अङ्कों की पूर्त्ति होने पर इस के भाग वा वर्ष की पूर्त्ति सब ग्राहक महाशय मानते रहें इस पत्र से आशा है कि आगे २ वेदमत की और भी अधिक पुष्टि तथा लोकहित वा ग्राहकों को प्रसन्नता होगी। यह एक पुस्तक बहुत बड़े २ गम्भीर विषयों के आन्दोलन का भण्डार होजायगा। प्रयोजन यह कि इस के निकलने में देर होते देख इस की शिथिलदशा वा वृद्धावस्था का स्वप्न में भी कभी कोई महाशय अनुमान न करें देर होने के अनेक कारण हैं।

(नये पुस्तक)

मांसभोजन विचार प्रथम तथा द्वितीय भाग के खण्डन बड़े प्रबलयुक्ति प्रमाणों से पुष्ट अलग २ छप गये जिन का यथार्थ उत्तर मांसभक्षण को अच्छा मानने वाले जन्मान्तर में भी नहीं दे सकते। प्रथम का मूल्य -)॥ और द्वितीय का =)॥ है। तृतीय भाग जिस में अथर्ववेद के मन्त्रों की ठीक २ वेद के गौरवानुसार व्यवस्था रहेगी एक मास में पुस्तकाकार छप जायगा। भर्तृहरि का वैराग्यशतक जिस पर मैंने विशेषार्थ बड़े विचार से लिखा है शीघ्र तयार होगा मूल्य ।) रहेगा आगामी फरवरी मास में भगवद्गीता पूर्ण तयार होजायगा जो महाशय ३ अध्याय ले चुके हैं उन को शेष अध्याय टाटिल सहित दिये जावेंगे। तथा अन्य लोगों के बनाये पुस्तक—वेश्यालीला)॥ सजीवनबूटी आलखण्ड)॥ प्रश्नोत्तर रत्नमाला =) आर्य चर्पटपञ्जरिका)। चाणक्यनीति भाषानुवाद -)। जगद्वशीकरण =)

तीसरी सूचना यह है कि अनेक महाशय औषधियों के विषय में पूछा करते हैं सो अन्य दूकान्दारों की अपेक्षा मैं "पं० हीरालाल शर्म्मा वैद्य डाक बबियाल जि०—अम्बला" में अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी औषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे। दीन दुःखियों को विना दाम भी औषधियां देंगे। उन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है।

ह० भीमसेन शर्मा—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ५ । ६ सन

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ

४ मार्च सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

१८४ श्री चेलाराम मुलतान ।।।)
१३८ श्री मूलचन्द जी सागर १।।)
७६ श्री राधेकृष्ण ठेकेदार कुलहार ३।।।)
५ श्री साळेतुर वेङ्कटराव मंजेश्वर २।।)
१७७ विन्देश्वरीप्रसाद जी कासिमाबाद १।)
३१ श्री ज्वालादत्त जोषी नयनीतल २।।)
०६ श्री जयकिशुन पारूमल अमृतसर २।।)
४४ पं० गूजरमल जी दिहली २।।)
११८५ आर० पी० वाजपेई भिलसा १।)
०८ बा० नारायणदत्त झांसी २।।)
४ श्री झुन्नालाल अफजलगढ़ १।)
११८७ श्री गणपतिसिंह जी खोड़ी १।)
११८८ श्री विश्वम्भरसहाय जी मेरठ १।)
३३० श्री मदारीलाल जी जसवन्तनगर १।)
१००८ बा० रसिकविहारीलाल जागूली १।)
३८९ ला० सूर्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद ।।।=)
३१ मुं० ज्योतिः स्वरूप जी देहरादून २।।)
२३७ बा० चुल्हनराम जी लोहरदगा २।।)
मुं० बालमुकुन्दसहाय जी प्रयाग ३)
११९२ बा० वयङ्कटराव जी मुरवाड़ा १।)
९८ बा० कुंवरप्रसाद जी लखनऊ १।)
६३ श्री गैन्दसिंह जी (पं० मन्नालाल के हिसाब मध्ये दिये) २।।)
२० बा० कुबेरनाथ जी गाजीपुर २।)
९४ श्री साहबसिंह जी नगीना १।)
५ श्री सं० आर्यसमाज भोलेपुर १।)
३१ बा० गिरधारीलाल देहरादून १।)
३२ पं० मुन्नीलाल जलालाबाद १।)

१६० बा० ठाकुरदास जी होश्यारपुर १।।)।।
१७५ श्री ठाकुरदास जी धनारी १।)
२०५ बा० दुर्गाप्रसाद जी फर्रुखाबाद १।)
११८६ बा० प्रतापनारायण जी लखनऊ १।)
८३८ बा० जगमोहनलालसिंह बस्ती २।)
११९३ कुं० खानसिंह जी तरगवा १।)
१११७ सेठ गंगासागर जी लोहिया कलकत्ता २।।)
२७ पं० ब्यालीराम जी शर्म्मा दिहली २।।)
५७२ पं० घनश्याम गोस्वामी मुलतान १।)
१५५ बा० गुलाबचन्द जी दानापुर १।)
११८१ श्री तुलसीदास जी दुछेवाड़ा १।)
११९५ श्री बुंचनऐया पो० हिरेखेड़ा-रूपराव १।)
११९७ श्री० ताराचन्द जी गुजरात १।)
९५४ पं० चिन्तामणि शर्म्मा रूपधनी १)
११९९ श्री० जंगसिंह जी गढ़िया २।।)
१२०२ पं० रुविदत्त ब्रह्मचारी बम्बई १।)
८९८ डा० मक्खनलाल जी मिचौना ४)
१७४ पं० कृपाराम जी देहरादून १।)
२९६ बा० काशीराम जी मुलतान २।)
१०१३ श्री० भोलाराव जी झलमला १।)
४१ बा० मेवालाल जी प्रयाग १=)
५६१ पं० गोपालसहाय जी लश्कर १।)
९२० श्री० राधिकाप्रसाद जी राजशाही १)
१२०३ प्राणजीवनदास जी बमीन १।)
१२०४ चुन्नीलाल जी गूजरखां १।)
[illegible] लाल जी २।।।)
और मनुभाष्य नं० १५५ २)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ५,६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य भाग ८ अं० ३।४ पृ० ६४ से आगे

हमारे काम और हमारे शरीर उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होते चले जाते हैं। जैसे विना नींव की भीत गिरजाती विना जड़ के वृक्षादि खड़े नहीं रह सकते वैसे सब का मूल वेद और वेदोक्त धर्म है उस का आश्रय जो नहीं लेता वा लेना नहीं जानता वह कदापि अपने चिरस्थायी विचार नहीं कर सकता। उस के लेख वा विचार कदापि चिरकाल तक ठहरने वाले नहीं होते यही बात मनु जी ने वेद की प्रशंसा करते समय अ० १२ में कही है कि—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

ईश्वरीय वेद विद्या का मूल न लेकर जो कुछ नवीन कपोलकल्पित बातें लिखी वा कही जाती हैं वे निर्मूल होने से शीघ्र २ उत्पन्न विनष्ट होती रहती हैं। इस सब लेख का अभिप्राय ब्राह्मण जाति वा आर्य धर्मोपदेशकों पर आ-क्षेप करना नहीं है किन्तु अपने सुधारको सम्मति देना हमारा अभीष्ट है कि वेद को अपने नेत्र मान कर ब्राह्मणत्वप्रधान लोग कार्य करें तो ठीक हो ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः, पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥

यह महाभारत के उद्योग पर्व का वचन है कि गौ आदि पशु गन्धद्वारा विशेष कर विषयों को जानते और ब्राह्मण लोग वेद द्वारा विशेष कर सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानते राजा लोग दूतों द्वारा प्रजा का वृत्त जानते तथा साधारण लोग नेत्रों द्वारा देखकर ही थोड़ासा निश्चय करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो ब्राह्मण हैं वे वेद जो ईश्वर की सर्वथा निर्भ्रान्त सत्यसनातन विद्या है उसी द्वारा सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानते निर्णय करते हैं अथवा इसी बात को यों कहो कि जो वेद को ही सर्वोपरि परम प्रमाण मान कर अर्थात् जो कुछ वेद में लिखा है उसी को सब प्रकार पुष्ट करते अपने सब कर्त्तव्यों को वेद से ही निश्चित करते जानते और मानते हैं किन्तु केवल तर्क द्वारा वा प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा देखे जाने विषयों को केवल वेद से जानने की अपेक्षा प्रधान नहीं मानते वा वेद को अपने पीछे नहीं चलाते किन्तु वेद के पीछे सदा स्वयं चलना उत्तम मानते हैं अपने विचारों को जो अल्पज्ञ होने से सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं मानते किन्तु वेद के विचारों को जो सर्वथा निर्भ्रान्त मानते हैं वे लोग किसी समाज किसी जाति और किसी देश के रहने वाले क्यों न हों वेही ब्राह्मण हैं अर्थात् जो ब्राह्मण हैं वे वेद से देखते जानते और जो वेदसे देखते जानते हैं वे ब्राह्मण हैं। जैसे कोई कहे कि सुनार (स्वर्णकार) ही सोने की चीजें बनाता वा बनावे वा इसी को यों कहो कि जो सुवर्ण की चीजें बनावे वह सुवर्णकार है। इस प्रकार ब्राह्मण भी एक कर्म जाति है कि जो ब्रह्म नाम वेद को सर्वोपरि जाने माने तदनुकूल चले वह ब्राह्मण है। आर्य्यसमाज का प्रधान कर्त्तव्य वेद का मानना जानना तदनुकूल चलना है। ज्यों २ वा जितना २ अधिक वेद की ओर झुके झुकावेगा उतना ही आर्यसमाज का अभीष्ट शीघ्र सिद्ध होगा। आर्यसमाज में जो नायक वा प्रधान तथा धर्मोपदेशक हैं उन का वेद की ओर अधिक मुख फिरना सर्वोपरि आवश्यक है। और वेद की ओर जितनी वा जैसी झुकावट होनी चाहिये उतनी वा वैसी अभी तक नहीं है यह भी आर्यसमाज में सर्वोपरि न्यूनता है॥

हम भेदाभेद नाम से पूर्वाङ्क में लिखे लेख का सारांश यहां संक्षेपसे फिर लिखे देते हैं कि जैसे प्रत्येक शरीर में शिर वा मुख, बाहु, ऊरु और पग चारो अङ्ग मिले हैं चारो के मेल से एक ही शरीर कहाता शरीर के साथ सब का अभेद है

वा शरीर से सब अङ्ग अभिन्न हैं और अवान्तर रूप से मुखादि सब अङ्ग
भाग भिन्न २ भी माने ही जाते वा मानने पड़ते ही हैं । वैसे ही ब्राह्मणा
पन की भी प्रत्येक देहधारी को आवश्यकता है प्रत्येक शरीरों में ब्राह्मणा
चारो वा पांचो वर्ण रहते हैं जो जिस शरीर में प्रधान हो जाता वह एक
ब्राह्मणादि कहाने योग्य होता है वैसे गायत्री आदि छन्दों का भी सब के सा
सम्बन्ध है । जैसे कोई शास्त्रार्थ में वा व्याख्यान देने में जिस को प्रधान समझ
हैं उसी को वहां बुलाने का विशेष उद्योग करते हैं वा यों कहो कि उसी प्र
धान व्याख्याता को उपदेशरूप वाचिक कर्म का प्रधान अधिकारी मानते
और जिस को कहने की शक्ति नहीं होती वा भद्दापन का व्याख्यान देता है उ
को व्याख्यान के लिये खड़ा भी नहीं होने देना चाहते वा यों कहो कि उसके
वाचिक कर्म व्याख्यान का अधिकारी नहीं मानते ये दोनों एक ही बातें हैं । इस
के अनुसार गायत्री शब्द का मुख्यार्थ वाचिक कर्म है, त्रिष्टुप् का अर्थ बन्धन व
पकड़ना बाहुसम्बन्धी और जगती का अर्थ गमनागमन प्रवेशादि है जो कि वर्ण
व्यवस्था के साथ यौगिक रूप से सम्बन्ध रखता है इसी लिये वर्ण भेद के सा
वेद में छन्दों का भी भेद कहा गया है । वा यों कहो कि सभी वसन्त ऋतु व
दिशादि का भेद वर्णव्यवस्था का व्याख्यान करने वाला है । यह वेद का अ
भिप्राय प्रतीत होता है । प्रयोजन यह कि हमने जो छन्दोभेद लिखा था उ
का स्वप्न में भी कभी यह अभिप्राय नहीं था न है कि क्षत्रिय वैश्य कहाने वा
लों को गायत्री का अधिकार नहीं है किन्तु वेद में लिखे छन्दोभेद का व्याख्या
वा प्रयोजन दिखाना हमारा प्रयोजन था और है और रहेगा । यदि अब भ
किसी को सन्देह रहे तो हमारे समझा सकने में त्रुटि हो वा अन्य कुछ हो ह
अपनी शक्ति भर सब प्रकार खोल २ लिख चुके । यदि कोई महाशय इस विष
में कोई ऐसे प्रश्न करें जिन का उत्तर अभी तक न लिखा गया हो तो हम ब
हर्ष के साथ ठीक शास्त्रानुकूल यथोचित निष्पक्षता से फिर भी उत्तर लिखेंगे

३—आर्यसमाज का सिद्धान्त तो यह है कि गुण कर्मानुसार वर्ण वा जाति
भेद माना जावे और वास्तव में यह वेद के सिद्धान्तानुसार सनातन अटल सि
द्धान्त है । परन्तु आर्यसमाज में जिन २ जातियों वा वर्णों के मनुष्य सम्मिलि
हुए हैं उन में प्रायः वा अधिकांश अपनी जाति भर के सब मनुष्यों को किस
न किसी उत्तम वर्ण में ठहराना चाहते हैं कि अपनी २ जातिभर में गुण क

र्मों के अच्छे न होने पर भी हमारी जातिभर किसी उत्तम नाम से विख्यात हो जावे । यह बात सत्य भी है कि खत्री क्षत्रिय का अपभ्रंश हो तथापि यदि हम इस को इस विचार से प्रकट करते हैं कि खत्री कहाने वाले सब मनुष्य क्षत्रिय कहाने लगें तो यह तो स्पष्ट ही है कि वर्त्तमान में ब्राह्मण कहाने वाले सब मनुष्य वेदोक्त गुण कर्मों के अनुसार ब्राह्मण नहीं ठहर सकते वैसे ही कोई भी एक जाति किसी एक वर्ण में शास्त्रानुसार सम्मिलित नहीं हो सकती । तो इस दशा में अपनी २ जातिभर का पक्ष रखने वा करने से गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के मन्तव्य को अवश्य धक्का दिया जाता है । आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार किसी आर्य को अपनी २ रूढ़ि जाति का पक्ष कदापि नहीं लेना चाहिये और यदि पक्ष लेते हैं तो वे लोग अवश्य वेदोक्त वर्ण व्यवस्था के मन्तव्य को धक्का देने वाले हैं। सब आर्यसमाजस्थमात्र का सिद्धान्त यह होना चाहिये वा वैदिकधर्म के अग्रगन्ताओं को विशेष कर अपने २ हृदय में अचल कूटस्थ विचार रखने चाहिये कि—

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ „

श्रेष्ठ वा सज्जनों का स्वभावही होता है कि वे संसार भर को अपना कुटुम्ब मानते हैं श्रेष्ठ सज्जन वा आर्य इन का एक ही अर्थ है तो आर्यसमाजों में जो २ अपनी २ जाति के पक्षपाती हैं अपनी जाति के निकृष्ट मनुष्यों को भी अन्य जाति के निकृष्टों से वा मध्यमों से अच्छा मानते वा अच्छा ठहराना चाहते हैं वे वास्तव में आर्य कहाने योग्य नहीं हैं । वा यों कहो कि ठीक उत्तम कक्षा के सच्चे आर्य बहुत न्यून हैं इसी से जैसे नाममात्र का दीपक होने पर भी ठीक प्रकाश नहीं होता वा अन्धकार नहीं मिटता वैसे नाममात्र के अनेक आर्य होने पर भी अधोगति वा अवनति विद्यमान है । यह बड़ी न्यूनता है इस न्यूनता को दूर करने के लिये सर्वान्तर्यामी परमात्मा का ही शरण लेना चाहिये । गुण कर्मों से वर्णव्यवस्था मानने के लिये वेद वा शास्त्रों के अनुसार कुछ नियम निर्धारित करने चाहिये कि अमुक २ गुण कर्मों में जो २ परीक्षोत्तीर्ण हो जावें उन २ को ब्राह्मणादि होने का प्रशंसा पत्र दिया जाय किसी प्रकार की विशेष योग्यता के कारण कोई पद वा उपाधि भी उन को दी जावे और तदनुसार ही उन २ की मान प्रतिष्ठा भी सर्वत्र हुआ करे तो

प्रायः आर्यों में अनेक प्रकार के मनुष्य अपने गुण कर्मों को सुधारने के लि कटिबद्ध होने सम्भव हैं इस से आर्यसमाज के सिद्धान्त का ठीक प्रचार होग वैदिक धर्म कर्मों का शुद्ध प्रचार बढ़ेगा इस से सुखोन्नति होगी ।

वास्तव में आर्यसमाज की दशा अभी बहुत निर्बल है इस के अनेक कार णों में से एक बड़ा हेतु यह भी है कि जिन २ अंशों में जैसी २ एकता होनी चाहिये वैसी अभी नहीं हुई वा नहीं है किन्तु अनेक अंशों में भेद वा फूट ऐसं विद्यमान है जो अच्छी दशा हो जाने की विशेष बाधक है इस लिये हमारी स म्मति में आर्यसमाज का प्रधान कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि १–पंजाब २–राजपुता ना ३–पश्चिमोत्तरप्रदेश ४–विहार बंगाल ५–मध्यप्रदेश ६–और दक्षिण मुम्बई प्रान्त इन सब प्रदेशों में से एक२ वा दो२ नायक प्रधान उच्चकक्षा के मनुष्यों के वहां २ के समाज अपने प्रदेश भर का प्रतिनिधि नियत करें वा उन २ प्रान्तं में जो २ मनुष्य धर्मानुकूल शुद्ध विचारों में चढ़े बढ़े हों धर्मविषय में आ पग रखने का सदा साहस रखते हों वे स्वयमेव इस काम के लिये कटिबद्ध ह और अनुमान दश वा बारह मनुष्यों की यह सार्वदेशिक सभा हो जावे । वे स लोग मिल कर प्रथम अपने प्रधान वा मूल कर्त्तव्यों में जो २ भेद हो उस के मिटने का उद्योग करें अर्थात् ऐसा उपाय शोचें और करें कि जिस से सर्व सम्मत्य नुसार भविष्यत् में होने वाले भी विरोध सदा दूर होते रहें और जो २ हानि कारक विरोध विद्यमान हों उन को हटाने का भी प्रबल उद्योग करें । जबतक आर्यसमाजों में कोई नायक सभा सार्वदेशिक न होगी तावत् सर्वथा हिलचल मिटना दुर्लभ है । और सर्वोपरि झगड़ा वा विरोध इस समय कालिज औ वेदप्रचार के नाम से जो खड़ा हो गया है इस का मिटना आवश्यक है । शोच कर देखा जाय तो मनुष्यों की सुखोन्नति वा सुधार के लिये बहुत साधनों की आवश्यकता है । जो सुधार बहुत साधनों से सम्बन्ध रखता है वह एक दो साधनो के होने पर वैसा नहीं हो सकता । इस समय अंगरेजी राज्य है वास्तव में अं गरेजी भाषा के पढ़ने जानने की प्रजा के सब मनुष्यों को अधिक आवश्यकत इस लिये है कि लोकव्यवहार में चतुरता हुए बिना केवल धर्मसम्बन्धी विचा रखने वाले मनुष्य जब स्वयं संसार को नहीं छोड़ पाते वा उन के निज काम ह व्यवहारज्ञान हुए विना ठीक नहीं चलते तो उन से देश के सुधार की क्या आश होगी । इस लिये जिन किन्हीं लोगों का यह विचार वा प्रचार हो कि अंगरेजी

भाषा पढ़ना ही व्यर्थ है आर्य लोगों को पढ़ना ही न चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि वास्तव में अंगरेजी पढ़े हुए ही अधिकांश मनुष्यों ने आर्यसमाज के सिद्धान्त को अच्छा माना स्वीकार किया उन्नति की और अब भी यथाशक्ति कर रहे हैं। स्वामी जी महाराजने प्रथम संस्कृत की पाठशाला की और चाहा कि आधुनिक ग्रन्थों की परिपाटी का पठन पाठन छूटे प्राचीन वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने का प्रचार चल जाय तो आधुनिक ग्रन्थों से प्रचरित हुए वेद विरुद्धमत भी लोगों को ठीक ज्ञात हो जायं वेदमत के गौरव को भी अनेक ब्राह्मण लोग समझ जावें तो फिर ये लोग देश भर में फैल कर शीघ्र ही देश का सुधार कर लेंगे परन्तु ब्राह्मणों की बुद्धि में जो अधिकांश तुच्छता वा कुसंस्कार प्रविष्ट हो गये हैं इस कारण उन्हों ने पाठशालाओं में अनेक विघ्न किये जिस से स्वामी जी महाराज का विचार बदल गया कि इन लोगों से देश का सुधार न होगा। इसी लिये अंगरेजी पढ़े लिखे अधिकांश लोगों को एकत्र किया आर्यसमाज के नियम स्थिर किये और ये लोग कार्य करने में चतुर थे इस से आर्यसमाज को ले उड़े अर्थात् आर्यसमाज की जो कुछ दशा दीखती है उस के अधिकांश धारण करने वाले नेता अंगरेजी पढ़े लिखे लोग हैं यदि पुराने बिगड़े मार्ग वा प्रवाह के अनुसार संस्कृत पढ़े हुए इस आर्यसमाज को उठाते तो दृढ़ अनुमान है कि स्वामी जी महाराज का परिश्रम जितना अब तक सफल हुआसा प्रतीत होता है उस में शतांश भी होना कठिन था। इन सब विचारों के अनुसार और समय की ओर ध्यान देकर शोचा जाय तो संस्कृत वा अन्यभाषाओं की अपेक्षा आर्यसमाजस्थ प्रजा को भी अंगरेजी भाषा पढ़ने की शतगुणी आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। यदि आधुनिक ग्रन्थों की बिगड़ी परम्परा को छोड़कर केवल प्राचीन वेदादि शास्त्रों सम्बन्धी संस्कृत भाषा में किन्हीं लोगों को परिश्रम कराया जाय और धर्मानुकूल शुद्ध वेद के सिद्धान्तों की शिक्षा से भूषित कुछ विद्यार्थी सुबोध बनाये जावें तो उन में अधिकांश मनुष्य, अंगरेजी पढ़े सीखे अधिकांशों की अपेक्षा धर्मविषय के दृढ़ विश्वासी वा धर्म का मर्म जानने मानने में शतांश चढ़ बढ़ के निकलें यह सम्भव है तथापि अच्छे व्यवहारज्ञान होने से संसार में धर्मप्रचारादि कर्त्तव्यों को देश कालादि के अनुकूल ठीकर नहीं कर सकते अर्थात् वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त का मर्म जानने और वेदोक्त धर्म में दृढ़ विश्वासी मनुष्य बनाने की अपेक्षा उच्चकक्षा के अंगरेजी पढ़े लिखे

अधिक मनुष्यों की आवश्यकता इस वर्त्तमान समय में वैदिक धर्म को सुरक्षि
रखने के लिये अवश्य है इस लिये अंगरेजी पढ़ने का सर्वथा खण्डन यदि को
महाशय करते हैं वा कालिजों का होना बुरा समझते और कहते हैं तो वा
स्तव में वे बड़ी भूल में अवश्य हैं ॥

हमारे इस पूर्व के लेख से पाठक महाशय यह न समझ लेवें कि सम्पाद
आ० सि० भी कालिज के पक्ष में ही हो गये क्योंकि हमारा अभिप्राय यह नह
है कि संस्कृत पढ़ने वालों से कुछ हो ही नहीं सकता वा संस्कृत पढ़ना ह
नहीं चाहिये किन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि यद्यपि बनारस आदि नगरों
जैसी आधुनिक ग्रन्थों के अधिकांश पढ़ने की चाल वा प्रवाह चल गया है व
सर्वथा मूर्ख रहने की अपेक्षा तो अच्छा है परन्तु अंगरेजी की उच्चशिक्षा के सा
मने अवश्य वह निकृष्ट है क्योंकि उस प्रवाहानुसार जो मनुष्य संस्कृत भाषा
विद्वान् होते हैं उन की बुद्धि विद्या तथा प्रतिष्ठा अंगरेजी के उच्च विद्वानों क
अपेक्षा अधिकांश हीन दशा में अवश्य दीखती है । और इसी कारण हमार
गवर्नमेण्ट के हृदय में संस्कृत भाषा का गौरव नहीं आया किन्तु संस्कृत के ला
घव को तो बहुत अवकाश मिल गया है इस लिये बिगड़े प्रवाह से संस्कृत पढ़
की अपेक्षा तो वास्तव में हम भी अंगरेजी की शिक्षा को अच्छी इस लिये म
नते हैं कि हमारे पौराणिक संस्कृतज्ञों में भी जब वैदिक धर्म का गौरव अ
काश नहीं पाता और लोक में भी प्रतिष्ठा विशेष नहीं होती उन की अपेक
कीर्त्ति प्रतिष्ठा अंगरेजी के उच्च विद्वानों की अधिक होती है तथापि धर्मां
में अंगरेजीपाठियों की अपेक्षा विश्वस्त पौराणिक ही अधिक होते हैं । अ
किसी अंश में पौराणिकों के अच्छे होने पर भी नवीन शिक्षित अंगरेजी वा
कई अंश में आगे बढ़जाते हैं । इस कारण कार्य चलाने के लिये अंगरेजी प
हुओं की अधिक अपेक्षा होने पर भी प्राचीन रीति से [सत्यार्थप्रकाश के प
ठन पाठन प्रकरण में लिखे अनुसार] अङ्ग और उपाङ्गों सहित वेद पढ़ेहुअ
की आर्यसमाज के लिये मल्लाह के समान आवश्यकता अवश्य है । वेदोक्त ध
की केवल शुद्ध शिक्षा से भूषित धर्म का मर्म जानने वाले मनुष्य ही आर्यसमा
को पार लगा सकते हैं । श्री स्वामीदयानन्द सरस्वती जी संस्कारी पुरुष थे केव
वेदशास्त्रों के विद्वान् थे संस्कृत की आधुनिक शिक्षा प्रणाली को उन्हों ने त्

चार पूर्वक ही बुरा समझा था। इस लिये हमारी समझ में अधिकांश मनुष्यों को अंगरेजी पढ़ने की जैसी आवश्यकता है वैसा ही उस के पढ़ने जानने का मार्ग भी खुला है नाना प्रकार की पाठशाला भी अंगरेजी पढ़ने के लिये सभी प्रान्तों में गवर्नमेण्ट ने खोल रक्खी हैं। यदि हम कोई निज का कालिज खोलें तो वहां होने वाले किन्हीं कष्टों को हटाने पर भी हम को अधिकांश नये कष्ट वा विघ्न होंगे जिन की सरकारी पाठशालाओं में सुगमता हो सकती है। और द्वितीय आर्यसमाज के वेद मत को स्थायी सुरक्षित रखने के लिये हम को वेद शास्त्रों के पढ़ने जानने वालों की भी वा वेदों का गौरव बढ़ाने के लिये अत्यन्त आवश्यकता है और तृतीय वैदिक धर्म के उपदेशकों की आर्यसमाज को विशेष आवश्यकता है परन्तु शोचने का स्थान यह है कि जब जिस काम का प्रवाह संसार के गतानुगतिक होने अर्थात् एक के पीछे दूसरे के चलने से स्वयमेव बढ़ जाता है तब उस को सहायता न देकर यदि अनेक मनुष्य मिलकर भी रोकना चाहें तो भी वह जब नदी के प्रबल प्रवाह के समान नहीं रुक सकता तो सहायता देने पर तो वह प्रवाह इतना तेज हो सकता है जिस में फिर सब के सभी बहे चले जावें अन्य सब कर्त्तव्यों को गाढ़ निद्रा में सोते हुओं के समान भूल जावें। जैसे परमेश्वर की स्वाभाविक इच्छा मात्र से संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि काम नियमानुसार विना रोक टोक प्रवाह से सदा हो रहे हैं। वैसे आज अति प्रतापी अंगरेज गवर्नमेण्ट की इच्छामात्र से ही जब अंगरेजी शिक्षा का प्रबल प्रवाह बह रहा है जिस को रोकने के लिये किसी की शक्ति नहीं है तब फिर हम पूछते हैं कि आर्यसमाज जो वेदोक्त धर्म की उन्नति वा सुरक्षा के लिये एक सभा वा समुदाय नियत हुआ है उस को अंगरेजी शिक्षा को बढ़ाने के लिये कालिज खोलने का परिश्रम क्या ऐसा नहीं है? कि जैसे कोई प्रबल प्रवाह से बहती हुई नदी में दो चार बिन्दु जल छोड़ कर वा दश बीश घड़ा जल छोड़ कर बढ़ाना चाहे। इसी के साथ यह भी शोचनीय अवश्य है कि "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस के अनुसार अच्छे उपकारी कामों का भी अत्यन्त बढ़ना संसार के लिये हानिकारक ही होता है। यद्यपि ज्ञान वैराग्य मनुष्य के लिये साक्षात् स्वर्गद्वार होने से बड़ा ही उपकारी है इस में कुछ भी सन्देह नहीं क्योंकि इस में सब शास्त्रों की एक ही सम्मति है तथापि जब भारतवर्ष में ज्ञान वैराग्य पहिले समय में इस कक्षा तक बढ़ा कि राजा लोग राज्य के प्रबन्धों

को छोड़ २ वन को चलने लगे। राज्यादि के प्रबन्ध बिगड़ने लगे, युवा पु
भी विवाह करने पश्चात् वैराग्य हुआ तो स्त्रियों को छोड़ २ भागने लगे स्त्रि
विलाप कर २ दुःखित होने लगीं प्रजा की संख्या [मर्दुम शुमारी] जैसे आ
कल बीज अधिक बोया जाने से बीमारी आदि के द्वारा पूरा खर्च होने पर
प्रत्येक दश वर्ष में चार २ पांच २ क्रोड़ बढ़जाती है वैसे विषयासक्ति की आ
न्यूनता से जनसंख्या प्रतिदिन घटने लगी प्रलयका सा समय आता दीख
लगा देश में हाहाकार मचने लगा वनों में विरक्तों की उन्नति होने लगी अ
ग्राम नगर शून्य से दीखने लगे तब उस समय के विद्वान् लोगों को इस ज्ञा
वैराग्य की अति को दबाने के लिये यह उपाय सूझा कि रसीले काव्य बना
आरम्भ करो जिस से विषयभोग की ओर लोगों की रुचि बढ़े तो ज्ञान वैरा
सब भूल जांयगे। इसी विचार के अनुसार जब लोगों ने काव्य पुस्तक बना
आरम्भ किये तो वह प्रवाह ऐसा प्रबल बहा कि काव्य के असंख्य पुस्तक ब
गये अब तक शान्ति नहीं वेद शास्त्र पढ़ना लिखना प्रायः लोग भूल गये का
कुछ न पढ़े वह पण्डित ही न माना जाय। आज कोई जन्म भर भी काव्य पुस्त
को पढ़ता रहे तो भी पूरे होने दुस्तर हैं। वेदों में अग्नि के तुल्य काव्यों
प्रतिपाद्य देवता रूप विषय स्त्री रक्खा गया उसी के अङ्ग प्रत्यङ्ग रूप अव
न्तर भेदों का प्रतिपादन करते २ ब्राह्मणादि विद्वान् अपने सब धर्म कर्म
भूल गये। अब इस की अधिकता यहां तक बढ़गयी कि कपड़े रंग शिर मुंड
साधु विरक्त हुए पुरुषों में भी जितना स्वार्थपरता चालाकी चतुराई तथा
रसीलापन दीख पड़ता है उतना शुद्ध ज्ञान वैराग्य नहीं दीखता। जब ज्ञान
राग्य तप करने का प्रवाह चला तब उसी भेड़ियाधसान में सब चले उस
अति से जब अत्यन्त हानि हुई तब विषयासक्ति की ओर काव्यों द्वारा
प्रवाह चला जिस ने आज सब कर्त्तव्यों से भुला दिया दिन २ निकम्मी ज
संख्या अन्धाधुन्ध बढ़ रही है जो पृथिवी नगर ग्रामादि को दुर्गन्धरूप कर
चली जाती है। एक से एक ग्यारह के समान सहस्रों लाखों मनुष्यों की वि
इकट्ठी हो २ कर आकाश पृथिवी दुर्गन्ध से पूरित होते जाते हैं। पूर्वकाल
यज्ञों की सुगन्धि से जो आकाश पृथिवी व्याप्त किये जाते थे वे अब वैसे
असंख्य गुण दुर्गन्ध से व्याप्त हो रहे हैं। पहिले जो भिन्न २ स्थलों में मल त्य
गना अच्छा वा सभ्यता मानी जाती थी वह सब आज असभ्यता हो गयी।

हले [हलसूकरयोः पुवः ३।२।१८३] इस पाणिनिसूत्र के अनुसार हल और सूकर
अर का मुख मल के दुर्गन्ध को नष्ट कर देने और पृथिवी को शुद्ध रखने वाले
यूनीसिपेलटी के स्थानापन्न थे अब म्यूनीसिपेलटी उस दुर्गन्ध का इकट्ठा कर२
वाली मोरी आदि को पटवाती है जिस का अभिप्राय यह होता है कि दुर्गन्ध
ो छिपाकर रखना चाहिये जैसे प्रत्येक प्राणी के पेट में मल रहता है वैसे प्र-
येक घर में भी मलस्थान रहे और प्रत्येक नगर में मलसंग्रह का प्रधानस्थान
हेड़ आफ़िस रहे] जिस का परिणाम बड़े २ भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति दि-
। २ बढ़ती है । आज मुम्बई पर जो आपत्ति है वह कल अन्य किसी नगर
र आवे तो आश्चर्य कुछ नहीं समझना जिस में सर्वोपरि जनसंख्या की अधि-
कता हो उस पर पहिले वा विशेष कर ऐसी आपत्ति आना सृष्टि नियमानु-
ार सम्भव ही था और है ! और ऐसी आपत्तियों की औषधि प्रथम यही
ो सकती है कि वेद में " घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम् " लिखे अनुसार घी
आदि सुगन्धित पदार्थों के होम से आकाश पृथिवी पूर्ण कर दिये जावें ऐसा
घर २ में लगातार सुगन्धित पदार्थों का होम किया जाय जिस में लाखों रुपयों
का घी, लौंग, कपूर, केशर, कस्तूरी, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ घर २ में ज-
लाया जाय जो व्याप्त दुर्गन्ध का शीघ्र छेदन कर नष्ट करने में समर्थ हो जावे
तो थोड़े ही काल में ऐसी आपत्ति निवृत्त हो सकती है परन्तु जब खोटा प्रा-
रब्ध उदित होता है तो सुझाने पर भी किसी को नहीं सूझता अपनी जिस २
भेड़ियाधसान में जो २ पड़ जाता है वह उसी वेग में बहा भागा चला जाता है
किसी की नहीं सुनता यह प्रसंग आजाने से लिख दिया हमारा प्रस्ताव यही
था कि जैसे पूर्वकाल में कभी ज्ञान वैराग्य जैसा उपकारी विषय भी अत्यन्त
असीम बढ़ जाने से दुःख का हेतु होगया था उस से भी अत्यन्त अधिक दुर्दशा
वा अधोगति का हेतु वर्त्तमान काल में विषयासक्ति का अत्यन्त बढ़जाना है जिस
विषयवासना ने आज अच्छे २ नामी विरक्तों तक को अपना पूर्ण आज्ञाकारी
शिष्य बना रक्खा है उसी की अधिकता से जन संख्यादि की अधिकता द्वारा घोर
आपत्ति बढ़ती जाती हैं । इसी के अनुसार बादशाही समय में फ़ारसी उर्दू
की अधिकता बढ़ी उस को उस अत्याचारों ने समाप्त कराया । अब अंग्रे-
ज़ीरूप नदी का प्रवाह उस से भी अत्यन्त प्रबल वेग से बह रहा है जिस में
आर्यसमाज भी बहा जाता है जिस ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं वेदोक्त धर्म की

उन्नति के लिये खड़ा होता हूं। सुनो भाई!!! हमारा मत वेद है और
ईश्वर साध्य है इत्यादि प्रकार से मानता हुआ भी इस आर्यसमाज का अधि
कांश भाग वा उस के अग्रगन्ताओं का प्रधान वा प्रबल भाग अंगरेज़ीशि
प्रणालीरूप नदी में वह रहा है। जैसे कोई पूर्व को चलने के लिये बड़ी तय
करे बहुत कुछ कहे सुने कूदे फांदे कि हम ऐसे २ पूर्व को जायंगे अवश्य जा
अन्यत्र कहीं न जायंगे पूर्व को जाना ही हमारा सर्वोपरि इष्ट है और सब
व्या है इत्यादि सब कुछ कहता सुनता देखता हुआ भी झट पट पश्चिम
भागने लगे क्या ठीक यही दशा अंगरेजी की शिक्षाप्रणाली बढ़ाने के लि
कूदा फांदी करने वाले आर्यसमाजस्थों की नहीं है?। क्या वेदमत से दूस
ओर झुका कर ले जाने वाला अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव नहीं है?। वास्तव
यह सत्य है कि "गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः" प्रायः मनु
जो प्रवाह बलपूर्वक चलता देखता है उसी पर झुक जाता है तत्व वा अस
यत शोचने वाले प्रायः सांसारिक लोग नहीं होते। प्रारब्ध, गतानुगतिक
जातिधर्म, स्वभाव और समय का प्रबल प्रवाह इन सब का एकही अभिप्राय है
आर्यसमाज में लौकिक घिस २ नहो किन्तु इसमें परमार्थी परमतत्व के शो
वाले कुछ मनुष्य ऐसे खड़े हों जो आर्यसमाज की नौका को ढकेल कर पार
गाना अपना परम कर्त्तव्य समझ लेवें तो इस का नाम सार्थक हो सकता है
इस हमारे लेख का मुख्य सारांश यह है कि आर्यसमाज में भी कई प्रकार
ऐसी भेड़ियाधसान वा गतानुगतिकता विद्यमान है जो इस के उद्देश्यों के
फल होने में पूरा विघ्न होना सम्भव है जिन में से एक अंगरेजी शिक्षा के
वाह में बहना भी उदाहरण है। इस लिये आर्यसमाज यदि अपना कल्य
चाहता और उद्देश को ठीक सुफल करना अच्छा समझता है तो प्रवाह के पी
चलना छोड़े क्योंकि यह इस में बड़ी न्यूनता है ॥

कर्णवेधसंस्कार

हमारे पास कर्णवेध संस्कार के विषय में एक आर्य महाशय ने शङ्का
के भेजी है उस का समाधान हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ यहां संक्षेप
छपाना उचित समझ कर लिखते हैं।

प्रश्नकर्त्ता—मैंने १ पत्र आर्यावर्त्त को पूर्व में प्रेरित किया था कि सम्पादक जी यदि उस को प्रकाशित करदें तो पाठकवर्ग में से कोई उस का उत्तर प्रदान करदें परन्तु न जाने किस कारण से उन्होंने प्रकाशित न किया अत एव अब आप को लिखना पड़ा कि आप अपने आर्यसिद्धान्त में इस को प्रकाशित करें। मुझ को कर्णछेदन संस्कार में कुछ शङ्का उपस्थित हो गयी है और वह यह है कि स्वामी जी ने जो संस्कार विधि में १६ संस्कार लिखे हैं तो भूमिका में लिखा है कि प्रत्येक संस्कार का प्रयोजन लिखा जावेगा परन्तु जहां इस संस्कार की विधि लिखी है कुछ प्रयोजन नहीं लिखा केवल इतना ही लिखा है कि सुश्रुत और चरक जानने वाले वैद्य से कर्णवेध करावे। चरक और सुश्रुत देखे तो उस में भी कुछ नहीं लिखा कि कर्णवेध से क्या लाभ है। उस में केवल कर्णाभरण धारण करने के निमित्त इस क्रिया को रक्खा है सो आवश्यकीय नहीं क्योंकि इस का विशेष प्रयोजन नहीं यदि है तो केवल पुत्रीवर्गमात्र के लिये शिशुवर्ग को वह भी नहीं कि यह संस्कार शिशुवर्ग का क्यों कराया जावे मेरा पुत्र ६ वर्ष का होगया है उस का कर्णवेधसंस्कार अभीष्ट है यदि शङ्का का समाधान होगया तो कराया जावेगा नहीं तो नहीं। इत्यादि—

सन्नूलालगुप्त कानूनगो—अनूपशहर

उत्तर—हमारी इच्छा और विचार है कि गर्भाधानादि सभी संस्कारों पर हम कुछ लेख लिखें और प्रत्येक संस्कार का फल प्रयोजन वा आवश्यकता आर्यसिद्धान्त में यथाशक्ति अपने पाठकों को दिखलावें सो आशा है कि सर्वान्तर्यामी पूरी करेगा। अब कर्णवेधसंस्कार का प्रयोजन शोचने के लिये यह भी विचारणीय है कि संस्कार शब्द का शाब्दिक वा लाक्षणिक क्या अर्थ है ?। सम् नाम अच्छे प्रकार सम्भाल के जो किया जाय वह क्रिया वा कर्म संस्कार कहाता है यह इस का शब्दार्थ है और इस का लाक्षणिक अर्थ यही है कि सामान्य कर शुद्धि के हेतु सभी कामों का नाम संस्कार हो सकने पर भी उन में विशेष वा अत्यावश्यक शुद्धि के लिये होने से गर्भाधानादि क्रियाओं का नाम मुख्य कर संस्कार है। जैसे मनुष्य शब्द सामान्य वाचक है और ब्राह्मणादि कर्मजाति उस के अवान्तर भेद हैं औरप्रत्येक ब्राह्मणादि भेद के साथ सामान्य मनुष्य शब्द की व्याप्ति रहती है जैसे ब्राह्मण मनुष्य, शूद्र मनुष्य, चर्मकार मनुष्य इत्यादि में ब्राह्मणादिपन का भेद होने पर भी सामान्य मनुष्यपन में कोई भेद नहीं है। मनुष्यपन में जैसे,

मनुष्य ब्राह्मण जैसा ही शूद्र है वैसे ही सामान्य संस्कारपन में उपनयन, गर्भा
धान कर्णवेध सब एक से ही हैं संस्कारपन सब में है। जैसे संस्कृत अ
कहने से यह समझा जाता है कि स्वादिष्ट, भोजन करने योग्य अन्न हो गया गु
णकारी हो गया वा उपकारी उपयोगी हो गया वा सुगमता से खाने पच
योग्य हो गया वा अभीष्टकार्यसाधक हो गया इत्यादि। वैसे संस्कारों से ठीक स
स्कृत हो गया नाम शुद्ध अच्छा मनुष्यों में आदरणीय कार्यसाधक अपना तथ
अन्यों का उपकार करने में योग्य समर्थ हो गया वा विद्या धर्म सम्बन्धी शिक्ष
से शिक्षित हो गया सम्भल गया वा गुणी हो गया इत्यादि मनुष्य के संस्क
हो जाने का तात्पर्य है। और सम्भल जाना वा सुधर जाना अनेक भागों
बंटा हुआ है। जैसे भोजन बनाने के अनेक भेद हैं लकड़ी चूल्हे में धरन
अग्नि जलाना पानी धरना उस में चावल वा दाल छोड़ना, करछी चलाना लव
मसाला पीसना, मिलाना छौंक देना आटा लाना, गूंदना, पाना तवे पर रो
डालना उतारना सेकना धरना इत्यादि का नाम एक पकाना वा रसोई बना
है। इसी प्रकार गर्भाधान से लेकर किसी बालक के सब संस्कार समावर्त्तन प
र्यन्त विचारपूर्वक सावधानी से यथोचित रीति वा विधि से किये जावें औ
ठीक सुफल भी हों तो वह यौवनावस्था के समय मनुष्यपन में वा मनुष्यों क
उत्तम कक्षा में पूरा संस्कृत हो जायगा वा ठीक २ सम्भल जायगा गुणी शिक्षि
हो जायगा। विद्या तथा धर्म के द्वारा अपना अन्यों का कल्याण कर सकेगा
यदि उस के कोई संस्कार हों कोई न हों तो वह उतने अंश में ही सुधरे
यदि संस्कार नाम मात्र हुए भी उन का मर्म करने कराने वालों ने कुछ न स
मझा तो न होने के समान व्यर्थ से हो जांयगे। तथापि सर्वथा न होने की अ
पेक्षा नाम मात्र होना भी अच्छा है। जिस का संस्कार नाम संशोधन किया जात
है उस में दो प्रकार का परिणाम वा फल होना सर्वत्र अभीष्ट माना जाता
एक तो शारीरिक वा आत्मिक मलिनता कुसंस्कार वा पाप रोग दोषों क
निवृत्ति और द्वितीय शरीर वा आत्मा में अभीष्ट शान्ति सुचेष्टा वा विद्
धर्मादि गुणों का संचय करना सो अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट गुणों
शरीर तथा आत्मा दोनों में ही सब संस्कारों से कुछ २ संचय अवश्य होता
और सब संस्कार ठीक होने से पूरी अनिष्ट मलिनता रोग दोषों की निवृ
तथा इष्ट धर्म शान्त्यादि गुणों का पूरा संचय भी हो जाता है जिस से वह

नुष्य अपने संसार परमार्थ को सहज में बना लेता है यह कुछ संस्कारों का छोटा फल नहीं है। शरीर में दो प्रकार की मलिनता प्रथम मनु जीने मानी और उस के निवारणार्थ लिखा है कि—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।

बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ १ ॥ अ २

गर्भाधान पुंसवन और सीमन्तोन्नयन इन गर्भ समय के होमों से तथा जातकर्मादि क्रियाओं से रजवीर्य सम्बन्धी वा गर्भस्थान में रहने की मलिनता सम्बन्धी दोष ब्राह्मणादि द्विजों के छूट जाते हैं। वास्तव में अन्य संस्कारों से चर्चों का अधिकांश शारीरिक सुधार होता है आत्मिक सुधार होता भी है तो वह शारीरिक सुधार के द्वारा परम्परा से थोड़ा होता है। जैसे स्नानादि द्वारा शरीर की शुद्धि होने पर मन आत्मा भी प्रसन्न शुद्ध होता है। इसी प्रधानांश को लेकर (अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति) मनु जी ने जल से शरीर की शुद्धि होना कहा और गौण होने से आत्मिक शुद्धि नहीं कही परन्तु यज्ञोपवीत वेदारम्भ संस्कार के ठीक २ पूर्ण हो जाने अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण निर्विघ्न समाप्त कर लेने पर मानस आत्मिक संस्कार भी अच्छा होता है विद्या और धर्म की शिक्षा से मन आत्मा भूषित निर्दोष हो जाते हैं इस लिये इसी संस्कार से द्विजउपाधि प्राप्त हो सकती है॥

सब संस्कारों में शरीर तथा आत्मा का संशोधन रूप फललाभ न्यूनाधिक तो है ही पर उन में उपनयन संस्कार का सर्वोपरि फल है और कर्णवेध, निष्क्रमण, सीमन्तोन्नयन इत्यादि कई संस्करों का थोड़ा २ फल वा प्रयोजन अवश्य है जिस को उपनयन की अपेक्षा कुछ नहीं के समान कोई कहे तो अनुचित नहीं तथापि जैसे कोट्यधीश की अपेक्षा शताधीश कुछ भी न गिनाजाय तो भी जिस के निकट एक पैसा भी नहीं उस की अपेक्षा तो शताधीश भी बड़ा ही है इसी के अनुसार न करने की अपेक्षा तो कर्णवेधादि संस्कार भी बड़े उत्तम फल देने वाले अवश्य हैं॥

कर्णवेध संस्कार के मुख्य कर तीन प्रयोजन वा फल हैं। १-बालक को आभूषण पहना कर शोभित करना। २-सुवर्ण के औषधि रूप होने से रोगनाश करके आयु की वृद्धि होना। और ३-छेदन से रोगदोषों की निवृत्ति हो कर अच्छा आरोग्य रहना। इन से भिन्न चौथा बड़ा प्रयोजन सभी संस्कारों में समान ही

यह है कि प्रेम से गद्गद वाणी से होने वाला अति पवित्र वेद का उच्चारण सुनते २ मन और आत्मा में पावनतम वेद का शुद्ध संस्कार जमना वेद की ओर प्रवृत्ति बढ़ना । जैसे कामासक्ति के उत्तेजक राग जहां ठीक २ साजबाज मिला कर गाये जाते हैं तब कामी लोगों के मन और आत्मा में एक प्रकार की अच्छी लहरें उठती हैं उन के आत्मा में कामोत्तेजक आह्लाद बढ़ता है वैसे ही वेद की ओर जिन की प्रवृत्ति वा प्रीति होती है वेद का आशय जिन को समझ पड़ता है उन का आत्मा वेद को पढ़ते समय वा सुनते समय अवश्य संस्कृत होता है । यदि कोई कहे कि बच्चे जैसे नाच तमाशे राग आदि का मर्म नहीं जानते वैसे वेद का भी नहीं जानते फिर संस्कारों में वेद के सुनने से बच्चों को क्या लाभ होगा तो उत्तर यह है कि यद्यपि नाच आदि को बच्चे नहीं जानते तथापि अपने पितादि की जिस काम में अधिक प्रीति देखते जिस में पितादि को अधिकांश मग्न वा लिप्त देखते हैं उन को वे अच्छा अवश्य मानने लगते और धीरे २ उन्हीं कामों में झुकते जाते हैं इस से पितादि का संस्कारादि करने, वेद के सुनने में अतिप्रेम वा तत्परता बालकों के भावीसुधार का हेतु अवश्य होगी तथा अग्नि में शुद्ध सुगन्धित घृतादि का होम भी वायु के शोधन द्वारा शारीर और मानस शुद्धि का हेतु अवश्य है । सर्वोपरि जीवन का हेतु वायु है उस का बिगड़ना वा प्रतिकूल होना मरण का हेतु वा महा विपत्ति का कारण है वैसे ही वायु का सुधार वा अनुकूलता महा सुख का हेतु है । यह भी सब संस्कारों में सामान्य प्रयोजन है ।

१-जैसे शोभा और शीतोष्ण से रक्षा दोनों प्रयोजन से वस्त्र धारण किया जाता है वैसे आभूषणों का धारण भी शोभा और अनेक रोगों से रक्षा होने के लिये करना चाहिये-

> वचाघृतं सुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम् ।
> मेध्यमायुष्यमारोग्यं पुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥ १ ॥

सुश्रुत में यह लिखा है कि वचासाधित घी सुवर्ण का चूर्ण वा सोने के वरक तथा बेल के पके फल का चूर्ण ये तीनों पदार्थ बुद्धि अवस्था नीरोगता और पुष्टि बल आदि को बढ़ाने वाले हैं । इसी लिये जातकर्मसंस्कार में मेधायुष्करणीय मान कर घी मधु और सुवर्ण मिला के चटाना लिखा है सो खाना विशेष

गुणकारी है उस का धारण करना भी अवश्य गुणकारी होगा क्योंकि पेट में पहुंच कर भी कुछ गुण ही प्रकट करेगा। वैसे कान आदि में पहिना हुआ भी अपना गुण शरीर में अवश्य पहुंचावेगा। इसी लिये मनु जी ने लिखा है (शुभे रौक्मे च कुण्डले) कि सुवर्ण के शुद्ध कुण्डल दोनों कानों में धारण करे और ऋग्वेद १। १२२। १४ मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि—

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः। इत्यादि।

इस का अर्थ भी स्पष्ट है कि हिरण्य नाम सुवर्णके विकार कुण्डलादि नामक आभूषण जिस के कानों में हों, मणि रत्न युक्त आभूषण जिस की ग्रीवा गर्दन में हों ऐसे मेरी रक्षा सब देवता करें अर्थात् सुवर्णादि आभूषण भी रक्षा के हेतु हैं उन्हीं के द्वारा यहां रक्षा दिखाना अभीष्ट है। और यजु तथा अथर्व वेद में और भी स्पष्ट ही सुवर्ण धारण के गुण वा आवश्यकता दिखायी गयी है।

यो बिभर्त्ति दाक्षायण थं हिरण्यथं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। य० ३४। ५१।

दक्ष शब्द वेद के कोष में बल का नाम है अग्नि के बल से उत्पन्न होने से दाक्षायण नाम सुवर्ण का है। अर्थात् सुवर्ण आग्नेय पदार्थ है इसी लिये बुद्धि आयु और बलवर्द्धक है। चिकित्साशास्त्र में अधिकांश ज्योतिष्मत्यादि अग्निशक्ति प्रधान पदार्थ ही बल पुष्टि आयु और बुद्धिवर्द्धक माने जाते हैं। इसीलिये जो पुरुष बल सम्बन्धी सुवर्ण को आभूषण द्वारा सदा धारण करता वा ओषधिरूप मान कर खाता है उस की उत्तम वा मध्यम कक्षा में रहते हुए अन्य भी उपयोगी साधनों के तारतम्य वा अपनी २ दशा के अनुसार आयु बढ़ जाती है। चाहे यों मानो कि इन्हीं वेद मन्त्रों का मूल लेकर सुश्रुतादि ग्रन्थों में सुवर्ण को बल पुष्टि बुद्धि और आयु का वर्द्धक माना गया है। यदि कोई कहे कि सुवर्ण के कुण्डलादि धारण करने पर भी यदि कोई निर्बल निर्बुद्धि वा अल्पायु हो तो यह सत्य कैसे होगा? तो उत्तर यह है कि बल आदि की वृद्धि के अनेक साधन हैं उन में

एक सुवर्ण भी है यदि वे सब साधन यथोचित पूरे २ हों तो वह २ बलादि ठीक वा यथोचित दशा का अवश्य होगा । यदि केवल सुवर्ण का सेवन धारण हो तो भी न धारण करने पर जैसा बल आयु आदि होता उस से कुछ अवश्य अधिक होगा । सुवर्ण ही आयु वर्द्धक है अन्य कोई उपाय नहीं वा अन्य आयुष्य नाशक प्रबल विघ्न विद्यमान हों जो सुवर्ण से होने वाले उपकार को मेट देवें तो इस से वेद में कोई दोष नहीं आ सकता सर्वत्र विचार पूर्वक काम लेना यह मनुष्य की योग्यता पर निर्भर है । इस से सिद्ध हुआ कि सुवर्ण का आभूषण पहिनना वेद प्रमाण और युक्ति पूर्वक लाभ दायक है आग्नेय होने से सुवर्ण संशोधक है । शोभा का हेतु हो कर मन की प्रसन्नता रूप संस्कार का भी कारण होता है । मनुष्य संसार में अनेक काम शोभा बढ़ाने के लिये भी करता है देखने में अच्छा लगने से चित्त की प्रसन्नता होती और प्रसन्नता का नाम मैं शुद्धि व संस्कार अवश्य है । इस प्रकार शोभा बल पुष्टि आयु बुद्धि का वर्द्धक होने पर भी अब चोरी का भय तथा बच्चे के शरीर का भय रहने से तथा द्वीपान्तरीय लोगों में सुवर्णाभूषण की चाल न होने से सम्प्रति पुत्रों को आभूषण पहनाना बुरा समझा जाता है । क्योंकि आज कल अंगरेज लोगों का आचरण हमारे देश में सदाचाररूप धर्म का लक्षण माना जाता है जो उन के चाल चलन व्यवहार हैं वह सभ्यता मानी जाती है पुरानी चालें सब असभ्यता होती जाती हैं हम लोगों के ऐसे विचार भी हमारी अधोगति के कारण अवश्य हैं । द्वितीय रहा लड़कों को मार डालने का भय वा चोरी का भय उस का उत्तर यह है कि लोक में जिन २ कामों को हम उपकारी समझ कर करते हैं उन सभी में कुछ २ विघ्न वा कष्ट प्रतीत होते ही हैं जैसे वहां विघ्नों के भय से उपकारी काम करने रोके नहीं जाते किन्तु विघ्ननिवारण के उपाय सदा शोचे और किये जाते हैं वैसे यहां भी चोरी आदि विघ्न हटाने के अनेक उपाय शोचने और करने से प्रायः विघ्न होने सम्भव नहीं हैं । जैसे पुरुष स्त्री को भूषित वा शोभित देख के प्रसन्न होता वा सुख मानता वैसे माता वा पत्नी भी अपने पुत्र को वा पति को भूषित करना वा रखना चाहती है इस से दोनों को ही भूषित करना आवश्यक है केवल पुत्र वा पुरुष की अपेक्षा कन्या वा स्त्री को अधिक आभूषित करना ठीक है परन्तु पुत्र वा पुरुष आभूषण धारण ही न करें यह ठीक नहीं यह द्वीपान्तरीय लोगों से सीखा आचार विचार आर्य वेद म-

तानुयाइयों को छोड़ना चाहिये । इस के छोड़ते ही आभूषणार्थ कर्णवेध संस्कार पूर्वलेखानुसार अवश्यसार्थक प्रतीत होने लगेगा तथा एक तीसरी बात यह भी है कि जैसे आज कल शीतला [विस्फोटक] रोग की निवृत्ति के लिये बांह में टीका देने की चाल वैद्यक शास्त्र के अनुसार मानी जाती है वैसे कान और नासिका के छेदन से किन्हीं ऐसे प्रबल रोगों की निवृत्ति भी होती है जो कर्ण तथा नासिका के वेधन से स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं । क्योंकि लोक में यह प्रसिद्ध चाल चलगयी है कि जिन के पुत्र प्रायः जीवित नहीं रहते हो २ कर बीमारी से मर जाते हैं उन के यहां किन्हीं बच्चों की नासिका वा कर्ण उत्पन्न होते ही छेदन करते हैं और वे प्रायः जीवित रहते दीख पड़ते हैं इसी लिये उन सैकड़ों के नाम नकछेदी वा छेदीलाल रक्खे जाते हैं । इस को वर्त्तमान में किसी अभिप्राय से स्त्रियां मानती हों परन्तु जीवित रहने की आशा से जो नाक कान उत्पन्न होते ही छेद देने की चाल प्रथम ही प्रथम कभी चली वह इसी अभिप्राय से चली प्रतीत होती है कि जिस से सन्तानों के नाशक किन्हीं रोगों की निवृत्ति हो जावे । इस के साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि चांदी आदि के आभूषण धारण की आज्ञा वा प्रशंसा वेदादि शास्त्रों में नहीं लिखी इस लिये रजतादि के आभूषण अवश्य ही विशेष उपयोगी नहीं केवल शोभार्थ हो सकते हैं । सुवर्ण के समान रजत आग्नेय वस्तु भी नहीं तथा अन्य भी आग्नेय पदार्थ सुवर्ण के समान पवित्र नहीं हैं इस से सुवर्ण के स्थानापन्न नहीं हो सकते ॥

यद्यपि इस विषय में कुछ और शोचा जाय तो अन्य भी फल वा प्रयोजन कर्णवेध संस्कार के हो सकते हैं पर अभी जो कुछ विचार में आया सो यथा शक्ति लिख दिया है बुद्धिमान् लोग जिन की समझ में जो आवे उन २ प्रयोजनों को भी इन के साथ लगा लेवें अर्थात् मैं कर्णवेध संस्कार के प्रयोजन लिखने की इयत्ता (हद्द) नहीं करे देता हूं कि यही वा इतने हीं प्रयोन हैं । यदि किन्हीं महाशयों को अब भी कर्णवेध में सन्देह रहे तो मुझे कृपया सूचित करें यथोचित्त उत्तर दिया जायगा ॥ इति ॥

(भा० ७ अंक ११ । १२ से आगे मांसभोजनविचार भा० ३ का उत्तर)

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्यु-त्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक-धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम् । अन्त-रिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ अथर्व ४ । १४ । ७ । ८ ।

अर्थः–"एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः । अ-थर्व० ९ । ५ । २१" इत्यत्र मन्त्रेऽवधारणार्थवैशब्दपाठादवसे-यमेव विपश्चिद्भिर्यदपरिमितो व्याप्त एव कश्चिद्यज्ञः पूज्यः प्रशं-साहोंऽजपञ्चौदनपदयोर्वाच्योऽर्थो मन्त्रकारस्याभिप्रेतइति स च तत्रैव प्रकरणे सप्तदशमन्त्रेऽग्निः स्पष्टमुक्तएवास्ति । तथा च यजु-ष्यप्युक्तमेव "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त० । वायुः पशुरासीत्ते-नायजन्त० । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त० । अ० २३ । १७ ।" एतेन स्पष्टमेवाग्न्यादीनां पशुत्वेन कल्पनं तस्य चाग्न्यादेरवय-वकल्पनं च मन्त्रेषु सुगमतया बोधार्थमिति वेदप्रमाणेनैव स्प-ष्टीभवति । एवं च सत्यग्निरत्र मन्त्रेषु पश्वाकारेणोच्यते । तद्यथा– हे परमात्मन् पञ्चधा पञ्चप्रकारेण विभक्तमेतं प्रत्यक्षं पञ्चतत्त्वा-त्मकमोदनं क्लिन्नं भक्ष्यत्वमापन्नं पञ्चौदनं पञ्चीकरणेनेतरेतरं सं-सृष्टम् । पञ्चभिः पञ्चीकृताभीरश्मिभिः सह वर्त्तमानया तैजस-विदारणशक्त्या निदाघर्त्तुरूपया दर्व्योद्धरोपरिष्टादूर्ध्वं नय । एत-त्कार्यसिद्धये च–प्राच्यां दिश्यजस्यान्धकारस्य प्रक्षेप्तुः सूर्याग्नेः शि-धेहि । यत्र प्रकाशकस्याग्नेः प्रधानाङ्गं शिरः सा प्राची दिग्भवतु दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वमजस्य धेहि । यथापूर्वाभिमुखस्

तिष्ठतः पशोर्दक्षिणं पार्श्वं दक्षिणदिश्येव भवति । प्रतीच्यां दिश्यस्याजस्य भसदमन्धकारभत्सनसामर्थ्यं धेहि सति पूर्वस्यामुदये पश्चात्पश्चादेवान्धकारो भर्त्स्यते प्रक्षिप्यते । उत्तरस्यां दिश्युत्तरपार्श्वरक्षणं च न्यायसिद्धमेव धृतं भवति । ऊर्ध्वायां दिशि चाजस्याग्नेरनूकः समवायिकारणमीश्वरेण निहितम् । तस्मादेवाग्निरूर्ध्वज्वलनः प्रसिद्धः अनूकइत्यस्य—"उच" समवायइति धातोर्व्युत्पादनात् । ध्रुवायामधः स्थाय । देशयस्य पाजस्यं पाजसेऽन्नाय भक्ष्याय हितमन्नं पाजसि साधु वाङ्गं पृथिव्यामोषध्यादिषु धेहि, गर्भोअस्योषधीनामित्युक्तत्वात् । पृथिव्यां मनुष्यादिशरीरे व्याप्तएवाग्निः सर्वं भक्षयति । अस्याजस्य सूर्याग्नेर्मध्यभागो ब्रह्माण्डस्य मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि ॥

भा०—यथा च सूत्रेषु लिङ्गवचनमतन्त्रमेवं पुरुषवचनादिव्यत्ययं दर्शयता वेदेऽपि वचनपुरुषकालादिकथनमतन्त्रमेव सूचितम् । तेनोद्धर धेहीत्यादिक्रियापदं न मध्यमे निबद्धमिति । परमेश्वरेण सर्गारम्भएव सर्वव्याप्तोऽग्निः सृष्टस्तस्य प्रधानाङ्गं शिरः पूर्वस्यां दिशि रचितम् । यथा मनुष्यादिप्राणिनां शिरोदेशे यादृशो ज्ञानप्रकाशो न तादृशोऽन्यदेहावयवेष्वस्ति तथैवात्राग्नेः शिरोदेशरूपसूर्यस्य पूर्वस्यामेव प्रधानः प्रकाशः । एवं च प्राधान्यमाश्रित्यैव प्राचीदिगग्निरधिपतिरिति मन्त्रेऽग्नेरधिपतित्वमुक्तम् । दक्षिणस्यां दिशि चाग्नेर्द्वितीयकक्षास्थं प्राबल्यमर्थात्पश्चिमोत्तरापेक्षया दक्षिणदिक्प्रान्तेष्वग्नेरुष्माधिक्यं तेन लङ्कादिप्रान्ते मनुष्यादिषु कार्ष्ण्याधिक्यस्य प्रत्यक्षदर्शनात् । यत्र यत्र यादृशं शीताधिक्यं तत्र तत्र तादृशमेवाग्नेरुष्मणो न्यूनत्वं सर्वा-

पश्चयोत्तरकुरुषु शीताधिक्यमुष्मणश्च ह्रासस्तस्मादेव तत्रत्या मनुष्याः सर्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन गौराः । तदपेक्षया कम्बोजकापिशीग न्धारादिपश्चिमप्रान्तेषु शीतह्रास उष्माधिक्यं चातएव पिशाका यनादयो द्वितीयकक्षायां गौरास्तदपेक्षयापि दक्षिणप्रान्तेषु शीतह्रास उष्माधिक्यं चातएव तत्रत्या दाक्षिणात्यास्तृतीयकक्षाया गौरास्तदपेक्षयाऽप्याधिक्येन पूर्वप्रान्तेषु शीतह्रासोऽग्नेरुष्मणश्चात्यन्तमेवाधिक्यमतएव प्रायेण वाङ्गा ब्राह्मा वा कृष्णा दृश्यन्ते कृष्णाश्च स्वतुल्यां कालीमेव प्रायेण पूजयन्ति । एतेन प्रत्यक्षेणाऽपि जगति चतुर्दिक्षु चतुर्विधाऽग्नेर्व्याप्तिः स्फुटैव दृश्यते । दक्षिणस्यां दिशि द्वितीयाऽग्नेः कक्षा तस्यैवेन्द्रइति नामास्ति अतएव "दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिरिति" मन्त्रान्तरउक्तम् । प्रतीच्यां च दिशि तृतीयकक्षास्थोऽग्निस्तस्मादेव तत्र वरुणस्य प्राधान्यमतएव पश्चिमतः पूर्वाभिमुखाः प्रायेण नद्यो वहन्ति यत्र वरुणस्याधिक्यं ततएवागमनसम्भवादतएव मन्त्रान्तरउक्तम् "प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिरिति" उदीच्यां तु दिशि चतुर्थकक्षास्थोऽग्निरतएव दक्षिणायने सूर्ये षण्मासावधि कस्मिंश्चिदुत्तरप्रदेशे तमःप्रधाना रात्रिरेव तिष्ठति तत्र चाग्नेरप्राधान्यादेव सोमस्य प्राधान्यं तस्मादेव प्रायेण तत्रत्याश्चन्द्रमुखा जायन्तेऽतएव च मन्त्रान्तरउक्तम्—"उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः" अनेनैव च क्रमेण विवाहादिमङ्गलकार्येषु परिक्रमाः कर्त्तुं वेदाशयादेव प्रचरिताः । दिवादिलोके चाग्नेः समवायिकारणमीश्वरेण रचितं तदेवानूकपदवाच्यम् । एतदभिप्रेत्यैव महाभाष्यकारेणोक्तम् " तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्य्यग्गच्छति ना

र्वागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः । ,, स्थानेन्तरतम इत्यस्योपरिकथनमिदम् । अधोदेशे पृथिव्यां चाग्नेरन्ननिष्पादिका शक्तिरीश्वरेण धृताऽतएव पृथिव्यां सर्वं मनुष्यादीनां भक्ष्यमुत्पद्यते । ब्रह्माण्डस्य मध्यस्थेऽन्तरिक्षे चास्याग्नेर्मध्यमा शक्ती रचिता तस्मादेव मध्यमे ब्रह्मावर्त्तादिप्रदेशे शीतोष्णादीनां प्रायेण साम्यान्मध्यवर्णा मनुष्या दृश्यन्ते शीतोष्णादितारतम्यव्यवस्थापनाय प्राच्यादिदिशां कल्पनमुष्णशीतयोर्यत्र सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन समाना प्रवृत्तिर्दृश्येत ततएव न्याय्या दिक्कल्पना तच्चैतत्कथयता "अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य,, सूचितम् । ब्रह्मावर्त्ते च सर्वापेक्षया शीतोष्णसाम्यं प्रतीयते। स्वभावेन सर्गारम्भादेव यथा जगत्यग्निर्व्याप्तस्तथैवात्रावयवकल्पनया स्वाभाविकी व्याप्तिर्मन्त्रद्वयेन प्रदर्शिता बोध्या । अनेन चायमप्याशयो निस्सार्य्यएवास्ति यथेश्वरेण पञ्चतत्त्वात्मकं सर्वं समस्तं व्यस्तं च निर्मितं तस्मिन्नेवैकोऽग्निर्भक्षकः कृतस्तत्र स्वभावेनैवाग्नौ सर्वं हूयते । व्याप्तेनाग्निनैव च सर्वं प्रकारान्तरापन्नं दृश्यते । भुक्तं पक्वमन्नं जाठराग्निना पुनः पच्यमानं दृश्यते, ओषधिफलानि चोष्मणैव पच्यन्ते । सूपौदनशाकादींश्च मनुष्या अग्निनैव पक्त्वा भुञ्जते पृथिव्यां पतितं च तृणादिकं पार्थिवाग्निनैव प्रकारान्तरमापद्यते । एवं सर्वत्रैव पञ्चतत्त्वात्मके जगत्यग्निर्भक्षकोऽन्यच्च सर्वं भक्ष्यं भक्षणस्य च प्रकारान्तरापत्तिप्रयोजनप्राधान्यादवगन्तव्यमिदमित्थमिति । तथा स्वभावेनैवाग्निर्भोक्ताऽन्यच्च भोज्यं सर्वं निर्मितं यथा सति पित्तप्राबल्ये भोजनकामादिकाः सर्वाः शरीरस्था भोक्तृशक्तय आविर्भूता दृश्यन्ते मान्द्ये च पित्तस्य न

किमपि भोक्तुं शक्नोत्येवं सर्वत्रैवाग्निर्भोक्ताऽस्ति सूर्याग्निः स्वकिरणरूपहस्तैः पृथिवीस्थमुदकादिकं प्रत्यहं भुङ्क्ते तेन सर्वं शुष्यति। तस्मादेव पाञ्चभौतिकं घृतमिष्टादिपञ्चविधं हव्यद्रव्यं पञ्चीकृता भिः सूर्यरश्मिभिरिव पञ्चभिः स्वहस्ताङ्गुलिभिर्दर्वीमादाय स्थाल्य पक्तव्यं पक्वं च तथैव निस्सार्य च स पञ्चविध ओदनोऽग्नेर्भक्ष्योऽग्नौ होतव्यएतच्च ध्येयं यथायथा पूर्वादिदिक्षु परमेश्वरेण यादृश्यग्न्यादिदेवतानां स्थितीरक्षिता तथैव ममापि हव्यं तारतम्येन तस्यैतस्यै देवतायै यथास्वं प्राप्नोतु तेन च पूर्वादिस्थाग्निना तथैव मम सुखं वर्द्धतामित्याशयेन स्वभावप्राप्तो होमः कार्यएव ये च स्वाभाविकभोक्तृभोग्यादिविचारं वेदसिद्धान्तं तिरस्कृत्य स्वस्य जाठराग्निमेव भोक्तारं मत्वा भुञ्जते यज्ञांश्च त्यजन्ति तेषां प्राणानेव कुपिता अग्नयोऽत्तुमिच्छन्ति । यथा दुर्गन्धादिना कुपितो वायुः प्रबलरोगादिशस्त्रैर्हन्तुं प्रवर्त्तते तच्च महदनिष्टम् । तस्मादनिष्टं जिहासुभिरिष्टमीप्सुभिश्च मनुष्यैर्वेदोक्तो यज्ञः कार्यइत्यतिसमासेन मन्त्रद्वयस्य तात्पर्यं बोध्यम् ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व (एष वा०) यह मन्त्र लिख चुके हैं जिस का स्पष्ट अक्षरार्थ यह है कि " यही अपरिमित—असीम व्याप्त यज्ञ है जो अज नामक पञ्चौदन है " इस मन्त्र में निश्चयार्थ वैशब्द के पढ़ने से विचारशीलों को यह ठीक सत्य मान लेना चाहिये कि अज और पञ्चौदन का व्याप्त अपरिमित यज्ञ नाम पूजनीय प्रशंसा के योग्य कोई वाच्यार्थ वस्तु लेना मन्त्रकार ईश्वर को भी अवश्य इष्ट है । और वह अजपञ्चौदन शब्द का वाच्यार्थ उसी (अथर्व० ९। ५। १७) में स्पष्ट ही अग्नि कहा है । क्योंकि वहां १६ और १८ दोनों पूर्व पर मन्त्रों में अजका वर्णन है केवल १७ वें मन्त्र में अग्नि शब्द से वर्णन किया है। तथा अथर्ववेद काण्ड ९ के पांचवें अनुवाक के आरम्भ से अन्त तक केवल प्रकरणबद्ध अज का वर्णन ३८ अड़तीशों मन्त्रों में बराबर चला गया है इस कारण इसी

अथर्व के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि अज पञ्चौदन का वाच्यार्थ सर्वव्याप्त अग्नि है। तथा यजु० अ० २३ मं० १७ में और भी स्पष्ट लिखा है कि (अग्निः पशु०) अग्नि पशु है उस से यज्ञ करते वायु पशु है उस से यज्ञ करते और सूर्य पशु है उस से यज्ञ करते हैं अर्थात् अग्नि आदि तीन देवता वेद में प्रधान हैं जहां २ वेद में अज वा अश्व आदि पशु वाचक शब्दों से यज्ञ करना कहा है वहां २ अग्नि आदि को पशु रूप मानना चाहिये और उन्हीं के अङ्गों की कल्पना ब्रह्माण्ड भर में कर लेनी चाहिये जिस से ब्रह्माण्डभर में अग्नि आदि पशु व्याप्त होकर किस २ अंश से क्या २ काम कर रहे हैं ऐसी पशुरूप कल्पना से सब ब्रह्माण्ड का हाल विद्या सम्बन्धी शीघ्र समझ में आ सकता है। इत्यादि विचार के अनुसार पूर्वोक्त दो मन्त्रों में पशु रूप से अग्नि का वर्णन कहा है—जैसे—

हे परमात्मन्! (पञ्चधैतमोदनम्) पृथिव्यादि पांच नाम वा प्रकारों से भिन्न २ विभक्त इस प्रत्यक्ष पंचतत्त्वरूप ओदन नाम जल के सम्बन्ध वा व्याप्ति से गीले भक्ष्य दशा को प्राप्त वस्तुमात्र कि जो (पञ्चौदनम्) सब का सब में प्रवेश होने से प्रत्येक पञ्चीकरण को प्राप्त [अर्थात् पञ्चीकरण इस को कहते हैं जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म भृगुभरद्वाजसंवाद प्रकरण में लिखा है—

त्वक् च मांसं तथाऽस्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्। इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥ १ ॥ तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च। अग्निर्जरयते यच्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥२॥ श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च। आकाशात्प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥३॥ श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च। इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥४॥ प्राणात्प्रणयते प्राणी व्यानाद्व्यायच्छते तथा। गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ ५ ॥ उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते। इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मनुष्य का शरीर पृथिवी तत्त्व प्रधान होने से पार्थिव माना जाता है तथापि पांचो तत्त्व पांच २ प्रकार से शरीर में रह कर सब काम दे रहे हैं।

त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और नसें ये पांचों पृथिवीप्रधान पांच अंश प्रत्येक शरीर में हैं । तथा शरीर में जो कान्ति चमक प्रतीत होती, क्रोध उठता, चक्षु की ज्योति, गर्मी जो छूने से ज्ञात होती और उदर में खाया पिया जिस के द्वारा पचता है यह पांच प्रकार से अग्नि प्रत्येक शरीर में व्याप्त होकर काम दे रहा है । कान, नासिका, मुख, हृदय, और आमाशय पक्वाशय आदि जो कोठा के समान बने हुए हैं इन सब में भीतर अवकाश पोल होने और बाहर को छिद्र होने से ही ये पांचो आकाशरूप से शरीर का काम दे रहे हैं । तथा श्लेष्मा नाम कफ, पित्त जो पीला २ पानी कभी वमन द्वारा निकलता है, स्वेद-पसीना, वसा, और लोहू ये जल पांच प्रकार से शरीर का धारण करते हैं । तथा जिस से ऊपर को चेष्टा करते जीवित रहते हैं वह प्राण, तथा व्यान से हाथ पांव आदि को फैला सकते, नीचे को क्रिया वा मूत्र प्रस्राव आदि जिस से होता वह अपान, और जिस से ठहरता वा उठ जाता गिरने आदि से गिरते २ बच जाता है बीच में ठहर सकता वा कुम्भक प्राणायाम कर सकता है वह समान और जिस से ऊपर को श्वास लेता तथा बोल सकता है वह उदान कहाता है इन पांच रूपों से वायु शरीर में चेष्टा कराता है । ये पांचो तत्व शरीरादि प्रत्येक पदार्थ में पांच २ प्रकार से व्याप्त होकर सब संसार को २५ पच्चीस प्रकारों से चलाते वा स्वयं सब पचंपचीस हो जाते हैं । चाहे यों कहो कि पार्थिव आकाश पार्थिव वायु पार्थिव अग्नि, पार्थिव जल और स्वयं पृथिवी जैसे यह पांच प्रकार की पृथिवी है वैसे ही शुद्ध आकाश में पार्थिव आप्य, तैजस परमाणु रहते वायु तो मुख्य कर आकाश में रहता ही है इस से आकाश भी पांच प्रकार का होता ऐसे ही अन्य वायु आदि भी पांच २ प्रकार के हो जाते हैं यही पञ्चीकरण कहाता है] पच्चीस प्रकार के परस्पर मिले हुए पञ्च तत्वरूप पञ्चौदन को (पञ्चभिरङ्गुलीभिः) उस २ पार्थिवादि पदार्थ में पञ्चीकरण को प्राप्त पांच प्रकार की अग्नि की तेजरूप किरणों के साथ में वर्त्तमान (दर्व्या) विदीर्ण करने वाली तैजस शक्ति जो ग्रीष्म ऋतु विशेष वा सामान्य मध्याह्न की उष्णता है उस से (उद्धर) ऊपर को जलादि पहुंचा तथा वर्षा कराके उद्धार कर । इस कार्य की यथोचित सिद्धि के लिये (प्राच्यां दिशि शिरोऽजस्य धेहि) अन्धकार को फेंकने वा हटाने वाले अज नामक सूर्याग्नि का शिर नाम प्रधानांश प्रधान

शक्ति पूर्व दिशा में धारण कर अर्थात् जहां प्रकाशक सूर्याग्नि की शक्ति प्रधानता से रहती वह पूर्व दिशा हो वा है और (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं धेहि) दक्षिणदिशा में उस अग्नि का दक्षिण पार्श्व अर्थात् द्वितीय कक्षा की शक्ति धारण कर जैसे पूर्व को मुख करके खड़े हुए पशु आदि का दहिना पार्श्व दक्षिण दिशा में होता ही है (प्रतीच्यां दिश्यस्य भसदं धेहि) पश्चिम दिशा में इस अग्नि के अन्धकार को फेंकने के सामर्थ्य को धारण कीजिये जैसे पूर्वाभिमुख पशु पूंछ द्वारा पश्चिम में अपने प्रतिकूल को झाड़ता फेंकता वा गोबर आदि अनिष्ट मल को पश्चिम में निकालता वैसे अग्नि का मुखरूप सूर्य पूर्व में उदित हुआ अपने किरणरूप पूंछसे अन्धकारको पश्चिम २ की ओर बराबर फेंकता जाता है [स्मरण रहे कि यह भसद् शब्द लोक में गुदा इन्द्रिय का वाचक माना जाता है और मांसभोजनविचाराचार्य ने लिखा है कि " (भसदम्) जघनमांस सिद्धभात को " भस भर्त्सने धातु से यह शब्द बनता है जिस का सामान्यार्थ यही है कि जिस के द्वारा अनिष्टमल अन्धकारादि को निकाला दूर किया जाय फेंक दिया जाय । इस वेदानुकूल सामान्य यौगिकार्थ से गुदा का नाम भी बन सकता है क्योंकि उस इन्द्रिय के द्वारा अनिष्ट मल निकाल दिया जाता है और शोचने से यह भी प्रतीत होता है कि ऐसे ही वेद में कहे भसद् शब्द के अर्थ को समझ कर पाणिनिआचार्यने भस भर्त्सने धातु की कल्पना की होगी इस को पाठक लोग शोचलें कि कौन अर्थ अच्छा है] (उत्तरस्यां दिश्युत्तरं पार्श्वं धेहि) तथा उत्तर दिशा में अज नामक अग्नि का वाम भाग वा चौथी कक्षा का सामर्थ्य रखिये । और न्यायानुकूल भी पूर्वाभिमुख मनुष्यादि का उत्तर में वाम भाग रहता ही है [इस का विचार प्रत्येक मनुष्य के शरीर में किया जाय तो मनुष्य अपने सम्मुख भाग को प्रथमकक्षा में दहिने भाग को द्वितीयकक्षा में तथा पीठ के भाग को तृतीय कक्षा में और वाम भाग को चतुर्थकक्षा में मानता ही है अर्थात् जब ऊपर से नीचे को चलें तो मुख को सर्वोत्तम और पगों को सब से निकृष्ट शरीर का भाग प्रत्येक मानता है पर यदि बेंडी परिक्रमा दशा को विचार के देखें तो पूर्वोक्त प्रकार उत्तम मध्यम निकृष्ट माना जाता है। प्रत्येक मनुष्य बांये हाथ से मल मूत्रादि धोता है इस से वाम हाथ शरीर के मध्य भाग में सब से निकृष्ट माना जाता है इसी लिये मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि अग्निहोत्रादि यज्ञों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा पूज्य गुरु आदि के सामने और

राजसभादि में दहिने हाथ से काम लेवे बांयें हाथ से कोई संकेत करने से भी श्रेष्ठ काम वा मान्य पुरुषों का अनादर होता है इस से सिद्ध है कि वेंड़ी दशा में प्रत्येक वस्तु का वाम भाग चौथी कक्षा में है (ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि) ऊपर की दिशा में अजनामक अग्नि का अनूक नाम उपादान [समवायि] कारण को धारण कीजिये अर्थात् ऊपर द्युलोक में परमेश्वर ने अग्नि का उपादान कारण रक्खा है इसी से अग्नि की ज्योति ऊपर को ही जलती और अग्नि ऊर्ध्वज्वलन कहाता है। और "उच समवाये" धातु से अनूक शब्द बनता है वा यों कहो कि अनूकादि वेद के शब्दार्थों को समझ कर ही पाणिनि ने उच समवाये धातु की कल्पना की है (ध्रुवायां दिशि पाजस्यं धेहि) ध्रुव नाम नीचे पृथिवी सम्बन्धिनी दिशा में अग्नि की पाजस् नाम अन्न को उत्पन्न करने की शक्ति को धारण करिये वा ईश्वर ने पृथिवीस्थ ओषध्यादि में अन्नोत्पत्ति के लिये अग्नि को स्थापित किया है। सो वेद के मन्त्र में अन्यत्र स्पष्ट लिखा भी है कि (गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्०) अग्नि ओषधि वनस्पत्यादि का गर्भ नाम उन में व्याप्त है । पृथिवी और मनुष्यादि के शरीरों में व्याप्त हुआ ही अग्नि सब का भक्षण करता और पकाता है (अस्य मध्यं मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि) इस अन्धकार को दूर करने वाले सूर्याग्नि का मध्यभाग ब्रह्माण्ड के मध्य अन्तरिक्ष में धारण कीजिये ॥

भा०-जैसे व्याकरण के सूत्रों में लिङ्ग वचन जो पढ़े हैं वे ठीक नियत नहीं माने जाते किन्तु प्रकरण तथा ग्रन्थ की ठीक संगति लगाने के लिये यथोचित लिङ्गवचनादि का परिवर्त्तन कर लिया जाता है वैसे ही (व्यत्ययो बहुलम्) सूत्र से पुरुष तथा वचनादि का व्यत्यय दिखाते हुए पाणिनि ने वेद में भी पुरुषादि का व्यत्यय स्पष्ट सूचित किया है। तदनुसार यहां "धेहि" इस क्रियापद को मध्यम पुरुष में बद्ध मत समझो किन्तु परमेश्वर ने अग्नि का प्रधानाङ्ग पूर्व दिशा में सृष्टि के आरम्भ से ही धारण किया धारण करता है वा धारण करेगा इत्यादि सभी अर्थ ठीक संघटित हो सकता है । परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्याप्त अग्नि रचा और उस का प्रधानांश पूर्व दिशा में रक्खा । जैसे मनुष्यादि प्राणियों के शिर में जितना वा जैसा ज्ञान का प्रकाश होता है वैसा शरीर के अन्य अवयवों में नहीं इसी से शिर के किसी चक्षुआदि भाग में पीड़ा वा चोट अधिक व्यापती उतनी पीड़ा वा चोट अन्य गोड़ आदि में लगे तो वैसा

वा चलना कष्ट नहीं होता और सुख प्रतीत होने के लिये भी शिर में ही सब से अधिक सामान प्रत्यक्ष विद्यमान है। वैसे ही इस जगत् भर में अग्नि के शिर रूप सूर्य का प्रधान प्रकाश पूर्व दिशा में सदा स्थित रहता है। इसी प्रधानता को मान कर (प्राची दिगग्निरधिपतिः०) इस अथर्व के अन्य मन्त्र में पूर्वदिशा का अधिपति अग्नि को कहा है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा की प्रबलता ईश्वर ने रक्खी है इसी कारण पश्चिम और उत्तर दिशाओं की अपेक्षा दक्षिण प्रान्तों में अग्नि की ऊष्मा अधिक है। इसी से लङ्कादि देशों में मनुष्यादि अधिक काले होते प्रत्यक्ष दीखते हैं। जहां २ जितनी शीत की अधिकता होती वहां २ वैसी ही न्यून २ गर्मी होती है। सब की अपेक्षा उत्तरकुरु नाम यूरोप वा रूस आदि के किन्हीं भागों में जो भारतवर्ष से उत्तर में पड़ते हैं उन में शीत की अधिकता और सर्वोपरि गर्मी की न्यूनता है इसी से वहां के निवासी सब की अपेक्षा अत्यन्त गोरे होते हैं। और काबुल कन्धारादि पश्चिम प्रान्तों में उत्तर की अपेक्षा शीत कम होता और गर्मी अधिक होती इसी से काबिली आदि मनुष्य द्वितीय कक्षा में गोरे होते हैं। वा इस विचार को जब हम केवल आर्यावर्त्त में फैला कर देखें तो उत्तर के पहाड़ी सब से अधिक गोरे उन से नीचे द्वितीय कक्षा में पञ्जावी और तृतीय कक्षा में मुम्बई प्रान्त के दक्षिणी गोरे और बंगाली सब से अधिक काले होते हैं क्योंकि पश्चिम दक्षिण प्रान्तों में शीत न्यून और उष्णता अधिक है और उस से भी पूर्व प्रान्तों में शीत की न्यूनता और गर्मी की अधिकता है इसी से बंगाले के मनुष्यों में कालापन अधिक है और वहां के निवासी अधिकांश काले होने से ही अपने तुल्य काली की उपासना करते और काला वर्ण उत्पन्न करने वाले शाकभाजी आदि को स्वभाव से ही अधिक खाते हैं। इत्यादि प्रत्यक्ष विचार के देखने से भी वेद में कहे अनुसार चारों दिशा में अग्नि की चार प्रकार की व्याप्ति स्पष्ट दीखती है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा है उसी का नाम इन्द्र है जो साक्षात् प्रसिद्ध अग्नि की अपेक्षा सूक्ष्म विद्युत् नाम से सर्वत्र व्याप्त अग्नि है। दक्षिण में उस की प्रधानता होने से ही अथर्व के (दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) इस मन्त्र में दक्षिण का अधिपति इन्द्र कहा गया है। तथा पश्चिम दिशा में तीसरी कक्षा का अग्नि है और दो अंशों में जल की अधिकता वा प्रधानता है इसी कारण पश्चिम से पूर्व को अ-

धिकांश नदियां निकल २ कर वहती हैं क्योंकि पश्चिम में जल की खानें हैं वहीं से निरन्तर जल निकलने पर भी चुकता नहीं जल की खानों का ही ना वरुण वा वरुणलोक है इसी लिये इस अथर्व के (प्रतीचीदिग्वरुणोऽधिपतिः इस अत्यमन्त्र में पश्चिम दिशा का अधिपति वरुण कहा गया है । तथा उत्त दिशा में चौथी कक्षा का अग्नि है इसी से सूर्य के दक्षिणायन होने पर उत्त के किसी २ प्रदेश में छः महिनें तक रात्रि ही रहती है और उत्तरायण में छ महिनों तक दिन रहता है इसी को दैव अहोरात्र कहते हैं । और वहां अग्नि की अप्रधानता होने से ही सोमशक्ति की तिगुणी अधिक प्रधानता रहती व होती है इसी से वहां के स्त्री पुरुषादि प्रायः चन्द्रमुख होते हैं इसी लिये अ- थर्व के इस (उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः) मन्त्र में उत्तर दिशा का अधिपति सो म को कहा है । और विवाहादि मङ्गल कार्यों में इसी क्रम से परिक्रमा करने का प्रचार लोक में वेद का आशय लेकर प्रचरित हुआ है । इस से अग्नि की परिक्रमा करते समय यह अभिप्राय रक्खा जाता वा रखना चाहिये कि हम उन दिशाओं से अग्नि आदि देवताओं के उन २ वा वैसे २ शुद्ध अंशों द्वारा वैसी अपनी सुखोन्नति चाहते हैं । वेदोक्त सब देवताओं में अग्नि प्रधान है इस कारण पूर्व दक्षिणादिक्रम से परिक्रमा की जाती है । और दिव् लोक में परमेश्वर ने अग्नि का समवायिकारण वा उपादान कारण नियत वा स्थापित किया है उसी उपादान का नाम अनूक है । इसी अभिप्राय को लेकर व्याकरण महाभाष्यकार ने (स्थानेऽन्तरतमः) सूत्र पर लिखा है कि "द्युलोकस्य ज्योति नाम तेज का विकार पार्थिव अग्नि की ज्वाला है, जहां वायु न चलता हो ऐसे अवकाश में जलते हुए उस अग्नि की ज्वाला तिर्छी वा नीचे को नहीं चलती किन्तु द्यु- लोकस्य अग्निज्योति का विकार नाम कार्य होने से ऊपर को ही उठती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही अपने उपादान कारण की ओर आकर्षित होता है । उपादान उपादेय का सदा आन्तर्य सम्बन्ध रहता है [हमारे पा- ठकों को ध्यान होगा कि मांसोपदेशक जीने इसी अनूक शब्द का अर्थ "वंक्री वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को " किया है जिस में कोई प्रमाण नहीं] और नीचे पृथिवीरूप अधोदिशा में अग्नि की अन्नोत्पादिका शक्ति नि- यत की है इसी लिये पृथिवी में सब मनुष्य पश्वादि प्राणियों का भक्ष्य उ- त्पन्न होता है। इसी अन्नोत्पादक अग्नि के सामर्थ्य का नाम मन्त्र में पाजस

है । तथा ब्रह्माण्ड के मध्यस्थ अन्तरिक्ष में अग्नि का मध्यम सामर्थ्य रक्खा है चाहे यों कहो वा मानो कि ब्रह्माण्ड के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की समता है वही मध्य अन्तरिक्ष है । और इसी प्रकार पृथिवी के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की अधिक समता हो वह पृथिवी का भी प्रदेश अग्नि का मध्यस्थान माना जायगा इस लिये वहीं से पूर्वादिदिशाओं की कल्पना का आरम्भ किया जायगा वैसे तो सापेक्ष होने से सर्वत्र ही सब पूर्वादि दिशा हो सकती हैं । और भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त्त नामक प्रदेश में शीतोष्ण की अधिकांश समता दीखती है क्योंकि यहां की अपेक्षा पृथिवी के अन्य सब प्रान्तों में कहीं शीत कहीं उष्णता अधिक है इसी से ब्रह्मावर्त्त के निवासी मनुष्यादि प्रायः मध्यम वर्ण वाले होते हैं इस लिये पृथिवी पर पूर्वादि दिशाओं की कल्पना सदा ब्रह्मावर्त्त से करनी चाहिये यह अभिप्राय (अन्तरिक्षे मध्यतो०) इत्यादि कथन से जताया गया है । सृष्टि के आरम्भ से ही स्वभाव के साथ जगत् में जिस प्रकार अग्नि व्याप्त हुआ है वैसी ही यहां अवयवकल्पना के साथ स्वाभाविक अग्नि की व्याप्ति दो मन्त्रों से सब दिशाओं में दिखायी है ॥

और इन मन्त्रों में किये गये व्याख्यान से यह भी आशय निकालना मानना और स्वीकार करना अवश्य ही चाहिये कि जैसे पञ्चतत्वात्मक सब वस्तु परमेश्वर ने परस्पर मिला हुआ तथा भिन्न २ बनाया है उस सब में एक अग्नि सर्वत्र भक्षक किया है। उस अग्नि में स्वभाव से ही सब कुछ भस्म होता है । सर्वत्र व्याप्त अग्नि से ही सब पदार्थों का रूपान्तर होता दीखता है । जैसे ओषधियों का दाना रूप अन्न सूर्य वा पार्थिव अग्नि से ही पकता, पश्चात् दाल भात शाक आटादि को भी प्रत्यक्ष अग्नि से ही मनुष्य पकाते नाम प्रकारान्तर का बनाते और पकाया अन्न खाने पर भी फिर पेट के जाठराग्नि से ही पकता है पृथिवी में गिरे मनुष्यादि के शरीरादि वा घास तृणादि सब पार्थिव अग्नि से ही रूपान्तर को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि रूपान्तर बननाही खाना है होम यज्ञ द्वारा भी अग्नि ही सब घृतादि पदार्थों का रूपान्तर शीघ्र कर देता वा खाजाता है इस प्रकार सब पञ्च तत्व से बने संसार में एक अग्नि ही सर्वत्र भक्षक और अन्य सब भक्ष्य है । क्योंकि खाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि उसका रूपान्तर बना हुआ रुधिरादि हमारी शरीरयात्रा का हेतु हो और रूपान्तर हुआ मल निकल जाया करे । तथा स्वभाव से अग्नि ही भोक्ता और अन्य सब वस्तु भोज्य बनाया गया है । क्योंकि

शरीर में पित्त के प्रबल होने पर ही भोजन और कामासक्तिरूप भोगने की शक्तियां प्रकट होतीं दीखती हैं इसी लिये शरीरस्थ पित्ताग्नि के मन्द होने पर कुछ भी भोग नहीं कर सकता इस से अग्नि ही सर्वत्र भोक्ता है । सूर्याग्नि अपने किरणरूप हाथों से पृथिवीस्थ जलादि वस्तुओं को प्रतिदिन खाता वा भोगता है इसी से सब वस्तु शुष्क होते रहते हैं । इस कारण अग्नि के सर्वत्र भोक्ता होने से ही घी, मीठा, पुष्टिकारक तिलादि सुगन्धि प्रधान लवङ्गादि और रोगनाशक सोम ओषध्यादि इन पांच प्रकार के पाञ्चभौतिक होमने योग्य वस्तुओं को पञ्चीकरण को प्राप्त सूर्य की किरणों के समान एक दूसरी से मिली हुई अपने हाथ की पांचों अङ्गुलियों से कर्छी लेकर बटलोई में पकाना वा इकट्ठे कर कूट कतर छील बनाकर थाली में पांच अंगुलियों सहित हाथ से मिलाकर अग्नि में आहुति करनी चाहिये । इस दशा में पञ्चौदनादि का अर्थ यह होगा कि पांच प्रकार का पाञ्चभौतिक ओदन नाम अग्नि का भक्ष्य पदार्थ पांचों अङ्गुलियों को मिलाकर पकाना बटलोई से निकालना और पांचों ही अङ्गुलियों को एकत्र मिलाकर आहुति करनी चाहिये । और होम करते समय वेद के गूढ़ाशय को शोचते ध्यान रखते हुए परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि परमेश्वर ने पूर्वादि दिशाओं में अग्न्यादि देवताओं की जिस २ प्रकार जैसी २ स्थिति नियत की है वैसे ही मेरा भी हविष्य पदार्थ उस २ दिशा के उस २ देवता को न्यूनाधिक भाव से यथायोग्य अपना २ भाग प्राप्त हो और उस होम द्वारा पूर्वादि दिशास्थ अग्नि आदि देवता से वैसी ही मेरे लिये सुख की वृद्धि हो इस अभिप्राय को लेकर स्वभाव सिद्ध यज्ञ अवश्य करना चाहिये [यहां पञ्चाङ्गुलि शब्द का यह प्रयोजन रहेगा कि पांचो अङ्गुलियों को मिलाकर पकाना बनाना वा आहुति करना आदि जैसा ठीक अच्छा हो सकता है वैसा थोड़ी अङ्गुलियों से चमसा पकड़ना आदि अच्छा नहीं हो सकता इस लिये पांचो अङ्गुलियां मिलाकर काम करना चाहिये] जो लोग स्वाभाविक भोक्ता भोग्यादि के विचारयुक्त वेद के सिद्धान्त का अनादर कर के अपने पेट के जाठराग्नि को ही भोक्ता मान कर भोजन करते और यज्ञ कर्म का त्याग करते हैं उन के प्राणों को ही कुपित हुए अग्नि खाना चाहते हैं । जैसे दुर्गन्धादि के अधिक फैलने से कुपित हुआ वायु प्रबल रोगादि रूप शस्त्रों से मनुष्यों का नाश करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है वैसे दुर्गन्धादि के बढ़ने से अग्नि का भी कोप होता है चाहे इसी

को वातपित्त कफ का कोप कहो तो भी ठीक है । सो अग्नि वायु आदि का कुपित होना प्राणियों के लिये बड़ा अनिष्ट है इस से अनिष्ट को छोड़ने और इष्ट को प्राप्त होने की इच्छा वाले मनुष्यों को वेदोक्त यज्ञ उक्त अभिप्राय से अवश्य करना चाहिये यह दो मन्त्रों का संक्षेप से आशय लिखा गया है ॥

इस से आगे मांसभोजन भा० ३ के पृ० १०० में (शृतमजं०) इत्यादि एक मन्त्र लिखा है जिस का अर्थ मांसोपदेशक ने यह किया है कि—

"उतारे, वा उत्पाटन किये, खाल से, सब अवयवों से, भली भांति धारण किये हुए, विचित्र रूप वाले पकाये हुए, बकरा को खिलावो वा खावो, वह तू कल्याण युक्त सर्वोत्कृष्ट सुख के और उठ, चार ज्ञान साधनों से सब दिशाओं में विराजमान हो" यह ज्यों का त्यों अक्षरार्थ पाठकों के अवलोकनार्थ हमने लिख दिया है । संस्कृत पढ़े हुए सब जानते हैं कि श्रा पके, धातु से शृत शब्द बनता है जिस का अर्थ पकाया हुआ होना चाहिये । इसी शृतशब्द का अर्थ मांसोपदेशक जीने" उतारे वा उत्पाटन किये" किया है । तथा खाल से और सब अवयवों से कौन किस को भली भांति धारण करे ? । क्या यह अभिप्राय तो नहीं है कि मारे हुए बकरा की खाल उतार कर मारने वाला वा मांसाहारी ओढ़ लेवे और उस के गोड़े आदि सब उठाकर शिर पर धर लेवे ? । खिलावो वा खावो यह किस का अर्थ है ? क्या "प्रोर्णुहि" क्रिया का खाना अर्थ कहीं होता है ? तथा मांसोपदेशक जी उठाते किस को हैं क्या मरे बकरे को वा मारने वाले को ? क्या मरा बकरा फिर से उठ सकता है ? यदि मारने वाले को उठाते हो तो क्या बिना उठाये वह न उठेगा वहीं बैठा रहेगा ? और किस प्रयोजन से उठाते हो ? इत्यादि अनेक सन्देहों से इन का अर्थ पूरित हो रहा है और ध्यान देने से ठीक२ ऊटपटांग असंबद्ध प्रतीत हो जायगा । और मन्त्रस्थ पदों से कुछ भी संघटित नहीं होता ऐसे ही लोगों ने वेद को तुच्छ ठहरवा दिया पर ध्यान रहे कि यह वेद का दोष नहीं है किन्तु इन्हीं क्षुद्राशय लोगों का दोष है । अब हम उस मन्त्र का अर्थ पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं—

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम् । स उत्तिष्ठेतोऽभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु ॥ १ ॥ अथर्ववेदे ४ । १४ । ९ ॥

अ०-हे मनुष्य ! त्वं शृतया पक्वया त्वचा संवरणेन शृतं पक्वमजं तमसः क्षेप्तारमग्निं प्रोर्णुह्याच्छादय किं भूतमजं सर्वैरङ्गैर्होमसाधनैः संभृतं विश्वरूपं सर्ववस्तुषु तत्तद्रूपेण व्याप्तम् । सोऽग्निरुत्तमं नाकं द्युलोकमभिलक्ष्येत उत्तिष्ठोत्तिष्ठेत्, चतुर्भिः पद्भिर्भागैश्च चतसृषु पूर्वादिदिक्षु यथाभागं प्रधानाप्रधानावयवैः प्रतितिष्ठ प्रतिष्ठितो भवतु ॥

भा०मनुष्येण पक्वः शुद्धो दीप्तोऽग्निर्होमाय कुण्डे वेद्यां वाऽऽधातव्यो नतु धूमभस्मादियुतः स शुद्धैः पक्वैरेव काष्ठैः स्वयं शुष्कैराच्छाद्यो नत्वार्द्रैश्छिन्नैरिति । काष्ठान्यपि स्वयं शुष्काणि वृक्षेभ्यो यज्ञायाहर्त्तव्यानि नत्वार्द्राणि तान्येव सर्वतो धृत्वाऽग्निराच्छाद्यस्तानि चाग्नेरावरणार्थात्त्वक्पदवाच्यानि भवन्ति । सम्यक् परिणतं सर्वं वस्तु पक्वमुच्यते । पक्वदशैव सर्वस्योत्तमा परिगण्यतएवमग्नेः काष्ठानामप्युत्तमा दशाऽत्र शृतपदवाच्या प्रत्येतव्या । त्वक्पदस्य च सामान्यो यौगिकार्थः संवरणमेवास्ति शृतं शृतया प्रोर्णुहीति पठता यादृशेन तादृशस्यसर्वत्रैव सम्बन्धः साधुरिति सूचितम् । सर्वैरेव चाङ्गैर्यज्ञसाधनैः कृतेन सर्वव्याप्तस्य तत्तद्वस्तुनि तत्तद्रूपेणावस्थितस्याग्नेर्यज्ञेन संभरणं सम्यक्त्वेन सुखहेतुत्वसम्पादनं कार्यम् । देहादिस्थोऽग्निर्यज्ञेनैव सुखहेतुः सम्पद्यतइति यावत् । तथा च सति प्रधानजीवनहेतुनोत्तमकक्षास्थेन प्राणाद्यग्निना यजमानोऽपि सुखं जीवति ॥

भाषार्थः-हे मनुष्य ! तू (शृतया त्वचा शृतमजं प्रोर्णुहि) पके शुद्ध अग्नि का आच्छादन करने वाली समिधाओं से शुद्ध धूम रहित अन्धकार के नाशक अग्नि को आच्छादित कर । वह अग्नि कैसा हो कि (सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्)

यज्ञ के सब ठीक २ साधनों से सम्यक् धारण वा ठीक किया गया हो [वास्तव में सब अङ्गों के ठीक होने पर ही प्रत्येक वस्तु वा कार्य अपनी ठीक उत्तम दशा में पुष्ट कहाता है अर्थात् संभरण नाम पोषण का यही अर्थ है कि वह साङ्गोपाङ्ग हो] और वह अग्नि प्रत्येक पदार्थ में उसी २ के रूप से व्याप्त है (स उत्तमं नाकमस्युत्तिष्ठ) वह ऐसा अग्नि अन्धकार वा अज्ञान दुःख रहित उत्तम द्युलोक की ओर को उठे वा उठता है अर्थात् उस की ज्वाला ऊपर द्युलोक की ओर को सीधी उठती है और (चतुर्भिः पद्भिर्दिक्षु प्रतितिष्ठ) चार भागों में भिन्न २ प्रकार से विभक्त हुआ वह अग्नि पूर्वादि चार दिशाओं में [प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि] इत्यादि पूर्व कथनानुसार स्थित होता वा रहता है। अर्थात् यज्ञ द्वारा प्रबलता को प्राप्त हुआ साक्षात् अग्नि अपने संबन्धी सर्वदिग्व्याप्त अग्नि को ठीक मनुष्यादि के अनुकूल बनाता है ॥

भा०—मनुष्य को चाहिये कि कुण्ड वा वेदि में होम के लिये शुद्ध प्रदीप्त अग्नि का स्थापन करे किन्तु राख वा धूमादि से युक्त अग्नि का आधान न करे। और उस अग्नि के ऊपर नीचे इधर उधर पके शुद्ध स्वयं सूखे वृक्षों से तोड़े हुए काष्ठ लगाकर अग्नि का आच्छादन करे किन्तु गीली काटी हुई लकड़ियों से नहीं। स्वयं सूखी ही समिधा ठीक पकी होती हैं। इस लिये समिधा भी वृक्षों से स्वयं सूखी ही तोड़ तुड़ाके लानी चाहिये किन्तु गीली तोड़कर सुखाई न होवें समिधा अग्नि को ढांपने आच्छादित करने वाली होने से अग्नि की त्वच् कहाती क्योंकि आच्छादन करने वाले सामान्य वस्तु का वेद में त्वच् नाम है। और ठीक अच्छी दशा में आजाना ही उस २ वस्तु का सम्यक् हो जाना माना जाता है इस से सब की परिपक्व दशा ही उत्तम गिनी जाती है वैसे अग्नि और समिधाओं की उत्तम दशा ही यहां शृत पद का अर्थ लेना जानो। "पके को पकी से आच्छादित करो" इस कहने से ईश्वर ने जैसे के साथ तैसे का ही सम्बन्ध करना उत्तम है यह सूचित किया है। उस २ वस्तु में उसी २ के रूप से व्याप्त अग्नि को यज्ञ के सब अच्छे साधनाङ्गों से किये यज्ञ से अच्छे प्रकार सुख का हेतु बनाना चाहिये अर्थात् शरीर घर आदि में रहने वाला अग्नि यज्ञ द्वारा ही मनुष्य के सुख का हेतु होता है ऐसा होने पर मुख्य जीवन के हेतु उत्तम कक्षास्थ प्राणात्मक अग्नि को धारण करता हुआ यजमान भी सुखपूर्वक जीवन विताता है ॥

इस से आगे मांसभो० पृ० ११३-११८ तक में (अनुछय०) इत्यादि एक मन्त्र लिख कर अक्षरार्थ किया है कि "हे मार कर टुकड़े २ करने वाले तीक्ष्णशस्त्र से इस खाल को अङ्ग २ से मारने के पीछे काट कर उतार और मांस को अपरिमित अन्न अर्थात् खाना मानो, मत किसी से द्रोह करो कि औरों को न दूं आप ही खाऊं इस प्रकार द्रोह न करो, इस बकरा का अङ्ग २ पाक क्रिया से सिद्ध करो, इस यजमान को सर्वोत्तम सुख के ऊपर विशेष करके आश्रित कर"। मुझे अनुमान हैं कि मांसोपदेशक जी पुरोहित को यह सब आज्ञा देते हैं हम इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप से लिखते हैं-

अनुछ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभिमंस्थाः। माभिद्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधिविश्रयैनम्॥ अथर्व ९।५।४॥

अ०-हे अजाग्ने! तमोविशस्तस्त्वमेतां त्वचमन्धकारावरणं श्यामेन प्राप्तेनासिनान्धकारक्षेपकेण प्रकाशेन यथापरु सर्वं प्रियं तमोऽनुछ्य माऽभिमंस्था माचाभिद्रुहः। एनमजप्रकाशंपरुशः कल्पय स्वप्रियंप्रियमेव कुरु। यज्ञैश्चैनमजमग्निं तृतीये नाकेऽधिविश्रय स्थापय प्रापय वा॥

भा०-अग्नितत्त्वप्रधानः सात्त्विको ज्ञान्यपि हार्दतमोनिवारकत्वादजपदवाच्यः। तेनापि हार्दतमस आवरणं छेत्तव्यमभिमानद्रोहौ च त्याज्यौ सत्त्वप्रकाशेन ज्ञानेनैव प्रेम कार्यं यज्ञानुष्ठानेन चाग्नितेजः सूर्यलोकं नेयमिति। भौतिकाग्निपक्षे च पुरुषव्यत्ययः। सोपि मनुष्यादीनां प्रियमपि सर्वमावरकं निद्रादि तमो दूरं गामिना प्रातःप्रकाशेन छिनत्त्येव। जडत्वाच्चाभिमानद्रोहौ तमसा न करोति स्वसमवेतं प्रियं प्रकाशं च कल्पयति

समर्थयति। यज्ञादिषु प्राबल्येन प्रज्वलितश्चाग्निः स्वः सूर्यं स्वतेजो गमयत्येव। छोछेदनइत्यस्य छ्यइति क्रियापदम्। असुक्षेपणेऽस्मादेवासिपदं व्युत्पद्यते। पृप्रीतावित्यस्माच्च परुपदं सिध्यति। यौगिकश्च सामान्यो वेदस्यार्थः कार्यइति सर्वमीमांसकादिविपश्चिदभिमतमेव॥

भावार्थः—हे (अजाग्ने!) अपने वा अन्यों के हृदयान्धकार के (विशस्तः) नाशक तुम (एतां त्वचम्) इस अज्ञानान्धकार रूप आवरण का (श्यामेनासिना) प्राप्त हुए अन्धकारनाशक प्रकाश वा ज्ञान से (यथापर्वनुछ्य) सुख को प्रतीत कराने वाले भी निद्रालस्यादि तमोगुण रूप सब अन्धकार को ज्ञानोदय होने पर छेदन कर (माभिमंस्था माभिद्रुहः) किसी से अभिमान और ईर्ष्या द्वेषादि मत कर (एनं परुशः कल्पय) और इस अजसम्बन्धी सात्त्विक प्रकाश को सर्वथा अपना प्रिय कर अर्थात् उस की ओर तत्पर रह और यज्ञों के द्वारा (एनं तृतीये नाकेऽधिविश्रय) इस तैजस प्रकाश को दुःख रहित उत्तम स्वर्गलोक में स्थापित वा प्राप्त कर॥

भा०—अग्नि तत्त्वप्रधान सत्त्वगुणी ज्ञानी पुरुष भी हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला होने से अज कहाता है उस को भी अन्तःकरण के आच्छादक तमोगुण का छेदन करना ही चाहिये आवरण करने वाला होने से अन्धकार वा तमोगुण ही त्वच् पद का वाच्य है तथा ज्ञानी को अभिमान और द्रोह भी त्याज्य हैं और उस को सात्त्विक ज्ञान प्रकाश से ही प्रीति भी करनी तथा यज्ञ का अनुष्ठान कर के अग्नि का तेज सूर्य लोक को पहुंचाना चाहिये। और इस मन्त्र का भौतिकाग्नि पक्ष में पुरुष व्यत्यय मान कर यह अर्थ होगा कि वह अग्नि मनुष्यादि के ज्ञान का आवरण करने वाले सब निद्रादि रूप प्रिय अन्धकार को प्रातःकाल होने वाले सूर्य प्रकाश से छेदन करता ही है और आग्नेय प्रकाश जड़ होने से तमोगुण के साथ अभिमान तथा द्रोह नहीं करता और वह अग्नि अपने नित्यसम्बन्धी प्रकाश को प्रिय वस्तु के तुल्य सदा साथ रखता है प्रबल समर्थ करता है तथा यज्ञादि में प्रबलता से प्रज्वलित हुआ अग्नि अपने तेज को सुगन्धित धूम वा भाफ के साथ सूर्य लोक में पहुंचाता है। इस मन्त्र में छोछेदने धातु का छ्य यह क्रियापद असु क्षेपणे धातु से सिद्ध हुआ असि शब्द और पृ

प्रीती धातु से बना परु शब्द है और वेद का सामान्य यौगिकार्थ करना चाहिये यह सब मीमांसाकारादि विद्वानों के अनुकूल ही है ॥

मांसोपदेशक जीने मन्त्र के [यथापर्वसिनामाभिमंस्थाः] इस भाग का पदच्छेद ऐसा किया है कि (यथापर्व । सिना । अमा । अभिमंस्थाः) सो वास्तव में अशुद्ध है । पद पाठ ठीक यह है कि (यथापरु । असिना । मा । अभिमंस्थाः) बुद्धि से देखने वालों को यह ठीक ही ज्ञात हो जायगा । पाठको ! शोचिये तो जिन लोगों को वेद का पदच्छेद तक समझने की योग्यता नहीं वे कैसा अर्थ कर सकते हैं ? वास्तव में ऐसे ही लोगों ने वैदिक धर्म की अधोगति की यह सत्य ही है॥

इस से आगे भाग ३ पृ० १५० में एक मन्त्र (अजोह्यग्नेरजनिष्टशोकात्०) इत्यादि लिखा है इस में यह सन्देह हो सकता है कि जब वेद के सिद्धान्तानुसार अज नाम अग्नि का है तो अग्नि के शोक से कौन अज उत्पन्न हुआ ? । इस का उत्तर यह है कि यहां कार्याग्नि का नाम अज और कारण का नाम अग्नि माना है । इस बात की सिद्धि वेद के प्रमाण से ही हो सकती है कि अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ अर्थात् कारणरूप से कार्यरूप अग्नि की उत्पत्ति वेद में स्पष्ट मिल सकती है यथा (ऋ० १ । १२ । ६ अग्निनाऽग्निः समिध्यते०) यहां कारण रूप अग्नि से प्रत्यक्ष कार्याग्नि का प्रज्वलित होना स्पष्ट दिखाया है । अरणि वांस दियासलाई पत्थर आदि में कारण रूप अग्नि है तभी तो संघर्ष होने से प्रकट हो जाता है । अब इस के आगे मांसभोजनवि० भा० ३ के पृ० १७८ में यह मन्त्र लिखा है कि (नास्यास्थीनि०) इत्यादि इस मन्त्र का अर्थ हम और संक्षेप से लिख देते हैं ॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ अथर्व० ९ । ५ । २३ ॥

अ०—अस्याजस्याग्नेरस्थीनि तमःक्षेपकाण्यङ्गान्यग्न्याधानकाले न भिन्द्यादङ्गारं न त्रोटयेन्न चास्य मज्ज्ञः शुद्धानि दाहकशक्तिरूपाणि शीतातरो निर्धयेन्मखेन न पिबेन्नापि मुखेन

धमेदपि तु सर्वमेनमङ्गारादिरूपं समादायेदमिदमग्निस्वरूपं प्रवेशयामीति तन्मना भूत्वा कुण्डवेद्यादौ प्रवेशयेत् ॥

भा०—मानसोऽग्निः शरीरेषुजीव इत्यभिधीयत इतिमहाभारते कथयता दर्शितमाग्नेय एव प्राकृतोंऽशः शरीरे जीवनरूपोऽस्ति। तस्य च बाह्योऽग्निः सहायोऽतएव च शीताधिक्ये मरणं सन्निहितं दृश्यते तस्माद् बाह्याग्निं तुदता भिदता नाशयता जनेन प्राणाग्निरपि तोद्यते भेद्यत इति मत्वैव "नाग्निं मुखेनोपधमेत्०-न प्राणाबाधमाचरेत्„ इत्यादिचतुर्थेऽध्याये मनुनोक्तं संगच्छते। इदमिदमिति कथयता तत्परता प्रदर्शिता तस्माद्बाह्यमप्यग्निं स्वस्य जीवनोपकरणं मत्वा सम्यगुपचरेदित्याशयः ॥

भावार्थः—(अस्यास्थीनि न भिन्द्यात्) इस अज नामक अग्नि के अस्थिनाम अन्धकार को दूर करने वाले चिनगारे भिन्न २ न करे क्योंकि भिन्न २ होने से शीघ्र बुत जाना सम्भव है अर्थात् अग्न्याधान करते समय अङ्गार रूप अग्नि को न तोड़डाले और (न मज्जो निर्धयेत्) न शीत लगने से घबराया पुरुष दाहकशक्तिरूप अग्नि में से उठती हुई शुद्ध उष्णताओं को मुख से न पीवे तथा न मुख से बुते हुए अग्नि को फूंके क्योंकि बलवान् सजातीय अपने निर्बल सजातीय को सदा ही दबाता वा नष्ट करता है इसी कारण सूर्य के प्रबल प्रताप से दिन में उल्कापात वा नक्षत्रादि दब जाने से नहीं दीख पड़ते तद्वत् बाह्याग्नि की उष्णता साक्षात् पीहुई प्राणाग्नि को धक्का देकर निकाल दे तो असम्भव नहीं है । इस लिये (सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत्) सब अङ्गार रूप अग्नि को ग्रहण कर इस ऐसे अग्नि को कुण्ड वा वेदि में प्रविष्ट करे अर्थात् मैं यह काम करता हूं इस प्रकार उसी में मन लगा कर काम करे ॥

भा०—महाभारत में लिखा है कि शरीरों में मन सम्बन्धी अग्नि तत्व ही मनुष्यादि के जीवन का मूल है इस कथन से यह स्पष्ट दिखाया है कि प्रकृति का आग्नेयांश ही प्राणियों में जीवन है । आग्नेयांश शरीर से निकलते ही ठंढा पड़ जाता है । उस भीतरी जीवन हेतु अग्नितत्व का बाह्य अग्नि सहायक है । इसी कारण बाह्य अग्नि की उचित सहायता न मिलने पर शरदी के अधिक बढ़ते ही मरने का समय समीप आगया दीखता है । इस से बाहरी अग्नि का छेदन भेदन नाश वा अनादर करते हुए मनुष्य के प्राणाग्नि को भी वही वैसा ही कुछ न कुछ धक्का लगता है । ऐसा मान कर ही (नाग्निं मुखेनोप०) इत्यादि चतुर्थाध्याय में कहा मनु जी का आशय ठीक संगत होजाता है (इदमिदम्) कहने से उसी काम में मनुष्य की तत्परता दिखायी है । इसलिये बाह्य अग्नि को अपने जीवन का उपकारी मानकर यथोचित उपकार लेता रहे।

हमें आशा है कि हमारे पाठक लोग हमारे इस सब लेख से वेद के गौरव को अवश्य समझ जायंगे । और उपसंहार में सारांश यह है कि-१ अजो अग्निरजमुज्योतिराहुः । वेद के इस साक्षात् निर्भ्रान्त प्रमाण, २ अजस्तमांस्यपहन्ति दूर०—इस में क्षेपणार्थ अज धातु का ठीक अर्थ घटा हुआ दीखने, ३-अग्निः पशुरासीत्—इत्यादि यजुर्वेद के स्पष्ट प्रमाण से, ४-"अजाः पूषवाहाः" इस निघण्टु की साक्षिता में सूर्य के किरणों का अज नाम होने, ५—निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा का यही परामर्श मिलने, ६—तस्योर इयमभवत्० इत्यादि मन्त्रों से ब्रह्माण्डभर को अज का अवयव कहने, ७-अथर्व० ९ । ५ । २१ में अज पञ्चौदन को व्याप्त विभु अपरिमित स्पष्ट कहने, और ८ पूर्वमीमांसा के (परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्) इस कथन के अनुसार अज आदि वेद के शब्दों का ठीक सामान्यार्थ घट जाने से अर्थात् इन अत्यन्त पुष्ट आठ प्रमाणों से अज शब्द का अग्नि अर्थ निश्चित हो जाने पर वेद के मन्त्रों का ठीक अर्थ हमारे पाठकों के मन में अवश्य बैठ जायगा । ऐसी हम को पूर्ण आशा है । अज, त्वच्, छेदन, असि, अस्थि मज्जा आदि शब्दों को देख कर बकरा मारने चढ़ाने काटने का विकल्प जो प्रत्येक मनुष्य के मन में सन्देह डालता है उस का कारण यह है कि लौकिकरीत्यनुसार समझे शब्दार्थों से हम वेदार्थ को लगाना चाहते हैं उस में शोचना यह है कि जब वेद सर्गारम्भ से है तो वेद से लौकिक विचार निकले हम को मानने चाहिये । जब लौकिक विचार से वेद बना ही नहीं तो हमारा लोक में समझे विचारानुसार वेदार्थ समझने का उद्योग करना क्या सर्वथा उलटा नहीं है ? क्या पिता के जन्म समय का समाचार साक्षात् देखे हुए के समान पुत्र कभी जान सकता और कह सकता है ? कदापि नहीं तो लौकिक बुद्धि से वेदार्थ समझने का उद्योग सर्वथा व्यर्थ है यह ध्यान देकर शोचने वालों को अवश्य ही हमारे लेख से भासित हो जायगा ॥

धमेदपि तु सर्वमेनमङ्गारादिरूपं समादायेदमिदमग्निस्वरूपं प्रवेशयामीति तन्मना भूत्वा कुण्डवेद्यादौ प्रवेशयेत् ॥

भा०—मानसोऽग्निः शरीरेषुजीव इत्यभिधीयत इतिमहाभारते कथयता दर्शितमाग्नेय एव प्राकृतोंऽशः शरीरे जीवनरूपोऽस्ति। तस्य च बाह्योऽग्निः सहायोऽतएव च शीताधिक्ये मरणं सन्निहितं दृश्यते तस्माद् बाह्याग्निं तुदता भिदता नाशयता जनेन प्राणाग्निरपि तोद्यते भेद्यत इति मत्वैव "नाग्निं मुखेनोपधमेत्०-न प्राणाबाधमाचरेत्„ इत्यादिचतुर्थेऽध्याये मनुनोक्तं संगच्छते। इदमिदमिति कथयता तत्परता प्रदर्शिता तस्माद्बाह्यमप्यग्निं स्वस्य जीवनोपकरणं मत्वा सम्यगुपचरेदित्याशयः ॥

भावार्थः—(अस्यास्थीनि न भिन्द्यात्) इस अज नामक अग्नि के अस्थिनाम अन्धकार को दूर करने वाले चिनगारे भिन्न २ न करे क्योंकि भिन्न २ होने से शीघ्र बुत जाना सम्भव है अर्थात् अग्न्याधान करते समय अङ्गार रूप अग्नि को न तोड़डाले और (न मज्जो निर्धयेत्) न शीत लगने से घबराया पुरुष दाहकशक्तिरूप अग्नि में से उठती हुई शुद्ध उष्णताओं को मुख से न पीवे तथा न मुख से बुते हुए अग्नि को फूंके क्योंकि बलवान् सजातीय अपने निर्बल सजातीय को सदा ही दबाता वा नष्ट करता है इसी कारण सूर्य के प्रबल प्रताप से दिन में उल्कापात वा नक्षत्रादि दब जाने से नहीं दीख पड़ते तद्वत् बाह्याग्नि की उष्णता साक्षात् पीहुई प्राणाग्नि को धक्का देकर निकाल दे तो असम्भव नहीं है। इस लिये (सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत) सब अङ्गार रूप अग्नि को ग्रहण कर इस ऐसे अग्नि को कुण्ड वा वेदि में प्रविष्ट करे अर्थात् मैं यह काम करता हूं इस प्रकार उसी में मन लगा कर काम करे ॥

भा०—महाभारत में लिखा है कि शरीरों में मन सम्बन्धी अग्नि तत्व ही मनुष्यादि के जीवन का मूल है इस कथन से यह स्पष्ट दिखाया है कि प्रकृति का आग्नेयांश ही प्राणियों में जीवन है। आग्नेयांश शरीर से निकलते ही ठंढा पड़ जाता है। उस भीतरी जीवन हेतु अग्नितत्व का बाह्य अग्नि सहायक है। इसी कारण बाह्य अग्नि की उचित सहायता न मिलने पर शरदी के अधिक बढ़ते ही मरने का समय समीप आगया दीखता है। इस से बाहरी अग्नि का छेदन भेदन नाश वा अनादर करते हुए मनुष्य के प्राणाग्नि को भी वही वैसा ही कुछ न कुछ धक्का लगता है। ऐसा मान कर ही (नाग्निं मुखेनोप०) इत्यादि चतुर्थाध्याय में कहा मनु जी का आशय ठीक संगत होजाता है (इदमिदम्) कहने से उसी काम में मनुष्य की तत्परता दिखायी है। इसलिये बाह्य अग्नि को अपने जीवन का उपकारी मानकर यथोचित उपकार लेता रहे। हमें आशा है कि हमारे पाठक लोग हमारे इस सब लेख से वेद के गौरव को अवश्य समझ जायंगे। और उपसंहार में सारांश यह है कि—१ अजो अग्निरजमुज्योतिराहुः। वेद के इस साक्षात् निर्भ्रान्त प्रमाण, २ अजस्तमांस्यपहन्ति दूरं०—इस में क्षेपणार्थ अज धातु का ठीक अर्थ घटा हुआ दीखने, ३-अग्निः पशुरासीत्—इत्यादि यजुर्वेद के स्पष्ट प्रमाण से, ४-"अजाः पूषवाहाः" इस निघण्टु की साक्षिता में सूर्य के किरणों का अज नाम होने, ५—निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा का यही परामर्श मिलने, ६—तस्योर इयमभवत्० इत्यादि मन्त्रों से ब्रह्माण्डभर को अज का अवयव कहने, ७—अथर्व० ९। ५। २१ में अज पञ्चौदन को व्याप्त विभु अपरिमित स्पष्ट कहने, और ८ पूर्वमीमांसा के (परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्) इस कथन के अनुसार अज आदि वेद के शब्दों का ठीक सामान्यार्थ घट जाने से अर्थात् इन अत्यन्त पुष्ट आठ प्रमाणों से अज शब्द का अग्नि अर्थ निश्चित हो जाने पर वेद के मन्त्रों का ठीक अर्थ हमारे पाठकों के मन में अवश्य बैठ जायगा। ऐसी हम को पूर्ण आशा है। अज, त्वच्, छेदन, अस्थि, अस्थि मज्जा आदि शब्दों को देख कर बकरा मारने चढ़ाने काटने का विकल्प जो प्रत्येक मनुष्य के मन में सन्देह डालता है उस का कारण यह है कि लौकिकरीत्यनुसार समझे शब्दार्थों से हम वेदार्थ को लगाना चाहते हैं उस में शोचना यह है कि जब वेद सर्गारम्भ से है तो वेद से लौकिक विचार निकले हम को मानने चाहिये। जब लौकिक विचार से वेद बना ही नहीं तो हमारा लोक में समझे विचारानुसार वेदार्थ समझने का उद्योग करना क्या सर्वथा उलटा नहीं है? क्या पिता के जन्म समय का समाचार साक्षात् देखे हुए के समान पुत्र कभी जान सकता और कह सकता है? कदापि नहीं तो लौकिक बुद्धि से वेदार्थ समझने का उद्योग सर्वथा व्यर्थ है यह ध्यान देकर शोचने वालों को अवश्य ही हमारे लेख से भासित हो जायगा ॥

हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि (अथर्व० ९ । ५ । ४) मन्त्र को मांसोपदेशक ने भाग ३ पृ० ११३ में लिख कर स्पष्ट लिखा है कि बकरे को मारो उस की खाल उतारो उस के शरीर के टुकड़े २ करो इत्यादि । फिर पृष्ठ १७९ में लिखे मन्त्र से यह कैसे बनेगा कि बकरे को ज्यों का त्यों उठाकर वेदि में झोंकदो हड्डी मज्जादि कुछ मत निकालो । और इस दशा में मांसाचार्य जी कहां से मांस खावेंगे खिलावेंगे ? यदि टुकड़े २ करना सत्य हो तो बकरे को समूचा डाल देना खण्डित होगा और यह सत्य है तो टुकड़े करना मिथ्या होगा । वास्तव में परस्पर विरुद्ध होने ऊटपटांग असम्बद्ध तथा प्रमाण शून्य होने से इन का किया सभी मन्त्रार्थ जब अज्ञानान्धकार से ठसाठस भरा है तो अब और समालोचना करना व्यर्थ है । हमारे पाठकों को ध्यान रहे कि यद्यपि हम ने मांसभोजन विचार में लिखे सब मन्त्रों का उत्तर वा अर्थ नहीं लिखा तथापि जिन मन्त्रों में कुछ शङ्का जीवहिंसा करने वा खाने की भी हो सकती है ऐसे प्रायः मन्त्र खोज २ कर हमने समाधान लिख दिया है । और अज तथा पञ्चौदन सम्बन्धी मन्त्रों का जो अर्थ हम ने लिख दिया है वैसी ही व्यवस्था से अजपञ्चौदन प्रकरण के सब मन्त्रों का अर्थ हो सकेगा । अर्थात् जितनी जैसी व्यवस्था अथर्व वेद के मन्त्रों पर इस विषय में होनी आवश्यक थी वह सब ठीक होगयी । जब तक मांसाशी उपदेशकों में से वा अन्य कोई भी मनुष्य अज आदि शब्दों का हमारे समान वा इस से भी अधिक पुष्ट प्रमाणों से बकराआदि अर्थ लेना सिद्ध न करे तब तक हम को इस विषय पर और कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं होगी । इसलिये सब विचारशील गुणग्राहियों से प्रार्थना है कि गुणग्रहण करें दोषों को त्यागें भूलचूक क्षमा करें ॥ इति ॥

धन्यवाद

॥) मुं० रामस्वरूप जी इटावा ॥) बा० नन्दकिशोर जी इटावा १) डा० प्र
भुलाल जी इटावा १) ला० छेदीलाल जी इटावा २) पं० दंगीलाल जी इटावा
ला० गणेशीलाल जी इटावा २) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा १) बा
शिवचरणलाल जी वकील इटावा ॥) मा० गुन्दीलाल जी इटावा =)॥ बा० रा
मप्रसाद जी इटावा १) बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा १) चौ० पद्मसिं
जी सुन्दरपुर ५) डा० मक्खनलाल जी अपरब्रह्मा १) चौ० ख्यालीराम जी १॥।-)
पं० ख्यालीराम जी नैनीताल ४॥) डिप्टीचम्पतराय जी इटावा ५) बा० रघुनाथ
जी मार्फत पं० रमादत्त जी नैनीताल १) पं० जगदम्बाप्रसाद जी मांगीपुर ।) बा०
पूर्णसिंह जी ॥) पं० बोधीलाल जी बांदा ६॥।) पं० भीमसेन शर्म्मा इटावा १०॥)
पं० दुर्गाप्रसादादि अहार ॥) ला० कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण इटावा १) बा०
हीरालाल जी पेचघर इटावा १) पं० बुद्धसेन जी इटावा ॥) ला० कन्हैयालाल
जी इटावा ५) ठा० गजाधर सिंह जी रांची २) लल्लूमिस्त्री इटावा १८) बा० ब-
लदेवप्रसाद जी इञ्जिनियर आगरा १) पं० रामजीमल जी इटावा २) उर्वीदत्त
ब्रह्मचारी बसई १) पं० मातादीन जी वकील इटावा ॥।) पं० बनवारीलाल जी
इटावा २) श्री दुर्गाप्रसाद जी गैंदोली । यह सब ७५॥।) जनवरी और फर्वरी
इन दो मासों में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुआ
परमेश्वर दाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे उक्त दो मासों में ७६॥≡)॥
इस प्रकार से व्यय हुआ ४०) श्यामलाल शर्म्मा अध्यापक का २ मास का वेतन
२) सुन्दरलाल द्वि० को दो मास का हिसाब पढ़ाई मध्ये । ४) कहार को दो मास
का वेतन २) चन्दा उघाने के बाबत और २) चौका वर्त्तन कराई मध्ये १॥-)॥।
पत्र पत्रोत्तर तैन रसीद आदि फुटकर में । ४॥) पाठशाला के मकान का किराया
तीनमास का । शेष २४॥-)॥। छात्रों के भोजन में व्यय हुआ इन उक्त दो मासों में
तीन विद्यार्थी पाठशाला से भोजन पाते रहे । अब का शेष १२॥-)। रहे और
१५०) रुपये ॥) महिने सूद पर पहिले से जमा हैं ॥

ह० श्यामलालशर्म्मा कोषाध्यक्ष पाठशाला प्रबन्धकर्तृसभा

इटावा

सूचना

१—ग्राहक महाशयों को विदित हो कि हम आर्यसिद्धान्त को कुछ समय से दो २ अङ्क निकालने लगे थे सो अब यह विचार स्थिर हुआ है कि फिर भी एक २ अङ्क प्रतिमास किसी नियत तिथि को निकाला करें। यदि हो सका तो अगले महिने से आ०सि० प्रतिमास निकलने लगेगा। हम को निश्चय है कि ग्राहक महाशय इस विचार को सुन कर प्रसन्न होंगे ॥

समालोचना ॥

“वेदान्तार्यभाष्य” द्वैतार्थपरक जिस को पं० आर्यमुनि जी संस्कृत और नागरी में सम्पादित करते और बाबू बालकृष्णसहाय जी वकील रांची (बंगाल) छपाकर निज अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित करते हैं उस को हम वर्त्तमान दशा में अच्छा अवश्य कह सकते हैं। इससे और अच्छा हो सकता है यह तो अन्यबात है तथापि आर्यसिद्धान्तानुकूल इस से अच्छी व्यवस्था वेदान्त पर अन्य किसी ने अब तक नहीं लिखी है। दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार होने से साधारण मनुष्यों के समक्ष में कम आना उस के अच्छेपन का बाधक नहीं। मगाने वाले बाबू बालकृष्णसहाय जी वकील रांची को लिखें॥

नये पुस्तक

“भगवद्गीता भाष्य” यह पुस्तक छप कर तयार हो गया बहुत दिनों से अनेक ग्राहक महाशय इस की चाहना कर रहे थे वेद विरुद्ध श्लोक छोड़ कर इस का भाष्य संस्कृत और नागरी भाषा में अच्छा किया गया है जिस की उत्तमता ग्राहकों को देखने पर ही ज्ञात होगी मूल्य भी थोड़ा अर्थात् २।) पूरे का तथा जो लोग पहिले छपे ३ अध्याय ले चुके हैं उन को अ० ४ से १।) में मिलेगा। इस में ५ अध्याय बीच २ के छूट जाने से अब केवल १३ अध्याय का भाष्य हुआ है॥

मांसभोजन विचार तीनों भाग का खण्डन अच्छे पुष्ट युक्ति प्रमाणों के साथ भिन्न २ पुस्तकाकार छप गया। प्रथम -)॥ द्वितीय =)॥ तृतीय ≡) इन में भाग ३ का अथर्ववेद सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ विशेष कर देखने योग्य है॥

“वैराग्यशतक” भर्तृहरिकृत मूल पर श्लोकार्थ और मनुष्यों को सचेत करने वाला भावार्थ भाषा में छपा है मू० ।) “पुत्रकामेष्टि” पद्धति यह पुस्तक बड़े परिश्रम से संग्रह कर के छपाया है जो उत्तम श्रेष्ठ पुत्र चाहते हों वा जिन के यहां केवल कन्या होती हों उन के पुत्र होने के लिये उपयोगी होगा पुस्तक दर्शनीय है मूल्य =)

सब महाशयों को यह भी विदित रहै कि मानवधर्ममीमांसाभाष्य अब शीघ्र पूरा किया जायगा इसी मार्च महिने की समाप्ति में तीन अध्याय की एक जिल्द पूरी कर देने का संकल्प है आशा है कि ग्राहक महाशय सहायता देते जावेंगे। आगे भी तीन २ अध्याय की एक २ जिल्द बनाने का संकल्प है चार भागों में सब पुस्तक पूरा होगा। सब पुस्तक का मूल्य १२) रु० होगा। यदि कोई नये ग्राहक पर्व (पेशगी) १०) जमा करेंगे तो उन को पूरा पुस्तक १०) में ही दिया जायगा॥

भवन्मित्रो—भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।

सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।

प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ७

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आषाढ कृष्ण १ जुलाई सन् १८९७ ई०

पृ० १२१ त्रयीविद्या (ओम्)

,, १२९ आर्यतत्त्वप्रकाश भा० ४ का उत्तर—

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(१ फर्वरी से ६ मई तक सन् ९७ ई०)

१२१२ देवी प्रसाद जी बदायूं १।)
३४४ देवी प्रसाद जी शहदादपुर १।।)
२८३ अम्बिका प्रसाद जी पुखरायां १।–)
३१२ मोतीराम सांवलराम जी हर्दा १।)
५८४ राम दासाचार्य जी कामठी २।।)
६१५ पं० जंगबहादुर जी मुजफ्फरपुर २।।)
७०१ गोकुल चन्द्र जी करनाल १।)
७०२ कृष्णसिंह जी भोगपुर २।।)
१२०७ टोडरमल जी गुंगेरा १।)
८१९ महादेव प्रसाद जी भिंगा २।)
१२१४ राम लाल जी रांची १।)
८१४ जानकी शरणजी राय बरेली २)
७७१ गंगाधर मुकर्जी बांदा ।।।=)
७७३ दत्तशर्मा तालणी १।)
१२०५ बा० रामसहाय जी ताराबड़ी १।)
८११ पं० भागवत रामानुज जी पुरी १।)
७०३ राम बाबा साधु रामनगर २।।)
११०० बा० दुर्गा प्रसाद जी आगरा १।)
१२१५ मु० रामलाल जी सिवान १।)
६४५ मगन बिहारीलाल जी फिरोजाबाद १।)
१२१८ म० आ० स० देहरादून १।)
२६६ बाबा गोपालपुरी जी कानपुर १।)
१०८५ भैरव प्रसाद जी नीमच १।)
१२१७ गजराजप्रसाद जी भीखर १।)
७९३ विश्वेश्वरदयाल जी बैहर २।।)
१२१६ लक्ष्मी नारायण जी रायबरेली १।)
६७८ अम्बा लाल जी सागबाड़ा १।)

१२१३ राम कुमार जी ब्रह्मा १।)
१२१९ छाजूराम जी कलकत्ता १।)
६९२ शङ्करराव देवराव जी डूंगरा ३।।)
१२२० विशाखी राम जी वैरोवाल १।)
८०२ देवीसिंह जी धर्मशाला २।।)
७८८ हनुमान प्रसाद जी विजयराघवगढ़ १।)
७८० राम स्वरूपसिंह जी रकसहा १।)
३९९ केवलप्रसाद जी सिवनी छपारा १।)
१२२१ भीम जी गदा धर सूरत १।)
३२४ शिव रतनसिंह जी पातूर २।।)
१०५३ रामप्रकाशलालजी मुजफ्फरपुर १।)
३९६ रत्नचन्द्र जी गुरुसाणी २।।)
७१७ गंगाचरण शर्मा जी कानपुर २।।≡)
४६० गुरुयालु जी तिवारी चंदिया १।)
३६७ अभयराजसिंह जी गुसांई गंज १।)
३८९ सूर्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद ।=)
११५७ सेठ घनश्याम दास जीकलकत्ता१।)
१२२४ प्रभुदयाल जी दमोह १।)
९५८ मुन्ना लाल जी आगरा १।।।=)
१४३ रामजी भगवान सोनी मुम्बई १।।)
१२२२ तम्माजी श्रीनिवास बीजापुर १।)
१०६० गोपाल दास जी नूरमहल १।)
११५ पं० कमल नयन जी अजमेर १।)
१३५ महता चिमनसिंह जी ब्यावर १।)
५१० लब्धाराम जी शाहपुर १।)
६८८ अयोध्या प्रसाद जी अम्बाला १।)
५११ भगवन्तसिंह जी सिहोर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ७

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॑ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

त्रयीविद्या (ओम्) पद का व्याख्यान

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥

अ, उ, म्. इन तीन अक्षरों को ऋगादि तीन वेदों से सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने वेदों का सार वा मूल अथवा बीजरूप सिद्धान्त मान कर पृथक् निकाला। और तदनन्तर भूः, भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों को भी यथासंख्य तीनों वेद से निकाला ॥

ब्राह्मणादि स्मार्त्त ग्रन्थों में दोनों प्रकार का लेख मिलता है एक तो अ, उ, म्, इन तीनों वर्णों से ऋग् यजुः साम तीनों वेद यथासंख्य बने उत्पन्न हुए वा प्रादुर्भूत हुए। और द्वितीय तीनों वेद से ओम् पद के तीन अक्षर बीजरूप वा साररूप निकले वा निकाले गये वा माने गये सो जैसे संसार में बीज से वृक्ष बनता और वृक्ष से वही सारांश रूप बीज फिर २ निकलता है तथा जैसे बीज वृक्ष का अनादि सम्बन्ध प्रवाह से चला आता है और बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज सदा व्याप्त रहता है अर्थात् दोनों भिन्न २ होने पर भी दोनों में दोनों अप्रकटरूप से रहते हैं। [illegible] ी तो बिलोने

पर निकलता प्रकट हो जाता है। वैसे ही वेदों में ओम्-का ओंकार में तीनों वेद व्याप्त हैं। दुहने का अभिप्रायार्थ केवल बहुत में से थोड़ा सार निकालना है यही अर्थ गौ आदि के दुहने में भी घट जाता है। और निकालना शब्द का यह भी अर्थ है कि ठीक तत्त्व बात को जान लेना लोक में जहां कुछ शोच विचार के दृढ़ निश्चय करने के लिये आन्दोलन किया जाता है तब विचारकर्त्ताओं से अन्य लोग पूछते हैं कि "कहो क्या बात निकली" अर्थात् ठीक तत्त्व वा सार सिद्धान्त क्या ठहरा वा निश्चय हुआ ? यहां भी बहुत से विचार में से उस का ठीक तत्त्व सिद्धान्त का निश्चय होना दुहना ही माना जायगा। इसी प्रकार यहां भी सम्पूर्ण वेद का तत्त्व सिद्धान्त सार वा बीज ओम् पद है। जो इस मूल को जानता है वह वेद को जान सकता है तथा जो वेद को जानता है वह इस ओम् रूप वेद के तत्त्व को भी जान लेता है। न्यायालय [कचहरी] आदि में भी वकील वैरिष्टरादि की अधिक बहस होकर जो फैसला होता है वही तत्त्व वा सारांश होता और वहां भी बहुत में से सारांश दुहा ही जाता है। इस लेख से यह सिद्ध हो गया कि दही में से घी निकाल लेने से मट्ठा असार रह जाने के समान यहां वेद से ओम् के निकाल लेने पर वेद असार नहीं हो जाता क्योंकि शब्द कोई स्थूल वस्तु नहीं है किन्तु बहुत से शब्द समुदाय रूप वेद से थोड़े अक्षरों में सारांश निकालना केवल तत्त्व सिद्धान्त मान लेना वा कह लेना मात्र है। स्थूल पदार्थों के समान निकालना पैठाना यहां नहीं बन सकता इस कारण उक्त दोष वेद विषय में नहीं आता इस से वेद सर्वथा निर्दोष है ॥

जैसे तिलों में से तेल ही निकल सकता है किन्तु घी नहीं क्योंकि जो वस्तु जिस में सार रूप है वही उस में से निकल सकता अन्य नहीं। जल के बिलोने से घी नहीं निकलता वैसे वेद में भी ओ३म् पद ही सिद्धान्त रूप है वही उस में से सार निकल सकता है। और एक संख्या में तीन आदि संख्या तिरोभूत रहती हैं इसी कारण एक से अन्य संख्या बनती जाती हैं यदि एक कुछ न हो तो तीन आदि भी कुछ नहीं हो सकते क्योंकि तीन संख्या में एक २ कर तीन इकाई मिश्रित हैं इस से एक में तीन और तीन में एक दोनों में दोनों सदा रहते हैं इन में एक व्यापक और तीन व्याप्य हैं। सूक्ष्म व्यापक सर्वगत होने

से सदा प्रधान और व्याप्य सदा गौण रहता है। इसी प्रकार ओ३म् पद एक और उस में अ, उ, म्, ये तीन अवयव हैं इन तीनों अवयवों का समुदाय ओम् पद के साथ वा ओम् का अवयवों के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि एक और तीन संख्या का परस्पर सम्बन्ध है चाहे यों कहो कि लोक में जितने पदार्थों का अवयवावयवी वा व्याप्य व्यापक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है उन सब का मूल वेद और वेद का भी मूल ओम् पद है। एक ओम् के तीन ही अवयव मुख्य हो सकते हैं। वेद का तीन होना ओम् के तीन अवयवों से सम्बन्ध रखता है। जो वेद का सार सिद्धान्त है जो परमेश्वर का सर्वोपरि उत्तम नाम है उस ओम् के तीन भाग हो सकने से ही जगत् भर में तीन संख्या की प्रधानता का मूल कारण हुआ है। संख्याओं की वृद्धि होती जाना प्रवृत्तिमार्ग और अधिक २ संख्याओं का छोटी २ संख्याओं में लय होना और करना निवृत्ति मार्ग माना जाता है संख्याओं का वृद्धिह्रास व्याप्य वस्तुओं की न्यूनाधिकता होने पर होता है। उत्तम पदार्थों की संख्या सदा कम होती और निकृष्ट सदा अधिक होते हैं। एक जिले वा नगर की भूमि में जितनी चीटीं होंगी उतने मनुष्य पृथिवी भर में भी होने सम्भव नहीं। अधिक की सीमा असंख्य असीम है और कम की सीमा एक है इस के भीतर अधिक २ संख्या वाले पदार्थ निकृष्ट और उस अधिक २ संख्या की अपेक्षा कम २ संख्या वाले उत्तम निर्दोष ठहरते हैं क्योंकि जो थोड़ा है वही सार और जो सार है वही थोड़ा वा सूक्ष्म होता है यह नियम भी प्रायः आदि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में दीखता है। परमेश्वर तीनों काल सब देशों और सब वस्तुओं में एक ही रहता है बदलता नहीं इसी कारण उस को दिशा काल और आकाशादि सब से अपरिच्छिन्न कहते और मानते हैं। तो सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक होने से सर्वोपरि अनतिशय असीम अनपेक्ष उत्तम है वा यों कहो कि जो कुछ वस्तु असीम अनतिशय अनपेक्ष उत्तम है होता वा हो सकता है उसी वस्तु का नाम ओम् है। यद्यपि एक संख्या वाले जगत् में अन्य भी पदार्थ हैं वा हो सकते हैं तथापि ओम् पद वाच्य ईश्वर की अपेक्षा अधिक वा उस के तुल्य अखण्ड एकत्व उन किन्हीं में नहीं है किन्तु अन्य प्रकट संख्या वाले घट-पटादि की अपेक्षा से आकाशादि में एकत्व है और ईश्वर की अपेक्षा सब कालाकाशादि का एकत्व सावयव है इस से सिद्ध हुआ कि अनपेक्ष एक एक ही है और वही ओम् पदवाच्य है।

यदि यह सन्देह हो कि जैसे वाचक ओम् पद में तीन अवयव हैं वैसे उस के वाच्यार्थ ईश्वर में भी तीन भाग होने चाहिये तो उत्तर यह है कि ओम् पद में तीन अवयव प्रवृत्ति दशा में तीन संख्या वाले कार्यों की सिद्धि के लिये हैं। उत्पत्ति स्थिति, लय जगत् में तीन काम प्रधान हैं। नैत्यिक उत्पत्ति स्थिति लय मनुष्यादि प्राणियों के आधीन हैं। अनपेक्ष उत्पत्ति आदि कामों को अनपेक्ष शक्ति वाला ही कर सकता है यद्यपि वह इतने बड़े ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि करने में भिन्न २ रूपधारी नहीं होता उस के स्वरूप में कोई भेद खड़ा नहीं होता क्योंकि उस की क्रिया स्वाभाविक है तथापि कर्मभेद वा गुणभेद से उस के नाम भेद माने जाते हैं। जैसे एक ही मनुष्य अवस्था भेद से बाल युवा और वृद्ध कहाता वा सम्बन्ध भेद से एक ही काल में किसी का पुत्र किसी का पिता और किसी का पति कहाता है इसी के अनुसार ओम्पद के वाच्य ईश्वर के ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि नाम कर्म भेद से माने जाते हैं। तथा ब्राह्मणपन के अतीव अनपेक्ष ज्ञा-नादि गुणों से ब्रह्म पद वाच्य ब्राह्मण, क्षत्रियपन के अनपेक्ष सर्वधारकत्व एवं पालकत्वादि गुणों से इन्द्रादि पदवाच्य क्षत्रिय और वैश्यपन के अनपेक्ष अतीव धनादि ऐश्वर्य का स्वामी होने से ईश्वर परमेश्वरादि पदवाच्य वैश्य कहाता है इत्यादि प्रकार एकत्व होने पर भी वाच्य परमात्मा के साथ तीन २ संख्या-ओं का सम्बन्ध कहा वा माना जाता है इसी त्रित्व की सिद्धि के लिये वाचक ओम् पद के भी तीन अवयव मानना सार्थक हो जाता है। जैसे ओम् पदबुद्धि से वा अक्षरबुद्धि से एक अपरिच्छिन्न भी माना जाता है तथा जब निवृत्ति मार्ग के अनुसार ईश्वर में कोई गुणकर्मों का भेद नहीं कहा जाता तब वाचक ओम्पद का वाच्य भी निरवयव अपरिच्छिन्न अखण्ड माना जायगा ॥

यद्यपि एक की अपेक्षा दो और दो की अपेक्षा तीन संख्या निकृष्ट मानी जायगी क्योंकि बहुत में थोड़ा सार ठहरता है [इसी के अनुसार ओम् सब से उत्तम उस से नीचे तीन महाव्याहृति उस से भी नीचे तीसरी कक्षा में (तत्स-वितुर्वरेण्यं०) यह सावित्री मन्त्र उत्तम माना जायगा। इसी कारण ओम् के पश्चात् महाव्याहृति तदनन्तर सावित्री मन्त्र का जप आदि में बोलने की चाल चली है परन्तु सब पुस्तक वा ग्रन्थ मात्र में वेद सर्वोत्तम स्मृति मध्यम तथा इतिहासादि निकृष्ट तीसरी कोटि में है इस कारण स्मृत्यादि ग्रन्थों की अपेक्षा

वेद और वेदके अन्यमन्त्रों की अपेक्षा सावित्री मन्त्र अवश्य सर्वोत्तम है] तथापि चार से असंख्य तक संख्याओं की अपेक्षा तीन संख्या की प्रधानता अवश्य मानी जायगी। जैसे सौ संख्या का मध्यस्थान पचास है उस से नीचे २ की सब संख्या यथाक्रम उत्तम २ ठहरती जावेंगी और असीम संख्या की अपेक्षा असंख्य प्रकार की उत्तमता तीन संख्या में न्यायानुकूल अवश्य ही माननी चाहिये।

को धातुरायुर्धातुरवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यान्नेदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः। कृदन्तमर्थवत्प्रातिपदिकमदर्शनं प्रत्ययस्य नाम सम्पद्यते निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
गोपथ १ प्र० २६ खं०

गोपथ ब्राह्मण में इस प्रकार ओम् पद का व्याख्यान विशेष विस्तर के साथ लिखा है। इस संस्कृत का अर्थ यह है कि आप्लृ वा अव धातु से ओम् शब्द बना है इन दोनों धातुओं का अर्थ एकसा ही हो जाता है क्योंकि अव धातु के अनेक अर्थ होने पर भी प्राप्ति वा व्याप्ति अर्थ भी उस के हैं। इस से जो सब को प्राप्त वा सब में व्याप्त हो उस का नाम ओम् है। सो यह अर्थ वाचक में भी वाच्य के समान ही घट जाता है अर्थात् ओम् शब्द का वाच्यार्थ ईश्वर सर्वपदार्थों में उन्हीं २ के रूप से व्याप्त है और व्याप्त होने ही से उन २ सब पदार्थों को प्राप्त है सब उस से मिल रहे और सब से वह मिल रहा है जैसे यहां व्याप्ति प्राप्ति दोनों अर्थ संघटित हैं वैसे ओम् शब्द के अ, उ, म्, ये तीन अक्षर भी वर्णमाला के सब अक्षरों से सर्वोपरि प्रधान हैं। स्वरों में अ, उ, तथा व्यञ्जनों में म् अधिक प्रधान है। जिस का अधिक प्रयोग आता है वही प्रधान है। लोक में भी जिस का नाम अधिक लिया जाता जिस से अधिक काम

निकलता उस की प्रतिष्ठा का भी प्रचार अधिक होता इसी से वह जगत् में प्रधान माना जाता है। इसी प्रकार अक्षर समाम्नाय (वर्णमाला) के अक्षरों के भिन्न २ समुदाय से बने शब्द पद वाक्यावलीरूप वेदादि सब शास्त्रों में ओम् के तीन अक्षर अधिकांश ओत प्रोत हो रहे हैं। जिस को प्रत्यक्ष करना हो वह किसी ग्रन्थ वा किसी लेख की दो चार पङ्क्तियों के अक्षर देखे तो प्रायः सब से अधिक अकार का प्रयोग सब भाषाओं में मिलेगा तथा अ से कम अन्यों से अधिक उ मिलेगा और इन दोनों से कम तथा अन्यवर्णी व्यञ्जनों से अधिक मकार का प्रयोग मिलेगा। हम यहां पाठकों को दृष्टान्तरूप उदाहरण दिखाने के लिये वेद के एक मन्त्र का उदाहरण दिखाते हैं

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

इस गायत्री मन्त्र में वर्णमाला के १९ वर्ण हैं जिन का प्रयोग ६२ संख्या में गिना जायगा। जैसे १-अ २०। २-ग १। ३-न २। ४-म ७। ५-इ ७। ६-ड १। ७-प १। ८-उ ३। ९-र ३। १०-ह २। ११-त ५। १२-य २। १३-ज २। १४-ञ १। १५-स १। १६-द १। १७-व १। १८-ऋ १। १९-ध १। इस प्रकार १९ अक्षर ६२ बार इस मन्त्र में आये और अ २० उ ३ म् ७ ये तीन ओम् सम्बन्धी अक्षर तीस बार आये तो सोचिये कि तीन के साथ ३० संख्या और १६ के साथ ३२ बचे तो ओम् सम्बन्धी अक्षरों में प्रत्येक की दश २ आवृत्ति हुई तथा अन्य अक्षरों में प्रत्येक के साथ दो २ संख्या पड़ी इतने से ओम् के अक्षरों की अधिक व्याप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। हमने यहां दीर्घ ईकार को दो इकार गिना तथा ओकारों में एक अ एक उ दो अक्षर गिना और एकारों में एक अ एक इ दो गिने हैं और अनुस्वारों को मकार इस लिये गिना है कि म् को ही अनुस्वार हो जाता है। हमने वेद का उदाहरण इस लिये दिया है कि सब प्रकार की देश भाषा संस्कृत से बिगड़ २ कर बनी हैं और संस्कृत भाषा भी प्रथम वेद से निकली है इस कारण वेद का उदाहरण देना सभी का उदाहरण जानो। यद्यपि स्वरों में उकार की अपेक्षा इकार का प्रयोग ग्रन्थों में अधिक आता है तथापि ध्यान देकर सोचने से ज्ञात होता है कि उ

कार की अपेक्षा अकार के साथ इकार का निकट सम्बन्ध है अर्थात् अकार का प्रथम परिणाम जो बदलता है उसी का नाम इकार होता है। संस्कृत व्याकरण में गुण वृद्धि इक् के स्थान में होते हैं। अ, ए, ओ तीनों गुण कहाते तथा आ, ऐ, औ, तीनों वृद्धि कहाते हैं। इ, उ, ऋ, लृ, ये चार इक् हैं। जैसे मट्टी से घटादि पदार्थ बनते और उन का अन्त परिणाम बदलने पर जब फि उन का नाश वा मरण माना जाता है। वैसे ही अकार सब अक्षरों का मूल कारण है उसी से निकल २ कर इकारादि वर्ण बने हैं उन का नाशरूप परिणाम बदलने पर फिर वही अकार हो जाता है। गुण वृद्धि संज्ञक छः अक्षरों में सात अंश अकार और पांच अंश इ, उ के हैं। वे पांच अंश भी अकार के परिणामरूप ही हैं। अकार को इ, उ होना वा इ उ के स्थान में अकार होना दोनों दशा अकार को मूल और अन्यों को परिणा जताती हैं। ऋ, लृ अक्षर भी अकार के ही परिणाम हैं इसी कारण ऋ लृ के स्थान में अर् अल् क्रम से गुण कहा है साथ में र् ल् चिन्ह इस लिये लगाये गये हैं कि जिस से ऋ लृ में र् श्रुति ल् श्रुति ही प्रधान है उस का लगा रहना पूर्व दशारूप स्थानी का स्मारक होगा। ऋ लृ का परिणाम रूप गुण अकार होना अकार का परिणाम ऋ लृ को जतलाता है। संसार भर में यह स्वाभाविक नियम है कि जो कोई वस्तु जिस मूल से बनता है वह जब अपनी दशा को छोड़ अवस्थान्तर को प्राप्त होता है तब वही अपनी मूल दशा में स्थिति पाता है मनुष्य के शरीरादि पार्थिव अन्न से बनते हैं जिन को हृष्ट पुष्ट चिकना बना ठना देख२ हम लोग मन २ में आनन्द मानते हैं उन का अन्तिम परिणाम मरण समय में उसी मूल कारण पृथिवी में लय होजाता है। यह भी नियम है कि कारणवस्तु के गुण प्रायः सर्वत्र दीखते हैं जैसे घट पटादि सब पार्थिव पदार्थों में कठोरतादि पार्थिव गुण व्याप्त रहते हैं अर्थात् सब पार्थिव वस्तुओं में पृथिवीपन व्याप्त रहता है। वैसे कारण रूप अकार सर्वत्र लेख में व्याप्त दीख पड़ता है। यवनानी लिपि में इकार उकार कोई स्वर नहीं माने गये। केवल अलिफ़ नामक अकार में ज़ेर पेश नामक चिन्हों के संयोग करके "अलिफ ज़ेर इ अलिफ़ पेश उ" इस नियम से अकार के अवस्थान्तर रूप परिणाम को इ उ मान लिया है। सो उन की भाषा में इ उ नामक परिणामों की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं थी जिस के लिये इ उ वर्णान्तर मानने अवश्य होते। संस्कृत वेदादि में इ उ वर्णों का पृथक् प्रयोग

अनादि काल से ही विद्यमान था उस को देख कर वर्ण मात्रा के परिगणन में इ उ आदि अक्षर भिन्न मानने पड़े। अकार का परिणाम इकार और इकार का परिणाम य् है। अकार का परिणाम उकार और उकार का परिणाम व्कार है तथा अकार के परिणाम ऋ लृ और उन के परिणाम र् ल् हैं। अकार के परिणाम कवर्ग हकार और विसर्जनीय हैं। इ का परिणाम चवर्ग यकार शकार हैं। ऋ का परिणाम टवर्ग रेफ षकार हैं लृ का परिणाम तवर्ग लकार सकार हैं। और उ का परिणाम पवर्ग वकार हैं। इन में कवर्ग हकार तो साक्षात् अकार के परिणाम हैं तथा अन्य चवर्गादि परिणाम रूप इकारादि के परिणाम हैं। जैसे अव्यक्त वा प्रधान नामक प्रकृति सब जगत् का मूल कारण एक ही है। प्रकृति के द्वितीय परिणाम का नाम महतत्त्व तथा तृतीय परिणाम का नाम अहङ्कार है। यद्यपि महत्तत्त्वादि सब प्रकृति के विकार माने जाते हैं तथापि प्रत्यक्ष दीखते स्थूल जगत् की अपेक्षा महदादि पञ्चतन्मात्र पर्यन्त मूल कारण हैं इसी प्रकार यद्यपि सब वर्णमाला का कारण एक अकार है तथापि अन्य वर्णों की अपेक्षा मूल ओम् पद के तीन अक्षर हैं। अर्थात् अकार का व्याख्यान वा प्रथम परिणाम इ, उ, ऋ, लृ हैं फिर उन के परिणाम अन्य कवर्गादि हैं। तदनन्तर उन के भी परिणामरूप व्याख्यान सब वेदादि शास्त्र हैं। इस सब लेख से ओम् पद सब वेदों का भी मूल ठहराया गया है। ओम् के तीन अक्षरों की विशेष व्याप्ति भी इस लेख से सिद्ध ही है। यह सब लेख गोपथ ब्राह्मण के व्याप्तिरूप शब्दार्थ को स्पष्ट दिखाने के लिये लिखा गया है कि सब पदार्थों के अत्यन्त समीप ओम् पद वाच्य है तथा ओम् शब्द भी सब वर्णमय शब्द मात्र में व्याप्त वा प्राप्त हो रहा है। ओम्-यह कृदन्त प्रातिपदिक है प्रत्यय का स्वरूप यहां लुप्त हो जाता है वैयाकरण लोग इस ओम् को उदात्त निपात मानते हैं और वह शब्द सब शब्दों में तथा इस का वाच्य वाच्यों में अन्वयीभूत रहता है। यह यौगिक शब्द कभी अपने स्वरूप से विकारी नहीं होता (सदृशं०) स्त्री पुन्नपुंसक तीनों लिङ्ग में तथा सब विभक्तियों और सब वचनों में इस ओम् शब्द का कुछ भी स्वरूप नहीं बदलता एकहीसा बना रहता है। वैसे इस पद का वाच्य परमात्मा भी सब लिङ्गों विभक्तियों और वचनों में एकहीसा रहता है उस को स्त्री पुरुष नपुंसक कुछ नहीं कह सकते सर्वथा अविनाशी अविकारी है इसी लिये [illegible] कह सकते हैं ॥

आर्यतत्त्वप्रकाश ४ भाग का उत्तर ॥

हम अपने पाठकों को स्मरण दिलाते हैं कि सन् १८८८ ईसवी में एक पुस्तक ईसाई लोगों की ओर से आर्य्यतत्त्व प्रकाश नाम से छपाया गया था जिस के कई अंशों का अच्छा पुष्ट उत्तर स्वर्गवासी पं० लेखराम शर्मा आर्यपथिक ने दिया था तथा अन्य भी किसी २ महाशय ने कुछ उत्तर दिया होगा यह सम्भव है। परन्तु जहां तक जाना गया है "आर्यतत्त्व प्रकाश" के चतुर्थ भाग में जिन का पता दिया है उन मन्त्रों का अर्थ अब तक किसी आर्य पण्डित ने नहीं लिखा यद्यपि मुझ को भी कई महाशयों ने ध्यान दिलाया तथापि मैं इन का व्यर्थ कुतर्कवाद समझ कर उपेक्षा करता रहा। परन्तु अब कई आर्यसामाजिक महाशयों के विशेष अनुरोध से उक्त पुस्तक के चतुर्थ भाग का उत्तर देना आवश्यक समझ संक्षेप से लिखना चाहता हूं—

१–प्रश्न—वेद ईश्वरोक्त और अनादि हैं वा नहीं।

२–प्रश्न—वेदों में ईश्वर के ज्ञान के लक्षण हैं वा नहीं ?॥

ये दोनों प्रश्न ईसाई लोगों ने स्वयं करके आगे २ बहुत व्याख्यान प्रश्नोत्तरादि रूप से लिखा है। हम यहां थोड़े से प्रश्नोत्तर लिखते हैं तदनन्तर मन्त्रों के अर्थ पर विचार लिखेंगे॥

ईसाई—वेदों की साक्षी अपने ही विषय में क्योंकर मानने योग्य हो सकती है ?।

आर्य—इस लेख से इन का प्रयोजन यह है कि आर्य लोग वेद को सूर्यवत् स्वतःप्रमाण मानते हैं सो कैसे ठीक है ?। इस का उत्तर हम यह देते हैं कि ईसाई लोगों को भी दीपक वा सूर्य को तो स्वतःप्रमाण मानना ही पड़ेगा क्योंकि यदि वे दीपक को देखने के लिये कि दीपक जलता है वा नहीं अन्य दीपक जला कर नहीं देखते यदि एक दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक जलावें तो संसार में विक्षिप्त कहावें गे। और यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध भी है कि दीपक वा सूर्य को देखने के लिये कोई भी अन्य दीपक वा सूर्य की अपेक्षा नहीं रखता तो सिद्ध हुआ कि सूर्य वा दीपक जिन का दृष्टान्त वेद की स्वतः सिद्धि में आर्य लोग देते हैं ईसाई लोगों को भी उनका स्वतः प्रमाण मानना ही पड़ता है इस मन्तव्य से ... कोई भी ... नहीं कर सकता।

दीपकादि रूपवान् पदार्थ हैं । अब अन्य इन्द्रियों वा मानव व्यापार में भी अनेक बातें स्वतः सिद्ध हैं । जैसे एक और एक मिलकर दो तथा दो दो मिल कर चार होते हैं, आंख से देखना, कान से सुनना, जिह्वा से स्वाद लेना, अग्नि से शीत की निवृत्ति, जल से प्यास वा उष्णता की निवृत्ति इत्यादि सहस्रों बातें ऐसी ही सब जगत् में मानी जाती हैं जो स्वतः सिद्ध हैं अर्थात् ऐसी बातों को ठीक मानने के लिये किसी अन्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा कोई भी नहीं करता और ईसाई लोगों को भी ऐसी सभी बातें स्वतः सिद्ध माननी अवश्य ही पड़ेंगीं । वेद में भी लिखा है कि—

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥

यजु० अ० २३ । १० ।

अग्नि शीत का औषध है और पृथिवी सब से बड़ा खेत है जिस में सभी कुछ उत्पन्न होता है हम मनुष्यादि के शरीर भी पार्थिव ही हैं पृथिवी रूप खेत से ही उत्पन्न होते अर्थात् पार्थिव अन्न से ही शरीर बनते बढ़ते हैं उसी खेत में रहते चलते फिरते हैं फिर अन्त में उसी खेत में अस्मदादि के शरीर मिल जाते हैं । वृक्ष वनस्पत्यादि सभी कुछ पृथिवी में उगते हैं इस से भूमि ही सब से बड़ा खेत है । और अग्नि ही शीत का औषध है इस का अभिप्राय यह भी है कि जहां कहीं जब कभी जिस किसी का शीत जितना निवृत्त होता है हुआ था वा होगा वह सब अग्नि से ही तीनों काल में होगा । इस में यह तो प्रसिद्ध है कि अधिक शीत में प्रायः लोग अग्नि समीप रखते और उस से शीत निवृत्त करते हैं कोई जला कर सिलगा कर तापता और कोई अपने निवासस्थान में कोठरों में अग्नि रखते अपने २ स्थानों बङ्गलोंमें अङ्गीठी बनवाते हैं इत्यादि । और कहीं ऊनी गर्म वस्त्रों को पहन ओढ़ के तथा कहीं कोई किसी प्रकार के शीत को गर्म कस्तूरी आदि औषध खा कर निवृत्ति करते हैं । आयुर्वेदीय ग्रन्थों द्वारा वैद्य डाक्टरादि लोग सब प्रकार के शीत रोगों की आग्नेय गर्म औषधि करते हैं । वेद शास्त्र के नियमानुसार सूक्ष्म स्थूल सब प्रकार की उष्णता को अग्नि कहेंगे लोक में भी जाठराग्नि, मन्दाग्नि आदि शब्दों का व्यवहार प्रसिद्ध अग्नि परक होता ही है । इस प्रकार जब अग्नि

शीत का औषध और पृथिवी सब से बड़ा खेत है" इन वाक्यों का सब देश काल और वस्तुओं से सम्बन्ध है ये बातें सब को ऐसी ही मानने पड़ती हैं उन २ अवसरों शीत आदि के समयों में साक्षात् अग्नि वा आग्नेय पदार्थों से ही शीत की निवृत्ति सब को करने पड़ती है तो हमारे ईसाई भाई क्या इस को न मानेंगे ? क्या वे लोग शीतल जल को शीत की औषधि कहें वा मानेंगे ? और क्या यह सूर्यवत् स्वतः सिद्ध प्रमाण नहीं है ?। अग्नि से शीत की निवृत्ति के लिये कोई प्रमाणान्तर क्या ये अंगरेजादि ईसाई लोग मानेंगे ?। यदि हां कहें तो किसी बात को भी स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते इस दशा में इन का व्यवहार ही न चलेगा ॥

इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ यजु० अ० २३ । ४८ ।

इन्द्र नाम सूर्य पृथिवी से अत्यन्त बड़ा है परन्तु गोनामक प्रकृतिरूप स्थूल सूक्ष्म ब्रह्माण्ड मण्डली की मात्रा सीमा नहीं संसार अनन्त है । "इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । अथर्व० १३ । ३ । १३ " यहां इन्द्रनाम सूर्य का स्पष्ट ही है । तथा " वशा द्यौर्वशा पृथिवी० वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति । अथर्व० १० । १० । ३०–३४ । यहां वशा नाम से सब ब्रह्माण्ड भरकी प्रकृति स्पष्ट दिखाई है कि पृथिवी सूर्यादिरूप में बनी हुई वशा सर्वरूप है । और वशा शब्द गौका नाम लोक में भी प्रसिद्ध ही है । इन प्रमाणों से यह तो सिद्ध है कि वेद के उक्त उदाहरणों से वेद स्वतःसिद्ध सूर्यादिवत् प्रमाण करने योग्य है । इस पर सन्देह यह हो सकता है कि हम मान भी लेवें कि वेद में अनेक बातें ऐसी हों जो सर्वमान्य कहीं जांय तो ऐसी सर्वमान्य बातें प्रत्येक पुस्तक में हो सकती हैं तब वेद ही सर्वोपरि स्वतः सिद्ध प्रमाण है यह कैसे बनेगा जब वेद में अग्नि आदि तत्त्वों की पूजा स्पष्ट ही है अर्थात् तुम सब वेद को स्वतः सिद्ध प्रमाण योग्य सत्य नहीं ठहरासकोगे देखो ऋग्वेद के आरम्भ से ही अग्नि की स्तुति है। अग्निशब्द का अन्य अर्थ करोगे तो कौन मानेगा ? और यह भी विचारणीय है कि जैसे " अग्नि शीत का औषध है " ऐसी बातें स[illegible] साधारण बिना पढ़े ग्रामीण लोग भी जानते हैं यदि ऐसी ही बातों के वत[illegible]

के लिये वेद है तो जो बातें हम स्वयं ही विना किसी के बतायें जानते हैं उन के लिये वेद को मानना व्यर्थ है ॥

उत्तर—हम प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं कि वेद का एक २ अक्षर तक जब स्वतःप्रमाण के योग्य है तो किसी प्रकरण वा मन्त्र को कौन व्यर्थ ठहरा सकता है। हम अपने अन्तःकरण से दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई अल्पाशय वेद के किसी मन्त्र को व्यर्थ समझते वा अधिक दोष युक्त समझते हैं। उस को हमारे पास दोष सहित लिख भेजें हम उस को निर्दोष सिद्ध करदेंगे। इसी के अनुसार ऋग्वेद के आरम्भस्थ प्रथममन्त्र पर समाधान सुनिये॥

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥

यहां अग्नि का पुरोहित विशेषण है। जो पुरस् नाम आगे पूर्व से ही हितनाम धरा गया जो आगे धरा जाता जो आगे धरा हुआ प्रत्येक प्राणी के साथ विद्यमान है इसी से जिस को आगे धरना चाहिये जो भविष्यत् में भी आगे धरा जायगा वा सब को परवश हो आगे धरने पड़ेगा वह पुरोहित है "डुधाञ्धारणपोषणयोः" धातु से हित शब्द बनता है। प्रत्येक शरीर में जीवन शक्ति आगे छाती के भीतर धरी गयी है "मानसोऽग्निः शरीरेषु जीवइत्यभिधीयते" यह महाभारत में लिखा है कि मानस विचारशक्ति जिस का नाम जीवन वा जीव है वह गर्मी रूप अग्नि शक्ति नाभि पेट हृदय छाती आदि में अधिक कर रहती है इसी कारण पीठ की अपेक्षा आगे उदरादि में प्रत्यक्ष भी गर्मी अधिक दीखती है उसी पुरोहित अग्निरूप जीवन की रक्षा के लिये प्रायः लोग आगे छाती को वस्त्रादि से अधिक ढांपते गर्म रखना चाहते मोटा वा ऊनी वस्त्र पहन कर गर्म रखना अच्छा मानते हैं। और प्रत्येक पदार्थ का सजातीय अनुकूलांश पोषक वा रक्षक होता यह भी संसार में एक नियम है। जैसे बाह्य अन्नादि नामक पार्थिव अंश हमारे पार्थिव शरीरांश का रक्षक पोषक है वैसे बाह्य अग्नि हमारे पुरोहित अग्नि का रक्षक पोषक अवश्य है इसी लिये बाह्य अग्नि से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये अग्नि आगे धरा जाता है अग्नि से तापने, रोटी पकाने, रेल का अञ्जन चलाने तथा लोहा सुवर्ण आदि तपाने वाले सभी लोग अग्नि को सामने रखते हैं इसी के अनुसार अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाले भी अग्नि को सामने रखते हैं। यदि अग्नि की ओर

पीठ करें तो अग्नि से कोई काम ठीक नहीं हो सकता किन्तु अपनी हानि होने जल जाने का भय तो अवश्य होगा। और हमारे शरीर में आग्नेय चक्षु तथा ज्ञा-नाग्निरूप शक्ति जिस के द्वारा हम बाह्य अग्नि से ठीक काम ले सकते हैं वह भी हमारे आगे सामने धरा है इसी लिये सामने रखकर बाह्य अग्नि से काम ले सकते किन्तु पीठ पीछे रक्खें तो हम को वहां का ज्ञान ही नहीं हमारे आगे धरे आग्नेय चक्षु बाह्य अग्नि से काम लेने में उपयोगी और आगे धरा बाह्य अग्नि चक्षु से होने वाले काम का सहायक उपकारी है। सृष्टि क्रम के निय-मानुसार सर्गारम्भ से ही ईश्वरने अग्नि को पुरोहित किया अर्थात् हमारे आगे धरा और हम को परमदयालु परमात्मा ने सर्वोत्तम ज्ञान के अगाधभण्डार वेद द्वारा उपदेश किया कि तुम लोग मेरे नियमानुसार बाह्याग्नि को भी पुरोहित करो आगे धरो जिस से इसी के अनुसार तुम्हारे अन्तराग्निरूप जीवन की पुष्टि होती रहे।

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे॥

इत्यादि मन्त्रों में "पुरोदधे" अग्नि को आगे धरता हूं आगे धरा था और सामने रखता हूं मुझ को सामने रखना चाहिये इत्यादि सब पुरोहित शब्दका व्याख्यान है। इसी को चाहें यों कहो कि "पुरो दधे। पुरोहितम्" का धारण एकार्थ देख कर ही पाणिनि आचार्य ने धारणार्थ धाञ् धातु की कल्पना की और तकारादि कित् प्रत्यय के परे धाञ् धातु को हि आदेश कहा। अर्थात् व्याकरण के सब अंश वा अधिकांश वेद को मूल मान कर बनाये। तथा अग्नि यज्ञ का देव है यज्ञ को प्रकाशित प्रसिद्ध करने वाला यज्ञ का साधक है। ब्रह्म यज्ञ स्वाध्याय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनादिरूप ऋषियज्ञ का साधक प्रकाशक वाणी रूप अग्नि है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य वा प्राणिमात्र में शब्द द्वारा होने वाले कार्यों का प्रकाशक वाक् अग्नि है। होमरूप देवयज्ञ को सिद्ध करने वाला प्र-सिद्ध बाह्य अग्नि है। पुष्पादि के सुगन्ध को उड़ाकर फैलाने वाला पुष्प में रह-ने वाला गुप्ताग्नि है। पितृयज्ञरूप मनुष्यों में योग्य के सत्कार आदर पूजन का हेतु वा साधक मानस अग्नि है। इस प्रकार नाना प्रकारों से नाना प्रकार के नामों से नाना यज्ञों का देव नाना प्रकार का अग्नि है अर्थात् कोई भी उत्तम काम अग्नि के विना सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अग्नि ऋत्विज् है—जैसे वस-

हेमन्त ऋतु में ढाक आदि को फुला गेहूं आदि को पका कर मनुष्यादि का यजन पूजन करता, वैसे ग्रीष्मादि भिन्न २ ऋतुओं में भिन्न २ प्रकार के अन्न फल फूल कन्दमूल वृक्ष वनस्पति आदि को फलित पुष्पित करके जगत् के सब प्राणियों का पूजन करता सब को सुख पहुंचाता है। स्त्रियों के ऋतुकाल में अग्नि ही गर्भ स्थिति का कारण होता "अग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य" इस सुश्रुत के प्रमाणानुसार अग्नि सोम वा पुरुष शक्ति स्त्री शक्ति ये दोनों गर्भस्थिति में प्रधान कारण हैं। परन्तु इन में भी पुरुषशक्ति सम्बन्धी अग्नि प्रधान है इस कारण गर्भ स्थिति करके तथा सन्तानोत्पत्ति का मूल कारण बनकर ऋतुकालों अर्थात् उन २ इष्ट सिद्धियों के अनुकूल समयों में सन्तानोत्पत्ति आदि द्वारा मनुष्यादि प्राणियों का यजन पूजन करने वाला अग्नि होता है इसी लिये हम को प्रत्येक ऋतु में उत्तम२ यज्ञ करके बाह्य प्रसिद्ध वा सर्व व्याप्त अग्नि का यजन पूजन करना चाहिये अर्थात् भौतिक शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सुखों की प्राप्ति के लिये हम बाह्य अग्नि की शुद्धि के उपाय सदा करते रहें तभी हम को सुख हो सकता है। अग्न्यादि तत्वों से बने अपने शरीर के अग्नि आदि को ठीक अनुकूल शुद्ध रखने के लिये होमादि द्वारा बाह्य सहायक अग्नि आदि को पूजितनाम शुद्ध करते रहैं। इस प्रकार ऋत्विज् शब्द का अर्थ भी सर्व व्याप्त है। पूजा शब्द का व्यवहार पहिले कुछ और था अर्थात् जड़ पदार्थों को अच्छा करना बनाना वा रखना पूजा कहाती थी किन्तु जड़ का पूजन चेतन के स्थान में नहीं किया जाता था। सो इस प्रकार की भूत पूजा से वेद में कोई दोष नहीं आता किन्तु वेद में लिखे अनुसार अग्नि वायु आदि देवताओं की शुद्धि वा पूजन किये विना हम लोग दूषित वा दुःखित रहते हैं इस कारण वैसा न करने से हमारी ही हानि है। जैसे कि किसी घर का वायु बिगड़ा रोग कारी प्राणघातक हो गया हो तो उस वायु की कुछ हानि नहीं और न शुद्ध हो जाने से वायु को कोई सुख मिलता किन्तु उस घर के निवासी को वायु के पूजित नाम अच्छे होने से सुख और बिगड़े अपूजित रहने से दुःख होगा इस प्रकार वायु आदि द्वारा अपने को सुख होने के लिये वेद में कही होमादि द्वारा देवपूजा है। इसी प्रकार का निर्दोष सर्वव्याप्त सृष्टि क्रम के अनुसार वेद के सब मन्त्रों का त्रिकालाबाध्य सत्यार्थ घट सकता वा हो सकता है जिस से सभी वेद एक २ मात्रा तक निर्दोष ठहरता है इस से पहिले प्रश्न का उत्तर आगया। अब ईसाई महा-

शयों से पूछते हैं कि क्या आप लोग अग्नि को पुरोहित नहीं मानोगे ? क्या आप पुरोहित मानने से बच सकते हो ? क्या आप के भीतर सामने हृदय में रुधिर बनने का स्थान अग्नि का कलाघर नहीं है ? क्या आप के उदर के सामने जाठराग्नि नहीं है ? क्या आप के शिर में मुख से ऊपर सामने आंखेंरूप आग्नेय शक्ति नहीं है ? क्या ईसाई लोग रोटी पकाते समय अग्नि को पीठ पीछे कर लेते हैं ? क्या अंजन चलाने वाले अग्नि को सामने न रक्खें ऐसा हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं । किन्तु ईसाई मुसलमान आदि सभी लोगों को पराधीन हो कर अग्नि को पुरोहित मानने पड़ेगा और स्वतःसिद्ध सभी वस्तु वा विषय सभी को मानने पड़ते ही हैं । " आग्नेयो वै ब्राह्मणः " यह ब्राह्मण ग्रन्थों का लेख वा प्रमाण है । इस से अग्नि सम्बन्धी सत्त्वगुण वाला धर्मनिष्ठ होने से ब्राह्मण भी पुरोहित होता वा माना जाता है । अर्थात् जो पुरुष जिस कक्षा तक मान्य होता उस को लोग वैसा ही अधिक सामने बैठाते हैं सामने होकर आदर सत्कार पूजन करते हैं इस से पुरोहित शब्द का अग्नि और ब्राह्मण दोनों में एकही अर्थ है ॥

और द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे आयुर्वेद—डाक्टरी पढ़े विना कोई नहीं जान सकता कि किस शीत रोग का कौन आग्नेय वस्तु औषध है। इसी के अनुसार "अग्नि शीत का औषध है" इस का स्थूल आशय सर्वसाधारण को ज्ञात भी किसी प्रकार हो जाय परन्तु सर्वव्याप्त सूक्ष्मार्थ किसी को वेद का पूर्ण बोध हुए विना ज्ञात नहीं हो सकता और सृष्टि के आरम्भ में वह स्थूलार्थ बोध भी प्रथम मनुष्यों को वेद से हुआ पश्चात् जो सीधीबात थी उस का लोक में शीघ्र प्रचार हो गया विना पढ़े ग्रामीण तक भी जान गये पर उसी विषय का जो २ अंश विद्वत्ता से सम्बन्ध रखता था उस को सब किसी ने नहीं जान पाया न जान सकते हैं इस से वेद को पढ़ने और सम्यक् जानने के लिये आवश्यकता सिद्ध होगयी किन्तु वेद का कुछ भी अंश व्यर्थ नहीं है ॥

ईसाई—हम इस वचन का प्रमाण मांगते हैं कि वेद सत्य हैं वा नहीं ॥ ?

आर्य—वेद सत्य हैं इस का प्रमाण हम पूर्व लेख में दे चुके कि प्रदीप प्रकाशवत् वेद स्वयं प्रमाणभूत हैं तो तुम्हारे प्रश्न का आशय यह होगा कि हम प्रमाण का प्रमाण मांगते हैं । और प्रमाण का प्रमाण होता नहीं जो प्रमाण से सिद्ध होने योग्य होता वह प्रमेय कहाता है। वेद के स्वतःसिद्ध होने के विषय में कहे

उदाहरण पूर्व लिख चुके हैं। जब कि वेद शब्द रूढि नहीं किन्तु यौगिक विद्या वाचक है तो जो विद्या वा ज्ञान है वह असत्य नहीं होता और जो असत्य हो उस को वेद वा विद्या नहीं कह सकते किन्तु उस का नाम अविद्या अवेद अज्ञान मिथ्याज्ञान आदि होगा । तो तुम्हारा प्रश्न ऐसा ही हुआ कि “ अज्ञान मिथ्या है इस का प्रमाण हम मांगते हैं” जैसे यह प्रश्न प्राज्ञ लोगों में हंसी कराने वाला है वैसे ही तुम्हारा प्रश्न-“ वेद सत्य हैं वा नहीं “ हो गया ॥

आर्यावर्त्तवासियों में से जैन बौद्धादि वेद के विरोधी अनेक मत खड़े हो गये तथा अब जो सामान्य पण्डित वा पौराणिकादि अनेक मतवादी विद्यमान हैं उन में अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो वेद को ठीक सत्य नहीं मानते । श्रीमद्भागवत के सामने वैष्णवलोग शतांश भी वेद को अच्छा नहीं कहते मानते इस से और आगे चलो तो जो लोग वेद को अच्छा कहते मानते हैं उन में भी कोई २ ही वेद का कुछ २ महत्त्व जानता है । और जो जिस का महत्त्व नहीं जानता उस का मानना भी न मानने के समान इस लिये है कि वह विना नींव की भित्ति के समान डिग जाने वाला है । सदा ही सब वस्तु वा प्राणी अच्छे कम होते निकृष्ट अधिक होते हैं । वेद का ठीक जानना तत्त्वज्ञानी वा ज्ञानी होना एक ही बात है । यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से भी आधे तिहाई वा चतुर्थांश भी मनुष्य वेद का ठीक तत्त्व जानने वाले कभी एक काल में होने सम्भव नहीं तथापि प्रति सैकड़ा एक दो तत्त्वज्ञानी अवश्य होते आये । धीरे २ काल के परिवर्त्तन से वेदपारग कम होते गये । बौद्ध मत का प्रबल प्रचार होने से बहुत पहिले ही लोगों को अज्ञान मोहान्धकार की प्रबलता से वेद में भ्रान्ति होना बीजरूप से आरम्भ हुई । वह भ्रान्ति बौद्धमत के समय वृक्षरूप हो गयी तिस पीछे वह भ्रान्ति का वृक्ष आगे २ पुष्ट होता आया । यद्यपि सम्प्रति अङ्गरेज़ ईसाइयों के राज्य में विद्या सम्बन्धी विषयों का वा मतों का आन्दोलन अधिक है तथापि वेद के महत्त्व को जानने से सभी वञ्चित हैं । इसी कारण अब क्रोड़ों में एक दो मनुष्य भी ठीक वेद का तत्त्व जानने वाला प्रतीत नहीं होता। यदि सृष्टि भर में दोचार भी ठीक वेदपारग हों तो कुछ अन्धकार मिट सकता है इस लिये बौद्धादि के न मानने से वेद अमान्य है यह युक्ति अति निर्बल है । यदि [illegible] ममता छोड़कर

वेद की ठीक जांच करना चाहेंगे तो स्थालीपुलाक न्याय से वेद की सत्यत समझाने के लिये हम भी यथाशक्ति यथावकाश अवश्य परिश्रम करेंगे । औ यदि प्रायः मतवादियों का सा इन का भी अभिप्राय है कि अपने को दबा वाले मतों को बुरा कह लिख कर अपने मत का महत्व बढाना चाहते हैं त इन का श्रम सुफल होने की अब आशा नहीं रही क्योंकि वेद दैवी सम्पत्ति औ अन्य सभी मत वा पुस्तक आसुरी सम्प्रदाय के हैं यद्यपि वेद की ओर चलने वाले वा वेद का महत्त्व खोलने के लिये बने पुस्तक अन्यों की अपेक्षा दैवी सम्पत्ति में रहें तथापि वेद की अपेक्षा वे स्मृत्यादि भी आसुरी हैं । अस्तु-हमार यह काम है कि हम वेद के महत्त्व को प्रकट करें ।

वेद किस के बनाये हैं इस विवाद से किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं किन्तु विचार यह होना चाहिये कि वेद सत्य हैं वा नहीं । यदि कोई यह ठहरा भी दे कि वेद किसी देहधारी ऋष्यादि के बनाये नहीं तथा किन्हीं युक्ति प्रमाणों से यह भी मानने पड़े कि वेद ईश्वर की विद्या है वा ईश्वरकृत है तो भी विद्यमान वेदों के पुस्तकों से यावत् उन की सत्यता ठीक सिद्ध न हो जाय तब तक किसी को वेद के मान्य होने का पक्का विश्वास नहीं हो सकता जिन मनुष्यों में जिस समय पूर्ण आप्तभाव जिन विषयों में जो लोग मानते हैं उन के विचारों वा उपदेशों को वे सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त मानने लगते हैं यही शब्द प्रमाण का मुख्य विषय है और शब्द प्रमाण का ऐसा व्यवहार सब देशों सब कालों तथा सब जातियों में सृष्टि के आरम्भ से अन्त समय तक न्यूनाधिक भाव से रहा करता है संसार का व्यवहार अधिककर शब्द प्रमाण पर चला करता है किसी विषय में यदि किसी को किसी बात को कोई प्रामाणिक सत्य न माने तो लोक व्यवहार नहीं चल सकता । परन्तु ईश्वरीय विद्या जीव ईश्वर प्रकृति मुक्ति आदि अतिसूक्ष्म विषयों में किसी सर्वोत्तम परीक्षक का ही प्रमाण माना जाता है । साधारण मनुष्य जो लौकिक कोटि में ठीक प्रविष्ट हैं वे लोग जि वाद द्वारा ऐसे सूक्ष्म विषयों को ठीक नहीं समझ पाते पर यदि जिज्ञासु होक विवाद भी करते रहें तो मर्म तक उनकी बुद्धि न पहुंचने पर यदि उस के आप्त समझने लगें तो सन्देह अवश्य मिट सकते हैं । इत्यादि विचार के अनु सार यह तो आशा है कि ऐसाई लोग हमारे इस लेख पर पूरा ध्यान दें

कर वेद की ओर झुक के अपने जन्म को सुफल करें तथापि हमारा काम है कि समझाने का उद्योग करें कुछ तो फल हो होगा ॥

पूर्व लिखे उदाहरणों के अनुसार हम ने वेद को सर्वथा ठीक सत्य माना है। ऐसा सत्य जगत् में कोई अन्य लेख न है न हो सकता है इसी लिये वह सर्वोपरि प्रामाणिक है किन्तु वेद ईश्वरीय विद्या होने से सर्वमान्य है वा होना चाहिये यह हमारा पक्ष वा आग्रह नहीं है किन्तु हम यह कहते हैं कि वेद सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त होने से हम को ईश्वरीय वाक्य इस कारण मानने पड़ता वा मानना चाहिये कि मनुष्य अल्पज्ञ है मनुष्य का बनाया कोई काम सर्वज्ञ के बनाये से तुलना करने योग्य नहीं होता जिस में जिस कक्षा तक ज्ञान वा बोध होता वह उतना ही कह वा लिख सकता है अधिक नहीं। तथा मनुष्य सभी देश काल परिच्छिन्न होते अर्थात् किसी निज देश और काल में उत्पन्न होकर नियत समय तक रह कर मर जाते उन सबका लेख वा विचार भी उसी देश काल के साथ परिच्छिन्न रहता है मनुष्य के विचार सार्वदेशिक सार्वकालिक नहीं हो सकते वेद को छोड़ अन्य कोई भी ऐसा पुस्तक जगत् में नहीं है जिस में देश काल और वर्णन करने का विषय परिच्छिन्न न हो। इस कारण वेद सत्य है जो सार्वदेशिक सार्वकालिक नियम वा उद्देश हैं उन्हीं का नाम वेद है यदि ऐसे नियम अन्य देशों वा भाषाओं में भी प्रचरित हैं जिन को सब कोई निर्भ्रान्त सत्य मानते हैं तो वे सब वेद से ही निकले हैं जब ऐसे सार्वदेशिक सार्वकालिक सर्वोपयोगी उद्देशों को ईसाई आदि लोग भी स्वयं निर्भ्रान्त सत्य प्रमाण मानते और उन को मानने पड़ता है जैसा कि पूर्व हमने उदाहरण दिये कि "अग्नि शीत का औषध, पुरोहित, यज्ञ का देव और ऋत्विज् है" तो इन लोगों से पूछना चाहिये कि जिस को हम वेद ठहराते हैं उस को तुम स्वयमेव सत्य मानते हो और मानने से तुम क्या कोई भी नहीं बच सकता तब किस मुख से हम पर प्रश्न करते वा कर सकते हो कि "हम वेद के सत्य होने में प्रमाण मांगते हैं ?" अब हम ईसाई आदि लोगों को विशेष सम्बोधन के साथ सचेत करते हैं कि अब निद्रा हठ दुराग्रह छोड़ो जागो अपने आपे में आजाओ, स्मरण रक्खो कि अब तुम लोगों को वेद की सत्यता माननी पड़ेगी बचोगे नहीं। यदि ऊपर से अपने हठ को नहीं भी त्यागोगे तो भी तुम्हारा अन्तरात्मा अवश्य मानेगा। इस लिये विचार पूर्वक चलो।

ऋग्वेद के आरम्भ में अग्नि की स्तुति है सो ठीक है यह कोई साधारण

बात नहीं जो पदार्थ जैसा है उस के वास्तविक अच्छेपन का वर्णन करना स्तुति कहाती है सो थोड़े दो तीन पदों का वर्णन पूर्व हम ने किया वह अग्नि की स्तुति का उदाहरण मात्र है ऐसी अग्नि की स्तुति वेद में बहुत भरी पड़ी है "अग्नि की स्तुति करता हूं इस से वेद में कही सब स्तुति की प्रतिज्ञा दिखाई इस कारण (अग्निमीडे) कहने से ग्रन्थ भर का विषय कहा गया "ईड स्तुतौ ऋच स्तुतौ" ये दोनों एक ही अर्थ वाले धातु हैं । ऋच से ऋग्वेद और ईड से उसका विषय स्तुति दिखा दियागया । क्या अग्नि में जो अच्छे गुण हैं उनको ईसाई लोग न मानेंगे ? क्या उन गुणों के कारण ईसाई लोग अग्निकी स्तुति नहीं करते ? क्या ये लोग अग्नि को अच्छा कहे माने विना अपना कोई व्यवहार सिद्ध कर सकते हैं ? कदापि नहीं इस कारण ईसाई आदि लोगों को भी जब अग्नि की स्तुति करनी पड़ती है तो वेद पर दोष लगानेकी चेष्टा क्या अपने आप को दोषी बनाने का उद्योग नहीं है ?। यदि कोई कहे कि ऋग्वेद में अग्नि की ही स्तुति है ? इन्द्रादि की नहीं ? तो उत्तर यह है कि वेद में अग्नि मूल देवता वा प्रधान है उसके साथ में अन्य शाखा वा गौण देवता आसकते हैं जैसे वर्ण-माला में अकार सब वर्णों का मूल बीज रूप है अन्य वर्ण उसी अकार के प-रिणाम अवस्थान्तर हैं ऐसे यहां भी अग्नि के अवस्थान्तर वा अवान्तर भेद इ-न्द्रादि देवता हैं इस कारण अग्नि की स्तुति कहने से वेदोक्त सब देवताओं की स्तुति आजाती है ॥

हमारे इतने लेख से हमारे पाठक महाशय तथा ईसाई लोग आशा है कि समझ सकेंगे कि ईसाइयों की अन्य साधारण बातों का उत्तर भी ये दे सकते हैं इस से हम अधिक उत्तर देने में लेख बढ़ाना अच्छा उपयोगी नहीं समझते । इसलिये अब केवल मन्त्रों पर हम अपना परामर्श लिखेंगे आशा है कि ईसाई लोग तथा हमारे पाठक महाशय विशेष ध्यान देकर शोचेंगे ॥

ईसाई—ऋषियों ने तीन प्रकार से अर्थात् बनाने और रचने और उत्पन्न करने से उन मन्त्रों के आचार्य होने की ममता को दृढ़ किया है । इन में से प्रथम—बनाने के विषय में—ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ६१ मन्त्र १६ । "एवा ते हा-रियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्" अर्थात् हे इन्द्र उच्चैःश्रवा नामक घोड़े की सवारी करने वाले गौतम मुनि के पुत्रों ने तेरे लिये सुन्दर सूक्त बनाये हैं ॥

आर्य—यह बात बहुत दिनों से कहते लिखते सिद्ध हो चुकी है कि "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" पूर्व मीमांसादि ग्रन्थों के इत्यादि प्रमाणों के अनुसार तथा वेद में ही वेदका यौगिकार्थ दीख पड़ने से वेदके शब्दों का सामान्य यौगिकार्थ होना चाहिये। रूढ़ि अर्थ लेना वेद के सिद्धान्त से विरुद्ध है अर्थात् यौगिकार्थ को लेकर ही ईश्वर ने वेद का प्रकाश किया तो हमारा रूढ़ि अर्थ मानना वेद विरुद्ध है। इस मन्त्र का अर्थ इन ईसाई लोगों ने सायण भाष्य से लेकर लिखा है और (उच्चैःश्रवा नामक घोड़े) इतना अपनी ओर से जोड़ा है। यह मन्त्र पूरा नहीं लिखा किन्तु आधा लिखा है पूरा मन्त्र—

एवा ते हरियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्। ऐषु विश्वपेशसं धियन्धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥

इस प्रकरण में ५८ से ६४ तक सात सूक्तों का नाधा गौतम ऋषि उपक्रमणिका के अनुसार है। आर्यसिद्धान्त भा० ६ के संस्कार विषयक लेखों में ऋषि शब्दपर कुछ लेख हम कर चुके हैं जिस में सिद्धान्त यह है कि—

यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता ॥

उस २ मन्त्र वा सूक्त का कहने वाला ऋषि है अर्थात् जिस प्रकार की योग्यता वाला जैसी चाहना वाला मन्त्र में कहे विषय की आवश्यकता रखता हुआ तथा उस वस्तु वा विषय को प्राप्त होने योग्य उस का कहने वाला सामान्य पुरुष ऋषि कहाता है और मन्त्र वा सूक्त में जिस विषय वा वस्तु का वर्णन है वह देवता कहाता है। जैसे देवता किसी निज का वाचक नहीं वैसे ऋषि भी कोई निज उस नाम का देहधारी नहीं है। इसी विचार के अनुसार मन्त्र का अर्थः—

अ०—हे हारियोजन—"हरी इन्द्रस्य निघण्टौ १। १५" हरी हरणशीलौ पार्थिववस्तुभ्यो जलं सद्यो हरत इति हरी इन्द्रस्य मध्यान्हस्थसूर्यस्य द्विविधौ किरणौ भवतस्तयोर्योजनं सम्बन्धो येन सूर्यमण्डलेन लोकस्थानीयेनास्ति स हारियोजनः सूर्यलो-

सूचना

यद्यपि प्रथम लिखी सूचना से विरुद्ध आ० सि० के निकलने में अब की बार भी अतिकाल हो गया इसी लिये अब यह प्रबन्ध किया है कि प्रतिमास एक नियत तिथि को एक २ ही अङ्क निकला करे पूर्ण आशा है कि अब यह प्रबन्ध चला जायगा ॥

२—पाठशाला का प्रबन्ध अब अच्छा है। आज कल १८। २० विद्यार्थी पढ़ते हैं अध्यापक अच्छे योग्य हैं। ७ विद्यार्थी ब्रह्मचारी बन के रहते यथासम्भव मुख्य२ ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन भी सम्यक् कराया जाता है। भोजन बनाने के लिये रसोइया नियत हो गया है विशेष हाल पीछे लिखेंगे। जमा खर्च आगामी अंक में छपेगा। सहायक लोग पाठशाला का स्मरण रक्खें।

३—मनुभाष्य ३ अ० की १ जिल्द पूरी हो कर बिकने लगी मूल्य ३) है पुस्तक ७४४ पृष्ठ का पुष्ट कागज पर छपा है। ग्राहक लोग इस को पूरा पढ़ नहीं पावेंगे तभी तक ६ अ० तक की द्वितीय जिल्द छप जायगी। पुनर्जन्म विषय का एक नया पुस्तक छपाया गया है नाम भी "पुनर्जन्म" ही है इस से अधिक पुनर्जन्म की पुष्टि कदाचित् ही होसके आस्तिकों के लिये सर्वोपयोगी पुस्तक है मूल्य ≡)॥

भगवद्गीता भाष्य" यह पुस्तक छप कर तयार हो गया बहुत दिनों से अनेक ग्राहक महाशय इस की चाहना कर रहे थे वेद विरुद्ध श्लोक छोड़ कर इस का भाष्य संस्कृत और नागरी भाषा में अच्छा किया गया है जिस की उत्तमता ग्राहकों को देखने पर ही ज्ञात होगी मूल्य भी थोड़ा अर्थात् २।) पूरे का तथा जो लोग पहिले छपे ३ अध्याय ले चुके हैं उन को अ० ४ से १।) में मिलेगा। इस में ५ अध्याय बीच २ के छूट जाने से अब केवल १३ अध्याय का भाष्य हुआ है ॥

मांसभोजन विचार तीनों भाग का खण्डन अच्छे पुष्ट युक्ति प्रमाणों के साथ भिन्न२ पुस्तकाकार छप गया। प्रथम –)॥ द्वितीय =)॥ तृतीय ≡)। इन में भाग ३ का अथर्ववेद सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ विशेष कर देखने योग्य है ॥

"वैराग्यशतक" भर्तृहरिकृत मूल पर श्लोकार्थ और मनुष्यों को सचेत करने वाला भावार्थ भाषा में छपा है मू० ।) "पुत्रकामेष्टि" पद्धति यह पुस्तक बड़े परिश्रम से संग्रह कर के छपाया है जो उत्तम श्रेष्ठ पुत्र चाहते हों वा जिन के यहां केवल कन्या होती हों उन के पुत्र होने के लिये उपयोगी होगा पुस्तक दर्शनीय है मूल्य =)

ह पांचों सूचना यह है कि अनेक महाशय ओषधियों के विषय में पूछा करते हैं सो अन्य दूकानदारों की अपेक्षा मैं "पं० हीरालाल शर्मा वैद्य डाक थवियाल जि०-अम्बाला" को अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी ओषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे। दीन दुःखियों को विना दाम भी ओषधियां देंगे। इन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है। "अमृताञ्जन" नामक औषध जो नेत्र रोगों के लिये इन्हों ने बनाई है ग्राहकों को मंगाकर परीक्षा करनी चाहिये॥

भवन्मित्रो-भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक !

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ८

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ श्रावण शुक्ल १ अगस्त सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(ता० ७ मई से जून ९७ तक ॥)

१९४८ पं० चिरञ्जीवलाल शर्मा शिकोहाबाद १।)
१२२५ बा० पहलीलालजी निभाख १।)
२३१ पं० कृष्णलालजी नागर मथुरा १।)
१२३० ला० दामोदर जी भड़ोच १।)
१८५ पं० चन्द्रदत्त शास्त्री अलवर १।)
८६५ ला० मुकुन्दीलाल जी काज़िमाबाद १।)
९२३ पं० भगवानसहाय जी कासगंज ॥=)
७२२ श्री बा० निहालसिंह जी कर्णाल १।)
६८५ बा० रघुनन्दनप्रसाद सोनपुर १।)
१११३ पं० छेदीप्रसाद जी बलौदा बाजार १।)
९९७ ला० भिखारीलाल जी रायपुर २॥)
५६६ बा० माधवराव जी भण्डारा १।)
८२१ बा० गेन्दसिंह जी दुरग २॥)
८८६ पं० कामताप्रासद जी हैदराबाद १।)
१२३१ पं० गदाधरप्रसाद जी बिलासपुर १।)
४६५ पं० सालिग्राम जी रायगढ १।)
१३६ बा० सेवकलाल जी मुम्बई १।)
१११९ बा० श्यामसुन्दरलाल उज्जैनि १।)
१०९५ बा० मनमोहनलाल जी भगवानपुर १।)
१६९ बा० रामभरोसलाल जी गाजीपुर १।)
१२२९ बा० [illegible] कानपुर १।)

१९३ ला० मन्नूलाल जी अनूपशहर १।)
१२२८ बा रामकृष्णलाल जी मुजफ्फरपुर १।)
७५३ मास्टर दीवानचन्दजी नाहन १।)
५७४ हकीम रेवतीवल्लभ अनूपशहर १।)
७३५ ला० दमडीलाल जी पिनहट १।)
१०१ पं० मूलचन्दराव खैरागढ़ ॥)
२३१ मन्त्री आर्य्यसमाज-हर्दोई १।)
२१३ बा० रुस्तमसिंह जी कानपुर १।)
९०८ श्रीजयमंगल शर्मा सावरपुर १।)
१०४ ला० चिम्मनलाल जी तिलहर १।)
८०८ पं० कर्त्तारामं शर्मा जगरांव १।)
१२० भवानीदीन जी बहराबच १।)
५१९ बा० रामशरणलाल शिमला १।)
४०८ कुं० मथुरासिंह जी मैंनपुरी १।)
१६६ पं० बेंचेलाल घुरसेन १।)
३६८ पं० पुत्तूलाल जी मैंनपुरी ।=)
११९६ श्री मोहन प्राणजीवन त्रिवेदी रायपुर १।)
४८२ श्री रामगोपाल जी हथीन २॥)
५४८ श्री रामप्रसाद जगाधरी १।)
१०६५ बा० गंगाराम जी बिलासपुर २॥)
१२३२ गणेशदास जी पसरूर १।)
१०६७ बा० गंगाराम तालग्राम ॥=)
१२३५ पं० रामेश्वर बाजपेयी कलकत्ता १।)
४१० पं० रामजीमलशर्मा मक्कौलिया ५)
१२३७ महाराज सिंह वर्मा [illegible]सुन्दर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ८

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(भा० ८ अं० ७ पृ० १४० से आगे आर्यतत्त्वप्रकाशकाउत्तर)

कस्तस्य रथस्थानीयस्यायं स्वाम्यधिष्ठाता हारियोजनस्तत्संबु द्धौ हे हारियोजन प्रकृष्टतेज इन्द्र ["स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । अथर्व १३ । ३ । १३" इति कथनान्मध्याह्नकालिकं सौर्यं तेज इन्द्रपदवाच्यम् ।] गोतमासो बहुषु गोषु स्तोतृष्वतिशयेन स्तोतारोऽस्मदादयो मनुष्याः [गौरिति स्तोतृनाम । निघण्टौ ३ । १६ । ततो गोशब्दादतिशायने तमप् प्रत्ययः] सुवृक्ति सम्यगनिष्टरजस्तमोवर्जकानि ते तव ब्रह्माणि वर्धकानि स्तोत्राणि स्तुतिवाक्यरूपाणि तव गुणोत्कर्षजनकमन्त्रानक्रन्नेव कुर्वन्त्येव कर्त्तव्यान्येव तादृशानि स्वहितसाधकानि स्तोत्राण्यस्माभिरिति । एषु गोतमेषु स्तोतृषु विश्वपेशसं सर्वप्रकारां धियमाधाः । प्रातःकाले प्रतिदिनं धिया कर्मणा प्रज्ञया वा

सहितं वसुः सुखेन वासहेतुकं धनादिकमस्मभ्यं मत्तु क्षिप्रमाजगम्यादागच्छेत् ॥

भा०–सृष्टिक्रमानुकूलं यत्कृत्यं वस्तु वा यतः सम्भवति यस्मात्कारणात्सर्वदा कालत्रयेऽपि भवति तस्मादेव कारणात्तस्य सम्भवो वेदेऽपि प्रदर्शितः। सर्वत्र वेदे प्रत्यक्षवस्तुनि मध्यमपुरुष योगोऽपि निरुक्तकाराभिमतएव तत्र सम्बोधनस्य स्वभावेनैव सम्बन्धः। शैलीयं वेदस्य नतु जडपदार्था अपि चेतनवन्मध्यमपुरुषयोगेन स्तुत्यर्हाइति भ्रमितव्यम्। यदि चेतनत्वेन तेषां पूज्यत्वमभिमतं स्यात्तदा प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषयोगाभिधानमनर्थकं स्यात्। परोक्षविवक्षया वर्णनेऽप्यग्न्यादिषु मध्यमपुरुषयोगः संबोधनं च वेदे क्वापि दृश्येत न च तथा दृश्यते तस्मात्प्रत्यक्षेण वर्णनापेक्षायामग्न्यादिषु मध्यमपुरुषप्रयोगः सम्बोधनं च न दोषावहम्। तेन यत्रयत्र वेदे मध्यमपुरुषेण संबोध्य वर्णनमुपलभ्यते तत्रतत्राग्न्यादिदेवतानां प्रत्यक्षेण व्याख्यानं बोध्यमिति वेदस्यान्तराशयः। तदनुकूलं चात्र–इन्द्रपदे तद्विशेषणे च मध्यमेन योगः सम्बोधनं च प्रत्येतव्यम्। यथा लोके कोऽपि वाक्यं वदेत् " वायुरथमायाति " तत्स्थाने वेदे " वायवायाहि " अत्र चाक्षरद्वयस्य लाघवं च प्रधानं प्रयोजनं नात्र कश्चिद्भेदो लौकिकवैदिकवाक्ययोरस्ति। यावच्च संसारे मणिरत्नसुवर्णादिकं धनं यच्च बुद्धितत्त्वं सर्वं तत्स्थूलसूक्ष्मस्य तेजसो विद्युदाख्यस्येन्द्रपदवाच्यस्य कार्यमस्ति। सर्वं च रश्मिमच्चक्षुरादिकं तैजसं सौर्यं वैद्युतमैन्द्रमिति वा कथ्यते सुवर्णं स्थूलधनेषु प्रधानं स्फुटमेव तैजसं लोके प्रचुरप्रचारम्। एवं गुणान्वेषणतत्परा गुणज्ञा अ-

तिशयेन गुणवर्णनशीला एव जना गोतमास्तएव च वेदवाक्यानि तत्रतत्र यथावसरं कुर्वन्ति कृतवन्तः करिष्यन्ति सर्वदा प्रयुञ्जते। अर्थाद् वाग्व्यापारमर्मज्ञ एव समयानुकूलं सम्यक् सद्यश्च कार्यसाधकं वचो वदति । ये सुवृक्ति ब्रह्माणि यथाकालं सम्यक् प्रयुञ्जते तएव गोतमा ये च गोतमास्तएव तादृग्वेदवाक्यानि कार्यकाले प्रयुञ्जते । हारियोजनेन्द्रदेवताकान्येव वेदवाक्यानि सुवृक्ति तमोगुणाज्ञानादिवारकाणि भवन्ति। यथा मध्याह्नस्थः सूर्यएवाखिलं गृहाद्यभ्यन्तरस्थमपि तमो वारयति। तेन च कर्मणा तेषु गोतमेषु सर्वविधा-ऐन्द्री धी धृता स्थिरा भवति तथा च बुद्धिपूर्वकं शुभकर्माविरोधि धर्मादनपकर्षकं धनं च लोकयात्रासिद्ध्यर्थं ते गोतमाः प्रतिदिनमाप्नुवन्ति । ये चैवं भूता जगति भवितुमिच्छेयुस्तैः पूर्वं वेदाध्ययनशीलैर्गोतमैर्भाव्यमनन्तरं च हारियोजनेन्द्रदेवताकानि वेदवाक्यानि यथावसरं प्रयोज्यानि तेष्वपि धीर्धीयते बुद्धिपूर्वकं धनं च तत्सन्निधौ प्रतिदिनमागच्छति तेन ते सुखेन जीवितुमर्हा जायन्ते ॥

भाषार्थः-हे (हारियोजन—इन्द्र) पृथिवीस्थ पदार्थों से शीघ्रही जलादि को हरने वाले किरण जिस मध्याह्नस्थ सूर्य मण्डल के होते उस के सम्बन्धी प्रकृष्ट तेज (ते) तेरे अर्थात् प्रकृष्ट तेजोरूप विद्युत् शक्तिनामक इन्द्र का यथोचित वर्णन करने वाले तथा(सुवृक्ति, ब्रह्माणि गोतमासोऽक्रन्नेव) अच्छे प्रकार से रजोगुण वा तमोगुणरूप नाना प्रकार के पाप दोषरूप अनिष्ट को हृदय से निवृत्त करने वाले तथा सूर्य वा विद्युत् सम्बन्धी ज्ञान शक्ति को हृदय में बढ़ाने वाले स्तुति वाक्यरूप वेद मन्त्रों की स्तुति वा प्रशंसा का ठीक मर्म जानने वाले गोतम पुरुष अर्थात् वेदाध्ययनशील ऋषि लोग प्रयोगकरते ही हैं वा उन को करना उचित ही है अर्थात् अपने हितसाधक वैसे वेदस्तोत्रों का पाठ जप वा अभ्यास हम को अवश्य करना चाहिये । (एषु विश्वपेशसं धियमधाः) ऐसा करने से इन

गोतम स्तोता लोगोंमें वह इन्द्र सब प्रकार की उत्तम सात्त्विक बुद्धिको स्थापित करता है (प्रातर्धियावसुर्जगम्यात्) प्रतिदिन प्रातःकाल स्तुति करनेसे सुकर्म वा बुद्धि के सहित सुख से वसने का हेतु धनादि पदार्थ शीघ्र ही उन के निकट आता है उससे वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं ॥

भा०—सृष्टिक्रम के अनुकूल जो काम वा वस्तु जिस कारण से होना—सम्भव है अर्थात् तीनों काल में जिस कारण से जो हो सकता उसी कारण से उस का सम्भव वेद में भी दिखाया है। वेद में सर्वत्र प्रत्यक्ष वस्तु में मध्यम पुरुष की क्रिया के साथ सम्बन्ध निरुक्तकारों के अभिमत ही है इसी से उस मध्यम पुरुष के साथ स्वभाव से ही सम्बद्ध संबोधन की परम्परा चली आती है सो यह वेद की शैली मात्र है किन्तु मध्यम पुरुष के सम्बन्ध से जड़ पदार्थ भी चेतन के तुल्य स्तुति के योग्य मान लिये हों ऐसा भ्रम नहीं करना। यदि चेतन भाव से उन का पूज्य होना अभीष्ट होता तो प्रत्यक्ष में मध्यम पुरुष का सम्बन्ध वेद में होता है यह कहना व्यर्थ हो जावे। और परोक्ष विवक्षा से वर्णन करने में भी अग्न्यादि में मध्यम पुरुष का प्रयोग और सम्बोधन वेद में कहीं दीख पड़ता पर वैसा नहीं दीखता इस से सिद्ध हुआ कि वेद में जहां अग्नि का प्रत्यक्ष वर्णन करना अभीष्ट है वहीं उन इन्द्र वा अग्नि आदि में मध्यम पुरुष का प्रयोग और सम्बोधन निर्दोष हैं। इस से जहां २ वेद में मध्यम पुरुष के साथ सम्बोधन करके वर्णन उपलब्ध होता है वहां २ अग्नि आदि देवताओं का प्रत्यक्ष से व्याख्यान जानो यह वेद का भीतरी आशय है। उस के अनुकूल ही यहां इन्द्रपद और उसके विशेषण हारियोजन शब्द में मध्यम पुरुष के साथ योग और सम्बोधन दिखाया जानो। जैसे लोकचाल में कोई वाक्य बोले कि" यह वायु चलता वा आता है " उसी के स्थान में वेद में है " वायु आ" यहां अक्षरों का लाघव प्रसिद्ध वा प्रधान प्रयोजन है और इन लौकिक वैदिक वाक्यों में अन्य कोई भेद नहीं है। संसार में जितना मणि रत्न सुवर्णादि मुख्य धन है वा जो बुद्धिरूप तत्त्व है वह सब स्थूल सूक्ष्म अंश तेज नाम विद्युत् रूप इन्द्र का कार्य है अर्थात् इन्द्र कारण के होने से सर्वदा कार्य की सिद्धि होती है। चक्षु सुवर्ण आदि चमक वाले सभी पदार्थ तेज सूर्य वा विद्युत् नाम इन्द्र से उत्पन्न होने वाले कहे हैं। स्थूलधनों में सुवर्ण प्रधान है वह स्पष्ट ही

तैजस प्रसिद्ध है । इस प्रकार गुणों का खोज करने में तत्पर गुणज्ञ अतिशय कर गुण वर्णनशील ही पुरुष गोतम कहाते और वेही वेद वाक्यों को वहां २ यथावसर प्रयुक्त करते थे करते हैं वा करेंगे अर्थात् बोलने का मर्म जानने वाला (कि कहां कैसा वा कितना बोलना उचित वा अनुचित है) समयानुकूल सम्यक् और शीघ्र कार्य साधक वचन बोलता वा बोल सकता है । जो लोग अच्छे अनिष्ट से बचाने वाले वेद मन्त्रों का समयानुसार सम्यक् प्रयोग करते हैं वेही गोतम और जो गोतम हैं वेही वैसे वेद वाक्यों का कार्य के समय प्रयोग करते हैं । तथा पूर्वोक्त हारियोजन हरने वाले किरणों से युक्त सूर्य सम्बन्धी इन्द्र नामक विद्युत् का जिन में प्रतिपादन है ऐसे ही वेदवाक्य तमोगुणरूप हृदय के अज्ञानादि अन्धकार का निवारण करने वाले होते हैं । जैसे मध्याह्न समय का सूर्य ही घरों के भीतर तक के अन्धकार को हटाता है । और उस नियमानुसार श्रद्धा के साथ किये उस वेदाध्ययन कर्म से गोतम नामक वेदानुष्ठायियों में सब प्रकार की धारणावती उत्तम बुद्धि स्थिर होती और उस से शुभ कर्म तथा परमार्थ की ओर से न डिगाने वाला वा धर्म से डिगा कर अधर्म में न गिराने वाला अभ्युदय सुख का हेतु सब प्रकार का धन लोक व्यवहार सिद्धि के लिये उन गोतमों को प्रतिदिन प्राप्त होता है । जो लोग जगत् में ऐसी बुद्धि वा धन वाले होना चाहें वे पहिले वेदाध्ययनशील गोतम बनें और तदनन्तर हारियोजन इन्द्र देवता वाले वेद वाक्यों का यथावसर यथोचित प्रयोग किया करें तो उन के भीतर भी धारणावती उत्तम बुद्धि ठहर सकती और उन के समीप हारियोजन सम्बन्धी धन भी प्रतिदिन आता है ॥

अब हम पूछते हैं कि ईसाई लोगों ने उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा इस मन्त्र के किस पद से लिया ? क्या वे लोग इस का कोई प्रमाण अपने पास रखते हैं ? हमारे पाठकों को इस का प्रमाण उन ईसाइयों से मांगना चाहिये । द्वितीय इस मन्त्र में « गोतमासः » पद आया है सो इस का अर्थ गौतम के पुत्र किया है । संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार गोतम के पुत्रों को गौतम कहते हैं और गौतम के पुत्र गोतमासः कहावें यह ईसाइयों का मन माना घरू मिथ्या अर्थ है । कैसा आश्चर्य तथा शोचने का स्थान है कि ईसाई लोगों की ऐसी अन्धपरम्परा का कोई देखने वाला नहीं । इन लोगों का ऐसा वाग्जाल वा उद्योग

साधारण भोलेभाले वेदानुयायियों को केवल धोखा देने के लिये ही हो सकता है । हम प्रतिज्ञा पूर्वक बड़ी दृढ़ता से पुकार कर कहते हैं कि यदि ईसाई लोग प्रमाण पूर्वक अपने लेख को सत्य सिद्ध कर सकेंगे तो हम उन की अन्य बातों को समूल समझेंगे हमें ठीक सत्य निश्चय और विश्वास है कि ईसाइयों में संस्कृतज्ञ होने का अभिमान रखने वाला भी कोई पुरुष जन्मान्तर में भी अपने इस लेख को सत्य नहीं ठहरा सकता । लोक के अनुसार स्थाली पुलाक न्याय से (बटलोई का एक चावल टोने से सब का गलजाना सिद्ध हो जाने के समान) ईसाइयों का वेद विषय में किया सब प्रलाप सिद्ध हो गया अर्थात् इनका लेख मिथ्या ठहर जाने में हमारे पाठकों को अब कुछ भी सन्देह न रहेगा यह आशा है ।

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त ३९ मन्त्र ८ ।

एतानि वामश्विना वर्द्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन् ॥

अर्थात् हे अश्विनी कुमार ये बड़ी प्रार्थनायें और सूक्त गृत्समदों ने तेरे लिये बनाये हैं ॥

आर्य—बहुत दिनों से विचार होते २ यह विषय ठीक निश्चित हो चुका कि अश्वि आदि शब्दों का अर्थ पौराणिक इतिहासों का आश्रय लेकर वेद में करना महा अज्ञान है । इस विषय में निरुक्तकारों को प्रथम ही भ्रम होने की सम्भावना हुई थी इसी लिये निरुक्तकार ने स्पष्ट लिख दिया है कि—

तत्कावश्विना—द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके–इति नैरुक्ताः ।

द्युलोक भूलोक, दिनरात, सूर्य चन्द्रमा, प्रकाश अन्धकार, देव असुर इत्यादि साथ २ बोले जाने वाले दो २ पदार्थ अश्वी पद के वाच्यार्थ वेद में लिये जाते हैं यह वेद के व्याख्याता वेदज्ञ निरुक्तकार लोगों का मत है । यदि कोई कहे कि जैसे तुम आर्यसमाजी लोग वेदके दोष हटाने के लिये अपनी इच्छा से अर्थ कर लेते हो वैसे निरुक्त बनाने वाले को भी पूर्वकाल में आवश्यकता पड़ी होगी वेद का खण्डन करने वाले कोई प्रतिपक्षी खड़े हुए होंगे निरुक्तकार भी तुम आर्यों के साथी हैं। तो इस का उत्तर यह है कि हमारे साथी तो निरुक्त-

कार अवश्य हैं परन्तु निरुक्त का लेख वेद का ठीक अभिप्राय खोलने के लि
है इस दशा में आकाश पृथिवी [ज़मीन आसमान] आदि अर्थ अश्वि प
का लेना वेद में ही स्पष्ट मिलता है उसी बात को निरुक्त में कहा तो सिद्ध
कि वेद कर्त्ता का अभिप्राय ही था कि अश्विनौ पद से द्यावापृथिवी [ज़मी
आसमान] आदि अर्थ लिया जाय देखो—

ईडे द्यावापृथिवी पूर्वचित्तयेऽग्निं घर्
सुरुचं यामन्निष्टये । याभिर्भरे कारमंशाय
जिन्वथस्ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम् ॥
ऋ० १ । ११२ ॥

इस सूक्त के २५ मन्त्रों में द्यावापृथिवी नामक अश्विनौ का वर्णन है इसी
लिये प्रारम्भ में द्यावापृथिवी शब्द कह कर पीछे प्रत्येक मन्त्र में अश्विनौ पद
आया है । इसी बात को दिखाने के लिये पहिले मन्त्र में द्यावापृथिवी शब्द पढ़ा
है । इस कारण अश्विनौ पद से द्यावापृथिवीआदि अर्थ लेना वेद से ही
सिद्ध हो गया । और रहा गृत्समद का विचार सो हम पहिले अङ्क में ही लिख
चुके हैं कि वेद में लिखे सभी ऋषि और देवता किसी निज देहधारी के नाम
नहीं हैं किन्तु सामान्य यौगिक अर्थ से जिस२में वह अर्थ घटे उन २ सब काल
में हुए मनुष्यादि के नाम हैं । सो " परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् " इस मीमांसा
सूत्र के अनुसार वेद के मन्त्रों में ही वेद के पदों का सामान्यार्थ मिलेगा उस
का आशय लेकर ही मीमांसाकार ने वेद को सामान्यार्थ परक माना है । इस
के भी हम वेद से अनेक प्रमाण दे सकते हैं पर यहां लेख बढ़ने के भय से नहीं
लिखते इसी के अनुसार गृत्समद शब्द का अर्थ यह है कि—

गृत्सो गर्द्धोऽभिलाषो जगति सुखहेतुपदार्थप्राप्तय औत्क-
ण्ठ्यं तेन गृत्सेन प्राप्त्यभिलाषेण माद्यतीति गृत्समदः । गृधु
धातोरौणादिकः सः प्रत्ययः । अर्थाद् गृत्सपदं वेदेऽभिकाङ्क्षार्थ-
परं दृष्ट्वा पाणिनिना गृधुअभिकाङ्क्षायाम् । अयं धातुस्ततश्च—
गृधिपण्योर्दकौ चेति सूत्रं प्रकल्पितमित्यध्यवसेयं विपश्चिद्भिः ।

काङ्क्षा अभिलाषा सुख के हेतु उत्तम पदार्थों की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठा का नाम गृत्स है उस गृत्स नाम प्राप्ति की अभिलाषा से जो प्रसन्न हो कि इस २ प्रकार के वेद पाठ ईश्वर प्रार्थनादि से मेरे ऐसे २ काम सिद्ध होंगे ऐसा २ धर्म करूंगा उस से ऐसा २ सुखफल होगा इत्यादि विचार से हर्ष मानने वाला पुरुष सब कोई गृत्समद कहाता है। इस विचार के अनुसार ऋग्वेद मण्डल २ सू० ३९ में उक्त प्रकार का गृत्समद पुरुष सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विपद वाच्यों की स्तुति करता है की थी वा करेगा वा कर सकता और करनी चाहिये। अर्थात् गृत्समद का अभीष्ट सिद्ध होना और अनिष्ट से बचना जितना सूर्य चन्द्रमा से सम्बन्ध रखता है उतना अन्य से नहीं इस कारण उस को अति आवश्यक है कि उन दोनों के गुणों का कीर्त्तन करे यही ऋग्वेद क्योंकि "वागेव ऋग्वेदः" तथा उन के तत्त्व का मनन करे यही यजुर्वेद क्योंकि "मनो यजुर्वेदः" और प्राणक्रिया के द्वारा उन से होने वाले सुख का अनुभव करे यही सामवेद है क्योंकि "प्राणः सामवेदः" ये शतपथ ब्राह्मण के वचन हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में वा प्रत्येक कार्य की सिद्धि में तीनों वेद का अर्थात् वेद की तीनों कक्षा वा सीढ़ी से काम लेवे तो प्रत्येक कर्त्तव्य ठीक सिद्ध होता है। अश्विपद वाच्य सूर्य चन्द्रमा यहां एकदेशी नहीं लेने चाहिये किन्तु ये दोनों सर्वत्र व्याप्त दो तत्त्व हैं जो कि गृत्समद नाम किसी प्रकार सुख की चाहना रखने वाले प्रत्येक मनुष्य के शरीर में तथा सब संसार में व्याप्त हैं जिन का विशेष वर्णन मेरे बनाये प्रश्नोपनिषद् भाष्य में मिलेगा। इन्हीं सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विनौ का नाम स्त्री पुरुष वा भोग्य भोक्ता भी है। आकाश में घूमते दीखने से जिन दोनों को इस ३९ सूक्त के १ मन्त्र में "गृध्रेव" दो गृध्र पक्षियों की उपमा दी है तथा ६ मन्त्र में " स्तनाविव " दो थनों की उपमा दी है। कि संसार में सब प्रकार का रस सूर्य चन्द्रमा से ही ओषध्यादि में आता और पीने के लिये जल इन्हीं दोनों से पृथिवी पर आता है। माता के दो थनों को पीकर जैसे बच्चे का पालन होता वैसे हम सब प्राणीमात्र की रक्षा इन्हीं दो तत्त्वों के द्वारा होती है। सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विनौ का ही इस से अगले ४० सूक्त में सोमापूषणौ शब्दों से वर्णन किया है। यह विषय वा वेद का सिद्धान्त निर्विकल्प ऐसा ही ठीक है। इस में लेशमात्र भी सन्देह वा विकल्प तथा दोष

(भा० ८ अं० ७ पृ० १२८ से आगे ओम् का व्याख्यान त्रयीविद्या)

तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिं गायत्रं छन्दस्त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तमृतुं वाचमध्यात्मं जिह्वां रसमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥

उस ओम् पद की प्रथम स्वर मात्रा अ, से पृथिवी, अग्नि, ओषधिवनस्पति, ऋग्वेद, भूरात्मक व्याहृति, गायत्रीछन्द, त्रिवृत्स्तोम, पूर्वदिशा, वसन्त, वाणी सम्बन्धी अध्यात्मविषय, जिह्वानाम स्वाद लेने वाला इन्द्रिय रसनाम रसना का विषय इन सब का अनुभव किया। अर्थात् पञ्चतत्त्वों में पृथिवी, ज्योतियों में अग्नि, स्थावरों में ओषधि वनस्पति, वेदों में ऋग्वेद, व्याहृतियों में भूर्, छन्दों में गायत्री, चतुष्टोमादि में त्रिवृत्स्तोम, दिशाओं में पूर्वदिशा, ऋतुओं में वसन्त, कर्मेन्द्रियों में वाणीनाम शास्त्र द्वारा हुआ अध्यात्म बोध कर्मेन्द्रियों में जिह्वा नाम रसग्राहिका इन्द्रिय शक्ति रसरूप विषय ये सब उन २ में प्रधान प्रथम कक्षा [अव्वलनम्बर] गिने वा माने जाते हैं और यहां ओम् में अ, यह पहिली स्वरमात्रा प्रथमकक्षा है। और शोचने से यह भी स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि उन २ तत्त्वादि में उस २ पृथिवी आदि से ही मनुष्यादि प्राणियों का मुख्य वा अधिक काम निकलता इसीसे वह २ प्रधान है। हमारे शरीरों में अन्यतत्त्वों की अपेक्षा पृथिवीतत्त्व का भाग अधिक है इसी से न्याय शास्त्र में तथा वेद में मनुष्यादि के शरीरों को पार्थिव माना है। तथा पृथिवी से ही सब का भक्ष्य अन्न उत्पन्न होता पृथिवी ही हमारा आधार है वा पृथिवी ही अन्न है अन्न से ही प्राण की स्थिति है इस कारण तत्त्वों में पृथिवी प्रधान है। देवताओं में अग्नि मुख्य इस लिये है कि उस के दाह गुण से अन्न पकाना जाठराग्नि द्वारा अन्न पचने से जीवन रहना रात्रि तथा अन्धेरे घर आदि में दिन को भी दीपक जलने से काम चलना इत्यादि। ओषधिवनस्पतियों के फल पकने में अग्नि की

व्याप्ति प्रधान कारण है तथा उन फलों का ही नाम अन्न है जिस के भोजनद्वारा मनुष्यादि का मुख्य कर जीवन चलता और उन ओषध्यादि के शेषभाग भूसा आदि से पश्वादि का जीवन चलता है इस कारण स्थावरों में ओषधिवनस्पति प्रधान हैं। वाणी का धर्म पढ़ना पढ़ाना यज्ञ करना धर्मोपदेश जप पाठ स्तुति वेदाभ्यास शब्दोच्चारण द्वारा व्यवहार सिद्धि आदि की प्रधानता के कारण वेदों में ऋग्वेद प्रथम कक्षा वा मुख्य है । भूः पद के वाच्य प्राणादि अर्थों की प्रधानता से व्याहृतियों में भूर् प्रधान है । सात वा चौदह छन्दों में गायत्री छन्द जिस में २४ अक्षर और तीन पाद होते वह गान के लिये तथा अर्थांश विषय में प्रधान होने से अर्थात् गायत्री छन्द का अधिकांश अग्नि देवता होने से प्रधान है । गायत्री शब्द से गान का अर्थ वेद में ही स्पष्ट लिखा है ।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥ ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो ! ॥१॥

यह भी गायत्री छन्द ही है कि हे ईश्वर ! गायत्र छन्द जिन का है ऐसे ब्राह्मण लोग उस गायत्र छन्द से तुम को गाते वा स्तुति करते हैं । जो गाते हैं वे गायत्र वाले हैं जो गायत्र छन्द वाले हैं वेही गाते हैं । अर्थात् गाने के अच्छे प्रकार वाले छन्द गायत्र कहाते हैं । इत्यादि कारण गायत्र छन्द सब छन्दों में प्रथम कक्षा का है । तथा स्तोम नामक पञ्चदश सप्तदश आदि अनेक संख्याओं से वेद में स्तुति कही गयी हैं वा यों कहो कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञेय का व्याख्यान करने के लिये अनेक संख्याओं से उन २ विषयों का सामान्य विषय का वर्णन वेद में किया गया है उन में त्रिवृत् नाम तीन आवृत्तियें भूर्भुवः स्वः, अग्नि वायु आदित्य आदि तीन २ नामों से वर्णन स्तुति वा स्तोम प्रधान है । चाहें यों कहो कि अन्तराल वर्णसङ्करादि भेद से मनुष्य वर्ग का अनेक संख्याओं द्वारा वर्णन करने की अपेक्षा द्विज नामक तीन वर्णों का व्याख्यान वा स्तोम प्रधान है । पूर्व दिशा में ही सदा सूर्य का उदय होता वा जिस दिशा में सूर्य का सदा उदय होता वह प्राची दिशा कहाती है उसी से अन्य दिशाओं का नियम वा उन के नाम बनते हैं इस कारण सब दिशाओं में पूर्व दिशा मुख्य है । ऋतुओं में वसन्त ऋतु सब से उत्तम शास्त्रानुसार लोक में भी माना जाता है । इसीलिये

वसन्त के आरम्भ में सब से बड़ा उत्सव होली नाम नवान्नेष्टि रक्खा गया है अन्न की सर्वोपरि उत्पत्ति वसन्त नाम चैत्र वैशाख में ही होती है इस से वैसे ही बड़ा वेदोक्त नवान्नेष्टि यज्ञ उस समय करने की रीति चलाई गयी थी अविद्या की प्रबलता से वह यज्ञ की प्रथा बिगड़ कर दुर्दशा रूप होली होने लगी। इस कारण सब ऋतुओं में वसन्त ऋतु प्रधान वा मुख्य है। अध्यात्मादि तीन प्रकार के विषयों में अध्यात्म विषय सर्वोपरि श्रेष्ठ इस लिये है कि-अध्यात्म विद्या का अन्त ही तत्त्वज्ञान कहाता वही मुक्ति का कारण है मुक्ति से ऊपर अन्यकोई कक्षा नहीं "विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठम्। ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्" इत्यादि वाक्यों से ज्ञान की प्रशंसा भी अध्यात्म विषय की उत्तमता दिखाने के लिये है। जिह्वा कहने से यहां रसनेन्द्रिय का ग्रहण जानो और उस का विषय रस ये दोनों इन्द्रियों और विषयों में वस्तुतः प्रधान वा अत्युत्तम हैं। इसी बात की सिद्धि के लिये भगवद्गीता में लिखा है कि—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥

जब मनुष्य का परमार्थ ज्ञानकाण्ड वा योगाभ्यास की ओर जैसा २ विचार झुकने लगता है तब एक आहार-भोजन को छोड़ कर अन्य सब विषयों के भोग की इच्छा वा तृष्णा स्वयमेव निवृत्त होती जाती है विषय भोग में राग नहीं रहता उदासीनता बढ़ती जाती है। जैसे कि बाल्यावस्था में छोटे बच्चों की सब विषयवासना प्रसुप्त नाम दबी रहती हैं परन्तु आहार करने माता का दुग्धादि खाने पीने की एक इच्छा उन की भी प्रकट जागती रहती है। इसी प्रकार योगी यति संन्यासी महाविरक्तों को भी अन्य विषयों की इच्छा छूट जाने पर भी आहार बना रहता है। भोजन किये विना वेभी नहीं रह सकते परन्तु परमात्मा का ठीक २ बोध होने पर उनका भोजन भी छूट जाता है फिर भोजन छूटने पर वे लोग अधिक काल तक शरीर धारण नहीं कर सकते किन्तु शीघ्र ही उनका शरीर छूट जाता है। और उन ऐसे लोगों की शरीरान्त के पश्चात् विदेह मुक्ति भी अवश्य होही जाती है। इस से सिद्ध हुआ कि अन्य विषयों की अपेक्षा भोजन बड़ा विषय है जो उत्पत्ति के समय से ले कर मरण समय तक बीच में किसी प्राणी से वा योगी ज्ञानी से भी नहीं छूटता। इस प्रकार

ओम् की प्रथम मात्रा के साथ गिनाये पृथिवी आदि सब अपने २ वर्ग में उत्तम कक्षा में गिने वा माने गये हैं। जैसे प्रत्येक सभा वा समाज के सभापतियों की वा सब सभाओं के मन्त्रियों की एक सभा कीजाय वैसे यहां भी प्रत्येक वर्ग के उत्तम २ पदार्थों का संग्रह वा संयोग दिखाया गया है। जैसे उत्तम बुद्धि से उत्तम विद्या धर्मादि विषय का ही विचार अच्छा और उचित हो सकता है वैसे यहां सर्वोत्तम ओम् में भी उत्तम प्रथम मात्रा अ के साथ पृथिव्यादि उत्तम २ का मेल जानो वा उत्तम से उत्तम का अनुभव होना भी ठीक ही है। उत्तम तथा व्याप्त वाचक शब्द का उत्तम व्याप्त ही वाच्य होना न्यायानुकूल ठीक होता है। जिस के पास धन सम्पत्ति अधिक हो उसी का नाम लक्ष्मण वा लक्ष्मीचन्द होना उचित न्यायानुकूल है। इसी के अनुसार ओम् जैसा उत्तम है वैसा ही उत्तम और सर्वत्र व्याप्त सर्वस्वामी उस का वाच्यार्थ परमेश्वर भी सबसे उत्कृष्ट है इसी बात को चाहे यों कहो कि उत्तम २ पृथिव्यादि सर्वोत्तम ओम् की प्रथम स्वर मात्रारूप अकार के व्याख्यान शाखा वा कार्य हैं। जब ओम् को सब का मूल मानना ठीक युक्त है तब उसी के अनुसार अकार की प्रथम मात्रा से ही पृथिव्यादि शब्द निकले यह भी कहना मानना अयुक्त नहीं है। इस विषय का व्याख्यान मूल वेदों में भी अनेक मन्त्रों में स्पष्ट विद्यमान है जहां प्रथम कक्षा वालों का प्रथम के साथ द्वितीय कक्षा वालों का द्वितीय के साथ स्पष्ट ही सम्बन्ध दिखाया है। जैसे—“ प्राची दिगग्निरधिपतिः” इस अथर्वमन्त्र में अग्नि और प्राची पूर्व दिशा का सम्बन्ध। तथा यजुर्वेद अ० १५ मं० १० में प्राची दिक्, वसु, अग्नि, त्रिवृत्स्तोम, पृथिवी इन का सम्बन्ध तथा यजुर्वेद अ० १० मं० १० में प्राचीदिक्, गायत्री, रथन्तरसाम, त्रिवृत्स्तोम, वसन्त ऋतु, ब्रह्म द्रविण इन का एक साथ योग दिखाया है। इस को वास्तव में यों मानना चाहिये कि मूलवेद से लेकर ही ब्राह्मण ग्रन्थों में ओम् की प्रथम मात्रा के साथ पृथिवी आदि का सम्बन्ध दिखाया गया है सो यह विद्या सम्बन्धी विचार की प्रथम कक्षा है वा त्रयीविद्या में पहिली विद्या यही है ॥

तस्य द्वितीयया स्वरमात्रया वायुं यजुर्वेदं भुवइति व्याहृतिस्त्रैष्टभं छन्दः पञ्चदशं स्तो-

सं प्रतीचीं दिशं ग्रीष्ममृतुं प्राणमध्यात्म नासिके गन्धं घ्राणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत्

ओ३म्—की द्वितीय उ नामक स्वर मात्रा से तत्वों में वायु वेदों में यजु व्याहृतियों में भुवर् छन्दों में त्रिष्टुभ् स्तोमों में पञ्चदशस्तोम दिशाओं में प्रतीच नाम पश्चिम दिशा ऋतुओं में ग्रीष्म, अध्यात्म विषयकप्राण, इन्द्रिय शक्तियों सूंघने की शक्ति घ्राण और विषयों में उसी इन्द्रिय का विषय गन्ध इन सब अनुभव किया, करते हैं, करना चाहिये, वा उसी से इन का अनुभव हो सक है अर्थात् जैसे के साथ वैसे का ही मेल न्यायानुकूल है। जब वायु शब्द ऐसा विग्रह करें कि उ, आयु—वायु तो इस के आदि अन्त दोनों ओर में उक माना जायगा। यजुर्वेदके आरम्भ के प्रथम मन्त्र में " इषेत्वा० " पढ़ा है सो हमारे पूर्व लेखानुसार अ की द्वितीय दशा वा हालत रूप परिणाम नाम इकार है इसी अंश को लेकर ईश्वरने इ अक्षर यजुर्वेद के आरम्भ में प है और ऋग्वेद में (अग्निमीडे०) में अकार स्पष्ट ही है। जैसे अक का परिणाम बदल कर ऋ अक्षर बनता है जिस को फिर से गुण करने लग हैं तो अर् गुण हो कर अकार ही बन जाता है वैसे ही यजुः शब्द में जो प्रथमाक्षर है वह भी इकार का परिणाम है क्योंकि व्याकरण के नियमानुस इ के स्थान में ही य् होता है वा यों कहो कि वेद के ऐसे गूढाशय को लेकर इ को य् करने का नियम व्याकरण में बनाया गया है। वायु शब्द भी यजु प्रथम मन्त्र में ही पढ़ा है (वायवस्थ०) द्वितीय परिणाम वा द्वितीय कक्ष जताने के लिये ही यजु के आरम्भ में इ पढ़ा गया किन्तु इसी कारण उ अक्ष यजु के आरम्भ में नहीं पढ़ा परन्तु इ के साथ ही उ को द्वितीय कक्षा में लेन था इसीसे (इषेत्वोर्जेत्वा०) ऊर्जे शब्द में ऊ पढ़ा गया और इष् अन्न खाने के पी सदा सब को ऊर्ज नाम जल पीने की आवश्यकता होती है इसी कारण अ जल कहने में अन्न के पश्चात् ही जल शब्द का उच्चारण होता इस विद्यांश दिखाने के लिये ही युक्ति युक्त सच्चे विचार से वेद का एक २ शब्द ठीक कक्ष के आगे पीछे रक्खा गया है। जैसे कि जाठराग्नि के उत्तेजित होने भूख लगे तो अन्न चाहिये और [illegible] चाहिये। [illegible] रूप अग्नि

से अग्नि प्रदीप्त होता है अर्थात् ऋच् नाम स्तुतिरूप वाणी से अग्नि वा उत्तेजित होता है सो वेद में स्पष्ट भी लिखा है कि " अग्निनाग्निः समिध्यते " वाणीरूप अग्नि से शरीर मुखादि में व्याप्त अग्नि उत्तेजित होता है। इस कारण ऋग्वेद के पश्चात् यजु की संख्या शब्द तथा वाच्यार्थ दोनों प्रकार के विचार से ठीक २ युक्त घटती है। वेद के इस गूढाशय को समझने के लिये जो महाशय पवित्र शुद्ध हो एकान्त बैठ एकाग्र चित्त से ध्यान लगा कर सोचेंगे तो उन को ईश्वर के अनन्त ज्ञान स्वरूप वेद का महत्त्व बड़े आनन्द का हेतु प्रतीत होगा। यद्यपि अ की द्वितीय दशा वा परिणाम इ है तथापि जैसे अन्न में जल और जल में अन्न दोनों दोनों में मिले रहते वा दोनों का साथ ही खाने पीने से एक काम चल रहा है दोनोंके मेल से एकही फल होता। परन्तु अन्त में जलकी प्रधानता रहती है क्योंकि मनुष्यादि प्राणी जितनी देर अन्न मिलने पर केवल जल से जीवित रह सकता है उस से आधे समय तक भी जल न मिलने पर केवल अन्न से जीवित नहीं रह सकता इसकारण दोनों में जल प्रधान है जो कि यजुर्वेद के आरम्भ में ऊर्ज्जे पद का अर्थ है। इसी के अनुसार अपनेर काम में इ उ दोनोंके मुख्य होने पर भी संयोगी सृष्टि आदि काम में उ प्रधान है और प्रधानके साथ अप्रधान गौण सदा ही तिरोहित होकर न होने के समान रहता है। सो यहां ओम् की द्वितीयमात्रा उ में वाच्यार्थ की प्रधानता के साथ प्रधानता मानकर इ का तिरोभाव मानना युक्त ही है किन्तु इ दशा का अभाव नहीं है। यही जताने के लिये यजु के आरम्भ में इ अक्षर रक्खा गया। प्रथम कक्षा लोकों में पृथिवी द्वितीय अन्तरिक्ष, तथा अग्नि का रक्षक वायु द्वितीय कक्षा का है। जिसकी रक्षा करनी आवश्यक समझी जाती है वहां रक्ष्य वस्तु उत्तम कक्षा में तथा रक्षक उससे निकृष्ट रहता है जैसे स्वामी रक्ष्य और भृत्य रक्षक होता धर्म की प्रधानता से ब्राह्मण अधिकांश रक्ष्य और क्षत्रिय रक्षक होता जैसे वायुके न पहुंचने के स्थान में अग्नि दीपक आदि बुत जाते हैं इसी प्रकार शरीर में वायुरूप प्राण की धोंकनी चले विना जीवनरूप अग्नि क्षण भर भी नहीं ठहर सकती इस कारण रक्षक होने से वायु द्वितीय कक्षा में है। इसी के अनुसार यजुर्वेद आदि द्वितीय कक्षा में युक्ति युक्त ठहर जाते हैं। पूर्व लिखे वेद के मन्त्रों से अगले २ मन्त्रों में द्वितीय कक्षा के कई २ का सम्बन्ध

भिन्न २ स्थलों में दिखाया है । हमारे पाठक इस लेखको केवल उदाहरण म
मानें । जिन का सम्बन्ध युक्ति युक्त हम ने व्याख्यान द्वारा न दिखाया हो उ
का भी अभिप्राय शोचने पर ऐसा ही ठीक सत्य जच जायगा । वा हम
अपनी अविद्यासे कभी समझने में न आवे तोभी वेदमें कोई दोष न लगावें ॥

**तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्य
सामवेदं स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सप्त
दशं स्तोममुदीचीं दिशं वर्षा ऋतुं ज्योतिर
ध्यात्मं चक्षुषी दर्शनमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ।**

इस ओम् की तीसरी स्वरमात्रा नाम द्वितीय उकार से द्युलोक आदित
साम वेद स्वः यह व्याहृति जगती छन्द सप्तदश सत्रहवां स्तोम नाम स्तुति उ
त्तर दिशा वर्षा ऋतु ज्योतिःस्वरूप अध्यात्म, चक्षु और रूप देखना विषय इ
सब का अनुभव किया, करता और कर सकता है । लोकों में द्यौः देवों
आदित्य वेदों में सामवेद व्याहृतियों में स्वर् छन्दों में जगती स्तुतियों में सत्रह
वीं स्तुति दिशाओं में उत्तर ऋतुओं में वर्षा अध्यात्म ज्योति इन्द्रियों में च
और विषयों में रूप ये सब ओ३म् की तृतीय स्वर मात्रा के साथ तृतीय कक्ष
में हैं । इन का भी सम्बन्ध पूर्व के समान जानो । प्रथम उकार के साथ इ व
का संसर्ग पूरा माना जायगा और इस द्वितीय उकार को केवल तृतीय परि
णाम मानना चाहिये । अकार का परिणाम लृ और उस लृ का परिणाम स
इस प्रकार अ का तीसरा परिणाम सामवेद का आद्यक्षर सकार और उका
तो स्पष्ट ही अ का तृतीय परिणाम है । ऐसे तृतीयपन में उ, स, दोनों क
एक सम्बन्ध है । ओम् शब्द में दो उकार इस लिये माने गये कि प्लुत मा
जाने की दशा में तीन मात्रा का ओकार बोला जाता है तो एक मात्रा अ की
और दो मात्रा उकार की इस प्रकार तीन मात्राओं को जताने के लिये ही ओ३
में तीन का अक्षर लिखा जाता है । ओकार में पहिले एक मात्रा अकार की औ
अन्त में दो मात्रा उकार की मानी जाती हैं ॥

तस्य वकारमात्रयाऽपश्चन्द्रमसमथर्ववेद-

नक्षत्राणयोमिति स्वमात्मानं जनदित्यङ्गिर-
सामानुष्टुभं छन्दः, एकविंशं स्तोमं दक्षिणां
दिशं शरदमृतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमि-
तीन्द्रियाणयन्वभवत् ॥ २० ॥

ओम् के त्रिमात्र ओकार के अन्त में और म् से पूर्व एक हल् वकार कोई लोग
मानते हैं। यह व् उ का ही परिणाम अवस्थान्तर है। जैसे अ से इ द्वितीय
व तृतीय तथा उ का परिणाम चौथा व् है क्योंकि यणादेश कहने में उ को ही
व् होता है। अ का चौथा दर्जा व् है इसी चौथे दर्जे के साथ अप् आदि का
सम्बन्ध है। जैसे उ को यणादेश होने पर व् बनता वैसे दिव् वा सूर्य से गर्मी
का परिणाम अप् नाम जल बनते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा आदि सभी चौथे
नम्बर में घट जाते हैं ॥

तस्य मकारश्रुत्येतिहासपुराणं वाकोवाक्यं
गाथा नाराशंसीरुपनिषदोऽनुशासनानामिति
वृधत् करद् हन् महत्तच्छमोमिति व्याहृतीः स्व
रशम्यनानातन्त्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्राणय-
न्वभवत्। चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं
छन्दस्तृणवत् त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ ध्रुवामूर्ध्वां
दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्रमध्यात्मं शब्दं
श्रवणमितीन्द्रियाणयन्वभवत् ॥ २१ ॥

यह गोपथ ब्राह्मण १ प्रपाठक के १७ खण्ड से २१ तक
पाठ लिखा गया है।

ओ३म् ॥

अथ शान्तिविचारः ॥

ओ३म् । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ यजु० अ० ४० मं० १ -

(दोहा–छन्दः)

जो कुलप्रभु ! या जगत में, दर्शत जगत अनूप । सो सर्वावृत आप सों, सर्व काल तद्रूप ॥
कर्त्ता धर्त्ता विभु स्वयं, हर्त्ता कारण काज । प्रकृति आत्म प्रति ईश सम्, ब्रह्मै सत्य स्वराज
या विधि भव के भोग सब, बसत नाथ ! तव साथ । तदपि न भोगत तजत हो, कर्मन् फल शुभ स्वा
धन्य २ त्यागी परम्, न्यासी धन्य विशाल । पर काजी साजी क्रिया, परिव्राजी त्रैकाल
या ही कारण नीति निज, वेद किये उपदेश । भोग तत्याग भोग जन, बहु हो उन हिं क्लेश
तब शिक्षा यह उर बसे, अहंकार विनु दम्भ । सहि न मा मि प्रभु करत अब, शान्ति विचारारम्

अथ प्रथम शतकम् ॥

(दोहा–छन्दः)

अवर्ण सुवर्ण तर ढक्यो, रच्यो आप चमकाय । जो सुवर्ण पर पग धरत तिन हिं अवर्ण लखाय
काल न्यून कर्त्तव्य बहु, रहे यहां क्यों सोय । यों सोवत जो रहे चित !, तो कस सो बन होय ।
रहित आश फल कर्म कर, जब लों जग में जीव । यों मृत्यु तर अमृत हिं, शान्ति चित्त ह्वै पीव ।
जे द्वै ज्ञानै सो सनिधि, वसै तृतीय के बीच । शान्ति भवन जिह छन्द कहि, नहिं तहँ जन्मन मीच ।
जगमत अन्तर पट समक्ष, प्रभु दर्शन के हेतु । दृष्टी पग उन पर न धर, लखौ वेद सत सेतु ॥
एकादश गो गहि न शकि, जा हि शान्ति सुख केत । सत्व तर बद्ध द्वारा मिलै, जब हो चित न चिकेत ।
मन रुकि रहि संसार सों, या में जो कछु सार । सो सब स्वामी पास तब, फिर क्यों फिरत उदार ॥
बन्धन जग धन धनी हैं, निर्बन्धन धन हीन । या सों चित धन संग तज, शान्ति होय शम लीन ।
निरभिषह्वै निरपेक्षह्वै, कीजै आत्म विचार । मनुज जन्म को फल यही, शिक्षा चार उचार ॥
राग न हो वैराग सों, तब ह्वै सत वैराग । द्वेष न होटु कद्वेष सों, शान्ति ग्रहण ना त्याग ॥
नाम रूप सों प्रीति तज, कर इन्द्रिन स्वाधीन । बुध या विधि हो मनस्वी, चित ह्वै शान्त्यासीन
छलिया या संसार में, सार असार मिलान । पृथक करत ह्वै शान्ती, उदय होय विज्ञान ॥
जगत च[illegible] शान्ति चित्त सत पाय

मुक्तिशान्तिनालीनमें, अर्थसंघटतिजान। यासोंतृष्णामुक्तिलय, लखस्वामीनिजमान ॥
दूकदर्शनयेशक्तिदो, जबलोंहोतनभिन्न । तबलोंनाहोशान्ती, नाभवबन्धनछिन्न ॥
यासोंनित्यउपायकर, योगिकक्रियानुसार । जैसोमुनिवरपतञ्जल, भाष्योसूत्रविचार॥
विषसमानसबविषयतज, यमनियमनअभिसेव। सप्तद्वारसोंशान्तियों, प्राप्तहोयस्वरदेव॥
लाभसंगसोंहर्षना, नादुःखखेदअलाभ । लाभालाभसमानता, होतशान्तिवरभाव ॥
धी! सारथिहयरोकिगो, मनप्रग्रहकरलेय । शान्तिमार्गहूँचलारथ, रथिकोंजोहितदेय॥
हेप्रभु? ऐसीकृपाकर, जोमुहिकोमतमन्द । समुझैजगसुखकोंनहीं, योंदुखहोंनिर्द्वन्द ॥
मित्रशान्तहोंउदितरिपु, साधैंनिजरकाम। प्राप्तहोयनिष्कामता, याविधिचित्तविराम॥
नीरनवर्षैंक्षेत्रमें, उगैंनअन्नअनेक । भोग शान्तिजबहोंभवी, तबमिलिहोंप्रभुएक ॥
प्रेयप्रीतिरयागैंसकल, चित्तशून्यचितिहोय। याविधिभवसागरलरीं, ईशतरावोसोय ॥
वियोगहोजबयोगको, सिद्धहोयतबयोग । तापतिदृढ़अभ्याससों, मिलतआत्माभोग ॥
दुःखदुःखप्रत्यक्षहैं, सुखहेतूदुखजान । सबविधिदुखरूपीजगत, सुखकहंहैंपहचान ॥
ममत्वकारणपांचजो, त्रिगुणयुक्तभववेद । होयशून्यगुणशान्तिजब, रहैशेषनाखेद॥
गुणकारणबन्धनगुणी, करतजगतसबकोइ। गुणविहीनश्रेयसविचार, आत्मशान्तिसोंहोय॥
मेरामेराक्याकहै, तेरानाहिंशरीर । ज्ञान चक्षुपट खोलकर, भाषत योंमतिधीर ॥
गृहचितचिन्ताक्याकरै, यहगृहबन्धनहेतु। गृहसोंसतगृहपहुंचजा, ज्ञानसिंधुभवसेतु ॥
क्योंभोगनभायेफिरै, भोगभागिरहितोइ। भोगनबलशमभोगहि, पुनिनाभागनहोइ॥
ज्ञानअग्नीकोंरोकिमन, मनस्रोतकरबन्द। यापीयुषबलस्वामितव, पावहिशान्तिअनन्द॥
अणवमार्गद्वारागमन, करोआत्माआप। निश्चयस्वामिमिलापहूँ, श्वासप्रश्वासप्रतिजाय॥
जोमिलनासोहीमिलै, अनमिलनानमिलात। तृष्णा? क्योंकूदीफिरै, इतउतआवतजात॥
वृतिसाधननिवृतिकों, धीरकर्म्मकरनित्ययोंविपाकत्यागेसकल, होयशान्तिचितसत्य॥
तबस्वामीअबनवनत, रहतस्वामिनिजपास । महाकल्पपर्य्यन्तलों, विचरैंज्ञानउजास॥
हृदयरूपहूँक्योंढकत, समस्वामीमतिहीन। यहदृष्टान्तारुकिसकै, लियोसत्यप्रियचीन॥
एकादशद्वारेछिके, बसतहंसजहिकोट । सत्यमार्गपहचानले, ऊर्ध्वगतीकीओट ॥
निर्मानीनिर्द्वन्दहो, निर्मोहीजितसंग । पाणिपात्रीदिगम्बर, विचरशान्तितटगंग ॥
जन्ममृत्युयेनित्यहैं, अहर्निशासमजान । शोचनकरइनकोचतुर!, मोक्षमार्गपहचान ॥
यावतस्वस्थशरीरहै, यावतमृत्यूदूर । तावतहितकरआत्मा, भाषतयोंबुधपूर ॥
अमृतसमअपमानगहि, विषवततजसन्मान। दशलक्षणयुतधर्म्मयों, सेवोचतुरसुजान॥
अनिकेतीअनपेक्षी, शुचिर्दक्षसंतुष्ट । अचिकेतोयोगीयती, लहैंशान्तिशमइष्ट ॥
अर्कअग्निचन्द्र [illegible], नाहिदृष्यतापाहि॥

सोमअर्कज्योंपानकर,वर्षैंपरहितनीर।तिमिसद्गुणअमित्रमिहूं, वर्षेंजगतयतिधीर
आनदसोदप्रमोदमुद,सकलकामनाअन्त।चलचितअमृतपानजिह,बसतपूर्वसबसन्त
प्राप्तसच्चिदानन्दजब,स्वामीप्राप्तविशाल।त्रिभुवनपतित्वरसविरस,होयशान्तताका
सबजगसोवैरागतब,पश्यआत्मगोजीत।मृततरअमृतशान्तिलय,अबबुधकहतअतीत
तूजासोंअतिदूरहै, वहतेरेहीपास । तुर्तहोयप्रत्यक्षजब, करैजगतसंन्यास ॥
देवरहितवहदेवता, प्रगटैदेवअनेक । ताहिप्राप्तहूदेवसब, गहैंशान्तिअभिषेक ॥
करोमित्रनाताहिसों,विश्वमात्रजोमित्र।याविधिसबहोंमित्रजब, संशयलखोनचित्र
लाकेपासनविश्वहो,विश्वहोयजाहिपास।ताविश्वम्भरपासअब,चलचितकरैंनिवास
जोदेवन आधीनना, देवजाहि आधीन । यासों देवनद्वारहू, आत्मदेवपति चीन
यहकायाभोगादिप्रिय,तजतआत्मदुखबीच । इनकेनेहीहोउना,चाहोशान्तिअमीच ।
परअर्थनसाधकप्रकृति, कहीपतञ्जलयोग । अर्पणपरउपकारकर,देहऔरसबभोग ।
जोबलदाताआत्मसब, जाहिउपासतदेव । अमृतमृत्यूछायस्वर,ताहिशान्तिचितसे
जोप्रसिद्धसोसिद्धना,सत्यसिद्धअप्रसिद्ध। ताहिसिद्धिकरयोगिजन,होतशान्तिसंऋद्ध ।
अभिलाषीआनन्दसत,सबजगआनदत्याग।अष्टअंगविधियोगसों,करोअनन्तीयाग ।
दैनलैनसद्गुण करो,जबलोंत्रयगुणसंग । यागुणगहिगुणपृथकसब,होतआत्मबिनरंग ।
ऋतहितसतश्रद्धासहित, वदोवेदउपदेश । सत्वसेतुवारीशतर, भवरहिशेषनक्लेश ।
जहांबन्धसोंद्वेषना, नहींमुक्तिसोंराग । ताहिशान्त्यागारबस, धरचितसतवैराग ।
लखतअसतमेंसतसदा, भोगनेमेंअपवर्ग । बुधजनयोंभवभारकों, करतचित्तउत्सर्ग ।
कौनसहायकजगतमें,देखोनयनपसार। यातोचितहू शान्ती,करनितआत्मविचार ।
यहजगतोकोंलजैगो, एकदिवसलेशोच । यासों तू तजपूर्वही, देख अचेतनलोच ।
चित्तक्षेत्रजितहितकरैं, युद्धज्ञानअज्ञान । तूचितइनसोंपृथकरहि, दोऊकरैंपयान ।
भोगऔरअपवर्गके, मिलेप्रेमयुतमूल । तिनमेंवसपापीभयो, गयोजीवपतिभूल ॥
जोपुनितरनीनाचढ़ो,तोकरनीकरलेउ । योंदुखपूरितसिन्धुभव, तरतरनी तजदेउ।
ब्रह्मजीवनाहूसकै, जीवब्रह्मनाहोय । मंत्रसुपर्णाऋकूकहै, आत्मसनातनदोय ॥
जीवनकर्त्ताभोक्ता,कहिनाकरोकुकर्म । याविधिनात्रैकालमें,मिलैशान्तिस्वरशर्म ।
भूतभविष्यतिस्थिती, वर्त्तमानमेंजान । सतकारणहैकार्य्यजग, मिथ्याकभीनमान ।
होयरज्जुमेंसर्पभ्रम, सोभ्रमकारणसत्य । भ्रमगतहूद्वैसर्परजु,लखिनचिकेतानित्य ।
स्वप्नमूलजाग्रतसमुक्ष,जोगतहोप्रत्यक्ष । ताहिवृत्तिप्रतिबिम्बकों,क्योंजगकहैअनक्ष
यासोंमोक्षस्वरूपप्रिय,ईश्वरअनुचरजान । उपआसनजबप्राप्तहो,करगुणकर्मसमान
ईशभिलाष ईशको, जोतृष्णाहितोय । तोभवबन्धनसोंपृथक, तूकदापि नाहोय

असम्भूतिसंभूतिद्वौ, अद्धासहितउपास । अमृतहोमृतकोंतरै, पावैशान्तिसुवास ॥

शुद्धिआदिसम्भूतिजग, असम्भूतिप्रभुतोर। साधनसहसाधकरहै, गहिसतसिद्धिअछोर॥

सेवजुकेवलएकया, कल्पिअन्य में अन्य, । तोमृत्यूकाहूविधी, तरैनप्रकृतीजन्य ॥

विद्याविद्याअर्चविनु, अर्च्यनहोसतप्राप्त । यासोंदोउनसेवसंग, जोभाषीविधिआप्त ॥

मूलअविद्याक्लेशहै, विद्यामूलअक्लेश । क्लेशाक्लेशीअर्चमृत, तजगहिअर्च्यअशेष ॥

जोसेवैतूएककों, सेवनसकिहैएक । पुनिदोउनमिलजन्ममृत, तवप्रतिहोयअनेक ॥

तवजगजोप्रियमित्रअति, सोसतविद्धअमित्र। प्राप्तहोनवेदेतना, निःश्रेयससुखमित्र॥

ज्ञानीज्ञाननजानसकि, अज्ञानीसोजान । अनन्तज्ञानीज्ञानकी, कहिश्रुतियहपहचान॥

सतकोहोयअभावनहिं, असतहोयनहिंभाव । तत्वदर्शियेंभाषते, सदसतभावाभाव ।

सतगुरुविनुगरुजगतमें, सतगुरुनाहिंमिलात। यासेंसतगुरुसंगकर, होसतगुरुकोंप्राप्त॥

श्रुतुत्पत्याधीतश्रुति, यज्ञउऋणविनुतात। मोक्षेच्छुकसहयातना, पुनिश्यमपुरजात ॥

तलोकसवदिशाप्रति, आत्मस्थिपरमात्म। लखिपरीटयगहिशान्तितू, यहीतत्वअध्यात्म॥

जिहअक्षरऋतव्योमअज, स्थितिहैातत्रिकाल, । सोअवर्णहैसवर्णनों, जपलाकोंस्वरचाल॥

गुरूसोंतैंशिक्षालई, शिष्यनशिषलइदेत । यासेंगुरूलखिविश्वकों, होअचेतचितचेत ॥

जतनेसाधनमुक्तिके, कियेसिद्धसतबुद्धि । तिन्हेंमुमुक्षुनदानदे, मुक्तिहोयतबसिद्धि ॥

भूर्भुवःस्वःवित्तसुत, त्यागप्रतिष्ठालोक । अभयदानसवप्राणिदे, ब्रह्मलोकअवलोक ॥

अनन्तज्ञानीबुद्धिविनु, बुद्धीदेतप्रबोध । वसविवेकअङ्कुलगली, ताहिउपासुबोध ॥

अपारगामीमनरहित, मनहिंकरैगतिवान। होअनुगामीशान्तिचित, ताउपासपवमान॥

श्रोत्रशून्यअतिश्रोत्री, श्रोत्रशक्तिदातार। शब्दसेआवणीयुक्तसत, तबउपास्यचित्तधार ॥

त्वचनभस्पर्शीमहा, त्वक्स्पर्शबलवीर्य्य । ताहिआत्मकरिस्थिती, स्वउपासस्वरधीर्य्य॥

असीमपश्यतिचक्षुखं'काशीचक्षुप्रकाश। पश्यआत्मप्रतिपश्यपुनि, करउपासतहिआश॥

अनन्तवादीवाकविनु, वाकवाककररूप। वाकपासकर"ओ३म्"से, जोअकायअनरूप॥

अनन्तप्राणीप्राणविनु, प्राणकप्राणसुदेव। तासनउपआसनरहो, शान्तिलेउसुखसेव ॥

षटदर्शनसम्पन्नहै, वेदचारगहितत्व । प्राप्तहोयफलयाविधी, निश्चयात्मिकासत्व ॥

तीनतीनआरोप्यकर, बीचआत्माएक । सनदृष्टीमुनिभावसों, विचरोलोकअनेक ॥

दोषनिप्राणायामदहि, सर्वइन्द्रियनतात । करशुद्धीअन्तःकरण, सत्यधारणप्राप्त ॥

ओ३म् ओ३म्आहारकर, तत्वआत्माभोग । वेदयुग्मगुणदेहतज, होयनपुनिसंयोग ॥

इति शान्ति विचारे प्रथमशतकं समाप्तम्

वर्णवाणनन्दार्कगणि, सम्वत्विक्रमराज । श्रावणकृष्णापंचमी, अहरसोमसुविराज ॥

सवटावाकरनगर, प्रथमशतकउच्चार। बुधजनप्रतिसन्मुखधरों, जसचितशान्तिविचार

लचूकअ[illegible] होइ ॥ इति

सूचना

सब महाशयों को विदित होकि ऐतरेयोपनिषद् का भाष्य छप गया। मूल्य भी केवल ।≈)॥ मात्र है मनुष्य को कर्त्तव्य का ध्यान दिलाने चिताने जगाने के लिये यह उपनिषद् भाष्य अतिही उपयोगी है।

अन्य नये छपे पुस्तक—

मनुस्मृति का सर्वोत्तम सृष्टि, सामान्य धर्म, संस्कारों का वर्णन, ब्रह्मचर्याश्रम और पञ्चमहायज्ञों के पूर्ण व्याख्यान सहित भाष्य प्रथम जिल्द ३ अ० तक मूल्य ३) भगवद्गीताभाष्य क्लिष्ट श्लोक वा प्रकरणों को छोड़कर सर्वोपयोगी योग सांख्य वेदान्त धर्म कर्मादि का वर्णन मूल्य २।) मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा किया गया है कि जिसको देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं। प्रथम का मू०-)॥ द्वितीय =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिखा गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारितोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई "पुत्रकामेष्टि" पद्धति इसका मूल्य अत्यन्त कम =) है स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाणसहित -)। भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सजीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजेक्टकमेटी -)॥ अबला विनय ≡)॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेंचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे यदि कोई महाशय गणरत्नमहोदधि १००० विक्रयार्थ लेवें तो उन को छपाई के खर्च मात्र में भी पुस्तक मिल सकेंगे। सो पत्र द्वारा निर्णय करें।

भीमसेन शर्मा

श्रीमद्दयानन्दविश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय ता० १ मार्च से ३० जून सन् ९७ तक

११८-)—चन्दा इस प्रकार इटावास्थ महाशयों का ५) डा० प्रभूलाल जी ४) बा० हीरालाल जी पेचघर ४॥) श्रीमान् पं० भीमसेन जी शर्मा ४) पं० दंगीलाल जी ३) लाला गणेशीलाल जी ४) बा० सुखीलाल जी वकील ।-) रामप्रसाद जी मुंसरिम ॥।) बा० पूर्णसिंह जी २॥) मुंशी रामस्वरूप जी भक्त १) मा० गुन्दीलाल जी ३) पं० रामजीमल जी २) छेदीलाल जी बजाज १।) ला० कन्हैयालाल जी दूकानदार २) बा० शिवचरणलाल जी वकील ३) बा० मथुराप्रसाद जी वकील ३) पं० केदारनाथ जी ॥।) पं० बनवारीलाल जी ३) बा० गंगासहाय जी ओ० सि० २) पं० मातादीन जी वकील ।) पं० भैरवदत्त २) लल्लू मिस्त्री १।) कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण जी ॥) बा० नन्दकिशोर जी ३) पं० बुद्धसेन जी यह इटावा नगर का चन्दा है ॥ २०) बा० घनश्यामदास जी कलकत्ता २०) सेठ जयकृष्णदास अमृतसर ५) बा० उमाकान्त जी कलकत्ता ५) पं० सत्याचरण जी कलकत्ता ४) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर ॥

२३॥।=)—सहायतार्थबाहिर से ५॥।=) श्री भवानीसिंह जी मन्त्री आर्यसमाज मुरादाबाद ३) बा० कालीचरण जी ने पं० बद्रीप्रसाद जी के संन्यस्त संस्कार में दिये२=) पं० प्रयागदत्त जी चौबे जलालाबाद पुत्र विवाहोत्सव में १॥।=) माधोराम नायब तहसीलदार वदाऊं ७) केदारनाथ जी ब्रह्मा १) बच्चीलाल जी अहरवा १) पं०तुषाराम जी उपदेशक आ० प्र० स० राजस्थान १) निरंजनसिंह जी सौरी गढ़िया। इस के अतिरिक्त १।≡)॥ फुटकर ९=)॥ पाठशालीय १५०) रु० का व्याज ३१ । ३ । ९७ ई० तक का ३२) पुस्तकों की बिक्री के १२॥-)। गतशेष ३०) केवलराम विद्यार्थी ने स्वभोजनार्थ जमा किये सर्वयोग २२७=)।

परमेश्वर दाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे। उक्त चार मासों में २२४-)॥ इस प्रकार व्यय हुआ ८०) रु० पं० श्यामलाल जी अध्यापक ४ मास का वेतन ५) सुन्दरलाल द्वि० को पांच मास का हिसाब पढ़ाई मध्ये ८) कहार को चार मास का वेतन ४) चन्दा उघाने की बावत ४) चौकावर्त्तन कराई मध्ये ७॥≡)॥ रसोइया का दो मास का वेतन १॥) पाठशाला के मकान का किराया मास का ५॥।≡)॥। पात्र पाठशालार्थ ५।)॥ वस्त्र १७) पुस्तक शिक्षाध्याय की छपाई ११॥।=)॥ फुटकर १) जीवाराम विद्यार्थी को शेष ८२॥≡)। छात्रों के भोजन में व्यय इन मासों में ७ विद्यार्थी पाठशाला से भोजन पाते रहे। अब का शेष ३)॥। रहे॥ ह० भि० द० कोशाध्यक्ष पाठशाला कमेटी इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।

सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।

प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ९

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ भाद्रपद शुक्ल ४ सितंबर सन् १८९७ ई० ता० १

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(मास जौलाई ९७)

१६३ हरगोविन्दप्रसाद जी फैजाबाद १)

२०३ पं० ज्वालादत्तजी शर्मा झालावाड़ १।)

६७५५ श्री नारायण प्रसाद जी पांड़े चरखारी १।)

१४९ श्रीलक्ष्मीनारायण दीक्षित भिण्ड ॥।)

१२३६ रामसिंह गेटमैन आसारवा १।)

१८८ उमरावसिंह जी मन्त्री आर्य्यसमाज पीलीभीत २॥)

११८ बा० सीताराम जी क्लर्क लखनऊ १।)

१५६ बा० गंगाप्रसाद जी मुक्तसर १।)

११० बा० मुन्शी राम जी जालन्धर २॥)

८६१ बा० लक्ष्मणदास मुजफ्फराबाद १।)

१०७८ डा० रामलगन जी सिहोरा १।)

२५६ पं० परमात्मा दीन जी रंजीत पुरवा १।)

१२४० महेशीलाल जी तिवारी मन्त्री आर्य्यसमाज सीतापुर १।)

४०७ पं० रामाधीन जी मिश्र मुंगेली १॥।=)

१२३८ दामोदर चतुर्वेदी जी अम्बाला १।)

१२४१ पं० भायसिंह जी तहसीली स्कूल बरेली १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ९

यत्र॑ ब्र॒ह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(भा० ८ अं० ८ पृ० १४८ से आगे आर्यतत्त्वप्रकाश का उत्तर)

नहीं । गृत्समद् लोग ईसाइयों में तथा अन्य यवनादि में भी किसी न किसी कक्षा के होते तथा हो सकते हैं और वे अश्विनी नामक सहयोगी दो २ तत्त्वों की स्तुति वा गुणकीर्त्तन भी करते हैं वा उनको करने पड़ता ही है चाहें यों कहो कि अन्न जल रूप सूर्य चन्द्रमा को वा इन अश्विनी कुमारों को सभी प्राणी सदा चाहते हैं इन में अन्न, प्राण, सूर्य, एक कोटि तथा जल चन्द्रमा जल सोमादि द्वितीय कोटि है दोनों के संयोग से संसार भर का जीवन चल रहा है । इस प्रकार के व्याप्त वेदाशय के अनुसार वर्त्ताव करने से ईसाई मूसाई क्या संसार भर का कोई प्राणी कभी बच सकता है ? फिर वह यदि वेद का खण्डन करता वा उस को बुरा समझता है तो पाठक महाशय शोचिये वह अपने इष्ट वा भक्तव्य का ही खण्डन करता है । अब आशा है कि इतने लेख से हमारे पाठकों को ईसाई कृत द्वितीय आक्षेप का समाधान ठीक ज्ञात हो जायगा ॥

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त १६ मन्त्र २०-२१ ।

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम् । अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥

अर्थात् हनने उत्पन्न करने वाले और वरदान देने वाले इन्द्र के लिये एक प्रार्थना बनाई है जैसा कि भृगु ने एक रथ बनाया है । फिर हे घोड़ों के स्वामी तेरे लिये हमने एक नई प्रार्थना बनाई है ऐसा हो कि हम अपनी इस प्रार्थना के द्वारा रथों और अक्षय ऐश्वर्य के स्वामी हो जायें ॥

आर्य-ईसाई लोगो ! अब सचेत हो जाओ अन्धाधुन्ध मन मानी धांगने का अब समय नहीं रहा । इस में सन्देह नहीं कि वेद के विषय में अज्ञान बहुत पूर्व काल से संचित होता आया है । वही बिगड़ा सामान तुम लोगों के हाथ पड़ा है और जो लोग पक्षपात को अपने पास ठहराते हैं उन को ऐसा ही सामान मिल सकता है । सो स्मरण रक्खो कि तुम्हारी धींगा धींगी अब नहीं चलेगी । अब वेद सूर्य का पुनः उदय होने की पूर्ण आशा होती जाती है । ऐसा अन्धेर अब नहीं चलेगा कि गौतम के पुत्रों को तुम लोग गोतम कहा करो । तुम लोग क्या यह सत्य मान लोगे कि "स भोजनं करोति" कोई कहे कि वह भोजन करता है तो तुम मानोगे कि वह भोजन बनाता है कोई कहे कि "स गमनं करोति" तो तुम अर्थ करोगे कि वह गमन नाम चलने को बनाता है । क्योंकि तुम्हारे मत में करोति धातु का अर्थ बनाना ही है । पर तुम में कोई संस्कृत का लेश भी जानता हो तो यही बता देवे कि संस्कृत में करने को क्या कहते हैं अर्थात् भाषा में कोई कहे कि " मैं ईश्वर की स्तुति वा प्रार्थना करता हूं " इस भाषा वाक्य का संस्कृत में अनुवाद कहें तो सीधा २ यही होगा कि "अहमीश्वरस्य स्तुतिं प्रार्थनां वा करोमि " तो क्या तुम लोग भाषा वा संस्कृत का यही अर्थ करोगे कि "ईश्वर की स्तुति प्रार्थना को बनाता हूं " ऐसे यहां सर्वथा ही दृष्टान्त से विरुद्ध इन लोगों का वेद विषय में कहना है । जब करोति धातु के अनेक अर्थ लोक में भी सिद्ध हैं तब वैसे ही वेद में भी मानेंगे अर्थात् कृ धातु की कल्पना और करने के अनेक अर्थ वेद से ही लोकव्यवहार में भी

आये हैं। ईसाइयों के पास कौनसा प्रमाण है? उस को उपस्थित क्यों नहीं करते? कि इस प्रमाण से वेद के उस २ प्रकरण में करने का अर्थ बनाना ही है अन्य नहीं। जब इन लोगों को ऐसा प्रमाण जन्मान्तर में भी नहीं मिल सकता इस कारण इन का अर्थ प्रमाण शून्य मिथ्या है। अब हम उस मन्त्र का अर्थ लिखते हैं॥

अ०-भृगवोऽन्तरिक्षस्थानदेवताः किरणा रथं रमणहेतुं प्रकाशं यथा कुर्वन्ति तथैव वृषभाय वर्षकाय वृष्णे बलवीर्यहेतव इन्द्राय विद्युदाख्याय ब्रह्म वेदस्तोत्रमकर्म कुर्याम कुर्मः कृतवन्तो वा वयम्। भृगवइत्यन्तरिक्षस्थानदेवतासु निघण्टौ पठितम् रथशब्दस्य यौगिकः सामान्योऽर्थः। अयमाशयः-यथा रश्मयएव पृथिव्यां प्रकाशं कुर्वन्ति प्रकाशएव च सर्वे प्राणिनो रमन्ते चेष्टन्ते सुखं वा लभन्ते रात्रौ चातएव स्वपन्ति। एवं वेदस्तोत्रैर्यथार्थगुणप्रकाशनेन स्वस्वदेहस्थेन्द्रगुणप्रकाशनेन सुखमाप्तव्यं मनुष्यैः नहि कोप्येकदेशीन्द्रोऽस्त्यपितु व्यापकएव तस्येन्द्रतत्त्वस्योद्बोधनेन शरीरात्मबलं सर्वैर्जनैर्वर्धयितव्यमिति॥

हे हरिवो हरणशीलरश्मिवन् इन्द्र! ते तुभ्यं नव्यं शुद्धं सदैव नूतनवस्तुवद्यथार्थबोधेन मनोहरमेव ब्रह्म वेदस्तोत्रं मयाऽकारि क्रियते प्रयुज्यते। नव्यमिति क्रियाविशेषणं वाऽस्ति तथा च मया तुभ्यं ब्रह्म नव्यमादावेव क्रियते। येनयेन तस्मिन् जन्मन्यादौ वेदाभ्यासः कर्त्तुमारभ्यते तेनतेनैवं शक्यते वक्तुम्। तेन नव्यब्रह्मप्रयोगेण धिया रथ्यः प्रकाशवन्तः सदासाः ससेवनास्तव प्रकाशरूपं भजमानास्त्वदीयाङ्गना शची प्रज्ञा सैवेन्द्राणी तस्याः शक्त्या बुद्धेः सत्त्वगुणात्मिकाया दासत्वेन सह वर्त्तमानाः प्रत्यगात्मविचारतत्पराः सदा भवेम॥

अयमाशयः-विद्युच्छक्तिरेव सदा वृष्टिहेतुर्मनुष्यादिशरीरेषु यः पराक्रमो वीर्यमोजो वा लक्ष्यते स सर्वएव तैजसस्तैजसप्रधानो वास्ति । तेजसः सूक्ष्मतत्त्वस्य द्वितीयः परिणामश्चेन्द्रपदवाच्यस्तस्यैवेन्द्रपदवाच्यस्य स्त्रीवत्सहचारिणी बुद्धिरतएव शचीति प्रज्ञानामसु निघण्टौ पठितम् । प्रकृतेर्महानित्यत्रापि द्वितीयः परिणामो महत्तत्त्वं सैव बुद्धिरिति लोकाश्च शचीपदेनेन्द्रपत्नीं मन्यन्तएव तच्चेदं वेदादेव सर्वं निस्सृत्य लोकेऽपि प्रवृत्तम् । यथाऽग्निसंगेन शीतं निवर्त्तते तथाऽत्रापि प्रकाशरूपेन्द्रस्य गुणकीर्त्तनेन प्रज्ञा विवर्धते तेनेष्टाभीप्साऽनिष्टजिहासा च सुकरा जायते । अतएव मन्त्रे धियेति तृतीयान्तं पदमुच्चारितं धिया सार्द्धं सदासा ससेवना वयं स्याम । लोके यदा कोऽप्यादावेव यत्करोति तदा वदति नव्यं मयेदं कृतमिति स चायं व्यपदेशो वेदादेव लोकमागतोऽस्ति । तथा च यन्न जीर्णं समलं वा भवत्यपितु निर्मलं शुद्धमजीर्णं मनोहरं च यद्दृश्यते तन्नूतनमित्युच्यते । तच्च यथा सद्योनिर्मितवन्नवं भाति तद्वद् यन्न कदापि जीर्यति मलिनी भवति वा सदैव त्रिकालाबाध्यं शुद्धं लक्ष्यते तदपि नवमिदमिति व्यपदिश्यते । अयं च नवपदस्यार्थो वेदवल्लोकेऽपि सम्भवति । तस्मान्नव्यपदेन वेदस्य कृत्रिमत्वान्वेषणमाकाशे निष्ठीवनवदेवानुमीयते । एवं च नास्त्यनयोर्मन्त्रयोः कश्चिदपि दोषः ॥

भावार्थः-(भृगवो रथं न वृषभाय वृष्ण इन्द्राय ब्रह्माकर्म) भृगु नाम अन्तरिक्ष में रहने वाले किरण रथ नाम सुख पूर्वक चलने फिरने आदि के हेतु प्रकाश को जैसे करते अर्थात् किरणों से जैसे प्रकाश ठीक २ होता है वैसे सर्पा

होने के हेतु तथा बल पराक्रम शरीरों में बढ़ाने वाले इन्द्र नाम विद्युत् शक्ति के लिये हम लोग वेद के मन्त्रों को प्रयुक्त करें वा करते हैं करते थे वा करेंगे। भृगुवत् अन्तरिक्षस्थान देवता का नाम निघण्टु में पढ़ा है तथा रथ शब्द का सामान्य यौगिकधात्वर्थ लिया गया है ॥

आशय यह है कि जैसे किरण ही पृथिवी पर प्रकाश पहुंचाते और प्रकाश में ही सब प्राणी रमण करते वा सुख को प्राप्त कर सकते हैं अन्धकार में कुछ नहीं होता इसी से रात्रि को सब सो जाते हैं। इस प्रकार वेद के स्तोत्रों द्वारा सब पदार्थों के यथार्थ गुणों का प्रकाश करने के साथ अर्थात् अपने २ शरीर में स्थित इन्द्र तत्त्व के गुणों के प्रकाश से मनुष्यों को सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। इन्द्र कोई एकदेशी वस्तु नहीं है किन्तु सर्वत्र व्याप्त है उस इन्द्र तत्त्व के उद्बोधन द्वारा शरीर और आत्मा का बल बढ़ाना चाहिये ॥

तथा हे (हरिवः ! ते नव्यं ब्रह्माकारि) हरणशील किरणों वाले इन्द्र तेरे लिये नये वस्तु के तुल्य यथार्थ बोध से मनोहर शुद्ध निर्दोष वेद के स्तोत्र का मैं प्रयोग करता हूं। नव्यपद यहां क्रिया का विशेषण भी हो सकता है तब यह अर्थ होगा कि मैं तेरे लिये वेद का आज नया प्रयोग करता हूं। उस जन्म में जो २ पुरुष पहिले २ वेद के अभ्यास का आरम्भ करता वह २ ऐसा कह सकता है। इस नवीन वेदाभ्यास से हम लोग (धिया रथ्यः सदासाः स्याम) बुद्धि द्वारा रमण के हेतु सात्त्विक प्रकाश के सेवन करने वाले होवें। इन्द्र की स्त्री इन्द्राणी को शची कहते हैं वह इन्द्राणी वा शची निघण्टु में लिखे अनुसार बुद्धि का नाम है उस सत्त्वगुणस्वरूप बुद्धि का सेवन करने वाले हम सदा हों। अभिप्राय यह है कि बिजुली की शक्ति ही सदा वर्षा का हेतु तथा मनुष्यादि के शरीरों में पराक्रम वीर्य वा ओज दीखता है वह सभी रुधिर की स्वच्छता अधिकता वा निर्दोषता से होने के कारण तैजस वा तैजसतत्त्व की प्रधानता से होता है। सूक्ष्म तैजसतत्त्व का द्वितीय परिणाम इन्द्र कहाता है। इसी कारण ऋग्वेद में प्रायः अग्नि सूक्तों के आगे इन्द्र सूक्तों का पाठ स्पष्ट दीख पड़ता है सो अग्नि देवता प्रथम मुख्य तत्त्व है उस के वर्णन के पश्चात् क्रमागत उसी के अगले परिणाम इन्द्र का वर्णन न्यायानुकूल ही है। उस इन्द्र पद वाच्य के साथ रहने वाली स्त्रीलिङ्ग बुद्धि इन्द्र की स्त्री है। इसी लिये शची नाम इन्द्र

की स्त्री इन्द्राणी निघण्टु में बुद्धि के नामों में पढ़ी है । तथा प्रकृति से द्वितीय परिणाम महत् होता है उसी महत्तत्त्व का नाम बुद्धि है। संसारी लोग शची पद से इन्द्र की पत्नी को स्पष्ट ही समझते हैं । सो यह सब मानना वेद से ही निकल के लोक में फैला है अर्थात् इन्द्र और इन्द्राणी एक ही कोटि में हैं एक ही के अङ्ग हैं इसी लिये (प्राची दिगग्निरधिपति० । दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपति०) इन मन्त्रों में प्रथम कक्षा में अग्नि और द्वितीय कक्षा में इन्द्र आया है । प्रत्येक वस्तु की स्त्री शक्ति उस २ के साथ रहती है । जैसे अग्नि के समीप बैठने से शीत की निवृत्ति होती है वैसे यहां भी प्रकाशरूप इन्द्र के गुणों का कीर्त्तन करने से बुद्धि बढ़ती है उस से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति सहज में सिद्ध हो जाती है । इसी लिये मन्त्र में धिया यह तृतीयान्त पद कहा गया है कि "बुद्धि के साथ हम प्रकाश का सेवन करने वाले होवें" लोक में कोई पहिले ही जिस काम को करता है तब वह कहता है कि मैं ने यह काम नया किया सो यह व्यवहार वेद से ही लोक में भी आया है । और जो जीर्ण वा मलिन नहीं होता किन्तु सदा निर्मल शुद्ध जीर्ण दोष रहित मनोहर दीखता है वह चाहे कभी बना हो वा न बना हो नवीन कहा वा माना जाता है । वह जैसे हाल के बने पदार्थ के तुल्य निर्मल प्रतीत होता है वैसे जो कभी जीर्ण वा मलिन नहीं होता सदैव तीनों काल में एक रस शुद्ध ही दीखता है वह भी यह नया है ऐसा कहा जाता है । यह नव पद का अर्थ वेद के तुल्य लोक में भी दीखता है । इस कारण नवपद से वेद के कृत्रिम होने की चेष्टा दिखाना ऊपर को थूकने के समान है । इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों में कोई भी दोष नहीं ॥

अब हम ईसाइयों से पूछते हैं कि "उत्पन्न करने वाले" यह मन्त्र के किस पद का अर्थ है ? ।

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ५४ मन्त्र ६

अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ॥

अर्थात् नयी प्रार्थना के बनाने वाले बृहद्रथ ने इन्द्र के लिये एक उत्तम और अद्भुत सूक्त बनाया है ।

आर्य—यहां भी यदि कोई शब्दार्थ व्यवस्था वेत्ता ईसाइयों से पूछे कि नयी प्रार्थना, वा अङ्कुल सूक्त किस २ पद का अर्थ है यह बताओ ? तो आकाश की ओर देखने के विना और ये क्या कह सकते हैं ? । अर्थात् कुछ भी नहीं क्योंकि ऐसा कोई पद ही नहीं है। पाठक महाशय! प्रत्येक पद का अर्थ देखिये—अध —अब । प्रिय—पियारा । शूष—बल । इन्द्राय—इन्द्र के लिये । मन्म—मानना ब्रह्मकृतः—वेद से स्तुति करने वाले । बृहदुक्थात् -बहुत वा अच्छा बोल सकने वाले से । अवाचि—कहा गया ।

अथेत्यनन्तरं प्रियं सर्वहितसाधकं सुखहेतु मन्म शूषं मननबलं ज्ञानबलमात्मिकं बलमिन्द्राय बृहदुक्थाद् महावाक्शक्तेः पुरुषाद् ब्रह्मकृतः कथितं भवति । शूषमिति निघण्टौ बलनामास्ति ब्रह्मकृतइत्यस्य हेतुगर्भविशेषणं बृहदुक्थादिति पदम् । महती कथनशक्तिश्च तस्य तस्य विषयस्य सम्यग् विज्ञाने सति सम्भवति यश्च सम्यग्जानाति सएव सम्यग्वक्तुमर्हति सम्यक्कथनशक्तिकारणाच्च ब्रह्मणो वेदस्य तेन सम्यक्प्रयोगः क्रियते तस्मादेव ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादिन्द्राय सम्यग्गुणाः कथिता भवन्ति । एवं नात्र कोऽपि निजः पुरुषो बृहदुक्थपदवाच्यः केनाप्युपपादयितुं शक्यः प्रमाणाभावात् वैदिकशब्दानां सामान्यार्थपरत्वे प्रमाणबाहुल्याच्च ॥

भा०—(अध प्रियं मन्म शूषमिन्द्राय बृहदुक्थाद् ब्रह्मकृतोऽवाचि) इस के अनन्तर सर्वहितकारी सब को प्रिय ज्ञान बल वा आत्मिक बल इन्द्र के लिये बड़े स्तोता वेद के प्रयोक्ता पुरुष से कहा गया । ब्रह्मकृत शब्द का हेतु गर्भविशेषण बृहदुक्थपद है कि जो जिस विषय को मर्म सहित ठीक यथार्थ जानता है वही उस विषय को अधिकता के साथ विस्तार पूर्वक कह सकने के कारण बृहदुक्थ कहाता और जो अच्छे प्रकार कह सके वही वेद का व्याख्याता वा यथावसर वेद का प्रयोग करने वाला हो सकता है ऐसा पुरुष इन्द्रसम्बन्धी आत्मिक बल

के विषय में जो कहे वही तत्व होगा । क्योंकि ऐसा पुरुष ठीक ही कहेगा वा जो ठीक कह सके वह वृद्धपुरुष कहावेगा । इस प्रकार इस वेद मन्त्र का निर्दोष सत्यार्थ ठहर जाता है । तब किसी निज पुरुष को वृद्धपुरुष बताना सर्वथा प्रमाण शून्य है तथा सामान्य धात्वर्थ से वेद के अर्थ करने में अनेक प्रमाण हैं ॥

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र ६

प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥

अर्थात् ऐसा हो कि यह नये भजन जो आप की महिमा के विषय में बनाये गये हैं और यह प्रार्थनायें आप को प्रसन्न करें ॥

आर्य—हम कृत और नव दोनों शब्दों की व्यवस्था तथा सिद्धि पूर्व लिख चुके हैं जिस से वेद के अनित्य होने वा किसी निज के बनाये होने का दोष सर्वथा दूर हो जाता है । द्वितीय यह कि नव शब्द "णु स्तुतौ" धातु से बनता है इस कारण स्तुति के योग्य अच्छे निर्दोष को नव कहते और नव शब्द से स्वार्थ में यत् प्रत्यय हो कर नव्य शब्द बनता है । और इसी अभिप्राय से लोक में भी वह २ वस्तु उत्तम प्रशंसनीय होनेसे नया कहाता है । इस कारण मूल यौगिक अर्थ से भी दोष दूर होजाते हैं । संक्षेप से मन्त्र का अर्थ यह है कि—

मित्र नाम सूर्य तत्व जो प्राणरूप से प्रत्येक शरीर में सब चेष्टाओं का प्रेरक तथा सोमनाम वरुण जिस को चन्द्रमा भी कहते हैं जो मनरूप से सब शरीरोंमें व्याप्त है इन दोनों को, मैंने प्रयुक्त किये ये स्वच्छ पवित्र अच्छे वेद स्तोत्र (ऋचसे) नाम स्तुति के लिये (प्रजुजुषन्) विशेष कर प्रसन्न सन्तुष्ट करें । प्राण और मन की प्रसन्नता ही सब इष्ट सुखों का कारण है । और समक्ष पूर्वक एकान्त बैठ श्रद्धा के साथ वेद द्वारा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करने से मन और प्राण की शुद्धि वा प्रसन्नता अवश्य ही होती है । और जो होता वा हो सकता है वही प्रार्थना द्वारा मांगा जाय यही उचित है । इस प्रकार यहां भी व्यापक निर्दोष वेद का निर्विकल्प अर्थ घट जाता है । अर्थात् उक्त मन्त्र के मित्रावरुण देवता हैं तथा "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" इस ब्राह्मणग्रन्थस्थ के अनुसार प्राण और मन वा अपान आदि अर्थ सप्रमाण सिद्ध है ॥

(भाग ८ अङ्क ३।४ पृ० ८० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर)

तो उपासना तुम्हारे मत में कदापि नहीं बनेगी । तुम को जगत् भर में ऐसा कोई दृष्टान्त भी न मिलेगा कि एक में उपासना बता सको। उप नाम समीप आसना नाम स्थित होना वा करना उपासना कहाती है जब एक ही वस्तु है तो कौन किस के समीप में स्थित हो सकता है । यदि कहो कि जो आदित्य में पुरुष है वह मैं हूं यह कल्पनामात्र है तो फिर हमारा द्वैत पक्ष सिद्ध हो गया । हम तो मानते हैं कि जो वास्तव में दो वस्तु शरीरादि जगत् में होते हैं उन में विरोध को सर्वथा हटाना और परस्पर अधिक मेल मित्रता एक दूसरे के सुख दुःख में सर्वथा सहायक रहना जब इष्ट होता है तब वे दोनों मनुष्यादि अपने मेल की अधिकता वा सर्वथा अविरोध दिखाने वा प्रकट करने की इच्छा से कहते मानते हैं कि जो हम हैं सो वे हैं जो वे हैं सो हम हैं हम और वे दो २ नहीं हैं । हम वे तो एक ही हैं यह व्यवहार केवल लोक में ही नहीं किन्तु ग्रन्थकारों ने भी ऐसा व्यवहार किया है जैसे भर्तृहरि ने लिखा है कि—

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।

तुम्हारी हमारी पहले ऐसी बुद्धि थी कि जो तुम हो सो हम हैं और हम हैं सो तुम हो हम तुम दो २ नहीं हैं। यह व्यवहार अत्यन्त मेल में किया जाता है । इसी के अनुसार मुक्तदशा प्राप्त करने के लिये जीव उस उपास्य देव के साथ एकता करता उस के साथ मेल बढ़ाता लेशमात्र भी उस से विरुद्ध करना नहीं चाहता तभी उस की कृपा द्वारा इस के अनिष्ट की निवृत्ति होती है । इसी अभिप्राय से ईश्वर के साथ जीव का अभेद नाम अविरोध दिखाया है सो ऐसे विचार को मानने से कुछ दोष नहीं आता ।

साधुसिंह कहते हैं कि—(हंसः शुचिषद्०) इस मन्त्र में अद्रिजा नाम परमेश्वर का आने से शालग्राम आदि मूर्त्ति पूजा, गङ्गा यमुना आदि नदी भी परमात्मा का रूप हैं तथा अतिथि पद के आने से साधु संन्यासी भी ईश्वर रूप हैं यह सिद्ध हो गया चाहें जिस की पूजा करो ईश्वर की ही पूजा होगी।

उ०—गङ्गादि नदियों का ईश्वर होना मन्त्र के किस पद से अर्थ लिया गया ? ! । साधुसिंह जी ! इतनी भागाभूगी क्यों करते हो सीधा यही क्यों मानते कि ... ईश्वर ... हैं ... आर्यशिरोम

स्वामि दयानन्द सरस्वती जी को तुम अपना विरोधी मानकर बुरा कहते कपट भिक्षु आदि विशेषण देते हो क्या वे तुम्हारे मतानुसार ब्रह्म नहीं थे ? यदि कहो कि थे तो तुमने ब्रह्म से ही विरोध किया उसी को बुरा कहा, यदि कहो कि नहीं थे तो तुम्हारे विरोधियों के ब्रह्म न होने से भेदवाद सिद्ध हो गया। अद्रि शब्द का अर्थ यद्यपि वेद के कोश में मेघ है और मेघ से होने वाला अद्रिजा जीवधारी इस से माना जायगा कि मेघ से ही अन्नोत्पत्ति हो कर प्रजा के प्राणी जन्मते हैं अर्थात् पृथिवी में वृष्टि होकर गेहूं जौ आदि ओषधि ओषधियों से अन्न अन्न से वीर्य वीर्य से प्राणिदेह बनते हैं इस में मेघ प्रधान है। "वृष्टेरन्नन्ततः प्रजाः" इस मनुवाक्य से भी यही प्रयोजन है। तथापि अद्रि पहाड़ का भी नाम है और उस से होने वाले छोटे २ पत्थर अद्रिजा कहे जावें यह सम्भव है परयह तो बताइये कि पहाड़ किस से उत्पन्न हुए ?। जब कि सब जगत् का उपादान तुम ब्रह्म को मानते हो तो पहाड़ भी उसी से हुए मानोगे फिर उस विकाररूप कार्य पहाड़ से पत्थर का टुकड़ा रूप ब्रह्म उत्पन्न हुआ तो जब कार्य से मूर्त्ति बनी तब वह कार्य का कार्य कहाता परमात्मा क्यों वा कैसे हो गया ?। जैसे कोई कहे कि पृथिवी से घड़ा बना और घड़ा से फिर पृथिवी उत्पन्न हुई क्या ऐसे लेखों से तुम लोगों को लज्जा भी नहीं आती कहते लिखते समय यह तो सोच लेते कि हम क्या कहते हैं। वा यही सिद्धान्त माने बैठे हो कि "मुखमस्तीति वक्तव्यम्" ॥

इस से आगे साधु० ने (द्वा सुपर्णा सयुजा०) इस मन्त्र के द्वारा स्पष्ट सिद्ध होने वाले जीवात्मा परमात्मा तथा प्रकृति तीन पदार्थों के सनातन भेद सिद्धान्त को पूर्वपक्ष में रखकर यह लिखा है कि "तिन दोनों का प्राण बुद्धि उपाधि भेद कर भेद हमारे सिद्धान्त में स्वीकृत है।" प्रयोजन यह कि प्राण और बुद्धि दो प्रकार की भिन्न २ दो उपाधियों के कारण दो सुपर्ण मन्त्र में कहे गये हैं वस्तुतः दो आत्मा अलग २ नहीं हैं किन्तु एक ही है। उस मन्त्र में कहे दो सुपर्णों में से एक प्राणोपाधि ईश्वर अभोक्ता प्रकाशक साक्षीरूप है जिस का वर्णन इस निम्न लिखित मन्त्र में बतलाते हैं:—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तंपाकेन मनसाऽपश्यमन्ति-

तस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम् ॥४॥ ऋ
ग्वेद म० १० । ११४ । ४ ॥

एक सुपर्ण नाम प्राण वायु समुद्र नाम अन्तरिक्ष को प्रवेश करता है । सो प्राणोपाधिक परमात्मा इस विश्व भुवन नाम सर्वलोक को विचष्टे नाम पश्यति प्रकाश करता है । तिस प्राणदेव को अध्ययनकाल में माता जो वाक है सो रेढि नाम अपने आप में लीन कर लेती है । और तूष्णीभाव काल में वा स्वा काल में सो प्राण देव मातरं नाम वाक् को अपने आप में लीन कर लेता है तिस प्राण देव को पाक नाम परिपक्व मन करके मैं उपासक अन्तिम नाम अप हृदय कमल में अपश्यं नाम देखता भया इत्यादि—

उ०-यह पूर्वोक्त सब लेख साधुसिंह का है । (द्वा सुपर्णा०) मन्त्र में एक यह सुपर्ण है जो इस मन्त्र में वर्णन किया गया है इस के लिये साधुसिंहने को प्रमाण नहीं दिया केवल इन की मनमानी बात है । और प्रमाण देते ही कह से इस के लिये कोई प्रमाण वेद से मिल ही नहीं सकता । कल्पित निर्मूल विचा प्रमाण शून्य होने से ही त्याज्य कहाते हैं । और प्राणोपाधिक अर्थ करना भी ठीक नहीं है । इस लिये इस मन्त्र का अर्थ हम लिखते हैं:-

अ०-एकः सुपर्णः शोभनपतनशीलः सूर्यः समुद्रमन्तरिक्षमाविवेशाविशति । सम्यगुद्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यापोऽस्मिंस्तदन्तरिक्षं समुद्रपदवाच्यम् । अनेनैवार्थाशयेन निघण्टौ समुद्रमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । एवं च समुद्रपदस्य विस्तृतार्थपरत्वकथनं साधुसिंहस्य निर्मूलमेव विज्ञेयम् । स चेदं विश्वं सर्वं भुवनं पृथिव्यादिकमुत्पत्तिधर्मकं विचष्टे विशेषेण दर्शयति चक्षूरूपेण पश्यति वा दर्शनसाधने सूर्यस्य प्रधानत्वाच्चक्षुष्ट्वम् । सूर्यादेव चक्षुरपि द्रष्टुं शक्नोति । अतएवोक्तं वेदे-"चक्षुः सूर्यो दधातु मे" सूर्य एव चक्षुषी दधाति कारणत्वात् । तं सर्वत्र व्याप्तं प्रकाशसमवेत

प्रकाशमयं सूर्यतत्त्वं पाकेन प्रशस्येन सोमकार्येण शुद्धेन मनसाऽहमन्तितोऽपश्यं समीपादेव पश्यामि। योहि मनसा सूर्यतत्त्वं पश्यति स प्रत्यगात्मविचारे रममाणः प्रकाशप्राबल्यात्सत्त्वगुणप्रधानो जायते बुद्धेः सत्त्वगुणात्मकत्वात् तथा च सत्येव स उपासक इष्टमादत्तेऽनिष्टं च जहाति पाकपदं निघण्टौ प्रशस्यनामसु पठितमेव दृश्यते । तं सुपर्णं शोभनपतनं सूर्यं माता पृथिवी रेढि याचते सउ सोऽपि मातरं पृथिवीं रेढि याचते । "द्यौष्पिता पृथिवी माता" इति वेदएव स्पष्टतया दर्शनान्मातृपदवाच्या पृथिवी तस्या एव मनुष्यादयः सर्वे प्राणिन उत्पद्यन्ते जीवन्ति च तस्मात्तस्या मातृत्वम् । रिरिहढि रिरीहीति च याचनाकर्माणौ निघण्टौ पठितौ । यस्य कार्यं स्वाभाविकं यदाश्रयेण सिध्यति स ततएव स्वकार्यसिद्धिं याचते । पृथिवी सूर्याज्जलवृष्टिं याचते तदेवोदकप्रधानं सोमतत्त्वं पातुमिन्द्रो भूत्वा सूर्यः पृथिवीतो याचते। एवमुपर्यधः सोमस्य गमनागमनैः सर्वे प्राणिनः सुखं जीवन्ति व्यवहरन्ति च । एवमस्मिन्मन्त्रे विद्याविषयएवोक्तो नात्र कश्चिदप्युपाधिनियोगो दृश्यते । तस्मात्साधुसिंहकृतार्थो हेयः ॥

भा०-(एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश) एक सुपर्ण नाम ठीक अपनी नियत चालपर चलने वाला ठीक समय पर उदय वा अस्त होने वाला नियम से विरुद्ध एक क्षण भी न चलने वाला सूर्य समुद्र नाम अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है । निघण्टु में समुद्र नाम अन्तरिक्ष का इस लिये है कि पृथिवी से सूक्ष्म होकर जिस में ऊपर को जल चले जाते जो नीलवर्ण जलों का अनन्त (कोष) खज़ाना आकाश में दीखता जिस में से अतुल जल की वर्षा होजाने पर भी चुक नहीं जाता वही मुख्य कर समुद्र है पृथिवी का समुद्र उस से बहुत छोटा गौण

है। जब ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न समय के प्रचण्डताप से युक्त सूर्य नामक इन्द्र अपने किरणरूप तीक्ष्ण शस्त्रों को लिये मेघ की सेनारूप अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है तब आकाश के समुद्र को अत्यन्त क्षुब्ध संचलित करके पार्थिव प्राणियों के जीवनार्थ उस समुद्र से जल वर्षाता है। समुद्र शब्द का व्याकरण के अनुकूल यही अर्थ ठीक है इसी कारण साधुसिंह ने जो विस्तृत अर्थ किया वह ठीक नहीं किन्तु वह सर्वथा प्रमाण शून्य निर्मूल है। (स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) वह सूर्य नामक सुपर्ण उत्पन्न होने वाले इस पृथिव्यादि सब जगत् को विशेष कर दिखाता है वा चक्षुरूप से सब को देखता है। देखने के साधन का नाम चक्षु है और देखने के साधनों में प्रधान सूर्य है इसी से विराट् पुरुष का चक्षु सूर्य माना जाता उसी चक्षु से हम मनुष्यादि के चक्षु बनते हैं। सूर्य से ही चक्षु भी देख सकते हैं इसी लिये बाह्य प्रकाश के विना अन्धेरे में कुछ नहीं दीखता। चन्द्रमा दीपक आदि के प्रकाश का भी सूर्य ही प्रधान कारण है चाहें यों कहे कि कारण का नाम ही सूर्यतत्त्व है। इसी लिये वेद में कहा है कि "मेरे लिये वा मेरे शरीर में सूर्य चक्षु को धारण करे" क्योंकि सूर्य ही चक्षु नाम देखने की शक्ति को धारण करता है सूर्य के विना चक्षु की स्थिति नहीं है। (तं पाकेन मनसाऽन्तितोऽपश्यम्) उस सर्वत्र व्याप्त प्रकाश के साथ नित्य सम्बन्ध रखने वाले प्रकाशस्वरूप सूर्य तत्त्व को प्रशंसायुक्त शुद्ध मन से मैं समीप से ही देखता हूं। जो पुरुष शुद्ध मन से सूर्यतत्त्व को देखता है। वह भीतरी विचार में अधिककर रमता हुआ प्रकाश की प्रबलता से सत्वगुणी हो जाता क्योंकि सत्वगुण की विशेष प्रधानता का नाम ही बुद्धि है ऐसा होने पर ही वह अनिष्ट को छोड़ सकता वा अनिष्ट उस से छूट जाता और इष्ट को प्राप्त कर लेता है (तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्) उस सुपर्णनामक सूर्य को माता नाम पृथिवी चाहती और वह सूर्य पृथिवी नाम हम लोगों की मुख्य माता को चाहता है "द्यौ पिता और पृथिवी माता है" ऐसा वेद में ही स्पष्ट लिखा है इस लिये पृथिवी को माता कहते हैं क्योंकि इसी पृथिवी से हम सब मनुष्यादि उत्पन्न होते हमारे शरीर मुख्य कर पृथिवी तत्त्व से बनते हैं इसी कारण मरणानन्तर पृथिवी में ही फिर मिल जाते हैं और पृथिवी के आश्रय से ही ठहरते वा उसी को खा कर हम सब जीवित रहते हैं। यह नियम है कि जिस से उत्पन्न

होता वह उसी में ठहरता और उसी को खाकर अच्छा जीवित रहता है जैसे मनुष्य का बच्चा जिस माता से जन्मता उसी की गोद में अच्छा रहता उस के छूटने पर दुःखी होता और उसी माता के दूध को पीकर जीता है। इसी नियम के अनुसार हम सब की माता पृथिवी है। जिस के स्वाभाविक कार्य की सिद्धि जिस के आश्रय से होती वह उसी से अपने कार्य की सिद्धि को चाहता है। पृथिवी सूर्य से जल की वर्षा चाहती है क्योंकि जल वर्षा हुए विना पृथिवी का काम ठीक नहीं चलता किन्तु दुर्भिक्ष द्वारा पृथिवी पर हलचल मच जाती है और इन्द्र बन कर नाम तेजधारी भूखा बन के इन्द्रनाम सूर्य उसी जलप्रधान सोमतत्त्व को पीने के लिये पृथिवी से मांगता है। इसी लिये सूर्य पृथिवीरूप माता को जल देता और पृथिवी इन्द्र को सोम पिलाती है। इस प्रकार सोम के ऊपर नीचे जाने आने द्वारा सब प्राणी सुख से जीवित रहते और उनके सब व्यवहार ठीक चलते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में विद्या सम्बन्धी विषय कहा गया है किन्तु यहां किसी प्रकार की उपाधि के लगने लगाने के लिये कोई संकेत मात्र भी नहीं जताया गया इस से साधुसिंह कृत अर्थ त्याज्य है ॥

इस से आगे बुद्ध्युपाधि जीव को द्वितीय सुपर्ण ठहराने के लिये बृहदारण्य का (तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे०) इत्यादि प्रमाण लिखा है। सो इस प्रमाण में जीव का वर्णन तो अवश्य है परन्तु बुद्धि उपाधि का नाम जीव है यह इसके किसी पद से अर्थ नहीं निकलता। जब कि बुद्धिरूप उपाधि मात्र से जीव बना वा कहाया तो सर्वव्याप्त ईश्वर में जहां २ बुद्धिरूप उपाधि लगी वहां२ जीव हो गया फिर यह तो बताइये कि (पुरुषएतस्माअन्ताय धावति) यहां व्यापक पुरुष में दौड़ना भागना कैसे घटाओगे ?। भागने का अर्थ यह है कि जो २ अपने लिये जिस २ घर आदि को सुख भोग का स्थान आदि समझता है वह २ उस २ घर में निवास के लिये राग के साथ सृष्टि भर में भागा करता वा भाग रहा है इसी के अनुसार मृत शरीर छोड़े हुए जीव उन २ मनुष्यादि के शरीरों में सुख भोग के लिये भाग २ कर घुसते हैं। सो जब कोई परिच्छिन्न जीव वा पुरुष तुम्हारे मत में है ही नहीं तो भागता कौन है ? इस का उत्तर साधुसिंह जन्मान्तर में भी नहीं दे सकते इस कारण इन का सोपाधिक को जीव मानना भी सर्वथा निर्मूल है। जब तुम ने ब्रह्म को जीव बनाने के लिये उस से भिन्न उपाधि को वस्त्वन्तर मा[illegible]धि को कोई

सङ्कस्तु न मानो तो उन के कारण से भेद सिद्ध कर सकना असम्भव है। इस लिये (द्वा सुपर्णा०) आदि मन्त्रों के अर्थ में कुछ बाधा मत डालो वेद ईश्वर वाक्य है ईश्वर तुम पर कोप करेगा। और फिर भी " भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" यही दशा रहेगी इस कारण गतानुगतिकता को त्यागो शोचो समझो द्वितीय यह भी विचारणीय है कि बुद्धि एक सत्त्वगुणात्मिक शुद्ध निर्मल तत्त्व है उस की उपाधि जीव को और माया जो बुद्धि की अपेक्षा रजोगुणी है उस की उपाधि ईश्वर में साधुसिंह ने लगाई तो ईश्वर को छोटा और जीव को बड़ा ठहराया। कोई पूछे कि मायोपाधि और बुद्ध्युपाधि ये शब्द कहां से गढ़े कोई प्रमाण तो दो तो वैयाकरणखसूची के साथी बनने होगा।

इस से आगे साधुसिंह ने यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ४ (अनेजदेकं मनसो जवीयो०) इत्यादि लिखा और मनोरूप उपाधि से गमन करतावत् है इत्यादि अर्थ किया है॥

उ०-इस मन्त्र के अर्थ में साधुसिंह ने महा अज्ञान अपना सिद्ध कर दिया जब कि मन किसी चेतन की सहायता के बिना स्वयं जड़ होने से गमनागमनादि कुछ नहीं कर सकता तो साधुसिंह एक स्वतन्त्र मन और एक मनोपाधिक ईश्वर दो पदार्थ स्वतन्त्र गमन करने वाले कैसे सिद्ध कर सकेंगे? अर्थात् कदापि नहीं?। और जब मन की गति जीवात्मा चेतन की सहायता से स्वतन्त्र मानी जाय और ईश्वर की सर्वत्रव्याप्ति रूप सर्वोपरि गति मानें तभी ठीक मन्त्र का अर्थ घट सकता है इस लिये इन का अर्थ मिथ्या अग्राह्य युक्ति प्रमाण शून्य है॥ आगे साधु०

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं नच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ श्वेताश्वतरोपनि० ३। १९॥

भाव यह है हस्त पाद उपाधि सहित होकर वेगवान् तथा ग्रहण करता है परन्तु स्वरूप से हस्त पाद उपाधि रहित है इसरीति से वास्तव करके चक्षु कर्ण रहित है परन्तु चक्षु कर्ण उपाधि सहित हो कर देखता तथा सुनता है इत्यादि-

उ०—मन्त्रार्थ करने की हमें आवश्यकता इसलिये नहीं कि अक्षरार्थ सीधा है। इन साधुसिंहादि के दादा पर दादा गुरु स्वामिशङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है उस से इन का अर्थ सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि उन्होंने उपाधि का नाम भी नहीं लिया केवल सीधा२ अक्षरार्थ लिख दिया है। पाठक महाशय! आप साधुसिंह से पूछ सकते हैं कि "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इन दो वाक्यों का सीधा २ अर्थ यह है कि "वह विना चक्षु देखता और विना कान सुनता है।" तब जो "वास्तव करके चक्षु कर्ण रहित है परन्तु चक्षु कर्ण उपाधि सहित हो कर देखता तथा सुनता है" साधुसिंहने अर्थ किया वह किस प्रमाण युक्ति वा रीति से वे सत्य ठहरावेंगे?। स्वार्थ सिद्धि के लिये मनुष्य को बड़े २ अनर्थ करने पड़ते हैं। जब कि वस्तुतः ईश्वर चक्षु कर्णादि साधनों से रहित है और देखने सुनने की आवश्यकता से वह चक्षु आदि की उपाधि अपने में लगाता है तो वास्तव में वह अन्धा और बधिर भी साधुसिंह के मत में हुआ। तथा जब चक्षु आदि के विना देखनादि नहीं कर सकता तो मनुष्यों से विशेषता कुछ न हुई और इन लोगों के मत में वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं ठहरेगा। इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। इस से आगे साधुसिंह ने बृहदारण्योपनि० का प्रमाण लिखा है—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरम्—इत्यादि। अधिदैवतमथाधिभूतम्। यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्। यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरम्। यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरम्। यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरम्। तथा नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽस्ति विज्ञाता। बृहदारण्योपनिषद् ५।७॥

जो पृथिवी में स्थित हो कर पृथिवी के अन्तर है जिस को पृथिवी देव
नहीं जानता जिस का पृथिवी शरीर है। इत्यादि तथा मानने जानने देख
सुनने वाला ईश्वर से भिन्न कोई नहीं है। अर्थात् ईश्वर से भिन्न जीव को
नहीं है एक ईश्वर ही वा वही जीव है तो उस से भिन्न ईश्वर कोई नहीं है
इस प्रमाण से ईश्वर को साकार वा अद्वैत ठहराने का अभिप्राय इन का है

उ०–इन वाक्यों का ठीक अर्थ यह है कि परमेश्वर पृथिव्यादि सब जग
में अपनी व्याप्ति से ठहरा हुआ भी पृथिव्यादि से अन्तर नाम अलग भिन्न
[यहां बहिर्योग अर्थ में अन्तर शब्द लिया जायगा] क्योंकि "अन्तरं बहिर्यो
गोपसंव्यानयोः" जड़ वा अल्पज्ञ होने से जिस को पृथिव्यादि नहीं जानते औ
जिस के पृथिव्यादि शरीर नाम नाशवान् हैं अर्थात् पृथिव्यादि सब उसी के आ
धीन हैं उसी के हैं पर तो भी नश्वर हैं। शरीर शब्द को यौगिकार्थ न लेक
यदि कोई भोगायतन लेना चाहे तो उस के मत में (अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति
इस के अनुसार ईश्वर अभोक्ता नहीं ठहरेगा। तथा विना आंख के जो दे
सकता और विना कान जो सुन सकता है वह सर्वत्र व्याप्त होने से सर्वोपरि
द्रष्टा श्रोता है उस के सामने कोई भी द्रष्टा श्रोता नहीं। कोई सर्वोपरि बड़ा प
ण्डित हो तो अन्य छोटे प० उस के सामने मूर्ख माने जावें गे। बड़े राजा
सामने छोटे राजा लोग राजा नहीं माने जाते। वैसे सर्वोपरि श्रोतादि के स
मने कोई जीव श्रोतादि नहीं ठहरता। अर्थात् जैसे कोई कहे कि इस से अन्
कोई पण्डित नहीं इस से अन्य कोई बली नहीं जैसे यह कथन उस की विशे
कर प्रधानता वा प्रशंसा दिखाने में घटेगा वैसे यहां भी इस से अन्य द्रष्टा नहीं
इस से अन्य श्रोता नहीं यह कथन सर्वव्यापक के सर्वत्र देखने सुनने की प्रशंसा
के लिये है। इस कारण इस से जीव ब्रह्म की एकता दिखाने के लिये साधुसिंह का
पंख फटफटाना निरर्थक है। द्वितीय पृथिवी को ईश्वर का शरीर कहते हुए तुम
रूढि अर्थ लेने का ही आग्रह करो कि जिस से तुम्हारी मूर्त्ति पूजा सिद्ध हो
तो हम यह कहते हैं कि इसीलिये ग्रन्थकार ने पृथिवी से अन्तर कहा कि वह
किसी में लिप्त नहीं। जो जिस में लिप्त वा बद्ध नहीं उस के द्वारा नाम उस पृ-
थिव्यादि के पूजने से ईश्वर की पूजा होनी यदि सम्भव है और उस पूजा से
वह प्रसन्न हो सकता है तो पृथिवी के खोदने जोतने पीटने कूटने आदि से व

ल सूत्र करने से कुछ क्यों नहीं हो सकता? क्या शरीर को रूढि मानने के पक्ष इस का उत्तर कोई दे सकेगा? प्रयोजन यह हुआ कि पृथिवी को ईश्वर का रीर मान कर पत्थर की बटियों की पूजा सिद्ध नहीं होती इस लिये उक्त प्रमाण का पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है॥ इस से आगे बृहदारण्य के अ० ४ का—

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्। इत्यादि—

यह प्रमाण लिख कर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है॥

उ०—इस प्रमाण से भी तुम्हारी एकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि यहां येन नाम जिस ईश्वर से इस सब संसार को जीव जान सकता है उस को किस साधन से जाने? अर्थात् उस के जानने का साधन वह स्वयं ही हो सकता है अन्य कोई नहीं। यहां येन पद से ईश्वर, इदं सर्वं दो शब्दों से सब संसार तथा विजानाति क्रिया का कर्त्ता जीव इस प्रकार इसी वाक्य के प्रमाण से जब जीव ईश्वर तथा सब जगत् ये तीनों भिन्न २ सिद्ध होजाते हैं तो सोचिये कि जो मुख्य प्रमाण इन लोगों ने अद्वैत सिद्धि के लिये शोचा वा माना था उसी से स्पष्ट द्वैत सिद्ध हो गया तो अद्वैत के लिये इन का गर्व बढ़ाना व्यर्थ है। और इस बृहदारण्य के वाक्य का अभिप्राय यह है कि ईश्वर को जो मनुष्य जान लेता वह उस के ज्ञान से ही इस जीव और जगत् को भी ठीक जान सकता है क्योंकि ईश्वर का जानना बहुत बड़ा प्रधान है प्रधान के मेल वा ज्ञानसे गौण का ज्ञान वा मेल स्वयमेव हो ही जाता है। इस प्रकार उस सर्वोपरि ईश्वर को उसी से जान सकते हैं उस की बराबर समान कोई वस्तु न होने से उपमानादि द्वारा भी उस को कोई नहीं जान सकता कि अमुक वस्तु के तुल्य वा ऐसा है। सो कठोपनिषद् में लिखा भी है कि—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इसी प्रकार उस का ज्ञान वा प्राप्ति करनी चाहिये किन्तु अन्य कोई साधन वहां नहीं पहुंचता॥

अब इस से आगे साधुसिंह के प्रत्येक अंश का उत्तर न लिख कर केवल जिन २ किन्हीं २ बातों का उत्तर अतिसंक्षेप से हम लिखेंगे क्योंकि ऐसा लिखने से वर्षों में भी पूरा होना सम्भव नहीं।

सत्यार्थविवेक प्रथम प्रकरण पृ० १०४ से ११८ तक जो गुरुनानक के विषय में साधुसिंह ने लिखा है उस में हमें दो बातें लिखनी हैं—एक तो गुरुनानक जी अच्छे शुद्ध विचार के पुरुष थे किसी प्रकार का छल कपटआदि उन में नहीं था यह स्वामी जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश में थोड़ा लिख कर जता दिया है। परन्तु वे संस्कृत के विद्वान् नहीं थे यह स्वामी जी महाराज का लिखना कई प्रमाणों से ठीक सिद्ध मालूम होता है। एक तो पञ्जाब के लोग जो गुरुनानक जी को बहुत मानते हैं वहां कहीं भी संस्कृत के पण्डित होने के कारण उन के मान्य का कोई लक्षण वा चिह्न नहीं मिलता न उन के इतिहास में कहीं प्रसिद्ध है कि वे संस्कृतज्ञ थे न कोई संस्कृत में उन का बनाया ग्रन्थ ही मिलता है तो उन के संस्कृतज्ञ होने का विचार सत्य कैसे मान लिया जाय ?। और स्वामी जीने सर्व का सब तथा आगार को भण्डार क्यों लिखा इतने उत्तर से नानक जी संस्कृत के विद्वान् ठहर जावें यह कोई बात नहीं है। क्योंकि प्रथम तो यह अज्ञान तुम को हुआ कि आगार की भाषा भण्डार बताते हो सो ठीक नहीं भाण्ड शब्द संस्कृत है वही थोड़ा बिगड़ के भण्डार हो गया है। अन्नादि भरने के बर्त्तनों को भाण्ड कहते हैं उसी के तुल्य जिस में सब विद्याभरी हैं ऐसा विद्याओं का भाण्ड नाम पात्र वेद है। और थोड़ा शोचो तो सही कि पढ़ों और बिना पढ़ों की भाषा में बहुत भेद होता है पढ़े हुए लोग अपनी भाषा का स्वयमेव कुछ संस्कार करके बोलते चालते हैं अनपढ़ लोग अपनी भाषा का कुछ भी संस्कार नहीं कर पाते इस लिये स्वामी जी का अभिप्राय उन के एक दो शब्द पर नहीं किन्तु उनकी भाषा पढ़ों कीसी नहीं है यह विचार स्वामी जी का था सो ठीक ही है। यदि तुम दश पांच ऐसे पुष्ट प्रमाण दे सको जो वस्तुतः गुरु नानक जी के संस्कृतज्ञ होने के लिये सत्य यथार्थ हों तो हम मान लेंगे कि वे संस्कृतज्ञ थे जब तुम एक भी प्रमाण न देकर वैसे ही शुष्क विवाद से ठहराना चाहते हो तो तुम्हारी इच्छा है। द्वितीय यह कि नानक जी के कथन से किन्हीं वेदादि ग्रन्थों का आशय मिलता है इतने से उन को वेद का भी अनुभव [इलहाम] हुआ था यह मानना व्यर्थ है। संसार में कोई बालक भी कुछ कहे उस का भी आशय वेद से कुछ मिलेगा। वा ईश्वर धर्मादि उत्तम विषय में बिना पढ़ा भी जो कुछ विचार कहेगा उसका वेद से कुछ मेल अवश्य

मिलेगा । सो इतना ही नहीं किन्तु ईसाई मूसाई जैनी बौद्धादि की भी अनेक बातें वेद से मिलेंगी और जिस का अन्तःकरण जितना अधिक शुद्ध होगा उस के हृदय से वैसे ही अधिकांश निर्दोष विचार निकलेंगे जैसे शुद्ध मिष्ट कूप से खारी अशुद्ध जल नहीं निकल सकता इस कारण उस भीलरी शुद्ध को वेद का अनुभव हुआ वा वेद का विद्वान् वह था ऐसा नहीं मान सकते किन्तु यह मानना चाहिये कि सृष्टि के आरम्भ से ही वेद द्वारा सब उत्तम विचार संसार भर में फैले हैं उन में से जिस का हृदय जैसा शुद्ध अशुद्ध है वैसा ही न्यूनाधिक उस का विचार वेद से मिलेगा । इस से वेद की प्रशंसा हुई कि वेद अनादि धर्म का मूल है उसी से पात्रता के अनुसार मनुष्यों की भी सापेक्ष प्रशंसा बनती जाती है ॥

साधु०—कोई एक तो मन्त्र वा ब्राह्मण भाग का वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादक लिखा होता जिस में अकार वर्ण में विराट अग्नि विश्व नाम आते हैं॥

उ०—क्या कोई ग्रन्थ का वाक्य न लिखने से यह सिद्ध होगया कि कोई प्रमाण वाक्य नहीं है वा लिखने की प्रेरणा करते हो । तुम ने उपनिषदों से भिन्न ग्रन्थ नहीं देखे यह अपना दोष दूसरों पर क्यों झोंकते हो ? । तैत्तिरीयारण्यक में देखो वहां अकार से विराटादि अर्थ दिखाया है । मुझे अनुमान है कि साधुसिंह ने अब तक तैत्तिरीयारण्यक कभी न देखा होगा । साधुसिंह ने पृ० ११९ से १३६ तक ओम्-प्रणव की व्याख्या विषय में लिखा है । इस में जो २ जहां २ भूलें हों हम खोजें छांटें यह हमारा काम नहीं केवल इतना ही इस में कहना है कि जो वेदानुकूल वा तदनुसारी ब्राह्मण स्मृत्यादि के अनुकूल है वह सब ठीक ही है और जो इन से विरुद्ध है वह इन का लेख विरुद्ध रहेगा ॥

इस के आगे साधुसिंह ने १३७ से १५२ पृ० तक व्याहृति और (तत्सवितुर्व०) मन्त्र की व्याख्या विषय में लिखा है उस का भी उत्तर प्रणव के तुल्य जानो । हम त्रयीविद्या के व्याख्यान में प्रणवादि के व्याख्यान का विशेष विचार लिखेंगे वहां देखना चाहिये । इसी लिये यहां इस विषय को पुनरुक्त होने से नहीं लिखते । मुख्य शोचनीय बात यह है कि प्रत्येक विषय में मनुष्य की योग्यता और उद्देश देखा जाता है । स्वामिदयानन्द सरस्वती जी ने तप किया वे यती पूर्ण ब्रह्मचारी थे उन का उद्देश वा सिद्धान्त वेदोक्त दृढ़ अचल धर्म के द्वारा संसार का उपकार करना था साधुसिंह का वैसा उद्देश नहीं है ॥

श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय-मास जौलाई सन् १८९७ ई०

३)॥।--गत मास का शेष—

२८-)।-चन्दा इस प्रकार इटावास्थ महाशयों का १) पं० दंगीलाल जी ॥) मुं० रामस्वरूप जी ।) मा० गुन्दीलाल जी १) पं० बुद्धसेन जी १) बा० सुक्खीलाल वकील ९) पं० भीमसेन श० जी १) बा० हीरालाल जी १) पं० रामजीमल जी १) ला० छेदीलाल जी १) पं० जगन्नाथ जी -)। मुं० रामप्रसाद जी २) श्री मा० डि० टुकमानसिंह जी १) बा० मथुराप्रसाद वकील १) शिवचरणलाल वकील ७) पं० लेखराज जी ॥ १२।)-सहायतार्थबाहर से ७॥) कुंवर-मुकटसिंह जी नौगांव जि़० इटावापूर्वदत्त अन्नमध्ये ४॥।) पं० शिवसहाय पांड़े सभापति आ० स० कासगंज ज़िला एटासर्वयोग ४५॥-) २≡) फुटकर परमेश्वर धनदाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे-तथा उक्त मास में इस प्रकार व्यय हुआ ॥

३॥।=)॥-वेतन मध्ये (कहार को २) चन्दा उघाने वा चौका वर्तन कराई मध्ये १॥।=)॥ रसोइया को जून का बाकी दिया) ६) पाठशाला का किराया जून तक १॥≡) फुटकर २॥) हवनार्थ विद्यार्थियों को दिया गया १५॥)॥। छात्रों के भोजन और इसके अतिरिक्त मास जून के रक्खे हुए सामान से काम लिया गया ॥

१५॥।=)॥। शेष रहे १५०) सूद पर पूर्ववत् । २९॥=)। सर्वयोग व्यय

सब महाशयों को ज्ञात रहे कि पाठशाला में सम्प्रति कोई अध्यापक नियत नहीं तथापि प्रबन्ध और काम बीच की कक्षा में अच्छा चला जाता है ऊपरी कक्षा के सुबोध विद्यार्थियों को मैं (भी० श०) स्वयं पढ़ा देता हूं और नीचे के विद्यार्थियों को ऊपरी कक्षा वाले पढ़ा लेते हैं। अध्यापक न होने पर भी मध्यम दशा में काम कुछ चला जायगा यदि कोई २ महाशय थोड़ा भी इधर का ध्यान रक्खेंगे। हमारा उद्देश यह है कि यदि वेदादि शास्त्रों के पठनपाठन का पूरा २ उत्तम प्रबन्ध वा उपाय हमारी शक्ति से बाहर है तो जितना हो सके उतना भी न करें यह ठीक नहीं क्योंकि कुछ न होने से थोड़ा होना भी उत्तम ही है।

यदि प्रत्येक आर्यसमाज यही उपाय करने को उद्यत हो जाय कि अपने२ समाज की ओर से एक २ सुपरीक्षित चलती बुद्धि के सुलक्षण धर्मानुरागी विद्यार्थी को वेदादि संस्कृत विद्या पढ़ाने के लिये भेजे और उस के खर्च का प्रबन्ध स्वयं करे पाठशाला को और कुछ भी न देवे तो भी हम को आशा है कि आर्यसमाज धर्म के मूल वेदादिशास्त्रों की उन्नति हृदय से चाहते हैं ॥

ह० भीमसेन शर्मा

सूचना ॥

सब महाशयों को विदित होकि ऐतरेयोपनिषद् का भाष्य छप गया । मूल्य भी केवल ।≈)॥ मात्र है मनुष्य को कर्त्तव्य का ध्यान दिलाने चिताने जगाने के लिये इस उपनिषद् का भाष्य अतिही उपयोगी है ॥

अन्य नये छपे पुस्तक—

मनुस्मृति का सर्वोत्तम सृष्टि, सामान्य धर्म, संस्कारों का वर्णन, ब्रह्मचर्याश्रम, और पञ्चमहायज्ञों के पूर्ण व्याख्यान सहित भाष्य प्रथम जिल्द ३ अ० तक मूल्य ३) भगवद्गीताभाष्य क्षिप्त श्लोक वा प्रकरणों को छोड़कर सर्वोपयोगी योग सांख्य वेदान्त धर्म कर्मादि का वर्णन मूल्य २।) मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा दिया गया है कि जिसको देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं । प्रथम का मू०-)॥ द्वितीय =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिखा गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारितोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई " पुत्रकामेष्टि " पद्धति इसका मूल्य अत्यन्त कम =) है । स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाणसहित -)॥ भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सजीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजेक्टकमेटी =) अबला विनय ≡)॥ संगीतसुधासागर -) कस्तूरी -)॥ अन्य पुस्तक बड़ा सूची मगा कर देखो ॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेंचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे जो लोग चाहें वे पत्र द्वारा निर्णय करें ॥

भीमसेन शर्मा—सरस्वती प्रेस इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १०

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आश्विनमास शुक्ल ६ ता० १ अक्टूबर सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(मूल्य प्राप्ति स्वीकार) अगस्त सितम्बर (९७ ई०)

३९ श्री हरिकिसुन दास सोनी सूरत १।)
४२ श्री केवलराम जी सिन्ध १।)
५ बा० गुलाबराय जी खलीलाबाद २॥=)
०९ बा० भगवानदास जी बुलन्द शहर १।)
४ बा० आनन्दस्वरूप वकील कानपुर १।)
२ पं० शिवबक्स शर्म्मा कानपुर १।)
१ जा० श्री दीपसिंह जी वांकानेर १।)
५० बा० रामचरण जी गुप्त कानपुर १।)
१६२ पांडे सूर्यकुमार जी कानपुर २॥)
१२४२ टा० सूरसिंह जी खरड वीरपुर १।)
७४१ बा० वैजनाथ वर्मा नजीबाबाद १।)
१२५३ पं० पूरणचन्द शर्मा सोढ़ा १।)
१८० बा० गिरधारी लाल झांसी १।)
९८१ बा० गोविन्दसहाय जी महमदपुर २॥)
५१ बा० बालकृष्ण सहाय जी वकील रांची १॥।≡)
९८९ बा० लक्ष्मण सिंह जी जयपुर १।)
८३६ बा० लालसिंह जी देहरादून २॥)

आगे लिखे पाठशाला के हिसाब को देखने से पाठक महाशयों को सामान्य प्रकार अच्छी ही दशा प्रतीत होगी परन्तु पूर्व नियत अध्यापक पं० श्यामलाल शर्मा पहासू जि० बुलन्दशहर निवासी, यहां की पाठशाला कमेटी और मेरी प्रसन्नता से ही वेतन के अधिक मिलने के कारण जब से चले गये और वे सम्प्रति एंग्लोवैदिक स्कूल मेरठ में संस्कृत पढ़ाने पर नियुक्त हैं। उनके जाने पश्चात् यद्यपि काम चला जाता है तथापि अध्यापक की आवश्यकता अवश्य है क्योंकि मुझे ठीक अवकाश न मिलने से पठन पाठन में कुछ २ हानि अवश्य होती है और ऊपर लिखी अनियत आमदनी से अध्यापक के वेतन का निर्वाह चला जाना सम्भव भी नहीं है इस कारण संस्कृत वेदानुयायी ग्रन्थों के प्रचार द्वारा [वस्तुतः जो सत्य ही है] वैदिक धर्म की उन्नति मानने वाले धर्मात्मा आर्य लोग पाठशाला को थोड़ी २ सहायता धर्म की ओर ध्यान और कृपादृष्टि से ओर देवें तो अध्यापक का नियत होकर कुछ काल ढर्रा चला जाना सम्भव ही है जिस का परिणाम वा फल भी अच्छा ही होगा। और सम्भव है कि आगे अध्यापक भी कुछ कम अर्थात् (१५) वेतन तक ही मिलजावे। इस लिये आशा है कि सज्जन लोग अवश्य ध्यान देवेंगे।

आप का मित्र—भीमसेन शर्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

आर्यसमाज का—भावीकर्त्तव्य

हम इस विषय पर पूर्व भी कई वार लिख चुके हैं और आगे २ भी लिखने की इच्छा है । वस्तुतः शोचा जाय तो सब किसी के लिये यही शीर्षक ठीक ठहरता है कि मनुष्यमात्र वा प्राणिमात्र का भावीकर्त्तव्य क्या है ? क्योंकि योग में लिखा है:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥

आगे आने वाला दुःख ही त्याज्य कोटि में आ सकता है जिस को भोग चुके वह जैसा होना था हो चुका उस में कुछ लौट पौट हो ही नहीं सकता इसी लिये विदुर जी ने कहा है—

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ॥

जो वस्तु प्राप्त होने योग्य नहीं उस को अच्छे विचारशील महाशय नहीं चाहते क्योंकि उस के लिये परिश्रम वा कष्ट उठाना सदा व्यर्थ होगा । और जो

हो चुका समाप्त हो गया उस का शोच भी अच्छे लोग नहीं करते । हां बीती हुई दशा वा काम और प्राणि आदि के विषय में केवल इतना ही विचार करना चाहिये किः-नीति—

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥

जो हो चुका उस में केवल इतना ही शोच ले कि इतना काम बिगड़ चुका और वह कैसा बिगड़ा है ? उस में हम क्या सम्हाल सकते हैं ? । जिस प्रकार हमारी भूल निद्रा तन्द्रा वा आलस्य में पड़े वा घोर निद्रा में सोते रहने से हमारा इतना वा ऐसा काम बिगड़ गया यदि अब भी भूल में रहें गे तो जो बिगड़ना शेष रहा है वह भी बिगड़ जायगा इस लिये यथाशक्ति हम बिगड़े को भी सम्हालें और शेष रहे को आगे न बिगड़ने देवें । इस रीति से यदि केवल बिगड़ी हुई दशा के शोकसागर में न डूबा रहे तो आगे को भी मनुष्य अपना कुछ सुधार कर सकता है इस लिये उस को भूत का शोच कदापि नहीं करना चाहिये । अब रहा वर्त्तमान काल का विचार सो एक क्षण के भीतर जो कि अखण्ड काल का एक इतना छोटा खण्ड क्षण है जिस से और छोटा काल का विभाग कल्पना में भी नहीं आ सकता, कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हो सकता और वर्त्तमान की अपेक्षा उस से अगला द्वितीय क्षण अनागत वा भावी स्पष्ट ही है तो यही सिद्ध हुआ कि भावी सुधार का उद्योग प्रत्येक प्राणी को करना उचित है ॥

प्र०-जब कि सभी के लिये भावी सुधार का उद्योग करना उचित ठहरता है तो तुम आर्यसमाज का ही भावी कर्त्तव्य लिख कर एकदेशी क्यों बनते हो ? ।

उ०-आर्य नाम अच्छे सुकर्मी धर्मनिष्ठ धर्मज्ञ पुरुषों का है वे चाहें कहीं किसी देश द्वीप द्वीपान्तर वा किसी जाति में हों वेही आर्य हैं उन के समाज नाम समुदाय का ही भावीकर्त्तव्य लिखना हमारा इष्ट है क्योंकि जो २ लोग सोते से कुछ जागते हैं अपने सुधार की ओर जिन का ध्यान आता, जो दुर्दशा में नहीं रहना चाहते वे ही आर्य हैं वा जो आर्य हैं वेही अपने भावीसुधार का उद्योग कर सकते हैं और जिन का सुधार की ओर ध्यान जाता ही नहीं वे अनार्य हैं उन का हम भावीकर्त्तव्य लिखें तो अप्राप्त की वाञ्छा करने वाले हम भी हो जावें। इस लिये आर्यसमाज का ही भावीकर्त्तव्य ठीक है ॥

पाठक महाशयो ! समय का प्रवाह भी एक ऐसा प्रबल पवन है जिस के

द्वारा हमारे बुद्धि, विचार, काम वा लेखादि प्रायः सभी परिणाम, काल प्रवाह की

तरङ्गों में बड़े वेग से बहे चले जाते हैं। इसी कारण हम कुछ करने के लिये प्रतिज्ञा करते पर शोचा जाय तो कुछ और ही करने लगते हैं कुछ कहने के खड़े होते तो कुछ और ही कहने लगते हैं। हम कहते हैं कि हिंसा करना बुरा काम महापाप है पर हमी अपने २ स्वार्थ के लिये अनेक प्राणियों को दुःख देके और अपना काम बनाने की हम शक्ति भर पूर्ण चेष्टा करते हैं हमे ध्यान भी नहीं रहता सर्वथा अन्धे बन जाते हैं स्वार्थ की टट्टी हमारे विचार शक्ति रूप नेत्रों के सामने दृढ़ता से खड़ी हो जाती है जिस से हम को कुछ नहीं सूझता कि हमने अपने स्वार्थ के लिये दूसरे की कितनी और कैसी हिंसा की हमारे कामों से किस २ को कितना २ वा कैसा २ कष्ट पहुंचा इत्यादि प्रकार हिंसा हमारे में विद्यमान है पर हम कहते यही हैं कि हिंसा करना पाप है किसी को दुःख नहीं देना चाहिये। योग के व्यास भाष्य में लिखा है कि—

नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति ॥

अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचे विना किसी को संसारी विषय सुखों का भोग नहीं मिलता। क्योंकि जिस वस्तु से हम अपने लिये सुख समझते उसी से अन्यों को भी सुख पहुंचता है हमारे समान वा हम से भी अधिक अन्य भी प्राणी उस को चाहते हैं तो हम यह विचार नहीं करते कि किस २ पदार्थ को हमारे लेने से किस २ को क्या २ कष्ट पहुंचता है यदि ऐसा करें तो भोग का अधिकांश सामान हम को छोड़ने पड़े। तब संसारी सुख हम नहीं भोग सकते। यदि ऐसी बातों का विचार मध्यम कक्षा में भी रक्खें तो भी संसार के कामों को करते हुए मध्यम धर्म का सेवन हम कर सकें परन्तु जब सुख भोग के लिये हम तृष्णारूप अगाध नदी में वहे चले जाते हैं तब अधर्म की ही गठरी अपने साथ के लिये अधिक बांध लेते हैं ॥

प्रयोजन यह है कि वर्त्तमान समय के मनुष्यों में बहुत थोड़े लोग अभी तक कुछ २ जागे हैं शेष सभी भराभर सोरहे हैं इसी कारण सुख वा शान्ति मिलने तथा अपनी उन्नति करने के लिये सहस्रों मनुष्य अनाप सनाप भाग रहे हैं पर उन सब में शतांश को भी सुख शान्ति वा उन्नति का सहस्रों कोश तक लेश मात्र भी चिह्न नहीं दीखता। जो लोग कुछ जागे भी हैं उन को भी वस्तुतः जैसा जागना चाहिये उस की अपेक्षा न जागना ही कह सकते हैं। जागे वा सो

मझे हुओं में भी आज कल यूरोपियन लोग अग्रगन्ता माने जाते हैं । क्योंकि अन्यों की अपेक्षा शान्ति आदि सुख इन्हीं में सम्प्रति अधिक दीखता है इन्हीं लोगों की उन्नति अधिकांश मानी जाती है सो यद्यपि वर्त्तमान समय में अन्य२ मनुष्य जातियों पर दृष्टि डालें तो किसी अंश में किसी प्रकार यह वार्त्ता सत्य भी माननी पड़ती है तथापि जब हम इस देश के पूर्व२ के इतिहासों पर दृष्टि देते हैं कि पूर्वकाल के सहस्रों ब्रह्मर्षि महर्षियों में जैसी २ अद्भुत योग सिद्धि होती थीं जिन के द्वारा वे देशान्तर वा अवस्थान्तर का स्मरण करने के समान पूर्व जन्मों का साक्षात् स्मरण करते थे जिस को योग में पूर्वजाति ज्ञान कहा है । (सर्वभूतरुतज्ञान) सब पशु पक्षि आदि प्राणियों के शब्दों का भी अर्थ जान लेते, अन्तर्धान हो जाते, आकाश गमन, सूक्ष्म अतीन्द्रिय परमाणु आदि का, व्यवहित–छिपे दबे पदार्थों का और विप्रकृष्ट अतिदूरस्थ पदार्थों का साक्षात् ज्ञान करते, (अपरान्तज्ञान) मरण का भी हाल जान लेते थे इत्यादि प्रकार की योगविद्या के द्वारा ऊंची कक्षा के लोग जहां तक चलते थे तथा अनेक चक्रवर्त्ती राजर्षि लोग ऐसे २ होते आये जो सहस्रों और लाखों मनुष्यों को एक २ ही दबा धमका लेता था जिन की कीर्त्ति लाखों वर्ष से बराबर चली जाती अमिट हो रही है क्या आज सृष्टि भर में वा उन्नतिशाली यूरोपियनों में ब्रह्मबल और क्षत्रबल में पूर्व की अपेक्षा शतांश भी कोई शक्तिमान् मिल सकता है ? जो भूत वा भविष्यत् आदि की एक भी बात दृढ़ता से कह सके वा कोई एक साधारण अस्त्र विद्या का भी जानने वाला प्रतापी है ? तो चारों ओर से शून्य ही दीखता है । इस विचार को काम में लावें तो अंगरेज जाति की कुछ भी उन्नति नहीं दीखती । यदि कुछ है तो ऐश्वर्य वा धन की उन्नति अवश्य है जिस को हम वैश्यपन की उन्नति कह सकते हैं । अर्थात् आज भूगोल भर में ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन की अधिक अधोगति है ये दो ऊंची कक्षा थीं इन्हीं में सर्वोत्तम सुख और धर्म की प्रधान स्थिति रह सकती है धर्म की ओर झुका हुआ वैश्यपन भी आज नहीं है कि धनादि पदार्थों का संचय कर धन से धर्म करना प्रधान समझते हों इस से वैश्यपन भी निकृष्ट कक्षा का है उत्तम कक्षा का नहीं क्योंकि संसार का सुख भोगने के लिये ही प्रायः लोग न्याय अन्याय से वा उचित अनुचित सब प्रकारों से सम्प्रति धन खेंचने में लगे हुए हैं । यह धन का कोश जिस के पास अधिक होता उस के लिये जानो विष का खजाना होता जाता है उसी के कारण मनुष्य के ऊपर नाना

प्रकार की विपत्ति चोर डाकूं आदि धावा करते उस के प्राणों के भी ग्राहक
जाते हैं । जब धनी को प्रत्येक समय धन के कारण चिन्ता भय लगा है सुख
र्वक निद्रा भी नहीं आती तो कैसे मान लें ? कि वह सुखी है ।-

श्रियाह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम् ॥

प्रायः अविद्वान् अज्ञानियों के पास ही धन ठहरता है वेही उस को व
समझ के अधिक पकड़ते हैं । संसार में प्रत्यक्ष दृष्टि डालो तो विद्वानों की अ
पेक्षा मूर्खों का अधिक भाग आप को प्रत्येक देश काल और समुदाय में अधि
धन रखने वाला मिलेगा । जो २ जैसा २ अधिक विद्वान् होगा वह २ वैसा २ क
धनाढ्य होगा क्योंकि धन का निरन्तर आना मनुष्य को मोहित प्रमादी करदे
एक प्रकार का मद (नशा) उस को हो जाता है इसी नशा के कारण उस को उचि
अनुचित वा धर्माधर्म का विवेक करने की शक्ति नहीं रहती तब वह निकृष्ट क
के फल अधोगति को ही प्राप्त होता जाता है । इत्यादि दोषों को विचारते
ही पूर्वज आर्य राजर्षि लोग भी तपस्वी होते थे किन्तु अब केसे धनसंग्रही
धन के लालची प्रत्येक काम से धनोपार्जन की तृष्णा रखने वाले राजा नहीं होते
क्योंकि धन का बल जहां बढ़ता है वहां आत्मिकबल विद्या का अंश जो ब्रह्मब
कहाता और शारीरिक बल जो क्षत्रबल कहाता दोनों घट जाते हैं जिस को सन्दे
हो वह बड़े २ धनियों में इन दोनों बलों की अवनति प्रत्यक्ष देख लेवे । क्यों
जिस के पास जैसा अधिक धनादि होगा वह वैसा ही अधिक भोगेगा और
(भोगे रोगभयम्) अधिक भोग के साथ अधिक रोग लगे ही हैं मोटपान
एक रोग है इसी लिये सुश्रुत में लिखा है कि-

कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥

यद्यपि अधिक मोटा, अधिक पतला होना दोनों ही रोगी हैं तथापि स्थू
से कृश अच्छा होता है । धनी का विचार अधिक अच्छा २ खाने, पहरने, भोग
धनादि की रक्षा करने तथा किसी प्रकार धन के चले जाने की चिन्ता से हृ
में धकपक मची रहने आदि में दिन रात बना रहता है विद्या सम्बन्धी विच
वा आत्मिक सुधार के लिये उस को कभी क्षण भर भी अवकाश नहीं मिलता इस
वह उच्च कक्षा के दोनों सुधारों से वंचित रह जाते हैं । यही धनलिप्त क

जिन का प्रधान उद्देश धन संग्रह नहीं किन्तु आत्मिक और शारीरिक सुधार के सहायतार्थ प्रयोजनमात्र जो धन चाहते हैं वे उस कोटि में नहीं लिये जावेंगे । इत्यादि विचार से वेदमतानुयायी आर्य राजाओं ने लाखों क्रोड़ों वर्ष सृष्टि के आरम्भ से राज्य किया पर धन के जोड़ने का प्रधान उद्देश उन का नहीं था किन्तु वे लोग आत्मिक शारीरिक बल जिस का नाम ब्रह्मबल और क्षत्रबल है उसी का मुख्य आदर करते थे प्रयोजनमात्र धन से भी काम लेते थे इसी कारण इन्ने दीर्घकाल तक राजर्षि लोगों ने निष्कण्टक पृथिवी भर का राज्य किया कोई विघ्न नहीं हुआ । और महाभारत युद्ध के पश्चात् ज्यों २ क्रमशः ये दोनों आत्मिक बल तथा शारीरिक बल घटते गये साथही साथ विषयासक्ति तथा धनादि पदार्थों का लोभ लालच बढ़ा संग्रह करने लगे शृङ्गार अधिक होने लगा लिफाफा बनना चलना आरम्भ हुआ [शौकीनी में फसने लगे] तभी शारीरिक आत्मिकबल की हीनता को और धनादि ऐश्वर्य को अधिक देख कर यवन लोगों को इस देश पर आक्रमण करने का अवसर मिला । जब यवन लोग इस देश के राजा हुए तो वे भी उन विगड़े आर्यों से रहस्रों अंश अधिक विषयासक्त हुए विषयाराम (ऐशआराम) को ही बड़ामाना वैसे ही धनैश्वर्यादि के सामान में फसे तथा आत्मिक और शारीरिक बल को और भी अधिक तिलाञ्जलि यवन लोगों ने देदी थी इस कारण उन को दबाने वाले यूरोपियन लोग खड़े हुए। यद्यपि इन में यवनों की अपेक्षा विषयासक्ति कम है और उन के समान आत्मिक शारीरिक बल को इन लोगोंने अधिक धक्का देके नहीं गिराया पर तथापि पूर्वज राजर्षियों की अपेक्षा धन की ओर अधिक लालच होने से इन लोगों को भी उक्त दोनों बलों की ओर पीठ फेरने ही पड़ी। इस लिये हम शुद्ध हृदय से और मुक्तकण्ठ से वर्त्तमान अंग्रेजी गवर्नमेण्ट को सम्मति देते हैं कि वह धनाकर्षण को प्रधान उद्देश न माने। खर्च भी जितना बढ़ा है उस को शोच समझ के धीरे २ कम करे और ग्रामीण प्रजा जो अति दुःखी है उस की पुकार सुने । खर्च कम करने की दशा में ग्रामीण प्रजा के शिर से चढ़े हुए कर का महाभार हलका करना अति सुगम होगा । द्वितीय आत्मिक तथा शारीरिक बल को भी धक्का न दिया जाय किन्तु धनादि की अपेक्षा उक्त दोनों बलों को प्रधानता दी जाय। ये दोनों बातें साथ ही होंगी और इस मार्ग पर चलने की यही रीति वा सीढी है जो पूर्वज भारतवर्षीय राजर्षि लोगों ने स्वीकार की थी अर्थात् स्वर्ग तक चढ़ जाने के लिये वह धर्म की निःश्रेणी (निसेनी) है। हम पूर्णविश्वास

है कि अंग्रेज गवर्नमेण्ट हमारी सम्मति को स्वीकार करके निष्कण्टक धर्ममार्ग द्वारा राज्य शासन करेगी यदि राजनीति को धर्म से तथा धर्म को राजनीति से भि न माने, तथा मानव धर्मशास्त्रादि के समान राजधर्म पर कटिबद्ध हो जावे तो इ गवर्नमेण्ट का अटल निष्कण्टक चिरस्थायी राज्य हो जाना सम्भव है। हमने य सम्मति राज्य की शुभचिन्तकता से दी है। यदि हमारी इस सम्मति पर थोड़ भी ध्यान दिया गया तो हम आगे २ और भी अच्छी २ सम्मति दिया करेंगे यद्यपि हमारा पत्र धर्म सम्बन्धी है तथापि इस लेख वा विचार को धर्म से भि कोई महाशय न समझें क्योंकि जिस उपाय से राजा वा प्रजा सब को सुख स्वस्थत तथा शान्ति मिले वह धर्म से अलग कदापि नहीं हो सकता।

इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अंगरेजी राज्य में विशेष विघ् करने वाला कोई हेतु शीघ्र बलिष्ठ हो सकता है परन्तु यह विचार अवश्य है कि

ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥

जिस में सर्प रहते हों ऐसे घर में वसना मृत्यु का हेतु अवश्य होता है इसी के अनुसार अंगरेजी राज्य के अनेक सर्प हैं जो घर के भीतर बाहर सब ओ से डशने का उपाय किया करते हैं अवसर देखा करते, थोड़ा भी अवसर मिल ते ही काटने को दौड़ते हैं परन्तु हमारी गवर्नमेण्टने उन सब को अपने अति प्र बल प्रताप से ऐसा दबा रक्खा है कि उन्हों ने कभी थोड़ा भी शिर उठाया त ऐसे दबा दिये जाते हैं जो न उठाने के समान ही माने जाते इस कारण यह को नहीं कह सकता कि वे सांप कब वा कैसा विघ्न कर सकते हैं इस से हम मान कि ऐसा ही बहुत अधिक सहस्रों वर्ष चला जावे तथापि यदि सांप न रहें वा न प्रकट भी न हों जिस से गवर्नमेण्ट को चिन्ता भय शङ्का भी न हो तब जैसा राज प्रजा को सुख वा शान्ति हो सकती है उस की अपेक्षा अब शतांश भी सुख वा शान्ति नहीं है। यदि किसी कांटों वाले मार्ग में हमे चलने पड़ता और हम उस मार्ग क शोधन किसी कारण से नहीं कर सकते और पग २ रखते समय कांटों का ध्यान रखते हैं कांटो के लग जाने की हर वार चिन्ता वा शङ्का में रहते हैं तो क्या हम को शान्ति वा सुख मिल जाना कोई कह सकता है? कदापि नहीं द्वितीय वै मार्ग में कांटों से सर्वथा बच भी नहीं सकते। इस से उत्तम यही है कि कण्टक न रहें। इन में बहुत से कांटे ऐसे हैं जो ऊपर से देखने में कांटे नहीं दीखते प शोचने से वे प्रसिद्धों से भी बुरे हैं॥

सर्पो दशति काले तु दुर्जनस्तु पदेपदे ॥

यदि गवर्नमेण्ट का ऐसा विश्वास हो कि यह असाध्य है सो ठीक नहीं। जो जिस को नहीं कर सकता वही उस को असाध्य हो जाता है। यदि राजा को प्रजा का और प्रजा को राजा का सर्वथा विश्वास हो, दोनों का हित दोनों चाहें भीतर से अनिष्ट चिन्तकता दूर हो जाय तो निष्कण्टक राज्य वा स्वर्ग हो सकता है। तब इधर उधर के शत्रु कुछ नहीं कर सकेंगे।

इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि राज्यरूप जड़ से यदि सुधार हो तो शाखाओं के सुधार की अपेक्षा अधिकतर उत्तम है। "यथाराजा तथा प्रजाः" के अनुसार राजा ही मुख्य वा मूल है। सो यदि हमारे लेख को साधारण वा निकृष्ट समझ कर कि यह केवल कुछ संस्कृत पढ़ा मनुष्य, राजनैतिक विषयों का मर्म क्या जाने ? राजा उपेक्षा करदे वा कुछ ध्यान न देवे तो हम भारत वर्षीय आर्यों से निवेदन करते हैं कि जिस राज्य का वा राजवर्ग का आत्मिक शारीरिक सुधार की ओर ध्यान वा मुख न होने तथा धन की ओर मुख ठीक फिरा होने से स्वयं ही सुधार नहीं है वा जो कुछ है वह भी हिल चल दशा में है तो तुम उस समुदाय को सुधरा वा उन्नत हुआ मान कर उस के पीछे २ लग के अपना सुधार मानते वा करना चाहते हो यह बड़ी भूल है। तुम भी उन को अग्रगन्ता शिक्षक वा गुरु न मान कर केवल एक ईश्वर जो सब गुरुओं का भी गुरु है उस को अपना इष्ट मानते हुए संसार रूप महा अथाह समुद्र में पार हो जाने के लिये अत्यन्त अटूट दृढ़ अविनाशिनी वेदरूप नौका को अत्यन्त दृढ़ता के साथ पकड़लो तब तुम अवश्य सुख से पार हो जाओगे। अभी अंगरेजों को मालूम होता होगा कि ये लोग हमारे पीछे २ चल के हमारा अधिकार कदाचित् लेना चाहते हैं इस से तुम को अच्छा नहीं समझते जब तुम केवल वेदाध्ययन ब्रह्मचर्याश्रमादि द्वारा धर्म में ही तत्पर रहोगे जिस से आत्मिक शारीरिक दोनों बल बढ़ सकते हैं जब तुम किसी का स्वप्न में भी अनिष्ट न चाहोगे। तब तुम्हारे ऐसे वर्त्ताव से अंग्रेज लोग भी तुम्हारे मित्र हो जायंगे। उन को तुम से लेशमात्र भी सन्देह न रहेगा। वसिष्ठ विश्वामित्रादि महर्षि लोग किसी देश वा द्वीप के राजा नहीं थे पर उन की बराबर कोई राजा सुखी न हुआ न किसी की ऐसी कीर्त्ति हुई तो सुख धर्म के साथ है। सोना चांदी आदि धन पार्थिव जड़ है जिस को अन्न के अभाव में कोई खा भी नहीं सकता जिस के ठीक विद्यमान रहते भी

महा भयङ्कर घोर दुर्भिक्ष होते हैं हाहाकर मच जाता है। यदि उस के द्वार उन्नति मानो तो बड़ी भूल है। खाना पीना पशु पक्षी कीट पतङ्गादि सब कि सी का स्वाभाविक काम है यदि तुमने खाने पीने पहरने ओढने आदि के लि धनादि संचय में ही अपना जन्म बिता दिया तो तुम्हारी मनुष्ययोनि व्यर्थ है

इस लेख के उपसंहार में हमारा प्रयोजन वा भीतरी अभिप्राय यह है कि हमारा लेख अधिकांश इसी देश के लोगों के दृष्टि गोचर होगा और इस देश के राजा इस समय अंगरेज हैं तथा राजा प्रजा के सर्वथा मेल अविरोध एक दूसरे के हित चिन्तक होने में दोनों का कल्याण है। वा चाहें यों कहो कि यदि स्वार्थसाधन की ओर अत्यन्त तत्पर न रह कर राजा प्रजा के साथ धर्मानुकूल व र्त्ताव करे और प्रजा राजा के साथ धर्मानुसार सर्वथा छल छिद्र छोड़ कर वर्त्ताव रक्खे तो दोनों का कल्याण अवश्य हो सकता है। यद्यपि सब की एकसी बुद्धि वा विचार नहीं होता इस कारण राजवर्ग और प्रजावर्ग के सब पुरुषों के विचा सुधर के एक से हो जाना दुस्तर हैं तथापि प्रधान २ पुरुष जिन के पीछे लग कर अन्य साधारण लोग चलते हैं उन के विचार वा काम सुधर जाने पर कु निर्बल भाग धर्म से विरुद्ध बना भी रहे तो कुछ विघ्न नहीं कर सकता। इ दोनों में राजा प्रबल वा प्रधान है। राजा के साथ किसी प्रकार विरुद्ध विचा रखने वाली भी प्रजा अपने लिये सुख अवश्य चाहती है और जब राजा की कृ पा दृष्टि रहने मात्र से उस को सुख मिल सकता है तो सौ में एक भी ऐसा मि लना कठिन है जो साक्षात् कृपा करने वाले से विरोध रक्खे। तथापि यदि मा लें कि अपने साथ भलाई करने वाले को भी कोई २ शत्रु मानने वाले हो सक हैं तब यह अवश्य रहा कि वहां एक ही दोषी होगा और एक ही भोगेगा उलटी और मिथ्या एक ओर की शत्रुता से उस शुद्ध की कुछ हानि वह नहीं क सकता तथा उस के साथी लोगों में से ही निर्दोष के साथ बुराई करने वाले के दबाने वाले हो जांयगे। इस लिये हमारी सम्मति है कि राजवर्ग के प्रधान सज्जन आर्य लोग प्रथम अपनी ओर देखें। अपने घोंटू से न्याय करें अपने दोषों को छोड़ें प्रजा की ओर शुभ दृष्टि करें तो उन के सब कण्टक निवृत्त हो सकते हैं। और धर्मनिष्ठ धर्मात्मा कहे जा सकेंगे उन की शुभ कीर्त्ति जगत् में विद्यमान रहेगी। अंगरेज़ लोग यह भी ध्यान रक्खें कि श्रीमती महाराणी क पुकार २ के जय २ कार मनाने वाले बहुत से लोग जो दीखते हैं उन में अन्त

करण से राज्य के शुभ चिन्तक बहुत ही कम मिलेंगे । अनेक तो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये और अनेक लोग अपने भीतरी दुर्भावों के कारण होने वाले भय से बचने के लिये जय२कार मनाते और शुभचिन्तकता दिखाते हैं तथा कोई २ शुद्ध हृदय से भी अंगरेज़ी राज्य के शुभन्तिक हो सकते हैं पर ऐसे बहुत कम मिलेंगे इसलिये ये लोग भूल में न रहें । जो लोग मेरे इस लेख को ध्यान देके शोचेंगे उन को मेरा यह आशय प्रतीत हो जायगा कि मुझे किसी का पक्ष नहीं दोनों की ओर समान दृष्टि दोनों का उपकार शोच के मैंने लिखा है । इतना होने पर भी हमें राज पुरुष प्रजा का एक साधारण मनुष्य समझ कर ध्यान न देवें तो आशा है कि भारत वर्षीय प्रजा के सज्जन विचार शील आर्य लोग अवश्य ध्यान देवेंगे । अपने कल्याण के लिये अर्थात् संसार में सुखी रहने के लिये अपने२ अन्तःकरण से राजा के शुभचिन्तक रहते हुए धर्मानुसार अपनी उन्नति चाहें और जो किसी के अशुभ चिन्तक रहते हुए यदि अपना सुधार चाहेंगे तो अशुभ चिन्तकता रूप अधर्म से उन्नति होकर सुख मिले यह सम्भव नहीं है । राजा की अनुकूलता कोई साधारण बात नहीं है किन्तु मनुजीने इस को धर्म मान के पालन करने के लिये आज्ञा दी है—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्यइति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥१॥ अ० ७॥

बालक वा किसी अंश में अज्ञानी राजा का भी प्रजा के लोग अपमान न करें उसको तुच्छ वा साधारण न समझें क्योंकि ऐसा अधिकार ईश्वर की कृपा वा शुभ प्रारब्ध के विना नहीं मिलता । राजा पर ईश्वर की कृपा अवश्य होती है तब जिस का ईश्वर सहायक है जिसका दैव अनुकूल है उसके साथ हम विरोध करें तो जानो ईश्वर और दैव के साथ भी हमने विरोध किया फिर क्या हमारे सुधार वा उन्नति की आशा स्वप्न में भी हो सकती है ? । कदापि नहीं इस लिये अपने देश वा जाति की अधोगति मिटाने और सुधार वा उन्नति करने के लिये तत्पर हुए भारत वर्षीय हम आर्य वा आर्यसमाजस्थ अग्रगन्ता लोगों को विशेष कर उचित है कि वर्त्तमान अंगरेज़ी राज्य के हृदय से शुभचिन्तक बनें इस में लेशमात्र भी आगा पीछा न शोचें । निश्चय रक्खो कि इस का शुभ फल शीघ्र ही तुम को प्रत्यक्ष दीखेगा ॥

हमारा प्रयोजन यह है कि यदि गवर्नमेरट के लोग हम को अनुकूल कर का उद्योगारम्भ नहीं करते तो हमी प्रथम अपनी ओर से उन को अनुकूल क रने का उद्योग करें । एक पहिले करेगा उस के साथ दूसरे को भी वैसा ही क रने पड़ेगा । यदि हम अपने साथ बुराई करने वाले के साथ भी भलाई करें त उसे बुराई छोड़ देनी पड़ेगी यदि वह नहीं भी छोड़े तो हम को उस के साथ बु चलने न पड़ेगा इसी कारण [" मायाचारी मायया वर्त्तितव्यः साध्वाचार साधुना प्रत्युपेयः" सीधे के साथ सीधा और खोटे के साथ खोटा वर्त्ताव कर ना चाहिये] इस नीति की अपेक्षा उपरोक्त कर्त्तव्य ही कल्याणकारी उत्तम ध है । क्योंकि इस नीति के वचन से आगे स्पष्ट लिखा है कि यह कुटिल वा अध से भरी नीति है स्वार्थ की टट्टी जिन के आगे खड़ी है वे शक्तिभर अपने स्वा को दूसरों की हानि करके भी सिद्ध करना चाहते हैं पर मन समझौती के विन अपना स्वार्थ वा अन्य की हानि कुछ भी नहीं करपाते। इस से जब वेद निष्कल शुद्ध सर्वोपरि धर्म का मूल है तो आर्यों को भविष्यत् में वेद का ही मुख्य आ श्रय ले के अपना तथा संसारभरके सुधार का उद्योग करना उचित है अंगरेज़ों पीछे चल के अपना सुधार चाहना कदापि उचित नहीं है और द्वितीय विचार यह है कि " कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः" इस न्याय के अ नुसार यदि आर्यसमाज कहने से वर्त्तमान समय में प्रसिद्ध समुदाय ही आर्यसमा समझा जाय तो हमारा अभिप्राय वा प्रयोजन यह है कि—आर्यसमाज एक ध सम्बन्धी समुदाय है । इस का मुख्य सिद्धान्त वेदोक्त धर्म का प्रचार करना है परन्तु अनुमान है कि वर्त्तमान गवर्नमेरट को किन्हीं कारणों से अन्यों के तुल आर्यसमाज से भी कुछ अपने अनिष्टचिन्तक होने की शङ्का हो गयी है । इ लिये हम स्पष्ट लिखते हैं कि आर्यसमाज की जड़ से ही स्वप्न में भी यह बा नहीं है । किसी के अशुभचिन्तक का उद्देश धर्म कदापि नहीं हो सकता । यदि माना जाय कि आर्यसमाज में नाना प्रकार के मनुष्य सम्मिलित हो गये हैं उ में से अनेकों की इङ्गना चेष्टा से राज्य के साथ विरोध झलकता है तो भी आ र्यसमाज का उद्देश यह न ठहरा ऐसे तो आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए भी अधिकां मनुष्यों में भी मिथ्याभाषण, किसी का अनिष्ट चिन्तन, इर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध, काम चालाकी से स्वार्थ सिद्ध करना आदि नाना प्रकार के दोष भरे पड़े हैं । इसी का रण तो सुधार की शीघ्र आशा प्रतीत नहीं होती । अन्यों से अधिक कहते त

या स्वयं अपने सुधार की ओर ध्यान देने वाले बहुत कम हैं। दूसरों का सुख छीन के सुखी होने की चेष्टा करने वाले बहुत हैं इसी लिये तो " आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य " हमारा लेख है। पर इतने से अङ्गरेज लोग भी अपने को कहीं निर्दोष न समझ बैठें ॥

अन्त्य में शुद्ध सच्चे परोपकारी वस्तुतः आर्य कहाने योग्य आर्यों से निवेदन है कि वे नाना प्रकार के कष्ट सहते हुए भी आर्याभास अनार्यों को भी आर्य बनाने की चेष्टा वा श्रम करें। और जिन हेतुओं वा कारणों से वर्त्तमान राजा को आर्यसमाज की ओर तिरछी निगाह से देखने का अवसर मिलता हो वा सन्देह होता हो उन कारणों को आगे २ शोच समझ के निकालते जावें और शुद्ध हृदय से वेदोक्त धर्म का पालन करने द्वारा अपना वा अन्यों का सुधार आगे २ करना आरम्भ करें इति—

(भा० ८ अं० ९ पृ० १६८ से आगे आर्यतत्त्वप्रकाश का उत्तर)

ईसाई—और भी बहुत से मन्त्र हैं जिन में ऋषियों ने अपने को मन्त्र कर्त्ता ठहराया है। ऋ० मं० १ सू० २० मं० १—

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः ॥

आर्य—यहां से आगे जो मन्त्र लिखे हैं उन का अर्थ ईसाई महात्मा ने नहीं लिखा इस लिये हम उचित यथार्थ विचार लिखते हैं। इस मन्त्र में किस ऋषि ने अपने को मन्त्र कर्त्ता ठहराया है? यह ईसाई लोग बतावें यदि न बता सकें तो मान लेवें कि मिथ्या बोलना हमारा धर्म है और मिथ्या को हम लोग मोल ले चुके हैं।

अ०—जन्मने जायमानाय मेधावित्त्वेन प्रसिद्धाय जगत्स्थाय सदा प्रकटाय देवाय द्योतनशीलायेश्वराय वा विप्रेभिर्मेधाविभिर्धारणावतीबुद्धियुक्तैः सुधर्मनिष्ठैः पुरुषैरयं प्रत्यक्षो स्तोमो ... प्रापकः

स्तोमः स्तुतिसमूह आसयाऽऽस्येन मुखेनाकारि क्रियते नतु केवलेन मनसेत्याशयः। अर्थाद्वेदमन्त्रैरीश्वरस्तुतिरूपं कर्म गोपनीयं नास्ति यद्गोपनीयं तद्वाचा न प्रकाश्यते। अर्थात्-वाचा वक्तुं योग्यएवायं स्तोमोऽस्ति। ईश्वरस्य पूर्णभक्त्या यादृशानि यावन्ति च रत्नानि प्राप्तुं शक्यन्ते न तादृशान्यन्यप्रकारेणेति ॥

भा०—अयमित्यष्टर्चसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। ऋभवो देवता ऋभुशब्दश्च निघण्टौ मेधाविनामसु पठितः। तद्बोधनायैव मन्त्रे विप्रशब्दोऽस्ति विप्रपदस्यापि तत्रैव पठितत्वात् कण्वशब्दोऽपि मेधाविनामस्वेवास्ति। मेधैवातिथिवदादरणीया पूज्या यस्य स मेधातिथिः कण्वस्य मेधावित्वकारणस्यापत्यं कार्यं काण्वः कारणगुणपूर्वकस्य कार्यगुणस्य दर्शनात्। यथा चाग्निनाऽग्निः समिध्यतइत्यादिमन्त्रेषु वेदवाक्यानामतीव बुद्धिपूर्वः सर्वज्ञविचारयुक्तः प्रयोगो न कस्मिन्नपि देशे काले पदार्थे वा तादृशवेदवाक्यस्य व्याघातो दृश्यते। येषु येषु वस्तुषु प्राधान्यमग्नेस्तैरेवाग्निपदवाच्यैरश्मवंशारणिदीपशलाकादिभिर्घर्षितैरग्निः समिध्यते नतु मृणालसूत्रादिघर्षणेनाग्निरुत्पद्यते। यदि पयसाऽग्निः समिध्यतइति वेद उच्येत तदाऽग्निना सिञ्चतीति वाक्यवदबुद्धिपूर्वकमनर्थं वैदिकं वाक्यं स्यात्। नच तादृशानि वेदे वाक्यान्युपलभ्यन्ते तस्मात्सर्वदा सर्वथैवाव्याहतानि वेदवाक्यानीति। एवमत्रापि मे-

धाप्रधानो मेधातिथिः काण्वएव ऋभुपदवाच्यस्य मेधाविनो मेधाविस्त्वं वेदितुमर्हति। यथा लोकेऽपि वदन्ति "विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्" अत्र च प्रकरणे द्वादशसूक्तानां काण्वो मेधातिथिर्ऋषिरस्ति। मेधातिथिकाण्वपदद्वयेन मेधाविस्त्वेऽपि मेधाविस्त्वस्य प्राधान्यं दार्ढ्यं च विज्ञाप्यते। यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवतेत्युक्तम्। तदत्र मेधातिथिना काण्वेन मेधाप्राधान्याद्गुणज्ञानशक्तिमता सतैव मन्त्रेणोच्यमानर्भुदेवतायाः साधर्म्यात्स्तुतिः कर्त्तुं शक्यते। मेधातिथिना काण्वेनान्येपीन्द्रादयस्तत्रतत्र स्तूयन्ते स्तोतुं वा युज्यन्ते। अन्येन च कुत्सादिपदवाच्येन सूक्तान्तरेषु ऋभवः स्तूयन्ते तथापि तदुभयापेक्षया मेधातिथिकृत ऋभुस्तवः साधर्म्याधिक्यात् प्रधानः। मनुष्यार्थत्वाच्च वेदस्य मेधातिथ्यादिपदैस्तादृशा मनुष्याएव ग्राह्याः। ऋभुपदेन सापेक्षदशायां तदर्था मेधाविनो निरपेक्षऋभुत्वे चेश्वरएव ग्राह्य इति वेदस्य व्याप्तएवार्थो नत्वेकदेशीति ॥

भाषार्थः—(जन्मने देवाय विप्रेभिरयं रत्नधातमः स्तोम आसयाऽकारि) अपनी बुद्धि की तीव्रता वा अधिकता से प्रसिद्ध सामान्य पुरुष के लिये वा नियमानुसार जगत् की व्यवस्था दिखाने द्वारा सदा प्रकट द्योतनशील प्रकाशमय चेतनस्वरूप ईश्वर के लिये धारणावती बुद्धि वाले सुधर्मनिष्ठ शुद्धाचारी पुरुष वेद के द्वारा विद्यादि रत्न पदार्थों को अधिकता से प्राप्त कराने वाली इस प्रत्यक्ष स्तुति को मुख से करते थे करते हैं और करेंगे किन्तु केवल मन से नहीं अर्थात् वेद मन्त्रों द्वारा ईश्वर की स्तुति रूप काम छिपाने योग्य नहीं है जिस में कुछ मिथ्यापन आदि दोष होता है वही विषय छिपाया जाता है। वेद का विषय अत्यन्त

निर्दोष तथा बुद्धिपूर्वक होने से स्पष्ट [खुले मैदान डंका बजा के] कहने योग्य है यह (आसया) पद से जताया है। तथा ईश्वर की भक्ति से जैसे और जितने रत्न पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है वैसी अन्य प्रकार से नहीं॥

भा०—(अयं देवाय०) इस आठ ऋचा वाले सूक्त का कारव मेधातिथि ऋषि और ऋभुदेवता हैं। निघण्टु में ऋभुनाम मेधावि का है उसी विशेष बुद्धि वाले को जताने के लिये मन्त्र में विप्र शब्द है क्योंकि विप्रशब्द भी मेधावि नाम में ही पढ़ा है। और कण्व शब्द भी मेधावि नाम में ही पढ़ा है अतिथि के तुल्य मेधा नामक बुद्धि ही जिस की पूज्य सर्वोत्तम है वह मेधातिथि कहाता है। कण्वनाम मेधाविपन के मूल कारण का अपत्यनाम कार्य काण्व कहाता क्योंकि कारण के गुणानुसार कार्य में गुण आते हैं। यह सर्वत्र प्रत्यक्ष है। इस से यह आया कि जड़ से ही विशेष बुद्धिमान् विशेष ज्ञानी को जान सकता वा कह सकता है। यही बात कठोपनिषद् में स्पष्ट कही है कि—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः,,

पैनी सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी लोग ईश्वर को देख सकते हैं अर्थात् अज्ञानी मूर्ख नहीं। जैसे (अग्निनाऽग्निः समिध्यते) अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होता है। इत्यादि वेद के मन्त्रों में अत्यन्त बुद्धि पूर्वक सर्वज्ञ के विचार से युक्त वेद वाक्यों का प्रयोग सर्वथा युक्ति युक्त है क्योंकि किसी देश काल वा वस्तु में उन वैसे वेद वाक्यों का खण्डन वा विरोध नहीं दीखता किसी देश काल वा जाति में वेद के विचार न घटें वा उन से उलटा क्रम कभी कोई चल सके वा कर सके यह कदापि सम्भव नहीं। जिन २ वस्तुओं में अग्नि की प्रधानता वा अधिक व्याप्ति है उन अग्नि नामक पत्थर, बांस, अरणी वा दीवासलाई आदि के घिसने से ही सब कालों वा देशों में अग्नि सम्यक् प्रदीप्त होता है किन्तु जल से उत्पन्न हुए कमल के सूतों आदि के मलने वा घिसने से अग्नि तीनों काल में ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि वेद में कहीं ऐसा कथन हो कि "जल वा दूध से अग्नि प्रदीप्त होता है" तो लोक में प्रसिद्ध "अग्नि से सींचता है" इस वाक्य के समान वेद का वाक्य भी अनर्थक अबुद्धिपूर्वक विना शोचे समझे कहा ऊटपटांग माना जावे पर ऐसे अविचार से कहे वाक्य वेद में कहीं नहीं दीखते वा मिलते। इस कारण सब काल में सभी प्रकारों से वेद वाक्य अखण्डनीय ठहरते

हैं। इसी प्रकार यहां भी बुद्धि जिस की प्रधान व्यवसायात्मिका है दृढ विचार से ही जो काम करता ऐसा ही सामान्य कोई पुरुष ऋभु पद के वाच्य मेधावि नाम बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता को जान सकता वा कह सकता है इसी से यहां कह सकने वाला मेधातिथि ऋषि और जिस की बुद्धिमत्ता को वह कहता वा जानता है वह ऋभुपद वाच्य मेधावि, मन्त्र का देवता है। लोक में भी यही कहावत् प्रसिद्ध है कि "(विद्वानेवहि०) विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को वा उस के पाण्डित्य को जान सकता है किन्तु मूर्ख परिडत के पाण्डित्य का मर्म नहीं जान पाता" तथा "खग जाने खग ही की भाषा" इसी प्रकार जैसे के साथ तैसे का ही योग कहना वेदानुकूल युक्ति युक्त दृढ होता है। ऋ० मण्डल १ सूक्त २० के इस प्रकरण में १२–२३ तक १२ सूक्तों का कारव मेधातिथि ऋषि है। मेधातिथि और कारव दो पदों से बुद्धिमत्ता में भी अधिक बुद्धिमत्ता की प्रधानता तथा दृढता जतायी है। तथा "कहने वाला ऋषि और कहा जाने वाला विषय देवता कहाता है" यह पूर्व कह चुके हैं। जो बुद्धिमत्ता में प्रधान होने से गुणों के जानने कहने की शक्ति वला होकर ही सधर्मी होने से मन्त्र से कहे जाने वाले ऋभु देवता की स्तुति कर सकता है। तथा मेधातिथि अन्य इन्द्रादि पदवाच्य देवताओं की भी स्तुति करता वा कर सकता है और अन्य कुत्सादि पदवाच्य ऋषि भी सूक्तान्तरों में ऋभुओं की स्तुति करते हैं तथापि उन दोनों की अपेक्षा साधर्म्य की अधिकता से मेधातिथि के द्वारा ही ऋभुदेवताओं की प्रधान स्तुति हो सकती है। अर्थात् मेधातिथि की प्रधानता ऋभुओं की स्तुति द्वारा और ऋभुओं की प्रधानता वा उत्तमता मेधातिथि द्वारा स्तुत्य होने से ठहरती यह दोनों प्रकार का विचार यहीं संघटित होता है अन्यत्र नहीं। वेद मनुष्यों के कल्याणार्थ है इस कारण मेधातिथि आदि पदों से वैसे २ बुद्धिमान् मनुष्यों का भी ग्रहण करना उचित ही है। और ऋभुपद से सापेक्ष दशा में उस अर्थ के वाची मेधावि मनुष्यादि का तथा निरपेक्ष दशा में असीम ज्ञानशक्ति वाले ईश्वर का भी बोध होगा। इस प्रकार वेद का व्याप्त सामान्यार्थ मीमांसादि के सिद्धान्तानुसार यहां भी घट जाता है किन्तु एक देशी वेद का आशय नहीं यही वेद का वेदत्व है॥

अब हम पूछते हैं कि ईसाई मूसाई आदि सृष्टि भर का कोई भी मनुष्य वा प्राणी इस वेद के स्वाभाविक नियम को माने बिना एक पल भर भी चल स-

कता है। जब कि घास वृक्ष वनस्पति आदि में भी एक ही से वृक्षादि एक लगाये जाते जिन का जिन से मेल मिलता वेही उन के सहायक होते तथा अ चळे लगते हैं एक प्रकार के अनेकों अविरुद्धों के एकत्रित होने से जैसा अच्छा व्य वहार वा कार्य सिद्ध होता वैसा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों के योग से विरो वा कार्य की हानि भी अधिक होती है। इसी लिये अंगरेज़ लोग भी एक ही प्र कार के मनुष्यों की एक २ पलटन बनाते हैं। बुद्धिमानों में भी एक २ प्रकार बुद्धिमानों का मेल होता। ईसाई लोग भी विद्वान् और मूर्ख का मेल अच्छ नहीं समझते तो वेद का नियम उन को भी मानने ही पड़ता है पर कहते यह हैं कि हम वेद को नहीं मानते यही आश्चर्य है॥

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा। उत प्रणेष्यभि वस्यो अस्मा न्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ ऋग्वेद १। ३१। १८॥

यहां ३१—३५ तक पांच सूक्तों का हिरण्यस्तूप ऋषि है। हितकारी औ रमणीय पदार्थ को हिरण्य कहते हैं। ये दोनों गुण सुवर्ण में भी अधिकांश है इसी से सुवर्ण भी हिरण्य कहा वा माना जाता है। सुवर्ण आग्नेय है इसी कारण नैयायिक आदि सभी लोग सुवर्ण को अग्नितत्त्व का कार्य मानते इसी से अग्नि कासा वर्ण वा रूप उस में होता और इसी अभिप्राय से " ज्योतिर्वै हिरण्यम् " ज्योति का नाम हिरण्य ब्राह्मण ग्रन्थों में लिख कर कार्य कारण की एकता दि खाई है। उस सामान्य हिरण्य वाच्यार्थ ज्योति आदि की स्तुति करने वाल सामान्य पुरुष हिरण्यस्तूप कहाता है। स्तु धातु से स्तूप शब्द बना है। निघण्टु में स्तुप शब्द स्तोतृ नामों में पढ़ा है। ज्योतियों के अन्तर्गत हितकारी रमणीय अग्नि भी हिरण्य है उसी की स्तुति इस ३१ सूक्त में हिरण्यस्तूप ऋषि करता है इस कारण इस सूक्त का अग्नि देवता लिखना ठीक युक्ति युक्त है। इस मन्त्र

अ०—हे अग्ने ते तव यद् ब्रह्म स्तोत्रं वयं चकृम कुर्मस्त्वमेतेनाऽस्माभिः प्रयुक्तेन ब्रह्मणा वेदस्तवेन शक्ती शक्त्या वा विदा ज्ञानेन वा साकं वावृधस्व स्वगुणैः सत्त्वप्रधानैस्तमोगुणवारकैर्मच्छरीरउद्बुद्धो भव। उतापि वा वस्यो वसीयो वासहेतुकमतिशयितं श्रेयोरूपं स्थिरप्रज्ञत्वमस्मानभितउभयतः प्रकर्षेण प्रापय। वाजवत्या बलोत्साहवत्या सुमत्या शोभनबुद्ध्या नोऽस्मान् संसृज संयोजय। तादृश्या बलोत्साहकल्याणसंसाधिकया प्रज्ञयाऽस्माकं दृढो नित्यः संसर्गः सम्बन्धो यथा स्यात् ॥

भा०—वेदाशयानुकूलो बाह्याभ्यन्तरप्रकाशप्रसादानन्दादीनामुत्पादकस्तमोवारकोऽग्निपदस्य सामान्योऽर्थः स च सापेक्षदशायां शरीरादिनानावस्तुषु प्रज्ञादिरूपेण नानाविधो निरपेक्षदशायां चैकएवेश्वरोऽसीमान्धतमसवारकोऽसीमप्रकाशहेतुश्च तस्य सर्वस्यैव सामान्येनात्र गुणानुवादः स्वगुणोत्कर्षाय मन्त्रेष्वभीष्टः। निरतिशयपावनस्य सर्वथा सर्वदाऽव्याहतस्य सार्वकालिकस्य सर्वथैव सत्यस्य वेदस्य मुहुर्मुहुर्वाचा प्रयोगो देहेन्द्रियादीनां मालिन्यनिवारणेन परमशुद्धिप्रवर्त्तनद्वारा ज्ञानोत्पादकः सम्पद्यते। अतएवोक्तं मनुना "वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते"—इति। "यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्। तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः"—इति च ॥ यः कोऽपीदृश उपायः सएव वेदः सञ्चान्यत्रापि सापेक्षं ... मानो वे-दादेव शैलादभि नदी यथा तथा प्रवृत्तइति विज्ञेयम्। स-

वैशैव प्राणिवर्गेणाखिलदेशकालेषु मन्यते मन्तुं वा युज
वाचा शुभस्य कीर्त्तनमशुभस्य निवर्त्तकं तस्यैव मनसाऽपि
ध्यानं दुर्वासनारूपस्य दुःखहेतोरनिष्टकर्मणो दाहकमिति
नकारं कर्त्तुमर्हति ? तेन वेदस्य सार्वकालिकसार्वदेशिकत्
पुष्यतएव ॥

भावार्थः-हे (अग्ने) प्रकाशक! (ते यच्चकृम) हम लोग जो तुम्हारी वि
शेष स्तुति करते हैं (एतेन ब्रह्मणा) इस हमने प्रयोग किये वेद के स्तोत्र से
पनी (शक्त्या वा विद्या वा) स्वाभाविक शक्ति वा ज्ञान बढ़ाने के कारण स
(वावृधस्व) वृद्धि को प्राप्त होओ अर्थात् तमोगुणरूप अज्ञान को दूर करने व
अपने सत्त्वप्रधान गुणों से मेरे शरीर में प्रकट हो (उत वस्योऽस्मानभिप्रणे
और भी वसने नाम सर्वोत्तम स्थिर निश्चल श्रेयरूप स्थिर बुद्धि शान्ति के हेतु
नादि हम को दोनों ओर-देवपितृमार्गों से विशेष कर प्राप्त कराओ । और (व
जवस्या सुमत्या नः संसृज) बल और उत्साह बढ़ाने वाली बुद्धि से हम लो
को संयुक्त करो अर्थात् वैसी बलोत्साह द्वारा कल्याण कारिणी बुद्धि से हम
सम्बन्ध वा मेल हो यही चाहते हैं ॥

भा०-वेदाशय के अनुकूल भीतरी वा बाहरी प्रकाश प्रसन्नता तथा आन
का उत्पादक और तमोगुणरूप अज्ञान वा अन्धकार का निवारक अग्नि शब्द
सामान्य अर्थ है । वह अग्नि का वाच्यार्थ तत्त्व सापेक्ष दशानुसार शरीरादि ना
प्रकार के पदार्थों में बुद्धि आदि अनेक भिन्न २ रूपों से अवस्थित है तथा नि
पेक्ष अग्निपन, असीम अज्ञान तमोगुणादि का नाशक और असीम प्रकाश का
तु एक ईश्वर में ही है । उस सभी अग्निपन का सामान्य कर मन्त्र से गुणा
वाद अपने कल्याण वा सुधार के लिये करना उचित है । सर्वथा सर्वदा अ
ण्डनीय निरतिशय पवित्र सार्वकालिक सर्वथा ही सत्य वेद का वाणी से वा
प्रयोग करना शरीर तथा इन्द्रियादि की मलिनता का निवारण करके प
शुद्धि की प्रवृत्ति करने द्वारा ज्ञान का उत्पादक होता है । इसी लिये मनु
ने कहा है कि वेद का अभ्यास करना ब्राह्मण का परम तप वा परम धर्म
तथा "वन आदि में बल के साथ प्रज्वलित हुआ अग्नि जैसे गीले वृक्षों को

शीघ्र जला देता है वैसे ही वेद का जानने वाला वासनारूप से संचित प्रबल कर्मों को भी भस्म कर देता है। जो कोई ऐसा प्रबल शुद्ध ज्ञान का उपाय है वही वेद है। वह अन्यत्र लौकिक ग्रन्थादि द्वारा सापेक्ष उपलब्ध होता हुआ पहाड़ से नदी के समान वेद से ही निकल कर सब देशदेशान्तरों वा मतमतान्तरों में नाना मार्गों द्वारा सापेक्ष फैला है। उस के साथ उस २ देश काल के मनुष्यों का दूषित विचार भी मिल गया है। सभी प्राणीमात्र वा मनुष्यमात्र सब देश कालों में उसी को मानते वा मानने पड़ता है उसी के द्वारा कुछ २ सुख वा शान्ति प्राप्त करते हैं। शुभ विचार का वाणी से कीर्त्तन तथा मन से अभिध्यान करना दुर्वासनारूप से संचित दुःखफल के हेतु कर्म का नाशक है इस में ईसाई आदि कोई भी नकार नहीं कर सकता अर्थात् वाणी वा मन से अन्धकार अज्ञान तथा मिथ्या भाषण चोरी अशुद्धि अन्याय लम्पटता आदि के कहने वा चिन्तन करने को कोई भी अच्छा कल्याणकारी नहीं मानता तब फिर यदि वेद को बुरा कहता वा मानता है तो वह अपने हित को वा मन्तव्य कल्याण को ही धक्का देता है इस से वेद का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक होना पुष्ट हो गया। ईसाई आदि के सभी मत कैसी निज देश काल में हुए उसी देश काल कीसी बुद्धि रखने वाले किसी २ निज मनुष्य द्वारा प्रचरित हुए एकदेशी हैं वे कभी सर्वदेशी नहीं ठहर सकते। मनु जी के कथनानुसार जल के बलबूलों के समान इस संसार में उत्पन्न हो२ कर नशाया करते हैं। जैसे कहा है कि–

> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

विकारी निकृष्ट मलिनांश असार जिन में विशेष मिला होता ऐसे शरीरादि पदार्थ जैसे शीघ्र२ उत्पन्न हो२ कर सदा ही नष्ट होते रहते हैं कोई भी ऐसे वस्तु चिरस्थायी नहीं होते पर जिन में सार अधिक है ऐसे हीरादि पदार्थ अधिक चिरस्थायी प्रत्यक्ष दीखते हैं इसी प्रकार जिन मतों वा पुस्तकों में उन २ मत प्रवर्त्तक वा ग्रन्थ कर्त्ताओं के अधूरे मलिन अनुभव सब ओर से ठसाठस भरे हैं ऐसे हजारों लाखों मत वा पुस्तक सृष्टि के आरम्भानन्तर प्रलय पर्यन्त कल्प में बीचर नष्ट हो २ कर जलबुद्बुदों के समान शीघ्र २ नष्ट होते आये और होते रहेंगे। सैंकड़ों वर्ष समय के सामने ईसाई इसाई आदि के मत वा ग्रन्थ

श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय-मास अगस्त-सितम्बर सन् १८९७ ई०

१५॥।=)॥ गत मास का शेष ॥

९७॥।)।-चन्दा इस प्रकार निम्नलिखित महाशयों का आया है अर्थात् ६) बा० बल्देवप्रसाद जी इञ्जिनियर आगरा १०) बा० हरबक्स जी चिरञ्जक अजमेर ४) कुं० गजाधरसिंह जी छावनी टुरंडा १०) बा० जयकिशनदास जी अमृतसर १०) सत्यचरणराय जी कलकत्ता ६) बा० बालकृष्ण सहाय जी वकील रांची यह धन बाहर से आया है। और १) चौ० पद्मसिंह जी १) लल्लू मिस्त्री जी २) पं० बुद्धसेन जी ॥) मास्टर गुन्दीलाल जी ४) श्रीमान् डिप्टी तुकमानसिंह जी ≡) पं० भैरवदत्त मास्टर २) पं० दङ्गीलाल जी १) पं० मातादीन जी वकील २) बा० हीरालाल पेचघर १) बा० सुखीलाल जी वकील २।) पं० भीमसेन शर्मा -)। बा० रामप्रसाद जी सुंसरम १) बा० बनवारीलाल जी ॥।) ला० कन्हैयालाल जी १) बा० रामस्वरूप जी १) बा० नन्दकिशोर जी १) बा० शिवचरणलाल वकील यह इटावास्थ महाशयों से प्राप्त हुआ ३०) श्रीयुत सेठ घनश्यामदास जी कलकत्ता ॥

१७) जो सहायतार्थ दाताओं ने दिये अर्थात् ५) पं० रामाधीन मिश्र मुंगेली ने अपने पिता जी के देवलोक होजाने पर भेजे। ५) सेठ वेल जी लखमसी मुंबई ने धर्मार्थ दुकान से दिये ५) चौधरी जंगसिंह जी गढ़िया छिनकौरा २) चौ० पद्मसिंह जी इटावा ने स्वामी रघुवंशमणि जी के भोजनादि व्यय निमित्त-और ३।≡) पुस्तकों की बिक्री सरस्वती प्रेस से जमा कियेगये सर्व आय मिलकर १३४-)॥। हुआ व्यय इस प्रकार ॥

४५॥।-॥। आठ विद्यार्थियों के भोजन मध्ये और ४) हवन सामिग्री ब्रह्मचारियों को दोनों समय अग्निहोत्र के लिये। ३) फुटकर व्यय कागज चिट्ठी तैल हजामत आदि" १॥) किराया मकान १४॥=) वेतन मध्ये अर्थात् ८=) रसोइया को २॥) कहार २) चपरासी चन्दा उगाई २) अध्यापक हिसाब पढाने वाले को यह सर्व व्यय ६८॥≡)।॥ हुआ और ३६॥।=) जो केवलराम विद्यार्थी आदि का जमा था वापिस दिया गया। आगे को २८।) शेष रहा। और १५०) सूद पर पूर्ववत्—

सूचना ॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेंचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव आदि पुस्तक हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे जो लोग चाहें वे पत्र द्वारा निर्णय करें ॥

ऐतरेयोपनिषद् भाष्य के पूरे होने पश्चात् जुलाई महिने से ही श्वेताश्वतरोपनिषद् का भाष्य बीच २ छपता था अब ता० १५ अक्टूबर तक वह तयार हो जायगा जिन महाशयों को लेना अभीष्ट हो सूचना भेजें मूल्य ॥।) अनुमान से निश्चित किया गया है। इस के पश्चात् क्रम से छान्दोग्य के भाष्य का आरम्भ किया जायगा। ऐतरेयोपनिषद् भाष्य का मूल्य ।=)॥ पहिले छपे वाजसनेयादि सात उपनिषद् भाष्यों का मूल्य ३) है। अब नव ९ उपनिषद् भाष्य एक साथ लेने वालों को ४) रु० में मिलेंगे। और अपनी निर्धनता का प्रमाण देने वालों से ३) ही लिया जायगा। मनुस्मृति भाष्य की तीन अध्याय की पहिली जिल्द छप गयी है मूल्य ३) निर्धन के लिये २) चौथे अध्याय से छटे तक द्वितीय जिल्द मनु के भाष्य की छप रही है। अनुमान चार महिने में पूरी हो जायगी। तभी पूरी जिल्द ग्राहकों की सेवा में भेजी जायगी मूल्य अनुमान २॥) होगा जो लोग उस के लिये अगाऊ मूल्य अब से जनवरी के अन्त तक तीन महिने के भीतर भेजना चाहें उन को २) में मिलेगी। भगवद्गीता का सर्वोत्तम कल्याणकारी भाष्य छप गया जिस में एक देशी श्लोक छोड़ दिये हैं मूल्य २।) है निर्धन लोगों को प्रमाण देने पर १॥) में मिलेगा। आर्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क का ४।=) है प्रमाण देने वाले निर्धनों को ३) में मिलेगा। मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा दिया गया है कि जिस को देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं। प्रथम का मू० -)॥ द्वितीय का =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिखा गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारितोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो वा केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई "पुत्रकामेष्टि" पद्धति इस का मूल्य अत्यन्त कम =) है। स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाण सहित -)॥ भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सजीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजेक्टकमेटी =) अबला विनय ≡)॥ संगीतसुधासागर -) कस्तूरी नाम का पुस्तक पं० रमादत्त त्रिपाठी नयनीताल का बनाया -)॥ अन्य पुस्तक बडा सूचीपत्र मगा कर देखिये॥

भीमसेन शर्मा—सरस्वती प्रेस इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयद्दर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ११

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ कार्त्तिक शुक्ल ता० १ नौम्बर सन् १८९७ ई०

पुस्तकों का सूची ॥

मनुस्मृतिभाष्य प्रथम जिल्द ३ अध्याय ३) वैराग्यशतक भाषा ।) पुनर्जन्म ≡)॥ यमयमीसूक्त =) आयुर्वेदशब्दार्णव (कोप) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है ॥ ईश उपनि० भाषा वा संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ॥।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ॥।) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥।) ऐतरेयोपनि० ।=)॥ श्वेताश्वतरोपनि० ॥।) इन ९ उपनिषदों पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एकवार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है । सम्पूर्ण ९ इकट्ठे लेने वालों को ४) ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय ऐतरेय श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधि १॥) आर्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क एक साथ लेने पर ४।=) और फुटकर लेने पर प्रति भाग ॥।) ऐतिहासिकनिरीक्षण =) ब्राह्मसमतपरीक्षा =) स्थावर में जीव विचार -)॥ अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूल सूत्रपाठ ≡) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृत का प्रथम पु०)॥। द्वितीय -)। तृतीय =)॥। भर्तृहरिनीतिशतकभाषा टीका ≡) गीताभाष्य २।) हिन्दी का प्रथमपुस्तक)॥ द्वितीय पुस्तक पं० रमादत्त कृत ≡) शास्त्रार्थ खुर्जा -) भजन पुस्तकें—भजनामृतसरोवर =) सत्यसङ्गीत)। सदुपदेश)। संगीतसुधासागर -) भामिनीभूषण ।) सङ्गीतरत्नाकर =) सभाप्रसन्न ।) सीताचरित्रनाविलप्रथमभाग ॥।) स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य)॥ नियमोपनियम आर्यसमाज के)। आरती आधा पैसा । आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार । सत्यार्थप्रकाश २।) वेदभाष्यभूमिका २॥) संस्कार विधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) वर्णोच्चारणशिक्षा -) मांसभोजन विचार प्रथम भाग का उत्तर -)॥ द्वितीय भा० =)॥ तृतीय का ≡)। हैं । कन्यासुधार -) वेश्यालीला)॥ प्रश्नोत्तररत्नमाला -) चाणक्यभाष्य -)। जगद्वशीकरण -)॥ पुत्रकामेष्टिपद्धति मू० =) पं० रमादत्त जी का बनाया बालबोध -)॥ सजीवन बूटी आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजैक्टकमेटी =) अबलाविनय ≡)॥ इत्यादि आर्य धर्म सम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूची मंगाकर देखिये ॥

भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॑ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य

इस से पूर्व छपे लेखानुसार यद्यपि आर्य पदवाच्य सर्व साधारण के लि- अर्थात् जोकि भिन्न २ देशों वा कालों से संबन्ध रखता है उस सभी अच्छे श्रेष्ठ समुदा- का भावीकर्त्तव्य लिखना हमारा अभीष्ट सदैव सब महाशय जानें और मानें तथा- विशेषकर जिन में अधिकांश वा प्रधानरूप से आर्यपन घट सकता और जो भार- वर्षके लोग अपने को वेद मतानुयायी होने का प्रण करते वा प्रतिज्ञा करते - कि हम आर्य हैं वा वेदमतानुयायी हैं उन की ओर हमारा प्रधान लक्ष्य है । ह- निःसन्देह दृढ़तापूर्वक अवश्य मानते हैं कि जब कभी जिस किसी को जैसा अधिक सुख मिलसकता है वा जैसा जो विपत्तियों से बचसकता है । उस - वैसा ही कोई उत्तम साधन प्रसिद्ध वा गुप्त उसके निकट अवश्य होता है। औ- उसी उत्तम साधन का नाम वेद है । और जब जो कोई पुरुष उत्तम साधन - उत्तमता को ठीक २ यथार्थ जान पाता है वा जैसा अधिक जान लेता है त- उस से अपने लिये वैसा ही सुख की प्राप्ति और अनिष्ट दुःख वा विपत्तियों -

निवृत्ति कर भी लेता है । पाठक महाशयो ! सचेत होजाओ मन में ध्यान देकर शोचो कि दीपक जले और प्रकाश न हो तथा अन्धकार में धरे हुए पदार्थ न दीखपड़ें तो आप को अवश्य मानने पड़ेगा कि यातो दीपक नहीं जला वा ऐसा कम जला जो न जलने के समान है अथवा जलता है और उस जगह कुछ नहीं दीखता तो देखने वाले अन्धे हैं क्योंकि दीपक जलने पर भी वा सूर्योदय होने पर भी अन्धों ही को कुछ नहीं दीखपड़ता । परन्तु इन दो रीतियों से भिन्न तीसरी यह बात आप कदापि नहीं कह सकते वा मान सकते कि दीपक भी ठीक जलता और हम को देखने की शक्ति नाम आंखें भी हैं पर दीखता कुछ नहीं । यह बात सर्वथा ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध इसी लिये है कि यदि हमें आंखों से दीखता है तो भी सूर्य दीपकादि सहायक प्रकाश के न मिलने पर अन्धकार में कुछ नहीं देख पाते वा बाहरी सहायक प्रकाश है तब जिनको नहीं दीखता वे अन्धेही हो सकते हैं । और यह भी है कि जिन उलूक पक्षी आदि प्राणियों को सूर्योदय होने पर कुछ नहीं दीखता रात्रि के अन्धकार में जितना देख सकते हैं वह भी उन की शक्ति तीव्र सूर्य के तेज से हत—नष्ट होजाती है सो यह ठीक न्यायानुकूल ही है कि जिन का शरीर इन्द्रियां वा आत्मिकशक्ति अनेक जन्मों के संचित नानाप्रकारके कलङ्कों से अत्यन्त आच्छादित है वा जिन के भीतर संचित पापरूप अज्ञानान्धकार ठसाठस भरा है उसका विरोधी प्रकाश वा ज्ञान उन के तमोगुण का बाधक होता है इसी कारण उलूक पक्षी आदि वा अत्यन्त तमोगुणी मनुष्यों को प्रकाश वा वेद का ज्ञान बाधक अवश्य होता है ॥

यहां विचारणीय यह है कि वेद सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान है तब भी हम को उस के ज्ञानप्रकाश से कोई विशेष लाभ नहीं होता इस का वही उक्त कारण है कि उलूक पक्षी के समान हमारी दशा हो रही है हम अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं और हमने सहस्रों वर्ष से वेद को छोड़ दिया दूसरे मार्गों पर चलते २ वेद को पीठ देकर दूर निकल गये हैं संसारी विषयोंरूप फसावटें के २ बेंडा पड़ गये और अब हम वेद की ओर मुख फेर के देखना चाहते हैं तो (पड़ जाने से वा बड़ी २ रुकावटें बीच में आजाने से हमे ज्ञान प्रकाशमय वेद का कहीं कोई चिह्न तक भी नहीं दीखता इसी कारण वास्तव में वेद अच्छा हमारे कल्याण का हेतु अवश्य है यह विश्वास भी मन में नहीं जमता इसी कारण म-

नुष्यों की रुचि वा श्रद्धा वेद की ओर नहीं होती। पर शोचने से प्रतीत होता है कि वेद के विषय में जो अधिक आन्दोलन सम्प्रति जहां तहां चल रहा है यदि ऐसा ही यह प्रवाह चला जाय तो आशा होती है कि लोगों को कुछ दीखने लगे कुछ होश आवे कोई २ कुछ २ चेतें। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम्।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्ति च ॥ १ ॥

जो मनुष्य सब से निकृष्ट तीसरी मूढ़दशा [जैसी पश्वादि वा अति छोटे बालकादि की होती कि जिन को अपना हानि लाभ आदि कुछ नहीं दीखता अविद्या की अधिकता में वृक्षादि के जीवों की सुषुप्ति के समान बेहोशी जिन को घेरे है ऐसी अवस्था] से निकल के रजोगुण की चञ्चल अवस्था में आये हैं जिनको करना धरना रागद्वेष लोभादि अधिक सूझने लगे हैं दिन रात इधर उधर को भाग रहे हैं धनादि पदार्थों की प्राप्ति को ही जिन लोगों ने सब सुखों का मूल कारण अधिकता से दृढ़ निश्चय किया है जिन को उन्हीं उद्योगों के द्वारा अनुकूल राग लोभादि की सिद्धि में अधिक असीम हर्ष होता, हहराके हंसने लगते हैं। और जिस प्रतिकूल की निवृत्ति के अर्थ अत्यन्त उद्योग करते उस के आ जाने पर अत्यन्त पीडित दुःखित क्षोभित व्याकुल भी होते हैं परन्तु उन को जो हर्ष वा सुख प्रतीत होता है वह भी—

लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥

अपने अंगूठे को चचोरते हुए बच्चों को अपने ही मुख में से छूटी लाला नाम लार पीने में माता के दूध पीने का भ्रम होने के समान सुख वा आनन्द मानने मात्र होता है क्योंकि उन से आगे को बढ़े हुए पुरुषों को उन्हीं कामों में वैसा वा कुछ भी अधिक हर्ष नहीं प्रतीत होता वा किन्हीं को उलटा दुःख वा शोक भी होता है। संसार में सम्प्रति ऐसे ही मनुष्यों की संख्या अधिक है। चाहे यों मानलें कि नीचे की दो कोटि जिन में आसुरी माया प्रबलता दिखा रही है वेही प्राणि बढ़ रहे हैं और मनुजी के सिद्धान्तानुसार कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

जो लोग धनादि पदार्थों और कामादि के भोगों में सक्त नाम बद्ध नहीं हैं उ

के लिये ही धर्म को जानने की आज्ञा वा धर्म कर्म करने की प्रेरणा है जिन

संसारी भोग ही दिन रात सूझते रात में भी उन्हीं बातों वा विचारों के स्वप्न आते हैं उन लोगों का मुख विषयों की ओर ठीक फिरा हुआ है । जब तक वे विषय भोगों की ओर पीठ फेर के धर्म की ओर मुख फेरने की इच्छा भी नहीं करते तो कैसे आशा हो सकती है कि वेद में उन को कभी रुचि होगी, वे वेद का मर्म जानेंगे ? बड़े शोक का स्थान है कि कोई देखने शोचने समझने तथा कान लगा के सुनने वाला भी नहीं दीखता ! ॥

इन बीच के चलायमान मनुष्यों को बुद्धि प्राप्त नहीं होती अर्थात् किसी विषय का भी जिन को दृढ़ निश्चय नहीं होता जो देशान्तर तथा कालान्तर में भी न बदले और कूटस्थ विचार को दृढ़ स्थायी करलें कि यही ठीक मार्ग है । इसी कारण उन को स्थायी सुख भी नहीं मिलता सदा संकल्प विकल्प ही सब विषयों में किया करते हैं । इस का कारण यही है कि वेग से चलने वाली निरन्तर हिलती हुई रेल में बैठा हुआ कोई चाहे कि मेरा शरीर न हिले मैं निश्चल बैठा रहूं जैसे यह होना असम्भव है वैसे ही क्रियाशील रजोगुण के कार्य रागद्वेषादि पर सदा सवार रहने वालों को व्यवसायात्मक निश्चलरूप विचार प्राप्त होजाना असम्भव है। यदि कभी उन की हिल चल दशा मिट सकती है तो उसी समय दैवयोग से धर्मवाद की ओर मुख फिरा हुआ अवश्य माना जायगा । इन्हीं बीच के मनुष्यों में आसुरी दल की प्रधानता मानी जायगी । और इन से नीचे को गिरी दशा के लिये राक्षस पिशाचादि नाम हैं । पर राक्षस पिशाचादि की अपेक्षा आसुरीदल में शक्ति अधिक होती इसी से वे राक्षसादि को मारते खाते और अपने आधीन बना कर रखते हैं । जब आसुरी प्रकृति के कोटियों प्राणि होते और लाखों में एक दो दैवी विचार के होते हैं तब उन एक दो वा चार छः की कुछ भी दाल नहीं गलती और आसुरी इच्छाओं के अनुसारही संसार का प्रवाह चलता है । परन्तु असुरों में नानाप्रकार के भेद होते हैं उन में सब से अधिक हानिकारक वे हैं जो देवाभास बनके विचरते हैं वा सज्जनता का ऐसा दृढ़ लिफाफा बनाके पहनते हैं जिस में भीतर निरन्तर छिपी हुई आसुरी माया काम करती सीधे सच्चों को अधिकांश दुःख पहुंचाती है । मनु०—

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥

आर्य नाम दैवी सम्प्रदाय के रूप में रहते हुए आर्याभास अनार्यों को उन के शील चेष्टितादि कर्मों से पहचाने। पर दुःख यह होगया कि ऐसों को अब कौन

पहचाने जब कि सच्चे दैवी आर्यों का अभावसा होगया है । परन्तु केवल आशा इतनी ही शेष है कि जो हम ऐसी बातों को ऐसे समय में भी लिखने को तत्पर होते इच्छा रखते और हमारे पाठक महाशयों में दैवी आर्यपन सर्वथा छिपा हुआ भी कुछ२ बना है इसी से वे ऐसे विचार युक्त लेखोंको देखने सुनने पढ़ने की इच्छा रखते हैं इस से आशा होती है कि वैदिक धर्म रूप अमृत के द्वारा हमारा कल्याण होना अब भी सम्भव है । यदि ऐसे विचारों के कहने सुनने वाले भी न मिलें तो हम निराश होनेका अवसर मानलें । इन बीच की कक्षा के मनुष्यों में ही जो अपने को उच्चकक्षा में मानते अध्यापक वा उपदेशक माने जाते वे अपने को पण्डित वा विद्वान् मानते तथा अन्य लोग भी उन को पण्डित मानते हैं वे अवश्यही आसुरी दल के आचार्य गुरु हैं और ऐसे शुक्राचार्य असुरगुरु के समान लोगों के लिये ही उपनिषद् कारों ने कहा है कि-

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥ तथा च-अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥

बाल बुद्धि अज्ञानी, संसारी भोगों में फसे और सच्चे कल्याण मार्ग को भूले हुओं, आभास नाम बनावटी को अच्छा मानने वालों को परमार्थ अच्छा नहीं लगता । वे लोग अपने को पण्डित विचारशील समझदार मानते हुए अन्धे के पीछे अन्धों के समान संसारी भेड़ियाधसान [गतानुगतिकता] में अनाप सनाप भागे चले जा रहे हैं । ऐसे लोग अपने को परीक्षकों की कोटि में मानते तथा अन्य लोग भी उन को ऐसा ही मानते हैं इसी कारण धर्म वा वेद के प्रकाश द्वारा संसार का उद्धार नहीं होता क्योंकि वे लोग ठीक परीक्षक नहीं हैं । जैसे कोई चोरी करके सत्य बोले उस को योगभाष्य में सत्याभास कहा है वैसे वे भी परीक्षकाभास वा नाममात्र के परीक्षक हैं । ऐसे लोगों का यह सिद्धान्त है कि परमार्थ एक भिन्न विषय है संसार की उन्नति से उस का कुछ सम्बन्ध नहीं प्रत्युत संसार के सुधार में परमार्थ का अडङ्गा खड़ा करना पूरा बाधक है । इस लिये जब धर्म का प्रधान भाग भी परमार्थ के लिये ही मार्ग दिखाता है इसी कारण धर्म से भी संसार की उन्नति नहीं हो सकती किन्तु तिजारत पदार्थ विद्या तथा शूरता शारीरिक बल और धनादि पदार्थ वा नीति राजनीति कुटिलनीति आदि के द्वारा संसारी सुख की उन्नति हो सकती है ॥

इस पर हमारा उत्तर यह है कि शान्ति सन्तोष हृदय की शुद्धि निरभिमानता, परोपकारशीलता, दया, जितेन्द्रियता, विद्या—ज्ञान सत्यासत्य के विवेक की शक्ति सदाचार इत्यादि गुण जिन को हम धर्म कहते हैं उनके न होने पर तिजारत व्यापार खेती आदि से वैसा सुख नहीं होता जैसा कि इन के होने पर होता है इस दशा में एक अङ्ग जो कि शोचने से अन्य अङ्गों की अपेक्षा अत्यन्त प्रधान वा प्रबल ठहरता है उसको संसारोन्नति से भिन्न वा विरुद्ध मानना कितना अज्ञान है ? क्या कोई सिद्ध कर सकता है कि जो अन्यों को दुःख पहुंचाना रूप हिंसा करता है उस को इतर२ जातियों वा प्राणियों से भय न हो क्या मूर्ख धन से सुख भोग सकता है ? क्या कामादि के भोग सम्बन्धिनी तृष्णा की सीमा कभी कोई ठहरा सकता है ? क्या तृष्णा की तरङ्गों में पड़े हुए को सन्तोष के समान सुख कोई बता सकता है ? क्या धर्म के अनुष्ठान से विरक्त संन्यासी को सुख और उसी से गृहस्थ को दुःख होना न्यायानुकूल है ? अर्थात् कदापि नहीं। तब फिर परमार्थ वा धर्म को संसारोन्नति का विरोधी मानना धर्म से विमुख रह कर अपनी हानि कर लेने के लिये बड़ी भारी अविद्या लोगों को सब ओर से घेरे है। आत्मिक वा मानस सुधार नाम बुद्धि का ठीक शुद्ध निर्विकार रागद्वेष मोह रहित होने में ही धृति आदि सब धर्म आजाता है और बुद्धि के ठीक होने पर धनादि द्वारा जो सुख हो सकता है वह त्रिकाल में भी केवल धनादि भोगों से नहीं हो सकता। जब कि यह सिद्धान्त ठीक है कि " भोगो बुद्धिः " बुद्धि का नाम ही भोग है वैसा ही सुख दुःख व्यापता है जैसी उत्तम मध्यम बुद्धि होती है तो धर्म और शुद्ध विद्या का हृदय में होना सुखोन्नति का मूल कारण सिद्ध हो गया। परन्तु वर्त्तमान समय में प्रायः लोग बनावटी दिखावटी सफाई अच्छे २ भोजन वस्त्रादि के मिलने को ही उन्नति मानते हैं। कामभोग का बड़ा सर्वोपरि सामान वा साधन शृङ्गार है इस के नानारूप हैं इसी को ऊपरी बनावट वा लिफाफा कहते हैं। जब मनुष्यों के शरीर में तत्त्व नहीं रहता, आकृति पर फीकापन आजाता, शरीर में तेज घट जाता, और कामासक्ति के कारण सब तेज वा तत्त्व निकलता रहता है तब लज्जा के मारे शरीर को हरबार वस्त्रों से ढांपे रहते वस्त्रों की बनावटी कृत्रिम रङ्गजन्य शोभा से शरीर को शोभित मानते और उस को सभ्यता मानते हैं। स्मरण रक्खो कि वेद प्राकृत स्वाभाविक नियमों का नाम है प्राकृत नियम को मानने तदनुकूल चलने वाला कभी कृत्रिम बातों को

स्वीकार नहीं कर सकेगा और ऊपरी बनावट वा दिखावट को प्रसन्न करने वा-लों का ही नामान्तर अर्थसक्त वा कामसक्त माना जायगा क्योंकि थोड़ा ध्यान देकर शोचोगे तो स्पष्ट जान लोगे कि जितने लोग संसार में प्रसिद्ध कामी हैं वा जो बड़े व्यभिचारी वेश्यागामी हैं वेही अन्य साधारणों की अपेक्षा अधिक बने ठने रहते शौकीन होते वस्त्रादि धारण करके पहिले अपने आप को देख ते प्रसन्न होते कि हम अच्छे लगते हैं इस का प्रयोजन यह है कि हम अपना अच्छा बनाया रूप अन्यों को दिखा कर मोहित करना चाहते हैं। इस के अनुसार यह भी सिद्ध हु-आ कि मध्यम रूप बनाने वाले मध्यम कामी वा लोभी हैं। तथा यह भी आप को संसार में प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा कि अब तक जो लोग इस जगत् के कामभोग और धनैश्वर्य भोग के लोभ से उदासीन वा विरक्त हुए जिन को वैराग्य हुआ है उन सभी ने बनावट-शृङ्गार वा लिफाफा को त्यागा और स्वाभाविक शुद्ध वर्त्ताव को ही स्वीकार किया है ऐसे मनुष्य संसार में अब भी मिलेंगे कि जिनने काम और धन की फसावट को जितना छोड़ा है उन में उतनी स्वाभाविकता प्रसिद्ध है वे लोग हम देखने में अन्यों को अच्छे लगें ऐसा उद्योग कदापि नहीं करते और अनेक साधु कहाते शिर मुड़ाये वस्त्र गेरू में रंगे फिरते हैं पर शृङ्गार और बना-वटी को उस दशा में भी पकड़े हैं यह सब प्रत्येक मनुष्य के आचरणों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होजाता है। परन्तु परीक्षक भी सब नहीं होते वा होसकते ॥

इसी के साथ यह भी विचारणीय है कि समय का प्रवाह बदलते २ काम तथा लोभ अर्थात् कामासक्ति और धनासक्ति इस दशा को पहुंच गयी हैं कि हम कुछ भी शृङ्गार न करें अपने शरीर को किन्हीं वस्त्रादि से दिखावटी न बनावें किन्तु उलटे और बेहूदापन के देखने में भद्दे रङ्ग के [जो देखने में किसी को सु-हावने न लगें] कपड़े पहिनें तथा और थोड़ी धूली वा कीचड़ मुख में लगा लेवें तथा खाने को भी घी दूध भात गेहूं आदि उत्तम अन्न हम को न मिले वा न खावें किन्तु मोटा बेझर बाजरादि अन्न रूखा सूखा मिले वा जानकर खावें और अवस्था भी चढ़ती न रही हो किन्तु वृद्धावस्था का आरम्भ भी हो गया हो तो भी वर्त्तमान समय में जो वायु में फैली, संसारी पदार्थों वा शरीरों के रग२ में व्याप्त, प्रबलरूप से चढ़ती युवावस्था को प्राप्त ऐसी कामासक्ति मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ती ऐसी दशा में भी मनुष्य स्त्री को देख कामान्ध हो जाते हैं तो शोचिये

कि उस को बढ़ाने का उपाय उसका उत्तेजक शृङ्गार –दिखावटी वाना बनाते हुए मनुष्य कामासक्ति से वचजांय क्या यह सर्वथा ही असम्भव नहीं है ?। जैसे कि शीतकाल में जो छये घटे में रह के वस्त्र धारण किये रहते हैं उन को भी सब ओर से बढ़ा हुआ शीत नहीं छोड़ता उन को भी शीत का बोध अवश्य ही होता है तो शीतकाल होने पर भी जो शीतल जलाशय में घुसे उस को विशेष शीत न लगे यह सर्वथा ही असम्भव होगा ॥

इसी के अनुसार राजा भर्तृहरिने भी कहा है कि—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवास्-
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥

भा--जो विश्वामित्र पराशर आदि महर्षि केवल वायु केवल जल तथा कोई केवल पत्ते खा २ कर रहते थे वे भी शरीर में कामदेव के बढ़ने से कभी २ स्त्री का मुखकमल देख कर मोहित हो २ गये तो जो लोग उत्तम २ अन्न दूध दही घी सहित खाते हैं वे यदि जितेन्द्रिय होने सम्भव हैं तो पत्थर की शिला भी समुद्र में उतराती रहे न डूबे यह भी असम्भव नहीं। अर्थात् वैसे लोग जितेन्द्रिय होने सम्भव हैं तो सभी असम्भव बातें सम्भव हो सकेंगी असम्भव कुछ न रहेगा। जब हम भोगासक्त–कामासक्त लोभासक्त हैं इसी से धर्मज्ञान वेदज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।

इस दशा में आप शोच सकते हैं कि यद्यपि वेद स्वतःप्रकाश संसार का पावन सर्वोद्धारक विद्यमान भी है पर हम जो कामान्ध लोभान्ध हो रहे हैं काम लोभादि रूप प्रवल टट्टी हमारे हृदयों के सामने दृढ़ता से खड़ी है तो हम अन्धों को सूर्य वा दीपक के समान कुछ नहीं दीखपड़ता। वेद पवित्र धर्मस्वरूप है हम अर्थ नाम धन और कामभोग में सक्त नाम लिप्त हैं इस से वेद २ कर के चिल्लाने पर भी वेद का मर्म वा उस का कान पूंछ कुछ भी पता नहीं लगता। इस से भी और अधिक आश्चर्य यह है कि हम बल के साथ चिल्ला २ कर जिन बातों को सभा वा समुदायों में कहते और लिखते हैं उतना भी वैदिक धर्म के अनुसार स्वयं नहीं चलते वा चलना चाहते। क्योंकि कह देना वा लिख देनामात्र हम

अपना काम मान लेते और करना हमारा काम नहीं किन्तु श्रोताओं का होगा। अभिप्राय यह हुआ कि जब पूर्वकाल में वेदोक्त धर्म का प्रकाश वा प्रचार इस जगत् में हुआ था जिस समय को हम निर्विकल्प उन्नति वा संसार के सुखी होने का अवसर मानते और मानने पड़ता है उस समय के हमारे पूर्वजों में अनेक लोग वेदप्रचारक वेदपारदर्शी ब्रह्मर्षि महर्षि राजर्षि, कामी वा लोभी नहीं थे दिखावटी शृङ्गार वा दिखावट के खाने पहरने को अच्छा नहीं मानते थे तपस्वी होते एकान्त में सीधा सच्चा आचार विचार करते थे खाने पहरने को सब प्राणियों का स्वाभाविक काम समझ के कि पशु पक्षी आदि भी खाते पीते उन को भी ओढ़ने के लिये ईश्वर ने अधिक रोम वा पङ्ख आदि दिये हैं यह कोई मनुष्यपन का खास काम नहीं है ऐसे विचारों से अनायास साध्य सामान्य भोजन वस्त्र से निर्वाह करते हुए अतिपवित्र धर्मस्वरूप वेदाशय के ध्यान में मग्न रहते थे ॥

अब हम लोगों में वैसा एक भी नहीं किन्तु हम जन्म से मरण पर्यन्त अच्छा २ खाने पहनने धनादि जोड़ने तथा कामसुख भोगने के लिये दिन रात हांउ हांउ करते हुए उन्मत्त के समान भाग रहे हैं दिन रात उन्हीं वासनाओं की चिन्ता में लगे रहते हैं। हमारे धर्म सम्बन्धी काम वा उपदेश वा लेख भी अधिकांश इसी उद्देश को सामने रख के होते हैं कि जिस से अच्छे २ भोगों में बाधा न हो किन्तु उन की प्राप्ति में ही सहायता मिले। तब शोचने का स्थान है कि क्या हम जैसे अत्यन्त मलिन हृदय के मनुष्य भी अत्यन्त पवित्र स्वरूप वेद के गूढ़ाशय को जान सकते हैं? कदापि नहीं। किन्तु सूर्योदय के सामने उलूक पक्षी कीसी हमारी दशा हो जाती है वेद की ओर देखते हैं तो कुछ नहीं दीखता हम अन्धे होजाते हैं। हे ईश्वर सर्वान्तर्यामिन्! आप वेदों के वा वेदोक्त धर्म के द्वारा संसार का तथा अपना सुधार मानने वाले आर्यों को ठीक मार्ग दिखलाइये। और हम, आर्यसमाजस्थ लोगों को बार २ सचेत करते और विनय पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वेद ही के द्वारा संसार का सुधार हो सकता है जैसे जल से ही प्यास की शान्ति होती [लोंग खाने से भी मुखमें वा भीतर जल ही छूटता और वही प्रदीप्त जाठराग्नि को कुछ शान्त करता है] यह सिद्धान्त अत्यन्त ही शुद्ध निर्भ्रान्त निर्विकल्प माना है परन्तु जल से प्यास शान्त होती इस प्रकार कहलेने वा जानलेने मात्र से प्यास नहीं जाती किन्तु उद्योग द्वारा जल प्राप्त करके पीने से वह चला हो सकता है। यद्यपि

किसी काम के करने से प्रथम उस का जानना ही प्रथम कर्त्तव्य है तथापि वेद विषय में हमारा अभीतक सामान्य ज्ञान वेद के अच्छे होने का है किन्तु किस २ प्रकार कितना २ किस २ अंश का हमारा कल्याण वेद से हो सकता है इस का ब्योरा अभी तक सृष्टिभर में लुप्त सा ही हो रहा है। जैसे कोई कहे कि गुड़ मीठा होता है यह सामान्य ज्ञान है। और गुड़ कहां होता गुड़ किस को कहते हैं उस का वास्तविक स्वरूप वा तत्त्व क्या है कैसे मिलता कहां मिलता और उस में क्या २ गुण हैं इत्यादि विशेष ज्ञान के न होने पर्यन्त उस का सामान्य जानना न जानने के समान ही ठहरता है। इसी के अनुसार वेद का ज्ञान भी अभी तक हम को नहीं हुआ है यह मानना कहना अनुचित नहीं किन्तु ठीक सत्य ही है। और आश्चर्य यह है कि अब तक हमारा उद्योग भी जानने मानने के लिये जो कुछ होता है वह अभी तक ऐसा नहीं होता कि जिस से आगामी काल में हम आर्यों के हृदय में वेदरूप सूर्य के उदय की पूर्ण सम्भावना हो जिस से हमारे भीतरी नेत्र खुलें हमे कुछ सूझने लगे ॥

इस कारण वेद को मानने तथा वेद मत पर चलने के लिये कटिबद्ध हुए हम आर्यसमास्थ लोगों को ध्यान देने का अवसर है भूल में न पड़े रहें। पूर्वज ऋषि महर्षियों का ध्यान करें उनके अनुयायी बनें, आर्य धर्मोपदेशक अपने में ऋषि भावों का धारण पालन और वृद्धि करें। आर्य लोग वेदाध्ययन के लिये संस्कृत विद्या पढ़ाने की पाठशाला करें वहां अच्छे २ सुशील धर्मात्मा प्रबन्धक अध्यापक शिक्षक नायक हों, सुपात्र सुशील अच्छे २ संस्कारी तीव्र बुद्धि वाले, दो, चार, दश, बालकों को सब वर्णों में से छांट २ यज्ञोपवीत करा के ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों और व्रतों का यथोचित ठीक २ पालन कराते हुए ४८ का चतुर्थांश १२ वर्ष तक ही वेद वेदाङ्ग पढ़ाने के लिये धर्मानुकूल ब्रह्मचारी बनावें। इस प्रकार यदि फिर से इस तपोभूमि-पुण्य देश में नये २ ऋषि तयार करने की योग्यता और बुद्धि हम को ईश्वर देवे तो आर्य कुल वा आर्यसमाज का भावीकर्त्तव्य सुधर जाना तथा इष्ट सिद्ध हो जाना सुगम और सम्भव हो सकता है ॥

ब्रह्मचर्य का तत्त्वव्याख्यान-

ब्रह्मचर्य, यह पद वेद में ऐसा ही ज्यों का त्यों आता है जिस के लिये स्प
वेद प्रमाण भी आगे २ लिखें गे। ब्रह्म नाम वड़े का वा उत्तम कक्षा का है ब्रह्म
आदि शब्दों को बड़प्पन के वाची वेद में देख कर ही पाणिनि आचार्य ने "बृ
बृहि वृद्धौ" धातु की कल्पना की और "बृंहेर्नलोपश्च" इस उणादि सूत्र से उस
बृहि धातु से ब्रह्म शब्द की सिद्धि दिखलाई है। और (चर गतिभक्षणयोः) इ
भक्षणार्थ धातु से चर्य वा चारी शब्द बनता है। वा चर्य शब्द को वेद में भ
णार्थ देख कर प्रकृति प्रत्यय के अर्थ विभाग की कल्पना की गयी जो उस समु
दाय में यथार्थ अवयव रूप से विद्यमान थी। इस रीति से वेद की शैली के अ
नुसार ब्रह्मचर्य शब्द का यह अर्थ हुआ कि "बड़े वा बड़प्पन का खाया जाना वा भी
तर अपने में लिया जाना अथवा ब्रह्म नाम बड़ा चर्य नाम खालेने वा अप
भीतर रखने योग्य होता है" और ऐसे ही ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ कि "ब्र
नाम बड़े को वा बड़प्पन को स्वभाव से ही अपने भीतर लेने वा रखने चर
खाने वाला" इस अर्थ की ओर थोड़ा ध्यान दीजिये तो सब से अत्यन्त ब
ब्रह्म परमात्मा उस का ज्ञान वा बोध गुरु आदि के द्वारा अपने भीतर लेना
रखना, द्वितीय कक्षा में ईश्वरीय वेद का नाम ब्रह्म है उस को पढ़ने द्वारा अ
पने भीतर हृदय में लेजाना रखना चरना, तृतीय ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन जो म
नुष्य जाति में सब से ऊंची बड़ी प्रतिष्ठित कक्षा है उस का चरना ब्राह्मणप
के गौरव को अपने भीतर विद्या शिक्षा द्वारा लेजा के जमाना। चौथी कक्षा
ब्रह्म नाम अन्न का है "अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत" इसी के द्वारा सब के जीवन व
रक्षा होती है वा जो जीवन का आधार है वही अन्न है और जीवनाधार होने
वह ब्रह्म नाम बड़ा है उस का चरना नाम खाना भीतर लेजा के ऐसा रखन
कि जिस के परिणाम रूप फल नाम वीर्य्य-शुक्र को भी भीतर ही रखना निकल
न देना, उस अन्न के फलरूप शुक्र के न निकलने से अन्न भी शरीर से निक
नहीं जाता किन्तु असारमात्र मलादि निकल जाता और अन्न का साररूप वी
जो दृढ़ता के साथ शरीर में बैठ जाता है वह जीवनभर सुख देता है। पा
मीं कक्षा में प्राण भी ब्रह्म नाम बड़ा है "प्राणं ब्रह्मेत्युपासीत" शिर के सात छि

के द्वारा वा अधिकांश नासिका द्वारा प्राणशक्ति निकला करती है । इस लिये तीव्र गन्ध सूंघने द्वारा प्राणशक्ति को कुपित करने से विषय सुखभोगों की वासना उत्तेजित होती जिस से ब्रह्मत्व घटता है इस लिये प्राण की शक्ति को कुपित होने से बचा कर प्राणायामादि द्वारा शान्त करके अपने भीतर रखना यही बल वा जीवन है और प्राण का कुपित हो २ के नष्ट होना ही मृत्यु है । छठी कक्षा में ब्रह्मनाम मन का है " मनो ब्रह्मेत्युपासीत" विषय भोगों का लालची लम्पट मन विषय भोगों की ओर निरन्तर भागा करता है उस ब्रह्मनाम स्थित होने की दशा में बड़े आनन्द के हेतु मन को भागने से रोक कर अपने भीतर लेना और रखना यह भी एक ब्रह्म का चरना है । सातवीं कक्षा में आनन्द का नाम ब्रह्म है "आनन्दं ब्रह्मेत्युपासीत" उस को उपस्थादि सम्बद्ध बाह्य साधनों द्वारा बाहर निकल जाने से थाम्भ के भीतर ही ले जाना वा रोकना तब भीतरी आत्मिक आनन्द बढ़ता है । आठवीं कक्षा में विज्ञान नाम योगाभ्यासादि द्वारा होने वाला विशेष—नाम साक्षात्कार ज्ञान का है "विज्ञानं ब्रह्मेत्युपासीत" यह सर्वोपरि इष्ट साधक और अनिष्टों से बचाने वाला योगादि साधनों द्वारा इस को अपने भीतर लेजाना और रखना सब से उत्तम इस कारण है कि इसी से मुक्ति हो सकती है । इन आठ प्रकार के ब्रह्मों का रचने वाला ही आठ प्रकार के मैथुन से बच के ठीक २ ब्रह्मचारी कहाने योग होता है ॥

इस जगत् में स्वाभाविक वा प्राकृत नियम वे ही माने जाते हैं जो ज्ञान शून्य जड़ पृथिव्यादि कालाकाशादि तथा ओषधि वृक्ष वनस्पत्यादि में भी स्पष्ट हो घट जावें तथा शोचने से स्पष्ट प्रतीत हों । जैसे अन्न जल को मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्गादि सब खाना पीना चाहते हैं वृक्ष वनस्पत्यादि वा पृथिवी भी खाते पीते और खाना पीना चाहते हैं । भूमि में जो खाद घूरा आदि डाला जाता उस को पहिले पृथिवी खाकर पुष्ट होती और पीछे अपने गर्भस्थ पुत्रादि के तुल्य सब वृक्ष वनस्पति बोये हुए गेंहूं जो आदि को खिलाती और वे सब पृथिवी से खें-च २ के खाते और पुष्ट होते हैं । विना खायें पियें जैसे मनुष्यादि दुर्बल होते वैसे वृक्षादि भी सूखते कुम्हलाते हैं जहां की पृथिवी को भी खाद वा जल नहीं मिलता वह अच्छी दशा में नहीं रहती ।

इस नियम के अनुसार जगत् में जो २ प्राणि वा अप्राणि जिस २ वस्तु को अपने भीतर लेके वा अपने में मिला के पुष्ट होता अपनी दशा को सुधारता चिरस्था-

यिनी करता है वह २ ब्रह्मचारी ठहरता और सामान्य रीति से किसी चराच में ठहर कर वा प्रविष्ट हो कर जो २ चरा हुआ वस्तु उस २ को अच्छी उन्नत दशा में जैसा २ अधिक २ पहुंचाता है वह वैसा २ ही छोटा वा वड़ा सापेक्ष ब्रह्म ठहर जाता और उस २ का चरने वाला वैसा ही छोटा वा वड़ा सापेक्ष ब्रह्मचारी सब जड़ चेतन वनता है। ईश्वर वा वेद सर्वोपरि वड़ा होने से निरतिशय ब्रह्म है क्योंकि उस से वड़ा और कोई नहीं है। और उस को सब से अधिक चरने वा अपने हृदय में ठहराने जानने वाला सब से वड़ा, ब्राह्मण नाम मनुष्यों की उत्तम कक्षा में भी उत्तम ब्रह्मचारी और ब्रह्मा है। इस प्रसङ्ग में ब्रह्मचर्य का सत्य २ यथार्थ माहात्म्य दिखाने के लिये अथर्व वेद के कई मन्त्रों का संक्षेप से अर्थ और भीतरी आशय यथाशक्ति खोल कर लिखते हैं। अथर्व काण्ड ११ सू० ५॥

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ १ ॥

पदानि–देवानाम्। एतत्। परिऽसूतम्। अनभिऽआरूढम्। चरति। रोचमानम्। तस्मात्। जातम्। ब्राह्मणम्। ब्रह्म। ज्येष्ठम्। देवाः। च। सर्वे। अमृतेन। साकम्॥१॥

अ०–देवानामग्निवाय्वादित्यानां संबन्धात्परिषूतं परितः सर्वतोऽग्न्यादिपदवाच्यतत्त्वाख्यानेन सहैवोत्पन्नमन्तकल्मषाज्ञानासंसर्गात्सर्वथा शुद्धत्वाद्रोचमानं शोभमानमनभ्यारूढममूर्त्तत्वाद् भारवदलग्नं भारत्वेनाप्रतीयमानम्। स्थूलं वस्तु यस्मिन्नभ्यारूढं भवति तेन भारः प्रतीयते। ज्येष्ठमतिप्रशस्यं श्रेष्ठं ब्रह्म वृद्धं महत्पूज्यं च वेदाख्यमेतत्प्रत्यक्षं विद्यातत्त्वं यश्चरति स्वीकरोत्यादत्ते पठत्यधीते। यस्मिन्सर्वे सान्तर्मदा अग्न्यादयो देवाश्चाप्यमृ-

तेन शुद्धेन सारांशेन साकं वसन्ति तस्माज्जातं ब्रह्मवर्चस्वित्वेन तेजसा प्रादुर्भूतं लब्धास्पदं ब्राह्मणं ब्रह्मचरणशीलमन्वर्थं ब्रह्मचारिणं जानीतेति शेषः। ज्येष्ठमिति प्रशस्यस्य वृद्धस्य चेष्ठनि ज्यादेशो विधीयते ब्रह्मपदेनात्र वृद्धार्थस्योक्तत्वात्प्रशस्यादेशस्यैवोपादानं साधु ॥

भा०—अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदइति ब्राह्मणादिसर्वग्रन्थानुमतम्। अग्निर्देवता०। अग्निर्ऋषिः-पवमानः। इत्यादिमन्त्रेष्वग्न्यादीनां देवत्वमृषित्वं चोभयं संगच्छते। श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृताविति मनुनोक्तत्वात्। तत्र देवत्वं सामान्यमृषित्वं च विशेषः। एकस्मिन्नेव मनुष्यब्राह्मणादिशब्दव्यवहारवत्। जगति यत्किमपि रोचते शोभते तदग्न्यादिभ्यएवोत्पद्यते तत्रतत्रानभ्यारूढमभास्करं च भवत्येव यथा शुक्लत्वादिका गुणाः। द्रव्यं च भास्करमेवं वेदविद्याऽप्यभास्करी तस्मादेव शोभाकरीति हेतुगर्भविशेषणम्। अमृतेन प्राणबलेन सार्द्धं देवानामग्न्यादीनां वीर्यस्तम्भनेन वासाद्रोचमानस्य ब्रह्मणश्चरणाच्च स्फुटमेव ब्रह्मचारिपदस्य निर्वचनं मन्त्राक्षरेभ्यो निस्सरति। ब्रह्मचर्यं, ब्रह्मचारीति च पदद्वयं—ब्रह्म, चरति—इत्येवंरूपादेव पदद्वयान्निष्पद्यते तच्च पदद्वयं स्पष्टमेवात्र मन्त्रे पठ्यते। सर्वत्र लोकेऽपि यथा गुणकर्मादिसम्बद्धलक्षणैरेव सर्वं वस्तु निर्दिश्यते विज्ञायते च। यथा च कोऽग्निर्यो दहति। को वायुर्यः स्पर्शहेतुर्यो वाति गच्छति येनाग्निर्दीप्यते उत्पद्यते। तथैवात्र वेदेऽपि लक्षणैरेव सर्वव-

स्तूनां बोधः कार्यते । एवमत्र ब्रह्मचर्यत्वं ब्रह्मचारित्वं च मन्त्रव्याख्यानेन बोधितं भवति । अग्न्यादिभ्य उत्पन्नं देवसारभूतं शुद्धं शोभनं श्रेष्ठं सामान्यं तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यं तद्यश्चरति स ब्रह्मचार्येवं चराचरसंसारे ब्रह्मचर्यं व्याप्नोति यो यादृशं ब्रह्म चरति स तादृशो ब्रह्मचारीति श्रुतिसामान्यार्थप्रचारकमीमांसकानामाशयः । अग्न्यादिपदैरेवोत्पन्नमुद्भूतं तत्सामान्यार्थान्तर्गतमनतिशयितमग्नित्वादिकं ब्रह्मत्वं परमात्मतत्त्वमित्युच्यते तस्मादत्र सामान्यकथने न किमपि ब्रह्मपदवाच्यमवशिष्यते । यदनुकूलं परिणामे सुखकरं तद् ब्रह्मेतरद्धानिकरं परिणामे दुःखकरं च तदब्रह्म तस्य चरणमब्रह्मचर्यमित्यर्थादापन्नं बोध्यम् । गदमदचरेत्यादिसूत्रेण चर्यपदस्य कर्मणि साधुत्वं ब्रह्म,चर्यमस्मिन्निति व्रतं ब्रह्मचर्यपदेनोच्यते ॥ १ ॥

भाषार्थः—(देवानां परिषूतम्) अग्नि, वायु और सूर्य इन मुख्य तीन देवता पदवाच्यों से उत्पन्न—प्रकट हुए अर्थात् अग्नि आदि पदों के ठीक २ वाच्यार्थ के व्याख्यान सहित सृष्टि के आरम्भ में हुए (रोचमानम्) अज्ञान, मिथ्यापन तथा कलङ्कादि सब दोषों से रहित और सर्वथा शुद्ध होने से शोभित रुचिकारक (अनभ्यारूढम्) स्थूल न होने से भार जिसका नहीं होता [स्थूल वस्तु का ही सब को सर्वत्र भार प्रतीत होता है] (ज्येष्ठमेतद् ब्रह्म) अत्यन्त प्रशंसा के योग्य श्रेष्ठ इस प्रत्यक्ष ब्रह्मनाम बड़े पूज्य वेद नामक विद्या के तत्त्व को जो (चरति) स्वीकार—ग्रहण करता नाम पढ़ता जानता है और जिस के शरीर में (सर्वे देवाश्चामृतेन साकम्) अपने २ अवान्तर भेदों के सहित सब अग्न्यादि देवता अमृत नाम शीघ्र नष्ट न होने वाले शुद्ध सारांश के साथ वीर्यरूप तेज के रोकने से वास करते हैं (तस्माज्जातं ब्राह्मणम्) इस कारण ब्रह्म तेज के साथ प्रसिद्ध प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ब्रह्म नाम वेद के पढ़ने के स्व

भाव वाले सार्थक ब्राह्मण को ब्रह्मचारी जानो। प्रशस्य और वृद्ध दोनों शब्दों को ज्य आदेश होके ज्येष्ठ शब्द बनता है पर ब्रह्मशब्द से बड़े का अर्थ आजाने के कारण ज्येष्ठ शब्द का श्रेष्ठार्थ यहां लेना उचित समझा गया ॥

भा०—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद हुआ यह विचार ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों के अनुकूल है। " अग्नि देवता है " " अग्नि पवित्र करने वाला ऋषि है" इत्यादि प्रकार वेदों में अग्नि आदि को देवता और ऋषि दोनों माना है। सो " वेद में एक ही विषय में जहां विरुद्धसी दीखने वाली दो बातें कही हैं वहां वे दोनों ही ठीक धर्मानुकूल हैं " इस मनुजी के कथनानुसार अग्नि आदि को ऋषि तथा देवता कहना दोनों संगत हैं। उस में देवपन सामान्य और ऋषिपन विशेष है। जैसे एक ही देहधारी का मनुष्य, ब्राह्मण, देवदत्त, पुरुष आदि नामों से व्यवहार किया जाता है। इस कारण अग्न्यादि देवताओं द्वारा वा अग्न्यादि ऋषियों द्वारा वेद उत्पन्न हुए ये दोनों ही व्यवहार ठीक हैं। जगत् में जो शोभा प्रतीत होती है वह अग्न्यादि से ही प्रकट होती और वह गुणरूप शोभा जिस २ में होती है उस पर कोई बोझा उसका नहीं होता जैसे श्वेतादि गुणों का किसी पर भार नहीं होता किन्तु भार द्रव्य में होता है। ऐसे ही वेद विद्या भी सूक्ष्म गुणरूप होने से धारण करने वाले पर बोझा नहीं बढ़ाती इसी से शोभा करने वाली है। अमृत नाम प्राण का और मृत वा मृत्युनाम अपान का है। वीर्य के रोकने से उपस्थेन्द्रिय सम्बन्धी अपानका वीर्यपातरूप बड़ा काम रुकता है इसी से मृत्यु की हानि वा रुकावट और प्राण की शक्तिरूप अमृत की पुष्टि चिरकाल स्थिति होती। इस प्रकार कारणरूप शुद्ध अग्न्यादि तत्त्वों के शरीर में ठहरने और प्रकाशमान विद्यारूप वेद के चरने से ब्रह्मचारी कहाता है यह स्पष्ट ही ब्रह्मचारी शब्दका निर्वचन मन्त्र के अक्षरों से निकलता है। ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी ये दोनों शब्द (ब्रह्म—चरति) इन दो पदों से सिद्ध होते हैं जो कि इस मन्त्र में दोनों पद भिन्न २ स्पष्ट ही पढ़े गये हैं। और चरति क्रिया का ब्रह्म कर्म भी पढ़ा ही है। लोक में भी सर्वत्र गुणकर्म सम्बन्धी लक्षणों से ही सब पदार्थों का निर्देश वा बोध किया जाता है। जैसे अग्नि कौन है? तो उत्तर होगा कि जो जलाता, दाह गुण वाला, रूप गुण का कारण तथा जल का उत्पादक है। वायु कौन है ? तो उत्तर होगा कि जो स्पर्श गुण का हेतु, जो चलता, चेष्टा करता तथा जिस से अग्नि प्रकट वा प्रदीप्त होता है।

इन गुण कर्मरूप लक्षणों को छोड़ कर अग्नि आदि का बोध कदापि नहीं हो सकता । इसी प्रकार यहां ब्रह्मचर्यपन और ब्रह्मचारीपन को मन्त्र के व्याख्या से बोधित काराया गया है । अग्नि आदि पदों के वाच्यों से उत्पन्न प्रकट हुए देवताओं का सारांशरूप शुद्ध शोभमान श्रेष्ठ सामान्य तत्त्व ब्रह्म पद्वाच्य है उस को जो २ चरता है वह २ ब्रह्मचारी है इस प्रकार चराचर संसार में ब्रह्मच व्याप्त है और जो चेतन वा जड़ जैसे ब्रह्म को चरता है वह वैसा ब्रह्मचारी यही वेद के सामान्यार्थ प्रचारक मीमांसकों का अभिप्राय जानो । अग्न्यादि प दों से ही प्रकट उन अग्न्यादि के सामान्यार्थ के अन्तर्गत असीम अग्न्यादिप ही ब्रह्म नाम परमात्मा है । इस कारण यहां सामान्य कथन में ब्रह्मपदवाच् कुछ भी शेष नहीं रहजाता । जो अनुकूल अन्त्य में सुखकारी है वही ब्रह्म इ से भिन्न प्रतिकूल परिणाम में दुःखकारी हानिकारक अब्रह्म छोटा वा नीच उस का चरना अब्रह्मचर्य नाम व्यभिचारी होना है । यह अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है । जिस में उपस्थेन्द्रिय तथा मन को वशीभूत रखने पूर्वक ब्रह्म नाम वे धर्म मान के चरने योग्य होता उस व्रत का नाम ब्रह्मचर्य है ॥ १ ॥

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्र ति । तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्या भृतम् ॥ २ ॥

अ०-सर्वे प्राजापत्याः प्रजापतिसम्बन्धिनो रक्ष्यरक्षणका र्यिणः पृथक्स्थित्या प्राणान् बलरूपान् वीर्यस्तम्भनेनात्मसु स्वदेहेषु बिभ्रति धरन्ति तान्सर्वान् प्राजापत्यान् ब्रह्मचा रिण्याभृतमवस्थितं स्थापितं वा गुरुणा ब्रह्म वेदो रक्षति दुर्वासनारूपाज्ञानान्धतमःपापवारकत्वाद्दुःखेभ्यः पृथक् सा त्त्विकहृदयग्राह्यशान्तिमयसुखे स्थापयति ॥

भा०-ये पृथक्तिष्ठन्ति तएव प्राणानात्मसु धर्त्तुमर्हन्ति

नच स्त्र्यादिसन्निहिताः । एवं पृथक्स्थितिः प्राणधारण-हेतुः । वीर्यनिस्सरणेन यादृशं प्राणबलमपहीयते न तादृश-मन्येन कर्मणा, नच प्राणेन्द्रियधारणमन्तरेण रक्ष्यरक्षणरूपं प्राजापत्यं क्वापि सम्भवति नहि कामासक्ता रक्ष्यरक्षणे स-मर्था दृश्यन्ते। ये यादृशा वीर्यरक्षकास्ते तादृशा आधिक्येन बलिनः प्राणधारकास्तएव तादृशा रक्ष्यरक्षकास्ते च यदि स्वस्य ब्रह्मचारिणि महत्त्वरक्षणचरणशीलदेहस्थशुद्धहृदये ब्रह्म वेदमाभरन्ति स्थापयन्ति तदा शारीरबलादन्यद्वेदोद्भ-वमात्मिकमपि विद्याबलं तेषां सुखहेतु सम्पद्यते। एवमत्र पृथक्स्थित्या वीर्यनिरोधेन प्राणबलधारणं वेदविद्योपा-दानं चेति द्विविधं ब्रह्मचर्यस्वरूपं प्रदर्शितमेतस्यैव विशि-ष्टं व्याख्यानमतः पूर्वलिखितमन्त्रे कृतं बोध्यम् ॥२॥

भावार्थः-(सर्वे प्राजापत्याः पृथक् प्राणानात्मसु बिभ्रति) रक्षा करने योग्य सुखहेतु चराचर वस्तुओं की रक्षा करने वाले सब लोग स्त्री आदि से अलग रह कर वीर्य को थांभने द्वारा बल नाम इन्द्रियों की शक्तिरूप प्राणों का अपने शरीरों में धारण करते हैं । [चाहें यों कहो कि लगा लिपटी से अलग रह के जो अपने प्राणों का ठीक धारण करते वे ही प्रजारक्षक हो सकते हैं] (तान्सर्वान् ब्रह्म-चारिण्याभृतं ब्रह्म रक्षति) उन सब प्राजापत्यों की ब्रह्मचारी में स्थित हुआ वा गुरु द्वारा स्थापित किया वेद का ज्ञान रक्षा करता है अर्थात् दुर्वासनारूप अज्ञानान्ध-कार जो पाप रूप कहाता उस का हृदय से निवारण करके वेद का ज्ञान दुःखों से बचाता है [शरीर में सब से बड़ा होने से वीर्य ब्रह्म है वह जैसा जिस में ठहरता है उस के प्राणों वा जीवन की वैसी ही न्यूनाधिक रक्षा होती है । किसी में वीर्य सर्वथा न रहे तो क्षण भर भी प्राण नहीं रह सकते विशेष कर वीर्य का धा-रण कर्त्ता ही प्राण धारक ब्रह्मचारी होता और वही वेद के ज्ञान के ठहरने का पात्र होता यह बात (ब्रह्मचारिण्याभृतम्) पद से जताई है] ॥

भा०-जो पृथक् रहते वे ही प्राण बल के हेतु वीर्य को अपने में धारण कर सकते किन्तु स्त्रियों के समीप रहने वाले नहीं इस प्रकार पृथक् रहना प्राण धारण का हेतु है। इसी लिये मनुजी ने कहा है कि (पृथक् शयीत सर्वत्र) सब स्थानों वा सब कालों में ब्रह्मचारी सब से पृथक् सोवे अकेला रहे। शरीर से वीर्यक्षीण होने निकलने से जैसा बल घटता है वैसा अन्य किसी कर्म से नहीं। प्राण का धारण नाम जितेन्द्रिय हुए विना [इन्द्रियों द्वारा विषयभोग करने में प्राणशक्ति का घटना ही अपान कहाता है] रक्षा करनारूप प्रजापतिपन किसी में नहीं घट सकता क्योंकि जो अपने ही तत्त्व की रक्षा न करके व्यभिचार में खोता है वह अन्य की रक्षा कर प्रजापति कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। जो पुरुष जैसे न्यूनाधिक वीर्य के रक्षक होते वे वैसे ही अधिक बली प्राणधारक और वेही रक्षायोग्य के वैसे रक्षक होते हैं और वे यदि महत्त्व को लेने वा रखने के स्वभाव वाले अपने देहस्थ हृदय में ब्रह्म नाम वेद को स्थान देते स्थापित करते हैं तब शरीर के बल से भिन्न वेदाध्ययन द्वारा होने वाला आत्मिक विद्याबल भी उन को सुख देने वाला होता है। इस प्रकार यहां पृथक् स्थिति द्वारा वीर्य के रोकने से प्राण का धारणरूप जीवन और वेद विद्या का ग्रहण यह दो प्रकार से ब्रह्मचर्य का स्वरूप दिखाया गया है इसी का विशेष व्याख्यान इस से अगले मन्त्र में जिस को हम पूर्व लिख चुके हैं किया गया जानो ॥ २ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ ३ ॥

अ०-आचार्यो ब्रह्मचारी भवत्येव विदुषो ब्रह्मचारित्वे प्रत्यगात्मवृत्त्या विचारशीलत्वे सत्येव शिष्यास्तमाचार्यं कुर्वन्ति तदा स आचार्यो भवति न च कामासक्तं कोऽप्याचार्यं करोति वदति वा। यश्च पूर्वं ब्रह्मचारी स चाग्रआचार्यो भवत्येवमनयोः साध्यसाधकभावः। ब्रह्मचारी स्वायत्तमना एव प्रजापतिः प्रजाया रक्षार्हस्य प्राणिवर्गस्य रक्षकः स्वामी भवति नचाजितवाक्कायमानसः क-

स्यापि स्वामी भवति । प्रजापतिः स्वाम्यन्यस्योपरिकृता-
धिकारएव विराजति लोके दीप्यते नच तथा प्रजा भवति
विराजनादेव विराट् प्रकाशविशेषादेवेन्द्रो वशी वशे यस्य
सर्वमस्तीति तादृशो भवति। प्रकाशाधीनान्येव सर्वकार्या-
णि तस्मात्सर्वे कार्यिणः प्रकाशस्वरूपविराडिन्द्रस्य वशे ति-
ष्ठन्तीति तमसि च स्वापवल्लयएव ॥

भा०-यथा भौतिकप्रकाशाधीना सर्वकार्यसिद्धिस्तथा तस्यैव प्रधानाङ्गं चेतनप्रकाशो द्विविधस्यापि प्रकाशस्य यत्रयत्र यादृशो भावस्तस्य तादृशाधिक्येनैवान्ये वशे तिष्ठन्ति प्रकाशश्चान्यकार्यसाधनरूपप्रजापतित्वेन सिध्यति प्रजापतित्वं च ब्रह्मचर्यसाधनात्सम्भवति ब्रह्मचर्यसाधनमेव चाचार्यत्वेन पूज्यत्वगुरुत्वादेर्हेतुभवतीति सर्वापेक्षया ब्रह्मचारित्वस्य स्फुटमेव श्रेष्ठत्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थः-(आचार्यो ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी होने पर ही आचार्य हो सकता अर्थात् विद्वान् पुरुष यदि भीतरी विचार में तत्पर मनस्वी नाम अपने आपे में रहने वाला होने से ब्रह्मचारी-विचारशील हो तभी उसको शिष्य लोग गुरु बनाते उसकी शिक्षा में चलना चाहते हैं तभी वह आचार्य वा गुरु हो सकता है किन्तु कामासक्त लम्पट पढे हुओं से भी कोई न दबता न उन को बड़ा मानता न वे किसी के गुरु वा आचार्य बन सकते हैं। और जो पहिले ब्रह्मचारी हो चुकते वेही आगे आचार्य होते । जो पहिले किसी सद्गुरु के शिष्य होते वेही आगे अन्यों के लिये सद्गुरु बनते हैं इस प्रकार आचार्यपन और ब्रह्मचारीपन दोनों दोनों के साधक होते हैं (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) और अपने विचार में तत्पर, मन को वश में रख के लम्पट न होके जो ब्रह्मचारी होता वही रक्षा के योग्य निर्बल प्राणियों का अर्थात् स्त्री पुत्र शिष्यादि का रक्षक वा स्वामी अधिपति होता है किन्तु कामी अपने और अपने मन जिस के वश में नहीं वह किसी को अपने अधिकार में रखने वाला रक्षक वा स्वामी नहीं हो सकता और

सूचना ॥

हमारे सब ग्राहक महाशयों को विदित होगा कि आर्यसिद्धान्त अब नियत समय पर प्रतिमास निकलने लगा है अब की बार ४। ५ दिन की जो देर कई कारणों से होगयी आशा है कि आगे अब ऐसी न होगी। बराबर निकलता जायगा। द्वितीय आर्यसिद्धान्त के ग्राहकों का हिसाब भेज के जो शेष दाम मागाजाता है उस में लेखक तथा प्रबन्ध कर्त्ताओं के बदलते रहने से कोई भूल हो वा कोई महाशय दे चुके हों और उन से पुनर्वार भूल से मांगा जाय तो कृपया मुझ को लिख कर सूचित कर दिया करें जिस से उन का हिसाब ठीक सम्हाल लिया जाय। और नये वा पुराने सब ग्राहक महाशय नागरी वा अंगरेजी में अपना नाम पता स्पष्ट लिखा करें किन्तु उर्दू फारसी में लिखने से कुछ का कुछ वांचा जाता है इस कारण उन अक्षरों में पत्र न लिखा करें इस से ऐसे पत्रों की ठीक २ कार्यवाही न होने पर हम दोषी नहीं होंगे ॥

२—संन्यास आश्रम जैसा उच्च कक्षा का पूर्व से था उस को वर्त्तमान काल के अनेक मूर्ख लोभी लालची अच्छा २ खाने पहरने में आसक्त गुप्त व्यभिचारी प्रसिद्ध में ब्रह्मचारी वा संन्यासी कहाने वाले लोगों ने बिगाड़ दिया। अब इस आश्रम का जगत् में वैसा गौरव नहीं रहा तथापि किसी विषय से पृथिवी कभी निर्बीज नहीं होती। अब भी कोई २ अच्छे संन्यासी हैं और आशा होती है कि अब आगे २ अच्छे २ विचारशील शान्त जितेन्द्रिय योगाभ्यासी नये २ गृहस्थ संन्यासी होंगे जो फिर से इस आश्रम का सर्वोत्तम गौरव बढ़ावेंगे जिन के द्वारा भारत की तपोभूमि फिर से सार्थक होगी। हम सहर्ष प्रकाशित करते हैं कि एक पं० बदरीप्रसाद जी जो आर्यसमाज अतरौली जिला अलीगढ़ के उपदेशक थे जिन के शान्त और शुद्ध विचार उन के बनाये सुमतिसुधाकर तथा अबलाविनयादि पुस्तकों से प्रकट होते होंगे जिन महाशय ने अनुमान छः महिना हुए तब इसी इटावा नगर में संस्कारविधि के लेखानुसार अपने शरीर का संन्यास संस्कार बड़े हर्ष और उत्साह के साथ कराया उन का अब अन्वर्थ नाम शान्त्यानन्द रक्खा गया है ५ महिने तक ठहर के यहां योग सांख्य और उपनिषदों का आशय उक्त महाशय ने सुना पढा अब एक महीने से अपनी शान्ति को सुरक्षित अपने साथ रखते हुए समाजों में विचरने को पश्चिम की ओर पधारे हैं। इन में किसी प्रकार का लोभ लालच लेशमात्र भी अब तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। शान्त्यानन्द

जी ने मुक्त (भी० श०) से संन्यास लिया और योगशास्त्रादि पढा इस कारण उक्त महाशय मुक्त को आचार्य-गुरु मानते हैं पर शान्त्यादि गुणों के गौरव से मैं भी उन को गुरु ही मानता हूं लघु कदापि नहीं कह सकता ॥ ऐसे शुभ गुणागार मनुष्यों से थोड़ा उपदेश करने पर भी वा मौन बैठे रहने पर भी उन्माद दशा में सोते हुए संसारी पुरुषों का अधिक सुधार अवश्य हो सकता है। शोक इतना ही है कि इन का शरीर रोगरूप घुण के लग जाने से अतिकृश वा लघु हो रहा है तथापि आत्मिक ज्ञान वा विचार अच्छी दशा का नीरोग है। स्वामि दयानन्द सरस्वती जी में भी इन की भक्ति है। परमात्मा से प्रार्थना है कि इन को वह चिरायु करे और इनके शुद्ध निर्लेप आचार विचार और समदर्शिता की उन्नति देवे तो इन के द्वारा संसारी मनुष्यों का सुधार होवे ॥

और तृतीय सूचना यह है कि अनेक महाशय औषधियों के विषय में पूछा करते हैं सो अन्य दूकान्दारों की अपेक्षा मैं " पं० हीरालाल शर्मा वैद्य डाक बवियाल जि०-अम्बाला " को अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी औषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे। दीन दुःखियों को विना दाम भी औषधियां देंगे। इन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है। "अमृताञ्जन" नामक औषध जो नेत्र रोगों के लिये इन्हों ने बनाई है ग्राहकों को मंगाकर परीक्षा करनी चाहिये ॥

भवन्मित्रो-भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।

सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।

प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १२

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आग्रहायण शुक्ल ता० १ दिसम्बर सन् १८९७ ई०

२६ श्री वा० होरीलाल जी एटा १।)	८७ वा० दुलीचन्द जी पलवल १।)
७७ श्री शिवशरणलाल जी पाटन १।)	८०६ सेठ सोभाराम जी चामरपाटा १।)
२४८ श्री सोहनलाल जी भऊं १।)	१२६२ भाईशंकरतुलसीराम जमालपुर १।)
८४ मन्त्री आर्यसमाज रांची २॥)	११३३ लच्छीराम सिगनेलर दिल्ली १।)
०५ श्री वासुदेवशर्मा हैदरावाद २॥)	१२६३ सरदार चेतसिंह जी छीना १।)
११२ वा० भगवन्तसिंह जी सिहोर १।)	१२६४ रा०रा० विनायकराव मलकापुर १।)
१४ श्री बालाजी शिवप्रसाद मुम्बई २॥)	८४७ पं० सहदेवप्रसाद जी पुखरायां २)
८ मन्त्री आर्यसमाज लखनऊ २॥)	१०८४ वा० शंभुनाथ जी तीतरों १।=)
४८ लाला रामप्रसाद जी जगाधरी १।)	११२३ वासदेव वाजपेयी पुरावली १।)
१३ श्री मिहीलाल जी अहिरवा २)	१०३ कुंजविहारीलाल जी मऊ छीमा १।)
११९८ पं० लालमणि शर्मा एटा १।)	९४६ गंगाधरशर्मा वारावंकी १॥।)
१५ सेठ टीकमदासभगवा० वुरानपुर २॥)	२५७ कुंवर योधसिंह जी रईस सुरायां २॥)
३३ वा० महावीर प्रसाद जी मुजफ्फरपुर १।)	१२६६ तोफाराम जी ताजपुर १।)
३९६ मन्त्री आर्यसमाज गुजरांवाला २॥)	१२७० अवधविहारीलाल गोपामऊ १।)
८३ वा० गदाधरसिंह जी मथुरापुर २॥)	विनापता किन्हीं महाशय के ३) आये हैं
७ वा० सीताराम जी किरांची १।)	जिन महाशय के हों पत्र लिखें॥

ओ३म् समालोचना—

चिकित्सकशङ्करदा जी शास्त्री पते—आर्यभिषक् कार्यालय—नवानागपाड़ा—मुम्बई—ने एक वृहन्निघण्टु पुस्तक छपाया है जिस में वनौषधि आदि के ९२६ शब्दों की व्याख्या अनेक भाषाओं के नामों से दिखायी है। नागरी और गुजराती भाषा में अकारादि क्रम से सूचीपत्र भी दिया है पुस्तक अच्छा प्रतीत होता है। मूल्य डीड रुपया लिखा है सो अधिक ज्ञात होता है। जिन महाशयों को लेना हो उक्त पते पर पत्र भेज कर मगावें।

१—सत्यामृतप्रवाह। २—श्रद्धाप्रकाश। ३—भाग्यवती ४—धर्मसंवाद। ५—सत्यधर्ममुक्तावली। ६—शतोपदेश। ७—नित्यप्रार्थना। ये सात पुस्तक फुल्लौर जि० जालन्धर से—सहतात्र कौर पं० श्रद्धाराम जी स्वर्गवासी की विधवा धर्मपत्नी ने हमारे समीप भेजे हैं। सारग्राही लोगों को इन से भी सारांश का उपदेश मिल सकता है। जिन महाशयों को लेने हों उक्त पते पर पत्र भेज के मगा लेवें। सत्यामृतप्रवाह का मूल्य अन्य पुस्तकापेक्षा ५) [इस का मूल्य दिशम्बर ९७ तक २) किया है सो भी अधिक है] अत्यन्त अधिक है। इन पुस्तकों में भाग्यवती स्त्रीशिक्षा का पुस्तक अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा है जिस का मू० ।॥) है॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अं० ११ पृ० २२० से आगे ब्रह्मचर्य का शेष व्याख्यान ॥

(प्रजापतिर्विराजति) अन्यों के ऊपर अपना अधिकार वा गौरव रखने वाला प्रजापति पुरुष ही जगत् में प्रकाशित प्रतिष्ठित और नामी वा प्रतापी होता है। तथा (विराडिन्द्रोऽभवद्वशी) प्रतापी होने से ही वह विराट् कहाता इसी से सब को वश में रखने वाला होने से इन्द्र कहाता है। क्योंकि संसार के सब कार्य प्रकाश के आधीन हैं इसी से कामों द्वारा इष्ट सिद्ध करने वाले सब प्राणी प्रकाशस्वरूप विराट् नामक इन्द्र के वश में रहते और जब तमोरूप अन्धकार में स्वप्न वा सुषुप्ति के समान प्रलय होता तब सब कार्यसिद्धि भी भूल जाती है इसी से वहां वश में रहना नहीं कह सकते ॥

भा०—जैसे भौतिक प्रकाश के आधीन सब कामों की सिद्धि होती वैसे उस भौतिक प्रकाश का प्रधान भाग चेतन प्रकाश है यह दोनों प्रकार का प्रकाश जिस २ वस्तु में जैसा २ विद्यमान है वैसी ही अधिकता से अन्य उस के वश में रहते हैं। और प्राणियों की रक्षा पालनरूप कर्तव्य प्रजापतिपन से प्रका-

श की सिद्धि होती तथा ब्रह्मचर्य के साधन से प्रजापति होना सम्भव होता और आचार्यरूप से पूज्य वा गुरु आदि होने का हेतु ब्रह्मचर्य का साधन ही है। अभिप्राय यह हुआ कि मन से ही कामासक्ति की उत्पत्ति होती इसी से कामदेव मनजिस कहाता इस कारण मन को वश में किये विना कोई ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। इसी से जगत् में जब जो जितना और जैसा मन को वशीभूत करके ब्रह्मचर्य साधन कर लेता वह उतना और वैसा ही लोक में प्रकाशित, प्रतापी, आचार्य वा पूज्य और अन्यों का उपकारी रक्षक हो जाता है ॥३॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥४॥

अ०—राजा मनोनिग्रहपुरस्सरमुपस्थेन्द्रियनिग्रहेण तपोरूपेण ब्रह्मचर्येण राष्ट्रं विरक्षति विशेषेण रक्षां राजस्य कर्त्तुं शक्नोति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण स्त्रीभ्यो मनोनिरोधेन ब्रह्मचारिणं शिष्यमिच्छते शिष्यं शिक्षयितुं मनः कुरुते स्त्रीष्वासक्तमनाश्च तास्वेव रमते नतु ब्रह्मचारिणं शिक्षयितुमिच्छामपि कर्त्तुं शक्नोति। मनसोऽन्यत्र सक्तत्वात्। अत्रेच्छतीति प्राप्ते व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥

भा०—एतन्मन्त्रस्यैवानुवादो मनुना कृतो यथा—"जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः,, प्रजानां वशे स्थापनमेव राष्ट्रस्य रक्षणम्। विदुरेणापि स्पष्टमुक्तमेतदेव—"यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान्। जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥,, ये च ब्रह्मचर्यव्रतमनुमोदन्ते ते स्वयमपि सापेक्षं ब्रह्मचर्यं सेवमाना अन्येऽपि ब्रह्मचारिणः स्युरितीच्छन्ति, विषयासक्ताः कामिनो

विषयिणश्चौराश्च चौरानिच्छन्ति स्वसदृशानेव सर्वइच्छ
न्तीति नियमउपलभ्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थः-(राजा तपसा ब्रह्मचर्येण राष्ट्रं विरक्षति) मन को वशमें रखने
वक उपस्थेन्द्रिय को मैथुन से रोकने में जो कठिनता होती ऐसे सहन से शरीर
तपाने वाले तपोरूप ब्रह्मचर्य के साधनेसे ही राजा विशेष कर राज्य की र
कर सकता किन्तु जो प्रजा की सुन्दरी स्त्रियों को ताकता उन के साथ विषय भो
चाहता है प्रजा उस के वश में नहीं रहती न वह प्रजा की रक्षाकर सकता
(आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते) और स्त्रियों की ओर से मन
रोकनेरूप ब्रह्मचर्य के साधने से ही आचार्य शिष्य को शिक्षा करने के लि
ब्रह्मचारी बनाना चाहता है किन्तु जिसका मन स्त्रियों के साथ कामभोग में आ
सक्त है उन्हीं में जो रमण करता है वह कभी स्वप्न में भी किन्हीं को ब्रह्मचा
बना के रखने शिक्षा करने की इच्छा नहीं करसकता । क्योंकि उसका मन
न्यत्र फसा हुआ है ब्रह्मचारी को चाहने की इच्छा का ब्रह्मचर्य कारण वा हेतु है

भा०-राजधर्म प्रकरण में मनुजीने इसी मन्त्र का अनुवाद किया है कि-,,जि
न्द्रिय पुरुष ही प्रजा को वश में रखसकता है,, और प्रजा को वश में स्वाधी
अनुकूल रखसकना ही राज्य की रक्षा कहाती है । और यही विषय महाभा
उद्योगपर्व में विदुर जी ने भी स्पष्ट कहा है कि-"जो पुरुष अपने भीतरी
मन के अवान्तर भेदरूप पांच ज्ञानेन्द्रियों को न जीत के अन्य शत्रुओं को ज
तना चाहता है शत्रुलोग उस को दबाकर जीतलेते और वह किसी को जीत
स्वाधीन नहीं करपाता ,, और जो लोग ब्रह्मचर्याश्रमरूप व्रत का अनुष्ठा
करते हैं वे स्वयं भी ब्रह्मचर्य का सेवन जैसा करते वैसा ही अन्यों को ब्रह्मच
बनाना चाहते वा चाहसकते हैं । तथा विषयासक्त कामी लोग कामियों
और चोर चोरों को चाहते हैं अर्थात् अपने सदृशों को ही सब चाहते हैं
एक नियम ही जगत् में होरहा है ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । ब्र
नड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥५॥

अ० —उपस्थनिग्रहरूपेण ब्रह्मचर्येण सह वर्त्तमाना सत्येव कामयमाना कन्या युवानं पतिं विन्दते प्राप्नोति नच पूर्वतो व्यभिचारिण्यन्येन पुंसा संप्रयोगं गच्छन्ती युवानं पतिं स्वीकर्त्तुं प्रयतते। अनड्वान् वृषभो ब्रह्मचर्येण युक्तएव गां गच्छति। नचैकया गवा सद्यःकृतसंप्रयोगो विनष्टब्रह्मचर्य-स्तदानीमन्यां गां गन्तुं शक्नोति। ब्रह्मचर्येण वडवया सं-योगायाकृतमानसएवाश्वो घासं स्वखाद्यं जिगीषति प्राप्तु-मिच्छति। नच वडवया संप्रयोगायोत्सुकोऽश्वो घासं खा-दितुं प्रयतते। यद्वा घासं जिगीषतीत्यनेनाश्वानडुहोरुभ-योरपि सम्बन्धः। उभावप्यश्ववृषभौ मनोनिग्रहरूपब्रह्म-चर्येण युक्तावेव स्वखाद्यं घासं जिगीषतो नतु कामोन्म-त्तमनस्काविति योज्यम्॥

भा०—यद्यपि वेदोक्तप्रकारेण सप्तपद्यवधिकृत्यानन्त-रमेव स्वीकृतभर्त्रा सह कृतेन संप्रयोगेणैव कन्यात्वं नि-वर्त्ततेऽतएव कन्याया अपत्यं कानीनइति संघटते। यदि च पुंसा संयोगमात्रेण कन्यात्वं निवर्त्तेत तर्हि कानीनपदम-साधु स्यात्। तथापि या कृतविवाहा मुहुर्मुहुः र्निशङ्कं पुंसा सह विहरति तदपेक्षया कदाचिदेव या केनापि पुंसा संयुज्यते तस्या उपस्थनिग्रहरूपमधिकमेव ब्रह्मचर्यं स्था-स्यति तस्मादेव सा मध्यमकक्षायां कान्तिमत्यन्वर्था कन्या विज्ञेया। उत्तमकक्षायां या सर्वथैवोपस्थनिग्रहरूपब्रह्मचर्येण दीप्तिमती कन्या तदपेक्षया तु कानीनोत्पादिकाया अपि

कन्यायाः कन्यात्वं व्यापन्नमेव। एवं च ब्रह्मचर्येण कन्येति कथनाद्वेदे ब्रह्मचर्यत्वं कन्यात्वस्थितौ हेतुरिति ध्वनितार्थः। यत्र यादृशं ब्रह्मचर्यं तत्र तादृशं कन्यात्वमिति। कनीदीप्तिं० इति धातुतः कन्यापदं व्युत्पन्नं बोध्यम्। या च वेदशास्त्राध्ययनसन्ध्योपासनादिसुकर्मानुष्ठानेन सहैव सर्वथोपस्थनिग्रहरूपं ब्रह्मचर्यं साधयति तस्यां चोत्तमादप्युत्तमं कन्यात्वं निर्विकल्पं व्यवस्थितं बोध्यम्। नच वेदाध्ययनादौ कन्यानामनधिकारइति शङ्कनीयम्। अशक्तानामेव पुंसामिव तासामप्यनधिकारपक्षस्य चरितार्थत्वात्। ब्रह्मचर्येणाश्वादीनामपि कथंचित्कान्तिमत्त्वमस्तु तन्मानुषीकन्यापेक्षयाऽतिन्यूनमतो योगरूढत्वाच्च कन्यापदस्य नह्यश्वादीनां कन्यात्वापत्तिः शङ्काहीं। कान्तितेजोवृद्धिरक्षाहेतुकं सर्वमाचरणं ब्रह्मचर्यमाभासवर्जम्। अतएव पण्ययोषितां बाह्यमाभासरूपं कान्तिमत्त्वं ब्रह्मचर्यपक्षान्निराकृतं बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः— (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं पतिं विन्दते) उपस्थ इन्द्रिय को विषय भोग से रोकने रूप ब्रह्मचर्य से युक्त हुई ही शोभाकान्ति युक्त कन्या युवा पुरुष को प्राप्त होती है किन्तु पूर्व से व्यभिचारिणी किसी अन्य पुरुष के साथ फसावट रखती संयोग करती हुई युवा पति को स्वीकार करने की चेष्टा नहीं करती (ब्रह्मचर्येणानड्वान्) ब्रह्मचर्य से युक्त हुआ ही बैल गौ के निकट जाता वा जाना चाहता है जिस से गौ गर्भिणी—गाभिन हो सकती है किन्तु किसी गौ के साथ संयोग करने से जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया वह कदापि उसी समय अन्य गौ की इच्छा नहीं कर सकता (अश्वो घासं जिगीषति) किसी घोड़ी को देख कर विषय भोग के लिये जिस के मन में उफान नहीं उठा अर्थात् मन के द्वारा जिस का मुख्य ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं हुआ जिस का मन ठीक दशा में विद्यमान है वह घोड़ा

ऐसे ब्रह्मचर्य से युक्त रहता हुआ ही घास नाम अपने भक्षणीय वस्तु को प्राप्त करना चाहता है किन्तु घोड़ी के साथ संयोग करने के लिये उत्सुक–तुड़ाता हुआ घोड़ा अपने समीप मुख के पास धरे हुए भी दाना घास को कदापि नहीं खाता न खाना चाहता है। अथवा बैल और घोड़ा दोनों ही विषयासक्ति की ओर मन के न जानेरूप ब्रह्मचर्य के विद्यमान रहते ही घास को प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु काम से उन्मत्त हुए नहीं। इस प्रकार (घासं जिगीषति) के साथ दोनों का सम्बन्ध लगाना भी अनुचित नहीं है॥

भा०–यद्यपि वेद में कहे प्रकार सप्तपदी क्रिया होने पश्चात् अपने विवाहित पति के साथ संयोग होने पर ही स्त्री का कन्यापन नष्ट होता है। इसी से अविवाहित स्त्री का अकस्मात् किसी पुरुष के साथ संयोग होने पर जो सन्तान होता है वह कन्यापुत्र—कानीन कहाता है। यदि पुरुष के साथ संयोग होने मात्र से कन्यापन की निवृत्ति मानें तो कानीन पद की सिद्धि नहीं हो सकती तथापि जो विवाहित पुरुष के साथ निस्सन्देह बार २ विहार करती है उस की अपेक्षा जो कभी अकस्मात् किसी पुरुष से संयोग करले और वैसे मन से शुद्ध हो मन जिस का व्यभिचार में न रमता हो उस का उपस्थेन्द्रिय के रोकना रूप ब्रह्मचर्य अधिक अवश्य होगा। इसी कारण वह मध्यम कक्षा में कान्तियुक्त होने से अन्वर्थ कन्या कहावे गी। और जो सर्वथा ही उपस्थनिग्रह रूप ब्रह्मचर्य से तेजस्विनी कन्या हो जिस के मन से भी विषय भोग का संकल्प न हुआ हो वही सर्वोत्तम कक्षा की ब्रह्मचारिणी होगी उस की अपेक्षा तो विना विवाह किये किसी पुरुष से संयोग करके कानीन पुत्र को उत्पन्न करने वाली कन्या का भी कन्यापन खण्डित हुआ अवश्य माना जायगा। इस के अनुसार वेद में कन्यापन की स्थिति में ब्रह्मचर्य की कारणता प्रकट होती है। अर्थात् जिस में जैसा जिस कक्षा का ब्रह्मचर्य होता उस में वैसा ही कान्ति–तेज सहित कन्यापन होता है। और (कनी दीप्तिकान्ति०) धातु से कन्या पद की सिद्धि होने पर यही अर्थ निकल आता है। और जो कन्या वेद वेदाङ्गों के पढ़ने तथा सन्ध्योपासनादि शुभ कर्मों के सेवन के साथ ही उपस्थेन्द्रिय निग्रहरूप ब्रह्मचर्य का भी साधन करती है उस में उत्तम से भी उत्तम [सोने में सुहागा] तेजस्विनीरूप कन्यापन निस्सन्देह ठहरा माना जायगा। [ऐसी स्त्रियां गार्गी मैत्रेयी आदि अत्यन्त प्र-

तिष्ठित ब्रह्मवादिनी हो गयी हैं जिन का नाम अब तक बड़े गौरव से लिया जाता है। महाभारत में लिखा है कि "अत्र शर्म्मा शिवा नाम ब्राह्मणी वेदपारगा" यहां एक शिवा शर्म्मा, नामवाली वेद के पार पहुंची वेद का गुह्याशयरूप मर्म जानने वाली ब्राह्मणी रहती थी। इस से सिद्ध है कि स्त्रियां भी वेदपारदर्शिनी होती थीं और हो सकती हैं] यदि कोई शङ्का करे कि कन्याओं को वेदाध्ययनादि कामों का अधिकार नहीं, तो उत्तर यह होगा कि जैसे जिन २ वेदाध्ययनादि कामों के करने में जो २ असमर्थ हैं, कर ही नहीं सकते ऐसे पुरुषों को भी वेदाध्ययनादि का अधिकार नहीं है वैसे असमर्थ स्त्रियों को भी अधिकार नहीं। इस प्रकार अनधिकार पक्ष असमर्थों में चरितार्थ हो जाने से समर्थों के अधिकार का शास्त्र से कदापि निषेध नहीं आ सकता। ब्रह्मचर्य सेवन से घोड़े आदि में भी कान्तियुक्त होना रूप कन्यापन आ सकता है। तथापि मानुषी कन्याओं की अपेक्षा पुरुषादि सभी में अतिन्यून कान्ति होने और मनुष्य की बालिकाओं में कन्यापद के योगरूढ़ होने से मनुष्य पुरुष तथा गौ घोड़ा आदि का नाम कन्या नहीं माना जाता। कान्ति और तेज की वृद्धि तथा रक्षा का हेतु सभी आचरण आभास नाम दिखावटी बनावटी ऊपरी कान्ति बढ़ाने के उद्योग को छोड़कर ब्रह्मचर्य कहाता वा माना जाता है। इसी कारण वेश्याओं का बनावटी दिखा कर ठगने के लिये किया कान्ति बढ़ाने का उद्योग ब्रह्मचर्य से पृथक् किया जानो ॥५॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सह ऋतुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ ६ । ७ ॥

अ०—ओषधयो यवाद्या भूतं च भव्यं चातीतानागत कालावहोरात्रे प्रसिद्धे तमःप्रकाशप्रधाने वनस्पतिर्वटादिर्व-

सन्तादिऋतुभिः सह वर्त्तमानः संवत्सरस्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः स्वीयमहत्त्वरूपस्य ब्रह्मणश्चरणशीला धारकाः स्वतत्त्वात्यागिनो जाता जायन्ते भविष्यन्ति च। पार्थिवाः पृथिव्यां विदिताः पाषाणादयो दिव्या दिवि सूर्यादिलोके भवा पदार्था य आरण्या ग्राम्याश्च पशवो ये पश्यन्ति विषयानिन्द्रियैराददते येऽपक्षाः पक्षरहिताः सर्पनकुलादयः पक्षिणश्च पक्षसहिताः शुकवकादयस्ते सर्वेऽपि प्राणभृतः स्वतत्त्वरूपस्य महतो ब्रह्मणश्चरणशीला अत्यागिनो जाता जायन्ते जनिष्यन्ते च ॥

भा० — अत्रौषध्यादिपदान्युपलक्षणार्थानि बोध्यानि तेन ब्रह्मचर्यरक्षणमप्येको नियमः प्राकृतएव चराचरसंसारे वेदेन प्रदर्श्यते। नहि किमपि स्थूलं सूक्ष्मं वा वस्तु सर्गेऽस्मिन् विद्यते यत्र ब्रह्मचर्यं स्वतत्त्वरक्षणरूपं नोपलभ्येत। उप्ता यवादयो भूमिगतं सारभूतं ब्रह्मपदवाच्यं महत्त्वमाददते तेन वर्धन्ते पुष्यन्ति च नच स्वस्य वृद्धिपुष्टिकाले समुपादीयमानं तत्त्वं व्ययीकुर्वन्त्यपितु यत्नेन स्वात्मन्येव रक्षयन्ति। यदि च स्वतत्त्वं वृद्धिकाले त्यजेयुस्तर्हि फलभूतानि यवाद्यन्नानि मनुष्यादिजीवनहेतूनि तेषु नैव निष्पद्येरन् निष्पद्यन्ते च तेन स्पष्टमवसेयं यवाद्योषधयो ब्रह्मचारिण्यो भूत्वैव स्वायुः सम्यग्व्यतीत्य परोपकारं स्वफलेनान्नेन विदधतीति। अतीतकालस्य तत्त्वं भूतत्वमेव स्वत्वस्य दाढ्यनोपादानं न कदापि हानिमिदमेव तस्य ब्रह्म-

चर्यम्। नह्यतीतः कालः कदापि पुनरायाति यदि भूतकालोऽनागतत्वं वर्त्तमानत्वं वाप्नुयात्तदा ब्रह्मचर्य्यं जह्यात्। एवमनागतकालोऽपि संवत्सरानन्तरं भावी नाद्य भवति। एवमहोरात्रयोरपि योज्यम्—नार्द्धरात्रावसरे प्रातर्भवति नच मध्याह्नकाले सूर्योऽस्तमेति। यथा दिवसः स्वावधिकाले न कदापि स्वत्त्वं जहाति तथैव रात्रिरपि स्वावधिकाले न कदाचिदपि ह्रासमापद्यते। वटादयो वनस्पतयः पुष्पाविर्भावमन्तरेण फलवन्तो ब्रह्मचर्यमुक्तविधं कृत्वैव महान्तः स्थूलाः सन्तश्छायादिना परोपकारं विदधति। यदि दृढतया स्वत्वरक्षणरूपं ब्रह्मचर्यं वनस्पतिषु न स्यान्नहि तदा वटादीनामेवं स्थूलं पुष्टमतिगह्वरं पार्थिवजलमाकृष्य सूर्यायार्पकं काष्ठादिना जगदुपकारकं च वपुः स्यात्। भवति चैवं तस्माद् ब्रह्मचारित्वमेव तादृशभावस्य कारणम्। एवं संवत्सरेऽपि न कदापि दक्षिणायनमध्य उत्तरायणमायाति। यदि द्वादशमासिको वत्सरः स्वत्वं जह्यान्नवमासिकोऽष्टादशमासिको वा भवेत्तदाऽब्रह्मचारित्वं तस्य सम्भाव्येत तथा च सति लोकयात्राया महद् वैप्लव्यं स्यात्। तथर्त्तवोऽपि ब्रह्मचर्यं न कदापि जहति। यदि जह्युस्तर्हि तत्तदृतुसाध्यानि संसारस्थितिहेतूनि वृष्ट्यादिकार्याण्यपि यथाकालं न स्युस्तदा च प्रलयावसरः सद्यश्चायात्। नचैवं जायतेऽपितु वसन्तानन्तरमेव ग्रीष्मो ग्रीष्मानन्तरमेव च वर्षाः क्रमेणैव लोकयात्रासिद्ध्यर्थं भवन्ति तस्मा-

स्तूनामपि सुस्थिरमेव ब्रह्मचारित्वम् । पार्थिवाः पाषाणा दीर्घकालादतिशीतलजले पतिता अपि नह्याग्नेयरूपं स्वत्वं कदापि जहति । नहि कदाप्याप्याः सोमतत्त्वप्रधाना वा भवन्ति । अतएव येष्वश्मस्वितरेतरताडनेनायसा वा ताडनेनाऽग्निः प्रादुर्भूयते तेषु बहुकालाज्जलपतितेषु क्लिन्नेष्वपि ताडनेन तथैवाग्निर्व्यज्यते । पाषाणदाहजन्यं चूर्णं च प्रतिक्षणं क्लिन्नं सदपि दाहकरं छेदकं शोषकं च भवत्येव न कदापि स्वत्वं जहाति । एवं सर्वएव पार्थिवा आप्यास्तैजसा वायवीयाश्च लोकलोकान्तरस्थाः पदार्था न कदापि स्वभावं जहत्यपितु रक्षयन्त्येवेदमेव तेषां ब्रह्मचर्यम् । तत्तद्वस्तूनां स्वभावस्यानपायित्वरूपब्रह्मचर्यसद्भावादेव लोकस्थितिः । यदि जलं सर्वत्र दाहकं सम्पद्येताग्निश्च शैत्यमाप्नुयात्तदा न कस्यापि जीवनादिकं स्थितिं लभेत । एवं तिर्यग्जन्तवोऽपि स्वत्वात्यागरूपं ब्रह्मचर्यं रक्षयन्त्येव पृथिवीतः स्वखाद्यं चरन्ति सारमादायासारं मलं त्यजन्ति सारं च शुक्रादिरूपेण परिणतिमापन्नं स्वात्मनि गोपयन्ति तेनैव सिंहव्याघ्रवराहादयोऽतिबलिनः सर्वस्य दृष्टिपथमागच्छन्त्येव । किं बहुना ये चरा अचरा वा यादृशं स्वस्थितिहेतुकं सारं देहे धारयन्ति तादृश्येव तेषां सुखपूर्विका जीवनस्थितिर्यै च यादृशं सारमधिकं स्वदेहान्निस्सारयन्ति तादृशमेव तज्जीवनं व्याहन्यते रोगादिना दुःखं च भुञ्जतआयुर्व्यतियन्ति च । मनुष्येण तु विशेषतः स्थावर-

तिर्यगपेक्षयाऽधिकज्ञानवता सता ब्रह्मचर्यं धार्यं तद्विपरीतं दृश्यते चरापेक्षयाऽचरेषु ब्रह्मचर्याधिक्यं मानुषापेक्षया पश्वादिषु चाधिकम्। मानवेषु च बुद्धिमच्छिक्षितापेक्षया मूर्खेष्वधिकं शुक्रनिरोधरूपं ब्रह्मचर्यं स्पष्टमेव प्रतीयते। अज्ञानं–मिथ्याज्ञानमविद्या विपरीतो बोधोऽतएव पश्वादिषु पश्वादिवन्मूर्खमनुष्येषु चाज्ञानमिति वक्तुं न शक्यतेऽपितु पश्वादयो मूढाः प्रसुप्ताइव। ये च मनुष्येषु शिक्षितकोटिप्रविष्टास्तेष्वेवाज्ञानं प्राबल्येन व्यवस्थितं तच्च ज्ञानाभासपदेनापि वक्तुं शक्यते। तएव शिक्षिताविपरीतबोधमाश्रित्य विषयभोगाय प्राबल्येन धावन्तस्तत्र सुखं मन्यमानाः स्वजीवनमूलं ब्रह्मचर्यं नाशयन्ति। स्वयेतरया वेश्यादिकया वा सह शरीरतत्त्वं शुक्र मधिकतरं नाशयितुं प्रवृत्ता दृश्यन्ते॥६॥

भावार्थः–(ओषधयो भूतभव्यम्) जो आदि ओषधियां, भूतकाल, भविष्य आनेवाला समय (अहोरात्रे वनस्पतिः) प्रकाशरूप दिन, अन्धकार प्रधानरात्रि वट–बरगद आदि वनस्पति नाम के वृक्ष (संवत्सरः सह ऋतुभिः) और वसन्तादि ऋतुओं सहित संवत्सर–वर्ष (ते जाता ब्रह्मचारिणः) वे सब ब्रह्म नाम अपने २ महत्त्व को चरने नाम धारण करने –पकड़े रहनेवाले अर्थात् अपने सत्त्व को न छोड़ने वाले होते हैं हो चुके हैं और होंगे (पार्थिवा दिव्याः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पत्थर आदि पदार्थ और सूर्यादि लोकों में विद्यमान पदार्थ (आरण्या ग्राम्याश्च ये पशवः) हिरन आदि वन के और गौ घोड़ादि गांव के जो पशु नाम इन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण करने में आसक्त [किन्तु भीतरी मनन–सदसद्विवेक में जिनकी प्रवृत्ति नहीं ऐसे मनुष्य भी चाहें एकान्त वनादि में रहते हों वा ग्राम नगरों में रहते हों] (अपक्षाः पक्षिणश्च ये) तथा जो पंखों से रहित सांप न्योलादि और पंखोंवाले बगुला सुआ वा सुग्गा आदि (ते जाता ब्रह्मचारिणः) वे सभी प्राणधारी अपने तत्त्वरूप महत्त्व को धारण करने, न त्या-

गने वाले होने से ब्रह्मचारी होते हैं होते थे और होंगे। अर्थात् नीची कक्षा के प्राणी भी अपने आपे से बाहर नहीं होते॥

भा०—इन दो मन्त्रों में ओषधि आदि पद उपलक्षणार्थ पढ़े हैं। जिससे संसार के चर वा अचर सब पदार्थों में भी ब्रह्मचर्य रहना एक प्राकृत नियम वेद से दिखाया गया है। इस सृष्टि में स्थूल वा सूक्ष्म कोई भी ऐसा वस्तु नहीं है जिस में तत्त्व की रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्य किसी न किसी रूप से विद्यमान न हो। बोई हुई जौ आदि ओषधियां, भूमि में विद्यमान सारभूत ब्रह्मनाम महत्त्व को अपने में लेतीं नाम चरतीं उसीसे वे बढ़तीं और पुष्ट होतीं हैं वे अपने बढ़ने तथा पुष्ट होने के समय में ग्रहण किये पार्थिव अंश को फूल फल लगने द्वारा कदापि नष्ट नहीं करतीं किन्तु फूल फल लगने की शक्ति को नियत समय तक अपने में ही प्रयत्न से रखती हैं। यदि वे अपने बढ़ने के समय में अपने तत्त्व को त्यागें बीच में फूल फल लगने लगें तो उन के फलरूप जौ आदि अन्न मनुष्यों के जीवन के हेतु ठीक कदापि न हों परन्तु होते हैं। इससे स्पष्ट ही निश्चय जानो कि जौ आदि ओषधियां ब्रह्मचारिणी हो कर ही अपने आयु को सम्यक् रीति से पूरा करती हुई अपने फलों से परोपकार करती हैं। बीते हुए काल का तत्त्व बीतजाना ही है। अपने तत्त्व का दृढ़ता से ग्रहण करना, कभी न छोड़ना यही उसका ब्रह्मचर्य है। हो चुका समय फिर लौट के नहीं आता यदि भूतकाल भविष्यत् वा वर्त्तमानभाव को प्राप्त करले तो उसका भी ब्रह्मचर्य नष्ट हो ही जावे। इसी प्रकार एक वर्ष पीछे आने वाला भविष्यत् काल आज नहीं आजाता, यदि आजाय तो अपने महत्त्व को छोड़ने वाला होने से व्यभिचारी कहावे ब्रह्मचारी न रहे। इसी प्रकार आधी रात के समय कभी सूर्य का उदय—प्रातःकाल नहीं होता और न दोपहर के समय कभी सूर्य का अस्त—सन्ध्या होती है अर्थात् दिन अपने अवधि के समय कभी अपने स्वत्त्व को नहीं छोड़ता वैसे रात्रि भी अपने नियत समय तक स्वत्त्व को कदापि नहीं त्यागती [पर अत्यन्त शोक ! है कि मनुष्य मननशील होने पर भी जड़ कालादि से भी गया बीता बन कर चौबीस वर्ष तक भी अखण्ड ब्रह्मचर्य को हठ पूर्वक धारण नहीं करता, कच्ची दशा में हीं अपने स्वत्त्व महत्त्व को खण्डित कर स्वयं खण्डित, दागी कलङ्कित हो जाता है इसी से जीवन भर उसका सुखी रह सकना असम्भव हो जाता है] जिन में फूल लगे बिना ही फल लगते

ऐसे वटादि वनस्पति वृक्ष भी उक्त प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करके ही बड़े मोटे हो कर छायादि द्वारा अन्य प्राणियों का उपकार करते हैं । यदि स्वत्व की रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्य वनस्पतियों में दृढ़ता के साथ न हो, तो अत्यन्त गहरे पृथिवी के भीतर से असंख्य जल अपनी जड़ों द्वारा खेंचकर पहुंचाने वाला और लकड़ी वा छायादि से जगत् का उपकारक वटादि का ऐसा पुष्ट और स्थूल शरीर—स्वरूप कदापि नहीं हो सकता । और होता है. इस से वैसी दृढ़ता का कारण ब्रह्मचर्य ही है । इसी प्रकार संवत्सर में भी दक्षिणायन के स्थान में उत्तराय कभी नहीं आता । यदि बारह महीने में पूराहोने वाला संवत्सर अपने स्वत्व को छोड़दे तो कभी नव महीने का और कभी १५ वा १८ महिने का वर्ष होने लगे तो उसका व्यभिचारी होना कहाजाय पर ऐसा होने पर लोगों के कार्य व्यवहार सभी बिगड़ जावें । और वसन्तादि ऋतु भी अपने ब्रह्मचर्य को कदापि नहीं छोड़ते । यदि छोड़ें तो उस २ ऋतु से सिद्ध होने वाले संसारस्थिति के हेतु वर्षादि सम्बन्धी कार्यों का कोई नियत काल न रहने से प्रलय का समय समीप आ जावे । जैसे वर्षा के अभाव में महा भयंकर दुर्भिक्ष हो जाता है । परन्तु प्राय ऐसा नहीं होता किन्तु वसन्त के पीछे ग्रीष्म और उस के पीछे वर्षा क्रमसे ह हुआ करती है ऐसे ही ब्रह्मचर्य के प्राकृत नियमों से संसार की स्थिति हो रह है [पर मनुष्यों ने इन प्राकृत नियमों से भी विरुद्ध चल के अपनी स्थिति स्पष्ट ही बाधा डाल ली है] इस से ऋतुओं का भी ब्रह्मचारिणी होना स्प ही सिद्ध है । पत्थर बहुत काल से अत्यन्त शीतल जल में पड़ेरहने पर भ अपने अग्नितत्त्व प्रधान होने को कभी नहीं त्यागते न कभी आप्य वा सो तत्त्वप्रधान हो जाते हैं । इसी कारण जिन पत्थरों में परस्पर ताड़न से व लोहे के द्वारा खोदने ताड़ने से अग्नि निकलता उन में बहुत काल जल में प रहने से भीगे गीले हुओं में भी वैसे ही अग्नि प्रकट होता है । पत्थर जला कर जो चूना बनता उस को हरवार भिगोया रखने पर भी खाने पर दा छेदन तथा शोषणरूप अपने आग्नेय गुणों को कदापि नहीं छोड़ता । इसी प्र कार लोक लोकान्तर के सभी पार्थिव आप्य तैजस और वायवीय पदार्थ अपने २ स्वभाव को कदापि नहीं छोड़ते किन्तु दृढ़ता से पकड़े ही रहते हैं । यहं उन का ब्रह्मचर्य है । और उन २ वस्तुओं के स्वभाव के अविनाशी अचल होनेरू

ब्रह्मचर्य के विद्यमान रहनेसे ही सब लोकों की स्थिति हो रही है। यदि जल सर्वत्र दाह करने वाला और अग्नि शीतल हो जावे तो किसी का क्षणमात्र भी जीवन नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार पश्वादि तिर्य्यग्जन्तु भी अपने स्वत्व के न छोड़नेरूप ब्रह्मचर्य को रखते ही हैं। पश्वादि पृथिवी से चारा चरते उस का सार अपने भीतर रखलेते और असार मल को त्यागदेते तथा उस वीर्यादिरूप बनेहुए सारांश को अपने में रक्षित रखते हैं। इसी से सिंह व्याघ्र और शूकर आदि अत्यन्त बलवान् सब को दीख पड़ते हैं। अन्त्य में अधिक न दिखाकर केवल यही जताना है कि जो चर वा अचर प्राणि वा अप्राणी अपनी स्थिति के हेतु जैसे उत्तम और अधिक सार को देह में धारण करते हैं वैसी ही उन २ की सुख पूर्वक जीवन वा अच्छी दशा में विद्यमानता रहती है। और जो चर वा अचर जैसा वा जितना अधिक सार अपने में से निकालते रहते हैं वैसी ही बाधा उनके स्थिर रहने में होती जाती है। तथा वे रोगादि से युक्त रहते हुए दुःख भोगते और जैसे तैसे आयु विताते हैं। और स्थावर वृक्षादि तथा पश्वादि की अपेक्षा मनुष्य अधिक समझ रखता है। इस कारण उस को अपने सार वा तत्त्व की रक्षा अधिक करनी चाहिये पर वह पश्वादि से भी गया बीता दीखता है। सब से अधिक दृढ़ ब्रह्मचर्य स्थावरों में दीखता जिन में नियत समय से पूर्व कदापि फल फूल नहीं लगते, उन से कम पश्वादि तिर्य्योनियों में ब्रह्मचर्य है पर पश्वादि से भी मनुष्य में अत्यन्त न्यून है। और मनुष्यों में परस्पर भी पढ़े लिखे शिक्षितों की अपेक्षा मूर्ख ग्रामीण अशिक्षितों में स्पष्ट ही ब्रह्मचर्य अधिक होता है। इस का मुख्य कारण यह है कि—मिथ्याज्ञान—अज्ञान—अविद्या—उलटी समझ, शिक्षित मनुष्यों में ही अधिक निवास करती है। यद्यपि इन शिक्षितों में किन्हीं अंशों का ज्ञान भी पश्वादि से अधिक होता है पर ज्ञान से अज्ञान प्रबल अवश्य रहता है और जिन किन्हीं पठितों में ज्ञान प्रबल हो जाता है। वे ही उत्तम ज्ञानियों की कोटि में आजाते हैं पर अज्ञानी सदा अधिक रहते हैं। और नीचे २ पश्वादि में ज्ञान अज्ञान विद्या अविद्या दोनों ही कम होती गयी हैं। इसी से भित्तियों को वा वृक्षादि को तथा पश्वादि को भी अज्ञानी नहीं कहा जाता इसी सिद्धान्त के अनुसार यह कहा गया है कि—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१॥

जो पश्वादि वा अतिमूर्ख मनुष्य, और जो पूरे ज्ञानी वेदतत्त्वदर्शी पुरुष हैं येही दोनों जगत् में सुखी हैं और पश्वादि की अपेक्षा अधिक समझ रखते हुए भी वस्तुतः अज्ञानी कहाने योग्य विषयभोगों में आसक्त लोभी, लालची, धर्म के मर्म को न जानने वाले ज्ञानलवदुर्विदग्ध (लेशमात्र समझने की शक्ति से दूषित) शास्त्रों को वाणीमात्र से पढ़ते पढ़ाते भी बीच धार में पडे मनुष्य सदा दुःखी ही रहते हैं। इस कारण तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रबल उद्योग करना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। ये शिक्षित लोग ही विपरीतज्ञान से अपने को पण्डित वा विचारशील मानते और विषय भोगों में सुख मानते हुए (विषयसुखं चाविद्येति–योगभाष्ये) अपने जीवन के मूल ब्रह्मचर्य को अधिक नष्ट करते हैं। शोचिये तो सही कि–हम सब से अधिक जीवन को चाहते और सब से अधिक मृत्यु से डरते हैं यह निश्चय अपने २ मन में सब जानलेंगे परन्तु जीवन के नाशक और मृत्यु को शीघ्र बुलाने वाले कामभोग को भी अत्यन्त चाहते हैं। तब क्या ठहरा ? कि विष खाना अच्छा मानते हुए भी जीवन को चाहते हैं ये दोनों इष्ट सिद्ध होने असम्भव हैं अर्थात् इस बात की सिद्धि वेदादिशास्त्रों के पुष्ट प्रमाणों और अखण्डनीय युक्तियों से हो जाने में कोई महाशय लेशमात्र भी सन्देह न मानें कि ब्रह्मचर्य जीवित रहने का और कामासक्ति मृत्यु का कारण अवश्य है। ऐतरेयोपनिषद् में स्पष्ट ही लिखा है कि "मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्„ मृत्यु अपान का रूप धारण करके नाभिस्थल में प्रविष्ट हुआ। वह मृत्यु अपानसम्बन्धी स्त्रीसम्भोग से पुरुषदेह में और पुरुष का सङ्ग करने से स्त्री के देह में दिन २ अपना बल बढ़ाता शरीर में दखल जमाता जाता है। तब हम को अत्यन्त उचित है कि यदि मृत्यु से डरते हैं तो जितना अधिक सम्भव हो उतना ही विषयभोग की वासना से मन को खींचते रहें ॥ ॥ ६। ७॥

अब हम इस ब्रह्मचर्य के लेखके उपसंहार में पाठक महाशयों से निवेदन करते हैं कि इस वेदाशयरूप ब्रह्मचर्य के व्याख्यान में कहीं २ भद्दापन, तुच्छता, भ्रान्ति, अविद्या वा भूल प्रतीत हो तो निस्सन्देह मानलीजिये कि समझने पढ़ने तथा लिखने वाले सभी मनुष्य अल्पज्ञ हैं भद्दापन तुच्छतादि दोष लिखने वा समझने वालोंमें से ही किसी का अवश्य होगा किन्तु सर्वज्ञ की विद्या वेद का

आशय सदा सर्वथा ही निर्दोष है। द्वितीय–यदि इस लेख में कोई बड़ा गौरव अतिश्रेष्ठता उत्तमता आप को प्रतीत हो तो निस्सन्देह वह वेद की तथा वेदोपदेशक सर्वज्ञ ईश्वर की प्रशंसा मानिये और उस महत्त्व को चरने का उद्योग कीजिये जिस से ब्रह्मचारी बन के भीष्मादि के समान मृत्यु को पराजित कर सकने का साहस प्रकट हो।

सब लेख का सारांश यह है कि मनुष्यादि प्राणियों को मृत्यु के विकराल भय से बचने के लिये यदि कोई सर्वोपरि प्रबल उपाय ठहर सकता है [जो कदाचित् लेखक की अल्पज्ञता के कारण इस पूर्व लेख से ठीक सिद्ध न हुआ हो] जिस से और बड़ा जीवन का रक्षक तथा मृत्यु से बचाने वाला उपाय कोई कभी सिद्ध न करसके निस्सन्देह मान लीजिये कि उसी उपाय का नाम वेद ने ब्रह्मचर्य रक्खा है। जो वायु के समान वेगवाले मन को जैसा अधिक रोकसकता है वह वैसाही अधिक मृत्यु को रोकसकता है क्योंकि शरीर से वाहर मानस शक्ति का निकल जाना वा पराक्रमरूप चलने फिरने आदि की शक्ति का न रहना ही मरण कहाता है। मन, वाणी और शरीर तीनों का रोकना ब्रह्मचर्य है परन्तु इन उक्त तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्यों में विषयों की वासना से मन का रुकना ही अति कठिन और यही मुख्य ब्रह्मचर्य है क्योंकि मन के रुकते ही वाणी और शरीर भी विषयभोग से स्वयं रुक जाते हैं। "कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः" इस का भी आशय यही है कि मन को वशीभूत करना कठिन होने से ही अच्छे २ विद्वान् भी कामदेव को वश में नहीं कर पाते। हमारे पाठकों में से कदाचित् किन्हीं महाशयों को शङ्का हो कि–मन को वशी करने रूप मुख्य ब्रह्मचर्य का उपाय क्या है? तो संक्षेप से उत्तर यह है कि सब शास्त्रों सब लेखों वा सब जगत् में उपाय भी व्याप्त हैं इसी से जिस विषय की ओर जिस का अधिक ध्यान होता उस को वह सर्वत्र दीखने लगता है। इसी के अनुसार मेरे इस लेख में भी ध्यान देने पर उपाय सूझ पड़ेंगे। यदि लड़के कम से कम चौवीश वर्ष तक भी ब्रह्मचारी रहने के लिये पूरी प्रतिज्ञा करें और उन के रक्षक माता पिता आचार्यादि भी इस पर अधिक ध्यान देवें तो वे आगे २ अवश्य ही अत्यन्त सुखी रहेंगे यह निस्सन्देह ही है। हम मृत्यु वा यमराज का एक व्याख्यान वेद से लेकर आगे लिखेंगे उस से भी इस ब्रह्मचर्य की पुष्टि होगी। अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५ में २६ मन्त्र हैं उन में से लेख अधिक न बढ़े इस कारण यहां केवल उदाहरणमात्र ७ सात मन्त्रों का अर्थ हमने किया है॥ इति॥

राज–भक्ति ॥

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसमाज के भावी कर्त्तव्य के अन्तर्गत पीछे इसी भाग ८ के अं० १० में राजा प्रजा दोनों से सम्बन्ध रखने वाला एक लेख लिखा गया था। जिस का अधिक भाग प्रजावर्गस्थ आर्यों से सम्बन्धरखने वाला होने पर भी राजवर्ग की ओर भी कुछ लिखा ही गया था। पर अब इस लेख का केवल प्रजास्थ आर्यों से ही सम्बन्ध होगा। चाहे यों मान लो कि जहां राजा प्रजा दोनों में दोष हों तो हम शास्त्र के वा धर्म के अनुसार प्रजा का दोष अधिक मानेंगे और सिद्ध करेंगे इस लिये प्रजा के लोगों को सर्वथा ही उचित है कि अपने अभ्युदय नाम संसारी सुखों के लिये तन मन धन से सच्चे राजभक्त राजा के विश्वास पात्र बनने का पूरा उद्योग करें। संसार में मनुष्य का यही परम कर्त्तव्य है जो कोई इस कर्त्तव्य से चूके हैं वा चूकेंगे वे अपने पग में आप ही कुल्हाड़ी मार के स्वयं दुःखी हुए हैं और होंगे। इस लिये आर्यों को अत्यन्त उचित है कि वर्त्तमान गवर्नमेण्ट अंग्रेजी राज्य के साथ जिन २ के हृदय में जितना लेशमात्र भी कल्मष दुर्भावहो उसको जड़मूल से शीघ्र ही निकाल कर बाहर फेंक देवें इसी के द्वारा आर्यों की उन्नति वा सुख हो सकेगा भीतरी कल्मष–पूर्ण अधर्म है जिस का नाम ईर्ष्या मत्सरतादि रक्खा जायगा। क्या सब से अधिक प्रतिष्ठित मानवधर्मशास्त्र प्रजा के लिये राजा के साथ जैसा वर्त्ताव करने की आज्ञा देता है उस की ओर प्रजा के आर्यों का ध्यान नहीं है ? ॥

अराजकेहिलोकेस्मिन् सर्वतोविद्रुतेभयात् ।
रक्षार्थमस्यसर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणा मग्नेश्चवरुणस्यच ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्यशाश्वतीः ॥
यस्मादेषांसुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितोनृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानितेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषिचमनांसिच ।
नचैनंभुविशक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥

सोऽग्निर्भवतिवायुश्च सोऽर्कःसोमःसधर्मराट् ।
सकुवेरःसवरुणः समहेन्द्रःप्रभावतः ॥
बालोऽपिनावमन्तव्यो मनुष्यइतिभूमिपः ।
महतीदेवताह्येषा नररूपेणतिष्ठति ॥
एकमेवदहत्यग्निर् नरंदुरुपसर्पिणम् ।
कुलंदहतिराजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥
कार्यंसोऽवेक्ष्यशक्तिंच देशकालौचतत्त्वतः ।
कुरुतेधर्मसिध्यर्थं विश्वरूपंपुनःपुनः ॥
यस्यप्रसादेपद्मश्रीर् विजयश्चपराक्रमे ।
मृत्युश्चवसतिक्रोधे सर्वतेजोमयोहिसः ॥
तंयस्तुद्वेष्टिसम्मोहात् सविनश्यत्यसंशयम् ।
तस्यह्याशुविनाशाय राजाप्रकुरुतेमनः ॥
तस्माद्धर्मंयमिष्टेषु संव्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टंचाप्यनिष्टेषु तन्धर्मन्नविचालयेत् ॥३-१३॥ अ०७

अर्थ—जिस काल में पृथिवी पर वा किसी देश में कोई राजा न हो तो बलवानों से दबाई प्रजा सब ओर से भयभीत हो कर अत्यन्त पीडित होती है, स्वस्थ शान्ति दशा में होने वाला सुख कोशों भाग जाता है इसी लिये परमात्मा ने बलवानों से भी बलवान् सब को ठीक मर्यादा में रखने वाले राजा को रचा-बनाया है। बनाने का प्रयोजन यहां यह नहीं कि उस के शरीर को राजा ने बनाया किन्तु उसके शरीर में ऐसे तत्त्वों का संयोग पूर्व कर्मानुसार किया कि जिससे वह राजा बन जावे, सब को वशीभूत करने की योग्यता वाला हो। ऐसी योग्यता वाला पुरुष ही बलवान् दस्यु आदि को दबाकर निर्बल प्रजा की रक्षा कर सकता है॥ इन्द्र—विजुली। अनिल—वायु। यम—मृत्यु। सूर्य। अग्नि। वरुण—जल। चन्द्रमा और कुवेर नाम सोमतत्त्व इन आठ लोक पाल नामक देवताओं के सनातन शुद्धांशों को लेकर राजा बनाया गया है॥

जिस कारण इन मुख्य देवताओं के शुद्धांशों से राजा बनाया गया है इसी कारण सब प्राणियों को अपने तेज से दबा सकता है [वेद के सिद्धान्तानुसार यद्यपि मुख्य देवता (तिस्र एव देवताइति नैरुक्ताः) तीन ही हैं १-अग्नि । २-वायु । ३-सूर्य । तथापि तीन के सैकड़ों सहस्रों वा तेंतीश अवान्तर भेद होते हैं उन बहुतों की अपेक्षा उक्त लोकपाल रूप आठ देवता मुख्य माने जाते हैं यद्यपि इन्द्रादि आठ मुख्य देवताओं के अंश सब पदार्थों, सब प्राणियों और सब मनुष्यों में किसी न किसी नाम रूप से माने जावेंगे क्योंकि अग्नि आदि तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में उसी २ के रूप से व्याप्त हैं "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादि प्रमाणों से भी अग्नि आदि की व्याप्ति सिद्ध है तथापि जैसे सर्वत्र व्याप्त होने पर भी जहां अग्नि आदि की अधिक प्रधानता है वहां खास कर अग्नि आदि माने जाते हैं । जल में भी अग्नि और अग्नि में भी जल है तथापि न जल का नाम अग्नि और न अग्नि का नाम जल कहाता है तथा जैसे मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणियों में किसी न किसी प्रकार की बुद्धि अवश्य है पर सब प्राणी बुद्धिमान् नहीं कहे जाते किन्तु जिन में प्रशस्त प्रबल वा अधिकतर बुद्धि है वेही बुद्धिमान् कहाते हैं । वैसे यहां भी अग्नि आदि सब प्राणियों में हैं पर राजा में अन्यों की अपेक्षा प्रशस्त प्रबल वा अधिकतर अग्नि आदि के शुद्धांश होते हैं इस कारण इन्द्रादि के अंशों से राजा की रचना मानी गयी है । वा यों कहो कि अन्यों की अपेक्षा जिस मनुष्य में जैसे और जितने इन्द्रादि के शुद्धांश अधिक होते वह वैसा ही प्रतापी राजा होसकता और प्रजा को वशीभूत रख सकता है] ॥ राजा की ओर देखने वालों के नेत्रों और मनों को सूर्य के समान राजा तपाता है इसी कारण टकी लगाकर चन्द्रमा के समान राजा को कोई नहीं देख सकता । देखते समय चक्षु के द्वारा ही मन भी ताप पहुंचता है [यद्यपि आठ लोकपाल देवताओं के शुद्धांशों से राजा व होना पूर्व दिखाया है तथापि सब से अधिक आदित्य नाम सूर्य का प्रेरणारू गुण राजा में प्रधान माना जायगा [जिस का नाम राजा में हुकूमत-रक्खा जायगा] इसी का नाम भीतरी वल वा साहस है । " स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥ अथर्व० १३ । ३ । १३ " वह रोहित द्युलोक के मध्य सूर्यरूप से तपता इसी से इन्द्र है । और "इन्द्रं क्षत्रम् ॥ अथर्व० १५ । २ । १० । ५" क्षत्र नाम क्षत्रियपन इन्द्र में प्रवेश करता है जिस में तेज और जितना क्षत्रियपन है व

उसी कक्षा का इन्द्र माना जायगा और क्षत्रियपन का ही नाम राजा होना है। इस से राजा में अन्यों की अपेक्षा क्षत्रियपन की प्रधानता होने से उस इन्द्रपन का सूर्य का प्रेरणांश गुण सब तत्त्वों से अधिक मानना युक्ति प्रमाणों से सिद्ध अवश्य ही है] जिस कारण राजा में सूर्यांश की प्रधानता अन्य तत्त्वापेक्षा होती है इसी से पृथिवी पर के साधारण लोग उस की ओर ठीक ध्यान लगाकर नहीं देख सकते। यहां देखने का यह भी अभिप्राय है कि उस के तेज वा शक्तियों को देखते विचारते हुए भय वा संकोच होता है इसी कारण राज्यैश्वर्य को चाहता हुआ भी अन्य कोई उस से सहसा छीन नहीं सकता ॥ वह राजा जब सब का अग्रणी मान्य होता वा क्रोध से रक्तनेत्र वाला होता तब अग्नि, जब युद्धादि में अपने बल और शीघ्रता को दिखाता तब वायु, जब सर्वोपरि ऐश्वर्य की शोभा दिखाता धारण करता तब अर्क नाम अर्चनीय प्रशंसा का पात्र होता कि बहुत अच्छा प्रकाशित है, जब कोमलता शान्ति को धारण करता तब सोम, जब न्यायासन पर बैठ कर कर्मानुसार अच्छा बुरा फल देता तब धर्मराज, जब संचित धन प्रजा में फैलाता धन द्वारा सब को सुख देता तब कुबेर, जब कुल्या-कृत्रिमनदी नहरोंद्वारा शुष्क प्रान्तों में जल फैलाकर सुख पहुंचाता तब वरुण और जब प्रेरणा शक्ति-आज्ञा फैलाता वा क्षत्रियपन के प्रबल साहस को धारण कर सब के तेजों को दबाता तब इन्द्र होता अर्थात् उस २ तत्त्व के प्रधान २ गुणको जिस २ समय अपने में उभाड़ता तब उस २ अग्नि आदि का रूपही मानाजाता और प्रभुता की प्रबलता से मानने पड़ता है ॥ इसी लिये राज्याधिकारी पुरुष बालक-न्यून आयुवाला भी हो तो भी उसका अपमान निरादर कदापि न करे क्योंकि सिंह के बच्चे में भी मनुष्य के तोड़ डालने की शक्ति वा तेज होता है इस कारण सिंह के तुल्य सिंह के बच्चे से भी मनुष्य को अवश्य भय रखना चाहिये। कोई भी तेजस्वी पदार्थ अपमान का नहीं सहारता और उस का न सहारना ही अपमान करनेवाले की हानि का कारण हो जाता है [इसी अभिप्राय से मनु जी ने अ० ४ में कहा है कि—

"क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥
एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ॥"

२८।) शेष मास सितम्बर सन् ९७ से जमा । आय-

२०॥=)। चन्दा जो इटावास्थ महाशयों से आया अर्थात् २) चौ० पद्मसिंह जी ॥) मा० गुंदीलाल जी २॥) पं० दंगीलाल जी १) मुं० रामस्वरूप भक्त -)। बा० रामप्रसाद मुं० २) बा० हीरा लाल पेचघर ०४)कुंवर तुकमानसिंह जी १) पं० मातादीन जीवकील२) बा० सुखी लाल जी वकील।) नकलनवीस,गणेशदास ।-) पं० भैरवदत्त जी १) पं० जगन्नाथ जी१) बा० छेदी लाल जी १) बा० कन्हैया लाल जी१) पं० बुद्धसेन जी १) बा० शिवचरण लाल जी योग चन्दा २०॥=)।

२६॥।≡)। चन्दा सहायतार्थ धर्मार्थ जो बाहर से अर्थात् ५) बा० विष्णुचरण लाल भरथना १) मन्त्री आ० हरदोई ८।-)। मुं० रोशन लाल जी बारिष्टर प्रयाग १) पं० सालिग्राम रायगढ़ सी० पी० १) मंत्री धाराजीत आ० हसनपुर मथुरा १॥=) चौ० जंगसिंह गढ़िया छिनकौरा और अत्यन्तसराहनीय शीतनिवारकवस्त्रदान अर्थात्(५) मुं० यमुनादास और ४) संतलाल जी कलकत्ता ने मिलकर ९) के कोट १३ मार्फतकरमचन्द के १० कोट इटावा के विद्यार्थियों को और ३ मेरठ के वि० को पं० तुलसीराम जी द्वारा बांटेजाने को भेजे । योग-२६॥।≡)। और सब आय शेष सहित ७५॥।-)॥ परमेश्वर ऐसे धनदाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे॥

व्यय ६७॥।=) दोनों मासों का व्यय अर्थात् २२=)॥। छात्रों के भोजन में ३।-) फुटकर तेल + बाल बनवाई + पोष्टकार्डादि रसीद और ॥।=) पुस्तकें विद्यार्थियों को १।=) रुक्मदत्त वि० को राहखर्च ४) हवनार्थ सामग्री ९॥=)। कपड़ा रजाई कोट सिलाई आदि बनाये गये ९) कोट सादे श्वेत जो कि करमचन्द के द्वारा कलकत्ता से आये उनमें से १० कोट यहां के विद्यार्थियों को दियेगये -शेष ३ कोट मेरठ को पं० तुलसीराम जी के पास भेजेगये और ८) रसोइयाको वेतन ४) अध्यापक वि० लक्ष्मीशंकर और जीवनकिशोर को२) गिरधारी लाल गणितसिखाने के लिये वेतन२) चपरासी को चन्दा उगाही का वेतन १॥) कहारी का वेतन । कुल व्यय ६७॥।=) आगे के आय के लिये शेष ७॥।≡)॥ रहे ॥

पाठक महाशयों को ज्ञात होगा कि ता० १ अक्टूबर के अङ्क में २ मास का आय १३४-)॥। छपा था पर इस बार दो मास का सब आय ७५॥।-)॥ मात्र कम है । हम केवल उन महाशयों को ध्यान दिलाते हैं जो वास्तव में मरणदशास्थ संस्कृत भाषा को जिलाना अच्छा मानते और वेदशास्त्रोंसम्बन्धी शुद्ध वैदिक धर्म का उद्धार चाहते हैं । यदि ऐसे लोग कुछ २ भी सहायता देते रहेंगे तो यह से कोई २ विद्यार्थी लोग उत्तीर्ण हो वैदिक धर्म के प्रचारक होते रहना सम्भव है । २।३ संस्कृतज्ञों की आवश्यकता है। जो जिज्ञासी महाशय मुझ को पत्र लिखें

☞ पुस्तकों का सूची-मूल्य घटा दिया !!!

सर्व साधारण के उपकारार्थ पहिली दिसम्बर १८९७ से सरस्वती यन्त्रालय की पुस्तकों का मूल्य घटा दिया गया ॥

मनुस्मृतिभाष्य प्रथम जिल्द ३ अध्याय २॥) वैराग्यशतक भाषा ≡) पुनर्जन्म =)॥ यमयमीसूक्त -)॥ आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) ॥) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १।) ईश उपनि० भाषा वा संस्कृत भाष्य =)॥ केन ≡) कठ ।=) प्रश्न ॥) मुण्डक ॥) माण्डूक्य =)॥ तैत्तिरीय ॥=) ऐतरेयोपनि० ।-) श्वेताश्वतरोपनि० ॥=) इन ९ उपनिषदों पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में ऐसी व्याख्या की गयी है कि जिस को कोई एकबार भी देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सम्पूर्ण ९ उपनि० भाष्य इकट्ठे लेने वालों को ३।=) ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय ऐतरेय श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधि १) आर्यसिद्धान्त ८ भाग ९६ अङ्क एक साथ लेने पर ४) और फुटकर लेने पर प्रतिभाग ॥=) ऐतिहासिकनिरीक्षण =) ब्राह्ममतपरीक्षा =) स्यार में जीव विचार -) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूल सूत्रपाठ ≡) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृत का प्रथम पु०)॥। द्वितीय -)। तृतीय =)॥। सुमतिसुधाकर ≡)॥ कुरीतिनिवारण -)॥ गीताभाष्य १॥) हिन्दी का प्रथमपुस्तक)॥ द्वितीय पुस्तक पं० रमादत्त कृत =)॥ शास्त्रार्थ खुर्जा -) भजन पुस्तकें-भजनामृतसरोवर =) सत्यसङ्गीत)। सदुपदेश धेला। संगीतसुधासागर -) कामिनीभूषण ।) सङ्गीतरत्नाकर =) सभाप्रसन्न ।) सीताचरित्रनावलिप्रथमभाग ॥।) स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य)॥ नियमोपनियम आर्यसमाज के)। आरती)। चार। आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार। सत्यार्थप्रकाश २।) वेदभाष्यभूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) वर्णोच्चारणशिक्षा -) मांसभोजनविचार प्रथमभाग का उत्तर -) द्वितीय भा० =) तृतीय का उत्तर =)॥ हैं। कन्यासुधार -) वेश्यालीला)॥ प्रश्नोत्तररत्नमाला -) चाणक्यभाष्य -)। जगद्वशीकरण -) पुत्रकामेष्टिपद्धति मू० -)। पं० रमादत्त जी का बनाया बालबोध -) सजीवन बूटी आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजैक्टकमेटी -)॥ अबलाविनय ≡) नीतिशतक =)॥ इत्यादि आर्यधर्म सम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूची मंगाकर देखिये॥ भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस-इटावा

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाकनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्सम्बुध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग १] मासिकपत्र [अङ्क १

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ पौष शुक्ल ता० १ जनवरी सन् १८९८ ई०

...२१ वा० सत्यचरणराय जी कलकत्ता १।)	१०४४ कुं० पुष्करसिंह जी गूजरपुर १।)
...२५ श्री रामकृष्ण जी वकील जालन्धर २॥)	८४ पं० झुन्नालाल जी अफजलगढ़ १।)
...३६ रा० सेवकलाल कृष्णदास मुम्बई १।)	१०१५ भगवानदास जी वरेली ।)
...३४ डा० मोरेश्वरगोपालदेशमुख,, १।)	१२७६ पं० मिश्रीलाल जी देवरा १।)
...३५ रा० प्राणजीवनदासकहानदास,, १।)	११०५ मैनेजर मित्रमंडली मुम्बई १।)
...३३ रा० रामजी भगवान सोनी,, १।)	५२० पं० वंशीधर जी हलद्वानी २॥
...०० पं० रणछोड़जी उद्धव जी,, १।)	१०२४ पं० चन्द्रधर जी वलौदा २॥=)
...१८ सेठ गोवर्धनदास नगीनदास,, १।)	१०९० देवीसिंह शुकलालसिंह मुम्बई २॥)
...०ला० मदारीलाल जी यशवन्तनगर १।)	१०३४ कर्मचन्द जी जालाण कलकत्ता १।)
...९१ वा० कालिकाप्रसाद जी वनारस १॥)	१२६१ वा० कन्हैयालाल जी जहांगीरावाद १।)
...७० स्वामी रामपुरी जी नरदोली १।)	११७९ आ० रामरुपाल जी कलकत्ता १।)
...१ वा० घनश्यामदास जी कलकत्ता २॥)	११०३ वा० कालिकाप्रसाद जी उरई १।)
...२१३१ राव रोशनसिंह जी वंगरा १।)	१२८० वा० रामचरण जी कन्नौज १।)
...४ शिवराव मंगीश मंजेसर १।)	

...ो३म्–पाठशाला का आय, व्यय मास दिसम्बर सन् ९७ ई० तक

...७॥।=)।। शेष गतमास का–

१०=)॥ नैत्यिक चन्दा अर्थात् १) पण्डित दङ्गीलाल जी २) चौधरी पद्म-...सिंह जी २) लल्लू मिस्त्री ।) मास्टर गुन्दीलाल =)॥ बाबू रामप्रसाद मुंसरिम ...) बाबू हीरालाल पेचघर १) बाबू बुद्धसेन जी ॥।) बाबू बनवारी लाल जी ...) वा० सुक्खीलाल वकील १) पं० मातादीन वकील–योग १०=)॥

...४७॥।=)॥ नैमित्तिक चन्दा जो धर्मार्थ सहायता में आया अर्थात् ४) लाला मूल-...चन्द मन्त्री आर्यसमाज अलीगढ़ ५) वा०मातादीनगुप्त इटावा ॥) ठा० महाराजसिंह ...गला रामसुन्दर ७।=)बाबू गुलावसिंह जी जबलपुर १) बाबू भगवानदास राउत ...रेली ५॥)॥ बाबू भगवानदास भिवानी १॥) बाबू वंशीधर हलद्वानी १५) बाबू ...त्यचरणराय जी कलकत्ता २) राय रोशनसिंह रईस वंगरा २) लाला मन्नूलाल ...प्त अनूपशहर ३) कस्तूरीनारायण जी कानपूर १) पं० रामप्रसाद ओवर सियर ...ापड़ । कुलयोग ६६)॥ जमा हुआ ॥

व्यय अर्थात् १५॥।-) भोजनार्थ विद्यार्थियों के २) हवनार्थ १।=) कपड़े वि० ...६) वेतन जिस में ८) रसोइया के दो मास का १२) अध्यापक लक्ष्मीशंकर जी-...नकिशोर जी को तीन मास का २) गिरधारीलाल गणिताध्यापक को २) रा-...शरण चपरासी बावत चन्दा उगाही दो मास का २) कहार को २ मास का योग ...तन २६) और २॥=) फुटकर खर्च तेलबत्ती आदि में उठा । कुलयोग ४७॥।=) ...य हुए शेष १८=)॥ रहे ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ९ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे ॥

गत अं० १२ पृ० २४० से आगे राजभक्ति का शेष व्याख्यान ॥

क्षत्रिय, सांप और बहुश्रुत वेदपारग ब्राह्मण इन निर्बलों का भी अपनी विद्यमानता चाहने वाला पुरुष कभी अपमान न करे क्योंकि ये अपनी तेजस्वि पन की शक्ति से अपमान करने वाले का नाश कर दे सकते हैं और सम्भव है कि ये अपमान को न सहें । परन्तु ब्राह्मण के लिये (अमृतस्येव चाकाङ्क्षे दवमानस्य सर्वदा) इत्यादि कथन द्वारा अपमान को सह लेने की ही विशेष आज्ञा है । क्षत्रिय और राजा एक ही बात है जो राजा होता है उस में प्रजा की अपेक्षा अवश्य ही क्षत्रियपन प्रधान होता इसी कारण वैश्यत्व और शूद्र त्व में प्रधान प्रजापर उस का विशेष अधिकार वा दबाव रहता है । ब्राह्मणपन की प्रधानता में धनादि का त्याग और ज्ञान विद्या धर्मादि की अधिकता होती इसी कारण ब्रह्मतेज, क्षत्रतेज से भी सदा बड़ा होता है । परन्तु मध्यम कक्षा में ब्राह्मणों को राजा के द्वारा रक्षा पाने की मध्यम आवश्यकता रहती है] और ते जस्वि होना ही देवतापन है । परमात्मा असीम तेजस्वी होने से ही सर्वोपरि देव ता माना जाता है । इस कारण राजा को तेजस्वी देवता मानना चाहिये किन्तु

ाधारण मनुष्यों के तुल्य मान कर उस का अपमान कदापि न करे। यहां दे-
ता पद को एक वचन कहने से भी राजा में इन्द्र देवता की प्रधानता दिखाना
न्थकार को अभीष्ट है। वेद में भी सब देवताओं से इन्द्र को ही अत्यन्त बड़ा
हा है। "इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्। यजु० अ० २३" ॥ जो विना विचारे वा
लटा चल कर अग्नि में गिर जाता है उसी एक को अग्नि जला देता है किन्तु
स के स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब को चेतन न होने से अग्नि नहीं जला पाता परन्तु
व राजा किसी के प्रति क्रोधरूप अग्नि को धारण करता है तब पशु द्रव्य और
नादि सहित उस के सब कुल को निर्बीज कर सकता वा कर देता है। इस क-
र से अग्नि से भी अधिक देवतापन राजा में दिखाया है। वह ईश्वर, भिन्न २
मयों में समय के अनुसार राजा के करने योग्य कामों और उस समय में जैसे
प्रवल दस्यु आदि होते उन के दवाने योग्य शक्ति की आवश्यकता को शोच
र वैसे २ कार्य करने और वैसी शक्ति वाले नाना प्रकार के राजाओं को प्रकट करता
हता है। अर्थात् जिस काल में जैसे राजा की आवश्यकता शोचता है तब वैसे को
जा करता है जिस से समयानुसार संसार का प्रवाह ठीक २ चले। संसारकी
शा का ठीक २ धारण होना ही धर्म है और इसी कारण लोक व्यवहार की अच्छी
वस्था जिन में बांधी जाय उन ग्रन्थों का नाम धर्मशास्त्र माना जाता है।
ो वात्स्यायन ऋषि ने न्यायभाष्य में स्पष्ट ही लिखा है कि "लोकव्यवहार-
वस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः" लोक के व्यवहार की मर्यादा [मेंड़] बांधना
र्मशास्त्र का विषय है। इसी को अन्य भाषाओं में क़ानून कहते हैं। वह व्य-
स्था वा कानून किसी चलाने वाले की अपेक्षा रखती है। और जो उस कानून
-व्यवस्था-मर्यादा अथवा धर्म को ठीक २ चलाने की योग्यता वा शक्ति रखता
थवा वर्त्तमान सृष्टि के मनुष्यों में अन्यों की अपेक्षा जो अच्छी वा अधिक व्यवस्था
ख सकता है उसी को धर्म नाम कानून की सिद्धि के लिये परमात्मा प्रभु राजा
नाता है [मनु जी का यह आशय एक देशी मनुष्यों के समान कदापि नहीं
ो सकता कि किसी निज-खास देश वा जाति के लोग ही राजा वा क्षत्रिय
हावें किन्तु जो जिस समय राज्य के योग्य होता उसी को ईश्वर-राजा बनाता
। इसी के अनुसार हम को निर्विकल्प निस्सन्देह मानना चाहिये कि वर्त्त-
ान समय में हमारे ऊपर ईश्वर ने योग्य समझ के अंग्रेज महाशयों को राजा

नाया है। यदि सब प्रकार के छल छिद्र ईर्ष्या मत्सरता छोड़कर शुद्ध हृदय से

धर्मानुसार अपने धर्म की रक्षा सहायता के लिये सब भारतवासी अंग्रेज लोगे
वा श्रीमती महाराज्ञी राजराजेश्वरी को मनु जी की आज्ञानुसार राजा मानें तो
भविष्यत् में हमारा अधिक २ कल्याण होने की अधिक सम्भावना है]॥

जिस राजा के प्रजा पर प्रसन्न रहने में प्रजा के लिये सब धनादि उत्तम
पदार्थ अच्छे से अच्छे शीघ्र प्राप्त हो जाते जिस के पराक्रम दिखाते ही अपना विज
य और प्रजा के विरोधी छली कपटियों का पराजय शीघ्र होता और जिस के क्रु
होजाते ही प्रजा का मृत्यु शीघ्र समीप आजाता है वह राजा सर्व तेजों वाला है
उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने जिस को अनेक शक्तियों से युक्त कर के राजा बना
या है उस के साथ जो प्रजा का कोई भी पुरुष अपनी मूर्खता से द्वेष करता
वह जानो ईश्वर से भी द्वेष करता इसी लिये उस पुरुष का निस्सन्देह नाश
हो जाता है [इस के अनुसार भारतवर्ष के विद्यमान मनुष्यों में से यदि कोई लोग
चाहते हैं कि हम पर वा हमारे देश में अंगरेजों का राज्य न रहे तो यह बड़ा ही
अधर्म अवश्य है। उन का नाश भी अवश्य हुआ, होता, वा होगा। जैसे द्वेष अनेक
प्रकार का होता वैसे नाश भी अनेक प्रकार का होगा। जो अत्यन्त द्वेष के साथ व्य
वस्थापक राजा का निरादर कर २ कि जानो कोई राजा ही नहीं ऐसा मान
ते हुए प्रजा में डाका आदि डाल कर भयङ्कर उपद्रव करते हैं उन का अति
शीघ्र नाश हो जाता है। तांतिया भील आदि इस के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं] ऐसे
बडे २ द्वेषी राजविरोधी अत्याचारियों का शीघ्र विनाश करने के लिये जो राज
मन करता है वह सब काम जानो ईश्वर की इच्छा के अनुसारही करता है अ
र्थात् उन २ के कर्मानुसार ही राजा उन २ का नाश करता है ॥ इस कारण वह
राजा जिस धर्म नाम मर्यादा व्यवस्था को बांधे, निश्चित करे कि ये २ नियम ठीक
हैं इन के अनुसार चलना ठीक होगा इसी प्रकार राजा प्रजा दोनों की दशा
अच्छी रहेगी और जिस २ दशा में जिस २ को जैसा अनिष्ट दण्ड देना निश्चित
करे प्रजा को अत्यन्त उचित है कि उस राजा की नियत की हुई व्यवस्था धर्म मर्या
दा को किञ्चित् भी हिलचल न करे। क्योंकि प्रजा से राजा की बुद्धि अवश्य ही
अधिक अच्छी होगी इसी कारण राजा के शोचे नियम हमारे शोचने की अ
पेक्षा अवश्य ही अधिक अच्छे होंगे। सब के साथ यथायोग्य वर्त्ताव करना धर्मा
नुकूल होता है तदनुसार यदि गवर्नमेण्ट के प्रधान कर्मचारी अंगरेजों के तुल्य

अन्यों को अधिकार नहीं देते हैं तो उन को वे योग्य समझते वैसे योग्य हम नहीं हैं यदि हम अपने को अधिक योग्य मानते हैं तो यह हमारी भूल है। कोई अपने को अधिक योग्य माने उस को हम भी तो वैसा ही योग्य नहीं मान लेते वा मान सकते। तब यदि अंगरेज लोग अपनी जाति को हमारी अपेक्षा अधिक योग्य मानते हैं और हम उस को बुरा समझते हैं तो हम अपने इस मन्तव्य से (अपने २ को अधिक योग्य मानने से कोई वैसा योग्य नहीं ठहरता जैसा कि उस को अन्य २ सज्जन लोग श्रेष्ठ कहें मानें तब श्रेष्ठ हो सकता है) विरुद्ध क्यों नहीं हुए ?। अवश्यमेव हम विरुद्ध हुए। इस लिये जो लोग इस उक्त कारण से अंग्रेजी गवर्नमेण्ट को पक्षपाती ठहराना वा मानना चाहते हैं वे अवश्य भूल में हैं। क्योंकि हम भारत वासियों में से जिस २ को जिस २ काम वा अधिकार वा प्रतिष्ठा के योग्य गवर्नमेण्ट के प्रधान राज कर्मचारी देखते जानते हैं वैसा २ अधिकार भारत वर्षीय प्रजास्थ पुरुषों को देते भी तो हैं। द्वितीय यह भी तो विचारणीय है कि जिस जाति का राज्य है उन के सजातियों का धर्मानुसार भी तो हम से हक्क अधिक है। सो यहां तक ठीक मानते हैं कि जैसे जिस रियासत का कोई पुरुष धर्मानुसार योग्यता वा कर्मानुसार अधिकारी है उस पुरुष के स्त्री पुत्रों वा सहोदर भाई आदि का रियासतसम्बन्धी सुखों वा पदार्थों से वैसा अधिक सम्बन्ध वा (ताल्लुक) उन की अपेक्षा हम भी मानते हैं कि जो पुत्रादि की अपेक्षा दूर २ कुटुम्बी वा सम्बन्धी हैं। इसी कारण श्रम से धनादि का संचित करने वाला प्रत्येक पुरुष प्रथम अपने समीप २ के स्त्री पुत्रादि का अधिक २ पालन पोषण करता वा उन का भाग अधिक मानता है। और अन्य कुटुम्बी आदि अपने पुत्रादि के बराबर योग्य हों वा अधिक योग्य हों तो भी उन का अधिकार बराबर भी नहीं मानता। और यह दशा हम प्रत्येक को अपने २ घर में मानने पड़ती है और धर्म से विरुद्ध भी नहीं समझी जाती न इस को कोई पक्षपात मानता है। फिर यदि इसी विचार के अनुसार हमारे एतद्देशी सम्पादकादि अंगरेजी राज्य को पक्षपाती ठहराने कीसी चेष्टा करते हैं तो यह कदापि ठीक नहीं है इस से यदि अंग्रेज पक्षपाती हैं तो हम उन से भी अधिक हैं॥

हम मनु जी के सर्वोपरि माननीय धर्मशास्त्र की आज्ञा तो उदाहरणमात्र अपने पाठकों को दिखा चुके कि मनु जी राजा के साथ वर्त्ताव करने के लिये प्रजास्थ लोगों को धर्मानुकूल ऐसी २ उचित आज्ञा देते हैं।

प्रश्न-तुम आर्यसमाजी हो तुम लोग जब स्वयं राजविरोधी हो तो तुम्हारा लेख राजभक्ति विषय में कैसे ठीक माना जायगा ?। तुम्हारे स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अंगरेजी राज्य के साथ अपने पुस्तकों में कहीं भी सहानुभूति नहीं दिखाई किन्तु इस से उलटा उन्हों ने अपने आर्याभिविनय पुस्तक में लिखा है कि " अन्यदेशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों" इत्यादि जिस से सिद्ध है कि वे अंगरेजी राज्य का चिरस्थायी रहना नहीं चाहते थे ॥

उ०-इस में सन्देह नहीं कि हम आर्यसमाजी हैं। परन्तु हम लोग राजविरोधी कदापि नहीं हैं। आर्यसमाज को राजविरोधी सब कोई न कहते न मानते हैं किन्तु कोई २ अल्पाशय ऐसा कहते हैं सो अधिकांश तो उन का कथन द्वेष बुद्धि से है पर वैसा कहने के लिये ऊपर लिखे स्वामी द० जी के लेख का सहारा लेना वहाना मात्र है । क्योंकि यदि उन लोगों का द्वेष आर्यसमाज से प्रसिद्धि में न होता और उन में द्वेष पूर्वक वर्त्ताव नहीं दीख पड़ता तो उन के ऐसे कहने पर अब तक लोगों का वड़ा ध्यान होता । जिन कामों में द्वेष प्रबल होता है उस का प्रमाण भी बनावटी मान लिया जाता है इसी कारण वैर [अदावत] रखने वाले का कथन संप्रति न्यायालयों में प्रामाणिक नहीं माना जाता । अब रहा कि स्वामी जी का विचार क्या है वा क्या था ?। इस का उत्तर यह है कि स्वामी जी वर्त्तमान वा भूत भविष्यत् किसी राज्य के विरोधी नहीं थे वे चाहते थे कि सब देशदेशान्तरों और द्वीपद्वीपान्तरों में वेदोक्त शुद्ध निर्दोष धर्म का प्रचार हो । उन्हों ने यह बात अपने स्वीकारपत्र (वसीयत नामा) में स्पष्ट लिखी है। यदि अंग्रेज जाति से विरोध वा द्वेष होता तो उन को वैदिक धर्म का उपदेश पहुंचाकर सुधारने एकता करने की चेष्टा नहीं दिखाते । जिस का जिस से विरोध होता है वह उस को सुखी रहने का उपाय बताना भी नहीं चाहता ।

स्वामी जी चाहते थे कि अंगरेजी राज्य में भी धर्मानुकूलता अधिक वर्त्ती जाय इसी कारण सत्यार्थप्रकाश के राजधर्म में राजा को धर्मानुकूल चलने के लिये अधिक बल दिया है । क्या कोई कह सकता है ? कि सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास के लेख से अंगरेजी राज्य छिक जायगा ?। यह भी बात बहुत प्रसिद्ध विख्यात है कि स्वामी जी शब्दों का यौगिकार्थ और गुण कर्म स्वभाव से वर्ण व्यवस्था मानते थे और इस बात को अपने लेखों के अनेक स्थलों में स्वामी जी

ने पुष्ट किया है। तब कोई कह सकता है? कि जिस २ में जैसा २ वा जितना २ क्षत्रियपन और राजापन है उन को वे क्षत्रिय वा राजा न कहते वा मानते हों?। हम निर्विकल्प और निस्सन्देह मानते हैं कि अब वर्त्तमान समय के अंगरेज लोगों में हम भारतवासियों से सहस्रों अंश अधिक राज्य कर सकने का योग्यतारूप चिह्न (क्षत्रियपन) अवश्य विद्यमान है सो प्रत्यक्ष भी है। तब राजधर्म का उपदेश उन के लिये भी हुआ और स्वामी जी के मन्तव्यानुकूल गुण कर्मानुसार अंगरेज लोग भी क्षत्रिय राजा ठहरे और उन को भी स्वामी जी का उपदेश ठहरा तब शोच लीजिये कि स्वामी जी का राजविरोधी होना कैसे सिद्ध हुआ? अर्थात् कदापि नहीं।

तृतीय यह भी बहुत प्रसिद्ध बात है कि स्वामी जीने गोकरुणानिधि पुस्तक में राजविद्रोही को सभा में सम्मिलित करने का निषेध लिखा और महाराणी का बड़ा गौरव अपने लेख से जताया है। इस से भी अंगरेजी राज्य के साथ अपनी अच्छी सहानुभूति प्रकट की है। यदि राज्य के साथ द्वेष बुद्धि होती तो कदापि वैसा लेख उन के हाथ से न लिखा जाता॥

चतुर्थ स्वामी जी के स्वमन्तव्यामन्तव्य जो सत्यार्थप्रकाश के अन्त्य में दिया है उस से यह स्पष्ट है कि वे सर्वतन्त्र सिद्धान्त को प्रधान वा बड़ा मानते थे। सर्वतन्त्र सिद्धान्त वालों का विचार किसी देश काल और जाति में बद्ध नहीं रहता इसी कारण वैसे ही पुरुष यह भी मानते और कहते हैं कि–

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

उदार चरित्रों वालों, विस्तृत व्याप्त विचार वालों का सभी कुटुम्ब होता है इसी मन्तव्य के साथ सर्वतन्त्र सिद्धान्त का पूर्ण सम्बन्ध है। जो बात जिस के भीतर हृदय में दृढ़ता से जमी होती है उसी को प्रत्येक मनुष्य ठीक दृढ़ता से लिखता वा कहता है इस से सिद्ध है कि स्वामी जी के मन में सर्वतन्त्र–व्याप्त सिद्धान्त पूर्ण रूप से बैठा था उसी के अनुसार वह लेख लिखा गया तो कोई पुरुष सिद्ध कर सकता है? कि ऐसे विस्तृत [आजाद] विचारों वाला मनुष्य किसी विशेष देशस्थ वा विशेष जाति के मनुष्यों का राज्य न चाहे वा द्वेष करे। कदापि नहीं। अर्थात् किन्हीं खास जाति वा देश वालों का राज्य चाहना एक देशी विचार वाले का काम है। और ये दो परस्पर विरुद्ध विचार एक में हो नहीं सकते तो सिद्ध हुआ कि स्वा० द० जी को वर्त्तमान अंगरेजी राज्य से द्वेष नहीं था अवश्य ही नहीं था। यह सब उन के लेखों के सारांश से स्पष्ट सिद्ध है॥

अब शोचनीय यह है कि फिर उन महात्माने आर्याभिविनय में वैसा क्यों लि-खा ? इस का उत्तर यह है कि वहां अंगरेजी राज्य का नाम नहीं है । थो-ड़ा शोचोगे तो ज्ञात होगा कि हमारा और अन्य का देश कौन है ? । हम स-भी मनुष्य प्रायः देश, स्थान, घर, ग्राम नगरादि को वदलते रहते हैं । जहां २ जोर जितना अधिक २ ठहरता रहता है वह २ वैसा २ उस २ को अपना देश स्थान आदि मानने लगता है । आर्य लोग भी ईरान जो (आर्यान्) से विगड़ के अपभ्रंश हो गया है पहिले आकार इस देश में वसे हैं यह माना जाता है । अब भी सब देशों वा प्रान्तों के मनुष्य सब देशों वा प्रान्तों में रहने लगे हैं वहां २ उनका स्थान वा देश भी हो गया है । वर्त्तमान अंगरेज गवर्नमेंगटने इसी आशय पर नियम किया है कि जो मकानादि वारह वर्ष जिस के अधिकार में रहे उस के साथ उस का स्वस्वामि (मौरूसी) सम्बन्ध हो जाता है। और अब साठवर्ष का आयु अधिकांश रह गया है इस कारण जो वस्तु साठ वर्ष जिस के अधिकार में रहे उस पर उस का पूर्ण अधिकार हो जाता है। अब जो २ मनुष्य जहां रहते हैं वहां २ जो अपना २ घर आदि मानते हैं तथा अन्य भी उन्ही का मानते हैं उन में अनादिकाल से वहां २ रहने वाला कोई भी नहीं होगा । कहीं न कहीं से आकर ही वे वहां वसे हैं । इसी प्रकार अंगरेज लोग भी जो बहुत काल से यहां रहने लगे वे अब यूरोपदेश में रहने वालों की अपेक्षा एतद्देशीय कहे जाते हैं । जिस की निष्ठा उस २ देश वा वस्तु के साथ हो जाय वह देशादि उस का हो जाता है और जिस को वह अपना समझता है उस की रक्षा भी ठीक २ करता है इस कारण स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि हमारे देश में ऐसे राजा न हों जो उस देश के साथ अपनायी न मानते हों । क्योंकि जिन को जहां ममता नहीं होती उन के द्वारा वहां के निवासियों को और उन को दुःख पहुंचता है शान्तिपूर्वक अच्छा निर्वाह नहीं होता और ईश्वर की प्रार्थना में सभी ऐसा कह सकते हैं कि हमारे देश में अन्यदेशवासी [जिन को ठीक २ देश के साथ ममता न हो ऐसे] राजा न हों वा हों भी तो अपनी ममता उस २ देश के साथ ठीक २ करने लगें जिस से अन्य देशवासी न कहावें उसी देश के कहाने लगें सर्वथा अभिप्राय यही हुआ कि जिस से राजा प्रजा के विचार वा मन्तव्यादि का विरोध न हो विरोध रहने से मनुष्यों को सुख नहीं मिलता । हमारी [हिन्दुओं] की अपेक्षा मुसलमान लोग थोड़ समय से इस देश में रहने के कारण अन्य देशवासी कहा

ते और मुसलमान लोग अपने को यहां के अधिक निवासी मानते हैं इसकारण मुसलमानों की अपेक्षा अंगरेज लोग अन्यदेशवासी हैं। जैसे " अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों" का यह अर्थ लगाया जाता है कि हम वेदमतानुयायी लोगों के देश में अन्य देशवासी अंगरेज मुसलमान लोग राजा कभी न हों। वैसे यह अर्थ क्यों नहीं लगा लिया जाय कि रूसी आदि अन्य देश में वास करने वाले राजा हमारे देश में कभी न हों। क्या विद्यमान अंगरेज राजाओं की अपेक्षा रूसी अन्य देशवासी नहीं ठहरेंगे ? अर्थात् अवश्य ही ठहरेंगे। और थोड़ा ध्यान देकर शोचिये कि अन्यदेशवासी शब्द का अर्थ क्या है ? जिस देश में जो वसता है वह वहां का वासी वा निवासी कहाता है। अब जो अंगरेज विलायत में रहते हैं उन से हम को वा हम से उन को विशेष सुख दुःख नहीं होता उन का यहां राज्य करना आज्ञा वा सम्मति मात्र है। मुख्य कर इसी देश में रहने वसने वाले अंगरेज़ राज्य करते हैं तब वे अन्य देशवासी कैसे हुए ? यदि जन्मभूमि—पूर्वजों के निवासस्थान का नाम वास मानो सो भी ठीक नहीं क्योंकि संस्कृत में पूर्व के जन्मस्थान को [जहां अनेक पीढ़ियों से पिता पितामहादि रहते आए हों] अभिजन कहते हैं। और निवास वा वास वही कहाता है जहां सम्प्रति रहते हों इस कारण राज्य करने वाले लाट, गवर्नर आदि अंगरेज लोग अन्य देशवासी ठहरते ही नहीं। तब अंगरेजी राज्य से विरोध दिखाने का क्या हेतु है ? तो यही ठहरता है कि द्वेष बुद्धि से लोग ऐसा करते हैं। तथा "तथा हम लोग पराधीन कभी न हों" स्वामी जी का यह लेख पहिले वाक्य का टीका है। सो हम अपने को अंगरेजी राज्य में जितना और जैसा स्वाधीन देखते हैं वैसी स्वाधीनता हमारी समझ में प्रजा को कभी किसी राज्य में होनी सम्भव भी नहीं। यदि कानून के विरुद्ध चलने से जो दण्ड मिलने का भय है इस को हम पराधीनता मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि इस राज्य में अपील कर बड़े २ वकील वारिष्टरों को धन देकर अनेक लोग कानून से विरुद्ध अपराध करके भी बच जाते वा बच सकते हैं इस से इस राज्य में स्वतन्त्रता ही अधिक सिद्ध होती है जब हम अन्य किसी भी राज्य की अपेक्षा पराधीन नहीं किन्तु स्वाधीन हैं तो अंगरेजी राज्य के साथ स्वामी जी का यह लेख कदापि सम्बन्ध नहीं कर सकता। किन्तु यही अभिप्राय इस से भी झलकता है कि अंगरेजों से अन्य रूस आदि देश के रहने वाले किसी का राज्य इस हमारे देश में न हो जिस से हमे पराधीनता का दुःख

भोगने पड़े और वर्त्तमान स्वतन्त्रता में कोई विघ्न न हो। ऐसे यह भी आशय उक्त प्रार्थना से निकला कि अंगरेजी राज्य चिरस्थायी अटल बना रहे जिस से हमारी स्वतन्त्रता बनी रहे हम को पराधीनता का दुःख कभी न भोगने पड़े हम ने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का जो कई कारणों से अभिप्राय समझा सो लिखा। और बाह्य चिह्न वा कारणों से ही प्रत्येक विषय का आशय समझा जाता है। तथापि प्रत्यक्ष कोई नहीं कह सकता कि उन के लिखने का अवश्य यही प्रयोजन था ॥

इस लिये हम यह कहते हैं कि जैसे हमारा लिखा प्रत्यक्षांश नहीं वैसे अन्य के निकट भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कि अंग्रेजी राज्य से स्वामी जी का द्वेष होना ही जिस से सिद्ध होजाय। और द्वितीय यह कि स्वामी जी का किसी कारण ऐसा ही विचार होकि जैसा कोई २ मानते हैं तो भी जब हम द्वेष नहीं रखते वा राजविरोधी होने का कोई भी चिह्न वा प्रमाण हम आर्यसमाजस्थों में नहीं मिलता तो किस प्रमाण से कोई कह सकता है कि आर्यसमाज राज विद्रोही है ? ॥

अब एक बात यह भी है कि स्वामी जी ने अंगरेजी राज्य के साथ सहानुभूति राजभक्ति नहीं दिखायी। इस पर सामान्य कर हमारा उत्तर यह है कि यह बात किसी अंश में सत्य है कि राजा प्रजा में धर्मानुसार जैसा मेल होना चाहिये वैसा अवश्य नहीं था न है और ऐसे विचार कहने लिखने का कारण भी यही है रहा स्वामी जी के विषय सो वे भी यद्यपि सब संसारस्थ प्रजा में थे तथापि उन का अभिप्राय वा लेख प्रायः सामान्यांशों में है। अंगरेजी राज्य जो एक देशी विषय है उस पर सहानुभूति देना वैसे महात्माओं का मुख्य कर काम नहीं था इसी कारण किसी निज राजा के साथ राजभक्ति नहीं दिखायी सामान्य राजा के साथ सामान्य प्रजा को धर्मानुकूल उचित पितृवत् वर्त्ताव करना तो स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में ही लिखा है। उसी में अंगरेजी राज्य के साथ प्रजा का पुत्र के तुल्य वर्त्ताव करना आजाता है।

यह भी ज्ञात रहे कि जैसे चोरी व्यभिचार आदि कामों में जो २ मनुष्य अधिकांश प्रवृत्ति रखते हैं उन २ कामों के लिये सदा ही अन्यों की अपेक्षा अधिक चेष्टा करते रहते हैं उन के विचार वा काम सदा ही छिप २ कर होते हैं अपनी शक्तिभर वे सभी लोग ऐसा उद्योग दिन रात किया करते हैं कि जिस से हमारे

इन २ कामों को कोई भी देख वा जान न सके और तदनुसार वे लोग प्रायः ऐसे ही देश काल और मेलियों में काम करते हैं। जिस से उन के कामों को ठीक पूरा २ कोई भी कभी नहीं देख पाता पर तो भी उन के इङ्गित चेष्टितादि अनेक प्रकार के व्यवहार से जिन के छिपा सकने का उन को भी सामर्थ्य नहीं रहता अनेक लोग वा प्रायः सभी जान लेते हैं कि अमुक २ पुरुष चोर है वा व्यभिचारी है। यह दशा प्रायः सभी की है। जो मनुष्य धर्मात्मा विद्वान् वा भीतर हृदय से शुद्ध नहीं हैं किन्तु लौकिक प्राप्ति आदि की सिद्धि के लिये वा प्रतिष्ठा प्राप्ति करके धन प्राप्ति के परमाभिलाषी हैं वे अपनी लिफाफेदार बनावटी नीति–चालाकी से सज्जन महात्मा भी बनना ही चाहते हैं। दिल्ली के पांच सवारों के समान विद्वान् धर्मात्माओं की कोटि में समझे जाने का पूर्ण उद्योग भी करते हैं परन्तु फिर भी उन के सब भाव खुल जाते हैं छिपा नहीं सकते। इसीके अनुसार जिन पुरुषों में राजभक्ति, राज्य की शुभ चिन्तकता ठीक २ होगी वे छिप नहीं सकते। और राज्य के विरोधी वा अशुभ चिन्तक भी अपने को चाहे कितना ही अधिक छिपाने का उद्योग क्यों न करें पर छिप सकने के लिये कोई भी साधन नहीं है। जब कि चोर आदि का चोर आदि होना परीक्षा का मर्म न जानने वाले मूर्खों तक को विदित होजाता उन २ की चर्चा संसार भर में वायु के साथ फैल जाती है तो राज करने की शक्ति वाले परीक्षकों के सामने कौन पुरुष अपने भीतरी भावों को छिपा सकता है कि जो मनुष्य की आकृति देख कर ही उस के भीतरी भावों को जान सकते हैं। इस लिये हम को अत्यन्त उचित है कि अपना धर्म मान के और न करने वा विरुद्ध करने पर अधर्मी हो जाने का भय करके राजभक्ति करें और अपने पितृवत् रक्षक राजा की शुद्ध हृदय से शुभ चिन्तकता रक्खें। यह भी हम लोगों को ध्यान वा निश्चय रख लेना चाहिये कि जैसे चोरों का चोर होना छिपा नहीं रहता वैसे हमारा राजविरोधी होना वा राजभक्त होना दोनों ही नहीं छिपेंगे जैसी २ उन २ भावों की वृद्धि होगी वैसे २ वे वृक्षादि के समान सर्व साधारण को दूर से दीखने लगेंगे। हम को इस बात का विचार करने शोचने की कोई भी आवश्यकता नहीं है कि हमारे अर्मों को कोई देखने वाला है वा नहीं ?। क्योंकि चोरों को चोरी करते हुए न देखने पर भी जैसे उन का चोर होना सब जान लेते हैं वैसे हम को भी अवश्य ही सब जान लेंगे जब कि हमारा वह २ कर्म उस दशा तक पहुंचेगा जितना ऊंचा करके हम उस

को जताना चाहते हैं । और दिखाने के लिये किया काम बनावट की कोटि में आ-जाता है इसी से वहां धर्म की प्रधानता नहीं रहती इस लिये धर्म बुद्धि से राजभक्ति करना हम भारतवर्षीय प्रजा का परम कर्त्तव्य है ॥

प्र०—कोई कह सकता है कि राज्य में वा राज कर्मचारियों में यदि कोई दोष हम को ऐसे दीखते हैं जिन को कोई भी मिथ्या नहीं ठहरा सकता और तुम जो राजभक्ति दिखाते हो तुम को भी वे दोष मानने ही पड़ेंगे । उन दोषों को जानते देखते हुए भी यदि हम कुछ न कहें तो क्या धर्म से विरुद्ध न होगा। नीति में भी लिखा है कि—

> शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वाऽप्रियम् ।
> अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥
> अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥
> शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि ॥

भा०—अच्छा धर्मानुकूल, धर्म विरुद्ध, द्वेष करने योग्य वा अप्रिय लगने वाला जैसा कुछ विषय हो जिस का पराजय होना वा जिस की अधोगति न चाहता जिस का सुखी रहना चाहता हो उस से वैसा ही ठीक२ कहे जैसा कि वह विषय शुभ वा अशुभ आदि हो । यदि विरुद्धांशों को देखता जानता हुआ भी कुछ न कहे वा विरुद्ध कहे तो दोनों दशा में मनुष्य अपराधी होता है । अर्थात् ठीक मार्ग जानता और अन्धे मनुष्य को कुमार्ग में जाता देखता हुआ भी यदि चुप रहे वा ऐसा मार्ग बतादे कि जिस से अन्धा कहीं कुआ वा गढ़े में गिर जावे तब दोनों प्रकार देखने वाले को पाप लगता है। इस के अनुसार यदि हम वर्त्तमान अंग्रेज गवर्नमेण्ट को अच्छी राय देते हैं तो क्या हमारा काम धर्म से विरुद्ध है। क्या यह उक्त विचार धर्मानुकूल नहीं हैं ? । क्या हम गवर्नमेण्ट को कोई भी पक्षपातादि के त्याग की राय न देवें और जानते देखते हुए भी चुप रहें तो धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार हम को अधर्म न होगा ? । इसी के साथ धर्मानुसारिणी यह भी नीति है कि—

> सुलभाः पुरुषा राजन् ! सततं प्रियवादिनः ।
> अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

संसार में निरन्तर प्रिय भाषण में प्रसंशा पत्र [सार्टीफिकट] पाये हुए मनुष्य बहुत सुलभ हैं। शिक्षितों में ऐसे मनुष्य बहुत होते हैं इस कारण कभी अभाव न रहने से मिलने दुर्लभ नहीं हैं। [इन ऐसे ही पुरुषों को खुशामदी भी कहते हैं] परन्तु जो वचन सुनने में अप्रिय प्रतीत होने पर भी पथ्य हितकारी ठीक मार्ग पर चलाने वाला हो ऐसे वचनों के कहने सुनने वाले मनुष्यों का सदा ही अभाव सा रहने के कारण मिलने दुर्लभ होते हैं। सो यदि हम भारतवर्षीय लोग कोई ऐसी बातें गवर्नमेण्ट को सुझाते हैं जो शोचने पर उन के लिये पथ्य होतीं वा निकलती हैं। परन्तु सुनने में उन को अप्रिय लगती हैं तो तुम्हीं बताओ कि हमारा क्या दोष हुआ ?। तथा जब यह भी शास्त्र का सिद्धान्त है कि मनुष्य को शत्रु के भी गुण और गुरु के भी दोष दोष ही कहने मानने चाहिये। तब क्या राजा जो गुरु की कोटि से भी नीचे द्वितीय कोटि में शास्त्र के अनुसार [राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्] माना जाता है उस के दोष कहना पाप होगा ? वा शास्त्राज्ञा से विरुद्ध होगा ?।

(उत्तर) इन ऊपर लिखे विचारों में अधिकांश सत्यता है। केवल समझने का भेद है सो हम दिखाते हैं:—

जो २ काम धर्मशास्त्रादि में सामान्य कर विधान किये हैं कि मनुष्य को ऐसा २ करना वा न करना चाहिये उस में हमारा काम है कि यह शोचें कि करना क्या है ? कौन काम को किस कक्षा तक अच्छा वा बुरा कौन कर सकता है ? और कौन उसी काम को ऐसा बुरा कर सकता है कि जो न करने की अपेक्षा अपनी वा अन्य की वा सर्वसाधारण की हानि अधिक कर लेगा और शुभ फल भी कुछ न होगा वा फल इतना कम होगा जो होने की कोटि में न लाया जाय। इसी विचार के अनुसार सामान्य विधिवाक्य बालकों, सर्वथा असमर्थों, वा अज्ञानियों के लिये अथवा उन्मत्तों—पागलों के लिये नहीं माने जाते। इसी अंश को सामने रख कर अधिकारानधिकार का नानाविध भेद चलता है जिस को ठीक २ काम में लाने पर ही संसारस्थ प्राणियों का अच्छा नियमानुसार निर्वाह चल सकता है।

और (शुभंवा०) इत्यादि वचन विदुरनीति का है। यह भी महाभारत के इतिहास से स्पष्ट ही सिद्ध है कि भीष्मपितामह वा धृतराष्ट्रादि सभी लोग विदुर जी को प्रामाणिक धर्मनिष्ठ और धर्मज्ञ ज्ञानी मानते थे [अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः] धृतराष्ट्र जी ने कहा है कि इस हमारे क्षत्रिय राजवंश

में आप (विदुर जी) ही पण्डित माने गये हैं। इस के अनुसार प्रथम यह श्य होना चाहिये कि हम जिन को मार्ग बतलाने की चेष्टा करते हैं उन के दृष्टि में समझदार, पण्डित, धर्मनिष्ठ, धर्ममर्मज्ञ, मार्गज्ञ, प्रामाणिक और उन की अपेक्षा अधिक जितेन्द्रियतथा पक्षपातादि दोषों से रहित हों। और यह बात निस्सन्देह है कि जिस पुरुष में जैसे शुभ गुण हैं उस का वैसा ही प्रकाश अवश्य ही होता है। अपने २ गुण वा दोषों को कोई छिपा नहीं सकता। और जिस में जैसे गुण होंगे वैसा ही उस का प्रभाव वा असर भी लोगों पर अवश्य ही पड़ेगा। जब मार्ग बतलाने वालों में अनेक वा प्रायः ऐसे हैं जो लेख करने आदि द्वारा मार्ग बतलाने के समय तो बड़े २ कामों में सम्मतियां देते पक्षपातादि ठहराते बड़े २ बने हुए लेख लिखते हैं पर सन्ध्या के समय बाजार की शैर को निकलते वेश्याओं की ओर ताकते वा अन्य निकलती हुई स्त्रियों को ताकने आदि दुष्कर्म में वा व्यर्थ असम्बद्ध प्रलाप करते कराते सोजाते हैं वैसे ही संस्कारों के अनुसार विचार स्वप्न में उनको घेरे रहते हैं फिर अगले दिन प्रातःकाल से वेही रंग ढंग करते २ समय बीतता जाता है। सन्ध्योपासन के समय-ईश्वर भक्ति एकान्त सेवन जितेन्द्रियता चित्तवृत्ति निरोधादि उच्च कक्षा के काम तो दूर रहे किन्तु मध्यम कक्षा के विचार-शुद्धस्थान का वायु सेवन शरीर बल बढ़ाने नीरोग रहने के लिये व्यायाम करना, संसार में सुखी रहने के लिये कर्त्तव्य की समालोचना आदि में भी उन लोगों का समय बहुत कम व्यतीत होता है और जिन अंगरेजों को मार्ग बत लाना चाहते हैं उन में से कलट्टर साहवादि कोई तो मेम साहवादि को साथ लिये सड़कों पर घूमते कोई गाड़ी में बैठ कर गिरजा घर में पहुंचते कोई गेंद खेलते और कोई किन्हीं अधिकारी आदि से मिलनादि काम करते हैं परन्तु बाजार की दुर्गन्ध वायु को खाने के लिये साधारण गोरों को छोड़ कर अच्छे अंगरेज प्रायः नहीं जाते। यदि कभी २ कोई जाते भी हैं तो मेम साहवा के साथ रहने से साहवको कभी वेश्याओं की ओर दृष्टि उठा कर देखने की भी इच्छा नहीं होती द्वितीय शहर के लोग जो जानते हैं कि ये कलक्टर साहव हैं इत्यादि संकोच से भी बचते हैं। प्रयोजन यह कि अधिकारी राजप्रबन्ध कर्त्ता अंगरेज हमारी अपेक्षा सहस्रों अंश कम व्यभिचारादि दोषों में फसते हैं और कोई २ फसते भी हैं तो उन में भी अधिकांशों को एतद्देश निवासियों से ऐसे कामों में सहायता अवश्य मिलती है। बाजारों में जो वेश्

दन २ वृद्धि दीखती है उन के पालन पोषण आदर सत्कार करने वालों में शिक्षित पढ़े लिखे भारतवासी यथोचित सम्पत्ति वाले समझदारों का ही अधिक भाग विवेचन करने पर सभी को प्रतीत होगा। सो जब कामासक्तिरूप बड़ा दोष हम लोगों में इतना अधिक उन्नति पर है कि जो दिन २ क्रमशः बढ़ ही रहा है यदि किन्हीने वेश्याओं की ओर से चित्त को हटाया होगा तो उन से कई गुणे अधिक नये मनुष्य उधर को झुके होंगे और जो लोग वेश्याओं की ओर से हटे भी हैं उन में से कामासक्ति से बहुत ही कम हटे हैं किन्तु जिसने एक स्थान को छोड़ा स्थानान्तर में रहने लगा उस का स्थानत्याग नहीं माना जायगा। काम दोष की सहस्रांश भी अवनति नहीं है। अन्य सब दोषों का वा पापों का मूल कारण काम ही है। इसी लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में काम का नाम प्रथम लिया जाता है। और जहां संसारी दशा वा सृष्टि प्रवाह अच्छा चलने के लिये काम को गुण बुद्धि से मानते हैं तब—धर्म, अर्थ, काम, तीसरी कोटि में काम माना जाता है। इस लेख से हमारे पाठकों को स्पष्ट विदित हो जायगा कि कामासक्ति अंगरेज लोगों में हम से कम अवश्य है। इसी कारण हमारी अपेक्षा उन का तेज अधिक बना है। हमारे देशी श्रीमानों के लड़के अधिकांश १५। १६ वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य को नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं परन्तु अंगरेजों के लड़कों में यहां की अपेक्षा कई गुणा अधिक ब्रह्मचर्य रख वाया जाता है विवाह भी शीघ्र नहीं किया जाता। इत्यादि अनेक कारणों से ही तो वे राज्य शासन करने योग्य हैं। शोचने का स्थान यही है कि जो अनेक कारणों से प्रभुता को प्राप्त होके ईश्वरीय व्यवस्था से राजा बने हैं जिन की बुद्धि सब अंशों में बढ़ी हुई है। उन को हम क्या मार्ग बतलावें गे ?।

यदि ऐसा होने पर भी हम कोई अच्छी सम्मति राजकीय विषयादि में उन को दे सकते हैं तब हम को उचित है कि हम उन लोगों को अपनी शुभचिन्तकता प्रथम दिखलावें। यह भी निश्चय रक्खो कि यदि वास्तव में शुद्ध हृदय से हम भारतवासी लोग अंगरेजी राज्य के शुभचिन्तक बनेंगे। अर्थात् कोई खास २ दो चार पुरुष भी सत्य २ धर्मानुसार राज्य के पूरे शुभचिन्तक बनें तो वे छिपे नहीं रहेंगे। जैसे बड़ा दोषी छोटे दोषी को, थोड़ा पढ़ा अधिक पढ़े को और मूर्ख विद्वान् को शिक्षा सम्मति वा सुमार्ग नहीं बतला सकता जैसे अन्धा सूझते को मार्ग पर चलाने के योग्य नहीं ठहरता वैसे हम भी अंगरेजों को

मार्ग बतलाने योग्य अभी तो नहीं हैं पर उद्योग करें और अपने २ आचार विचारों को प्रथम सुधारें धर्म की ओर पूर्ण ध्यान देते जांय तो भविष्यत् में हमारा वैसा होना दुर्लभ भी नहीं है । और जब हम ऐसी योग्यता धारण करेंगे तब उन की दृष्टि में हम प्रामाणिक भी अवश्य हो जांयगे । इस से हम को अपने सुधार का उद्योग करना ही मुख्य है संसार परमार्थ दोनों में सुखी रहने का यही मार्ग है । और इसी के द्वारा मुख्य कर देशोन्नति होगी । इस से यदि वास्तव में हम भारतवासी देशोन्नति चाहते हैं तो प्रथम प्रत्येक अपने २ आचार विचारों को सुधारने का आरम्भ जितना शीघ्र हो कर ही देवें ॥

अब यह विचार शेष रहा कि हम कुछ जानते हुए भी न कहें तो अपराधी दोषी न होंगे ? और कहते हैं तो बुरा लगता है । इस पर हम यही उत्तर देते हैं कि जिस को यह प्रतीत हो जावे कि यह हमारा अवश्य शुभचिन्तक है स्वार्थी लोभी लालची नहीं इस कहने वाले का हृदय शुद्ध है किसी प्रकार का कल्मष इस के मन में नहीं है तो कैसा ही कठोर उस से कहो वह किंचित् भी बुरा न मानेगा । और ऐसे शुद्ध हृदय के पुरुष का थोड़ा भी उपदेश, सलाह सम्मति अन्यों की विशेष उपकारिणी अवश्य होगी । इस से हम को अपने हृदय के भावों का प्रथम सुधारना अत्यावश्यक है । अत्यन्त दुराग्रही मनुष्य कोई होते हैं जिन को कैसे ही शुद्ध विचार से सम्मति दो वे किसी की नहीं मानते अपनी ही रखते हैं । सो यह भी निश्चय रक्खो कि ऐसे मनुष्य राज्य करने योग्य कदापि नहीं होते किन्तु सदा नीची कक्षाओं में ही वे रहते हैं ।

और (शत्रोरपि०) शत्रु के भी गुण कहने तथा गुरु के भी दोष कहने वाले भी सर्वसाधारण नहीं होते किन्तु जो धर्म की उच्चशिखर पर आरूढ़ होते जो धर्म के मर्म जान लेते जिनको कुछ तत्त्वज्ञान हो जाता है उन का कोई भी हृदय से शत्रु वा मित्र नहीं रहता किन्तु व्यवहार में कहनेमात्र शत्रु मित्र रह जाते हैं । जब वे अपने में द्वेष की प्रबलता नहीं बढ़ने देते इसी कारण अपने साथ शत्रुता का वर्त्ताव करने वाले के गुणों को द्वेष वा क्रोध रूप अन्धकार उन के मन से निकाल नहीं सकता । ऐसे मनुष्य जब शत्रु के गुणों को भी कहते हैं तभी तो नाम मात्र वह शत्रु रह जाता है । इस बात को अधिक ध्यान देकर शोचो संसार में दृष्टि फैला कर देखो तो प्रायः यही दीख पड़ेगा कि जिन २ की जिन २ से शत्रुता, वैर द्वेष किन्हीं कारणों से हो गया और जिन २ ने जिस २ को किसी कारण गुरु मान लिया

दिन २ वृद्धि दीखती है उन के पालन पोषण आदर सत्कार करने वालों में शिक्षित पढे लिखे भारतवासी यथोचित सम्पत्तिवाले समझदारों का ही अधिक भाग विवेचन करने पर सभी को प्रतीत होगा। सो जब कामासक्तिरूप बड़ा दोष हम लोगों में इतना अधिक उन्नति पर है कि जो दिन २ क्रमशः बढ़ ही रहा है यदि किन्हीने वेश्याओं की ओर से चित्त को हटाया होगा तो उन से कई गुणे अधिक नये मनुष्य उधर को झुके होंगे और जो लोग वेश्याओं की ओर से हटे भी हैं उन में से कामासक्ति से बहुत ही कम हटे हैं किन्तु जिसने एक स्थान को छोड़ा स्थानान्तर में रहने लगा उस का स्थानत्याग नहीं माना जायगा। काम दोष की सहस्रांश भी अवनति नहीं है। अन्य सब दोषों का वा पापों का मूल कारण काम ही है। इसी लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में काम का नाम प्रथम लिया जाता है। और जहां संसारी दशा वा सृष्टि प्रवाह अच्छा चलने के लिये काम को गुण बुद्धि से मानते हैं तब—धर्म, अर्थ, काम, तीसरी कोटि में काम माना जाता है। इस लेख से हमारे पाठकों को स्पष्ट विदित हो जायगा कि कामासक्ति अंगरेज लोगों में हम से कम अवश्य है। इसी कारण हमारी अपेक्षा उन का तेज अधिक बना है। हमारे देशी श्रीमानों के लड़के अधिकांश १५। १६ वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य को नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं परन्तु अंगरेजों के लड़कों में यहां की अपेक्षा कई गुणा अधिक ब्रह्मचर्य रख वाया जाता है विवाह भी शीघ्र नहीं किया जाता। इत्यादि अनेक कारणों से ही तो वे राज्य शासन करने योग्य हैं। शोचने का स्थान यही है कि जो अनेक कारणों से प्रभुता को प्राप्त होके ईश्वरीय व्यवस्था से राजा बने हैं जिन की बुद्धि सब अंशों में बढ़ी हुई है। उन को हम क्या मार्ग बतलावें गे ?।

यदि ऐसा होने पर भी हम कोई अच्छी सम्मति राजकीय विषयादि में उन को दे सकते हैं तब हम को उचित है कि हम उन लोगों को अपनी शुभचिन्तकता प्रथम दिखलावें। यह भी निश्चय रक्खो कि यदि वास्तव में शुद्ध हृदय से हम भारतवासी लोग अंगरेजी राज्य के शुभचिन्तक बनेंगे। अर्थात् कोई खास २ दो चार पुरुष भी सत्य २ धर्मानुसार राज्य के पूरे शुभचिन्तक बनें तो वे छिपे नहीं रहेंगे। जैसे बड़ा दोषी छोटे दोषी को, थोड़ा पढ़ा अधिक पढ़े को और मूर्ख विद्वान् को शिक्षा सम्मति वा सुमार्ग नहीं बतला सकता जैसे अन्धा सूझते को मार्ग पर चलाने के योग्य नहीं होसकता वैसे हम भी अंगरेजों को

मार्ग बतलाने योग्य अभी तो नहीं हैं पर उद्योग करें और अपने
चारों को प्रथम सुधारें धर्म की ओर पूर्ण ध्यान देते जांय तो भविष्यत् वि-
चारा वैसा होना दुर्लभ भी नहीं है। और जब हम ऐसी योग्यता धारण
गे तब उन की दृष्टि में हम प्रामाणिक भी अवश्य हो जांयगे। इस से हम को
अपने सुधार का उद्योग करना ही मुख्य है संसार परमार्थ दोनों में सुखी रहने
का यही मार्ग है। और इसी के द्वारा मुख्य कर देशोन्नति होगी। इस से यदि
वास्तव में हम भारतवासी देशोन्नति चाहते हैं तो प्रथम प्रत्येक अपने २ आ-
चार विचारों को सुधारने का आरम्भ जितना शीघ्र हो कर ही देवें॥

अब यह विचार शेष रहा कि हम कुछ जानते हुए भी न कहें तो अपरा-
धी दोषी न होंगे? और कहते हैं तो बुरा लगता है। इस पर हम यही उत्तर देते
हैं कि जिस को यह प्रतीत हो जावे कि यह हमारा अवश्य शुभचिन्तक है स्वा-
र्थी लोभी लालची नहीं इस कहने वाले का हृदय शुद्ध है किसी प्रकार का क-
लमष इस के मन में नहीं है तो कैसा ही कठोर उस से कहो वह किंचित् भी
बुरा न मानेगा। और ऐसे शुद्ध हृदय के पुरुष का थोड़ा भी उपदेश, सलाह
सम्मति अन्यों की विशेष उपकारिणी अवश्य होगी। इस से हम को अपने
हृदय के भावों का प्रथम सुधारना अत्यावश्यक है। अत्यन्त दुराग्रही मनुष्य कोई
होते हैं जिन को कैसे ही शुद्ध विचार से सम्मति दो वे किसी की नहीं मानते
अपनी ही रखते हैं। सो यह भी निश्चय रक्खो कि ऐसे मनुष्य राज्य करने यो-
ग्य कदापि नहीं होते किन्तु सदा नीची कक्षाओं में ही वे रहते हैं।

और (शत्रोरपि०) शत्रुके भी गुण कहने तथा गुरुके भी दोष कहने वालेभी सर्व-
साधारण नहीं होते किन्तु जो धर्मकी उच्चशिखर पर आरूढ़ होते जो धर्म के
मर्म जानलेते जिनको कुछ तत्त्वज्ञान हो जाता है उन का कोई भी हृदय से शत्रु
वा मित्र नहीं रहता किन्तु व्यवहारमें कहनेमात्रशत्रुमित्र रह जाते हैं। जब वे अपने
में द्वेष की प्रबलता नहीं बढ़ने देते इसी कारण अपने साथ शत्रुता का वर्त्ताव
करने वाले के गुणों को द्वेष वा क्रोध रूप अन्धकार उन के मन से निकाल नहीं
सकता। ऐसे मनुष्य जब शत्रु के गुणों को भी कहते हैं तभी तो नाम मात्र वह
शत्रु रह जाता है। इस बात को अधिक ध्यान देकर शोचो संसार में दृष्टि फैला
कर देखो तो प्रायः यही दीख पड़ेगा कि जिन २ की जिन २ से शत्रुता, वैर द्वेष
किन्ही कारणों से हो गया और जिन २ ने जिस २ को किसी कारण गुरु मान लिया

है। उन में से सौ में एक भी ऐसा मनुष्य मिलना दुर्लभ है जो शत्रु के भी गुण और अपने मान्य गुरु के भी दोष कहता हो। वह मनुष्य अच्छी कक्षा का महाशय नाम महात्मा होगा तभी ऐसाकर सकेगा उस को कुछ तत्त्वज्ञान भी होगा धर्म का अङ्कुर उस के हृदय में अवश्य स्थान पागया होगा। इसी कारण वह पुरुष जगत् में अच्छी दशा का प्रामाणिक भी सर्वसाधारण की दृष्टि में अप्रश्य हो जायगा। संसार में जो २ लोग जिस २ पुरुष को गुरुमान लेते हैं उस के किन्हीं दोषों को जानते हुए भी छिपाने के उपाय अवश्य ही करते हैं। एक ईश्वर को छोड़ के सर्वथा निर्दोष कोई मनुष्य कभी हो ही नहीं सकता और जितना हो सकता है उस की सीमा ही मुक्ति है। गुरुओं के दोष कोई नहीं कहता वा कहने की शक्ति नहीं इसी अवलम्ब पर आज तक सहस्रों मत मतान्तर उन २ के नाम से चल गये और चलते जाते हैं यही गतानुगतिक दशा—(भेड़ियाधसान) है इसी से सत्य धर्म का मार्ग लुप्त हो गया और होता जाता है। अब भी जो २ समुदाय—धर्मोद्धार वा देशोन्नति के लिये कटिबद्ध होते वेभी उन्ही प्रवाहों में वहते जाते हैं जिस से अच्छे सुधार की आशा पूर्ण होते नहीं दीखती। और शत्रुओं के दोष छिपाने तथा गुणों को भी दोष बनाने का पूर्ण उद्योग किया जाता है इसी अवलम्ब से संसार में फूट वा द्वेष की उन्नति हो रही है। इस से सिद्ध हुआ कि जिस के हृदय को काम क्रोध वा रागद्वेष और लोभ ने पूर्णरूप से नहीं दवाया उसी के अन्तःकरण में धर्म ठहरेगा, उस का विचार शुद्ध निष्पक्ष होगा, वह महात्मा धर्मात्मा होगा वही शत्रु के भी गुण और गुरु के भी दोष कह सकेगा। इस से वही (शत्रोरपि०) अधिकारी है उसी के लिये ऐसे वचन कहे गये हैं। वह राजा के भी गुण दोष कह सकेगा और राजा उस को अवश्य अपना शिक्षक गुरु मानेगा। इसी के अनुसार बृहस्पति ही इन्द्र के गुरु हो सकते हैं (उत्तम कक्षा के ब्राह्मण को उत्तम राजा गुरु मानते ही हैं)॥

अब हम इस लेख को समाप्त करते और निवेदन करते हैं कि भारतीय प्रजा को मनुजी की आज्ञानुसार राजभक्ति धर्म बुद्धि से करनी चाहिये इसी में सब प्रकार कल्याण है। इस लेख में जो त्रुटि प्रतीत होगी उस के पूरणार्थ हम फिर कभी लिखेंगे। और मनुष्य के अल्पज्ञ वा सदोष होने से किसी प्रकार का दोष भूल वा त्रुटि रह जाना सम्भव ही वा निश्चित ही है इसी लिये हम भूल चूक की क्षमा भी कराने की प्रार्थना पाठकों के सामने करना उचित नहीं समझते केवल इसी अन्तिम वाक्य पर क्षमा मांगते हैं॥

श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वती जी का सिद्धान्त

हमने उक्त महात्मा जी का बहुत सङ्ग किया, उन के पुस्तक भी प्राय देखे, शोधे, बनाये लिखे हैं इत्यादि कारण अनेकों की अपेक्षा उन का भीतरी विचार हमे अधिक ज्ञात है इस बात को हम ही नहीं कहते मानते किन्तु अन्य महाशय भी प्रायः कहते मानते हैं। हम मुक्तकण्ठ से स्पष्ट हो कर लिखते हैं कि स्वामी जी का सिद्धान्त बहुत अच्छा शुद्ध निष्कलङ्क था। और वह सर्वसाधारण का कल्याणकारी था किसी का लेशमात्र भी अनिष्ट उस से कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकता। यद्यपि हम पीछे कभी स्वामी जी के सिद्धान्त को स्पष्ट करके अधिक लिखेंगे तथापि संक्षेप से अब भी लिख देते हैं—

वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। अन्य सब ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। मन्त्र भाग का नाम मुख्य वा मूल वेद है ब्राह्मण शाखादि वेद के व्याख्यान हैं। वेद का सब को अधिकार है। वेद सर्वदेशी है एकदेशी नहीं जैसे अग्नि वायु आदि तत्त्व ईश्वरीय होने से सर्वदेशी हैं एक देशी नहीं। इसी को चाहो यों कह लो कि जो किसी एक देश से सम्बन्ध रखने वाला विचार वा विद्या नहीं वही वेद है। वेद ही सर्वोपरि धर्म का मूल है वा धर्म की खान का ही नाम वेद है। "वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" अर्थात् अन्य ग्रन्थ इतिहास पुराण काव्य आदि का पढ़ना पढ़ाना अल्प धर्म है। और संस्कृत से भिन्न अन्य भाषाओं का पढ़ना पढ़ाना अत्यन्त अल्प—तुच्छ धर्म है यह अर्थापत्ति से सिद्ध हो गया। यह भी सिद्धान्त ठीक ही है कि धर्म ही से संसार का ठीक २ धारण होता नाम संसार का प्रवाह अच्छी दशा में चलता है। चाहे यों कहो वा मानो कि धर्म के द्वारा ही देशोन्नति हो सकती है धर्म से ही सब का सुधार होता है। हमे निश्चय है कि सब पाठक लोग निर्भ्रम ही मानलेंगे कि निस्सन्देह दृढ़तर स्वामी जी महाराज का यही सिद्धान्त है। और मनु जी ने भी स्पष्ट ही लिखा है कि—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥

अर्थः-सभी वेद धर्म का मूल है अर्थात् वेद में एक मात्रा वा विन्दु भी धर्म से विरुद्ध नहीं इस की अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि मनुष्य प्रणीत अन्य ग्रन्थों में तो मनुष्यों की अल्पज्ञता के कारण सब लेख धर्म का मूल नहीं किन्तु कुछ २ निर्माता के न्यूनाधिक दोषी होने से दूषित अवश्य है [जो लोग सर्वोपरि सत्यवक्ता, योगी, ज्ञानी, आप्त, सिद्ध, तपस्वी, महाविद्वान्, सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ, महर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देव, पितर, जीवन्मुक्त आदि भी माने गये वा माने जाते हैं जिन में से किन्हीं २ को किन्हीं लोगों ने अवतार वा साक्षात् ईश्वर मान लिया वा कह लिया है वे सभी उस २ समय के अपने से नीचे २ मनुष्यादि की अपेक्षा प्रशस्त हुए होते और हो सकते हैं किन्तु एक अनादि सिद्ध ईश्वर के सामने उन २ आप्त-ज्ञानी, योगियों की भी जब लेशमात्र भी प्रशंसा नहीं बनती तो उन से नीचों साधारणों की प्रशंसा क्या हो सकेगी ? । इसी के अनुसार ब्रह्मर्षियों तत्ववेत्ताओं के बनाये ग्रन्थों की प्रशंसा अन्य निकृष्टों के बनाये ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक हो सकती है किन्तु वेद के सामने सभी ग्रन्थ अल्प वा तुच्छ अवश्य हैं] सुख वा इष्ट सिद्धियों की वर्षा करने वाला होने से धर्म का नाम वृष वा वृषभ है उस का नाश करने वाला ही वृषल नीच शूद्र, चाण्डाल कहाता है। धर्म का नाश करने से ही वह मनुष्य नीच बन जाता है इस से धर्म का लोप न करे। धर्म का नाम यौगिक अर्थ से वृष माना गया और लोक में किसी अर्थ को लेकर ही बैल का नाम भी वृष पड़ गया है। सो अब रूढ़ि भेड़ियाधसान में फसे संसारी लोग शास्त्रों का तत्त्व बोध छूट जाने से सर्वत्र वृष का अर्थ बैल ही समझने लगे इसी अन्यपरम्परा में पड़ के „वृषभ के ऊपर पृथिवी थम्भी हुई है" ऐसे लेखों का अर्थ यही समझने लगे कि बैल के ऊपर पृथिवी थम्भी है सो यह बात बुद्धि से काम लेने वालों को सर्वथा ही असम्भव जान पड़ती है और ठीक ही असम्भव है। परन्तु वृषभ के ऊपर पृथिवी सधी है वा वृषभ पृथिवी को धारण कररहा है चाहो यों कहो वा मानो कि जो पृथिवी को धारण करने वाला है उस का यौगिक नाम वृष वा वृषभ भी है सो यह बात ठीक है कि धर्म ही सब की धारणा करता है और धारण करने से धर्म कहाता है। हिलचल, घबराहट, धकपक, शोक, मोह, लोभ, हाय २ मरे २, इत्यादि दुर्दशा का नाम अवनति और ठीक २ हिलचल रहित सावधानता प्रसन्नता शान्ति का नाम धारण और उन्नति वा सुखी होना है तो साराश यह निकला कि सुख, उन्नति वा इष्टसिद्धि का कार-

ण धर्म और धर्म का कोष वा मूल, जिस में ठसाठस धर्म ही भरा है वह वेद है यही मूल वा पक्का स्वामी जी का सिद्धान्त है। और अन्य जो कुछ व्याख्यान स्वामी जी ने अपनी पुस्तकों में किया है वह सब मूल के पोषण रक्षणार्थ मानना चाहिये पर इस मूल सिद्धान्त के मुख्यांश को कोई महाशय अपने भीतर तब ठीक बैठा सकते हैं जब कि शाखारूप अक्षरोंमात्र पर लटकना छोड़ कर स्वामी जी के आशय पर ध्यानदेवें शोचविचार करें। अभीतक आर्यसमाज में भी अधिकांश मनुष्य ऊपर २ शाखाओं में ही घूमने वाले हैं वा यों कहो वा मानो कि पूर्व बहुत काल से आर्यों में जो वेद के तत्त्वों को शोचने की योग्यता शक्ति थी सो अब काम, क्रोध, लोभादि दोषों की उन्नति से हृदयों के दूषित कलङ्कित होते जाने के कारण नहीं रही इसी कारण इनका हिन्दू नाम भी सार्थक हो गया उन्हीं हिन्दुओं में से निकल के थोड़े से मनुष्य आर्य कहाने लगे पर उन में प्रायः हिन्दुपन अभीतक बना है और वर्त्तमान कार्यवाही से आर्यों में से निकृष्टता का दूर होना भी कम सम्भव है। हम स्पष्ट कहते हैं कि स्वामी जी के सिद्धान्त का सारांश अभी तक बहुत ही कम लोग कुछ २ समझे हैं। इसी से वर्त्तमान समय में जो नानाप्रकार के अङ्कुररूप विचार परस्पर विरुद्ध आर्यसमाज में विद्यमान हो गये वा होते जाते हैं ये अभी तो कारणरूप से संचित रोगों के समान कुछ भी नहीं जानपड़ते कि जानो हैं ही नहीं परन्तु यदि इन अङ्कुरों के अभाव का कोई प्रबल उद्योग आर्यसमाजों ने न करपाया जो उन को जड़ से उखाड़ दे, अभी से निर्मूल करदे तो भविष्यत् में हिन्दू आर्यों वा हिन्दू मुसलमानों के समान आर्यों में भी खटाखट मचेगी। सब का कारण अविद्या की प्रबलता होगी। अभी कालिज और वेदप्रचार के नाम से दो दल कई वर्ष से धीरे २ अङ्कुरित होके कुछ २ विरोध के लिये भी सन्नद्ध हो गये हैं। प्रथम संस्कारविधि में नानाप्रकार के विकल्प सन्देह हो २ कर दबे धरे हैं। वेद भाष्य में अनेक सन्देह अनेकों को हुए वा होते हैं। कोई कहता वेद भाष्य में अन्य लोगों ने प्रक्षिप्त कर दिया, कोई कहता है संस्कारविधि में पोपलीला मिल लगई, कोई पुनर्विवाह को नियोग बतलाता और मानता है कोई मांस म खाने को भी अच्छा मानता, कोई स्थावर योनि में जीव का खण्डन करता कोई मण्डन करता है और कोई २ सब नये २ इतने आर्य ऐसे भी प्रकट हुए जो कहते हैं कि सत्यार्थप्रकाशादि पुस्तकों में तो समीपरहने वाले पोपों

बहुत पोपलीला मिलादी देखो नियोग कैसा वेश्या का सा कृत्य सत्यार्थप्रकाश में लिखदिया है केवल एक वेदभाष्य ही ठीक स्वामी जी का लेख है अन्य पुस्तक सब गड़ बड़ हैं। कोई कहते हैं स्वामी जी ने अन्य ग्रन्थों का प्रमाण दे के से जो २ कुछ लेख लिखा है वह २ उन २ ग्रन्थकारों का मत है स्वामी जी का कुछ नहीं केवल जहां कहीं वेद मन्त्र प्रमाण में लिखे हैं वही स्वामी जी का मत वा सिद्धान्त है। कोई कहता ब्राह्मण सभी पाप हैं जो कुछ हानि वा दुर्दशा हुई ब्राह्मणों ने ही की है कोई कहता है कि जो २ जब २ सुधार वा उन्नति हुई ब्राह्मणों ने ही की है। अस्तु—इत्यादि अनेक मत भेद जो विद्यमान हैं इन से आगे २ बड़ा भय है। सब का कारण तत्त्व सिद्धान्त न समझना है जो सिद्धान्त हमने ऊपर लिखा है उस की ओर ध्यान दिया जाय उस की सिद्धि, वेद का पठन पाठन आर्य्यों में चले तो हो सकती है किसी २ समय कहलेने वा मान लेने मात्र से उस सिद्धान्त पर कोई ठीक आरूढ नहीं हो सकता किन्तु जो किसी समय उस सिद्धान्त पर चले वह उस पर आरूढ मानाजायगा। और अन्य कहलेने वाले आभासमात्र बनावटी आर्य माने जायंगे। और यह बात तभी सिद्ध हो सकती है जब धर्म के मूल वेद का पठन पाठन आर्यों में चले। जो कहते हैं कि वेद हमारा धर्म है वे ही कालिज करके अंगरेजी पढ़ाने का उद्योग लगातार कर रहे हैं। वेदप्रचार के नाम से चिड़ना उन का स्वाभाविक काम है। कोई लोग ऐसे ही कालिज के नाम से चिड़ते हैं। वेद प्रचार शब्द को ही सब सुधारों की जड़ समझते हैं पर शोचने से प्रतीत होता है कि जब तक पठन पाठन द्वारा कोई वेद के महत्त्व को न जाने तो वह प्रचार कहां से वा कैसे करेगा? और पठन पाठन का कहीं नाम निशान नहीं?। हमारा यह सब लेख इस विचार से नहीं है कि हम किसी पक्ष की बुराईमात्र दिखलादेवें वा लोगों को चिड़ावें किन्तु हम वर्त्तमान कालिक सब ही सभा समाजों में आर्य समाज को ही इस बहते हुए संसार के प्रवाह में प्रबल वा दृढ़तर वृक्ष नाम वेद की पिण्डी को पकड़ने वाले समझते थे और अब भी कुछ २ समझते हैं। महात्मा स्वा० दया० जी ने जो मूल रूप वेद इस आर्यसमाज को पकड़ाया था वा पकड़ने को बताया था उस को अभी तक किसी २ ने कुछ २ पकड़ा वा ध्यान दिया भी है तो वह इतना कम है जिस का न होना ही माना जायगा। यदि आर्यों में से थोडे मनुष्य भी वेद को ठीक २ पकड़लेवें [वेदाध्ययन वेद बोध को

ओइम् पाठशाला का आय व्यय मास जनवरी ९८ ई० का ॥

१८=)॥ गत मास दिसम्बर का शेष ॥
२४।=)। मासिक चन्दा योग
५) पं० लेखराम जी बेला
५) बा० गंगासहाय ओवरसियर इटावा
१) पं० दंगीलाल जी ”
॥) मुं० रामस्वरूप जी ”
१) चौ० पद्मसिंह जी सुंदरपुर ”
१) पं० बुद्धसेन जी ”
-)। मुं० रामप्रसाद जी ”
-) पं० भैरवदत्त जी ”
२) बा० हीरालाल जी ”
४) कुं० टुकमानसिंह जी ”
१) पं० मातादीन जी ”
।) मास्टर गुन्दीलाल जी ”
१) पं० रामजीमल जी ”
१) बा० सुखीलाल जी ”
१॥) बा० शिवचरणलाल जी
३१॥≡)॥ नैमित्तिक चंदा का योग
१॥-) बा० शाकम्बरीदास जब्बलपुर
३॥।=) डा० इन्द्रमणि जी लखनौ
१०) पं० ख्यालीराम जी हलद्वानी
१) कुं० मुकटसिंह नौगांव
२॥) बा० हनुमानप्रसाद जी लखनौ
२) पं० नारायणदत्त झांसी
१) पं० सोहनलाल जैमिनि भक्त
२॥) ला० अयोध्याप्रसाद सहारनपुर
)॥ ला० मुन्नालालगु० आगरा (यज्ञोपवीत)
५) ला० बद्रीदास बांकेलाल जी आगरा
२) ला० सालिगराम जी आगरा
१५।=)॥ भोजन मध्ये अन्यों के
१२≡)। फुटकर (व्याज, विक्रयपुस्तकादि से)

१०१॥।=) सर्वयोग

सब प्रकार का व्यय—

३३॥)॥ भोजन खर्च
३।≡) कपड़ा व सिलाई
२) फुटकर खर्च
१-) वेतन
।≡)॥ रसीद भेजने वा पत्र भेजने में
२६॥।)। जमा खर्च
९॥) अग्निहोत्र, घृतादि में
२५) सूद पर पिछले १५०) में जमा किये गये

१०१।=)

॥) शेष आगे को और १७५) सूद पर रहे ॥

ह० भैरवदत्त त्रिपाठी कोषाध्यक्ष
पाठशाला इटावा

पाठशाला के आय की दशा इस मास में अच्छी है सब आय—६८।-) हुआ जिस में पूर्व के १८=)॥ और १५।=)॥ को मिलाने से १०१॥।=) होते हैं । इन्हीं ६८।-) में से २५) बचे जो अधिक जमा हुये। फुटकर आदि आय व्यय का विशेष व्योरा पाठशाला के रजिस्टर में कोषाध्यक्ष के पास सब विद्यमान है । दाता लोगों को पाठशाला कमेटी अत्यन्त धन्यवाद देती है और आगे को आशा करती है कि संस्कृत विद्या की उन्नति द्वारा संसार का सुधार चाहने वाले महाशय इसी प्रकार सहायता देते रहेंगे । परमेश्वर दाता लोगों को सदा सुखयुक्त करे ॥

आप का—भीमसेनशर्मा

सूचना ॥

१—इस बार आ०सि० का अङ्क निकलने में जो १५ दिन का अतिकाल हो गया इस का कारण कागज का चुक जाना था। देशान्तर से छपने का कागज अधिक उद्योग करने पर भी न पहुंचा। आगे को यथासम्भव इस का विशेष विचार रहेगा। इस से यह हमारा दोष नहीं जो क्षमा करावें॥

२—(अष्टाध्यायी) पाणिनीय व्याकरण का प्रथमा वृत्ति भाषार्थ छप गया इस में पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति के संकेत और भाषा में सूत्रार्थ छपा है अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी है। ४४४ पेज रायल का पुस्तक है मूल्य १॥) इस से आगे अष्टाध्यायी द्वितीया वृत्ति छपेगी जिस में उदाहरण प्रत्युदाहरण, वार्त्तिक परिभाषादि सब रहेंगे। जिन महाशयों को संस्कृत व्याकरण द्वारा वेद का स्वाद लेना हो वे प्रथम बालकों को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करावें। और थोड़ा संस्कृत पढ़े भी इसे समझ सकें गे॥

३—हमने अपना पहिला संकल्प प्रकट करने मात्र के लिये शेष उपनिषद्, न्यायादि और वेदों पर भाष्य करने की प्रसिद्धि की है किन्तु अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं। इस से पूर्व हमने पहिले सामवेद का भाष्य करने का विचार किया था परन्तु अब कई मित्रों तथा देशहितैषियों के अनुरोध से हम ने प्रथम अथर्ववेद के भाष्य करने का संकल्प कर लिया है और आवश्यकता समझेंगे तो अथर्व भाष्य छपने के पश्चात् सामवेद का भी भाष्य छपा वैंगे। अनुमान अब से १० महिने पश्चात् अथर्ववेद भाष्यका मासिक अङ्क ५ फारम ४० पेज पुष्ट रायल कागज में निकलेगा वार्षिक मूल्य इस का २) मात्र डाक व्यय सहित होगा। अभी कोई ग्राहक, मूल्य न भेजें किन्तु यदि चाहें तो कार्ड द्वारा सूचना भेज कर ग्राहकों की नामावली में नाम लिखा देवें। मूल्य भेजने के लिये हम पीछे से सूचना देवेंगे॥

४—हम ने विवाह करने योग्य कन्या वरों का जो धर्मार्थ रजिष्टर बनाया है उस में अभी थोड़े नाम लिखे गये हैं कृपाकर शीघ्र २ लोग नामावली भिजवावें कन्याओं वाले प्रायः वरों को तलाश करते हैं इस लिये उन को बड़ी सुगमता होगी द्वितीय आर्यसमाजस्थ होने की इसमें कोई आवश्यकता नहीं किन्तु सर्वसाधारण लोग इस में नाम लिखा सकते हैं।

५—वेद, ब्राह्मण गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्रादि को अति शुद्ध मूल छपाने का भी संकल्प हमने किया है जिस में मूल के साथ प्रकरण लिखने आदि कई प्रकार की विशेषता भी हम करेंगे। और यथासम्भव मूल्य भी अत्यन्त कम रक्खेंगे जिन में से प्रथम वेद छपेंगे तदनन्तर ब्राह्मणादि छपेंगे इस का शीघ्र ही आरम्भ होगा।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्‌ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ९] मासिकपत्र [अङ्क ३

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ फालगुन शुक्ल ता० १ मार्च सन् १८९८ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार मास फरवरी ९८ ई० ॥

९५६ श्रीवासुदेवसिंह वर्म्मा घटोला २॥)	९८० पं० शंकरलाल जी बिजनौर १)
१२९६ श्रीरणजीतसिंह जी ओन्ध १)	१४० सेठ सुन्दरदास धर्मसी मुम्बई १)
६७८ पं० अम्बालाल जी डूंगरपुर १)	१०४५ पं० गंगाप्रसाद जी दुबेपुर १)
६० बा० नन्हेलाल जी मिर्जापुर २॥)	३०१ सुन्दरलाल गणेशीलाल मुम्बई १)
७५९ डा० लक्ष्मणप्रसाद जी फतहगढ़ १)	१२९५ श्री केवलराम पुरुषोत्तमदास जी कलकत्ता १)
१२३७ कुं० महाराजसिंह जी नगला १)	१२४५ बा० कालीचरण जी अतरौली १)
६०९ कुं० कुञ्जबिहारी सिंह जी अमरावती २॥)	३६५ श्री मोतीलाल गोविन्दलाल जी मुजफ्फरपुर २॥)
६८८ बा० अयोध्याप्रसादजी अम्बाला १)	६२ मुं० जयन्तीप्रसाद जी बलिया ।॥)॥
११५२ विष्णूराजारामजोषी बारंग १)	
११७० ला० मन्नूलालदुर्गाचरण कालपी १)	

२–(अष्टाध्यायी) पाणिनीय व्याकरण का प्रथमावृत्ति भाषार्थ छप गया इस में पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति के संकेत और भाषा में सूत्रार्थ छपा है अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी है । ४४४ पेज रायल का पुस्तक है मूल्य १।) इस से आगे अष्टाध्यायी द्वितीयावृत्ति छपेगी जिस में उदाहरण प्रत्युदाहरण, वार्त्तिक परिभाषादि सब रहेंगे । जिन महाशयों को संस्कृत व्याकरण द्वारा वेद का स्वाद लेना हो वे प्रथम बालकों को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करावें । और थोड़ा संस्कृत पढ़े भी इसे समझा सकें गे ॥

३–हमने अपना पहिला संकल्प प्रकट करने मात्र के लिये शेष उपनिषद्, न्यायादि और वेदों पर भाष्य करने की प्रसिद्धि की है किन्तु अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं । इस से पूर्व हमने पहिले सामवेद का भाष्य करने का विचार किया था परन्तु अब कई मित्रों तथा देशहितैषियों के अनुरोध से हमने प्रथम अथर्ववेद के भाष्य करने का संकल्प कर लिया है और आवश्यकता समझेंगे तो अथर्व भाष्य छपने के पश्चात् सामवेद का भी भाष्य छपा वेंगे । अनुमान अब से १० महीने पश्चात् अथर्ववेद भाष्य का मासिक अङ्क ५ फारम ४० पेज पुष्ट रायल कागज में निकलेगा वार्षिक मूल्य इस का २।) मात्र डाकव्यय सहित होगा । अभी कोई ग्राहक महाशय मूल्य न भेजें किन्तु यदि चाहें तो कार्ड द्वारा सूचना भेज कर ग्राहकों की नामावली में नाम लिखा देवें । मूल्य भेजने के लिये हम पीछे से सूचना देवेंगे ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ९ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ३

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे ॥

गत भाग ९ अङ्क २ पृ० ४० से आगे स्वामी जी का सिद्धान्त॥

ही सब इष्टसिद्धियों का हेतु जान मान लेवें] तो वे अन्य आर्यों के लिये ही नहीं किन्तु भूमण्डल भर के लिये तारने वाले होजायंगे। ऐसी दशा में आर्यसमाज डूबते हुए संसार को बचाने वाला होगा। स्वामी जी का यही उद्देश था और है। अब आ० स० में अपने को सभी ग्रन्थकर्त्ता और पण्डित मानते हुए इस उद्देश को बिगाड़ेंगे ऐसा अनुमान होता है हम ईश्वर से प्रार्थना करने के साथ उन शुद्ध आर्यों से भी प्रार्थना करते हैं कि जिन के हृदय को काम, क्रोध, लोभ ने अत्यन्त नहीं ढांप रक्खा है वे महाशय मेरे इस लेख पर कुछ ध्यान देवें ॥

कोई लोग कह सकते हैं कि तुम (भी०श०) भी तो स्वामी जी के सिद्धान्त से विरुद्ध, जन्म से वर्णव्यवस्था, मन्त्र भेद आदि मानते लिखते हो क्या तुम्हारे ऐसे लेख स्वामी जी के सिद्धान्त से विरुद्ध नहीं हैं ?। क्या ऐसे लेखों से आर्यों में मतभेद हो के विरोध नहीं फैलेगा ?॥

इस का उत्तर यह है कि मेरा लेख लेशमात्र भी स्वामी जी से विरुद्ध नहीं समझने वालों की समझ का दोष है। मैं दृढ प्रतिज्ञा करता हूं कि अपने लेख को

सर्वथा अनुकूल निर्दोष समझा सकूंगा यदि कोई महाशय चाहें तो मुझ से समझलें यदि वे मुझे समझासकें गे तो मैं उन का मानलूंगा। अर्थात् कोई मुझ से स्वामी जी के सिद्धान्त के साथ अनुकूलता समझले और मैं अनुकूलता ठीक न समझा सकूं तो मुझे प्रतिकूलता समझा के सिद्ध कर देवे। यदि कोई कुछ न करे तो मन माने लड्डू रह गये प्रत्येक को अधिकार है घर बैठा जो चाहे मानता रहे ॥

मैं यह निस्सन्देह और निर्विकल्प मानता हूं कि स्वामी जी का सिद्धान्त अपना बनाया गढ़ा हुआ नहीं है कि जैसे अन्य शैव वैष्णवादि मत केवल अपने २ विचार से उन २ मतों के प्रवर्त्तक आचार्यों ने चलाये थे। यद्यपि आरम्भ में सभी मतों के प्रवर्त्तक अपने २ मन्तव्य को सर्वदेशी सर्वमान्य ठहराने का उद्योग करते हैं तथापि सब के मूल वेद का साक्षात् सहारा न ले कर कुछ नाममात्र शास्त्रांश का मूल लेकर चले भी मत सदा आगे २ निर्मूल एकदेशी अल्प समुदाय के मान्य हो जाते हैं। पर "स्वामी दया०" जी का ऐसा छोटा विचार नहीं था किन्तु वे महात्मा वेद के सिद्धान्तानुसार अपना विचार रखते थे—

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

जैसे टेढ़ी निगाह से हिन्दु, मुसल्मान, ईसाई—आदि, आर्यों—वेदमतानुयायियों को देखते हैं उसी प्रकार की दृष्टि से आर्य लोग भी उन २ को देखते वा देखना चाहते हैं तो निस्सन्देह सब लोगों में परस्पर कुछ २ उत्तमता निकृष्टता का भेद रहने पर भी "चोर २ मोसियातेभाई" सब माने जावेंगे। पाठक लोग ध्यान दीजिये कि विना नींव की भित्ति के समान निर्मूल एकदेशी मन्तव्य अल्पमान्य हो कर चिरस्थायी कदापि नहीं हो सकता। स्वा० द० जी का पूर्ण उद्योग, दृढ़ संकल्प, अटूट सिद्धान्त था कि वेद सर्वदेशी है, वेद का ही सिद्धान्त सर्वमान्य समूल त्रिकालाबाध्य है। यही आर्यसिद्धान्त, यही आर्यमत और यही आर्यसमाज का मन्तव्य है। हम अपने सब लेखों का यही उद्देश रखते और मानते हैं कि वेद का सिद्धान्त सर्वदेशी सर्वमान्य हो किन्तु एकदेशी अल्पमान्य न हो जावे तब वेद का सर्वोपरि मानना और वेद को ही सनातन अनादि आर्यमत कहना ही तो स्वामी जी का मूल सिद्धान्त वा मन्तव्य था सो उन के सब लेखों वा पुस्तकों से भी स्पष्ट सिद्ध ही है फिर शोचिये कि हमारा विचार

लेशमात्र भी स्वामी जी के सिद्धान्त से विरुद्ध कब हुआ ? । हमने जहां तक अन्य किहीं २ आर्याभासों को विरोध दीख पड़ने का हेतु शोचा है वहां तक प्रधान तीन ही कारण विचार में आते हैं ॥

एक तो वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त वा मर्मज्ञान से प्रायः लोग शून्य हैं वा किहीं ने कुछ जाना तो वह इतना कम है जो न जानने में ही सम्हाल किया जा सकता है । इसी का नाम सब अनर्थों का प्रधान हेतु अविद्या वा अज्ञान है दर्शन शास्त्रों में जिस का नाम मोह भी माना है:-

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥

यह न्यायदर्शन का गोतमसूत्र है कि उन दोषों में मोह नामक अविद्या ही मुख्य कर पाप कराने वाली है क्योंकि अविद्या के न रहने पर अन्य रागादि दोष भी उस पुरुष में उत्पन्न नहीं होते इसी बात को योग में भी (अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां०) सूत्र से कहा है दोनों शास्त्रकारों का एक ही आशय जानो अर्थात् अज्ञान वा मिथ्याज्ञान, तमोगुण, निद्रा आलस्य प्रमाद भूल मुख्य प्रथम कारण है ॥

द्वितीय कारण अपनी २ ओर अधिक खेंचाखेंची वा गुणकर्मादि के विना भी अपनी २ जाति की ओर अधिक झुकना, वा संकुचित विचार, जिस से प्रत्येक मनुष्य स्वार्थ को साथ लिये अपने २ गुण कर्मों को ठीक २ उचित रीति से न सम्हालता हुआ भी उच्चवर्ण बनने का उद्योग करता है । भला शोचिये तो सही कि जब वेद के सिद्धान्तानुसार किसी जाति वा समुदाय के सभी मनुष्य ठीक२ गुण कर्मों के न रहने से पूर्व से कहाने वाले नामधारी युक्ति प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते अर्थात् पूर्वकाल से ब्राह्मण क्षत्रिय कहाने वाले समुदाय ही जब शास्त्रानुसार ठीक ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं माने जा सकते तो अन्य कोई २ जाति वा समुदाय के वे २ मनुष्य अपनी जाति भर को ब्राह्मण वा क्षत्रिय ठहराने के लिये तत्पर होते हैं क्या यह उनका उद्योग वा विचार युक्ति प्रमाण शून्य नहीं है ? और यदि ऐसे विचार [ख़यालात] के मनुष्य आर्यसमाज में भी अधिकांश सम्मिलित हैं जो शोचने से वा अन्वीक्षण करने से अच्छे प्रकार ज्ञात होंगे जिन में रागरूप दोष तथा पहिला मोह ये दोनों ही प्रबलता से दीख पड़ेंगे ॥

तृतीय उस मोह नामक अविद्या का सन्तान राग का सहोदर भाई द्वेष भी दृष्टि पसार के देखने से स्पष्ट दीखता है जिस का परिणाम वा उपद्रव है कि जो हमारे प्र-

तिकूल कहे वा हमारी इच्छा से विरुद्ध करे उसी से द्वेष करें। अनुकूल के साथ में ही राग लगा है। जिस के कारण नाना प्रकार के वैर, विरोध, फूट उपस्थित हो रहे और होते जाते हैं। जब संसार में देखाजाता है कि जिस को हम मित्र मानते उस में और अपने में भी दोष हैं पर अनुकूलता के कारण अपने वा इष्ट मित्र के दोष नहीं दीखते वा देखना दिखाना नहीं चाहते क्योंकि जिस अनुकूलता से सुख वा लाभ शोचते हैं उस में, दोष देखें तो बाधा पड़ती है। और ऐसे ही जिस को शत्रु मानते उस के गुण नहीं दीखते यही राग द्वेष का स्वरूप संसार भर में ठसाठस भरा है। इसी से धर्म की ओर ध्यान नहीं पहुंचता और जब धर्म की ओर विचार बढ़ता अन्तःकरण में धर्म को ठहरने का अवसर मिलता है तभी अविद्यादि क्लेश वा दोष निर्बल पड़ जाते हैं तब उस की प्रबल शत्रुता वा मित्रता किसी से नहीं रहती संसार को समानदृष्टि से देखने लगता है॥

हमारा लेख वा विचार किन्ही २ लोगों को स्वामी जी के मन्तव्य से विरुद्ध दीखता है उस का एक कारण यह भी है कि हम स्वामी जी के मन्तव्य को दृढ़ सर्वदेशी समूल ठहराने का विशेष उद्योग इस लिये करते और करना चाहते हैं कि वेद का सिद्धान्त वा स्वरूप संसार में सूर्य के समान उदित हो जाय, अन्धकार मिटे, नाना प्रकार के परस्पर मतों का विरोध टूटे द्वेष मिटे धर्म फैले स्वामी जी का उद्देश पूरा २ ठीक २ सफल हो। सो यह उद्देश तब तक पूर्णरूप से ठीक ठीक सिद्ध नहीं हो सकता कि जब तक वेद और वेदव्याख्यानरूप स्मृति आदि आर्ष ग्रन्थों के उद्देशों से मिला २ कर उस वेदाशयरूप स्वा० द० जी के सिद्धान्त का विशेष वर्णन न किया जाय। बस यही भेद वा अन्तर है। हमारा उद्देश वा भीतरी विचार है कि हम आर्यसमाज के वेदोक्त अतिपवित्र सर्वथा निर्दोष मन्तव्य को ऐसा दृढ़—पुष्ट चिरस्थायी ठहरावें जिस से स्वा० द० जी का संकल्प भविष्यत् में निर्विकल्प सिद्ध होसके सो ऐसी पुष्टि वेदादि ग्रन्थों के शुद्ध आशय के साथ सिद्धान्त का मेल दिखाने से ही हो सकती है और वैसा विचार खोलने के लिये हमारे लिखने का प्रकार अन्यों के सामने भिन्न हो जाता है इसी कारण किन्ही लोगों को विरोध दीखता है। यदि वे प्राचीन आर्ष शास्त्रों से स्वामी जी के मन्तव्य को मिलाने की योग्यता अपने में होने का उद्योग करें तो विरोध लेशमात्र भी न दीखे॥

पाठक लोग शोचें–प्रत्येक बात का कुछ मुख्य अभिप्राय वा प्र० करता है। गुण कर्म से वर्णव्यवस्था की अधिक आवश्यकता दिखाने में स्वा० जी का आशय यही था कि सम्प्रति ब्राह्मणादि वर्ण गुण कर्म से हीन हो कर भी अपने को वैसे ही ब्राह्मणादि होने का दावा करते जाते हैं जैसा कि गुण कर्म सहित होने की दशा में करना उचित था। यदि ब्राह्मणआदि गुण कर्मों के विना मान लिये जावें तो वेदविद्या और वैदिक धर्म से होने वाली उत्तमता को धक्का लगता है और धर्म कर्म हीन मूर्खों का मान्य होने से विद्या वा धर्म को ही धक्का दिया जाता है। इसी विद्या और धर्म की अधोगति से आर्यावर्त्त देश की अवनति अधोगति हो गयी। सो यह सर्वथा ही सत्य है स्वा० जी के इस मन्तव्य को हम सर्वथा ही सत्य मानते हैं। गुण कर्मों के न होने पर हम वय० कोई भी विचारशील बुद्धिमान् उन ब्राह्मणादि को उत्तम नहीं मान सकता किन्तु उन २ में जो २ पुरुष जिस २ वर्ण के गुण कर्मों को अधिकांश धारण करेंगे शास्त्रानुसार वे २ उस २ वर्ण में गिने जावेंगे। यदि वे सब ब्राह्मणादि कहाने वाले अपने २ गुण कर्मों में ठीक २ प्रवृत्त तत्पर होते तो स्वामी जी को कदापि गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानने की आवश्यकता दिखानी न पड़ती। इस बात को शोचने वाले सभी लोग ठीक जानलेंगे। इस लिखने से हमारा प्रयोजन यह है कि स्वामी जी महाराज आर्ष ग्रन्थों को वेदानुकूल होने की दशा में सत्य निर्भ्रान्त ही मानते थे। युक्ति युक्त अखण्डनीय सभी विषय वेदानुकूल ठहरे जाते हैं क्योंकि सर्वोपरि युक्तियुक्त, त्रिकाल में भी जिस का कोई खण्डन नहीं कर सकता उसी का नाम वेद है। तब मनु जी ने नवमें आदि अध्यायों के कई स्थलों पर वा अन्य २ प्रतिष्ठित ग्रन्थकारों ने जो २ बीज और क्षेत्र के सा० भी वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध युक्तियों सहित दिखाया है जिस में से कई पद्य हम पहिले वर्णव्यवस्था के लेखों में स्पष्ट व्याख्यान सहित लिख भी चुके हैं–

बीजस्यचैवयोन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥
अन्यदुप्तं जातमन्य–दित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यतेयद्धियद्बीजं तत्तदेवप्ररोहति ॥

तिकूल कल्प्राज और खेत में से बीज उत्तम है क्योंकि स्थावर जङ्गम सब की उत्पत्ति बीज की प्रधानता परक दीखती है । गेंहू बोयाजाय यव उत्पन्न हो ऐसा नहीं होता किन्तु जो २ बीज बोयाजाता है वही २ उत्पन्न होता है । यह मनुष्य से लेकर पशु पक्षी आदि सब के लिये सामान्य कथन है क्योंकि प्रकरण देखने से स्पष्ट ही ब्राह्मणादि मनुष्य के साथ इस का प्रधान सम्बन्ध सिद्ध है । कोई महाशय यह भी नहीं कह सकते कि स्वा० जी ऐसे श्लोकों को असत्य मानते थे इस के लिये किसी के पास कोई प्रमाण नहीं मिलेगा । और हम तो यह प्रमाण प्रत्यक्षानुसार देते हैं कि मनु जी के उक्त श्लोकों का सर्वथा युक्तियुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्बन्ध है और युक्तियुक्त सभी लेख स्वामी जी का मन्तव्य था ॥

अब विचारणीय यह रहा कि गुण कर्म और जाति दोनों के साथ जब वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध युक्त ठहरता है और दोनों में परस्पर विरोध दीखता है तब एक ही मन्तव्य ठीक ठहरेगा । द्वितीय का त्याग करना होगा इस का उत्तर संक्षेप से हम यह देते हैं कि इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है । हम को शास्त्रीय सिद्धान्त का ठीक बोध न होने से जो विरोध दीखता है वह हमारी अल्पज्ञता का कारण है । यदि स्वामी जी के विद्यमान रहते हुए ऐसे जन्म नाम जाति से वर्णव्यवस्था का युक्त सम्बन्ध दिखाने वाले मन्वादि के प्रमाणों की व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ती तो वे महात्मा अवश्य कोई व्यवस्था [फैसला] करते और निश्चय है कि ऐसे युक्तयुक्ति श्लोकों को कदापि प्रक्षिप्त नहीं कहते । और वह व्यवस्था यही होती जो हम यहां दिखाते हैं कि—

गुण कर्म और जन्म तीनों से वर्णव्यवस्था मानना उत्तम वा प्रथम कक्षा है अर्थात् जिस में तीनों हों वह सब से उत्तम ब्राह्मणादि होगा जिस में दो हों वह उस से नीचा और एक वाला उस से भी नीचा होगा । जिस में अच्छे कुल का जन्म ही हो किन्तु गुण कर्म अच्छे न हों और जिस में गुण कर्म अच्छे हों और प्रत्यक्ष देखने में कुल अच्छा न हो तो वहां अच्छे गुण कर्म वाला उत्तम माना जायगा । इस कारण प्रत्यक्ष होने से वर्ण व्यवस्था बांधने मानने में गुण कर्म प्रधान वा मुख्य हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण सब से प्रबल मानने पड़ता है क्योंकि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता इसी लिये संस्कृत में जनश्रुति प्रचरित हुई है कि—

॥ ... नामाणम् ? ॥

प्रत्यक्ष में अन्य किसी प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ नहीं इसी के अनुसार सदा ही संसारस्थ मनुष्यादि में प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने से गुण कर्म मुख्य हैं । रहा जाति वा जन्म सो किसी का प्रत्यक्ष नहीं होता । जन्म का प्रथम आरम्भ काल गर्भाधान का समय होता है वह सदा प्रायः गुप्त ही रहता है । ब्राह्मणादि कुल में प्रकट उत्पन्न होने मात्र से जाति की उत्तमता ठहराना शास्त्रकारों का अभिप्राय कदापि नहीं है किन्तु अच्छे बुरे आचरणों को देख कर जाति अनुमेय है अर्थात् अनुमान से जाति ठहराने पड़ती है । इसी लिये मनु जी ने दशमाध्याय में स्पष्ट लिखा है कि—

अनार्यतानिष्ठुरता क्रूरतानिष्क्रियात्मता ।
पुरुषंव्यञ्जयन्तीह लोकेकलुषयोनिजम् ॥

अनाड़ीपन, निठुर होना, निर्दयता, सन्ध्या, शौच दान पुण्यादि कर्म में तत्परता प्रीति न होना ऐसी दशा का विद्यमान होना मनुष्य की जातीय नीचता का अनुमान कराता है अर्थात् ऐसे में वर्णसंकरता का दोष अनुमान से मानना चाहिये। ब्राह्मणादि अच्छे कुल में ऐसा पुरुष हो तो किसी नीच के साथ शारीरिक वा मानस व्यभिचार होके उत्पन्न हुआ माना जायगा । इसी लिये मानवधर्मशास्त्र के ११ अ० में "व्यभिचारेण वर्णानाम्" वर्णसंकर होने का कारण व्यभिचार को बताय है । और यही बात महाभारत बन पर्व १८० अ० में स्पष्ट है कि—

जातिरत्रमहासर्प ! मनुष्यत्वेमहामते ।
सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येतिमेमतिः ॥

जाति मुख्य कर मनुष्य कही जासकती है ब्राह्मणादि की परीक्षा हो सकनी नकली आभासों के सदा विद्यमान रहने से दुर्लभ है । इस से यहां गुण कर्म की प्रधानता वा परीक्षा से ब्राह्मणादि माने हैं और छान्दोग्य में जाबाल का उदाहरण जो लिखा है कि "जाबाल व्यभिचार से उत्पन्न हुआ था । जाबाल की मा ने किसी निज पुरुष से विवाह नहीं किया था पर गोतम ऋषि जी ने जाबाल के विद्यमान गुणों की परीक्षा करके उस को ब्राह्मण कहा और सं

स्कार कराया । प्रयोजन यह कि ... है क्योंकि स्थावर जङ्गम ...
गुण कर्म देख कर केवल मनुष्य में ही नहीं होती हुई वा होनी चाहि
सर्वत्र जड़ चेतन पदार्थों के कार्य में उत्तमता देख कर उसका उत्तम का
ना जाता और कार्य की निकृष्टता देख के कारण निकृष्टमाना जाता
मन्तव्य को कोई न माने यह कदापि नहीं होगा किन्तु " कार्यकारणयोः सा
यह नियम सभी को अवश्य मानने पड़ेगा । जाति, जन्म, उत्पत्ति, कारण
पान्तर होके कार्य दशा में आना ये सब एक ही हैं । जैसे अग्नि में प्रकाश व
रहती वैसे ही समवाय सम्बन्ध से प्रत्येक प्राणियों के देह की सब अवस
प्रकट वा प्रसुप्त गुण कर्म रहते हैं । बाल्यावस्था में जो संस्कार प्रसुप्त
े युवावस्था में जागते हैं । इस सब लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि ज
गुण कर्म इन में परस्पर विरोध नहीं है किन्तु जन्म से जिस में जैसे
गुण कर्म होते वेही आगे २ व्यक्त होते जाते हैं । केवल जाति मात्र से
दि वर्ण मानना काष्ठ के हाथी को हाथी कहने के समान है इस कारण
प्रधान हैं जिस में कुल अच्छा न हो पर परीक्षा के द्वारा अच्छे गुण क
वह केवल जाति वाले से अच्छा लोक में प्रत्यक्ष माना जाता है । गुण
... मूर्ख ब्राह्मण से पढ़े लिखे गुणवान् सदाचारी शूद्रादि प्रत्यक्ष में प्रति
सुखी माने भी जाते हैं । पर विद्या सुकर्म और अच्छा कुल ये तीनों
है वह सब से अच्छा माना जाता और गुण कर्म हीन मूर्ख शूद्र की अ
...ममात्र का ब्राह्मण भी कुछ अच्छा अवश्यमाना जाता है और शूद्र क
...स में कुछ अच्छे शौचाचरणादि होते भी हैं यह सब प्रत्यक्ष ही है
जी के मन्तव्य से इस हमारे मन्तव्य का लेशमात्र भी विरोध नहीं केवल
कहने की शैलीमात्र का भेद है सो हम इस प्रकार इतना इसी लिये
कि जिस से आर्षग्रन्थों तथा वेदों के आशय के साथ स्वामी जी का सिद्
मिल जावे विरोध कुछ न रहे तभी यह आर्यसिद्धान्त आर्यसमाज और
जी का मन्तव्य समूल दृढ़ और चिरस्थायी सर्वोपकारी सिद्ध होगा ।
र्तमानकाल में धर्मशास्त्रादि के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ कपोलकल्पना म
रूखी युक्तियों से स्वामी जी के सिद्धान्त को मानने वाले कोई २ लोग
सिद्धान्तों को छोड़ कर ऊपर २ मन माना कहने मात्र से दृढ करना चा
चिरस्थायी न होगा ॥